मेरी स्मृतियाँ

प्रथम खण्ड

वैराग्य के अंकुर —

जब सात-आठ वर्ष की मेरी अवस्था होगी, घर के बाहर प्रांगण में सभी लड़कियाँ सायंकाल में खेलने आ जातीं। उस समय मैं भी बाहर खेलने के लिए जाना चाहती। माँ से आज्ञा माँगती, तब वे कहतीं—"खेल-कूद कर क्या करना? देखो! यह काम कर लो, यह कर लो, जल्दी निपटकर अभी मन्दिर चलूँगी, वहाँ आरती करूँगी और शास्त्र सुनूँगी।"

मैं कभी-कभी मन मारकर रह जाती और कभी खुश भी हो जाती। सायंकाल खेल में न जाकर थोड़ी देर बाद माँ के साथ मन्दिर जाती , आरती करती पुनः शास्त्र सुनने बैठ जाती। उस समय मंदिर में कोई पण्डित शास्त्र बाँचते थे या कभी गाँव के ही कोई बड़े पुरुष बाँचते थे। मैं प्रौढ़ महिलाओं के बीच में बैठ जाती। कभी-कभी बराबर की लड़कियाँ भी आती थीं किन्तु वे सब प्रायः बातों में लगी रहती थीं अतः मैं उन लड़कियों के साथ नहीं बैठती थी।

शास्त्र बाँचने में कभी कुछ, कभी कुछ विशेष बातें अवश्य मिल जाया करती थीं जो कि मेरे हृदय में प्रवेश कर जाया करती थीं। एक बार प्रकरण आया—

''आत्मा में अनन्त शक्ति है।''

मैंने सोचा "जब आत्मा अनन्त शक्तिवाली है तो मैं उसको प्रगट क्यों नहीं कर सकती? उस पुरुषार्थ के लिए भला क्या नहीं कर सकती?"

माँ प्रातः स्वाध्याय करके ही जलपान लेती थीं। वह शास्त्र था **'पद्मनंदिपंचविंशतिका'** जिसे खोलकर विधिवत् मंगलाचरण करके एक श्लोक संस्कृत का पढ़कर उसकी हिन्दी पढ़ लेती थीं। कभी-कभी दो श्लोक पढ़ लेती थीं। यही उनका नियम था। वे क्वचित् कदाचित् मेरे से भी पढ़ा लिया करती थीं।

बाद में माँ की आज्ञा से मैंने भी उस ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया जिससे ज्ञान और वैराग्य प्रस्फुटित होता चला गया। पुनः-पुनः बाहर लड़कियों को खेलते देख खेलने जाना चाहती और वे नहीं जाने देतीं और कभी-कभी कहतीं—

"लो यह दर्शनकथा और शीलकथा पढ़ो।"

मैं उन्हें लेकर पढ़ने बैठ जाती। उन दोनों कथाओं में मुझे बहुत ही रस आता । यहाँ तक कि मैंने उन दोनों कथाओं को सैकड़ों बार पढ़ डाला। बहुत से प्रकरण मुझे याद हो गये थे, जिनको मैं स्वतः मन ही मन गुना करती थी। शीलकथा की मुझ पर इतनी गहरी छाप पड़ी कि मैं स्वयं एक दिन भगवान के मंदिर में जाकर बैठ गई और बोली—"भगवन्! आज तो कोई दिगम्बर गुरु दिखते नहीं हैं जैसा कि मनोरमा को मिल गये थे अतः अब मैं आपके सान्निध्य में ही शीलव्रत ले रही हूँ। हे देव ! इस जन्म में मैं पूर्णतया शीलव्रत पालन करूँगी।"

दर्शनकथा पढ़कर भी मैंने ऐसे ही देवदर्शन करने का हमेशा के लिए नियम कर लिया था पुनः एक दिन चुपके से अपनी छोटी बहन शांतिदेवी को भी यह शीलव्रत दे दिया था, कई एक साथ की सहेलियों को भी दे दिया।

धार्मिक नाटक का प्रभाव —

उस लघुवय में ही एक बार पाठशाला में लड़कों ने '**अकलंक निकलंक**' नाटक खेला था। जिसमें अकलंक और उनके पिता के संवाद में अकलंक ने एक पंक्ति कही—

"प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरं।"

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर नहीं रखना ही अच्छा है, वैसे ही विवाह करके पुनः छोड़कर दीक्षा लेने की अपेक्षा विवाह नहीं करना ही उत्तम है।

यह पंक्ति मेरे हृदय में पूर्णतया उतर गई और उसी क्षण से लेकर मैं हमेशा सोचती रहती तथा यह पंक्ति मन में रटा करती।

मिथ्यात्व त्याग —

कुछ पूर्वजन्म के संस्कार भी ऐसे ही थे कि मैंने इतनी छोटी वय में घर में त्योहारों पर मिथ्यात्व पूजना और बायना निकालना बंद करा दिया था। पद्मनंदिपंचविंशतिका शास्त्र का स्वाध्याय कर तथा छहढाला पढ़कर मैं मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का लक्षण समझ चुकी थी। कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु को पूजना मिथ्यात्व है जो कि अनंत संसार में घुमाने वाला है और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर दृढ़ श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है जो कि संसार के जन्ममरण के दुखों से छुटाने वाला है इतना मैं समझ लेती थी।

एक समय की घटना है—पड़ोस में एक सोलह वर्ष के जवान पुत्र को चेचक निकली। उनकी माँ हर किसी के कहने से नीम के वृक्ष पूजना, "माता निकली है" ऐसा कहकर शीतला माता की पूजा के लिए मालिन को पूजा सामग्री देना आदि करने लगीं। उन्हीं दिनों मेरे घर में छोटे भाई प्रकाशचंद और सुभाषचंद को भी बहुत जोरों से चेचक निकल आई। अड़ोस-पड़ोस के व घर की दादी, बुआ आदि सभी ने माँ से कहा कि—

"शीतला माता की पूजा के लिए मालिन को सामग्री दे दो, तुम मिथ्यात्व मत करो, मालिन को सामग्री देने में क्या होता है? बहुत भयंकर माता निकली है। पता नहीं क्या अनिष्ट हो सकता है?"

किन्तु माँ ने मेरी बात मान ली और दृढ़ता रखी। मिथ्यात्व का सेवन कतई नहीं किया। मैं प्रतिदिन मंदिर में जाकर शीतलनाथ भगवान की पूजा करती और भगवान का गंधोदक लाकर बालकों के सर्वाङ्ग में लगा देती थी। माँ को विचलित करने के लिए बहुतों ने अनेक पुरुषार्थ किये किन्तु किसी की कुछ नहीं चली। इधर दोनों भाइयों के चेचक की हालत बहुत खराब थी। उन दोनों भाइयों के बचने की आशा ही हटती जा रही थी तब

कई एक महिलाओं ने कहा—

"यह तुम्हारी मैना, इन भाइयों को खत्म कर देगी। वाह रे धरम!! बच्चे मर रहे हैं और यह धरम-धरम चिल्ला रही है।"

मैंने ये शब्द सुन लिये, घबड़ा गई और प्रातः काल मंदिर में पहुँचकर मन ही मन भगवान से बोली—

"भगवन् ! अब मेरी लाज और धर्म की लाज आपके ही हाथ में है। यदि ये दोनों बालक मर गये तो सारे गाँव में ही क्या, सारे प्रांत में चेचक निकलने पर शीतला माता जैसी आज पुज रही हैं वैसे ही पुजती रहेंगी! किन्तु सम्यक्त्व को, आपकी भक्ति को कोई भी नहीं समझेगा!"

इतना सोचते-सोचते मैं भगवान के पास रो पड़ी। अनेक भक्ति स्तोत्र पढ़ कर मैं घर आ गई और भाइयों को गन्धोदक लगाकर उनकी परिचर्या में लग गई।

कुछ दिनों बाद धीरे-धीरे इन दोनों बालकों की हालत सुधरने लगी और धीरे-धीरे ये स्वस्थ हो गये। उधर पड़ोस में जो माँ अपने युवापुत्र के लिए मिथ्यात्व की उपासना करती रही थी उसका पुत्र स्वर्गस्थ हो गया। इस प्रत्यक्ष घटना से सभी के मन पर धर्म का बहुत ही प्रभाव पड़ा। सर्वत्र धर्म की व मेरी भी प्रशंसा होने लगी। धर्म की इस विजय से मैं बहुत ही प्रसन्न हुई।

उस प्रांत में उस समय अग्रवाल वैष्णव के संस्कारों से जैन अग्रवालों के यहाँ भी घर-घर में महिलाएं करुवा चौथ आदि त्यौहार मनाया करती थीं। जिसमें घर में गौरी बनाकर उसको फूल चढ़ाना, सिन्दूर लगाना, माथा झुकाना आदि करतीं पुनः नैवेद्य-पक्वान चढ़ाकर सास, ननद आदि को बायना देती थीं।

मैंने इस क्रिया को मिथ्यात्व कहकर माँ से इसका पूर्णतया त्याग करा दिया था। तब दादी अक्सर कहा करतीं—

"पति पुत्रों के यह त्यौहार हैं इन्हें नहीं छोड़ना चाहिए।"

किन्तु मैं उनको भी उस समय अपनी बुद्धि के अनुसार सम्यक्त्व का उपदेश दिया करती थी और मिथ्यात्व के दोष बताया करती थी।

एक बार पंडित मनोहरलालजी शास्त्री टिकैतनगर आये थे वो अत्यधिक विद्वान् माने जाते थे। माँ ने उन्हें बुलाया और शंका करने लगीं—

"पण्डितजी ! इन त्यौहारों में पूजा करना आदि मिथ्यात्व है तो सासु को बायना देना आदि भी मिथ्यात्व है या नहीं।"

पण्डित जी ने कहा—"गौरी बनाकर पूजना मिथ्यात्व है उसे तुम छोड़ दो किन्तु त्यौहार मानना व उस दिन पकवान बनाकर सासु को देना मिथ्यात्व नहीं है। उसे तुम कर सकती हो।"

मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ, मैंने कहा—"पण्डित जी! यह करुवा चौथ आदि त्यौहार जैनधर्म से कुछ भी संबंध नहीं रखते हैं अतः इन त्यौहारों को मानना, उस दिन पकवान बनाना भी मिथ्यात्व है तथा उस त्यौहार के उपलक्ष्य में सासु को बायना देना भी मिथ्यात्व है। यदि सासु को बायना देना ही है तो अन्य दिनों किसी और निमित्त से दे देना चाहिए। उस दिन कतई नहीं देना चाहिए।"

पण्डित जी सारी बातें सुनते रहे, फिर कुछ भी नहीं बोले, चुप रहे। पुनः बोले—"**यह कन्या कोई 'देवी' है।** बहुत ही होनहार दिखती है।" उन विद्वान् के वे शब्द मेरे कान में बहुत दिनों तक गूँजते रहे हैं। मैं सोचा करती थी—

"भगवन! मैं सारे प्रांत से ही नहीं, सारे देश की जैन समाज से मिथ्यात्व को दूर भगा दूँ ऐसी शक्ति मुझे कब आयेगी?" अहो! यह मिथ्यात्व महाशत्रु है। इसे दूर करने का बलपूर्वक अतीव पुरुषार्थ सभी को करते

रहना चाहिए। लोग छहढ़ाला पढ़कर, धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय करके भी मिथ्यात्व का त्याग क्यों नहीं करते हैं? "सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं बन जाते हैं?"

क्षयोपशम —

छहढ़ाला का अध्ययन धार्मिक पाठशाला में चल रहा था। इस समय मेरी अवस्था ९-१० वर्ष के लगभग होगी। घर में सभी भाई-बहनों में मैं सबसे बड़ी थी अतः घर के सभी कार्यों में माँ का हाथ बँटाना पड़ता था। परीक्षा का समय निकट था। पण्डित जमुनाप्रसाद जी ने अनुशासन कर दिया था कि सभी छात्राओं को प्रातः समय से आना होगा और रात्रि में भी एक घंटा कक्षा चलेगी। मैंने माँ से कहा तब उन्होंने पाठशाला में कहला दिया कि —

"मैना को घर में काम अधिक होने से प्रातः भी दो घण्टे देर से पाठशाला पहुँचेगी और रात्रि में तो अवकाश ही नहीं मिलेगा।"

मैं घर के बहुत कुछ काम निपटा कर दो घण्टे बाद पाठशाला पहुँचती थी। छहढ़ाला के साथ निबंधरत्नमाला आदि और भी कई पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं।

एक दिन की बात है — सभी लड़कियाँ पाठ सुनाने के लिए खड़ी थीं। कोई-कोई लड़कियाँ पाठ सुनाते-सुनाते कुछ भूल जाती थीं। तब पण्डित जी ने कहा — " मैं प्रतिदिन कहता हूँ कि घर में अच्छी तरह से पाठ याद किया करो परन्तु तुम लोग सुनती नहीं हो। अच्छा जिस-जिस लड़की ने घर में पाठ याद नहीं किया है वह हाथ उठावें।"

कई एक छात्राओं के साथ मैंने भी हाथ उठा दिया तब पण्डित जी आश्चर्य चकित हो बोले — "ऐं! तुमने क्यों हाथ उठाया? तुम्हें तो पाठ हमेशा ही याद रहता है।"

तब मैंने कहा —

"किन्तु मैं घर में कभी नहीं याद करती हूँ।"

पण्डित जी ने और अधिक आश्चर्य व्यक्त करते हुये पूछा —

"अरे! फिर तुम पाठ कहाँ याद करती हो? तुम अभी तो घर से ही आ रही हो।"

मैंने कहा — "यहीं खड़ी-खड़ी जब तक एक दो लड़कियाँ पाठ सुनाती हैं तब तक ही मैं याद कर लेती हूँ।"

तब पण्डित जी ने कहा — यदि ऐसी बात है तो पिछले सभी पाठ तुम्हें कैसे याद रहते हैं?"

ऐसा कहकर उन्होंने पिछले एक दो प्रश्न पूछ लिये और मैंने भी सभी के उत्तर श्लोक बोलकर सुना दिये और अच्छी तरह से उनका अर्थ भी बता दिया। पण्डित जी बहुत ही प्रभावित हुए और बोले — "इसका क्षयोपशम बहुत ही अच्छा है।"

छहढाला आदि सभी पुस्तकों की परीक्षा में मेरे बहुत अच्छे नम्बर आये और पुरस्कार भी मिला था।

इसके बाद हम सभी लड़कियों ने बहुत ही प्रयत्न किया कि आगे कुछ और पढ़ाई हो जावे किन्तु प्रायः सभी के माता-पिता ने अपनी पुत्रियों को आगे पाठशाला में पढ़ने से रोक दिया और मेरी भी पढ़ाई बंद हो गई।

अब मैं घर में अनेक पाठ याद किया करती थी। सीताजी का बारहमासा, राजुल का बारहमासा, बारह भावनायें, वैराग्य भावना, अनेक स्तुतियाँ, ज्ञानपचीसी आदि पाठ जिनवाणी संग्रह से याद किया करती थी। घर में प्रायःनन्हें-नन्हें भाई बहनों को संभालने, खिलाने-पिलाने व रोते हों तो चुप कराने में सारा समय निकल जाता था। नौकर के अधीन बच्चों को डालना प्रायः मुझे स्वयं ही इष्ट नहीं था अतः मैं स्वयं इन कार्यों को रुचि से किया करती थी। रसोई में काम करना होता था तथा गेहूँ, दाल, चावल आदि भी साफ करने रहते थे। सभी कामों को माँ के साथ मुझे करना होता ही था।

मैं प्रायः चौका साफ करते समय, महरी के मंजे बर्तनों को पुनः धोते हुए और दाल चावल आदि साफ करते हुये कई एक पाठ याद कर लिया करती थी। पुस्तक या जिनवाणी को विनय से एक उच्चस्थान पर खोल कर रख लेती थी और एक-एक पंक्ति देख कर रट लिया करती थी। उन रटे हुए पाठों को प्रतिदिन सोते समय और उठकर प्रातः पढ़ा करती थी जिससे हृदय में वैराग्य भावना की लहर उठा करती थी। सीताजी की बारह भावना में एक पंक्ति मुझे बहुत ही प्रिय लगती थी जिसे मन ही मन गुनगुनाया करती थी—

''परवश भोगी भारी वेदना, स्ववश सही नहिं रंच।
शाश्वत सुख जासों पावती, लेई करम ने वंच।।''

मैंने परवश में अर्थात् कर्म के अधीन होकर बहुत भारी कष्ट सहन किये हैं किन्तु स्ववश—स्वाधीन होकर अर्थात् अपनी इच्छा से रंचमात्र भी दुःख नहीं सहन किये हैं, यदि स्वाधीन होकर अर्थात् अपनी रुचि से धर्म अनुष्ठान में-तपश्चर्या में किंचित् भी दुःख सहन कर लेती तो शाश्वत अविनाशी सुख प्राप्त कर लेती किन्तु हा ! कर्म ने मुझे ठग लिया है।

वैराग्य भावना की ये पंक्तियां भी बहुत ही अच्छी लगती थीं—

''सुख होता संसार विषे तो, तीर्थंकर क्यों त्यागे।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सों अनुरागे।।''

यदि इस संसार में सच्चा सुख होता तो तीर्थंकर जैसे महापुरुष उसे क्यों छोड़ते? क्यों वन में जाकर तपश्चर्या करते और क्यों संयम से प्रेम करके मोक्ष के साधन में लगते?

जब कभी बैलगाड़ी पर अधिक सामान लदे रहने से बैलों को भार ढोते देखती व इक्का (घोड़ा तांगा) पर बैठने का प्रसंग आता तो घोड़ों पर चाबुक का प्रहार देखते ही रोम-रोम सिहर उठता और सोचने लगती—"इन अनाथ पशुओं का नाथ—रक्षक कौन है? देखो, बेचारे कैसे कष्ट भोग रहे हैं? कोड़ों से पीटे जाना, अधिक भार लादना, समय पर दाना पानी नहीं मिलना आदि।....."

कभी कुत्ते घर में घुसते तो नौकर मार कर भगाते। उस समय भी मेरा जी भर आता, बहुत-दुःख होता। मैं प्रायः रोटी का टुकड़ा ले जाकर बाहर डालकर कुत्तों को घर से भगाती थी और इन पशुओं के नाना दुःख देखकर संसार से वैराग्य भावना भाने लगती थी।

घर में छोटे-छोटे भाई बहनों को कभी नजला, खाँसी आदि देखकर कभी-कभी अन्य कुछ छोटे-मोटे कष्ट देखकर मैं सोचने लगती—"इस शरीर के साथ अनेक रोग, शोक, आधि, व्याधि लगी ही रहती हैं। भगवन् ! ऐसा क्या उपाय है कि जो इस शरीर से ही छुटकारा पाया जा सके?"

पद्मनन्दिपंचविंशतिका —

मेरी माँ को दहेज में उनके पिता ने '**पद्मनंदिपञ्चविंशतिका**' नाम के एक ग्रन्थ को दिया था। माँ सदा ही उसका स्वाध्याय किया करती थीं। कितनी बार वे उसे पढ़ चुकी हैं, शायद उन्हें भी यह याद नहीं होगा। एक बार वह ग्रन्थ पूरा हो जाता पुनः उसी को चालू कर लिया करती थीं। वे कहा करती थीं कि—

"मैंने इसी ग्रन्थ का स्वाध्याय करके सर्वप्रथम आजन्म शीलव्रत और अष्टमी, चौदस का ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था।"

उन्हीं की प्रेरणा से मैं भी उस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने लगी थी किन्तु मुझे अतिशय प्रिय लगने से मैं १-२ श्लोकों से अधिक पढ़ लिया करती थी अतः वर्ष दो वर्ष के अंतर्गत ही मैंने स्वयं उसका अनेक बार स्वाध्याय कर लिया था और उसमें से अनेक प्रिय श्लोक याद कर लिये थे।

उस ग्रन्थ के शरीराष्टक अधिकार से मुझे शरीर के स्वरूप का ज्ञान हो जाने से वैराग्य बढ़ रहा था

और ब्रह्मचर्याष्टक अधिकार पढ़कर तो ऐसी भावना हो रही थी कि—"हे भगवन्! मैं इस जन्म में तो ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर ही लूँ साथ ही ऐसी तपश्चर्या करूँ कि जिससे मैं लौकांतिक देव हो जाऊँ। जहाँ पर पूर्ण ब्रह्मचर्य ही है, जहाँ पर जाने के बाद वापस एक भव ही लेना पड़ता है पुनः संसार में अधिक भ्रमण नहीं करना पड़ता है।"

कभी-कभी रात्रि में मेरी नींद खुल जाती तब यही सोचने लगती—" क्या उपाय किया जाये कि जिससे मैं विवाह के बंधन में न पड़ूँ और लौकांतिक देव के पद को प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर लूँ.....इत्यादि।"

किन्तु इतनी छोटी उम्र में घर वालों से कुछ कहने का और कुछ कर सकने का कुछ उपाय ही नहीं दिखता था।

एक बार मैंने रात्रि के शास्त्र स्वाध्याय में सुना कि "दक्षिण में मुनि रहते हैं वे तपश्चर्या करते हैं।" मैंने सोचा—"कैसे उनके दर्शन किये जायें?"

इसी बीच मेरी सहेली, उससे एक दिन मैंने अपने मन की बात कह दी। तब उसने भी कुछ ऐसे ही घर से कहीं चलने के भाव व्यक्त किये। धीरे-धीरे हम दोनों की एकांत में चर्चायें चलती रहीं। आखिर एक दिन-" हम दोनों घर से निकलकर दक्षिण में चलें" ऐसा निर्णय कर लिया। तभी वह सहेली दूसरे दिन आकर बोली—

"मेरा साहस नहीं है, क्योंकि यदि अपन दोनों कहीं गयीं तो तत्काल ही यहाँ गाँव में ढूँढना शुरू हो जायेगा और यदि ढूंढने से हम दोनों मिल गयीं तो क्या होगा? खूब फटकार मिलेगी.....।"

मैं चुप हो गई और मन ही मन सोचने लगी—"घर से निकलकर मुनियों का दर्शन करने, उनसे त्याग मार्ग में चलने को सीखने के लिए कहाँ जाया जाये? क्या उपाय किया जाये?" समय व्यतीत होता गया, मेरी आंतरिक विचारधारा बढ़ती ही गई।

शुभ शकुन—

एक दिन ऊपर एकांत में बैठी कुछ ऐसे ही सोच रही थी कि तभी मन में एक विचार आया—"क्या कभी मैं सबके बीच में उपदेश करने का अवसर प्राप्त करूँगी?" इतना विचार आते ही मेरी अकस्मात् बायीं आँख फड़कने लगी और काफी देर तक फड़कती रही, तब मुझे विश्वास हो गया कि—"मेरे जीवन में ऐसा दिन अवश्य आयेगा।"

समय व्यतीत हो रहा था। मैं गृहबन्धन के पिंजड़े से उड़ने का अवसर खोज रही थी और परिवार के लोग गृहबन्धन में बाँधने की सोच रहे थे।

दादी जब आकर माँ के पास बैठतीं तब यही कहतीं—

"मैना सयानी हो गई है उसके लिए वर ढूँढना चाहिए।"

पिता के घर में आते ही माँ यही चर्चा छेड़ देतीं। कभी-कभी बात आई गई हो जाती और कभी-कभी मां-पिता की आपस में खटपट भी हो जाती।

वह समय ऐसा था कि लड़की के सामने माँ-बाप विवाह की चर्चा करते थे तो या तो वे लोग स्वयं लड़की को किसी काम से वहाँ से हटा देते थे या लड़की स्वयं शरम से वहाँ से हट जाती थी। इस स्थिति के अनुसार यद्यपि मैं वहाँ से हट जाया करती थी फिर भी मेरे विवाह के बारे में ये लोग कितनी चिन्ता किया करते हैं, इसके बारे में मैं अच्छी तरह समझती थी।

£२¤

वैराग्य भाव प्रगट किये —

एक दिन रात्रि में कुछ परामर्श करते हुए माँ मेरे पास बैठी हुई थीं। समय पाकर मैंने उनसे अपने भाव व्यक्त कर दिये कि —

"मैं कथमपि संसार बंधन में नहीं फंसना चाहती हूँ, मैंने गृहत्याग का पूर्ण निर्णय कर लिया है। मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है। यह मनुष्य भव यूँ ही व्यर्थ नहीं खोना है।"

माँ मेरे मुख से प्रायः धर्म की चर्चा सुना करती थीं अतः इस बात पर भी उन्होंने विशेष लक्ष्य नहीं दिया और इतना ही कहा — "देखो! लोग कहेंगे कि लड़की सयानी हो गई। विवाह नहीं कर पाए अतएव उसने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। इसलिए ऐसा कोई कदम नहीं उठाना है।"

फिर भी कई बार मेरे मुख से मेरे त्याग का निर्णय सुनकर वह भी मन में समझ चुकी थीं कि — "शायद ही यह विवाह करायेगी।" फिर भी अपने कर्तव्य में लगी हुई थीं।

एक दिन मुझे भाग्य से '**जम्बूस्वामी चरित**' मिल गया। मैं उसे रात्रि में पढ़ने बैठ गई। बहुत देर हो गई। माँ-पिता ने कहा —

"क्या पढ़ रही हो? सो जाओ, कल पूरा कर लेना।"

किन्तु मानों मैं कुछ सुन ही नहीं रही थी। रात्रि में १२-१ बजे तक उस छोटी सी पुस्तक को पढ़कर पूरी कर ली। मुझे उससे बहुत ही शिक्षा मिली। षट्काल परिवर्तन का वर्णन बहुत ही रोमांचकारी था। उसमें आने वाले छठे काल में कैसे मनुष्य होंगे? उनकी कैसी दुर्दशा रहेगी? पुनः प्रलयकाल में अग्नि की वर्षा! प्राणी कैसे झुलस जायेंगे?..... यह सब हृदयद्रावक संक्षिप्त वर्णन पढ़कर मैं काँप उठी। सोचने लगी —

"अपने को शीघ्र ही ऐसा प्रशस्त कार्य कर लेना चाहिए कि जिससे उत्तम गति प्राप्त हो जाये और छठे काल में जन्म न लेना पड़े।

जम्बूकुमार के अखण्ड ब्रह्मचर्य का प्रभाव भी मन पर बहुत ही प्रभावकारी रहा तथा उनके पूर्वजन्म के 'असिधारा' व्रत को भी मैं बार-बार पढ़ती रहती थी। जब माता-पिता मेरे मोह से विक्षिप्त हो रोने लगते तब मैं उन्हें जम्बूस्वामी की कथा सुनाने लगती। उनके मन में भी उस समय शांति आ जाती किन्तु घर से बाहर निकलते ही लोगों की चर्चाएं और भाईयों की सलाह से पिता पुनः मोह, क्रोध व अशांति में आ जाते थे।

पिता का कितना बड़ा हृदय था —

मुझे आज तक भी स्मृति नहीं है कि कभी पिता ने मुझे क्रोध से डांटा हो, या कुछ कटु शब्द कहे हों। थप्पड़ आदि मारना तो बहुत दूर की बात है, प्रत्युत् जब कभी काम के बिगड़ जाने से बहुत छोटेपन में माँ थप्पड़ मार देती थीं तो पिता उन पर नाराज अवश्य होते थे। वे हमेशा कहा करते थे — "देखो, कन्या कुछ दिन में पराये घर चली जायेगी अतः पुत्रियों को कभी मत मारो, मत डांटो, इन्हें जितना भी प्यार देवो उतना थोड़ा है।"

जब मैं घर छोड़ने की बात कर रही थी उस समय तो मेरे चार भाई और चार बहनें थीं। अत्यधिक बचपन की भी मुझे याद है कि जब कभी भी मंदिर के बाहर मैदानों में चार पुरुष एकत्रित हो जाया करते थे और उनके बच्चे खेला करते थे और कदाचित् मैं मंदिर से बाहर निकलती उस समय यदि कोई टोक देता —

"लाला छोटेलाल! देखो, यह तुम्हारा एक लाख का हुण्डा है।"

तो वे अनाप-सनाप गरम हो जाते। कहते — "भाई! मैं ऐसा शब्द नहीं सुन सकता हूँ। प्रत्येक

लड़कियाँ अपने भाग्य को अपने साथ में लेकर आई हैं। वे मेरी कमाई क्या ले जायेंगी? वे अपने भाग्य का ही ले जावेंगी।"

यदि कदाचित् कोई हँसी में भी कह देते कि—"तुम्हारे पाँच लड़कियाँ हैं" तो पिताजी को बहुत ही बुरा लगता था। वे कहते—

"भाई! आज से मेरी लड़कियों की गिनती नहीं करना। वे सब अपना-अपना भाग्य लेकर आई हैं। किसी के भाग्य का नहीं खाती हैं और न किसी के भाग्य का कुछ ले ही जायेंगी।"

उन्होंने घर में खाने,पीने या पहनने में कभी भी पुत्र और पुत्रियों में भेद-भाव नहीं किया था। वे अक्सर यही कहा करते थे—

"देखो! जैसे पुत्र अपनी सन्तान है वैसे ही पुत्री भी अपनी ही संतान है। उसे मोटा खिलाकर, मोटा पहनाकर लड़कों को अच्छा खिलाना और अच्छा पहनाना मुझे पसंद नहीं है।"

कभी-कभी तो कहते कि "पुत्रों की अपेक्षा भी पुत्रियों पर अधिक स्नेह रखना चाहिए क्योंकि वे सदा घर में रहने वाली नहीं हैं।"

यदि कदाचित् कोई लोग ऐसा भेदभाव रखते और उन्हें पता चलता तो घर में आकर उनकी चर्चा करते और कहते—

"ये लोग कितने अज्ञानी हैं। भला लड़कों से लड़कियों को तुच्छ समझना यह उनकी कहाँ की बुद्धिमानी है.....?"

एक बार एक विद्वान् के सामने ऐसे ही दहेज की चर्चा चल रही थी तब किसी पड़ोसी ने कह दिया—"छोटेलाल के तो चार-पांच कन्यायें हैं।"

बस पिताजी बोल उठे—"भाई! तुम्हारा पेट क्यों फूल रहा है? क्या मेरी कन्यायें तुम्हारी कमाई का दहेज ले जायेंगी? अरे भाई! सभी अपने-अपने भाग्य में जो कुछ लेकर आई हैं वही तो ले जायेंगी। मेरी कमाई का भी क्या ले जायेंगी.....?"

इतना सुनकर विद्वान् पंडित जी बोल उठे—"लाला छोटेलाल! तुम्हारा नाम तो "छोटे" है, परन्तु तुम्हारा हृदय कितना "बड़ा" है!.....अहो! सचमुच में तुम्हारा हृदय बहुत ही बड़ा है। तुम "छोटेलाल" नहीं हो बल्कि तुम "बड़ेलाल" हो।

पिता ने घर में आकर यह चर्चा मुझे सुनाई और खूब हँसे.....। उनका यह स्वभाव था कि दुकान की या लोगों की कोई भी चर्चा या घटना घर आकर वे मुझे अवश्य ही सुनाते थे पुनः "मैंने अच्छा किया या बुरा?" यह सुनने को उत्सुक हो जाते थे। मैं भी अपनी बुद्धि के अनुसार पिता के अच्छे कार्य को "अच्छा" कहती रहती थी और "बुरा" तो मुझे कभी अनुभव में आया ही नहीं था।

उनकी चर्या थी प्रातः मन्दिर जाकर, घर आकर, खाना खाकर दुकान चले जाना और शाम को पुनः घर आकर, खाना खाकर, घर के बाहर चबूतरे पर लोगों की गोष्ठी में बैठ जाना या घर में छत पर बैठकर बच्चों से मनोरंजन करना। जब कभी कपड़े के व्यापार के सीजन के दिन होते तो वे प्रातः जल्दी दुकान चले जाते और मध्याह्न में जब समय मिलता घर आते, स्नान करते-करते मेरे से कहते—

"बिटिया! जावो पिछवाड़े से मालिन से मंदिर की चाबी ले आओ।"

मैं चाबी माँग लाती, पिताजी मन्दिर जाकर, दर्शन करके, आकर खाना खाते थे। ऐसे ही कभी जब कानपुर, लखनऊ आदि से देर से आते तो मैं चाबी लाकर देती तब मंदिर जाकर, दर्शन करके ही खाना खाते थे।

धीरे-धीरे मैंने घर में एक शास्त्र उन्हें दे दिया और उनकी स्वाध्याय करने की आदत भी पड़ गई थी।

पिताजी जब कभी कानपुर आदि जाते थे तो घर से पूड़ी साग बनवा कर ले जाते थे और यदि कई दिन के लिए जाना होता तो खिचड़ी का सामान बंधवा लेते और वहाँ अंगीठी पर अपने हाथ से बनाकर खा लेते थे। होटल का या बाजार का खाना वे प्रारंभ से ही पसंद नहीं करते थे।

सरलता —

एक दिन पिताजी घर आकर खूब हँसे और सुनाने लगे—

"आज दुकान पर एक व्यक्ति आये। वे बड़ा सा कम्बल ओढ़ रखे थे जबकि आजकल कम्बल के दिन नहीं हैं। वे बहुत देर तक बैठे रहे। मैं ग्राहकों में लगा रहा। यह कपड़ा निकालो यह दिखाओ, यह नापो, यह देवो यही करता रहा और देखता रहा। उन व्यक्ति ने धीरे-धीरे पास में रक्खे हुए साटन के कई एक थान कम्बल में दबा लिए। मैंने उन्हें देख लिया था फिर भी कुछ नहीं बोला और वे व्यक्ति धीरे-धीरे उठकर चलते बने।'

इतना कहकर फिर वे हँसने लगे। जब मैंने पूछा—

"आपने उन्हें ऐसे अपना माल चुराते देखकर क्यों नहीं फटकारा?"

तब वे बोले—"अरे! बेचारा गरीब है, ले जाने दो, आखिर चोरी का माल बेचकर कितने दिन खायेगा?.....भला चोरों के यहाँ भी कभी बरकत हो सकती है?"

यह उनकी सरलता और नीति पूर्ण बात सुन मैं आश्चर्य में पड़ गई। ऐसे ही उनकी सरलता के अनेक अनुभव मुझे देखने को मिलते रहते थे। दुकान के मुनीम आदि की भी ऐसी हरकतें वे देख लेते थे किन्तु कभी कुछ भी नहीं कहते थे। घर में आकर यही कह देते—

"बेचारा गरीब है खाने दो, कितना खायेगा? आखिर उसे भी तो पाप का कुछ डर होगा!'

व्यापार में कपड़े का व्यापार करते थे। एक बार आटे की चक्की का काम किया किन्तु उसमें घुन पिसते देखकर उसी दिन उसे बंद कर दिया। संतोष में ही सुख मानते थे और सट्टे को जुआ कहकर उससे दूर रहते थे। उनके हृदय में मायाचारी, कूटनीति का लेश भी नहीं दिखता था। सदा मन के स्वच्छ थे और कहा करते थे—

"मन में होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सों करिये।"

एक बार महावीर जयन्ती के अवसर पर मेरी अत्यधिक प्रेरणा से उन्होंने इन्द्र की बोली ले ली। उस वर्ष हाथी आया था। इन्द्र इन्द्राणी भगवान को लेकर हाथी पर बैठे थे और जुलूस गाँव के बाहर (दराने में) गया था वहीं भगवान का जन्म महोत्सव संबंधी अभिषेक हुआ था। उस समय कई पंडित आए हुए थे। उनमें यह चर्चा का विषय बन गया था कि—

"इन्द्राणी भगवान का अभिषेक करे या न करे?"

एक पंडित निषेध कर रहे थे तो एक विधान कर रहे थे। जो विधान कर रहे थे वे बोले—"देखो! भगवान के जन्म समय भी इन्द्राणी ही सबसे पहले बालक को प्रसूतिगृह से लाकर इन्द्र को सौंपती हैं। अतः जब इन्द्राणी भगवान का स्पर्श कर सकती है तो भला अभिषेक क्यों नहीं कर सकती है?.....दूसरी बात, भगवान को जन्म भी महिला ने ही तो दिया है कोई वे आकाश से थोड़े ही टपके हैं?.....।"

इस चर्चा को मैं बहुत ही मनोयोग से सुनती रही थी और मैं भी इसी प्रयत्न में थी कि मेरी माँ अभिषेक कर ले। अन्त में सभी लोगों में इन्द्र इन्द्राणी दोनों के द्वारा अभिषेक करने का निर्णय हो जाने पर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। उस समय भी एक पंडित जी यही बोले थे कि—

"छोटेलाल जी! तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हारा नाम छोटेलाल क्यों रख दिया था! भाई! तुम तो "बड़ेलाल" हो।"

तब पिता ने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुये यही कहा था कि—"नहीं, मेरे माता-पिता ने मेरा नाम

सोचकर ही रखा है मैं 'बड़ा' न होकर "छोटा" ही हूँ। पंडित जी! बड़ा तो कढ़ाई में तला जाता है, तब बड़ा बनता है इसलिए मैं तो "छोटा" ही हूँ।

जब मेरी क्षुल्लिका दीक्षा के बाद पहला चातुर्मास टिकैतनगर में हुआ था और पिता जी आकर आचार्य देशभूषण जी महाराज के सान्निध्य में बैठते थे तब कई बार आचार्यश्री भी कहा करते थे—

"लाला छोटेलाल! तुम "छोटे" नहीं हो, बहुत "बड़े हो"। तुमने यह अनुपम "कन्यारत्न" जन्म दिया है कि जिससे भारतवर्ष में बहुत ही धर्मप्रभावना होवेगी.....।"

यह आचार्यदेव की भविष्यवाणी पिता के हृदय को गद्गद कर दिया करती थी।

त्याग की दृढ़ता —

एक दिन रविवार को तराई से ग्वालिन घी की मटकी लेकर आई। सदा की तरह घी ले लिया गया और कारणवश उस दिन नहीं छाना गया। दो-तीन दिन बाद जब मैं घी छानकर अपनी मटकी में भरने के लिए तैयार हुई और चूल्हे में आग सिलगा दी। कढ़ाई में घी निकालने के लिए जैसे ही मटकी का कपड़ा खोला कि देखा, उसमें अगणित लाल चीटियाँ भरी हुई हैं जो कि प्रायः सभी मर चुकी थीं। घी की मटकी वैसे ही बाँध कर माँ को सारी बात बता दी। अगली बार जब वही ग्वालिन अपनी मटकी लेने आई तब माँ ने उसे ज्यों की त्यों घी से भरी मटकी देते हुए चींटियों का हाल बता दिया। उसी क्षण उसने माथा ठोककर कहा—

"अरे! बहूरानी! यदि मैं स्वयं घी गरम करके छानकर लाती तो मेरा सारा घी बेकार क्यों जाता?"

मैं यह शब्द सुनकर दंग रह गई।

"अरे! क्या तुम मरी चीटियों सहित घी को गरम कर छान कर ले आतीं?"

पहले तो वह कुछ नहीं बोली पुनः कुछ देर बाद कहने लगी-"तो क्या बिटिया! हम लोग ऐसा घी फेंक देंगे?"

मैं समझ गई कि बाजार के घी आदि वस्तुओं का यही हाल होता होगा। वह बात तो समाप्त हो गई और मैंने उसी दिन बाजार के घी का त्याग कर दिया। उस समय टिकैतनगर में जैनों के यहाँ दही जमाकर घी बिलोने की प्रथा ही नहीं मालूम थी। अतः घर में हंगामा मच गया। सभी बड़े-बूढ़े हल्ला मचाने लगे। माँ ने कहा-

"तुम्हें पता है कि घी के बिना क्या बनेगा? तुम कैसे खावोगी?"

बात बढ़ती गई। बार-बार माँ ने समझाया-"देखो! एक दिन का काम नहीं है कितने दिन बिना घी के रूखी रोटी खाओगी? आखिर पराये घर में यह सब कैसे निभेगा?"

अन्त में मेरी दृढ़ता के आगे सब शांत हो गये। क्या करते! तब माँ ताजी-ताजी रोटी को दूध में भिगो दिया करती थी और मुझे खिलाया करती थी। इस दृढ़ता से और त्यागभावना से भी वे समझ चुकी थीं कि "यह लड़की विवाह नहीं करेगी।"

£ ३ ¤

वैराग्य चर्चा प्रगट हो गई —

एक दिन बढ़िया-बढ़िया गहनों के नमूने लेकर मुनीम घर पर आया और बोला-"लाला ने कहा है, कि जाओ, मैना से गहने की डिजाइन पसंद करा लाओ।"

मैंने कहा-"जाओ, शान्ति से पसंद करा लो।" माँ सब देख रही थीं। बस, उनके हृदय का बाँध टूट गया और वे फूट-फूटकर रोने लगीं। इस वातावरण से सर्वत्र गाँव में यह चर्चा फैल गई कि मैना विवाह नहीं करना चाहती है प्रत्युत् ब्रह्मचर्य व्रत लेना चाहती है। पिता घर में आये, समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया

लेकिन मैं उन्हें सदा की तरह अच्छी-अच्छी धर्म की बातें समझाने लगी। तब वे चुप हो गये और अगले दिन ही महमूदाबाद चले गये, मामा महीपालदास को बुला लाये। पहले तो उन्होंने मुझे समझाया, जब कुछ असर नहीं हुआ तब वे प्रश्न-उत्तर करने लगे। बोले-

"तुम्हें वैराग्य कैसे हुआ है? बताओ! तुमने अभी संसार में क्या देखा है? कल तो तुम्हारी आँखें खुली हैं।"

मैंने कहा-"मुझे "**पद्मनंदिपंचविंशतिका**" ग्रन्थ पढ़कर वैराग्य हुआ है। मामा! देखो, वह ग्रन्थ कितना अच्छा है। उसमें लिखा है—

दुःखं किंचित् सुखं किंचित् चित्ते भाति जडात्मनः।
संसारे तु पुनर्नित्यं, सर्वं दुःखं विवेकिनः।।

संसार में कुछ दुःख है और कुछ सुख है ऐसा मूढ़ात्माओं को ही प्रतिभासित है किन्तु विवेकशालियों को तो संसार में सदा सर्वत्र दुःख ही दुःख दिखता है।... इत्यादि प्रकार से अनेक श्लोक सुना दिये।"

तब मामा के क्रोध का पारा बहुत कुछ चढ़ गया और वे यद्वा-तद्वा कहने लगे, मैं चुप हो गई। जब वातावरण कुछ शान्त हुआ तब उन्होंने पुनः समझाते हुए कहा—

"बेटी मैना! देखो, जैन शास्त्र के अनुसार कुंवारी कन्यायें दीक्षा नहीं लेती हैं?"

तब मैंने पूछा-"पुनः ब्राह्मी, सुन्दरी, अनंतमती और चंदना आदि ने कैसे दीक्षा ली है?"

तब वे बोले-"बेटी वे सब नपुंसक थीं.....।"

आज तक भी उनके ये शब्द मेरे स्मृतिपटल पर अंकित हैं। मैं एक क्षण तो आश्चर्य में पड़ गई क्योंकि मैं स्वयं बहुत ही सरल थी अतः किसी के माया-प्रपंच और कुटिल व्यवहार को नहीं समझ पाती थी।.....पुनः कुछ सोच कर बोली-

"मामा! शास्त्रों में तो उन्हें कन्या ही कहा है। यदि वे नपुंसक होतीं तो उन्हें कन्या क्यों कहते!...."

अनेक प्रश्नोत्तर के बाद मामा बोले—

"देखो, बेटी! तुम्हारा शरीर बहुत ही कमजोर है अतः तुम दीक्षा कैसे निभा सकती हो? यह दीक्षा तो ४० वर्ष की उम्र के बाद लेनी चाहिए।"

मैंने कहा-"मामा! मृत्यु का कुछ भरोसा नहीं है अतः "यह तन पाय महातप कीजे यामें सार यही है।"

बहुत कुछ समझाने, तर्जना-भर्त्सना व फटकार करने पर भी जब वे मुझे टस से मस नहीं कर सके तब सारी गुस्सा अपनी जीजी पर उतार दी। बोले-"तुमने ही इसे दर्शन कथा, शील कथा आदि पढ़ा-पढ़ाकर बरबाद कर दिया है। खूब पढ़ाओ रात-दिन, बस पढ़, बेटी पढ़, इन धर्म कथाओं को ही पढ़.....। आखिर उसका परिणाम क्या निकलेगा? यही तो जो दिख रहा है।" दूसरे दिन मामा महमूदाबाद चले गये। पिता का मन बहुत ही विक्षिप्त हो गया वे जब मेरे से चर्चा करते तब मैं वैराग्य की अच्छी-अच्छी बातें सुनाती—

"देखो, पिताजी! इस अनन्त संसार में मैंने भला कितने जन्म नहीं धारण किये हैं! अतः अब किसको अपने माता-पिता समझना। यह सब झूठा नाता है। कभी अनन्तमती की कथा सुनाने लगती तो कभी जम्बूस्वामी का चरित्र सुनाती। तब पिता जी कुछ शांत हो जाते और बाहर निकलकर अपने बड़े भाई बब्बूमल से मिलते। अन्तरंग की वेदना कहते तब वे भी यही कहते—

"अरे कुछ नहीं, जबरदस्ती शादी करो, उसे बकने दो, वह अभी क्या समझती है? अभी दूध के दाँत नहीं टूटे हैं। भला इतनी छोटी लड़की के ब्रह्मचर्य व्रत ले लेने से दुनियाँ हमें-तुम्हें क्या कहेगी?...।"

पिता सदैव बड़े भाई बब्बूमल और छोटेभाई बालचन्द की बात मानते थे। उनसे परामर्श किये बगैर गृहस्थी का कोई काम नहीं करते थे। वे दोनों भाई भी सदा अच्छी ही सलाह देते थे किन्तु उस समय मेरे मोह

से या गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य से अथवा यों कहो लोक व्यवहार से वे दोनों अपने भाई को मेरे प्रतिकूल राय दे रहे थे।

गाँव में तथा आस-पास के लोग प्रायः ऐसा कहते सुने जाते थे कि-"इस इलाके में सैकड़ों वर्षों से ऐसा नहीं सुनने में आया कि किसी लड़की ने घर से निकल कर ब्रह्मचर्यव्रत लिया हो।"

कोई कहते-"सैकड़ों क्या! हजारों साल का रेकार्ड नहीं है, अतः इस लड़की को कतई व्रत नहीं लेने देना चाहिए।" ऐसी तरह-तरह की बातें सुनकर पिताजी घबड़ा जाते थे और मुझे घर में रोकने का उपाय करने लगते थे। तभी एक बार पिता ने गाँव के प्रमुख श्रावक धर्मात्मा सेठ पन्नालाल जी से कहा—

"चलो, आप मेरी लड़की मैना को समझा दो। वह अभी ब्रह्मचर्य व्रत लेने का आग्रह छोड़ दे।"

पन्नालाल जी आये। उन्होंने बड़े प्यार से कहा—

"मैना बिटिया! तुम्हारा शरीर तो बहुत कमजोर है, एक उपवास करना भी तुम्हारे लिए कठिन है फिर भला तुम यह क्या सोच रही हो? और देखो! आज-कल जमाना बहुत ही खराब है, आजकल घर में रहकर गृहस्थाश्रम में ही धर्म का साधन करना चाहिए।"

यद्यपि बड़े जनों से मेरी बोलने की आदत नहीं थी फिर भी साहस बटोर कर बोली-"बाबाजी! इस संसार में मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनाई से ही मिलती है, इसको पाकर संयम ग्रहण कर लेना चाहिए। देखो! वैराग्य भावना में भी लिखा है—

"पोषत तो दुख दोष करे अति, सोषत सुख उपजावे।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावे।।
राचन जोग सरूप न याको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामें सार यही है।।"

देखो! इस शरीर को पोसने से, खिलाने-पिलाने से, यह दुख और पाप को पैदा करेगा किन्तु जैसा-जैसा इसे सुखाया जायेगा वैसा-वैसा ही यह परलोक में अनेक सुख देवेगा। इसमें राग करने योग्य इसका स्वरूप नहीं है, इससे विरक्त ही होना अच्छा है। इस मनुष्य शरीर को पाकर महान् तप करना चाहिए, बस यही इस मनुष्य जीवन में सार है।" वे बोले—"बिटिया! जब शरीर खूब स्वस्थ होता है तभी तप किया जाता है। तुम तो बहुत ही नाजुक हो.....।"

इसी बीच माँ बोल उठीं-"मन्दिर से आकर इसे हाथ की हाथ दूध न मिले तो चक्कर आने लगते हैं। उपवास करना इसके वश की बात नहीं है।"

मैंने कहा-"धीरे-धीरे सब अभ्यास हो जावेगा तब अपने आप सहन शक्ति आ जायेगी और फिर जितने उपवास कर सकूंगी उतने ही करूँगी। प्रतिदिन एक बार खाकर भी तो शरीर चल सकता है। देखो, अनन्तमती ने भी तो कितने कष्ट सहन किये थे, फिर दीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया था और स्त्रीपर्याय से छूट कर स्वर्ग में देव हो गई हैं।"

इत्यादि प्रकार से बहुत देर तक चर्चा होती रही, अन्त में मेरी दृढ़ता को देखकर वे चले गये और पिता से बोले—

"उसे जो समझाने जाता है, वह उसको ही समझा देती है।"

पुनः कुछ दिन बाद, मन्दिर के निकट में एक धर्मात्मा सेठ बाबूलाल रहते थे, उन्हें बुला लाये। वे भी आकर समझाने लगे—

"देखो बिटिया! आजकल ब्रह्मचारी, त्यागियों की कोई कीमत नहीं है। ये सब खाने के लिए घर छोड़ देते हैं,

पुनः समाज में इन्हें कैसे रोटी मिलती है, सो तो हम लोग ही जानते हैं।"

मैंने कहा-"जिसे आत्मकल्याण करना है उसे समाज के मान-अपमान से क्या सुख-दुःख? अपना भाग्य अच्छा होगा, यशस्कीर्ति कर्म का उदय होगा तो लोग सम्मान करेंगे अन्यथा अपमान और निन्दा करेंगे। त्यागी व्रतियों का कर्तव्य है कि वे अपने चारित्र को उज्ज्वल रखें, फिर भी कोई अपमान करता है तो क्या हुआ? देखो, शास्त्र में बहुत से उदाहरण हैं कि महामुनियों को दुष्टों ने घानी तक में पेल दिया था—

''अभिनन्दन मुनि आदि पाँच सौ, घानी पेल जु मारे।
तो भी श्रीमुनि समता धारी, पूरब कर्म विचारे।।''

ऐसे ही मैं पंक्तियों पर पंक्तियाँ सुनाने लगी तो वे सेठ जी कुछ देर तक आश्चर्य से देखते ही रहे तत्पश्चात् उठकर चले गये और जाकर पिता से कहा—

"लाला छोटेलाल! यह मैना अपने नाम के अनुसार ही विदुषी है। इसकी बातों को सुनकर तो हम लोगों को भी एक क्षण के लिए संसार असार दिखने लगता है।"

इसके बाद पिता ने जितने लोगों को लाना चाहा कोई नहीं आये। प्रत्युत् बोले उसे समझाना-बुझाना व्यर्थ है, वह अपनी लगन की बहुत ही पक्की है।

पूजा का प्रेम —

मुझे भगवान की पूजा करने का बहुत ही प्रेम था। उस समय तक गाँव में महिलाएं मन्दिर में पालथी मारकर नहीं बैठती थीं बल्कि पैर समेट कर बैठकर जाप करतीं और चली आती थीं। मैंने अपने हाथ से सामग्री धोकर, चौकी पर रखकर तथा सुखासन से बैठकर पूजा करना शुरू कर दिया। कुछ दिन बाद माँ भी मेरे साथ पूजा करने लगीं। उसके पूर्व यदि कोई एक-दो महिलाएं पूजा करती थीं तो वे सूखे चावल से खड़ी-खड़ी ही पूजा पढ़कर चावल चढ़ा देती थीं। अब वे महिलाएं पहले तो कानाफूसी करने लगीं, पश्चात् हँसना शुरू किया, फिर कहना शुरू किया कि-

"ये तो बहुत धर्मात्मा बन रही है, अब तो पुजारिन बन रही है.....?"

मैंने अच्छे उत्तम कार्य में उनके हँसने व कुछ भी कहने की परवाह नहीं की, अपना क्रम चलता रहा। पूजा करके आसन से ही बैठकर चौकी पर शास्त्र विराजमान कर स्वाध्याय करना शुरू किया, तब तो कुछ वृद्धा महिलाएं कहने लगीं-

"अरे! ये तो पंडिता बन रही है.....?"

उस समय तक ऐसा पिछड़ा वातावरण था कि महिलाएं मन्दिर में आसन से बैठने में भी हिचकिचाती थीं। जब मेरा क्रम ऐसा ही चलता देखा तो कुछ वृद्धा महिलाएं, युवती और धर्मनिष्ठ महिलाएं भी धुली सामग्री लेकर आसन से बैठकर पूजा करने लगीं और शास्त्र स्वाध्याय भी ढंग से होने लगा।

आज उसी गाँव टिकैतनगर के बारे में सुनने में आता है कि वहाँ पर यदि ४० घर हैं तो प्रायः सभी ही स्त्री-पुरुष शुद्ध वस्त्र पहन कर विधिवत् जिनप्रतिमाओं का पंचामृत अभिषेक करते हैं, पुनः ठाठबाट से पूजा करते हैं। पूजा-पाठ में, विधिविधान में यदि महिलाएं पुरुषों से आगे हैं तो पुरुष भी पीछे नहीं हैं। सुना था अभी[१] इन्द्रध्वज विधान में ५० जोड़े बैठे और भी अनेक स्त्री-पुरुषों ने भाग लिया था। वहाँ पर नित्य पूजा की विशेषता तो है ही तथा नैमित्तिक विधान अनुष्ठान भी सदा ही होते रहते हैं। वहाँ पर उस समय कितनी ही महिलाओं ने मेरे से ऋषिमण्डल विधान आदि विशेष पूजायें लिखाई थीं और बड़े भाव से उन पूजाओं को करने लगी थीं।

वहाँ महिलाओं में स्वाध्याय की इतनी जागृति आई थी कि बाद में अष्टमी चतुर्दशी को मध्याह्न में कुछ

---

१. सन् १९८० में।

महिलाओं ने मिलकर शास्त्र गोष्ठी चलाना शुरू कर दी थी। यद्यपि यह परम्परा बहुत दिन तक नहीं चली फिर भी महिलाओं ने ज्ञान संचय करने में अपना अच्छा कदम बढ़ा लिया था।

माँ ने सन् १९७१ में दीक्षा ली थी। उसके पूर्व तो वे मंदिर में बहुत-सी महिलाओं को तत्त्वार्थसूत्र, भक्तामर और सहस्त्रनाम आदि पाठ सुनाती थीं और रात्रि में महिलाओं की सभा में शास्त्र का वाचन करती थीं, यह उनकी दैनिकचर्या थी। महिलाएं भी उनके शास्त्रवाचन से बहुत ही प्रभावित रहती थीं, अतः उनकी दीक्षा के बाद बहुत सी महिलाओं को उनके पाठ और शास्त्रवाचन का अभाव खटकता रहा है।

मैंने बचपन से ही यह अनुभव किया है कि किसी भी अच्छे कार्य में आगे आने पर प्रायः लोगों का हँसीपात्र बनता पड़ता है, कभी-कभी अपमान भी सहने पड़ते हैं तथा कुछ लोग असहिष्णुता से निन्दा भी करने लगते हैं लेकिन बचपन से ही मेरा स्वभाव था कि मैं इन हँसी, अपमान या निन्दा से न तो घबड़ाती थी और न अपने अच्छे कार्यों से विमुख ही होती थी, प्रत्युत् अपने कर्त्तव्य में लगी रहती थी। यही बात आज भी है। वे ही संस्कार काम कर रहे हैं। मैं सोचा करती हूँ—

"हो सकता है कि यह दृढ़ता, यह मनोबल, यह शुभ कार्यों को प्रारम्भ कर न छोड़ने का साहस शायद मुझे पूर्वजन्म के विशेष पुण्य से ही उपलब्ध हुआ है। जब कोई व्यक्ति अच्छे कार्यों के प्रारंभ करने पर निन्दा आदि होने से उसे छोड़ देते हैं तब मुझे उन पर बहुत ही करुणा आती है कि—

"अहो! अच्छे कार्यों में विरोध उपस्थित होने पर इन्हें उसे न छोड़ने का साहस क्यों नहीं है? छोटी-छोटी विघ्न-बाधाओं से ये लोग क्यों घबड़ा जाते हैं?"

यह अनुभव की बात है कि जिनका मनोबल मजबूत है वे हर एक कार्य में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। हाँ, देर भले ही लगे किन्तु उन्हें असफलता नहीं मिलती है। फिर जिनके हृदय में जिनेन्द्रदेव की भक्ति विद्यमान है और जो आगम के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाले हैं, वे यदि आगम के अनुकूल ही कोई कार्य प्रारंभ करते हैं तो उन्हें लोगों के शब्द-प्रहारों से डरना नहीं चाहिए।

अद्भुत स्वप्न —

एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने स्वप्न देखा कि—

"मैं श्वेत वस्त्र पहनकर हाथ में पूजन की सामग्री लेकर मन्दिर जा रही हूँ। आकाश में ऊपर पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्रमा मेरे साथ-साथ ही चल रहा है। मेरे ऊपर और मेरे ही आस-पास में खूब अच्छी चाँदनी छिटक रही है किन्तु अन्यत्र कहीं भी चाँदनी नहीं जा रही है। इस दृश्य को देखकर पड़ोस के श्रावक लोग मुख में अंगुली डालकर बहुत ही आश्चर्य कर रहे हैं और साथ ही प्रशंसा भी कर रहे हैं...।"

इस अद्भुत स्वप्न को देखने से मुझे बहुत ही प्रसन्नता रही और मैंने अपनी इच्छा सफल होती हुई समझी थी। प्रातः जब मैं स्नान और देवपूजन से निवृत्त हुई तब मैंने यह स्वप्न अपने छोटे भाई कैलाशचन्द को कहा। उसने झट से उत्तर दिया—

"जीजी! तुम जल्दी ही अपनी मनोभावना सफल करोगी, ऐसा दिखता है।"

शाम को जब पिताजी ऊपर आकर छत पर बैठे तब मैंने उन्हें भी अपना यह स्वप्न सुनाया। सुनकर वे जोर से हँसने लगे और फिर बोले—

"बिटिया मैना! तुम तो घर से उड़ जाने के लिए ही मुझे बहकाती रहती हो.....।"

यद्यपि उस समय स्वप्न विनोद की भाषा में बदल गया था किन्तु उस स्वप्न से भी माता-पिता ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि—"अब यह लड़की ज्यादा दिन गृह-बन्धन में नहीं रहेगी, इसके साथ सबकी प्रशंसारूपी चाँदनी भी चलती रहेगी।"

£४¤

आचार्य देशभूषण जी महाराज का दर्शन —

इसी वैराग्य की चर्चा के बीच एक दिन पिता ने आकर कहा कि—"सुना है, लखनऊ में एक दिगम्बर मुनिराज आये हुए हैं, उनका बहुत ही प्रभाव है।"

मुझे दर्शनों की उत्कण्ठा जाग उठी किन्तु पिताजी इसलिए दर्शन कराने हेतु ले जाने को राजी नहीं हुए कि—"कहीं यह वहीं न रह जावे.....।"

मेरे वैराग्य की चर्चा आचार्य महाराज तक पहुँच गई। किसी ने कहा—

"टिकैतनगर में एक छोटी लड़की है जो दीक्षा लेना चाहती है।" तब महाराज जी ने कहा—

"हाँ, ऐसे-ऐसे श्मशान वैराग्य तो बहुतों के देखे हैं। छोटी उम्र में दीक्षा लेना कोई सरल काम नहीं है.....।"

यह महाराज जी का जवाब किसी के द्वारा मेरे पास भी आ गया, फिर भी मैं रंचमात्र भी नहीं घबड़ाई और अपने निर्णय पर अडिग रही। कुछ ही दिनों के बाद संघ टिकैतनगर आ गया, मानो मेरे मन की मुराद पूर्ण हुई। मैंने अपने जीवन में पहली बार दिगम्बर आचार्य के दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल माना और जीवन को भी धन्य समझा। मध्याह्न में समय पाकर मेरी माँ मुझे साथ लेकर महाराज जी के पास पहुँचीं और हाथ जोड़कर महाराज जी से बोलीं—

"महाराज जी! यह लड़की ब्रह्मचर्य व्रत लेना चाहती है किन्तु हम लोग ऐसा नहीं चाहते हैं, इसलिए आप इसे समझाइये।"

यद्यपि उस समय तक मैं बहुत ही संकोची स्वभाव की थी, मुझे किसी के सामने बोलने का साहस नहीं होता था फिर भी मैं साहस बटोर कर बोली—

"महाराज जी! मुझे आत्म-कल्याण करने का अधिकार है या नहीं?..."महाराज जी बोले-"जैन धर्म में सभी को आत्मकल्याण करने का अधिकार है। तुम तो मनुष्य हो, यहाँ पशु-पक्षी तक को भी अधिकार है।" मेरा मन खिल उठा। फिर भी माँ बोलीं-

"महाराज जी! कुँवारी कन्या कैसे दीक्षा ले सकती है?"

तभी मैं बीच में बोल उठी-"महाराज जी! ब्राह्मी-सुन्दरी और चन्दना कुंवारी कन्या थीं या नपुंसक?"

महाराज जी हँस पड़े और बोले-"वे सब कुँवारी कन्यायें ही थीं नपुंसक नहीं, जैन धर्म में तो नपुंसक को दीक्षा लेने का अधिकार ही नहीं है।"

मुझे शान्ति मिली और एक बला टली, ऐसा महसूस हुआ। पुनः एक दिन समय पाकर मध्याह्न में मेरी माँ मुझे साथ लेकर फिर महाराज जी के पास गईं और बोलीं—"महाराज जी! इसका हाथ देखकर बताओ, इसके भाग्य में विवाह है या नहीं!"

महाराज जी ने हाथ देखा और बहुत ही प्रसन्न होकर बोले—

इसके हाथ में राजयोग है, यह बहुत ही शीघ्र घर छोड़ देगी और इसका मरण संन्यास में है, घर में नहीं है।"

तब मेरी प्रसन्नता का तो पार ही नहीं रहा तथा महाराज जी के उन शब्दों से माँ को भी कुछ शांति मिली। यद्यपि मेरी माँ ज्योतिष के नाम से ही चिढ़ती थीं और मैं भी ज्योतिष के प्रति अविश्वास रखती थी फिर भी दिगम्बर मुनि से पूछने में माँ को अविश्वास न होकर विश्वास था, अतएव उन्होंने प्रश्न किया था।

आचार्यश्री ने कहा-"तुम्हें वैराग्य किस कारण से हुआ?"

तब मैंने कहा-"महाराज जी! पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रंथ का स्वाध्याय करने से मुझे वैराग्य हुआ है।

उसमें आया है—

इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः।
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयानन्तशः।।
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि में हित्वा विकल्पावलिं।
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तपदवीं तां देव! पूर्णां कुरु।।३।।

हे देव! मैंने चिरकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुये बहुत बार ऊँचे से ऊँचा इन्द्र पद प्राप्त किया है तथा नीचे से नीची निगोद पर्याय को भी अनन्त बार प्राप्त किया है। बीच में और भी जो समस्त अनन्त भव हैं उन सबको भी अनन्त बार प्राप्त किया है अतः उनमें से मुक्ति को प्रदान करने वाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणति को छोड़कर और कोई भी वस्तु अपूर्व नहीं है। इसलिए रत्नत्रय स्वरूप जिस पदवी को अभी तक मैंने नहीं प्राप्त किया है, हे नाथ! अब मेरे लिए उस अपूर्व पदवी को ही पूर्ण कीजिए।

इसलिए हे महाराज जी! अब मुझे भी इस रत्नत्रय को धारण करने की ही इच्छा हो रही है।

महाराज जी! इस ग्रन्थ के "अनित्यपंचाशत्" और "एकत्वसप्तति" अधिकार तो मुझे बहुत ही प्रिय लगते हैं।

बहिर्विषयसंबंधः सर्वः सर्वस्य सर्वदा।
अतस्तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ।।[१]
मोहोदयविषाक्रांतमपि स्वर्गसुखं चलम्।
का कथापरसौख्यानामलं भवसुखेन मे।।[२]"

इत्यादि प्रकार से मैंने कई एक श्लोक सुना दिये, तब महाराज जी ने कहा— "ठीक है, यदि तुम्हारा मन विरक्त हो चुका है तब फिर पुरुषार्थ करो।"

ऐसे ही महाराज जी को आहार देते हुये और उनके दर्शन करते हुए तथा उनका उपदेश सुनते हुए दो-चार दिन निकल गये।

सहस्रनामस्तोत्र —

एक दिन बहुत सी लड़कियाँ मध्याह्न में आचार्यश्री के पास "जिनवाणी" नाम की पुस्तक लेकर बैठ गयीं और बोलीं—

"महाराज जी! हमें सहस्रनाम पढ़ा दीजिये।"

उन लड़कियों में मैं भी थी। महाराज जी ने स्तोत्र पढ़ाना शुरू किया। कुछ ही देर में वह स्तोत्र पूरा का पूरा पढ़ा दिया। आज सर्वप्रथम मैंने दिगम्बर मुनि के मुख से अध्ययन किया था अतः मैं अपने को "अनन्तमती" के समान भाग्यशालिनी समझने लगी, मैं उस समय हर्षविभोर थी।

महाराज जी बोले-"देखो! सभी लड़कियाँ इसे कई बार पढ़कर अच्छा शुद्ध कर लो, मैं कल सबसे अलग-अलग सुनूँगा।"

घर में मुझे काम से फुरसत ही नहीं मिली, फिर भी दूसरे दिन सभी लड़कियों के साथ मैं भी "जिनवाणी" लेकर आ गई। सभी ने क्रम-क्रम से स्तोत्र सुनाना शुरू किया। महाराज जी ने थोड़ा-थोड़ा सबका सुना और बीच-बीच में रोकते चले गये। जब मैंने सुनाना शुरू किया तब महाराज जी बड़े प्रेम से

---

१. सब बाह्य विषयों का सम्बन्ध सदा काल से सभी प्राणियों के साथ चला ही आ रहा है किन्तु उनमें भिन्न चैतन्य और समीचीन ज्ञान इन दोनों को प्राप्त करना ही दुर्लभ है।

२. मोह के उदय रूप विष से मिश्रित जब स्वर्ग का सुख भी नश्वर है तब भला दूसरे तुच्छ सुखों के बारे में क्या कहा जाये इसलिए अब मुझे संसार सुख नहीं चाहिए। (एकत्वभावना दशक)

सुनते ही रहे। मैंने पूरा स्तोत्र सुना दिया तब महाराज जी प्रसन्न मुद्रा में बोले—

"तुमने बहुत ही शुद्ध सुनाया है, देखो! तुम इस स्तोत्र का पाठ प्रतिदिन करना। यह स्तोत्र तुम्हारे सभी मनोरथों को सफल करेगा।"

मानों मुझे यह एक वरदान ही मिल गया है। ऐसा समझकर मैंने भी प्रतिदिन उस स्तोत्र का पाठ करना शुरू कर दिया।

मैंने पुनः महाराज जी से निवेदन किया कि—"महाराज जी! आप मुझे कुछ और पढ़ा दें।"

परन्तु महाराज जी ने टाल दिया क्योंकि वे मेरे वैराग्य की बात अच्छी तरह समझ चुके थे और सामाजिक विरोध भी देख रहे थे।

प्रथम केशलोंच दर्शन —

एक दिन आचार्य महाराज का केशलोंच होना था। मंदिर के बाहर बहुत बड़ा पाण्डाल बना था। इसी स्थान पर कभी-कभी सर्कस आदि दिखाए जाते थे। जैन घराने की महिलाओं को सर्कस दिखाने के लिए इसी स्थान पर पाण्डाल बनाकर नाटक का रंगमंच बनाया गया था जहाँ पर 'अकलंक निकलंक' नाटक दिखाया गया था। उस समय इसी स्थान पर महान् वैराग्यप्रद केशलोंच के लिए आचार्यश्री का मंच बनाया गया था। आचार्यश्री केशलोंच कर रहे थे, हजारों जैन-जैनेतर लोग इस वैराग्यमयी दृश्य को अपनी आँखों से देख रहे थे। मैं भी महिलाओं में सभी के आगे ही बैठी इस उत्तम दृश्य को देख रही थी। देखते-देखते मध्य में कुछ लोग दुःख से खेदसूचक शब्द कह रहे थे—

"अरे! देखो, महाराज जी कैसे निर्दय होकर अपने हाथों से घास-फूंस के समान शिर और दाढ़ी मूँछों के बाल उखाड़ रहे हैं!"

कुछ लोग आश्चर्यचकित हो मुँह फाड़ रहे थे और कह रहे थे—"ओह! यह कैसी साधुचर्या है, जहाँ इतनी निर्ममता!"

नाना प्रकार के लोग नाना प्रकार की बातें कर रहे थे। इधर मेरे मन में वैराग्य का स्रोत उमड़ता चला आ रहा था। मैं मन ही मन सोचने लगी—"हे भगवन् ! हे तीन लोक के नाथ ! मेरे जीवन में ऐसा दिन कब आयेगा....?" इसी विचार के साथ मेरी बायीं आँख और बाईं भुजा फड़कने लगी। मेरे मन में भावों की सफलता की आनन्द लहर दौड़ गई। मैं पुनः सोचने लगी—

"सचमुच में शरीर से निर्ममता की यही तो परीक्षा है और जब इसमें उत्तीर्ण हो जाऊँगी, तब संसार का किनारा पा लूँगी।"

इस प्रकार से उस समय वैराग्यमयी अनेक उत्तम-उत्तम विचार आते गये। महाराज जी का केशलोंच पूर्ण हो गया और महाराज जी ने बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया। श्रोतागण भाव-विभोर हुए अपने-अपने स्थान चले गये।

उस दृश्य को देखे हुए यद्यपि आज मुझे ५१[१] वर्ष हो गये हैं फिर भी जब भी मैं केशलोंच करती हूँ प्रायः मुझे उस समय का वह आचार्यश्री का प्रथम केशलोंच दर्शन, उस समय के उठने वाले मेरे अंतःस्थल के विचार और मेरी शुभ आँख फड़क कर मुझे उज्ज्वल भविष्य की सूचना मिलना आदि सारा दृश्य और सारी बातें चलचित्र के दृश्य के समान मेरे स्मृति पटल पर आज भी ज्यों की त्यों आ जाती हैं।

जब मैं दूसरों का केशलोंच करने लगती हूँ या देखने लगती हूँ तब भी प्रायः वह दृश्य मेरे दृष्टिपथ के सामने उपस्थित हो जाया करता है। आज जो लोग सभा में साधुओं के केशलोंच करने को प्रदर्शन कहते हैं

---

१. सन् १९९० में लिखा गया है।

और विरोध करते हैं तब मैं यही सोचा करती हूँ कि—"उपासकाध्ययन" में एक पंक्ति आई है—

"हे आत्मन्! तूने कुतूहल बुद्धि से भी सिद्ध धाम का स्पर्श नहीं किया है अन्यथा तू उसे अब तक प्राप्त कर लेता, ऐसे ही यदि कोई मनुष्य कुतूहल की दृष्टि से भी ऐसे वैराग्य के दृश्य देख लेगा और एक क्षण के लिए भी यदि उसके हृदय में वैराग्य की भावना उत्पन्न होगी तो भी कभी न कभी वह भावना अवश्य ही विकसित होकर बड़ा रूप ले सकेगी। इसलिए सभा में हजारों नर-नारियों के बीच केशलोंच करना तो हजारों वैराग्य के उपदेश की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्या पता कब किसके मन में वैराग्य का अंकुर प्रगट हो जावे और वह कालांतर में केशलोंच करने का दिन ला देवे!

देखो, लोग सिनेमा के दृश्यों को देखकर उसका अनुकरण करना शुरू कर देते हैं। बेमालूम ये सब दृश्य मन पर अपना प्रभाव डाल जाते हैं वैसे ही यह महावैराग्यमयी केशलोंच का दृश्य भी भव्यों के मन पर वैराग्य का प्रभाव डाल देता है और वह प्रभाव आज नहीं तो कल, एक न एक दिन अथवा इस भव में न सही तो किसी न किसी भव में अपना कार्य अवश्य ही करेगा इसमें कोई संदेह नहीं है, इसलिए सभा के केशलोंच की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिए प्रत्युत् निन्दकों को समझाना चाहिए।

गृह बन्धन से छूटने का पुरुषार्थ प्रारम्भ—

एक दिन समय पाकर मैंने महाराज जी से कहा—"महाराज जी! आपके विहार के समय मैं भी आपके साथ चलना चाहती हूँ।"

महाराज जी सामाजिक वातावरण से कुछ असमंजस में अवश्य थे फिर भी मेरे साहस को बढ़ाते रहते थे। इधर जैसे ही महाराज जी के विहार का समय निकट आया वैसे ही संघ में एक क्षुल्लक सुमतिसागर नाम के थे[१], वे समाज के लोगों को अन्दर ही अन्दर भड़काने लगे और बोले—

"इस लड़की को जबरदस्ती ले जाकर कहीं आरा आदि के आश्रम में छोड़ आओ। इसकी इतनी छोटी उमर है। संघ में रहना कदापि उचित नहीं है क्योंकि संघ में कोई एक भी महिला, ब्रह्मचारिणी या आर्यिका नहीं है।"

किन्तु इससे पूर्व उन्होंने मुझे एक बार यह कहा था कि—"देखो बेटी! तुम आश्रम में कभी भी नहीं जाना क्योंकि काजल की कोठरी में कैसो हूँ सयानो जाय, एक दाग लागे पर लागे ही लागे है।"

ऐसी ऐसी अनेक शिक्षायें देकर उन्होंने मेरे उत्साह को बढ़ा दिया था और मेरे दृढ़ वैराग्य की बहुत ही प्रशंसा करते रहते थे पुनः पता नहीं कि उन्हीं क्षुल्लक जी ने ही ऐसी कूटनीति क्यों चलाई? और समाज को एक तरफ ले-ले जाकर क्यों भड़काने लगे? जो भी हो, मुझे इस बात का आश्चर्य तो अवश्य हुआ किन्तु मैं किंचित् भी घबराई नहीं, धैर्य से अपने घर से निकलने के पुरुषार्थ में लगी रही। उधर घर में माँ-पिता को जैसे-तैसे समझाती रहती। वे कुछ क्षण के लिए समझ जाते और महाराज जी के साथ भेजने को तैयार हो जाते पुनः क्षुल्लक जी के व समाज के विरोध से तथा मोह, ममता से विक्षिप्त हो जाते।

प्रातः महाराज जी का विहार त्रिलोकपुर की तरफ होना निश्चित था। मेरे चाचा बालचन्द्र आदि सभी ने मिलकर यह निर्णय कर लिया कि—

"आज रात्रि में महाराज जी की आरती व भजन के समय भी मैना को घर से वहाँ नहीं भेजना है।" कड़ी पहरेदारी जैसी व्यवस्था थी। मैं उस विरुद्ध वातावरण से घबड़ा गई और रात्रि में घर में महामंत्र का जाप करती रही। जब रात्रि के १०.३० बज चुके थे, सब लोग अपने-अपने घर पर चले गये थे तब मैं उठी। माँ को समझा-बुझाकर महाराज जी के अंतिम दर्शन करने की आज्ञा लेकर अकेली झट महाराज जी के स्थान पर आ गई। कुछ भाक्तिक श्रावक, जो कि महाराज जी के पास ही सोते थे, उन्होंने मुझे देखा तो झट अन्दर

---

१. ये कानपुर के थे और आचार्य महाराज से ही दीक्षित वयोवृद्ध थे।

बुलाकर महाराज जी के दर्शन करा दिये। मैंने घबड़ाकर महाराज जी से एक स्वर में ही सारी स्थिति सुना दी। महाराज जी ने मौन से ही मुझे धैर्य रखने का संकेत किया और मेरे मस्तक पर पीछी रखकर बहुत ही वात्सल्य से आशीर्वाद दिया। तब मेरा मन कुछ शांत हुआ। उसके पूर्व दिन भी मैंने दिन में महाराज जी से चाचा-ताऊ के विरोध के शब्द सुनाये थे। तब उन्होंने यही कहा था कि—

"वे सब अपना कर्त्तव्य कर रहे हैं, तुम अपना कर्तव्य करो। तुम्हें उनके शब्दों पर ध्यान ही नहीं देना चाहिए, प्रत्युत् सुनकर मन में उतारना ही नहीं चाहिए। देखो, अर्जुन का लक्ष्य बाण बेधते समय न पत्तों पर था, न सघन वृक्ष पर और न किसी पर, उसे तो केवल चन्द्रवेध के लक्ष्य की आँख की पुतली ही दिख रही थी और कुछ भी नहीं दिख रहा था। वैसे ही तुम्हें भी केवल अपना एक लक्ष्य 'घर से निकलना' ही दिखना चाहिए, बाकी कौन क्या कह रहे हैं, यह कुछ भी नहीं दिखना चाहिए।"

महाराज जी की यह शिक्षा पूर्णतया मेरे हृदय में प्रवेश कर चुकी थी। अतः अब मैं निश्चिंत हो घर आकर सो गई। प्रातः जल्दी उठकर सामायिक आदि से निवृत्त होकर महाराज जी के विहार में आ गई। महाराज जी ने मन्दिर के दर्शन किये। बाहर निकलते ही उनकी आरती की गई और पुष्पवर्षा तथा जयकारे के नारों के साथ महाराज जी सरावगी मुहल्ले से निकल कर बाजार में होते हुये गाँव के बाहर आ गये। मैं सभी महिलाओं के साथ थी। माँ भी साथ ही चल रही थीं। जब महाराज जी गाँव के बाहर पहुँचे तभी श्रावकों ने महाराज जी से प्रार्थना की कि अब आप सब महिलाओं को, बच्चों को आशीर्वाद देकर वापस जाने की आज्ञा देवें। महाराज जी रुके, सबने दर्शन कर वापस प्रस्थान किया और मैं महाराज जी के साथ आगे चल पड़ी। बस फिर क्या था! 'हो हल्ला' मच गया। मेरे ताऊ और चाचा जोर-जोर से मुझे वापस चलने को कहने लगे। जब मैंने उन किसी की एक न मानी तब ताऊ ने समझाना प्रारंभ किया—

"बेटी! अभी वापस चलो, तुम अकेली महाराज जी के साथ कैसे जाओगी? हम तुम्हें चातुर्मास में वहीं पर भेज देंगे।"

इधर महाराज जी के चातुर्मास के लिए टिकैतनगर के लोग लाखों प्रयत्न कर रहे थे। कुछ संभावना भी टिकैतनगर चातुर्मास की थी, फिर भी मैं उस समय वापस घर नहीं आना चाहती थी। मैं रोने लग गई। तब भी वहाँ करुणा करने वाला कौन था? माँ भी पहले से ही रो रही थीं। इतने हल्ले-गुल्ले के विषम वातावरण को देखकर महाराज जी तो लम्बे पैरों आगे बढ़ गये। मैं उन्हें चातक पक्षी की तरह आँख फाड़कर देखने लगी और मन ही मन कहने लगी—

"हे तीर्थंकर देव! हे दया के सागर! अब तुम मेरे ऊपर दया करो और मेरी रक्षा करो, मुझे घर जाने से बचाओ।"

परन्तु शायद अभी मेरी काललब्धि नहीं आई थी। जब मैं आगे बढ़कर भागने को तैयार हुई तभी मेरे ताऊ ने आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया और जबरदस्ती पकड़कर घर ले आये। मैं रास्ते में रोते हुए वापस आ रही थी और साथ ही मन में स्त्रीपर्याय की घोर निन्दा कर रही थी तथा यह सोच रही थी कि 'यदि मैं पुरुष होती तो रात-बिरात कभी भी दक्षिण चली जाती और किसी भी मुनि से दीक्षा ले लेती। जो भी हो अब मैं इस जन्म में ऐसा ही पुरुषार्थ करूंगी कि जिससे मुझे इस संसार में पुनः स्त्रीपर्याय न मिले।' उस दिन प्रायः सारे दिन ही मैं रोती रही। खाना-पीना कुछ नहीं किया, मात्र जरा सा दूध पीकर रह गई थी। यद्यपि मेरे इस प्रकार के रुदन से माँ बहुत ही दुःखी हुईं परन्तु उनके लिए तो इधर कुँआ और उधर खाई दिख रही थी। वे मुझे भेज देतीं तो भी उन्हें दुःख था और नहीं जा पाई सो रोती रही, इसका भी उन्हें दुःख रहा।

£५¤

समय ऐसी चीज है कि गहरे से गहरे घाव पर भी मलहम-पट्टी करके उसे अच्छा कर देता है, भर देता है किन्तु मेरे लिए समय ने उल्टा ही काम किया। जैसे-जैसे वह बीतता जाता, वैसे-वैसे मेरी आकुलता और चिन्ता बढ़ती जाती। इधर गांव के इस विषम वातावरण से आचार्यश्री ने यहाँ टिकैतनगर के चातुर्मास का मन ही हटा लिया और कई एक दिन बाद उनके बाराबंकी चातुर्मास होने का समाचार आ गया।

इसके पूर्व इधर मैं घर के सारे कामों को करते हुये भी पढ़ने में अपना उपयोग लगाती रहती थी। माँ गर्भवती थीं, प्रायः नवाँ महीना चल रहा था, उनसे उठना-बैठना, घर के काम करना कठिन हो रहा था अतः मैं विरक्तमना होकर भी और चिंतित होकर भी, माँ की सेवा, घर के सभी काम व नन्हें-नन्हें भाई-बहनों को सम्भालना अपना कर्तव्य समझकर बड़े प्रेम से कर रही थी।

आचार्य संघ के दर्शन का प्रलोभन —

पिताजी रोज शाम को छत पर बैठकर मनोरंजन किया करते थे। वे एक दिन बोले—"देखो बिटिया! सुना है सम्मेदशिखर जी में बहुत बड़ा संघ ठहरा हुआ है। लोग कहते हैं कि उसमें बहुत सी आर्यिकाएं भी हैं, अतः तुम्हें मैं वहीं भेज आऊँगा, तुम चिन्ता मत करो।"

फिर क्या था, मैंने जिद करना शुरू कर दिया और बोली—"आज ही मुझे शिखर जी ले चलो, संघ का दर्शन करा दो।"

तब पिताजी ने आज-कल, आज-कल कहकर टालना शुरू किया और मुझे रोते देखकर सान्त्वना देना शुरू कर दिया किन्तु मुझे एक-एक दिन क्या, एक-एक क्षण भी निकालना कठिन हो रहा था। उस समय मैं अपनी पराधीनता की, अपने पूर्वकृत कर्मों की निन्दा करके ही मन को कुछ शान्त कर पाती थी।

एक दिन पिता ने पाठशाला के पण्डित जी को बुलाकर कहा—"बिटिया! तुम इनसे कुछ पढ़ो, जिससे तुम्हारा मन बहल जायेगा।"

यद्यपि मैंने एक-दो दिन कुछ पढ़ा। पण्डित जी से छहढ़ाला के बाद की पुस्तकों को पढ़ने के नाम लिखे। पण्डित जी ने बताया कि छहढ़ाला के बाद रत्नकरण्डश्रावकाचार, सिद्धान्त प्रवेशिका, द्रव्यसंग्रह, धनंजय नाममाला आदि पढ़नी चाहिए किन्तु मुझे पंडित जी के पास बैठकर पढ़ने का समय नहीं मिल सका। दूसरी बात महाराज जी ने एक दिन कहा था कि—

"आजकल का समय बहुत खराब है, तुम्हें अन्य किसी से न पढ़कर स्वयं ही अध्ययन करना चाहिए। तुम्हारी उम्र बहुत छोटी है, व्यर्थ ही कोई उँगली न उठा दे।"

इस गुरु-शिक्षा से भी मैं सावधान थी, अतः पण्डित जी से न पढ़कर मैंने स्वयं ही रत्नकरण्डश्रावकाचार रटना शुरू कर दिया। घर के काम-काज करते हुए तथा नन्हें-नन्हें भाई-बहनों को संभालते हुए, गोद में खिलाते हुए भी मैं प्रतिदिन ४-५ श्लोक याद कर लिया करती थी और पुनः अपनी छोटी बहन शांति को या भाई कैलाश को सुना दिया करती थी।

मैं उस समय प्रातः जल्दी उठकर नियमित सामायिक करती, मन्दिर में शुद्ध द्रव्य से पूजा करती और घर में शुद्ध भोजन ही बनाकर खाती थी तथा सम्मेदशिखर दर्शन के लिए और आचार्य संघ में रहने के लिए प्रायः समय पाकर माता-पिता से कहा करती थी।

श्रद्धा से मन्त्रित जल का प्रभाव —

जब एक दिन माँ के पेट में बहुत जोरों का दर्द उठा, वे तड़फड़ाने लगीं। मैं जल्दी से उठकर जिनवाणी लाकर

उन्हें कुछ वैराग्यवर्धक पाठ सुनाने लगी। जब दादी आई और उन्होंने उनको ऐसी स्थिति में देखा तब वे झट से उन्हें पहले से ही साफ किये गये ऐसे एक कमरे में ले गयीं, लिटा दिया और पड़ोस से धाय को बुलाकर अन्दर भेज दिया। दरवाजों पर परदे लगा दिये गये और चारों तरफ से सभी का जाना वहाँ रोक दिया गया।

तब मैं शुद्ध वस्त्र पहन कर एक कटोरी में शुद्ध छना हुआ जल लेकर एकांत में जाकर बैठ गई और जिनवाणी हाथ में लेकर सामने चौकी पर कटोरी रखकर 'सहस्त्रनामस्तोत्र' का पाठ करने लगी। कुछ देर में सहस्त्रनाम पूरा पढ़कर वह जल मंत्रित कर दिया। उस समय सहस्त्रनाम में से एक श्लोक का अर्थ मुझे कुछ समझ में आता था जो यह था—

''पठेदष्टोत्तरं नाम्नां सहस्त्रं पापशांतये।''

जो भगवान के इन १००८ नामों को पढ़ता है उसके हजारों पाप शांत हो जाते हैं। इस श्रद्धा से सहस्त्रनाम का पाठ करके मैं वह कटोरी हाथ में लेकर कमरे से बाहर आई। दादी को जैसे-तैसे राजी करके मैं अन्दर माँ के पास गई और उन्हें कष्ट में दुःखी देख मैंने वह जल उन्हें पिला दिया। दादी के हल्ले-गुल्ले से मैं जल्दी ही बाहर आ गई। तभी कुछ देर बाद दादी ने कहा—

"मैना! जल्दी से थाली बजाओ, तुम्हारी एक बहन आ गई है।"

मैंने थाली बजाई। दुकान पर 'कन्यारत्न' के जन्म का समाचार भेज दिया। किसी ने कहा-"लाला जी! छठी लड़की हुई है खूब कमाई करते रहो, ये सब एक-एक लाख के हुण्डा हैं।"

तभी पिता ने कहा—"चुप रहो, वह कन्या भी मुट्ठी बाँध कर आई है और अपने बड़े भारी भाग्य को साथ में लाई है।"

पिताजी कन्या जन्म के बाद भी घर के वातावरण को अप्रशस्त, गमगीन कतई नहीं होने देते थे प्रत्युत् स्वयं खुश होते थे और दूसरों को भी खुश करते थे।

कुछ देर बाद धाय ने बाहर आकर कहा—"पता नहीं, इस लड़की ने कटोरी में क्या लाकर पिला दिया जिससे बच्चा सुख से हो गया, नहीं तो आज इन्हें बहुत ही कष्ट दिख रहा था और मुझे तो आज बच्चा होने के लक्षण भी नहीं दिखते थे, ऐसा लगता था कि इन्हें आज रात्रि भर भी ऐसे ही निकालना पड़ेगा, या डॉक्टरनी को बुलाना पड़ेगा। तभी दादी ने पूछा—

"तुमने क्या पिलाया था?"

मैंने कहा-"मैंने सहस्त्रनाम पढ़कर जल पिलाया था।"

तब सभी ने इसे स्वीकार किया कि स्तोत्र से मंत्रित जल में बहुत बड़ी शक्ति होती है कि जिसने इनकी प्रसव वेदना को कम कर दिया और तत्काल ही सुखपूर्वक बच्चा हो गया।

अब मैं बहुत खुश थी और समझती थी कि माँ मुझे महाराज जी के दर्शन करने अवश्य ही भेज देंगी। इसके पूर्व जब-जब मैं माँ से बाराबंकी जाकर महाराज जी के दर्शन करने का भाव व्यक्त करती तब वे कह दिया करती थीं कि-

"बिटिया मैना! तुम मेरी यह सौर (प्रसूति) और पार कर दो फिर चली जाना.....दर्शन कर आना.....।"

अतः उनके उन शब्दों को बार-बार याद कर मैं धैर्य धारण कर लिया करती थी। जब माँ को छह दिन हो गये और उधर की भाषा में पहला पानी पड़ गया-छट्ठी हो गई, तभी से मैंने जाने की आकुलता चालू कर दी, किन्तु दादी से वृद्धावस्था के कारण कुछ काम होता नहीं था। इसके अतिरिक्त रवीन्द्र लगभग.....दो साल का था, वह मुझसे बहुत ही हिला हुआ था। मेरे पास ही सोता था, मेरे हाथ से ही खाना खाता था और मेरे पास ही रहता था। उस समय माँ को न पाकर उसने और भी रोना शुरू कर दिया था। मैं ही उसे बहलाती थी

और रात्रि में अपने पास सुलाती थी तथा मेरी जाने-जाने की चर्चा चल रही थी अतः वह छोटा सा बालक रात्रि में मेरी धोती पकड़ कर ही सोता था तथा रात्रि भर धोती पकड़े ही रहता था कि कहीं जीजी मुझे छोड़कर चली न जाये।

जब-जब मैं कहती थी कि—" अब मुझे एक बार बाराबंकी भेज दो तब-तब माँ घबड़ातीं और कहतीं—

"बिटिया मैना! एक पानी और डलवा दो फिर कुछ कहो, देखो, भला रवीन्द्र को कौन संभालेगा.....?"

"मैं चुप हो जाती, किन्तु उन दिनों मेरे हृदय से ममता बिल्कुल निकल गई थी और मेरा हृदय इतना निर्मम बन चुका था कि मुझे उस समय उन माँ-पिता आदि की बातें, ममत्व भरे परिणाम और करुणामयी मुद्रा सब कुछ भी केवल वैराग्य बढ़ाने में कारण बनते थे। मैं सोचने लगती थी—

"अहो! संसार समुद्र को पार करना कितना कठिन है। देखो, यह सब मोही जीव कैसे दुःखी हो रहे हैं? मैं कैसे जल्दी से जल्दी इन सब मोह बन्धनों से छूटकर गुरुदेव की शरण में, धर्म की शरण में पहुँचूँ? क्या करूँ?"

बस सोचते-सोचते जिनेन्द्र देव का स्मरण कर उन्हीं से प्रार्थना करने लगती—"हे नाथ! हे परमकरुणासागर! मुझे भी अब जल्दी ही अपने हाथ का अवलम्बन देकर गृह कूप से निकालो, मेरा बेड़ा पार करो.....।"

धीरे-धीरे दूसरा और तीसरा पानी पड़ गया। यह वह समय था कि जब बच्चे हुई जच्चा को एक माह तक उसी प्रसूतिगृह में ही रहना पड़ता था। वह कुछ भी छू नहीं सकती थी और न उनको ही कोई छू सकता था। भगवान जाने उधर भी आज क्या हो रहा है.....?

रक्षाबन्धन पर्व आ गया था। माँ को २२ दिन हो चुके थे। चौथा पानी[१] पड़ चुका था। मैंने उस कन्या का अपना मनपसंद 'मालती' यह नाम रखा और उसे ऊपर से नहलाकर उठा लिया। नये कपड़े अपने हाथ से सिले हुए थे सो उसे प्यार से पहनाये। पुनः उस कन्या के हाथ से भी पिता व सभी भाइयों के हाथ में राखी बंधवाई। बस मैं मानो कृतकृत्य हो चुकी थी। कन्या को वापस माँ को दे दिया और मैं पुनः महाराज जी के दर्शनों के लिए प्रार्थना करने लगी किन्तु पिता से आज्ञा कदापि नहीं मिल पा रही थी। वे जानते थे और खूब जानते थे कि—

"यह बाराबंकी जाकर फिर वापस नहीं आ सकती है।" दूसरे ही दिन किसी कार्यवश पिता त्रिलोकपुर चले गये थे। उन्हें एक दिन बाद ही आना था। बस, मैंने अच्छा मौका देखकर बहुत कुछ अनुनय-विनय करके माँ को राजी किया और छोटे भाई कैलाशचन्द्र के साथ बाराबंकी जाने का निर्णय बना लिया। यह वह समय था कि जब सयानी कुँवारी कन्या को घर से बाहर भी नहीं निकलने दिया जाता था, तब बाहर दूसरे गाँव, बिना माता-पिता के, अन्य के साथ, अकेली जाना बहुत ही कठिन था फिर भी इतने उत्कण्ठ भावों को आखिर कोई कब तक रोक पाता? शेष में माँ ने कहा—

"देखो बिटिया! तुम पिता के आने से पहले ही आ जाना अन्यथा प्रसूतिगृह (सौर) में ही वो मेरे ऊपर उपद्रव कर डालेंगे कि तुमने मैना को कैसे जाने दिया?....।"

उसके पूर्व भी जब से मेरा गृहत्याग का विचार बना था तभी से पिता सदैव माँ को यही फटकारा करते थे कि—

"तुमने ही इसे रात-दिन पढ़ा-पढ़ा कर ऐसी बना दिया है। न कभी खेलने जाने दिया और न कभी इच्छानुसार पाठशाला ही भेजा, सदा बन्धन में रख-रखकर और शीलकथा, दर्शन कथा आदि कथाएं पढ़ा-

---

१. चौथी बार उन्हें स्नान कराया जा चुका था।

पढ़ा कर इसका मूड खराब कर दिया है.....।"

अतः इस समय भी वे बहुत ही घबड़ा रही थीं। उस दिन तक घर की तिजोरी व दुकान के रुपयों की सभी चाबियाँ मेरे पास ही रहती थीं। पिताजी मुझे अपना बड़ा पुत्र ही समझते थे और दुकान से बिना गिने ही रुपये लाकर मुझे संभला दिया करते थे। मैं भी उन रुपयों को गिनकर सौ-सौ की गड्डी बनाकर एक अलग पेटी में रखकर ताला लगा दिया करती थी और चाबी अपने पास रखती थी। जब भी वो रुपये मांगते मैं व्यवस्थित गड्डियाँ लाकर दे देती तो पिताजी बहुत ही खुश होते थे और मेरे ऊपर बहुत ही विश्वास तथा बहुत ही स्नेह रखते थे। अक्सर ही उनके मुख से ये शब्द निकल जाया करते थे—

"यदि यह लड़का होता तो जीवन भर मुझे कितना सुख देता। उस छोटी सी उम्र में भी माता-पिता प्रायः हर किसी विषय में मेरे से सलाह लिया करते थे और मैं उन्हें उचित—योग्य सलाह दिया करती थी। जिससे वे सदा ही मुझ पर खुश रहते थे और पंडित मनोहरलाल जी के शब्दों में वे मुझे कोई देवी का ही अवतार समझ लेते। यदि पिताजी एक दिन भी स्वाध्याय न करते तो मैं उनके पीछे पड़ जाती और स्वाध्याय कराकर ही मानती थी। जब वे शास्त्र पढ़ने बैठते, तब मैं भी बैठकर उन्हें खूब अच्छा अर्थ समझाने लगती थी।

£६¤

घर से अन्तिम प्रस्थान —

बहुत दिनों पूर्व जब मैं छोटी थी और कैलाश भी ५-७ वर्ष का छोटा सा ही था तब मैंने एक दिन उसे कुछ समझाकर कहा था कि—

"देखो कैलाश! तुम मेरे सच्चे भाई तब हो, कि जब मेरे समय पर मेरे काम आओ, अतः कभी यदि किसी समय मैं तुमसे कुछ मेरा विशेष काम कहूँ तो अवश्य ही कर देना।"

कैलाश ने भी मेरी बात मान ली और तब मैंने उस छोटी सी वय में "वचन" ले लिया था। उस समय वह वचन मुझे याद आ गया था अतः मैंने कैलाश को एकांत में बुलाया और वह पुराना वचन याद दिलाते हुए कहा—

"भैया कैलाश! आज तुम मेरा एक काम कर दो बस मैं कृतार्थ हो जाऊँगी।"

कैलाश ने जिज्ञासा व्यक्त की-"कौन सा काम जीजी.....?"

मैंने कहा-"तुम मेरे साथ बाराबंकी चले चलो। देखो! मुझे अकेली तो भेज नहीं सकते हैं अतः तुम्हें मेरे साथ चलना पड़ेगा.....।"

कैलाश पहले तो कुछ हिचकिचाया, फिर उस वचन को याद कर बोला—

"अच्छा जीजी! मैं चलूँगा.....।"

मैं रात भर महामंत्र का स्मरण करती रही। मुझे नींद तो बिल्कुल ही न के बराबर आई थी। ब्रह्ममुहूर्त में चार बजे उठी, महामंत्र जपा और सोते हुए तथा पकड़ कर मेरे को चिपके हुए रवीन्द्र को धीरे-धीरे अपने से अलग किया। उसके माथे पर प्यार का, दुलार का हाथ फेरकर उसे अपना अन्तिम भगिनीस्नेह दिया और मैं धीरे से खटिया से नीचे उतर आई। धीरे-धीरे ही नीचे जाकर सामायिक, स्नान आदि से निवृत्त होकर मन्दिर के दर्शन करने चली गई। वहाँ जाकर प्रभु पार्श्वनाथ की प्रतिमा के सामने हाथ जोड़कर खड़ी होकर प्रार्थना करने लगी—

"हे तीन लोक के नाथ! जैसे आपने कमठ के उपसर्गों को सहन कर संकट मोचन 'पार्श्वनाथ' यह नाम पाया है वैसे ही मुझे भी संकटों को, उपसर्गों को सहन करने की शक्ति दो और मेरे मनोरथ को सफल करो.....।"

पुनः-पुनः भगवान को नमस्कार कर घर आ गई तब तक भी रवीन्द्र सोया हुआ था। माँ से मिली और उनकी आज्ञा लेकर आगे बढ़ी, सीढ़ी से उतरने लगी तभी मां ने बार-बार कहना शुरू किया—

"बिटिया मैना! आज ही वापस आ जाना, रुकना नहीं, हाँ! शाम की गाड़ी से आ जाना, हाँ.....आ जाना.....।"

उनको सान्त्वना देते हुए मैंने भी यही कहा—

"हाँ, देखो! मैं बिस्तर आदि कुछ भी नहीं ले जा रही हूँ।"

इसके पूर्व कई बार माँ-पिता ने यह कहा था कि—

"यदि तुम बाराबंकी जाओगी तो दुनिया हमें क्या कहेगी?"

आचार्यश्री ने मुझे रत्नकरण्डश्रावकाचार पढ़ने की आज्ञा दी थी और एक दिन बोले थे कि "जब पूरा याद हो जाय तब मैं परीक्षा लूँगा....।"

अतः मैं इन लोगों से यही कहा करती थी कि—

"देखो, मुझे रत्नकरण्डश्रावकाचार पूरा याद हो चुका है अतः अब मुझे एक बार महाराज जी के पास परीक्षा देने जाना है।"

उस समय भी वही हेतु बताकर मैं जल्दी-जल्दी घर से बाहर निकली, कैलाश मेरे साथ था। हम दोनों बस में बैठ गये और बाराबंकी आ गये। माँ ने मुझे अच्छी तरह से बता दिया था कि—

"वहाँ पर बाराबंकी में तुम्हारे पिता की बुआ का घर है। उनके दोनों पौत्र बड़े ही सज्जन हैं। तुम्हारे पिताजी जब कभी भी व्यापारिक कार्य से बाराबंकी जाते हैं तो उन्हीं के घर में ही ठहरते हैं अतः तुम वहाँ ही चली जाना।"

गृह-बन्धन से छूट गई —

उसके पूर्व मैंने बाराबंकी शायद कभी देखा भी नहीं था। उस समय जब मैं बस से उतरती हूँ तो पहले सीधे ही मन्दिर का रास्ता पूछकर मन्दिर पहुँचती हूँ। वहीं पर आचार्यश्री का दर्शन करती हूँ। उस समय मुझे इतना आनन्द होता है कि मानों कितने जन्म की खोई हुई निधि मुझे आज मिल गई है। महाराज जी मुझे देखकर बड़े प्रेम से आशीर्वाद देते हैं और बोलते हैं—

"मैना! तुम आ गई।"

"हाँ, महाराज जी! मैं आ गई।"

पुनः मैं वहीं बैठ गई और कुछ देर बाद आचार्यश्री से निवेदन किया—

"महाराज जी! मैंने रत्नकरण्डश्रावकाचार के सभी डेढ़ सौ श्लोक याद कर लिए हैं, अब आप उसकी परीक्षा ले लीजिए।"

महाराज जी ने पूछा-"क्या उन श्लोकों का अर्थ भी याद किया है?"

मैंने कहा-"हाँ, महाराज जी! अर्थ भी याद कर लिया है, आप चाहे जहाँ से पूछ लीजिए।"

महाराज खुश हुए और हँसकर बोले—"अच्छा मैं परीक्षा लेऊँगा।"

पुनः वो अपने लेखन कार्य में लग गये। आहार का समय हुआ, बाद में मैं माँ के कहे अनुसार कपूरचन्द्र जी के घर जाना ही चाहती थी। इसके पूर्व वहाँ पर मेरे पहुँचते ही कानाफूसी चालू हो गई थी कि—

"यह टिकैतनगर से आई है, "मैना है" जो कि दीक्षा लेना चाहती है....।"

अतः कपूरचंद्र जी की धर्मपत्नी ने आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया और बोलीं-"चलो घर खाना खाने.....।"

मैं भी जाना ही चाहती थी। उनके साथ घर पहुँची, चौके का शुद्ध भोजन किया और उनके बताये अनुसार एक कमरे में बैठ गई। कैलाश ने भी खाना खाया, पुनः बोले—

"जीजी चलो! अब जल्दी ही बस से निकल चलें।"

मैंने कहा-"देखो, मैं रत्नकरंड की परीक्षा देने के लिए आई हूँ और अभी महाराज जी ने तो परीक्षा ली नहीं, अतः मैं आज यहीं रुकूंगी।"

कैलाश सहम गया और रोने लगा। मैंने जैसे-तैसे उसे समझाया और पुनः सामायिक के उपरान्त महाराज जी के पास आ गई। मैंने बड़ी मुश्किल से शाम को कैलाश को वापस भेज दिया और कह दिया—

"भैया! दो दिन बाद आकर ले जाना, मुझे आचार्य महाराज को आहार देना है, दो-एक उपदेश सुनना है और परीक्षा देना है।"

कैलाश ने सब कुछ प्रयत्न कर लिये किन्तु जब मैं नहीं ही जाने को तैयार हुई तब वह बेचारा मन मसोसकर रोता हुआ वापस घर आ गया। जब मैं वापस नहीं आई तब माँ भी बहुत रोई और पिता ने आते ही घर सूना देखा तो आवाज लगाई—

"मैना, मैना!" पता चला मैना तो बाराबंकी गई, तब वे भी रोने लगे पुनः माँ के कुछ समझाने पर शांत हुए और बोले—

"अच्छा, दो-चार दिन रह लेने दो, वहाँ तो बुआ का घर अपना ही घर है। फिर मैं जाकर ले आऊँगा।"

पुनः दो दिन बाद कैलाश को भेजा तब मैंने कहा-"भैया! मैंने नियम कर लिया है कि मैं 'दशलक्षण' में यहीं रहूँगी अतः तुम चिन्ता मत करो, मैं बाद में आ जाऊँगी....।"

वहाँ बाराबंकी में कपूरचन्द्र जी की पत्नी ने मुझे ऊपर का एक कमरा दे दिया था और सारी सुविधाएं दे दी थीं। रात्रि में वे प्रायः मेरे पास ही सो जाया करती थीं। मैं प्रातः उठकर सामायिक करके स्नान आदि से निवृत्त हो मन्दिर में जाकर पूजा करती थी, पुनः महाराज जी का उपदेश सुनती थी। उसके बाद महाराज जी का पड़गाहन करती थी। उस घर में भी चौका लगता था, अतः महाराज जी का जहाँ भी आहार हो, भाभी[१] के साथ जाकर आहार देकर चौके में ही शुद्ध भोजन करती थी। पुनः मध्याह्न में सामायिक करती थी। बाद में महाराज जी के यहाँ आ जाती थी। यद्यपि महाराज जी मेरे से बहुत कम बोलते थे फिर भी मैं वहाँ जाकर महिलाओं के बीच बैठ जाती थी। मैंने समय पाकर महाराज जी से कई बार कहा—

"महाराज जी! रत्नकरण्डश्रावकाचार की परीक्षा ले लीजिए और मुझे दूसरी पुस्तक पढ़ने को दे दीजिए।"

तब एक दिन महाराज जी ने एक-दो प्रश्न किये। मैंने भी सही उत्तर दिया। महाराज जी प्रसन्न हुए और बोले—

"मैना! तुम्हारा क्षयोपशम बहुत ही अच्छा है। तुम्हें परीक्षा क्या देना तुम तो पहले से ही पास हो.....।"

उस समय मैं महाराज जी की आज्ञा से 'धनंजय नाममाला' रट रही थी। समय व्यतीत होता जा रहा था। मैं चाहती थी कि मेरी यहीं दीक्षा हो जाये और अब मैं घर नहीं जाऊँ...।

इसी मध्य बाराबंकी में एक मारवाड़ी सेठ ने ऋषिमण्डल विधान प्रारंभ किया था। मैं महाराज जी की आज्ञा लेकर उस विधान में जाप करने बैठ गई थी। इस निमित्त से भी आठ-दस दिन घर जाने की बात टल गई थी। वहाँ पर श्यामाबाई (धर्मपत्नी राजेन्द्र प्रसाद), ताराबाई (धर्मपत्नी महावीर प्रसाद) और दो महिलाएं मेरे पास में ही बैठती थीं। मेरी धर्मचर्चा सुनती थीं और मेरे इस वय के वैराग्य की सदा सराहना किया करती

---

१. कपूरचंद की पत्नी।

थीं। वे कहा करती थीं—

"यदि मैं कुंवारी होती, गृहस्थी के बंधन में न होती तो सचमुच में घर छोड़कर महाराज जी के साथ हो जाती....., दीक्षा ले लेती।"

तब मैं सोचती—"मैं तो अभी किसी के बन्धन में नहीं हूँ, अतः पूर्ण स्वतंत्र हूँ। माँ-बाप तो मोह से व लोक लाज से दुखी हैं। फिर भी माँ तो बहुत ही समझदार हैं अतः अपने को पूर्ण दृढ़ रहना है, चाहे जो भी हो जाये वापस घर नहीं जाना है।

आचार्य महाराज इन चारों महिलाओं को विनोद में लौकांतिकदेव कहकर पुकारा करते थे....।

ऐसे ही भाद्रपद व्यतीत हो गया और आसोज भी पूरा होने को आ रहा था।

£७¤

आश्विन सुदी चौदस को आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज का केशलोंच था। उसके लिए बाहर पंडाल बनाया गया था। विशेष आयोजन था। आस-पास के—त्रिलोकपुर, टिकैतनगर, दरियाबाद, सुमेरगंज, बहराइच आदि गांवों से तथा लखनऊ, कानपुर शहर से बहुत से लोग आये थे। इसके पूर्व टिकैतनगर से (घर से) कई बार छोटा भाई कैलाश मुझको लेने आया किन्तु मैं कह दिया करती थी कि दशलक्षण के बाद आऊँगी। बाद में आने पर कहना शुरू किया—चातुर्मास पूर्ति तक मैं यहीं रहूंगी। केशलोंच देखने के लिए व मुझको वापस घर ले जाने के लिए टिकैतनगर से माता-पिता आये हुए थे।

मैंने अवसर अच्छा देखकर माता-पिता से कहा-"चलो, आचार्यश्री के पास हमें दीक्षा दिला दो।"

वे लोग समझाने लगे, मैं उनके साथ आचार्यश्री के पास आ गई, नमस्कार किया। उन लोगों ने कहा—"महाराज जी! इस लड़की को समझाइये, यह अभी अपने घर वापस चले। कुछ अभ्यास करेगी बाद में दीक्षा की बात सोची जायेगी।"

इसी बीच मैंने कहा—

"पूज्य गुरुदेव! अब मुझे आप संसार समुद्र से पार करने वाली ऐसी दीक्षा प्रदान कीजिए।"

आचार्यश्री ने कहा-"तुम्हें अभी तक अष्टमूलगुण भी नहीं हैं। गुरूसाक्षी से कुछ व्रत नहीं लिया है। एकदम दीक्षा कैसे?"

मैंने कहा-"महाराज जी! जैसा भी नियम व्रत आप कहेंगे, मैं पालन करूँगी, मुझे अब तो आप दीक्षा ही दे दीजिये। मैंने एक-दो महीने में समझ लिया है। दीक्षा के सारे नियम मैं पाल सकती हूँ।

इसी बीच माता-पिता घर चलने के लिए ज्यादा आग्रह करने लगे। तभी मैंने वहीं आचार्यश्री के सामने ही अपने हाथों से अपने शिर के बालों का केशलोंच करना शुरू कर दिया। यह दृश्य देखकर पिता एकदम पागल से होकर बाहर कहीं चले गये, जिनका दो दिन तक पता नहीं लगा। माँ छोटी सी बालिका मालती को गोद में लेकर आई थीं। वे उसी जगह मूर्च्छित हो गिर पड़ीं। बहुत देर तक उन्हें होश नहीं आया। कुछ महिलाएं उन्हें संभालने में लग गयीं। आचार्यश्री मेरे इतने साहस को देखकर आश्चर्य में पड़ गये। इधर जितने भी लोग आचार्यश्री का केशलोंच देखने आये थे वे सब वहाँ इकट्ठे हो गये। कोई आश्चर्य से मेरे वैराग्य की सराहना करने लगे, कोई हल्ला-गुल्ला मचाने लगे—

"रोको, रोको, अभी इस लड़की की उम्र बहुत ही छोटी है।"

कोई कहते—"पुलिस को बुलाओ, इस लड़की को ले जाये।"

उस हंगामे को देखकर पहले तो आचार्य महाराज ने अपना दाहिना हाथ उठाकर सबको शांत किया पुनः

जब मेरा केशलोंच चालू रहा तब लोग आपस में एक-दूसरे से कहने लगे—

"इस लड़की का हाथ पकड़कर केशलोंच तो रोक दो।"

लेकिन युवती कन्या को हाथ लगाने का अर्थात् मेरा हाथ पकड़ने का किसी को साहस नहीं हुआ। इसी बीच माँ के मामा, जो वहीं के निवासी थे, आ गये और उन्होंने आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया तथा केशलोंच रोक दिया और बोले—

"यह मेरी भानजी-मोहिनी की पुत्री है अतः मुझे इसे रोकने का पूरा अधिकार है।"

इसके बाद कुछ लोग जो कि पुलिस को बुलाने गये थे, कुछ धर्मात्मा बन्धुओं ने उन्हें मार्ग में ही रोक दिया और बोले—

"अपनी ही कन्या को पुलिस के हाथ सौंपना कौन सी बुद्धिमानी है?" कुछ सुधारक तत्त्वों ने कहा—

"यदि आचार्य महाराज इस अवसर पर इस लड़की को दीक्षा दे देते हैं तो हम आचार्यश्री पर ही पुलिस का हमला कर देंगे।"

इस विषय को भी कुछ समझदार वृद्धों ने, जिन्होंने दो माह तक बाराबंकी में मेरे जीवन को देखा था, उन्होंने ऐसे लोगों को रोक दिया। उसी समय आचार्य महाराज तो पंडाल में पहुँच गये। केशलोंच शुरू कर दिया। सारी जनता उधर ही चली गई पुनः मैंने अपने बचे हुए शेष केशों का लोच शुरू कर दिया। फिर भी माँ के मामा बाबूराम ने आकर मेरा हाथ पकड़कर मुझे रोक दिया। तब मैं वहाँ से उठकर जिन मन्दिर में चली गई। भगवान की वेदी में जाकर जिन प्रतिमा के सम्मुख नियम ले लिया कि "जब तक मुझे व्रत नहीं मिलेंगे तब तक मेरे चतुराहार का त्याग है एवं घर जाने का भी त्याग है।" मैंने इतना नियम लेकर दृढ़ता से भगवान की शरण ले ली और "इस उपसर्ग से रक्षा होने तक मैं यहाँ से नहीं उठूँगी" ऐसा दृढ़ संकल्प करके मैं वहीं बैठ गई।

उधर आचार्यश्री का केशलोंच पूर्ण हुआ, बाद में उपदेश हुआ। अनन्तर बहुत से लोग तो अपने-अपने गाँव चले गये। वातावरण शान्त हो गया। उसके बाद रात्रि के ९-१० बजे माँ आकर मुझे बहुत कुछ आश्वासन देकर जैसे-तैसे वहाँ से उठाकर अपने साथ जहाँ पर ठहरी थीं वहाँ पर ले आयीं। वहाँ सोने के बजाय रात्रि भर माँ-बेटी में चर्चा चलती रही। माँ का हृदय भी उस रात्रि वैराग्यरस से पूर्ण प्लावित हो गया। माता और मेरा वार्तालाप चल रहा था। माँ ने कहा—

"बेटी मैना! देखो, उस समय शोक और दुःख में पागल हो पता नहीं, तुम्हारे पिता कहाँ चले गये हैं अब क्या होगा?"

मैंने कहा-" यह मोह कर्म ही तो अनादि काल से जीव को संसार में घुमा रहा है। सभी जीव प्रायः इसके आश्रित हैं, क्या किया जाये? जिसकी जो होनहार होगी सो होगा, अब मुझे किसी की तरफ भी लक्ष्य नहीं है।"

"बेटी! तुम्हें ऐसी स्थिति में एक बार घर चलना चाहिए। हम लोग जबरदस्ती शादी नहीं करेंगे। तुम अलग कमरे में रहते हुए अपना धर्मध्यान करना पुनः कुछ दिन बाद संघ में भेज देंगे।"

"माँ! इस जीवन का कुछ भी भरोसा नहीं है। 'कल करना सो आज कर, आज करे सो अब'। अतः अब मैं घर कतई नहीं जाऊँगी, मैंने भगवान के श्रीचरणों में नियम ले लिया है।"

माता बहुत ही रो रही थीं और प्यार से समझा रही थीं, किन्तु मैंने कहा—

"देखो, अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए इस जीव के साथ किसका क्या संबंध नहीं हुआ है? अरे! संसार में कौन सा ऐसा जीव है जिसे हमने माता नहीं बनाया और जिसे रोते हुए नहीं छोड़ा है। विधि के आश्रित हुआ यह जीव भव-भव में पता नहीं किस-किस को रोता छोड़कर आता है और पुनः दूसरी

पर्याय में आकर उन रोने वाले अपने कुटुम्बियों को याद भी नहीं करता है। देखो! संसार में कदाचित् किसी का जवान बेटा मर जाता है तो माता-पिता उसके वियोग में रो-रो कर पागल हो जाते हैं। कितने तो अपघात तक कर डालते हैं, लेकिन इससे किसी का हित नहीं होता है। ओह! इस अनादि अनन्त संसार में हमने पता नहीं कितनी माताओं का दूध पिया है और पता नहीं कितने पिता बनाये हैं। इस असार संसार में भला कौन किसका है? ये सब झूठे नाते-रिश्ते हैं। अतः अब हमें किसी से मोह नहीं है।"

रवीन्द्र कुमार बालक जो लगभग दो-ढाई वर्ष का था, वह केशलोंच के समय खड़ा-खड़ा रो रहा था और "जीजी घर चलो, घर चलो," कह रहा था। माँ बार-बार इन भाई-बहनों के स्नेह का स्मरण करा रही थीं किन्तु मेरा हृदय पत्थर से भी अधिक कठोर बन चुका था। तब माँ ने कहा—

"देखो बेटी! आचार्य महाराज ने भी सब के बीच में यही कह दिया है कि मैं इस मैना को कुछ भी व्रत नहीं दे सकता। यह एक बार अपने घर जाये, कुछ दिन दृढ़ता से ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करे तत्पश्चात् माता-पिता व समाज की सन्तुष्टि, अनुमति से ही दीक्षा दी जायेगी।"

तब मैंने कहा—"माँ! यदि तुम मेरी सच्ची माता हो तो मेरा एक काम कर दो, मैं तुम्हारा उपकार जीवन भर नहीं भूलूंगी।"

"वह क्या!"

"वह यह कि तुम आचार्यश्री को मुझे व्रत देने के लिए आज्ञा दे दो!"

माँ काँप उठीं और बोलीं—'बेटी! इसका फल क्या होगा? तुम्हारे पिताजी कहीं सुरक्षित होंगे और पुनः घर आयेंगे तो क्या मुझे घर में रहने देंगे?"

"अरे! जब तुमने धर्म के पालन के लिए कई बार पिता का कठोर व्यवहार सहन किया है तो मेरे निमित्त से एक बार और भी जो कुछ होगा सहन कर लेना, किन्तु मेरा उद्धार तो हो जायेगा।"

माँ कुछ देर तक सोचती रहीं। वैसे रात्रि भर की वैराग्यप्रद चर्चा से उनका हृदय तो भीगा हुआ ही था, अतः उन्होंने मेरी यह बात मान ली। तभी मैंने एक कागज और पेंसिल लाकर हाथ में दिया। तब ब्रह्ममुहूर्त की मंगलमय बेला थी। माँ ने मेरे कहे अनुसार लिखना शुरू किया। आँखों में आँसू थे और हाथ काँप रहा था। साहस करके मैंने माँ से लिखवाया—

''पूज्य महाराज जी! मेरी पुत्री मैना को, यह जो भी व्रत चाहती है आप दे दीजिए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह दृढ़ता से व्रतों को निभायेगी।''

पत्र लिखकर माँ मुझसे कहती हैं—"बिटिया मैना! जैसे आज मैं तुम्हें संसार से निकाल रही हूँ वैसे ही तुम भी मुझे घर से—संसार समुद्र से निकाल कर एक दिन मोक्ष मार्ग में लगा देना।"

मैंने खुशी-खुशी माँ को वचन दिया, "हाँ! मैं भी तुम्हें एक दिन दीक्षा लेने में सहयोग दूँगी।"

माँ ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि अब यह मैना न घर चल सकती है और न अन्न-जल ही ग्रहण कर सकती है। यह दिन उगते ही पुनः भगवान की शरण में जाकर बैठ जायेगी। अतः अब इसे व्रत दिला देने में ही सार है अन्यथा जनता का वातावरण केवल दूषित होगा। कुछ लोग मोह का पक्ष लेंगे तो कुछ लोग वैराग्य का पक्ष लेंगे। चूंकि यही स्थिति आज दिन भर देखने में आई थी।

माँ पत्र लिखकर स्नान, सामायिक आदि से निवृत्त होकर मेरे साथ महाराज जी के पास आ जाती हैं। अभी कुछ अंधेरा सा ही है। आचार्यश्री सामायिक पूर्ण कर चुके हैं। गुरु को नमस्कार करने के पश्चात् मेरी प्रेरणा से वे महाराजश्री के हाथ में वह छोटा सा कागज देते हुए कहती हैं—

"हे महाराज जी! यह हमारा पत्र सर्वथा सदैव गुप्त ही रखा जाये। इसका भेद कभी किसी को नहीं

देना। आप गुरु हैं, आप पर हमें पूर्ण विश्वास है।"

महाराज जी पत्र खोलकर पढ़ते हैं तभी प्रसन्न होकर माँ के चेहरे को देखते हैं। माँ अश्रुओं को अपने आंचल से पोंछते हुए कहती हैं—

"महाराज जी! इस लड़की की दृढ़ता बचपन से ही बहुत रही है। यह सभी नियमों को पालने में समर्थ है, यह मेरा पूर्ण विश्वास है, समाज का विरोध व्यर्थ है।

यद्यपि माता मोहिनी की आँखों में मोह के अश्रु थे फिर भी वे अपने हृदय को निर्मोही बनाकर अब **मोहिनी से निर्मोहिनी बन चुकी थीं** पुनः कोई मुझे स्वीकृति देते हुए देख न ले, इस डर से वे गुरु को नमस्कार कर जल्दी ही वहाँ से निकलकर मन्दिर चली गईं और भगवान की पूजा में तन्मय हो गईं। इधर एक महिला जो कि मेरा पूर्णतया साथ दे रही थीं, वह आ गईं। महाराज जी ने कहा—

"जाओ, तुम इन्हें शीघ्र ही स्नान कराकर नई साड़ी पहनाकर ले आओ।" यह काम मिनटों में हो गया। मैं महाराज जी के पास हाथ में श्रीफल लेकर आ गई। इसी बीच छोटे मामा भगवानदास जी वहाँ आ पहुँचे। उनके सामने ही महाराज जी ने मुझे जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत और सप्तम प्रतिमा के व्रत दे दिये। मैंने उसी समय घर का त्याग कर दिया। मामा भगवानदास समझ ही नहीं सके कि यह क्या हो रहा है? जब उनकी समझ में आया कि इस लड़की को आचार्य महाराज ने ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया है तब वे दौड़े-दौड़े अपनी जीजी के पास गये और रोने लग गये। माँ भगवान की पूजा पूर्ण कर वहाँ आयीं। देखा, अब मेरी पुत्री मैना सप्तम प्रतिमा लेकर ब्रह्मचारिणी बन गई है और घर का तथा अपने लोगों का संबंध त्याग कर दिया है। वैराग्य और तत्त्वज्ञान का अंकुर माता मोहिनी के उनके हृदय में भी उग चुका था परन्तु वे पति, पुत्र और पुत्रियों के दायित्व को लिए हुए थीं अतः वे स्वयं कुछ नहीं कर सकती थीं। उस समय उनकी भावना स्वयं ही घर त्याग करने की हो चुकी थी किन्तु कर्मोदय की पराधीनता अथवा यों कहिये कि उस समय उनकी काललब्धि नहीं आई थी।

वे उसी समय बोल उठीं—

"आज ही इसका जन्म दिवस है। आज १८ वर्ष की हुई है। पुनः आज इसका इस आश्विन सुदी पूर्णिमा को पुनर्जन्म हुआ है।"

मेरे सप्तम प्रतिमा व्रत को लेने की चर्चा सारे बाराबंकी शहर में फैल गई तथा दिन भर में ही यत्र-तत्र आस-पास के गाँवों में भी फैल गई।

माँ ने देखा अब मुझे अपने घर को, नन्हें-नन्हें बालकों को संभालने के लिए जाना ही पड़ेगा। तब उन्होंने मुझे स्वयं अपने हाथ से दो सफेद साड़ियाँ लाकर दे दीं और पूजन का प्रेम विशेष होने से एक डिब्बे में पूजन के लिए बढ़िया चावल, शुद्ध काश्मीरी केशर आदि सामग्री रख दी। उसी में एक छोटे से डिब्बे में पूजन सामग्री हेतु कुछ रुपये रख दिये। उसे मुझे संभलवा दिया।

तब तक बहुत खोज-बीन के बाद पिता कहीं जंगल में एकांत में रोते हुए बैठे थे सो ताऊ जी (बब्बूमल जी) उन्हें लिवा आये। आकर मुझ से मिले। कुछ शांत हुए पुनः बहुत कुछ समझाया कि—

"बिटिया! अब तो तुमने जीवन भर का ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है, विवाह की कोई बात नहीं रही है अतः अब टिकैतनगर चलो, मन्दिर में एक कमरे में रहना। मैं तुम्हारे पढ़ने की सारी व्यवस्था कर दूँगा। अच्छे पण्डित विद्वान् तुम्हें पढ़ायेंगे। तुम चाहो तो मेरे घर भोजन करना, चाहे तो जो तुम्हें बुलायें वहाँ भोजन कर लेना। मैं कुछ भी एतराज नहीं करूँगा।"

किन्तु मैंने यही कहा कि—"अब आप मोह छोड़ो। मैं तो दीक्षा लेने के बाद ही टिकैतनगर में पैर रखूँगी, उसके पहले किसी हालत में नहीं आ सकती हूँ।"

पिता बहुत नाराज हुए, बोले—"अब मैं तुम्हारे जीवन में कभी भी तुमसे नहीं मिलूंगा।"

ये लोग मन में दुःख, शोक और मोह को लिए हुए अपने घर जाने की सोच रहे हैं। जिस समय मैं बाराबंकी में सप्तम प्रतिमा लेकर सफेद साड़ी पहनकर महाराजश्री के सामने बैठी थी, उस समय सभी छोटे भाई-बहन वहीं खड़े-खड़े कैसे रो रहे थे। बहन शांतिदेवी, कैलाशचन्द्र, श्रीमती, मनोवती, प्रकाशचन्द्र, सुभाषचन्द्र, कुमुदनी और रवीन्द्र कुमार किस तरह मेरी धोती पकड़-पकड़ कर कह रहे थे—

"जीजी! घर चलो, घर चलो, घर चलो! तुम्हें क्या हो गया है?"

वह करुणामयी दृश्य देखकर उस समय बाराबंकी में भला कौन ऐसा था कि जिसकी आँखों से आँसू नहीं बरसे थे! किन्तु मेरी आँखें बिल्कुल सूखी थीं। मैं सोच रही थी—

"अहो! मैंने इस संसार में पता नहीं कितने भाई-बहनों को प्यार किया है? कितनों को गोद में खिलाया है और पता नहीं कितनों को ऐसे ही रोते-बिलखते छोड़ा है? यह सब झूठा नाता है। भला इस अनन्त संसार में कौन किसका? अरे! जब यह अपना शरीर ही अपने साथ नहीं जाने वाला है तब इसके आश्रित इन कुटुम्बीजनों से मोह कैसा? अपनापन कैसा?.....यह मोह ही तो संसार परिभ्रमण का मूल कारण है अतः अब मेरा किसी से कुछ भी संबंध नहीं है।"

आचार्य देशभूषण जी महाराज मेरी इतनी दृढ़ विरक्ति को, इतनी निर्ममता को देखकर मन ही मन सोच रहे थे—

"सचमुच में यह कोई निकट संसारी जीव है। इसके संसार का अब बिल्कुल अन्त आ चुका है ऐसा दिख रहा है। इसके नन्हें-नन्हें भाई-बहन इस तरह बिलख रहे हैं, माता-पिता इस तरह रो रहे हैं, पिता तो पागल जैसे हो रहे हैं किन्तु इसे कुछ भी परवाह नहीं है। निश्चित ही यह भव्य जीव है और दीक्षा के लिए उत्तम पात्र है।"

पुनः अपने ये विचार गुरुदेव मेरे सामने व खास भक्तों से कह भी दिया करते थे। इस प्रकार मोह से व्यथित माँ मोहिनी मेरे वचनों से प्रभावित होकर निर्मोहिनी बनकर मुझे आचार्यश्री से व्रत दिलाकर 'सच्ची माता' बन गयीं। मैं सोच रही थी—

"देखो, यदि मेरी माँ इस समय महाराज जी को एकांत में व्रत देने की स्वीकृति नहीं देतीं तो शायद ही आज मुझे व्रत मिलते अतः यह मेरी जन्मदात्री माँ सचमुच में 'सच्ची माता' है। संसार समुद्र से पार होने में भी मेरी सहयोगिनी बनी है। इसलिए इन्होंने मेरा सच्चा उपकार किया है। मैं भी एक न एक दिन अवश्य ही इस उपकार के बदले इनको घर से निकालने का पूरा-पूरा प्रयत्न करूँगी।" यह घटना सन् १९५२ की थी।

अब मेरा ब्रह्मचारिणी अवस्था का जीवन एक नया जीवन बन चुका था। मैं दिन भर मंदिर जी में बैठी रहती थी। स्वाध्याय करती थी, अमर कोश के बीस-बीस श्लोक एक दिन में कंठाग्र कर लेती थी, तीनों काल सामायिक करती, आचार्य महाराज जी के पास दर्शन के समय और उपदेश के समय आती, रात्रि में जिसके यहाँ प्रारम्भ में आकर रुकी थी वह घर था पिता की बुआ का। कपूरचन्द्र जी उनके सुपुत्र थे। उनकी धर्मपत्नी बहुत ही धर्मपरायणा थीं जो कि मुझे अपने पास सुलाती थीं। मेरी हर सुख-सुविधा का बहुत ही ध्यान रखती थीं।

इसी बीच लखनऊ की एक महिला, जो चौक में मन्दिर के पास रहती थीं, उनके जवान पुत्र का मरण हो जाने से वह विरक्त हो चुकी थीं। पति के बार-बार विरोध करने के बावजूद भी वह महाराज जी की शरण में आ गई थीं। महाराजश्री ने उन्हें सात प्रतिमा के व्रत दे दिये और वह भी मेरे साथ में रहने लगीं। इससे मैं अकेली नहीं रही।

इसके पूर्व बाराबंकी में श्यामाबाई, ताराबाई, मोहनलाल जी की धर्मपत्नी और एक महिला थीं। ये चारों

महिलाएं मेरे पास प्रारंभ से ही बहुत आती रहती थीं, मेरी त्याग भावना से प्रभावित थीं तथा हमेशा ही हर किसी के सामने मेरी प्रशंसा करतीं व पक्ष रखती रहती थीं। अतः आचार्य महाराज इन चारों महिलाओं को "लौकांतिक देव" कहकर ही पुकारा करते थे। इनके पति भी मेरे अनुकूल ही धर्म का पक्ष रखते थे। जब चतुर्दशी को मैंने केशलोंच करना प्रारंभ किया था, महमूदाबाद से बड़े मामा महिपालदास भी आ गये थे। उन्होंने मोहावेश में आकर बहुत ही हल्ला-गुल्ला मचाया था, बल्कि पुलिस को बुलाकर इस वातावरण को शांत कराने की धमकी उन्होंने ही दी थी। पुनः आवेश में आकर महावीर प्रसाद, राजेन्द्र प्रसाद, मोहनलाल आदि से भी लड़ने लगे थे। जब शाम को कुछ उपाय नहीं दिखा व मुझे सत्याग्रहपूर्वक मंदिर में बैठी देखा तब समझाने भी आये थे, किन्तु कुछ परिणाम न निकलने से अपनी जीजी को यद्वा-तद्वा सुनाकर वापस चले गये थे।

£८ ¤

चातुर्मास समाप्ति के बाद आचार्यश्री बाराबंकी से विहार कर लखनऊ आ गये और डालीगंज में ठहर गये। वहाँ से श्रीमहावीर जी यात्रा का प्रोग्राम बना। संघ व्यवस्था में सीमंधरदासजी चारबाग वाले और श्री जुग्गामल जी आगे हुए। संघ का विहार हुआ। मार्ग में सोनागिरि आदि की यात्रा करते हुये आचार्यदेव श्रीमहावीर जी आ गये। फाल्गुन की अष्टाह्निका महावीर जी क्षेत्र पर हुई। मैं कभी-कभी अवसर पाकर आचार्यश्री से दीक्षा के लिए प्रार्थना किया करती थी। महावीर जी में मैंने आचार्यश्री के समक्ष पुनः दीक्षा की प्रार्थना करके यह नियम ही कर लिया कि—

"अब मैं महावीर जी में ही दीक्षा लूँगी।"

आचार्यश्री ने विचार व्यक्त किया कि यदि इनके परिवार को सूचना दी जाती है तो पुनः माता-पिता, ताऊ-चाचा आदि आकर दीक्षा रोक सकते हैं। "इस कन्या की वैराग्य भावना, मार्ग में कष्टसहिष्णुता, भयंकर माघ-पौष की ठंड में भी मात्र एक साड़ी में रहना, न दिन में चादर ओढ़ना, न रात्रि में ओढ़ना, मात्र रात्रि में चावल की घास पर ऐसे ही एक करवट से सो जाना, दिन में एक बार भोजन करना, अपराह्न में जल भी नहीं पीना" आदि अभ्यास से तो दीक्षित क्षुल्लिका के सदृश ही चर्या पाली है अतः यह दीक्षा के लिए पात्र है।

महाराज जी ने एकांत में जुग्गामल से चर्चा की और यही निर्णय किया कि इसके परिवार में सूचना न देकर इसकी दीक्षा के लिए अच्छी तैयारी की जाये और यहीं पर दीक्षा विधि होवे।

पुनः आचार्यश्री ने चैत्र कृष्ण एकम को प्रातः १० बजे का मुहूर्त निकाल दिया। मैंने भगवान महावीर की आराधना की और पूजन किया पुनः सौभाग्यवती महिलाओं द्वारा मंगलस्नान विधि सम्पन्न होने के बाद मैं पंडाल में आचार्यश्री के सन्मुख आ गई और श्रीफल चढ़ाकर दीक्षा के लिए प्रार्थना की। आचार्यश्री ने प्रार्थना स्वीकार कर मुझे स्वस्तिक बने हुए चावल के चौक पर बैठने का आदेश दिया, पुनः आचार्यश्री ने अपना वरदहस्त मेरे मस्तक पर रखकर क्षुल्लिका दीक्षा के सारे संस्कार किये और मेरा 'वीरमती' यह नाम सभा में घोषित कर दिया पुनः उपदेश में बोले कि—

"मैंने प्रारंभ से ही इसमें जितनी वीरता देखी है, आज के युग में वह अन्यत्र किसी में नहीं देखी है अतः मैं इसके गुणों के अनुरूप ही इसका "वीरमती" यह नाम प्रसिद्ध कर रहा हूँ।

उपदेश के अनन्तर मैंने गुरुदेव को बार-बार नमस्कार किया। अब मुझे अपने जीवन का सर्वस्व मिल गया था। मेरी खुशी का ठिकाना नहीं था। मैं दीक्षा को पाकर कृतार्थ हो गई थी। वहाँ से उठकर गुरुदेव की आज्ञा से मैं मंदिर में गई और भगवान महावीर के दर्शन कर मैंने कहा—

"भगवन् ! आपकी मूर्ति का जो चमत्कार आज तक मैंने सुना था सो मैंने प्रत्यक्ष में देख लिया है।

हे नाथ! आप में सच्चा अतिशय है, जो कि आज मुझे दीक्षा मिल गई है।"

इत्यादि रूप से भगवान् की स्तुति कर मैं अपने स्थान पर आ गई। इससे पूर्व यहाँ एक ब्राह्मीमती क्षुल्लिका जी थीं। आचार्यश्री की आज्ञा से वे मेरे पास आ चुकी थीं। अब हम दोनों क्षुल्लिकायें अपनी आवश्यक क्रियाओं को एक साथ मिलकर करने लगीं और बहुत ही धर्म-प्रेम से रहने लगीं।

आठ-दस दिन बाद अकस्मात् माँ मोहिनी यात्रा करते हुए वहाँ आईं और दीक्षा के समाचार सुनते ही हर्ष-विषाद से मिश्रित मुद्रा में मेरे दर्शन करने मेरे पास आईं। उन्होंने—

"माताजी! इच्छामि" कहकर मुझे नमस्कार किया और मैंने भी-"सद्धर्मवृद्धिरस्तु" ऐसा आशीर्वाद दिया।

पुनः उन्होंने पूछा—"हम लोगों को दीक्षा के समय का समाचार क्यों नहीं दिया गया?"

मैं कुछ नहीं बोली। तब वे आचार्यश्री के पास जाकर नमस्कार करके पूछने लगीं।

आचार्यश्री ने कहा—"शायद तुम लोग मोह में दीक्षा न होने देते, अतएव मैंने सूचना नहीं दिलाई' क्योंकि इसकी भावना और योग्यता को देखकर मैंने अब इसे दीक्षा देना ही उचित समझा।"

इसके बाद महाराज जी ने उन्हें बहुत कुछ सान्त्वना दी। माँ शांत हुईं, कुछ दिन वहाँ ठहरीं, मेरी दैनिक चर्या देखती रहीं और स्वयं यह भावना भाती रहीं कि "हे भगवान्! मेरे जीवन में भी ऐसा दिन कब आयेगा?"

वे कुछ दिन आहार दान आदि देकर क्षुल्लिका वीरमती के (मेरे) आदर्श जीवन को हृदय में लिए हुए अपनी शेष तीर्थयात्रा पूर्णकर घर आ गयीं। घर में पिता व भाई-बहनों को मेरी क्षुल्लिका दीक्षा का समाचार सुनकर मोह के निमित्त धक्का सा लगा किन्तु होनहार अटल समझकर सभी लोग अपने-अपने कार्यों में लग गये और मेरी याद को कुछ न कुछ भुलाने की कोशिश करते रहे।

महावीर जी में आचार्यकल्प श्री वीरसागर जी महाराज का संघ चैत्र मास में आ गया। इतने बड़े संघ का दर्शन कर मन पुलकित हो उठा। आहार के समय जब सभी मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका आचार्यकल्प श्रीगुरुदेव वीरसागर जी के पीछे क्रम से पंक्तिबद्ध हो कर निकलते थे तब वह दृश्य देखते ही बनता था। मैंने भी समयोचित आकर संघ की प्रमुख आर्यिका वीरमती माताजी से बहुत कुछ शंका समाधान किये थे। पंडाल में जब देशभूषण जी महाराज और आचार्यकल्प वीरसागर जी महाराज विराजे थे और श्रावकों को धर्मोपदेश सुना रहे थे उस समय जनता भी भाव-विभोर थी। चैत्रशुक्ला १५ का महावीर जी का बड़ा मेला देखकर आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज ने वापस लखनऊ की ओर प्रस्थान कर दिया। संघ में क्षुल्लिका ब्राह्मीमती जी और मैं थी।

आचार्यश्री मार्ग में २०-२० मील (३०-३० किमी.) चल लेते थे। मैंने बहुत ही साहस किया किन्तु कई बार स्वास्थ्य बिगड़ गया व मार्ग में ही मूर्च्छित हो गई। जैसे-तैसे कुछ दिनों तक चलती रही, क्योंकि मेरी इच्छा दीक्षा लेने के बाद रेल-मोटर आदि वाहन में बैठने की कतई भी नहीं थी। अंततोगत्वा आचार्यश्री की आज्ञा से मुझे मोटर में बैठना पड़ा किन्तु मानसिक शान्ति नहीं रही। मन में प्रतिकूलता होने से मन पर उसका असर बहुत ही पड़ा। अस्तु, संघ सकुशल लखनऊ आ गया। इससे पूर्व सन् १९५२ के चातुर्मास को टिकैतनगर में कराने के लिए टिकैतनगर के भाक्तिक श्रावक आचार्यश्री से अतीव अनुरोध करके हार चुके थे और आचार्यश्री ने वह चातुर्मास बाराबंकी में कर लिया था। सो अब समय नजदीक देखकर टिकैतनगर में चातुर्मास करने के लिए बहुत श्रावक प्रार्थना करने लगे किन्तु आचार्यश्री ने आश्वासन भी नहीं दिया, प्रत्युत "ना" कर दिया।

संघ टिकैतनगर के निकट दरियाबाद में ठहरा हुआ था किन्तु आचार्यदेव टिकैतनगर जाने के लिए तैयार

नहीं थे। शायद टिकैतनगर में मेरे ताऊ, चाचा और पिता के विरोध के कारण ही वे टाल रहे थे। तब टिकैतनगर के लोगों ने पिता से कहा कि—

"आपको आचार्यश्री के चातुर्मास हेतु प्रार्थना करने के लिए चलना पड़ेगा अन्यथा आचार्यश्री टिकैतनगर नहीं आयेंगे।"

इनता सुनकर वे स्वयं अकेले आचार्यश्री के पास दौड़े चले आये। मोह में कहे गये कटु शब्दों के लिए क्षमायाचना की और बार-बार टिकैतनगर चातुर्मास के लिए प्रार्थना करने लगे। आचार्यश्री का मन एकदम प्रसन्न हो उठा। उन्होंने बड़े प्रेम से उनकी प्रार्थना सुनी और आश्वासन दिया पुनः पिताजी उठकर मेरे पास आये, विनय से हाथ जोड़कर "इच्छामि" किया और कहने लगे—

"माताजी! आचार्यश्री से निवेदन करो, यह चातुर्मास अपने गाँव टिकैतनगर में ही होना चाहिए।"

इसी संदर्भ में पुनः सर्व भाक्तिकगण आ गये। आचार्य श्री ने टिकैतनगर में ही यह चातुर्मास करने की स्वीकृति दे दी। कतिपय दिनों बाद आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को टिकैतनगर में आचार्य श्री ने चातुर्मास स्थापना कर ली। गाँव का वातावरण धर्ममय बन गया। मैं इस प्रथम चातुर्मास में प्रायः मौन रहती थी और आचार्य श्री ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के २०-२५ श्लोक पढ़ाकर यह कह दिया कि तुम स्वतः ही पढ़कर याद कर लो। तुम्हें सभी अर्थ समझ में आ जाता है। यद्यपि मुझे इस तरह संतोष नहीं था, फिर भी गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य होने से मैं कुछ भी नहीं कह सकी।

एक बार आचार्य देव ने मुझे "हिन्दी-इंग्लिश टीचर" नाम की एक पुस्तक दी और कहा कि तुम इस पुस्तक से इंग्लिश लिखना-पढ़ना स्वयं ही सीख लो। मैंने एक सप्ताह के अभ्यास से ही छोटे-छोटे इंग्लिश वाक्य बनाना शुरू कर दिया और एक दिन आचार्यश्री मेरे इस ज्ञान के क्षयोपशम से बहुत ही प्रसन्न थे, अतः उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त की। इसी बीच टिकैतनगर गाँव के एक धर्मनिष्ठ श्रेष्ठी जो कि वयोवृद्ध थे, उन्होंने कहा कि तुम्हें इंग्लिश पढ़कर क्या करना है? तुम तो अपनी संस्कृत भाषा में ही योग्यता प्राप्त करो और अपने गोम्मटसार आदि ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थों का गहरा अध्ययन करो।

इतना सुनकर मेरा मन इंग्लिश भाषा से उपरत हो गया, मैंने पुनः उस पुस्तक को हाथ में भी नहीं उठाया, फलस्वरूप जो अक्षर-ज्ञान हुआ था वह भी चला गया।

इस चातुर्मास में मैंने भगवती आराधना व परमात्मप्रकाश का कई बार स्वाध्याय किया। गोम्मटसार जीवकाण्ड की करीब ७०० गाथायें रट लीं और अमरकोष को भी कंठाग्र कर लिया। आचार्यश्री की आज्ञा से सिद्धांतकौमुदी व्याकरण भी संघ में रहने वाले त्रिपाठी पंडित ने थोड़ा सा पढ़ाया था, इससे आगे वे स्वयं नहीं पढ़े होने से नहीं पढ़ा सके। इस सन् १९५३ के चातुर्मास के बाद दक्षिण से एक "विशालमती" नाम की क्षुल्लिका यहाँ पर आ गईं। इनका वात्सल्य पाकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। इससे पूर्व क्षुल्लिका ब्राह्मीमती को पूरे चातुर्मास मलेरिया ज्वर का प्रकोप रहा था। हर तीसरे दिन उन्हें बहुत ही जोर से ठंडी लगकर बुखार आ जाता था जिससे उनकी परिचर्या में भी मेरा बहुत सा समय व्यतीत हो जाता था।

मैं अधिकतर पढ़ती ही रहती थी अतः आँख में और सिर में दर्द बनी रहती थी। ब्राह्मीमती जी ने माँ मोहिनी से कहा कि तुम इनकी आँखों पर अपने दूध का फाहा (दूध से भिगी रुई) रख दिया करो। तब वे प्रतिदिन रात्रि में ९-१० बजे के लगभग आतीं और बैठी रहतीं। जब मैं सो जाती तब चुपचाप अपने दूध से रुई को भिगोकर मेरी दोनों आँख पर रखकर चली जाती थीं। ऐसे ही बहुत दिनों तक प्रायः वे उपचार करती रहती थीं और अपनी मातृ भावना के स्नेहस्वरूप दूध के फाहे को आँखों पर रखती रहती थीं।

पिताजी जब-तब आकर बैठ जाते थे और कुछ बात करने की अपेक्षा रखते थे किन्तु मैं जब कुछ नहीं

बोलती थी तब वे उठकर चले जाते, किन्तु प्रातः से सायं की चर्या का बारीकी से अवलोकन करते हुए मन में बहुत ही प्रसन्न होते थे।

एक बार दादी आईं और वे चाँदी के २०-२५ रुपये ले आईं। चुपचाप हाथ में देना चाहती थीं, बोलीं—

"' माताजी! ये रुपये लेकर चुपचाप पास में रख लो, किसी भी कार्य में लगा देना, अथवा कभी किसी समय तुम्हारे काम आयेंगे।" मैंने कहा—

"हमने सब कुछ त्याग कर दिया है, दो धोती, दो दुपट्टा मात्र परिग्रह है। सो भी श्रावकों से मिल जाता है और एक बार शुद्ध भोजन, वह भी श्रावकों के घर में पड़गाहन विधि से जाकर करना होता है। अतः हमें रुपयों की क्या आवश्यकता है?"

जब मैंने नहीं लिया तब वे बहुत दुःखी हुईं और भोलेपन से बोलीं-"कोई किताब मँगा लेना।"

मैंने कहा-"सो भी आचार्य महाराज देते हैं, अतः इन रुपयों को ले जाओ मंदिर जी में दे देना।"

वे बेचारी निराश होकर मन मारकर चली गयीं। वे सोचा करती थीं और प्रायः महिलाओं से अपना दुःख व्यक्त किया करती थीं कि—"देखो! इतनी छोटी बालिका, अभी खेलने-खाने की, गहना जेवर पहनने की इसकी उमर, किन्तु इसने सब कुछ छोड़ दिया है....।"

तब मैं सोचती—"मोह कर्म का कैसा प्रभाव है कि यह जीव केवल खाने-पहनने में, संसार के विषय भोगों में ही सुख मान रहा है किन्तु मुझे तो जो अनुपम निधि, जो अनुपम सुख-आध्यात्मिक सुख है वह मिल चुका है। अरे! अनादिकाल से इस संसार में मैंने क्या तो नहीं खाया है? और क्या तो नहीं पहना है? इस खाने-पहनने में ही तो अनन्तकाल बिता दिया है किन्तु सच्चा सुख नहीं मिला है। अतः अब सच्चा सुख — शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए यह त्याग मार्ग ही साधन है। इसी त्याग के बल से आत्मा को परमात्मा बनाया जा सकता है। इत्यादि.....।"

ऐसे ही धर्मध्यानपूर्वक टिकैतनगर का चातुर्मास सम्पन्न हो गया।

£९¤

टिकैतनगर चातुर्मास के बाद आचार्यश्री का विहार बाराबंकी, लखनऊ होते हुए पुनः श्रीमहावीर जी की ओर हुआ। कुछ ही दिनों में महावीर जी आकर भगवान् महावीर की सातिशय मूर्ति के दर्शन किये। क्षुल्लिका विशालमती माताजी साथ में ही थीं। यहाँ पर जयपुर के प्रमुख लोगों के आग्रह से आचार्यश्री ने जयपुर की ओर विहार किया। क्षुल्लिका ब्राह्मीमती माताजी ज्वर के निमित्त से अस्वस्थ रहती थीं अतः वे यहीं महावीरजी में रह गयीं। जयपुर में पहुँचकर सर्वप्रथम भट्टारकजी की नशिया के दर्शन किये। वहाँ पर जयपुर के जैन समाज की भीड़ उमड़ पड़ी। हजारों की जनता ने आचार्यश्री का भव्य स्वागत किया और उनके दर्शन कर अपने को धन्य माना। यहीं पर पंडित इन्द्रलाल जी शास्त्री का परिचय हुआ।

संघ शहर में आ गया। यहाँ छोटे दीवानजी के मंदिर में आचार्यश्री ठहरे और उसके निकट ही पाटोदी मंदिर में हम दोनों क्षुल्लिकाओं को ठहराया गया। यहाँ धर्म की प्रभावना देखते ही बनती थी। कुछ दिन यहाँ रहकर आचार्य श्री का विहार निवाई गाँव की तरफ हुआ। यहाँ निवाई के सेठ हीरालाल जी पाटनी आदि अच्छे धर्मात्मा श्रावक थे। पण्डित राजकुमार जी शास्त्री भी आचार्यश्री की भक्ति में तत्पर थे।

हम दोनों क्षुल्लिकायें यहाँ मंदिर के पास एक धर्मशाला में ठहरी हुई थीं। गर्मी के दिन थे, हमारे पास में एक ब्रह्मचारिणी चन्द्रावती थीं जो कि बाराबंकी की महिला थीं। एक दिन लगभग २ बजे इन्होंने एक लड़के

को कुछ रुपये देकर कहा—

"जाओ, मेरे लिए छुहारा (खारिक) ले आओ।"

वह लड़का बाहर निकला कि पास के ही एक श्रावक ने पूछ लिया—

"तू कहाँ जा रहा है?"

उसने कहा—"मुझे माताजी ने रुपये दिये हैं, बाजार से छुआरा लेने जा रहा हूँ।" इतना सुनकर वह श्रावक धर्मशाला में आकर बैठ गया। न वह लड़का ४ बजे तक आया और न ये महानुभाव वहाँ से उठे। क्षुल्लिका विशालमती जी मेरे से कहने लगीं—

"अम्मा !भला यह कौन श्रावक है? यहाँ क्यों दो बजे से बैठा है?"

मैंने कहा—"अम्मा ! मुझे कुछ पता नहीं।"

उन्होंने कहा—"इससे कुछ पूछना तो चाहिए।...छोड़ो, अपने को क्या करना? बैठा रहने दो। जब उसकी इच्छा होगी चला जायेगा।"

इतनी ही देर में वह लड़का आया और चन्द्रावती के कमरे की ओर जाकर छुहारे की पुड़िया तथा शेष पैसे संभलवा दिये। ब्रह्मचारिणी जी कुछ चिढ़ कर बोलीं—"अरे ! तूने ५ बजा दिये। मुझे तो आज कब से प्यास लगी थी।" वह श्रावक सब देखता रहा। पुनः क्षुल्लिका विशालमती के निकट आकर बोला—

"माताजी ! आपके संघ में इन ब्रह्मचारिणी बाई को "माताजी" क्यों कहते हैं?"

माताजी ने पूछा–"क्यों ! माताजी कहना अच्छा ही होता है।"

उसने कहा—"नहीं, इससे बहुत कुछ अनर्थ हो सकता है। यह 'उत्तर है, 'दक्षिण' नहीं है। देखो, मेरे ही मन में आज गहरी शंका हो गई थी तभी तो २ बजे से मैं यहाँ बैठा था। यदि आज मैं यहाँ न बैठता तो बाहर यही चर्चा कर देता कि ये क्षुल्लिकायें शाम को छुहारा खाकर पानी पीती हैं।"

इतना सुनते ही मेरा हृदय एकदम कांप उठा। मैं घबराई हुई विशालमती माताजी का मुख ताकने लगी। विशालमती जी को भी आश्चर्य हुआ तथा इस बात की खुशी भी हुई कि इस श्रावक ने बहुत ही विवेक से काम लिया है जो अपनी शंका का समाधान आप स्वयं अपनी आँखों से ही देखकर कर लिया है। यह सच्चा श्रावक है, सच्चा गुरुभक्त है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है। पुनः माताजी ने कहा—

"भाई ! तुम सच कहते हो। ब्रह्मचारिणी को माताजी न कहकर "बाई जी" ही कहना चाहिए। अब मैं इन्हें माताजी नहीं कहने दूंगी तथा तुमने आज बहुत ही अच्छा किया जो कि हमारी चर्या भी परख ली है और हमें शिक्षा भी दी है।" इनता सुनकर वह श्रावक तो पुनः पुनः हम दोनों को "इच्छामि" कहकर नमस्कार करके चला गया और हम दोनों ने सायंकाल में महाराजश्री के पास जाकर इस घटना को कह सुनाया। आचार्य महाराज हँसे और बोले—

"वह श्रावक गुरुभक्त था तभी उसने ऐसा किया अन्यथा इसी तरह से तो साधुओं की निंदा शुरू हो जाती है। अज्ञानी लोग ऐसे ही तो मुनियों पर दोषारोपण करने लग जाते हैं।

निवाई के बाद यहाँ से विहार कर संघ "टोंक" पहुँचा। वहाँ पर चौबीस जिन प्रतिमाएं भूमि से निकली हुई थीं। उन्हें गाँव के बाहर नशिया जी में विराजमान किया गया था। उनके दर्शन करके मन प्रसन्न हुआ। इस प्रांत में महिलाएं मिट्टी के घड़े सिर पर रखकर पानी भर-भर कर लाती थीं। ऐसा देखने का हमें पहला अवसर था। चूँकि उस समय तक लखनऊ की तरफ गाँवों में जैन घराने की महिलाएं पानी आदि भरने के लिए घर के बाहर नहीं निकलती थीं। मंदिर जाने में तथा विवाह कार्य आदि में अन्य किसी के घर आने-जाने में महिलाएं चादर ओढ़कर ही बाहर निकलती थीं। अब तो उधर भी वह चादर ओढ़ने की प्रथा प्रायः समाप्त हो चुकी है और सर्वत्र मुनि,

आर्यिका आदि संघों के विहार करने से महिलाएँ स्वयं पानी भरने के लिए भी बाहर निकलने लगी हैं।

इस तरह सर्वत्र प्रभावना करते हुये आचार्यश्री पुनः जयपुर आ गये और यहाँ अतीव धार्मिक उत्साह के वातावरण में चातुर्मास की स्थापना हो गई। यहाँ पर इस सन् १९५४ के चातुर्मास में लगभग सौ चौके लग रहे थे। आहार के समय दीवान जी के मंदिर से मील, दो मील तक चौके लग रहे थे। श्रावकों की भक्ति बहुत ही विशेष थी।

इसी संदर्भ में एक दिन किसी मंदिर में एक मीटिंग हुई जिसमें ऐसी चर्चा चली कि-

" यहाँ आचार्य देशभूषण जी महाराज का चातुर्मास होने से लगभग १०० चौके लग रहे हैं। संघ में साधु तो चार ही हैं एक आचार्य महाराज, एक क्षुल्लक जी और दो क्षुल्लिकाएं। ये चार घर में ही पहुंचते हैं। शेष लोगों के यहाँ फिजूल खर्च हो रहा है। यदि एक चौके का कम से कम एक रुपया भी अधिक खर्च माना जाये तो प्रतिदिन सौ रुपये व्यर्थ ही खर्च हो रहा है। पूरे चातुर्मास में इस तरह यह व्यर्थ का खर्च हो जायेगा। अतः यदि सभी चौके बंद करा दिये जायें और तीन चार ही चौके लगें तो क्या बाधा है? यह फिजूलखर्ची के पैसे बचाकर किसी अन्य कार्य में क्यों न लगा दिये जायें? इत्यादि।"

यह चर्चा मुनिभक्त विद्वानों के समक्ष आई। तब उन्होंने भी आपस में मीटिंग कर यह जवाब दिया कि—"हम लोग आहार दान की भावना से शुद्ध चौका बनाते हैं। १० बजे अपने-अपने घर के बाहर खड़े होकर महाराज का पड़गाहन करने से तो हमें आहारदान का पुण्य मिल ही जाता है जो कि एक रुपया के हिसाब से व्यर्थ खर्च नहीं है। प्रत्युत् महान पुण्य बंध का कारण है तथा प्रतिदिन हम लोगों का पता नहीं कितने रुपये का फिजूल खर्च गृहस्थाश्रम में होता ही रहता है—इत्यादि।"

ऐसी बात सुनकर ये सुधारक विचारवादी विद्वान् लोग चुप रह गये। यह चर्चा किसी विशेष श्रावक ने आकर हम दोनों क्षुल्लिकाओं को सुनाई थी। यहाँ चातुर्मास में विरधीचंद गंगवाल, गुलाबचंद सेठी, रामचंद जी कोठारी, हरिश्चंद जी अग्रवाल जैन आदि श्रावक प्रमुख रूप से आचार्यश्री की भक्ति में तत्पर थे। विद्वानों में पंडित इन्द्रलाल जी शास्त्री, पंडित कन्हैयालाल शास्त्री, पंडित सीमंधर जी आदि आहार दान तथा उपदेश आदि का लाभ ले रहे थे।

£ १० ¤

चातुर्मास शुरू होते ही मैं संस्कृत व्याकरण और सिद्धान्त ग्रंथ आदि खूब पढ़ना चाहती थी किन्तु अभी तक मेरी इच्छा पूर्ण नहीं हो रही थी। इससे मेरे परिणामों में कभी-कभी बहुत ही अशांति हो जाती थी, यहाँ तक कि कभी-कभी मेरी आँखों में अश्रु आ जाते।"

"भगवान् ! मुझे पढ़ने का साधन कैसे मिलेगा? मेरी ज्ञान की बुभुक्षा कैसे शान्त होगी?"

मेरी यह स्थिति देखकर विशालमती माताजी आचार्यश्री के पास पहुँचकर सजल नेत्र करके मेरी वेदना सुनातीं और निवेदन करतीं—

"महाराज जी ! इसकी पढ़ाई का कुछ प्रबंध कीजिये।"

महाराज जी कहते—"अम्मा ! इतनी छोटी उम्र है। आजकल का जमाना बहुत ही खराब है। पण्डितों से पढ़ाने में कभी भी कोई उंगली उठा सकता है अतः इसे खूब स्वाध्याय करके स्वयं ही श्लोक रट-रट कर अपने ज्ञान को बढ़ाना चाहिए, चिन्ता नहीं करनी चाहिए।"

एक बार मैंने कहा—"महाराज जी ! मैं सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ का स्वाध्याय करने बैठी, मूल संस्कृत पंक्तियों से अर्थ समझना चाहती थी किन्तु कुछ समझ में नहीं आया, मैं चाहती हूँ कि मुझे आप एक बार इस

ग्रन्थ को पढ़ा दीजिये।"

महाराज जी ने कहा—"आज तुम्हें मैं एक ग्रन्थ तो पढ़ा दूँ फिर भी संस्कृत के ग्रन्थों को पढ़कर स्वयं अर्थ करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए संस्कृत व्याकरण का पढ़ना बहुत ही जरूरी है।"

मैं तो स्वयं व्याकरण पूर्ण करना चाहती ही थी। इस उत्तर से कुछ शांति मिली पुनः विशालमती माताजी के अत्यधिक अनुनय-विनय से महाराज जी ने स्थानीय पंडितप्रवर इन्द्रलाल जी शास्त्री से कहा—

"पंडित जी! मेरी शिष्या वीरमती को आप संस्कृत व्याकरण पढ़ा दें।"

पंडित जी ने महाराज जी की आज्ञा को शिरोधार्य कर मेरा अध्यापन शुरू किया। पूज्या क्षुल्लिका विशालमती माताजी मेरे साथ व्याकरण पढ़ने बैठ गईं। पंडित जी ने दो- तीन सूत्र कराये और खूब समझाया। उतनी ही देर में मुझे वे सूत्र, उनकी वृत्ति और अर्थ याद हो गये पुनः पंडित जी ने कहा—

'माताजी! इन सूत्रों को मैं कल कंठाग्र सुनूँगा।"

तब मैंने कहा—पंडित जी! आप अभी ही सुन लो और मुझे आगे के आठ-दस सूत्र और बता दो।"

पंडित जी ने कहा—"यह लोहे के चने हैं हलुआ नहीं है। बस एक-दो सूत्र ही पढ़ो ज्यादा हविश (लालच) मत करो।"

दो-तीन दिन पंडित जी ने पढ़ाया किन्तु मुझे इस गति से संतोष नहीं हुआ। तब विशालमती जी के आग्रह से आचार्यश्री ने दूसरे पंडितों को बुलाया। वे भी ऐसे ही असफल रहे, तब पंडित इंद्रलाल जी आदि कई महानुभावों ने विचार किया कि—

"इन्हें तो व्याकरण पढ़ने की भस्मक व्याधि है सो कोई ब्राह्मण विद्वान् जो कि अतिप्रौढ़ हो, जिसे व्याकरण कंठाग्र हो और जो ५० सूत्र पढ़ाकर भी न थके ऐसा विद्वान् ढूँढकर लाना चाहिए।"

उस समय जैन कालेज में कातन्त्र रूपमाला व्याकरण को पढ़ाने वाले एक दामोदर शास्त्री थे, उन्हें बुलाया गया और आचार्यश्री के सामने उनका परिचय दिया गया। पंडित इंद्रलाल जी बोले—

"महाराज जी! ये पंडितजी ही इन्हें व्याकरण पढ़ा सकते हैं क्योंकि इन्हें व्याकरण के सारे सूत्र कंठाग्र हैं। रात-दिन यही व्याकरण पढ़ाते हैं।"

तभी आचार्यश्री ने मुझे बुलाया और विनोदपूर्ण शब्दों में बोले—

"वीरमती! देखो, ये विद्वान् दामोदर शास्त्री जी तुम्हें व्याकरण पढ़ायेंगे, यह कातन्त्र रूपमाला नाम की व्याकरण का यहाँ जैन कालेज में दो वर्ष का कोर्स है लेकिन हाँ, तुम्हें दो महीने में पूरी कर लेनी है।"

मैंने प्रसन्नता से कहा—"हाँ, महाराज जी! जैसी आपकी आज्ञा है, वैसा ही करूँगी, मैं तो दो महीने से एक दिन कम में ही पूरी कर लूँगी।"

इसी बीच पंडित दामोदर जी बोले—"पूज्य महाराज जी! मैं प्रतिदिन एक घण्टे समय दे सकता हूँ इससे अधिक नहीं, चूँकि मेरे पास अधिक समय ही नही हैं।"

विशालमती माताजी ने कहा—

"ठीक है पंडित जी! आप कल से ही इनकी व्याकरण शुरू कर दीजिए। मुझे भी व्याकरण की रुचि है। साथ ही मैं भी अध्ययन करूँगी।"

दूसरे दिन से कातन्त्र रूपमाला का अध्ययन शुरू हो गया। पंडित दामोदर जी सूत्र बोलते, उसका अर्थ कर देते पुनः संधि तथा रूपसिद्धि आदि करना बता देते। मैं सुनती रहती सब समझ लेती, किसी दिन शायद ही दूसरी बार व्याकरण हाथ में उठाई हो, उसी समय जो मनन हो जाता था सो ठीक, दूसरे दिन यदि पंडित जी कोई संधि या रूप पूछ लेते तो मैं विधिवत् सूत्रोच्चारण करके बता देती। विशालमती

माताजी भी आश्चर्य से कहा करतीं—"अम्मा! तुमने पूर्वजन्म में व्याकरण पढ़ी है ऐसा प्रतीत होता है। यही कारण है कि एक पाठी के समान तुम्हें व्याकरण याद हो जाती है, पुनः पुनः दिन भर रटना नहीं पड़ता है।"

मुझे भी स्वयं ऐसा लगता था कि वास्तव में जैसे मैंने इस पुस्तक को भी पढ़ा ही होगा, यही कारण है कि मुझे न तो वह व्याकरण कठिन महसूस होती, न लोहे के चने लगती। मैं सोचा करती—भला विद्वान् लोग व्याकरण को लोहे का चना क्यों कहते हैं?

उस समय कातन्त्र व्याकरण की मूल प्रति बड़ी मुश्किल से १-२ मिली थीं एवं मुझे भी उस व्याकरण की सरलता तथा जैनाचार्यों की कृति होने से बहुत ही प्रेम हो गया था, अतः मेरी इच्छा व क्षुल्लिका विशालमती माताजी की प्रेरणा और गुरुदेव आचार्यश्री देशभूषणजी महाराज की आज्ञा से खण्डाका सरदारमलजी ने वीर प्रेस में उसी समय यह व्याकरण प्रति छपवाई थी। पंडित भंवरलालजी न्यायतीर्थ सामने वीर प्रेस में हमेशा रहते थे अतः सामने के कमरे में सतत मेरी चर्या का अवलोकन कर एवं अध्ययनरत देखकर प्रसन्नता व्यक्त किया करते थे। कभी-कभी निकट आकर क्षुल्लिका विशालमती माताजी से कुछ धर्मचर्चायें भी किया करते थे।

मुझे उन दिनों आहार में अन्तराय अधिक होती रहती थी जिससे शरीर, मस्तिष्क और आँखें कमजोर रहती थीं परन्तु फिर भी अपनी आवश्यक क्रियाओं को करके मैं स्वाध्याय भी अधिक करती थी अतः व्याकरण का रटना नहीं होता था। फिर भी रात्रि में स्वप्न में अनेक रूप सिद्ध कर लिया करती थी। जो-जो सूत्र एक रूप के सिद्ध करने में काम आते थे, प्रायः सुबह उठकर व्याकरण देखने से वे सूत्र सही मिलते थे। कुल मिलाकर मैं दिन में व्याकरण नहीं रटती थी तो भी रात्रि स्वप्न में रटना हो जाया करता था। इसे कहते हैं संस्कार। प्रायः सभी लोग अनुभव करते हैं कि जो कार्य दिन में किया जाता है या जिस कार्य में अधिक रुचि होती है स्वप्न में प्रायः वे ही कार्य दिखते रहते हैं। जैसे कि कपड़े के व्यापारी स्वप्न में भी कपड़ा फाड़ते रहते हैं। विशालमती माताजी कभी-कभी आचार्यश्री के समीप आकर कहा करतीं—

"महाराज जी! वीरमती अम्मा दिन में एक बार व्याकरण पढ़ने के बाद उठाकर देखती भी नहीं हैं और रात्रि स्वप्न में सारे सूत्र याद कर लिया करती हैं।" तब निकट में बैठे पंडित कन्हैयालालजी आदि यही कहते कि इन्होंने पूर्वजन्म में सब कुछ पढ़ा हुआ है इसलिए बिना याद किये सूत्र कंठाग्र हो जाते हैं।

पंडित इंद्रलाल जी प्रतिदिन दर्शन करने आते थे, तब वे व्याकरण में मेरी इतनी योग्यता देखकर कहा करते थे—"**ये माताजी 'व्युत्पन्नमती' हैं।**"

क्षुल्लिका विशालमती जी से भी कहते कि—तुम इन्हें व्युत्पन्नमती कहा करो। इनका व्युत्पन्नमती नाम सार्थक है। तब विशालमती माताजी भी अतीव वात्सल्यपूर्वक व्युत्पन्नमती कहने लगती थीं।

अनन्तर दो महीने में एक दिन शेष रहने पर ही मैंने व्याकरण पूर्ण पढ़ लिया, तब विशालमती माताजी मुझे साथ में लेकर आचार्यश्री से आशीर्वाद दिलाने लाईं। आचार्य देव ने कहा—

"बस, इतने मात्र व्याकरण से तुम सभी शास्त्रों का अर्थ समझ लोगी, अब तुम्हें किसी से कोई भी ग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है।"

इसके बाद दामोदर शास्त्री को यथोचित पुरस्कार दिलाकर आचार्यश्री ने कहा—"पंडित जी! बस आपका कार्य हो चुका है।" उस समय पंडित जी बहुत ही दुःखी हुए। वे बोले-"गुरुदेव! मैं इन माताजी को और भी कुछ अध्यापन कराकर इनकी सेवा करना चाहता हूँ।"

आचार्य श्री ने कहा—"पुनः सोचा जायेगा।"

फिर भी मेरी इच्छा सब कुछ पूर्ण हो चुकी थी और गुरु आज्ञा को ही मैं सब कुछ मानती थी। इसी बीच "चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज सल्लेखना लेने वाले हैं" इतना सुनकर मुझे उनके दर्शनों की तीव्र अभिलाषा हो उठी। मैंने चातुर्मास के बाद दक्षिण जाने का विचार बना लिया।

आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के मुख से चारित्रचक्रवर्ती आचार्यदेव श्री शान्तिसागर जी महाराज की प्रशंसा सुना करती थी। क्षुल्लिका विशालमती जी ने भी उनके उत्कृष्ट चारित्र और कठोर तपश्चरण की बहुत ही प्रशंसा की थी। मेरे मन में भी तीव्र भावना जागृत हुई कि चारित्र चक्रवर्ती महाराज के दर्शन अवश्य करना। मैंने उन गुरुदेव के दर्शन न होने तक नमक का त्याग कर दिया। उस समय मैं आचार्यश्री देशभूषण जी के सामने बहुत ही कम बोलती थी अतः मैं गुरू से कुछ भी नहीं कह सकी। मैंने क्षुल्लिका विशालमती जी से बार-बार दर्शन कराने के लिए आग्रह करना शुरू कर दिया। तब उन्होंने एक दिन आचार्यश्री के पास निवेदन किया—

"महाराज जी! इन्होंने नमक त्याग कर दिया है। कहती हैं कि जब आचार्य शांतिसागर जी महाराज के दर्शन करूँगी तभी नमक लूँगी। आचार्यश्री तो सल्लेखना ले चुके हैं अतः इन्हें दर्शन नहीं मिले तो इनका यह त्याग जीवन भर के लिए हो जायेगा।"

आचार्य महाराज ने कहा—"अच्छा, चातुर्मास के बाद मैं तुम्हारे साथ इन्हें भेज दूँगा। तुम इन्हें आचार्यदेव के दर्शन कराकर वापस मेरे पास छोड़ जाना।"

विशालमती जी ने यह बात स्वीकार कर ली, तब मुझे बहुत ही शांति मिली। सानन्द चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद हम दोनों आचार्यश्री से आज्ञा लेकर दक्षिण की ओर जाने लगीं। उस चातुर्मास में यहाँ पर सरदारमल जी खडाका की माँ ने आचार्यश्री से क्षुल्लिका दीक्षा ली थी। इनका नाम 'क्षुल्लिका वृषभसेना' रखा गया था तथा लखनऊ की महिला, जो मेरे पास ब्रह्मचारिणी थीं, उन्होंने भी क्षुल्लिका दीक्षा ले ली थी। ये दोनों हमारे पास ही रहती थीं तथा बाराबंकी की ब्रह्मचारिणी चन्द्रावती भी हमारे पास ही थीं। यद्यपि ये भी दक्षिण की ओर चलने के लिए उत्सुक थीं, परन्तु विशालमती जी ने इन्हें यहीं संघ में ही रहने को कहा और अपने साथ मुझे लेकर जयपुर से बम्बई आ गईं।

यहाँ परम तपस्वी श्री नेमिसागर जी महामुनि के दर्शन किये। मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। बम्बई में उस समय रथ यात्रा का महोत्सव रुका हुआ था, बात यह थी, यहाँ ऐसा वातावरण बन चुका था कि 'नग्नमुनि शहर में रथयात्रा के साथ नहीं चल सकते हैं।' इसी बात को लेकर श्री नेमिसागर जी महाराज ने सत्याग्रह कर दिया था और रथयात्रा रोक दी गई थी। शहर के प्रमुख श्रीमान् और धीमान् इस सरकारी आर्डर को हटवाने के लिए प्रयत्नशील थे। क्षुल्लिका विशालमती जी भी इन धर्म प्रभावना के कार्यों में बहुत ही रुचि रखती थीं। अतएव रथयात्रा निकलने तक हम दोनों ने बम्बई शहर में ही रुकना निश्चित कर लिया।

मैंने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के मुख से अनेक बार सुना था कि सन् १९३१ में जब चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज के संघ का दिल्ली में चातुर्मास था उस समय नग्न मुनियों को सर्वत्र विचरण करने में बाधायें थीं। अमुक मार्ग से नग्न मुनि नहीं निकल सकते हैं, इतना सुनते ही आचार्यदेव ने अपने संघ के मुनि श्री वीरसागर जी, नेमिसागर जी, चन्द्रसागर जी आदि को उन्हीं-उन्हीं रोक के स्थानों में जाने का आदेश दे दिया था और आप स्वयं तो उधर सिंहवृत्ति से विहार किया ही करते थे बल्कि चाँदनी चौक आदि कई स्थानों पर खड़े होकर आचार्य जी ने अपने फोटो भी खिंचवाये थे। वह इसलिए कि अमुक सन्-संवत् में नग्न दिगम्बर मुनियों का यहाँ पर निराबाध विहार होता रहा है। इस इतिहास को स्थायी रखने के लिए कि जिससे भविष्य में नग्न दिगम्बर मुनियों को कहीं पर भी रोक-टोक न हो सके। निजाम स्टेट-हैदराबाद में आचार्य देशभूषण जी महाराज ने भी नग्न मुनि को विहार से रोकने पर वहीं ध्यान में बैठकर मार्ग प्रशस्त किया था।

यह सभी बातें हमें याद आ गईं। क्षुल्लिका विशालमती जी ने भी मुझे अनेक बातें बताईं और आगम का भी चिंतन अच्छा हुआ। वास्तव में ये नग्न मुनि नंगे नहीं हैं। (दिक्—दिशा और अम्बर—वस्त्र) अथवा ये हमेशा शीलरूपी वस्त्राभरण से विभूषित हैं, क्योंकि कायर लोग कभी भी यह मुद्रा धारण नहीं कर सकते हैं। महान् वीरों की ही यह मुद्रा है। कवि भूधरदास जी ने बहुत ही अच्छे शब्दों में कहा है—

अंतर विषयवासना बरते बाहर लोकलाज भय भारी।
यातें परमदिगम्बर मुद्रा धरि नहिं सके दीन संसारी।।
ऐसी दुर्धर नगन परीषह जीतें साधु शीलव्रत धारी।
निर्विकार बालक वत् निर्भय तिनके पायन धोक हमारी।।

क्षुल्लिका विशालमती माताजी कहा करती थीं कि—

"यह नग्नमुद्रा ब्रह्मचर्यव्रत की कसौटी है और अपरिग्रह की चरम सीमा है।" दूसरी बात यह है कि "यह नग्नरूप तो सचमुच में प्रकृति प्रदत्त प्राकृतिक रूप है। ठंडी, गर्मी, डाँस-मच्छर आदि से शरीर की रक्षा के लिए अथवा विकार को छिपाने के लिए अथवा लज्जा के लिए वस्त्र धारण किये जाते हैं यदि इनमें से सभी पर विजय प्राप्त कर ली गई हो तो पुनः वस्त्रों की क्या आवश्यकता है? कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक शरीर से निर्मम नहीं हुआ जायेगा और जब तक निरतिचार पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत नहीं होगा तथा जब तक निर्विकल्प धर्म-शुक्ल ध्यान नहीं होगा तब तक मुक्ति की प्राप्ति भी नहीं होगी। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने के लिए यह नग्नवेश ही—यह दिगम्बर मुनि मुद्रा ही एक साधन है। यद्यपि इस दुःषमकाल में मोक्ष की प्राप्ति नहीं है, फिर भी पंचम काल के अन्त तक मोक्ष मार्ग चालू रहेगा। तब तक मुनि, आर्यिका और श्रावक, श्राविका आदि चतुर्विध संघ रहेगा। जिस दिन यह संघ समाधि ग्रहण कर लेगा, उसी दिन धर्म का नाश हो जायेगा, राजा का नाश हो जायेगा और अग्नि का भी नाश हो जायेगा अतः जब तक धर्म, राजा और अग्नि हैं तब तक ये यथाजातरूप धारी मुनि इस पृथ्वीतल पर विचरण करते ही रहेंगे।

बम्बई शहर में नग्न मुनियों को कहीं भी विहार करने से रोका नहीं जा सकता है, यही भावना जिनके अंतस्थल में थी, ऐसे श्री नेमिसागर जी महाराज ने रथयात्रा रोक दी थी। उन्हें रथयात्रा के जुलूस में जाने का हठवाद नहीं था, प्रत्युत् नग्न दिगम्बर मुनि रथयात्रा में जुलूस में या अकेले, कैसे भी कहीं भी विहार कर सकते हैं। उन्हें 'रोकना—बन्धन लगाना' यह ठीक नहीं है। इसी बन्धन को हटाने के लिए वे कटिबद्ध थे। इतिहास साक्षी है कि जब—

"सुकौशल राजा के पिता राजा सिद्धार्थ महामुनि हो गये थे, रानी ने आदेश निकलवा दिया कि मेरी राजधानी में नग्न मुनि विहार न करें, तब महामुनि सिद्धार्थ ही उस बन्धन को तोड़ने के लिए उस शहर में आ गये थे।"[१] इत्यादि चर्चाओं से क्षुल्लिका विशालमती जी ने उस समय वहाँ के श्रावकों को कर्तव्य पालन में और भी अधिक दृढ़ करने का प्रयास किया था।

उस समय मैंने देखा, मुनिश्री नेमिसागर जी महाराज बहुत सरल प्रकृति के साधु थे। उनकी तपश्चर्या महान् थी, शरीर अत्यंत कृश था फिर भी मनोबल विशेष था। मैंने उनकी चर्या में एक और विशेषता देखी थी, जो कि आज तक भी मेरे स्मरण पथ में बनी हुई है। वह यह थी—

महाराज जी दिन भर अपने हाथ में माला रखते थे और जाप्य करते रहते थे। जब कोई चर्चा आ जाती थी तब वे बीच में ही माला छोड़कर उसी बीच की मणि पर उँगली रोककर बात कर लेते थे, पुनः जपने लगते थे। मुझे ऐसा करना बहुत ही आश्चर्य सा लगा। मैं सोचने लगी—

---

१. आराधना कथाकोश, कथा नं. ५८।

"अहो! ये इतने महान् साधु हैं, ज्ञानी हैं, चारित्र में भी उत्कृष्ट हैं और इन्होंने अपने पूरे जीवन भर आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज का चरण सानिध्य प्राप्त किया है। वास्तव में सभी शिष्यों की अपेक्षा सबसे अधिक काल तक ये ही अपने गुरु के पास रहे हुए हैं पुनः ये इस प्रकार से जाप्य क्यों कर रहे हैं? बीच-बीच में क्यों बोल देते हैं?"

मैंने यह अपने मन की आशंका क्षुल्लिका विशालमती जी से कह दी। वे भी प्रायः ऐसे ही दिन भर माला हाथ में रखती थीं और जपा करती थीं। उन्होंने कई तरह से समाधान किया किन्तु संतोष नहीं हुआ। तब उन्होंने कहा—

"अच्छा, चलो, आज मुनिश्री से इस शंका का समाधान करना है।"

महाराज जी के पास पहुँचकर उन्होंने यह मेरा प्रश्न रख दिया, तब महाराज जी ने बहुत ही सरलता से उत्तर दिया—

"अम्मा! मैं कोई गिनती का जाप्य नहीं कर रहा हूँ। दिन भर भगवान का नाम जपना, महामंत्र का स्मरण करते रहना यही मेरा लक्ष्य है। उसके सहयोग के लिए यह माला हाथ में ले लेता हूँ। मैं इस पर "णमो सिद्धाणं", मात्र इतने ही मंत्र को जपते रहता हूँ। वह मंत्र हर बार १०८-१०८ हो ही, यह कोई नियम नहीं है। इसलिए बीच-बीच में बोल देता हूँ। जब नियम से करता हूँ तब मौन पूर्वक मन, वचन, काय को संभाल करके ही करता हूँ। ऐसे ही जब मैं रात्रि में "जाप" करता हूँ तब भी उपयोग को एकाग्र करके ही जाप करता हूँ।"

उनका यह समाधानजनक उत्तर मुझे अच्छा लगा और मन में स्मरण आया कि ऐसे ही जब कभी आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज आसन पर बैठे हुए होते हैं, स्वाध्याय, लेखन अथवा बातचीत नहीं करते हैं उस समय उनके हाथ की भी उँगलियाँ चलती रहती हैं। एक बार किसी के प्रश्न करने पर उन्होंने भी यह बताया था कि—

"मैं महामंत्र का जाप करता रहता हूँ।"

इससे यह बात समझ में आ जाती है कि साधुओं को प्रति क्षण उठते, बैठते, चलते-फिरते, बातचीत करते हुए भी मन-मन में महामंत्र का अथवा किसी भी छोटे से मंत्राक्षर का स्मरण करते ही रहना चाहिए।

कालांतर में सन् १९५७ में जब महावीरकीर्ति जी आचार्य का चातुर्मास खानिया में आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के सानिध्य में हुआ था, उन दिनों मेरे आहार में अंतराय बहुत आती थी। तब गुरुदेव कहा करते थे कि—

"ज्ञानमती! तुम आहार को जाते हुए तथा श्रावकों द्वारा नवधा भक्ति के समय, यहाँ तक कि आहार करते समय भी मन-मन में णमोकार मंत्र जपती रहा करो।"

मैं कहती—"महाराज जी! आहार के लिए जाते हुए तथा वहाँ चौके में बैठे हुए तक तो मंत्र जपा जा सकता है किन्तु आहार करते समय कैसे जपना?"

उनकी अधिक प्रेरणा से धीरे-धीरे मैंने अनुभव किया कि आहार करते समय भी मन-मन में जपा जा सकता है। यह केवल अभ्यास की बात है। श्री महावीर कीर्ति जी महाराज तो हमेशा कहा करते थे—

"उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते, यहाँ तक कि प्रत्येक कार्य करते समय महामंत्र का जप करते रहना चाहिए।" इन सभी प्रसंगों में मुझे वह मुनिश्री नेमिसागर जी का समाधान और उनके हाथ की माला का स्मरण हो ही जाया करता था। आज भी उनकी वह मुद्रा और सरलता मेरे नेत्रों के सामने स्पष्ट झलक आया करती है।

मैं समझती हूँ कि उनके उस 'जप' का प्रभाव था कि जो जल्दी ही सरकारी विरोध दूर हुआ और 'नग्न' मुनि भी रथयात्रा के साथ बम्बई शहर में घूम सकते हैं।" दो दिन बाद ही यह स्वीकृति मिली, तब श्रावकों

ने बड़े ही उत्साह के साथ महामहोत्सवपूर्वक बम्बई शहर में रथयात्रा का जुलूस निकाला। उस समय जैनधर्म की महती प्रभावना हुई और रानी उर्विला के जैनरथ महोत्सव को जैसे मुनिश्री वज्रकुमारजी ने निकलवा कर धर्म प्रभावना की थी, वह इतिहास स्मरण हो आया। मैंने भी वहाँ का सन् १९५४ का वह रथयात्रा महोत्सव देखा, हृदय पुलकित हो उठा, अंतरंग में महामुनि की दृढ़ता के प्रति श्रद्धा बहुत ही वृद्धिंगत हुई। गुरुदेव श्री नेमिसागर जी महाराज के मुख से आचार्यश्री शान्तिसागर जी के विषय में अनेक प्रत्यक्ष अनुभव सुने पुनः वहाँ से निकलकर हम दोनों 'पूना' शहर के पास एक 'बाल्हा' गाँव में आ गयीं। यह आर्यिका चन्द्रमती माताजी का शायद जन्म स्थान था। मुनिश्री नेमिसागर जी महाराज जब आचार्यश्री के पास से अलग हुए थे, तब उन्हें गुरु वियोग का अधिक दुःख हो रहा था। उस समय वे इस 'बाल्हा' गाँव में ही आकर रहे थे और एक चातुर्मास यहीं पर सम्पन्न किया था। वहाँ के भक्त श्रावक और श्राविकायें महाराजश्री के बारे में अनेक प्रत्यक्ष के अनुभव सुनाने लगे। अधिकतर बातें इस संदर्भ में ही थीं कि महाराजश्री को इस समय गुरुवियोग बहुत ही दुःखद रहा है। किन्हीं ने कहा कि—

"आचार्यश्री ने अब सल्लेखना के अवसर पर अपने प्रिय शिष्य को भी अलग करना ही उचित समझा, अतः इनकी इच्छा न होते हुए भी इन्हें विहार करने का आदेश दे दिया है।"

जो भी हो, पूज्य नेमिसागर जी महाराज स्वयं भी बिना इच्छा के ही गुरु के आदेश से अलग हुए थे, यह निश्चित था। एक वृद्धा महिला ने एक दिन बताया कि—

"मुनिश्री यहाँ मंदिर जी में ध्यान-अध्ययन एवं सामायिक आदि क्रिया करते थे। यहीं मुहल्ले के बच्चे उनके पास आकर बहुत बार इकट्ठे हो जाया करते थे। मुनिश्री की सरल प्रकृति होने से यह नन्हें-नन्हें बालक उनके पास बैठकर निर्भीकता से उनसे वार्तालाप किया करते थे। एक बार की घटना है कि यहाँ का उपाध्याय पंडित मेरे पास में शिकायत लेकर आया कि आप लोग अपने बच्चों को यहाँ आने से रोकें। उसने यह भी बताया कि मध्याह्न में महाराजश्री सामायिक में स्थित थे कदाचित् उनके नेत्रों से अश्रुजल आ गया। एक तीन-चार वर्ष के बालक ने देख लिया और वह मुनिश्री के अश्रु पोंछते हुए बोलने लगा—

"स्वामी जी! आपण कशाला रडता! सांगा आपल्याला काय पाहिजे, माझी आई आपलेला बाटल ते देणार।—हे स्वामी जी! आप क्यों रो रहे हैं? कहिये! आपको क्या चाहिए? मेरी माँ आपको क्या चाहिए, सो देगी।

ऐसे शब्द बोलते हुए बालक को पंडित—पुजारी ने देख लिया, उसने उसी क्षण महाराज जी के पास से बालकों को भगा दिया और मेरे पास आकर सारी स्थिति बता दी। मैंने उसी समय महाराजश्री के पास आकर पूछा—महाराज जी! आज आपके नेत्रों से आँसू कैसे आ गये? क्या कारण है सो आप बताइये। महाराज जी ने कहा—बाई! आज प्रातःकाल से ही मुझे आचार्यश्री की बहुत ही याद आ रही थी, मैंने बहुत कुछ अपने को समझाया, सान्त्वना दी, किन्तु अकस्मात् सामायिक में बैठे-बैठे ही आँसू आ गये। इतना सुनकर मैंने यही कहा कि महाराज जी! यह मोह ही तो संसार का कारण है। आप बारह भावना का चिंतवन कीजिये, शांति मिलेगी। महाराज जी तो सरलता की प्रतिमूर्ति ही थे। उन्होंने कहा—हाँ, आपका कहना सच है, फिर भी मोक्षमार्ग में लगाने वाले सच्चे गुरु की याद कैसे भुलाई जा सकती है?

इस घटना को सुनकर उस समय क्षुल्लिका विशालमती जी की आँखों में भी आँसू आ गये, वे कहने लगीं—"देखो, वीरमती अम्मा! हम लोग अनादिकाल से माता-पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन आदि के लिए रोते हैं किन्तु ऐसे धर्मगुरू के लिए नहीं रोना आया होगा तभी तो स्त्री पर्याय मिली है और पंचम काल जैसे इस निकृष्ट काल में जन्म लेना पड़ा है।

मैंने उस समय विचार किया कि—"बात किसी अंश में सच है। धर्म-प्रेम बगैर गुरु के वियोग में भी भला अश्रु कैसे आ सकते हैं?" वास्तव में जो निकट संसारी है वही गुरु का सानिध्य सतत चाहेगा, अन्यथा स्वच्छन्द बनने में आनन्द मानेगा। यह गुरु-प्रेम का उदाहरण आज के एकल विहारी साधुओं के लिए ग्राह्य है।

जिस समय आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज की सल्लेखना हुई थी, कितना ही मन मजबूत करने पर भी मेरी आँखों में अकस्मात् आँसू आ गये थे और ऐसा झटका सा लगा था कि—

"अहो! अब इन वीतरागी गुरु की देशना का लाभ, उनके आदेश का लाभ हमें जीवन में कभी नहीं मिलेगा।"

ऐसे ही जब मैंने श्रवणबेलगोला से विहार किया था, इसके पूर्व वहाँ मैं एक वर्ष तक रह चुकी थी अतः विहार करने के बाद रह रहकर भगवान बाहुबली की प्रतिमा दृष्टि के सन्मुख दिखती रहती थी और बरबस ही नेत्रों से अश्रु गिरने लगते थे। ऐसा लगता था कि अब मुझे इस जीवन में ऐसी महिमामयी विशालकाय मूर्ति के दर्शन नहीं हो सकेंगे।

ये नेमिसागर जी महाराज महान् तपस्वी थे। सदा ही एक उपवास और एक पारणा करते थे। आहार में प्रायः सब रस का त्याग रहता था। बहुत ही शांत प्रकृति के थे। उन्होंने बम्बई शहर में आचार्यश्री के स्मरण को चिरस्थायी करने के लिए 'तीनमूर्ति पोदनपुर' नाम से एक पावन तीर्थ ही बनवा दिया है। इस महान् कार्य में उन्हें यहाँ पर लगभग २० वर्ष तक रहना पड़ा है। उनकी सहनशीलता और गुरुभक्ति बहुत ही विशेष थी। सन् १९७१ में उन्होंने सल्लेखना विधि से इस नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्ग में गुरु का सानिध्य अवश्य ही पा लिया होगा, ऐसा कहने में मुझे किंचित् संकोच या संदेह नहीं है।

यहाँ से निकलते ही मैंने अम्मा से कहा—"अब मुझे आप शीघ्र ही चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री के दर्शन करा दो, बाद में अन्यत्र कहीं चलना है।"

अतः उन्होंने आचार्यश्री कहाँ हैं? यह पता लगाकर नीरा गाँव की ओर प्रस्थान कर दिया।

£ ११ ¤

उस समय आचार्यश्री "नीरा" गाँव में विराजमान थे। मैंने आकर दर्शन किये। सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर विधिवत् वंदना की। आचार्यश्री ने आशीर्वाद दिया। क्षुल्लिका विशालमती जी ने रत्नत्रय कुशल पूछा। अनंतर महाराज जी तो आसन पर बैठे हुए थे। ब्रह्मचारी जिनदास जी कोई शास्त्र पढ़कर सुना रहे थे।

मैं बैठी थी कि मेरी आँखों में हर्ष के आँसू आ गये। महाराज जी ने मेरा परिचय पूछा। विशालमती जी ने सब बताया और उम्र भी बताई कि अभी यह १९-२० वर्ष की है। दो वर्ष हुए आचार्य देशभूषण महाराज जी से दीक्षा ली है। इसकी दीक्षा के समय सामाजिक विरोध तो बहुत ही हुआ था किन्तु इसकी दृढ़ता गजब की थी। आचार्य महाराज जी प्रसन्न हुए, पुनः स्वाध्याय के बाद उन्होंने बड़े ही प्रेम से मुझे कुछ शिक्षायें दीं। वे बोले—

"अभी तुम्हारी उम्र बहुत ही छोटी है, तीस वर्ष तक किसी न किसी के साथ ही रहना, अकेली नहीं रहना, खूब धार्मिक अध्ययन करना, अनगारधर्मामृत, भगवती आराधना और समयसार अवश्य पढ़ना। मैंने भगवती आराधना ३६ बार पढ़ी है।"

और भी बहुत कुछ शिक्षायें दीं। उस समय मुझे ऐसा लगा कि मानों मैंने संसार का अन्त करने वाले महान् गुरु को ही पा लिया। उनकी शिक्षायें मुझे अमृत से भी अधिक प्रिय लगीं। मैंने मन ही मन अपने भाग्य को सराहा और सोचने लगी कि—

"यद्यपि दीक्षा लेने के बाद मुझे रेल-मोटर पर बैठना बहुत ही अखरा था पर आज वह सफल हो गया चूँकि मैं पद विहार से तो आज आचार्यदेव के दर्शन नहीं कर सकती थी।"

दूसरे दिन प्रातःकाल आकर गुरुदेव की वंदना की। वहीं बैठी रही। एक ब्रह्मचारी पाठ सुना रहे थे, मैं भी सुनती रही। अनंतर स्वाध्याय सुनाया। महाराज जी बीच-बीच में चर्चा करते थे। कोई विशेष बात समझाते भी थे। इसके बाद आचार्यश्री का आहार देखा, अनंतर स्वयं आहार लिया पुनः दो बजे आचार्यश्री के निकट आकर बैठ गई। उस समय चार-पाँच प्रमुख श्रावक आचार्यश्री के पास कुछ विज्ञप्ति लेकर आये थे। वे लोग निवेदन कर रहे थे—

"पूज्य गुरुदेव! मुनि जंबूसागर जी के बारे में क्या करना है? समाज चिंतित है।

महाराज जी ने गंभीर मुद्रा में उत्तर दिया—"यदि वह मेरे पास आये तो कुछ समझाऊँ अथवा प्रायश्चित्त देकर सुधार भी करूँ।.....फिर भी दिगम्बर मुद्रा का अपमान या बहिष्कार, श्रावकों को कुछ भी करने का अधिकार नहीं है। आप लोगों को उन्हें समझाना चाहिए। नहीं मानते हैं तो उपेक्षा कर देनी चाहिए। बस, इसके आगे उनकी निंदा अखबारों में निकालना गलत है। इससे मोक्ष-मार्ग में चलने वाले निर्दोष साधुओं की भी कीमत घटती है। इत्यादि।"

आचार्य महाराज के इन शब्दों को सुनकर श्रावक हँसने लगे और अन्य भी कुछ शंका का समाधान प्राप्त कर वे लोग चले गये।

मुझे जब वह दृश्य याद आता है तब मानो आचार्यश्री के वे शब्द मेरे कानों में गूँजने ही लगते हैं कि उपगूहन अंग का उपदेश उन्होंने कितने अच्छे ढंग से दिया था। आज के भी सुधारवादियों को वे शब्द ध्यान देने योग्य हैं। बहुत से प्रमुख सुधारक श्रावक आज अपनी संतान को मद्य, मांस, मधु, वेश्यासेवन आदि से नहीं रोक पा रहे हैं किन्तु उन्हें सारे साधुओं के चारित्र की और धर्म की चिंता हो रही है। अखबारों में ९९ प्रतिशत गलत मुनि-निंदा छाप-छाप कर मोक्षमार्ग को सुधारने की डींग भर रहे हैं। भला ऐसे लोग मोक्ष-मार्ग को कैसे चलायेंगे?

आचार्यश्री ने किसी चर्चा के प्रसंग पर यह भी बताया कि—"उत्तर प्रान्त के पंडित वर्ग शास्त्रों के बहुत से अंश को भट्टारक द्वारा प्रक्षिप्त कहकर निकाल देते हैं। सचमुच में उन्हें नरक निगोद का भय नहीं है।"

और भी अनेक शिक्षास्पद अमृत कणों को प्राप्त कर तीन दिन बाद हम दोनों क्षुल्लिकाएं आचार्य देव का आशीर्वाद ग्रहण कर वहाँ से निकलकर अन्यत्र कोल्हापुर, बेलगाँव आदि घूमकर वापस जयपुर आ गईं। यहाँ अकस्मात् समाचार मिला कि—

"चाकसू गाँव में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज की समाधि हो गई है।"

गुलाबचन्द जी सेठी हम दोनों क्षुल्लिकाओं को अपनी गाड़ी में ले गये। वहाँ जाकर देखा, आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज अपने आसन पर विराजमान हैं। स्वाध्याय चल रहा है। समाधि का समाचार झूठा ही फैल गया था। हाँ, वे उन दिनों ज्वर से अस्वस्थ चल रहे थे। आचार्यश्री के दर्शन कर हम दोनों को बहुत ही प्रसन्नता हुई।

स्वाध्याय के मध्य क्षुल्लक चिदानन्दसागर जी अनेक शंकायें रखते थे। आचार्यश्री भी बहुत ही धीमे स्वर से सीमित शब्दों में समाधान कर देते थे। उनके समाधान को सुनकर क्षुल्लिका विशालमती जी भी बहुत ही प्रभावित हुईं। उन्होंने भी कुछ शंकायें रखीं। आचार्यश्री ने उनका भी समाधान किया।

आहार के समय मैं दैवयोग से उन्हीं क्षुल्लक जी के साथ एक चौके में पड़ग गई। मुझे देखते ही वे उस चौके से निकल गये, मेरा तो वहीं आहार हो गया। बाद में पता चला कि "इस संघ के साधु रेल, मोटर पर

बैठने वाले साधुओं के साथ आहार नहीं लेते हैं। इस नीति से क्षुल्लिका विशालमती जी को कुछ खेद हुआ परन्तु मेरे मन में दुःख नहीं हुआ, प्रत्युत् इस 'कठोर नीति' से हमें अच्छा लगा। अनन्तर हम दोनों आचार्यश्री का आशीर्वाद ग्रहण कर वापस जयपुर आ गईं। यहाँ से निकट ही किसी गाँव में शायद जोबनेर में आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज विराजमान थे। वहाँ से जाकर गुरुदेव के दर्शन कर अपने भ्रमण के अनुभव सुना दिये पुनः उनकी आज्ञा लेकर विशालमती जी गुजरात प्रान्त में सूरत शहर में आ गईं। मैं भी उनके साथ ही थी।

एक दिन समाचार विदित हुआ कि—"आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज इसी वर्ष सल्लेखना ग्रहण करेंगे।"

तब पुनः हम दोनों ने आपस में परामर्श किया कि-"यह चातुर्मास हम दोनों उसी सोलापुर के निकट ही करें जिससे आचार्यश्री की सल्लेखना देखने के अवसर प्राप्त हो जायें।"

ऐसा निर्णय कर हम दोनों फल्टन आ गईं। वहाँ पर श्रुत पंचमी का महोत्सव देखा और आचार्यश्री ने जिन षट्खण्डागम सूत्रों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराकर प्रतिष्ठा करायी थी वे ग्रन्थ सरस्वती भवन में विराजमान थे उनके दर्शन किये। श्रुत पंचमी के दिन उनका अभिषेक पूजन देखा। उस प्रान्त में श्रुत पंचमी के दिन सभी महिलाएं थाल में २४-२४ आम्रफल लेकर आती हैं, जो कि पूजा में चढ़ाती हैं। अनन्तर श्रुत पंचमी के मंगल अवसर पर मेरा भी १० मिनट प्रवचन हुआ। इतनी छोटी वय में मेरा प्रवचन सुनकर लोग प्रभावित हुए और चातुर्मास के लिए आग्रह करने लगे। यहाँ पर माणिकचंद्र वीरचंद्र गांधी के घर का चैत्यालय अच्छा लगा और श्रावकों की भक्ति-भावना भी सुन्दर थी।

यहाँ पर सुना—"आचार्य पायसागर जी महाराज सोलापुर में विराजमान हैं।"

उनके दर्शन की भावना से मैं विशालमती जी के साथ सोलापुर आ गई। आचार्यश्री के दर्शन कर आशीर्वाद प्राप्त किया। आचार्यश्री का उपदेश बहुत ही रोचक, हास्यरस से परिपूर्ण और आध्यात्मिक होता था। सुनकर मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। आचार्यश्री एक बार उपदेश में बोले—

"देखो! महिलायें रोटी बनाती हैं, तवे पर डालती हैं, उलट-पलट देती हैं, झट से फूल जाती है। उनके दो भाग हो जाते हैं। फिर ये कुशल महिलायें जब दोनों तरफ पक जाती हैं तब उतारकर नीचे अंगारे पर डाल देती हैं और वह उसकी राख को झाड़ने के लिए चूल्हे के ऊपर एक तरफ पटक देती हैं। अनन्तर उसमें घी चुपड़ कर आपको खाने को दे देती हैं। वह रोटी आपको स्वादिष्ट लगती है और स्वास्थ्य के लिए भी अच्छी रहती है। उसी प्रकार से पहले इस शरीर सहित आत्मा को बाह्य-अभ्यंतर तप में पका लो, फिर उपसर्ग-परीषह आदि अग्नि पर पड़ते ही या ध्यान रूपी अग्नि में पड़ते ही उसके दो भाग हो जाते हैं अर्थात् "आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है" ऐसा अनुभव होने लगेगा पुनः वह भेद-विज्ञान तुम्हें आत्मा से उत्पन्न परमानंदरूपी अमृत का स्वाद दिलायेगा और तुम्हें शरीर से भिन्न कर—छुड़ाकर शाश्वत स्वस्थता प्राप्त करा देगा।"

ऐसे ही खूब उदाहरण देते थे जिससे आबाल-गोपाल सभी को उनके उपदेश में आनन्द आता था। एक बार का उपदेश बहुत ही महत्व का था, वे बोले—"कोई मूर्ति यदि चमत्कारी है तो भले ही खण्डित हो वह पूज्य मानी जाती है। उसी प्रकार से कोई मुनि भी यदि कदाचित् व्रतों में कुछ अतीचार आदि लगा देता है तो भी यदि वह प्रभावशाली है—उपदेशक है, जनता को उनसे विशेष लाभ मिल रहा है तो वह साधु भी मनोज्ञ है, पूज्य है। आप नवलखा प्रतिमा को पूजते हैं या नहीं?"

इत्यादि उपदेश को सुनकर मन प्रसन्न हो गया। एक दिन आचार्य महाराज ने बताया कि—

"मैं अस्वस्थ रहता था तब मैंने प्रति क्षण मंत्रों का सहारा लिया। मन-मन मैं हर वक्त मंत्र जपता रहता। ॐ सिद्धोऽहं, सिद्धाय नमः, परमहंसाय नमः, चिच्चैतन्यज्योतिः स्वरूपाय नमः, ॐ परम

ज्योतिःस्वरूपाय नमः" आदि कुछ भी मंत्र जपते रहना ऐसी ही मैंने अपनी चर्या बना ली। इसी से मुझे स्वास्थ्य लाभ हुआ है।"

आचार्य पायसागर जी के हृदय में आचार्यदेव चारित्रचक्रवर्ती शान्तिसागर जी के प्रति अकाट्य भक्ति थी। जब श्रावक उनकी पूजा करने बैठे। उन्होंने कहा—

"मेरे आचार्य देव गुरु महाराज की पूजा करो मैं भी सुनूँगा।"

ये पायसागर जी महाराज आचार्य देशभूषण जी के गुरु के गुरु थे अर्थात् आचार्य जयकीर्ति महाराज जी ने इनसे दीक्षा ली थी और देशभूषण जी महाराज ने आचार्य जयकीर्ति महाराज जी से दीक्षा ली थी। क्षुल्लिका विशालमती जी इन्हीं पायसागर महाराज जी की शिष्या थीं।

£ १२ ¤

चारित्रचक्रवर्ती आचार्य देव बारामती में विराजमान थे। वहाँ से कुंथलगिरि विहार करने वाले थे। यह निर्णय हो चुका कि—

"आचार्य महाराज अब कुंथलगिरि में यमसल्लेखना लेने वाले हैं, अतः यह उनका अंतिम विहार है।"

इस प्रसंग पर मैं भी क्षुल्लिका विशालमती माताजी के साथ यहाँ आ गई थी। क्षुल्लिका अजितमती अम्मा और क्षुल्लिका जिनमती अम्मा ये दोनों ही यहाँ थीं। आचार्यश्री का दर्शन कर मन गद्‌गद हो गया। आचार्यश्री ने उत्तरी अम्मा या अयोध्या की अम्मा कहकर संबोधा। उनके शब्द अमृत के समान मधुर और प्रिय लगते थे। उनके सामने बैठे हुए भक्तगण चातक पक्षी के समान आचार्यश्री के मुखकमल की ओर एकटक निहारा करते थे। मध्य में कदाचित् आचार्यश्री के मुखारविंद से कुछ भी शब्द निकलते, सुनकर सभी भावविभोर हो जाते थे।

मेरे भाव आर्यिका दीक्षा लेने के हो रहे थे, अतः मैंने क्षुल्लिका विशालमती जी से कई बार कहा था कि मुझे आचार्यश्री से आर्यिका दीक्षा दिला दो। परन्तु वे कहती थीं—"अम्मा! अभी कुछ दिन ठहरो, हम और आप दोनों एक साथ आर्यिका दीक्षा लेवेंगी।"

"एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने स्वप्न में निर्धूम अग्नि जलते हुए देखा था, तथा सामायिक में मेरे भाव बहुत ही तीव्रता से आर्यिका दीक्षा लेने के हो रहे थे।"

मैंने प्रातः विशालमती जी से अपने भाव भी सुनाये और पिछली रात्रि का स्वप्न भी सुनाया। तब उन्होंने कहा—

"अम्मा! तुम्हें सच्चा वैराग्य है। अब मैं तुम्हें दीक्षा में बढ़ने से नहीं रोकूँगी। चलो, बारामती में आचार्यश्री से प्रार्थना करना, वहीं पर तुम्हें दीक्षा दिला दूंगी।"

अतः इस अवसर पर मैंने आचार्यश्री से प्रार्थना की और कहा—"हे गुरुदेव! हमें संसार समुद्र से पार होने के लिए आर्यिका दीक्षा प्रदान कीजिये।"

आचार्य श्री ने बहुत ही कोमल शब्दों में कहा—" अब मैंने दीक्षा नहीं देने का नियम ले लिया है। अतः तुम मेरे शिष्य नेमिसागर या वर्धमान सागर के पास दीक्षा ले लो। मैं सूचना भिजवा दूँगा अथवा तुम्हें तुम्हारे शरीर, स्वास्थ्य और भाषा आदि के अनुकूल उत्तर प्रान्त ठीक रहेगा वहाँ वीरसागर जी महाराज हैं, उनके संघ में वयोवृद्ध आर्यिकायें भी हैं। तुम उसी संघ में जाकर दीक्षा लेओ तो अच्छा रहेगा, क्योंकि इधर इस समय कोई आर्यिकायें नहीं हैं।"

आचार्य श्री की मृदुमय वाणी सुनकर यद्यपि मेरे भाव अति उग्र थे कि "अभी-अभी दीक्षा ले लूँ।" फिर

भी शांति रखनी पड़ी और यही सोचा कि इस वर्ष का चातुर्मास इसी प्रांत में करके आचार्यदेव की सल्लेखना देख लूँ पुनः चातुर्मास के बाद दीक्षा लूँगी।

एक दिन आचार्य देव ने रेल-मोटर पर बैठने वाले क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के प्रति अनादर भाव व्यक्त किये। तब विशालमती जी ने कहा—

"महाराज जी! यह क्षुल्लिका वीरमती तो रेल-मोटर में कतई नहीं बैठना चाहती थी परन्तु इसके गुरु आचार्य देशभूषण जी २०-२० मील पैदल चलते हैं। उन्होंने जबर्दस्ती इसे बैठने का आदेश दिया है।"

उसी समय मैंने आचार्यश्री के सानिध्य में यह नियम कर लिया कि—"इस चातुर्मास के बाद बाहुबली की यात्रा करके जिनसे दीक्षा लेनी है उनके पास पहुँचने तक ही मैं रेल-मोटर में बैठूंगी। उन गुरु के पास पहुँचकर यावज्जीवन मैं रेल-मोटर में बैठने का त्याग करती हूँ।"

मेरे इस त्याग से भी आचार्य देव बहुत ही प्रसन्न हुए और मुझे बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर कहा—

"यह निकट भव्य है। इसके परिणाम बहुत ही कोमल हैं।"

इतना कहकर आचार्यश्री ने हमें बहुत सी शिक्षायें दीं।

वहाँ विहार के समय जिनेंद्र देव का रथ निकाला गया था। उस रथ को चमेली और जूही के फूलों से इतना सुन्दर सजाया गया था कि जो देखते ही बनता था। उस पर छोटी-छोटी दो कन्यायें हाथ में चँवर लेकर खड़ी थीं। वे भी फूलों से ही सजी हुई थीं। भक्तों की भीड़ बेशुमार थी। आसपास गाँव के सभी स्त्री-पुरुष आचार्यश्री के अंतिम विहार को देखने के लिए उपस्थित हो गये थे। सेठ चंदूलाल जी सर्राफ उस समय बारामती के प्रसिद्ध मुनि-भक्त व्यक्ति थे।

आचार्यदेव ने मंगल आशीर्वाद देकर अपना अंतिम विहार कर दिया। वे भगवान् के रथ के साथ-साथ चल रहे थे। यह भव्य जुलूस सेठ चंदूलाल के बगीचे में पहुँचा और वहाँ सभा के रूप में परिणत हो गया। भक्तों ने आचार्यश्री के चरणों की रज अपने-अपने मस्तक पर चढ़ाई और हर्ष-विषाद से मिश्रित भावों को लिए हुए वापस अपने-अपने स्थान चले गये। उस समय आचार्यश्री के मंगल विहार के समय प्रायः सभी की आँखें सजल थीं चूँकि लोगों को यह विदित था कि अब आचार्यश्री कुंथलगिरि पहुँचकर पुनः इस पर्याय में विहार नहीं करेंगे।

हम दोनों क्षुल्लिकाओं ने सन् १९५५ में म्हसवड़ गाँव में चातुर्मास कर लिया। वहाँ चातुर्मास स्थापना के समय विशालमती जी ने सूचना कर दी थी कि—

"आचार्यश्री की सल्लेखना देखने के लिए हम दोनों कुंथलगिरि जावेंगी।"

वहाँ का चातुर्मास बहुत ही अच्छा चल रहा था, मैं प्रतिदिन कुछ बालिकाओं को कातन्त्र व्याकरण, द्रव्यसंग्रह आदि पढ़ा रही थी और विशालमती माताजी प्रतिदिन मध्याह्न में उपदेश करती थीं।

मेरी दीक्षा की उत्कट भावना देखकर एक दिन विशालमती जी ने कहा—

"अम्मा! तुम कटोरी में आहार लेती हो उसे छोड़कर करपात्र में आहार लेना शुरू कर दो, दुपट्टा भी तुम्हारे नाम मात्र को है केवल बाहर जाते समय ऊपर डाल लेती हो सो इसे भी छोड़ दो। अपने को आर्यिका रूप में ही समझो। तुम्हारे परिणाम बहुत ही उज्ज्वल हैं।"

मैंने उनकी आज्ञा से ऐसा ही किया तब कभी-कभी वे मुझे पहले वंदना करने लगतीं किन्तु मैं वैसा करने से उन्हें रोक देती थी। एक बार मैंने सुना—"मेरे पास एक प्रभावती लड़की पढ़ने आती है वह विवाह नहीं करना चाहती।।"

मैंने उससे एकांत में पूछा तब उसने इतना ही कहा कि—"मैं स्वतंत्र रहना चाहती हूँ इसलिए विवाह

नहीं करना चाहती।" बाकी उद्देश्य वह कुछ नहीं बता सकी। उसी गाँव में सेठ केवलचन्द्र शाह की पुत्री कंकुबाई ने भी पूर्व में ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था तथा वह आयुर्वेद पढ़ रही थी। उनका भी कोई दृष्टिकोण दीक्षा आदि का नहीं था। इस प्रान्त में ऐसी एक-दो कन्यायें और भी थीं। मैंने कु. प्रभावती को यह शिक्षा देना शुरू किया कि—

"यदि तुम्हें गृहस्थाश्रम में नहीं फँसना है तो मेरे साथ चलो, पढ़-लिखकर आत्म कल्याण का मार्ग ग्रहण करो।"

धीरे-धीरे मेरी शिक्षा से वह प्रभावित होती गई।

उस वर्ष भाद्रपद दो थे। प्रथम भाद्रपद में एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने स्वप्न में देखा कि— "मानस्तंभ के ऊपर का भाग गिर गया है।"

मैंने नित्य क्रिया से निवृत्त होकर प्रातः विशालमती माताजी को यह स्वप्न सुनाया, तब उन्होंने कहा कि—"मुझे भी ऐसा स्वप्न हुआ है कि सूर्य डूबता जा रहा है।" हम दोनों ने परस्पर में विचार किया—

"आज अवश्य ही किसी महापुरुष के प्रयाण के बारे में कुछ समाचार आयेगा।"

दिन में समाचार मिला कि—'आचार्यश्री ने कुंथलगिरि में यमसल्लेखना ग्रहण कर ली है।' हम दोनों ने श्रावकों से परामर्श कर वहाँ जाने का निर्णय लिया। "प्रभावती ने चिंतित होकर कहा—"अम्मा! मेरा क्या होगा?"

विशालमती जी से परामर्श कर मैंने उसे सान्त्वना दी और कहा—"तुम चिंता मत करो। कुंथलगिरि आचार्यश्री के दर्शन करने आना तब वहीं पर तुम्हें दो प्रतिमा के व्रत दिला दूँगी। अनंतर तो हम दोनों वापस यहीं आकर चातुर्मास समापन करेंगे, तब तुम्हें अपने साथ ले चलेंगे।"

हमारे साथ वहाँ की व्रतिक महिला फूलूबाई आ गई थीं और सौ. सोनूबाई भी आ गई थीं। यह सोनूबाई सेठ लालचन्द्र जी की धर्मपत्नी थीं। उनके तीन पुत्र व एक पुत्री थी। बड़े पुत्र गुलाबचन्द्र का विवाह हो चुका था। उसके एक पुत्र भी था। शेष अविवाहित थे। पुत्री स्नेहलता विवाह नहीं करना चाहती थी। वह सोलापुर श्राविका आश्रम में पढ़ रही थी।

£ १३ ¤

यहाँ कुंथलगिरि में क्षुल्लिका अजितमती अम्मा, जिनमती अम्मा थीं। उन्हीं के कमरे में हम दोनों ठहर गयीं। वहाँ प्रतिदिन एक लाख स्त्री-पुरुष आते थे और प्रायः इतने ही दर्शन कर चले जाते थे। भीड़ का पार नहीं था। व्यवस्थापक लोग परेशान थे। वर्षा चालू थी। लोग छतरी खोलकर उसके नीचे भी खाना बनाकर खाते थे।

हमने सल्लेखनारत आचार्यश्री के दर्शन किये। मन प्रसन्न था, अतः इतनी भयंकर भीड़ और ठहरने की समुचित व्यवस्था न होते हुए भी वहाँ से जाने की इच्छा नहीं हुई। सल्लेखना होने तक वहीं ठहरने का निर्णय बना लिया।

प्रतिदिन प्रातः और मध्याह्न कुंथलगिरि के पर्वत पर चढ़ जाती थी, वहाँ पर आचार्यश्री के दर्शन कर किसी भी मंदिर में बैठकर धर्माराधना किया करती थी और आगत भक्तों की भीड़ देखा करती थी। वहाँ प्रातः काल पहले पंचामृत अभिषेक के लिए बोली होती थी। जो भक्त बोली लेते थे वे सपत्नीक सपरिवार वहीं पर्वत पर मंदिर में विराजमान भगवान् देशभूषण जी की ४-५ फुट ऊँची मनोज्ञ प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करते थे। आचार्यश्री वहीं वेदी में बैठकर अभिषेक देखते थे। वहाँ पर एक दिगम्बर मुनि पिहितास्रव नाम के आये हुए थे। आठ-दस क्षुल्लक थे। शायद हम सब ग्यारह-बारह क्षुल्लिकाएँ थीं। कोल्हापुर के भट्टारक

लक्ष्मीसेन जी आदि कई एक भट्टारक थे। सभी साधु-साध्वी मंदिर में ही बैठ जाते थे। अभिषेक के समय आचार्यश्री की भक्ति-भावना देखते ही बनती थी। उस समय वहाँ पर गन्ने के रस की जगह गुड़ का रस बनाया जाता था, जो कि बड़े घड़े भर रहता था। दूध भी घड़ों में भरा रहता था। एक वृद्धा चन्दन घिसने बैठ जाती थी। वह एक बड़े से चाँदी के कटोरे को गाढ़े-गाढ़े चन्दन से घिस कर भर देती थी। काश्मीरी केशर के घिसे चन्दन का रंग इतना बढ़िया दिखता था कि जब वह भगवान की प्रतिमाओं के सर्वाङ्ग में लेपन कर दिया जाता था, तब आचार्य महाराज बहुत ही प्रसन्न होकर गद्‌गद भावों से भगवान् को निहारने लगते थे। उनके अभिषेक देखने का प्रेम आज भी मुझे याद आ जाया करता है।

एक दिन आचार्यश्री ने पर्वत पर भी मात्र गरम जल लिया था। तब हम लोगों ने उनका यह अंतिम जल का आहार देखा था। उसके बाद आचार्यश्री ने जल का भी त्याग कर दिया था।

एक दिन आचार्यश्री वहीं मंदिर में अपने प्रिय शिष्य ब्रह्मचारी भरमप्पा को क्षुल्लक दीक्षा दिला रहे थे। तब उन्होंने उनके सारे संस्कार अपने एक क्षुल्लक सुमतिसागर जी से कराये थे तथा स्वयं ग्यारह प्रतिमा के व्रत दे दिये थे और उनका नाम सिद्धसागर रख दिया था। ये ब्रह्मचारी आचार्यश्री की खूब सेवा करते थे। तब महाराजजी कहा करते थे—

"बाबा! तू भीम के समान महान् शक्तिशाली होगा। तूने अपने जीवन में खूब गुरुसेवा की है।"

ये ब्रह्मचारी जी बिल्कुल ही अक्षरज्ञान से शून्य थे। बाद में इन्होंने अक्षर-ज्ञान सीखकर स्वाध्याय करना शुरू कर दिया था। ये हमें सन् १९६३ में कलकत्ता में मिले थे। उस समय ऐलक थे।

एक दिन संघपति गेंदनमल जी, चन्दूलाल जी सर्राफ, भट्टारक लक्ष्मीसेन जी, ब्रह्मचारी सूरजमल जी आदि सभी से परामर्श के बाद आचार्यश्री ने अपना आचार्यपट्ट अपने प्रथम शिष्य वीरसागर जी महाराज के लिए देना घोषित कर दिया, तभी गेंदनमल जी से पत्र लिखवाकर ब्र. सूरजमल को दे दिया और कुंथलगिरि में भी यह घोषणा कर दी गई कि—

"आज से आचार्यश्री की आज्ञानुसार सभी मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका मुनि श्री वीरसागर जी महाराज को ही अपना आचार्य स्वीकार करें।" पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है— आचार्य श्री द्वारा लिखाया गया समाज को पत्र—

कुंथलगिरि ता. २४-८-५५

स्वस्ति श्री सकल दिगम्बर जैन पंचायत जयपुर धर्मस्नेहपूर्वक जुहारू। अपरंच आज प्रभात में चारित्र चक्रवर्ती १०८ परम पूज्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने सहस्रों नर-नारियों के बीच श्री १०८ मुनिराज वीरसागर जी महाराज को आचार्यपद प्रदान करने की घोषणा कर दी है। अतः उस आचार्य पद प्रदान करने की नकल साथ भेज रहे हैं। उसे चतुर्विध संघ को एकत्रित कर सुना देना। विशेष-आचार्य महाराज ने यह भी आज्ञा दी है कि आज से धार्मिक समाज को इन्हें (श्री वीरसागर जी महाराज को) आचार्य मानकर इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।

लि. गेंदनमल बम्बई

लि. चन्दूलाल ज्योतिचन्द बारामती

आचार्य पद प्रदान का समारोह दिवस भाद्रपद कृष्णा सप्तमी गुरुवार निश्चय किया गया था। विशाल प्रांगण में सहस्रों नर-नारियों के बीच श्री वीरसागर जी मुनिराज को गुरुदेव द्वारा दिया गया आचार्य पद प्रदान किया गया था। उस समय पंडित इन्द्रलाल जी शास्त्री ने गुरुदेव द्वारा भिजवाये गये आचार्य पद प्रदान पत्र को सभा में पढ़कर सुनाया, जो निम्न प्रकार है—

कुंथलगिरि ता. २४-८-१९५५

स्वस्ति श्री चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार यह आचार्यपद प्रदान पत्र लिखा जाता है।

"हमने प्रथम भाद्रपद कृष्ण ११ रविवार ता. २४-८-५५ से सल्लेखना व्रत लिया है। अतः दिगम्बर जैनधर्म और श्री कुन्दकुन्दाचार्य परंपरागत दिगम्बर जैन आम्नाय के निर्दोष एवं अखण्डरीत्या संरक्षण तथा संवर्धन के लिए हम आचार्य पद प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य श्री वीरसागर जी मुनिराज को आशीर्वादपूर्वक आज प्रथम भाद्रपद शुक्ला सप्तमी विक्रम संवत् दो हजार बारह बुधवार के दिन त्रियोग शुद्धिपूर्वक संतोष से प्रदान करते हैं।

आचार्य महाराज ने पूज्य श्री वीरसागर जी महाराज के लिए इस प्रकार आदेश दिया है।

इस पद को ग्रहण करके तुमको दिगम्बर जैनधर्म तथा चतुर्विध संघ का आगमानुसार संरक्षण तथा संवर्धन करना चाहिए। ऐसी आचार्य महाराज की आज्ञा है।

आचार्य महाराज ने आपको शुभाशीर्वाद कहा है।

इति वर्धताम् जिनशासनम्

लिखी—गेंदनमल बम्बई—त्रिबार नमोस्तु

लिखी—चंदूलाल ज्योतिचन्द बारामती—त्रिबार नमोस्तु

उपर्युक्त आचार्य पद प्रदान पत्र पढ़ने के बाद श्री शिवसागर मुनिराज ने उठकर पूज्य श्री आचार्य शांतिसागर महाराज जी द्वारा भेजे गये पिच्छी एवं कमंडलु को पूज्य वीरसागर जी मुनिराज के कर कमलों में प्रदान किया। सर्वत्र सभा में आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की जय-जयकार गूँज उठी।

इसके पूर्व श्री वीरसागर जी ने कभी भी अपने को आचार्य शब्द से संबोधित नहीं करने दिया था।

सन् १९५५, १८ सितम्बर द्वितीय भादों सुदी रविवार प्रातः ६ बजकर ४० मिनट पर आचार्य श्री ने "ॐ सिद्धाय नमः" मंत्र का उच्चारण करते हुए इस नश्वर शरीर को छोड़ दिया।

उसके पूर्व उन्होंने उस कुटी के अंदर ही भगवान् की प्रतिमा का अभिषेक देखा था और प्रतिमाजी के चरण स्पर्श कर अपने मस्तक पर लगाये थे।

ऐसा अन्दर रहने वालों ने बताया था। उस समय मैं और विशालमती जी दोनों ही वहाँ उस कुटी के दरवाजे में कान लगाकर खड़ी हो गई थीं और आचार्यश्री के मुख से मंत्रोच्चारण सुन रही थीं। इसके बाद कुछ देर तक कुटी के अन्दर और बाहर भी णमोकार मंत्र की ध्वनि चलती रही थी। एक घण्टे बाद आचार्यश्री के पार्थिव शरीर को लाकर बाहर एक ऊँचे मंच पर विराजमान कर दिया गया।

पद्मासन मुद्रा में विराजमान वह शरीर ऐसा लगता था मानो अभी सजीव ही आचार्यश्री ध्यान में मग्न हैं। हम सभी साधु-साध्वी ने मिलकर सिद्ध, श्रुत, योग और आचार्य भक्ति पढ़कर उस शरीर की वंदना की। पुनः उस शरीर को पालकी में विराजमान किया गया और पर्वत के नीचे लाकर जुलूस यात्रा निकाली गई। तत्पश्चात् मध्याह्न में पर्वत पर ही एक स्थान पर भट्टारक लक्ष्मीसेन जी ने निषद्यास्थान बना रखा था। वहाँ लाकर आचार्यश्री के पंचामृत अभिषेक के लिए बोली हुई जिसे सोलापुर की महिला ने लिया। उन्होंने सपरिवार आचार्यश्री के पीठ का विधिवत् अभिषेक किया। अनंतर हजारों नारियल, गोले, चंदन और घी डालकर इस पौद्गलिक शरीर को भस्मसात् कर दिया गया।

इस शरीर को स्थापित करने पर भी वहाँ सर्पराज आया था और चिता के जलते समय भी आकर भीड़ के छट जाने पर चिता की प्रदक्षिणा देकर चला गया था।

मुनि के प्राण निकल जाने के बाद भी उस पार्थिव शरीर को पूज्य माना है और उसे भक्तियाँ पढ़कर

वंदना करने के विधान आचारसार, मूलाचार, अनगारधर्मामृत[१] आदि ग्रन्थों में हैं। धवला ग्रन्थ में भी इस अचेतन शरीर को द्रव्य मंगल[२] कहा गया है।

अनन्तर यहाँ पर श्रद्धांजलि सभा का आयोजन हुआ। प्रमुख साधु-साध्वी और विद्वानों, श्रावकों ने शोकपूर्ण हृदय से आचार्यश्री के प्रति अपनी-अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। बाद में हम दोनों क्षुल्लिकाएं आचार्यश्री के अनवधि गुणों का अपने हृदय में चिंतवन करती हुईं कुंथलगिरि से वापस म्हसवड़ आ गयीं।

वैराग्य भावना से ओत-प्रोत होकर मैंने चातुर्मास में चावल के सिवाय बाकी अन्न का त्याग कर दिया और यह बात विशालमती अम्मा से कह दी। मैं आहार में अन्न में केवल चावल का मांडिया ले लेती थी और राजगिरा (रामदाना) की रोटी आदि लेती थी। वहाँ, म्हसवड़ में पूर्ववत् अध्यापन में मेरा समय व्यतीत हो रहा था। क्षुल्लिका विशालमती जी से परामर्श कर यह निर्णय कर लिया था कि—"चातुर्मास के बाद आचार्यश्री वीरसागर जी के दर्शन करके उन्हीं से आर्यिका दीक्षा ले लेना।"

इसी मध्य विशालमती जी कहा करती थीं कि—'इधर दक्षिण में भगवान् बाहुबली की प्रतिमा का दर्शन करके ही दीक्षा लेओ, पता नहीं पदयात्रा से दर्शन हो सकें या नहीं।

कु. प्रभावती के बढ़ते भाव देखकर विशालमती जी ने कहा—"यदि तुम्हें सच्चा वैराग्य है तो अपने घर में केशों को काटकर सफेद साड़ी पहनकर भगवान् की शरण में आकर बैठ जाओ।" चूंकि घर में उसकी नानी और मामी थीं। भाई शांतिलाल पूना रहता था। माता-पिता तो बचपन में ही स्वर्गस्थ हो चुके थे।

वह प्रभावती दीपावली की पूर्व रात्रि में अर्थात् चतुर्दशी की पिछली रात्रि में अपने केशों को काटकर, स्नान करके, सफेद साड़ी पहनकर आकर वहीं मंदिर जी में नीचे तलघर में जिन प्रतिमा के सम्मुख बैठ गई। प्रातः उसकी वृद्धा नानी ने यह दृश्य देखकर हंगामा मचाना शुरू कर दिया। बाद में प्रभावती के स्वयं वैसा करने से वे शान्त हो गईं। शाम को आकर क्षुल्लिका विशालमती जी से तथा मुझसे बोलीं—

"अब यह कन्या आपकी गोद में है। इसको संभालो, उचित शिक्षा देकर उचित मार्ग में लगाओ।"

तब विशालमती ने कहा—"अम्मा! इसे आपके पास ही रहना है और आप से ही पढ़ना है, अतः इसे आप ही दशवीं प्रतिमा के व्रत देओ।"

मैंने बहुत कुछ कहा कि—"आप बड़ी हैं आप ही व्रत देवें।"

किन्तु उनकी विशेष प्रेरणा से मैंने कु. प्रभावती को दशवीं प्रतिमा के व्रत दे दिये। इसी समय सौ. सोनूबाई जो कि चातुर्मास में रात्रि में मेरे ही पास रहती थीं, उन्होंने अपने पति की आज्ञा लेकर छठी प्रतिमा के व्रत ले लिए। विशालमती जी की आज्ञा से इन्हें भी मैंने ही व्रत दिया था।

उसी दिन चतुर्दशी की पिछली रात्रि में मैंने वर्षायोग पूर्ण कर लिया था अतः आष्टान्हिका के बाद वहाँ से निकलकर मुंबई आ गई। अकलूज के मियाचन्द फड़कुले ने बहुत ही आग्रह किया था कि—"अम्मा! एक

---

१. अथ पंचत्वप्राप्तऋष्यादीनां काये निषेधिकायां च क्रियाविशेषनिर्णयमार्यायुग्मेन विधत्ते।
वपुषि ऋषेः स्तौतु ऋषीन् निषेधिकायां च सिद्धशान्त्यन्तः।
सिद्धांतिनः श्रुतादीन् वृत्तादीनुतरव्रतिनः।।७२।।
द्वियुजः श्रुतवृत्तादीन् गणिनोऽन्तगुरून् श्रुतादिकानपि तान्।
समयविदोऽपि यमादींस्तनुक्लिशो द्वयमुखानपि द्वियुजः।।७३।। (अनगारधर्मामृत, अध्याय ९)

२. नोआगम मंगलद्रव्य तीन प्रकार का है। ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त।

ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यमंगल के भी तीन भेद हैं'—भाविशरीर,वर्तमान शरीर और अतीतशरीर। अतीत शरीर के भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। त्यक्त शरीर के भी तीन भेद हैं—प्रायोपगमन संन्यासविधि से छोड़ा गया शरीर, इंगिनीमरण संन्यास विधि से छोड़ा गया शरीर और भक्तप्रत्याख्यान संन्यास विधिसे छोड़ा गया शरीर। अभिप्राय यह है कि यहाँ समाधिमरण से छोड़ा गया मुनि का शरीर नोआगमद्रव्यमंगल में लिया गया है। (धवला पुस्तक १, पृ. २२ से २४ तक)

महीना ठहरो, मैं कुछ विशेष कार्यों में व्यस्त हूँ पुनः तुम्हें श्रवणबेलगोल की यात्रा करा दूँगा।"

किन्तु मुझे चातुर्मास के बाद एक-एक दिन भारी मालूम हो रहा था अतः मैंने जल्दबाजी में उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। क्षुल्लिका विशालमती जी को छोड़ते समय मेरे अन्तःकरण में दुःख अवश्य हुआ क्योंकि इतनी छोटी उम्र में इन्होंने मुझे बहुत ही वात्सल्य दिया था। उनकी आज्ञा से मैं बम्बई आई। पूज्य परम तपस्वी मुनि श्री नेमिसागर जी महाराज के दर्शन किये और वहाँ से जयपुर आ गई। मेरे साथ ही सोनूबाई और कु. प्रभावती भी थीं। जयपुर में आकर आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के दर्शन किये और उनसे आचार्यश्री शांतिसागर जी की आज्ञा का समाचार सुना दिया पुनः आर्यिका दीक्षा की याचना की। आचार्यश्री ने कहा—

"अभी ठहरो, संघ में रहो, सबके स्वभाव का अनुभव करो और सभी साधु-साध्वी तुम्हारे स्वभाव को, तुम्हारी चर्या को देखें, अनुभव करें, अनंतर दीक्षा भी हो जायेगी।

इतना सुनकर मैं वहीं आर्यिकाओं के साथ उनके निवास पर पाटोदी मंदिर में एक कमरे में ठहर गई।

£ १४ ¤

दूसरे दिन संघ की एक वृद्धा आर्यिका ने पूछा—

"वीरमती! तुम प्रतिक्रमण करती हो?"

मैंने कहा—"हाँ माताजी! दोनों समय करती हूँ।" उस समय संघ में प्रातःकाल ही प्रतिक्रमण की पद्धति थी, सायंकाल में नहीं होता था।

उन्होंने कहा-"प्रातःकाल ७ बजे मेरे पास प्रतिक्रमण बोलना" मैंने प्रातःकाल उन्हीं के पास विधिवत् पूरा प्रतिक्रमण पढ़कर सुना दिया। वे सारा प्रतिक्रमण पाठ मुझे कंठाग्र हुआ देखकर बहुत ही प्रसन्न हुईं और आश्चर्य करने लगीं पुनः तीन दिन बाद आचार्य महाराज जी ने उनसे पूछा—

"इस क्षुल्लिका वीरमती की चर्या कैसी है? संघ के अनुकूल है या नहीं?"

उन माताजी ने कहा—"महाराज जी! इसका ज्ञान बहुत अच्छा है। प्रतिक्रमण पाठ, सारी भक्तियाँ सब कंठाग्र याद हैं। उच्चारण बहुत शुद्ध है। विनय भी अच्छा करती है। परन्तु.....।"

आचार्यश्री ने पूछा-"परन्तु क्या?"

माताजी ने कहा-"इसने अपने मन से ही क्षुल्लिका का चिन्ह ऐसा दुपट्टा छोड़ दिया है, आर्यिकाओं के समान करपात्र में आहार करती है तथा चावल के सिवाय सभी अन्न का त्याग कर रखा है। इसकी ये मनचाही-स्वच्छंद प्रवृत्तियाँ ठीक नहीं हैं।"

मैं पास ही बैठी थी, एकदम सहम गई और मन में सोचने लगी—"भगवन्! यह क्या? यहाँ तो अच्छे को भी बुरा कहा जा रहा है।"

इतने में आचार्यश्री बहुत ही वात्सल्यपूर्ण शब्दों में बोले—

"बाई ! क्षुल्लिका को कटोरे में या थाली में ही आहार लेना चाहिए तथा उत्तरीय वस्त्र अवश्य होना चाहिए।

मैंने हाथ जोड़कर विनम्रता से निवेदन किया—

"महाराज जी! कुछ दिनों पूर्व मैंने क्षुल्लिका विशालमती माताजी से बार-बार आर्यिका दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की थी। उनकी आज्ञा से चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री के पास प्रार्थना की। आचार्यश्री ने कहा—तुम नेमिसागर, वर्धमानसागर या वीरसागर जी के पास में दीक्षा ले लो अब मैं दीक्षा नहीं देता हूँ। उसके अनंतर मैं उनकी सल्लेखना देखने के लिए उधर ही रह गई। मेरे भावों की अति उत्कटता देखकर मुझे विशालमती

अम्मा ने कहा—"तुम करपात्र में आहार लेओ, चूँकि वसुनंदि-श्रावकाचार और चारित्रसार में क्षुल्लक के लिए भी करपात्र में आहार का विधान आया है अतः मैंने अपने गुरु देशभूषण जी महाराज के द्वारा दी गई कटोरी को त्याग दिया और हाथ में ही आहार लेने लगी। उन्हीं के कहने से मैंने दुपट्टा भी छोड़ दिया है।"

इतना सुनकर पास में बैठी एक-दो आर्यिकाएँ हँसने लगीं परन्तु आचार्यश्री ने गंभीर मुद्रा में कहा—"तुम्हें वापस कटोरी भी लेना होगा और उत्तरीय वस्त्र भी, तभी आर्यिका दीक्षा मिलेगी।"

इतना कहकर महाराज जी चुप हो गये, चूँकि वे बहुत ही कम बोलते थे पुनः आर्यिकायें बोल पड़ीं—

"महाराज जी! इन्होंने अन्न छोड़ रक्खा है सो यह त्याग संघ में नहीं निभ सकता है।"

आचार्यश्री ने पूछा-"बाई! तुमने अन्न क्यों त्यागा है?" मैंने इस बारे में भी बतला दिया कि—

"कुंथलगिरि में आचार्यदेव की सल्लेखना के बाद त्याग भावना से प्रेरित हो मैंने अन्न त्याग दिया है।"

आचार्यश्री ने पूछा—"कितने दिन के लिए?"

मैंने सहसा हड़बड़ा कर कह दिया—"दो वर्ष तक के लिए।"

आचार्य महाराज कुछ गुस्सा होकर बोले—"यह त्याग बहुत गलत है। इतने बड़े संघ में श्रावकों के यहाँ तुम्हें फल, दूध आदि भरपेट कैसे मिल सकता है? प्रतिदिन अल्प आहार करके शरीर और संयम की रक्षा कैसे हो सकती है? मैं साधुओं के अन्न त्याग के बारे में पसंद नहीं करता हूँ। श्रावक उनके लिए अलग से खटपट करें। देखो, गेहूँ और दूध साधुओं को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। यह प्रत्येक श्रावकों के घर में सुलभ है। तुम्हें यह मनचाहा त्याग खत्म कर अन्न लेना चाहिए।"

मैं चुप रही, कुछ देर बाद वहाँ से वापस अपने स्थान पर आ गई। अब संघ में प्रायः यत्र-तत्र मेरी चर्चा चलने लगी। संघ के ब्रह्मचारी सूरजमल जी ने आकर मुझे समझाना शुरू किया—

"माताजी! अभी आपकी उम्र बहुत छोटी है। आचार्य महाराज जो कुछ कहते हैं, उनकी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करो तभी तुम्हें संघ में आर्यिका दीक्षा मिलेगी।.....गुरु की आज्ञा से मन से किये गये त्याग को छोड़ने में तुम्हें क्या दोष है? उसके जिम्मेवार तो गुरु ही हैं। यदि गुरु कहें अग्नि में कूद पड़ो तो कूद पड़ना चाहिए। इसी का नाम गुरुभक्ति है।"

इत्यादि प्रकार से ब्रह्मचारी जी ने समझाया, किन्तु उस समय ये सब कुछ मेरे गले नहीं उतरा। वहीं जयपुर में एक मंदिर में वज्रकीर्ति मुनिराज अपने संघ सहित ठहरे हुए थे। वे गिरनार की यात्रा करने जाने वाले थे। मैं उनके दर्शन करने गई थी। उन्होंने कहा—

"माताजी! तुम मेरे साथ गिरनार यात्रा चलो, मैं तुम्हें आर्यिका दीक्षा देऊँगा।"

मैंने महाराज जी की सारी चर्या बारीकी से देखी। वे श्रावकों के लिए यज्ञोपवीत लेने के बारे में पक्षपाती नहीं थे। यह बात मुझे खटक गई। मैंने यह कुछ कहा नहीं, मात्र इतना ही कहकर वापस आ गई कि-"महाराज जी! मैं विचार करूँगी।"

अब इस संघ में मैं लिये गये नियम को छोड़ने के विषय में बहुत ही ऊहापोह में पड़ गई।

एक आर्यिका ने कहा—"महाराज जी! इनके पास कु. प्रभावती और सौ. सोनूबाई ये दो शिष्यायें हैं जिनको ये पढ़ाती हैं। वे इन्हीं के पास रहती हैं। यह गलत है इन्हें अपनी दोनों शिष्याओं को संघ में बड़ी माताजी आर्यिका वीरमती जी के पास छोड़ देना चाहिए।"

दूसरी आर्यिका ने कहा—"इन्होंने ही कु. प्रभावती को दस प्रतिमा के व्रत दिये हैं। सो यह मान्य नहीं है। उसे वापस आचार्य महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत दिलाने चाहिए। उसे दस प्रतिमा से नीचे उतार देना चाहिए।"

इस बारे में संघ के ही कुछ साधु वर्ग पक्ष में नहीं थे कि प्रभावती को इनके द्वारा दिये गये व्रतों से नीचे उतार कर आचार्यश्री से पुनः सप्तम प्रतिमा दिलाई जाये।

इन सभी संघर्षों के बीच एक दिन मुझे सभी के बीच एक आर्यिका ने अपमानित भी कर दिया किन्तु उस प्रसंग पर एक मुनि, जो कि करुणाशील और प्रौढ़ थे, वेदी में जाकर रो पड़े और मुझसे बोले—

"माताजी! तुम्हारा धैर्य बहुत ही प्रशंसनीय है जो तुम्हारे अश्रु नहीं आये। इस प्रसंग पर यदि और कोई होता, वह या तो रो पड़ता या हल्ला-गुल्ला मचाने लगता किन्तु आप में सहनशीलता कमाल की है।"

मैंने कहा-"महाराज जी! मैंने जब घर छोड़ा तब कितने संघर्ष झेले हैं उनके आगे यह सब तो कुछ भी नहीं हैं। मुझे तो आर्यिका दीक्षा लेनी है, बस इतना ही लक्ष्य है। कोई क्या कहते हैं मुझे उस पर इतना विचार नहीं होता। हाँ, आचार्यश्री ने जो कटोरी और दुपट्टा वापस लेने को कहा है और अन्न भी लेने को कहा है। सो उसमें ही मुझे चिंता हो रही है, क्योंकि त्याग की हुई वस्तु लेना संभव नहीं है। मैं क्या करूँ? सो बुद्धि काम नहीं कर रही है।"

वैसे वे साधु भी इस पक्ष में नहीं थे कि त्याग किये हुए को ग्रहण कराया जाये, लेकिन वे कर क्या सकते थे? जयपुर के सेठ रामचन्द्र जी कोठारी पहले से ही मेरे परिचित थे तथा जब सन् १९५४ में मैंने आचार्यश्री देशभूषण जी के साथ जयपुर में चातुर्मास किया था तब से पंडित इन्द्रलाल जी शास्त्री निकटता से परिचय में थे अतःइस समय भी ये दोनों महानुभाव मेरे पास आते रहते थे और मैं इन्हीं से समयोचित बातचीत किया करती थी। इस मेरे त्याग की चर्चा में मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं पुनः कैसे ग्रहण कर लूँ! पंडित इन्द्रलाल जी ने भी अनेक उपायों से मेरे गले उतारने की कोशिश की और कहते रहे कि—

"माताजी! आपको इतने बड़े आचार्य महाराज के कहने पर कटोरी आदि लेने में कोई दोष नहीं है। जो कुछ भी हो आचार्य महाराज स्वयं सोचें, तुम्हें जो कहते हैं सो तुम करो।"

मेरे प्रति पं. इन्द्रलाल जी, रामचन्द्र जी आदि का सौहार्द भाव बहुत ही विशेष था अतः ये दोनों मेरे बारे में आचार्य महाराज जी से भी प्रार्थना किया करते थे कि—

"महाराज जी! इनकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण है। ये आगम के विषय में बहुत ही दृढ़ हैं। इनका चारित्र बहुत ही उज्ज्वल है। आप इन्हें दीक्षा अवश्य दीजिये। आपके संघ के लिए ये भूषण हैं, रत्न हैं।"

तब एक दिन आचार्यश्री ने कहा कि—"इनके गुरु देशभूषण जी की अनुमति आये बगैर मैं किसी के शिष्य को कैसे दीक्षा दे सकता हूँ?"

मैंने कहा—"महाराज जी! उन्होंने अनेक बार कहा था कि आचार्य वीरसागर जी के संघ में ही तुम आर्यिका दीक्षा लेओ, चूंकि वहाँ वयोवृद्ध आर्यिकायें भी हैं और संघ के साधु विहार भी हमारे समान २०-२० मील का नहीं करते हैं तथा 'गुरूणां गुरु' चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज जी के ही आदेश से इस समय मैं यहाँ आई हूँ.....।"

फिर भी महाराज जी की आज्ञा से मैंने अपने दीक्षागुरु आचार्य देशभूषण जी के पास आर्यिका दीक्षा की स्वीकृति के लिए पत्र डाल दिया तथा रामचन्द्र जी ने भी पत्र डाल दिया।

इसी मध्य एक आर्यिका ने कहा कि—

इनके साथ जो बाइयाँ हैं वे अच्छे घराने की हैं या नहीं? कौन जाने? किसके यहाँ से या कहाँ से इन्हें भगाकर ले आई हैं? इनका भी परिचय मालूम करना चाहिए, तभी ये संघ में रह सकती हैं। मैंने उसी समय सेठ रामचन्द्र जी से सोनूबाई के पति लालचन्द्र को और म्हसवड़ के प्रमुख सेठ केवलचन्द्र जी शाह को तथा कु. प्रभावती के भाई शांतिलाल को पत्र लिखा दिया। उन सभी के संतोषप्रद पत्र आ गये, तब आचार्य

महाराज और संघस्थ सभी साधु-साध्वी प्रसन्न हुए। इसके पूर्व भी आचार्यश्री ने इन किन्हीं बातों को महत्त्व नहीं दिया था। वे बराबर प्रारंभ से ही सौ. सोनूबाई से आहार ले रहे थे। उन्होंने मात्र तीन बातों में ही बंधन लगाया था। पुनरपि आचार्यश्री ने मुझे समझाया और कहा—

"बाई! देखो, तुमने अपने गुरु के द्वारा दी गई कटोरी का विशालमती जी के कहने से त्याग कर दिया है तो तुम पुनः कटोरी ग्रहण कर अपने पास मत रखो किन्तु श्रावक के घर में ही उन्हीं की कटोरी लेकर उसमें आहार करके उसे वहीं छोड़कर आ जाओ। दुपट्टा भी आहार के समय ही ले लो क्योंकि दुपट्टा बगैर आर्यिकाओं की समानता हो जाती है तथा तुमने चावल को तो खुला ही रखा है, उसका मांड लेती हो तो पुनः चावल लेने में कोई हानि नहीं है।"

इस पर महाराज जी ने एक उदाहरण भी सुनाया, वे बोले—

"एक बार एक सज्जन आये, वे बहुत ही धर्मात्मा, स्वाध्यायी विद्वान् थे। वे मुझसे सप्तम प्रतिमा लेना चाहते थे। दिवस निश्चित हो गया पुनः वे आकर बोले—महाराज जी! मैं प्रतिमा लेने के पूर्व आपसे एकांत में बात करना चाहता हूँ। मैं उनकी बात समझ गया कि वे क्या कहना चाहते हैं? मैंने पूछा—पंडित जी! यह बताओ कि आप हमें गुरु बनाना चाहते हैं या हमारे गुरु बनना चाहते हैं? पंडित जी समझ गये कि यहाँ कुछ शर्त नहीं चलेगी, अतः उन्होंने मुझसे व्रत नहीं लिया।

मुझे भी ऐसे शिष्यों का लोभ नहीं है। वे पंडित जी पंथवाद की शर्त के लिए आये थे कि मैं आपके आम्नाय से न चलकर अपने तेरापंथ आम्नाय के अनुसार ही चलूँगा, ऐसी ही उनकी मनोभावना थी जो कि अन्य शब्दों से स्पष्ट हो चुकी थी। इसलिए शिष्य वही है जो गुरू को समर्पित हो। इत्यादि।"

इतना सब सुनकर भी मैं चुप रही, पुनः मंदिर में आकर भगवान् के सामने बैठ गई और सोचने लगी—

"हे भगवन्! अब मैं क्या करूँ? इतने विशाल संघ के नायक आचार्यदेव को गुरू बनाने का लोभ भी नहीं छूट रहा है और उनका अनुशासन भी कठिन प्रतीत हो रहा है।...

सोचते-सोचते भगवान् की प्रतिमा को मैं एकटक निहार रही थी और मानों उनसे यह पूछ ही रही थी कि अब क्या करना? प्रभो! आप ही मेरे मन को समाधान दो जिसमें मेरा हित हो, आगम की रक्षा हो, मर्यादा की रक्षा हो और धर्म की रक्षा हो वही उपाय बताओ....।"

इतने में ही मेरी अंतरात्मा से यही आवाज उठी कि-"कुछ भी हो जो गुरु कहते हैं वही करना चाहिए। गुण दोष सब उन्हीं के ऊपर छोड़ देना चाहिए। आज लगभग १०-१५ दिन हो गये हैं। अपना मस्तिष्क फटा जा रहा है। अब गुरु की शरण ही सब कुछ है।....."

इतना सोचकर वेदी से बाहर आई और मंदिर के आंगन में अपने स्वाध्याय की पुस्तक लेकर बैठ गई। इसी मध्य पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री आ गये। उन्हें मैंने कहा था कि "पंडित जी! मुझे कोई ऐसा प्रमाण दिखाओ कि जिसमें स्वयं के लिए हुए नियम गुरु की आज्ञा से छोड़े जा सकते हों।"

'पंडित जी उस समय भगवती आराधना टीका सहित लेकर आये थे। उन्होंने मुझे उसमें से 'असत्यमृषा' भाषा के प्रकरण को खोल कर दिखाया जो कि यह था—

"पच्चक्खाणी नाम केनचिद् गुरुमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयंतं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यान्तरमुद्दिश्य तत्कुर्वित्युदितं गुरूणा प्रत्याख्यानावधिकालो न पूर्ण इति नैकान्ततः सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति मृषैकान्तः[१]।"

प्रत्याख्यानी नाम की अनुभय भाषा का लक्षण करते हुए कहते हैं कि किसी ने गुरू की आज्ञा लिए बगैर यह दूध आदि वस्तु मैंने इतने दिन के लिए त्याग दिया है ऐसा प्रत्याख्यान—त्याग ले लिया पुनः अन्य कार्य

१. मूलाराधना, गाथा ११९५, पृ. ११९४।

का उद्देश्य करके गुरु ने कहा कि तुम यह ग्रहण करो। उसके त्याग की अवधि का काल पूर्ण नहीं हुआ इसलिए यह बात एकान्त से सत्य नहीं है और उस शिष्य ने गुरू की आज्ञा से उस त्यागी हुई वस्तु के ग्रहण करने में प्रवृत्ति की है इसलिए दोष न होने से यह एकान्त झूठ भी नहीं है।

यहाँ पर इस अनुभय भाषा के प्रत्याख्यानी भाषा के लक्षण में यही बात समझने की है कि प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण न होने पर भी यदि गुरू की आज्ञा से शिष्य उस वस्तु को ग्रहण कर लेता है तो दोष नहीं है। इसे देखकर मेरा मन प्रसन्न हुआ और मैंने आचार्यश्री के पास जाकर उनकी आज्ञा पालन करने के लिए स्वीकृति दे दी। आचार्यश्री की आज्ञा से एक आर्यिका माताजी ने मुझे एक नया दुपट्टा मँगाकर दे दिया। मैंने वह दुपट्टा धोकर सुखा दिया।

दूसरे दिन मैं वह दुपट्टा ओढ़कर आहार के लिए निकली, सेठ रामचन्द्र जी के यहाँ मेरा पड़गाहन हो गया। मुझे उन्होंने एक कटोरी दी। उसमें आहार लिया साथ में चावल भी ले लिया। कटोरी वहीं छोड़कर आ गई। मंदिर आकर आचार्यश्री के सामने ज्यों की त्यों सारी बातें निवेदित कर दीं। पुनः आचार्य महाराज ने रामचंद्र से भी पूछा—

"क्यों रामचन्द्र जी! इन्होंने कटोरी में आहार लिया है?" रामचन्द्र जी ने कहा—"हाँ, महाराज जी! इन जैसा पात्र आपको मुश्किल से मिलेगा, आप तो संघ में सभी को प्रेरणा दे देकर मुनि, आर्यिका बनाते हो। एक ये हैं कि जो स्वयं दीक्षा माँग रही हैं और आप टाल रहे हैं।"

महाराज जी प्रसन्न मुद्रा में मुस्करा दिये। गुरू की प्रसन्नता और शुभाशीर्वाद प्राप्त कर कृतकृत्य होती हुई मैं अपने स्थान पर आ गई। मैंने समझा कि—"अब मेरी दीक्षा हो जायेगी।"

किन्तु आचार्य महाराज का यह कहना था कि कम से कम छह महीने संघ में रहना चाहिए, तब दीक्षा देंगे। सो मैं भी गुरू की आज्ञानुसार संघ की सभी क्रियाओं में भाग ले रही थी और अपने पठन-पाठन में लगी हुई थी। यद्यपि मेरी भावना इतनी उत्कट थी कि मुझे दीक्षा बिना एक-एक दिन भी वर्ष के समान लग रहे थे फिर भी शांति के सिवाय उपाय क्या था। मैं सोचने लगी—

"देखो, मैंने जल्दबाजी में क्षुल्लिका विशालमती अम्मा की नहीं मानी और श्रवण-बेलगोला के बाहुबली की यात्रा छोड़कर आ गई। यहाँ तो दिसंबर १९५५ निकल गया और १९५६ की जनवरी, फरवरी भी निकली जा रही है।

सच है, 'उतावला सो बावला, ऋतु आये फल होय।' इस सूक्ति के अनुसार "जब योग होगा तभी दीक्षा मिलेगी।" आचार्यश्री ने संघ सहित जयपुर से विहार कर दिया। संघ 'माधोराजपुरा' में आ गया।

£ १५ ¤

आचार्यश्री के निकट पुनः एक दिन मैंने प्रार्थना की कि-"हे गुरुदेव! अब हमें महावीर जयंती पर आर्यिका दीक्षा दे दीजिये।"

महाराज जी ने साधुओं से परामर्श किया। सभी साधु एक स्वर से मेरे पक्ष में थे अतः महाराज जी ने ब्र. सूरजमल को बुलाया और दीक्षा के लिए मुहूर्त निकालने को कहा। बाबाजी ने पंचांग देखकर 'वैशाख वदी द्वितीया' का उत्तम मुहूर्त बता दिया। महाराज जी ने दीक्षा देने की घोषणा कर दी। समाज में हर्ष की लहर दौड़ गई। आर्यिकाओं ने बड़े ही प्रेम से प्रारंभिक उत्सव कराये। कु. प्रभावती की इच्छा न होते हुए भी सभी ने शाम को उनकी बिंदोरी का प्रोग्राम बना दिया।

आचार्यश्री ने कहा—"प्रभावती! तुम दशवीं प्रतिमा में आहार भी दे सकती हो और पूजन भी कर

सकती हो अतः इच्छानुसार दान-पूजन कर लो, फिर जीवन भर दान-पूजन करने को नहीं मिलेगा।"

यद्यपि प्रभावती का जीवन सभी विषय में उदास-उपेक्षित सा रहता था। कोई पूछता—"तुम क्यों दीक्षा ले रही हो?" तो वह कह देतीं—"हमें कुछ पता नहीं, अम्मा जैसा कहती हैं वैसा ही मैं कर लेती हूँ।"

उन्होंने आर्यिका वीरमती जी और सुमतिमती जी की प्रेरणा से अन्य ब्रह्मचारिणी के द्वारा पूजन की सामग्री दे देने पर भगवान् का पूजन भी कर लिया और जिस चौके में उनका कमंडलु लेकर श्रावक उन्हें ले गये उस चौके में जो साधु-साध्वी पड़गाये गये उन्हें आहार भी दे दिया। एक दिन पूज्य गुरुदेव आचार्य वीरसागर जी को भी आहार दिया।

मध्याह्न में दीक्षा का प्रोग्राम था। उसके पूर्व आचार्यश्री ने हम दोनों को बुलाकर अन्य प्रमुख आर्यिकाओं के समक्ष ही बहुत कुछ शिक्षायें दी थीं। आचार्यश्री ने मुझसे कहा था-

"देखो बाई[१]! तुम्हें दीक्षा लेकर अपना संघ बनाकर रहना है। अलग रहने के लिए तुम्हें चिंता नहीं करनी चाहिए। संघ में अशांति होने से अलग रहना अच्छा रहेगा।"

मैंने भी कहा—

"आपकी आज्ञा शिरोधार्य।" ऐसा कहकर हाथ जोड़कर विनय से गुरू का आदेश स्वीकार किया था।

पुनः प्रभावती से बोले—"देखो! तुम्हें जीवन भर इन्हीं के साथ रहना है, चूँकि इन्हीं के निमित्त से तुम्हारा उपकार हुआ है। तुम्हें इनका साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए।"

प्रभावती ने भी मौन रहकर ही सिर झुकाकर स्वीकृति दे दी थी पुनः सुमतिमती माताजी ने कहा-

"देखो! तुम्हें दीक्षा लेकर कम से कम पाँच वर्ष संघ में ही रहना चाहिए। अकेले संघ बनाकर इतनी जल्दी अलग नहीं होना चाहिए।

मैंने कहा-जैसी आपकी आज्ञा!"

चूँकि मुझे भी संघ में ही रहना अभीष्ट था। भले ही कोई-कोई आर्यिकायें ईर्ष्या, द्वेष वश कभी अशांति कर देतीं फिर वात्सल्य भी करती थीं अतः मेरा स्वतंत्र घूमने का इरादा नहीं था।

दीक्षा से पूर्व आर्यिकाओं ने जैसे बताया, वैसे ही सुवासिनी महिलाओं ने कु. प्रभावती को उबटन लगाकर मंगल स्नान करा कर सफेद साड़ी पहना दी और पहले से बनाये गये पण्डाल में दीक्षा के मंच पर लाकर बिठा दिया। सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा पहले से ही मंगल चौक बनाये गये थे। उन पर श्वेत वस्त्र बिछा था जिस पर भी साथिया बना हुआ था। उस मंगल चौक पर हम दोनों को बिठाया गया। उसके पहले मैंने तथा प्रभावती ने श्रीफल चढ़ाकर आचार्यश्री के समक्ष दीक्षा की याचना की थी तथा प्रभावती से बाबाजी ने वहीं पण्डाल में जिन प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक करवाया था।

पहले मेरा केशलोंच प्रारंभ हुआ। मैंने लगभग एक माह पूर्व ही अपना केशलोंच किया था अतः दीक्षा के समय मेरे केश बहुत ही छोटे थे। दो तीन आर्यिकाओं ने मिलकर मेरा केशलोंच कर दिया।

अनन्तर आचार्यश्री ने दीक्षा के संस्कार करने प्रारंभ कर दिये। मेरे मस्तक पर मुनि दीक्षा विधि के संस्कार किये तथा प्रभावती के सिर पर क्षुल्लक दीक्षा विधि के संस्कार किये पुनः संयम का उपकरण पिच्छी, शौच का उपकरण कमंडलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र भी दिये। मेरा नाम 'ज्ञानमती' रखा और प्रभावती का नाम 'जिनमती' घोषित किया।

इसी मध्य एक अद्भुत चमत्कार हुआ। एक मोटा ताजा बैल दौड़ता हुआ सभा के मध्य आ गया। सभा में हल्ला मच गया किन्तु वह बीच के रास्ते से सीधे मंच के पास आ गया, वहाँ आकर खड़ा हो गया पुनः

---

१. यहाँ बाई शब्द वात्सल्यपूर्वक बेटी वाचक है।

मस्तक टेक कर मानो नमस्कार कर रहा हो, बहुत देर तक वहीं खड़ा रहा। आचार्यश्री ने पिच्छी से आशीर्वाद दिया। वह शान्त हो गया और टकटकी लगाकर देखता रहा। बाबाजी ने सभा के कोलाहल को एकदम शांत कर दिया और बोले—

"कोई डरो मत"। यह तो कोई भव्य जीव है जो दीक्षा देखने आया है।"

दीक्षा संस्कार के बाद वह शांत भाव से बीच के रास्ते से चला गया। लोगों ने उसे लड्डू खिलाये।

आचार्यश्री ने व्रत देते हुये कहा था—

"आज से तुम्हारे अट्ठाईस मूलगुण हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियनिरोध, ६ आवश्यक और केशलोंच आदि ७ शेष गुण, सभी २८ मूलगुण हैं। नग्नत्व और खड़े होकर आहार लेना इनके स्थान पर आर्यिकाओं के लिए दो साड़ी रखना और बैठकर करपात्र में आहार लेना ही ये दो मूलगुण हैं।

तथा जिनमती क्षुल्लिका को समझाया कि—

"आज से तुम्हारे ग्यारह प्रतिमा के व्रत हैं। दो दुपट्टे और थाली में भोजन के सिवाय शेष चर्या इन आर्यिकाओं के समान ही प्रायः रहती है।"

बाद में आचार्यश्री का मंगल प्रवचन हुआ। अनन्तर सभा विसर्जित हो गई। मैं सभी आर्यिकाओं के साथ अपने स्थान पर आ गई।

व्रत देते समय जो श्रीफल, सुपारी, अक्षत आदि दोनों हाथ की अंजुली में रहते हैं उन्हें किसी दम्पत्ति को दिला दिया जाता है। उन्हें माता-पिता या दातार की संज्ञा मिल जाती है। इसी परम्परा के अनुसार मेरे हाथ से श्रीफल आदि कुचामन के सेठ गंभीरमल पाण्ड्या को दिला दिये और जिनमती के हाथ के श्रीफल आदि भी एक सेठ को दिला दिये गये थे।

बहुत ही अथक पुरुषार्थ से मेरा मनोरथ सफल हुआ था। अब मैंने स्त्री पर्याय में सर्वोच्च आर्यिका पद प्राप्त कर लिया था और अपने जीवन को भी धन्य मान लिया था। उस दिन भगवान् पार्श्वनाथ का गर्भ कल्याणक था, अतः मुझे उस दिन की और भी अधिक विशेषता प्रतीत हुई थी।

अब संघ में सभी आर्यिकाओं का व्यवहार अच्छा चल रहा था। बात यह है कि प्रारंभ में परीक्षा की दृष्टि से भी कसौटी पर कसा जाता है कि यह सोना खरा है या नहीं? जब खरा होता है तभी उसकी पूरी कीमत होती है अन्यथा कीमत घट जाती है।

मेरे धैर्य और सहनशीलता गुण से प्रायः संघ में सभी साधुगण प्रभावित रहते थे। उस समय संघ की वासुमती आदि आर्यिकाओं ने मेरे पास में तत्त्वार्थ सूत्र अर्थ सहित का अध्ययन चालू कर दिया था। मैं क्षुल्लिका जिनमती को भी गोम्मटसार, परीक्षामुख आदि विषय पढ़ा रही थी तथा कातन्त्र व्याकरण का भी अच्छा अध्ययन करा रही थी।

सायंकाल चार बजे आचार्यश्री स्वयं शास्त्र पढ़ते थे। शायद उस समय पंचाध्यायी ग्रन्थ पढ़ रहे थे। उनमें सभी साधु-साध्वी बैठते थे। अच्छी सूक्ष्म चर्चायें चलती थीं, बड़ा आनन्द आता था।

बाद में आचार्यश्री सभी शिष्य-शिष्याओं के समक्ष कुछ शिक्षास्पद बातें भी सुनाया करते थे और मनोरंजन का चुटकुला कह देते थे। एक बार एक आर्यिका ने कुछ अपनी बात कही, दूसरी ने कुछ अपने शारीरिक कष्ट कहे। तब महाराज जी बोले—

"बाई! मुझे तो कुछ भी रोग नहीं है, मात्र सबसे बड़े दो रोग हैं। एक तो नींद आती है, दूसरे भूख लगती है।"

इतना सुनकर सभी साधु-साध्वी हँस पड़े और बोले—'सचमुच में ये दो रोग ही सबसे बड़े रोग हैं और इन्हें ही नष्ट करने के लिए यह जैनेश्वरी दीक्षा ली गई है।"

आचार्य महाराज अपने प्रवचन में सदा यही कहा करते थे कि—"भाई! सुई का काम करो, कैंची का मत करो। देखो! सुई तो फटे पुराने सभी कपड़ों को जोड़कर एक वस्त्र बना देती है और कैंची काटती ही रहती है।"

चतुर्दशी के बड़े प्रतिक्रमण के बाद कई बार आचार्यश्री की आँखें सजल हो जातीं। वे कहते—

"भाई! मैं तुम सभी साधुओं को प्रायश्चित दे दूँगा, सबका मन साफ कर दूँगा लेकिन मेरे गुरु का वियोग हो गया है, अब मैं किससे प्रायश्चित्त लूँ?" उनके हृदय में गुरुभक्ति अटूट थी। एक बार महाराज जी ने कहा—"आचार्य शांतिसागर जी महाराज को मैं इस युग का पच्चीसवां तीर्थंकर समझता हूँ। यदि वे न होते तो निर्दोष मोक्षमार्ग का कैसे पता चलता? कौन दिखाता?"

मैंने उनके श्रीमुख से एक बार यह भी सुना था कि—

"जिसने अपने जीवन में तीर्थों में महातीर्थ सम्मेदशिखर के दर्शन नहीं किये, मूर्तियों में विशाल और सौम्य गोम्मटेश बाहुबली के दर्शन नहीं किये तथा गुरुओं में गुरु आचार्य शांतिसागर जी महाराज के दर्शन नहीं किये, उसका जीवन व्यर्थ ही चला गया।" तब मुझे ऐसा प्रतीत होता कि—

"अहो! मैंने तीर्थराज की भी वंदना कर ली है, आचार्य शांतिसागर जी के भी दर्शन कर लिये हैं किन्तु भगवान् बाहुबलि के दर्शन चुका दिये हैं। देखो, कब होते हैं?

आचार्यश्री ने दीक्षा से पूर्व ही शिक्षा दी थी कि कोई भी मन का त्याग दीक्षा के बाद पर्याय बदल जाने से पूरा हो जाता है अथवा गुरू आज्ञा से अपने मन से किये गये त्याग को छोड़ देने में बाधा नहीं है अतः मैंने दीक्षा के बाद गुरू की आज्ञा से सभी अन्न लेना शुरू कर दिया था।

आज मैं अच्छी तरह से यह बात समझती हूँ कि—अपने "मन से किये गये त्याग आवेश में या विशेष विरक्ति में होते हैं। उनसे शरीर और आत्मा की हानि की भी संभावना रहती है अतः त्याग चाहे छोटा हो या बड़ा, गुरु की साक्षी से ही लेना चाहिए।'

मेरा सतत उपदेश भी यही रहता है क्योंकि अनुभव ज्ञान से ही मैंने यह शिक्षा पाई है। उस समय इन सब कारणों से आचार्यश्री का वात्सल्य मेरे प्रति बहुत ही अच्छा था। मुझे भी इस बात की प्रसन्नता थी।

£ १६ ¤

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के चरण-सानिध्य में आर्यिका अवस्था का प्रथम वर्षायोग व्यतीत करने का पुण्य अवसर मिला था। सन् १९५६ की बात है, इतने बड़े विशाल संघ का चातुर्मास खानिया में हो रहा था। संघ में वयोवृद्धा आर्यिका धर्ममती माताजी का वात्सल्य मेरे प्रति बहुत ही अच्छा था। आर्यिका विमलमती माताजी, जो कि कई वर्षों बाद आचार्यश्री के दर्शनार्थ आई थीं, वे भी यहीं मंदिरजी में ठहरी थीं। आचार्यश्री और सभी मुनि तथा क्षुल्लकगण बड़ी नशिया जी में विराजमान थे। आर्यिकायें छोटी नशिया में मंदिर के बाहर की धर्मशाला में ठहरी थीं। धर्ममती माताजी और उनके पास रहने वाली एक क्षुल्लिका ज्ञानमती जी—ये दोनों मंदिर के बाहर ही एक छोटे से कमरे में ठहरी थीं। आर्यिका पार्श्वमती माताजी, आर्यिका विमलमती माताजी और मैं मंदिरजी में ही बरामदे में रहती थीं। मेरे साथ क्षुल्लिका जिनमती थीं और ब्र. सोनूबाई थीं। आर्यिका विमलमती जी के पास में ब्र. मदीबाई थीं। हम सभी आपस में खूब ही धर्मचर्चा किया करती थीं।

एक बार लालाराम जी शास्त्री आचार्यश्री के दर्शनार्थ आये थे। वे मुझे देखते ही बहुत प्रसन्न हुए। चूंकि उस समय संघ में सबसे छोटी उम्र की मैं थी। मेरी बुद्धि के क्षयोपशम और व्याकरण के ज्ञान से वे बहुत ही प्रभावित हुए, पुनः मुझसे बोले—

"माताजी! मैं आपकी कुछ सेवा करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे कुछ स्वाध्याय का अवसर दें।

अर्थात् वे मुझे कुछ अध्ययन कराना चाहते थे किन्तु उनके शब्दों में बहुत ही विनम्रता थी। उनके बारे में हमें यह भी जानकारी मिली थी कि इन्होंने लगभग ४० ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है। महापुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित भी हो चुके थे। ये पं. मक्खनलाल जी के बड़े भाई थे। इनके एक भाई श्री चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज से मुनिदीक्षा लेकर मुनि सुधर्मसागर जी हुए हैं। इन्होंने बड़े आचार्य संघ में अनेक मुनियों को संस्कृत का ठोस अध्ययन कराया है। पं. लालाराम जी की प्रार्थना को सुनकर मैंने उन्हें उत्तर दिया कि—

"मैं आचार्यश्री से पूछकर ही कुछ निर्णय करूँगी।"

मैंने आचार्यश्री की वंदना करके पूछा—"महाराज जी! पं. लालारामजी मुझे कुछ अध्ययन कराना चाहते हैं। आपकी जैसी आज्ञा हो वैसा उन्हें कहा जाये!

तब आचार्यश्री ने कहा—"ठीक है, अभी तुम्हारी अध्ययन की ही उम्र है, जो भी पढ़ाना चाहते हैं, पढ़ो।" पंडित जी ने कहा-"इन्होंने व्याकरण पढ़ी हुई है। उसके साथ एक काव्य ग्रंथ का पढ़ना अति आवश्यक है, अतः मैं चाहता हूँ कि ये चन्द्रप्रभ चरित पढ़ लें।"

आचार्य महाराज ने आज्ञा दे दी। पंडित जी ने मुझे अध्ययन शुरू कराया। उसमें उन्होंने खण्डान्वय और दण्डान्वय की प्रक्रिया बतलाई। इस प्रकार से दो-तीन दिन ही पढ़ाया था कि उनका स्वास्थ्य अस्वस्थ हो गया, वे नहीं आ सके। वे उस समय बहुत ही वृद्ध थे। उन्होंने मुझसे प्रारंभ में ही पूछा था कि—

"माताजी! यह कानजी मत सांख्यमत के सदृश एकान्त है। इस विषय में आपका क्या अभिमत है?"

तब मैंने यही कहा था कि—

"हाँ, ये लोग निश्चय एकान्त का दुराग्रह पकड़ रहे हैं। वास्तव में आत्मा को कर्मों का कर्ता नहीं मानने वाला सिद्धान्त, साँख्य मत के ही अनुरूप है।"

तब उन्होंने यह भी कहा कि—"इसका आपको खण्डन करना चाहिए।"

मैंने कहा—"ठीक ही है, आगम के प्रतिकूल सिद्धान्त का खण्डन करना उचित ही है।"

मेरी रुचि न्याय ग्रन्थों के पढ़ने में भी बहुत ही थी अतः मैंने जिनमती को परीक्षामुख और न्यायदीपिका पढ़ाना शुरू कर दिया। पं. खूबचन्द्र जी शास्त्री प्रायः प्रति वर्ष संघ में अपनी पत्नी सहित आते थे और चौका करके आहार दान का लाभ लेते रहते थे। वे प्रातः एक घण्टा कोई विशेष ग्रन्थ साधुओं की सभा में पढ़ते थे। उस वर्ष भी आये हुए थे। वे प्रवचनसार का स्वाध्याय करा रहे थे। उनका मेरे प्रति भी बहुत ही वात्सल्य भाव था अतः उन्होंने यह निर्णय किया कि इनको भी मैं कुछ अध्ययन कराऊँ। आर्यिका वीरमती माताजी ने प्रमेयकमल मार्तण्ड पढ़ने का निर्णय किया। मैं भी उसी में सम्मिलित हो गई। वे पंडितजी दो-चार दिन ही कुछ पढ़ा पाये थे कि उनको भी खांसी की तकलीफ होने से वह न्याय ग्रन्थ का अध्ययन चल नहीं पाया। फिर भी उनका धर्मप्रेम, गुरुभक्ति और आगमनिष्ठा जैसी थी वह सब आज के विद्वानों के लिए अनुकरणीय है। बाद में मैंने बिना पढ़े ही अपनी शिष्या जिनमती को प्रमेयकमलमार्तंड पढ़ाया है।

एक बार उनके चौके से एक माताजी नवधा भक्ति की कुछ कमी होने से वापस आ गईं। आहार के अनन्तर आकर उन्होंने आचार्यश्री से कहा कि—

"पंडित खूबचन्द जी ने पड़गाहन करके प्रदक्षिणा नहीं लगाई इसलिए मैं वापस आ गई।"

आचार्यश्री ने कहा-"तुमने ठीक किया।"

अनन्तर खूबचन्द जी भी आकर बैठ गये और इसी विषय में आचार्यश्री से शंका- समाधान करने लगे।

आचार्यश्री ने कहा—

"पंडित जी! जब आर्यिकाओं की आप नवधाभक्ति करते हैं, अष्टद्रव्य से पूजा करते हैं, पुनः उनकी प्रदक्षिणा लगाने में ही आपने क्या दोष समझा?"

पंडित जी की समझ में आ गया कि—"सचमुच में नवधाभक्ति के लिए आर्यिकायें पात्र हैं—योग्य हैं तो पुनः उनकी प्रदक्षिणा भी देनी चाहिए।"

एक दिन उन्होंने किसी साधु को पड़गाहन कर नवधा भक्ति करते समय गंधोदक मस्तक पर नहीं लगाया प्रत्युत् उसका वंदन कर लिया। इस पर भी आचार्यश्री के पास चर्चा चली।

पंडित जी ने कहा—"महाराज जी! गंधोदक लेने का श्लोक तो यही है कि—

निर्मलं निर्मलीकरणं, पवित्रं पापनाशनं।
जिनगंधोदकं वंदे, अष्टकर्मविनाशनं।।

इसमें जिनगंधोदक को वंदन करने के लिए कहा है न कि मस्तक पर लगाने के लिए। इसी बीच मैं भी आहार करके आ गई थी। उस समय वहीं बैठी थी। मैंने पद्मनंदिपंचविंशतिका[१] में जो प्रकरण पढ़ा था सो उन्हें दिखा दिया। वे प्रभावित हुए और बाद में सभी मुनि आर्यिकाओं के चरण प्रक्षालन के बाद गंधोदक लेकर बड़े आदर से नेत्रों में और मस्तक पर लगाने लगे। ऐसे ही उनके कई एक उदाहरण बहुत अच्छे लगे थे।

उन दिनों मैं ज्ञानार्णव ग्रन्थ का स्वाध्याय कर रही थी। उसमें जो बारह भावनाओं का वर्णन है वह मुझे बहुत ही अच्छा लगा। मैंने उसकी संस्कृत टीका लिखना शुरू किया। चार-पाँच भावनाओं की टीका लिखी थी। एक दिन सहसा पंडित जी को दिखाया और पूछा—

"पंडित जी! देखिए, मेरी संस्कृत व्याकरण शुद्ध है क्या? यह टीका की लेखन-शैली कैसी है?"

पंडित जी ने पढ़ा, बहुत प्रसन्न हुए और मेरी कापी लेकर आचार्यश्री के पास पहुँचे। महाराज जी को दिखाते हुए कुछ एक पंक्तियाँ सुनाते हुए बोले—

"महाराज जी! इन ज्ञानमती आर्यिका का संस्कृत ज्ञान कितना सुन्दर है! इनकी टीका शैली बिल्कुल सही है और बहुत ही ललित है, मधुर है। ये एक दिन अच्छी विदुषी प्रख्यात होंगी। इनकी वाक्य पद्धति और बुद्धि, आगम और परम्परा के अनुकूल है।"

सुनकर आचार्यश्री प्रसन्न हुए। अनन्तर पता नहीं क्या कारण बना कि मैंने उसके आगे लेखनी चलाई ही नहीं। आज वह पाँच भावनाओं की टीका की कापी भी कहाँ गई? मुझे पता तक नहीं है। यह सन् १९५६ की बात है।

इसके बाद सन् १९५९ में अजमेर के चातुर्मास में मैंने आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज की एक छोटी सी स्तुति संस्कृत में उपजाति छंद में बनाई थी। अनन्तर श्रवणबेलगोला में भगवान् बाहुबली की स्तुति वसंततिलका छंद में रची है। बाद में तो मैं अनेक स्तुति रचना करती ही रही हूँ। कोई टीका ग्रन्थ नहीं लिख पाई हूँ। सन् १९७८ में नियमसार ग्रन्थ की संस्कृत टीका प्रारंभ की थी। मात्र ७३ गाथाओं की टीका उसी वर्ष में कर ली थी। अनन्तर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के बाद अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के लेखन का कार्य शुरू हो जाने से वह टीका सन् १९८४ में पूर्ण हुई है। इस नियमसार टीका को सन् १९७८ के प्रशिक्षण शिविर के

---

१. किं ते गृहाः किमिह ते गृहिणो नु येषामन्तर्मनस्सु मुनयो न हि संचरन्ति।
साक्षादथ स्मृतिवशाच्चरणोदकेन नित्यपवित्रितं धराग्रशिरःप्रदेशाः।।१७।। (पद्मनंदिपंचविंशतिका पृ. ९८)
जिन मुनियों के चरणकमल के जल के स्पर्श से जिन घरों की भूमि पवित्र हो जाती है तथा जिन गृहस्थों के मस्तक भी पवित्र हो जाते हैं उन उत्तम मुनियों का जिन घरों में संचार नहीं है तथा जिन गृहस्थों के मन में भी जिन मुनियों का प्रवेश नहीं है वे घर तथा गृहस्थ दोनों ही बिना प्रयोजन के हैं इसलिए गृहस्थों को उत्तम आदि पात्रों को अवश्य दान देना चाहिए जिससे मुनियों के आगमन से उनके घर पवित्र बने रहें तथा उनका गृहस्थपना भी कार्यकारी गिना जावे।

अवसर पर आये हुए पंडित तिलक श्री मक्खनलाल जी ने देखा था, तब उन्होंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और मुझे श्रुतकेवलीकल्प कहा था तथा उसे जल्दी ही पूर्ण कर प्रकाशित कराने की प्रेरणा दी थी।

सन् १९५६ में जयपुर के चातुर्मास के समय सोलापुर श्राविका आश्रम की संचालिका ब्रह्मचारिणी सुमतिबाई जी आई हुई थीं। वे आचार्यश्री के पास बैठकर षट्खण्डागम सूत्रों की खूब चर्चा किया करती थीं। उनके साथ में कु. विद्युल्लता शाह थीं और कु. स्नेहलता दोशी थीं। ये स्नेहलता मेरे पास में स्थित ब्र. सोनूबाई की पुत्री थीं। ब्र. सोनूबाई ने मुझसे कई बार कहा कि—

"अम्मा! यह स्नेहलता विवाह नहीं करना चाहती है, अतः इसे संघ में रहने की प्रेरणा दो। आप क्षुल्लिका जिनमती जैसा इसे भी अध्ययन कराओ। आश्रम में तो बहुत लड़कियाँ रहती हैं। कोई कैसे विचार रखती हैं कोई कैसा ही आचरण करती हैं? किन्तु यहाँ संघ में और आपके पास तो सदा ज्ञानाराधना का ही वातावरण रहता है। मेरी इच्छा यही है कि इसका भविष्य उज्ज्वल बने इसलिए इसका आपके पास रहना ही अच्छा रहेगा।"

मैंने भी स्नेहलता को समझाया और संघ में रहने की प्रेरणा दी, वह राजी हो गई किन्तु सुमतिबाई जी से पूछने पर उन्होंने इंकार कर दिया, कहा कि—

"तुम आश्रम में पढ़ी हो, वहीं रहकर पढ़ाओ, किन्तु मैं यहाँ कतई नहीं रहने दूँगी।"

इधर उसकी भावना बन जाने से वह लड़की संघ में मेरे पास रहना चाहती थी। वह भी सुमतिबाई की बात सुनकर पशोपेश में पड़ गई। उधर सुमतिबाई ने आचार्यश्री से भी कह दिया कि—

"महाराज जी! मैं स्नेहलता को साथ ही ले जाऊँगी, यहाँ नहीं छोड़ूँगी। आर्यिका ज्ञानमती माताजी उसे रखना चाहती हैं। आप उन्हें मना कर दीजिये। तब आचार्यश्री ने सरल भाव से दूसरे दिन मुझसे कहा—

"ब्र. सुमतिबाई स्नेहलता को नहीं छोड़ना चाहती हैं, अतः उसे जाने देना।"

इसके अनन्तर भी ब्र. सोनूबाई के आग्रह विशेष से मैंने उसे रोक तो लिया किन्तु 'आचार्यश्री ने मना किया था फिर भी रोका है' इस बात का मुझे मन में बहुत खेद रहा। स्नेहलता की बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। उसे गोम्मटसार जीवकांड पढ़ाना शुरू किया। २०० से ऊपर गाथायें पढ़ चुकी थी, ढाई महीने व्यतीत हो गये थे। तभी उसके पिता लालचन्द्र दोशी आ गये। उन्होंने यह भी बताया कि ब्र. सुमतिबाई ने पत्र लिखकर विशेष आग्रह किया है कि खानिया-जयपुर से स्नेहलता को लिवा लाना। उसे आश्रम में ही रहना है, न कि संघ में। उस लड़की की स्वयं इच्छा न होते हुए भी उस समय उसे पिता के साथ ही भेजने का निर्णय हो गया।

ब्र. सोनूबाई ने अपने पति से निवेदन किया कि—

"आप मुझे दीक्षा लेने के लिए स्वीकृति देते जाइये।"

उस समय उन्होंने सरल भाव से आचार्यश्री के सन्मुख कह दिया कि—"महाराज जी! इनकी दीक्षा लेने की इच्छा है तो मुझे कुछ एतराज नहीं है। आप इनकी योग्यता देखकर इन्हें दीक्षा दे दीजिये।"

सोनूबाई व्रत-उपवास करने में बहुत ही पक्की थीं, ज्ञान अल्प था तो भी श्रद्धा बहुत ही अच्छी थी। साथ ही वैराग्य भी अच्छा था, अतः आचार्यश्री ने उनकी दीक्षा के लिए मुहूर्त निकलवाया किन्तु कुछ कारणवश उनकी दीक्षा उस मुहूर्त पर नहीं हो सकी।

वह चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ। अनन्तर आचार्यश्री जयपुर शहर में आ गये। 'लूण्यापाण्या' के मंदिर में सभी मुनिराज विराजमान थे और गोधा के मंदिर में सभी आर्यिकायें ठहरी थीं। कुछ दिनों बाद संघ खजांची की नशिया में आ गया। वहीं पर ब्र. सोनूबाई की दीक्षा हुई। आचार्यश्री ने उन्हें क्षुल्लिका दीक्षा देकर उनका नाम "पद्मावती" रखा। यहाँ पर आष्टाह्निक पर्व में सिद्धचक्र विधान का आयोजन बहुत ही विशाल रूप में किया गया, जिसमें अनेक नर-नारियों ने पूजन करके अपने जीवन को धन्य किया था।

£ १७ ¤

आचार्यश्री ने एक दिन आर्यिकाओं को आज्ञा दी कि—

"चातुर्मास के पूर्व तक तुम सभी दो ग्रुप में होकर आस-पास के गाँवों में विहार करो।"

गुरुदेव की आज्ञा प्राप्त कर आर्यिका वीरमती माताजी ने संघस्थ आर्यिकाओं को साथ में लेकर पास के किसी गाँव में जाने का निर्णय लिया। मैंने इच्छा न होते हुए भी गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर जयपुर से बगरू जाने का विचार बनाया। कुछ दिन पूर्व क्षुल्लक सन्मतिसागर जी गुरु की आज्ञा के बिना ही बगरू चले गये थे अतः आचार्य देव ने मुझसे कई बार यह शब्द कहे कि—

"ज्ञानमती! तुम क्षुल्लक सन्मतिसागर जी को समझा कर वापस उन्हें संघ में ले आना।" जब मैं विहार कर रही थी। आचार्यदेव के पास आशीर्वाद लेने गई तब उन्होंने कहा—

"बाई! तुम्हें मैं और कुछ नहीं कहूँगा, बस एक ही बात कहता हूँ कि तुम हमेशा अपने नाम का ध्यान रखना।'

इतना सुनकर ब्रह्मचारी श्रीलाल जी बोले—

"महाराज जी! आपने अभी वृद्धा आर्यिकाओं को विहार करते समय अनेक शिक्षायें दी थीं, आप इन्हें मात्र दो शब्द में ही कह रहे हैं कि "अपने नाम का ध्यान रखना।" बाकी कोई भी शिक्षा नहीं दे रहे हैं, ऐसा क्यों? जबकि ये तो सबसे छोटी हैं तथा नवदीक्षिता हैं।

तब आचार्यश्री ने कहा—"भाई! मैंने दो शब्द में ही इन्हें शिक्षा दे दी है। बस इनके लिए मुझे इतना ही कहना है, और कुछ नहीं।"

गुरुदेव के इतने छोटे से वाक्य की अमूल्य शिक्षा को मैंने अपने हृदय में धारण किया। पुनः-पुनः गुरुदेव की चरण रज अपने मस्तक पर चढ़ाई और उनका आशीर्वाद लेकर मैंने अपने साथ में क्षुल्लिका जिनमती और पद्मावती इन दोनों को लेकर बगरू की ओर विहार कर दिया। उस समय मेरे साथ दक्षिण की एक ब्रह्मचारिणी चतुरबाई थीं। उन्होंने आचार्यश्री की आज्ञा से अपने साथ में एक जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का चैत्यालय भी ले लिया था, चूँकि आचार्यश्री ने मुझसे कहा था—

"ज्ञानमती! आजकल तेरापंथ और बीसपंथ ये दो पंथ चल रहे हैं, अतःयदि तुम्हारे साथ में ब्रह्मचारिणी हों तो चैत्यालय अवश्य रखना जिससे उन्हें अभिषेक पूजन करने की सुविधा रहे क्योंकि किसी मंदिर जी में मान लीजिये श्रावक स्त्रियों को अभिषेक नहीं करने देते हैं तो वहाँ अपने निमित्त से विसंवाद नहीं होना चाहिए, यह बात हमेशा ध्यान में रखो।"

बगरू गांव में मेरा अच्छा स्वागत हुआ। क्षुल्लक सन्मतिसागर जी समाज के अनेक स्त्री-पुरुषों को साथ लेकर बाहर नशिया जी के प्रांगण में स्वागत के लिए आ गये थे। वहाँ से हम सभी गाँव के मंदिर में आ गये। मंदिर के सामने धर्मशाला में हम तीनों साध्वियाँ ठहर गईं। वहाँ पर नियमित उपदेश चल रहा था। हमारे स्वाध्याय में क्षुल्लक जी भी बैठते थे। समय पाकर मैंने क्षुल्लक जी को अकेले न रहने की, संघ में ही रहने की बहुत कुछ शिक्षायें दी थीं, जिसे उन्होंने मान्य किया था। मैंने आचार्यदेव का आदेश भी उन्हें सुना दिया था, तब वे बोले थे कि—"अब मैं आपके साथ ही वापस आचार्यश्री के शरण में पहुँचकर वहीं पर रहूँगा।"

कई एक दिन बाद मुनिश्री शिवसागर जी महाराज भी क्षुल्लक चिदानन्दसागर को साथ लेकर यहीं बगरू में आ गये।

इस निमित्त से यहाँ अच्छी धर्म प्रभावना हुई। यहाँ से विहार कर मैं पास के ही गाँव झाग पहुँच गई। वहाँ पर कुछ दिन रह कर धर्म प्रभावना करके मोजमाबाद पहुँच गयी। श्री शिवसागर जी और दोनों क्षुल्लक

जी भी यहाँ आ गये। गर्मी के दिनों में यहाँ के जिनमंदिर के तलघर बहुत ही ठंडे थे। उनमें बैठकर प्राचीन जिन प्रतिमाओं का ध्यान करने में बड़ा ही आनन्द आता था।

यहाँ की भाक्तिक समाज ने भी अच्छा धर्मलाभ लिया। यहाँ महिलाओं में स्वाध्याय और धर्मप्रेम बहुत ही अच्छा था। इन दिनों नेनवां के एक ब्रह्मचारी जी मेरे निकट अध्ययन हेतु आये हुए थे। इन्होंने अपनी छोटी उम्र में ही पत्नी की इच्छा न होते हुए भी ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया था और आचार्यश्री से दीक्षा लेना चाहते थे। इनकी गुरुभक्ति बहुत अच्छी थी किन्तु क्षयोपशम कुछ मन्द था, फिर भी वैराग्य था।[१]

यहाँ से विहार कर हम लोग चोरू गाँव में आ गये। यहीं पर श्री शिवसागर जी मुनिराज और दोनों क्षुल्लक भी आ गये। हम सभी साधु-साध्वीगण धर्मचर्चा में अपने समय का सदुपयोग कर रहे थे। अकस्मात् ब्रह्मचारी लाड़मल जी का पत्र मिला कि—

"आचार्य देव को एक-दो दिनों से अतिसार हो जाने से दुर्बलता अधिक हो गई है।"

इतना समाचार विदित होते ही हम सभी का मन विक्षिप्त हो उठा। चूँकि आचार्यदेव सल्लेखना की तैयारी में लगे हुए थे, अतः क्या पता किस दिन वे इस नश्वर शरीर से विदाई ले लें? शाम को यह समाचार मिला था तब मुनिश्री शिवसागर जी ने कहा था कि अब प्रातः विहार का विचार बनायेंगे।

मुनिश्री ने दोनों क्षुल्लकों को साथ लेकर एक मार्ग से जयपुर की ओर प्रस्थान किया और मैंने अपने साथ दोनों क्षुल्लिकाओं को लेकर पृथक् मार्ग से प्रस्थान कर दिया। दो-तीन दिनों में हम सभी साधु-साध्वियाँ आचार्यश्री के चरण सानिध्य में पहुँच गये। उनको सकुशल देखकर प्रसन्नता हुई। आचार्यश्री ने कहा—"तुम लोग इतनी जल्दी क्यों भागे चले आये?"

हम लोगों ने कहा-"महाराज जी! आपकी आज्ञा के अनुसार हम लोगों ने चार गाँव का विहार कर लिया। अब हम लोग आप के श्रीचरण सानिध्य में ही रहकर कुछ आपके जीवन के अनुभव का लाभ लेना चाहते हैं।"

दो दिन में ही आर्यिका वीरमती माताजी भी संघ सहित यहाँ खजांची की नशिया में आ गईं पुनः हम सभी साधु-साध्वियाँ गुरुचरण के निकट एकत्रित हो गये। उस समय वहाँ पर मानों धर्म ही मूर्तिमान् होकर प्रगट हो गया था।

एक दिन क्षुल्लक सन्मतिसागर जी ने कहा—

"माताजी! मैं आपसे प्रतिक्रमण का अर्थ सीखना चाहता हूँ।"

मैंने आचार्यदेव से आज्ञा माँगी, उन्होंने आज्ञा दे दी। तब क्षुल्लक सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक चिदानन्दसागर जी, क्षुल्लिका चन्द्रमती जी, क्षुल्लिका जिनमती और क्षुल्लिका पद्मावती जी आदि सभी के लिए मैंने प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी के आधार से प्रतिक्रमण का अर्थ पढ़ाना शुरू कर दिया। इसमें अनेक वयोवृद्धा आर्यिकायें भी रुचि ले रही थीं।

इसी संदर्भ में मैंने इन सभी को देववंदना विधि बतलाई। इस समय तक साधु संतों में इस देववंदना (सामायिक विधि) का प्रचलन नहीं था। इसमें ईर्यापथ शुद्धि करके विधिवत् सामायिक स्वीकार करके कृतिकर्मपूर्वक चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है। क्षुल्लक चिदानन्दसागर जी को तो यह विधि बहुत ही जँची, वे कहने लगे—

"माताजी! श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधु-साध्वी इस प्रकार से कृतिकर्म आदि में अधिक रुचि रखते हैं। यद्यपि उनकी क्रियाओं में और अपनी क्रियाओं में अन्तर है फिर भी तीन बार उठकर नमस्कार करना आदि अनेक क्रियाओं में समानता पाई जाती है।"

अतः इस विधि से देववंदना करने में साधुओं में एक अच्छा उत्साह बढ़ा।

---

१. आगे इन्होंने मुनि दीक्षा लेकर भव्यसागर नाम प्राप्त किया था। इनकी सल्लेखन हो चुकी है।

उन दिनों सायंकाल में करीब ५ बजे मुनिश्री शिवसागर जी महाराज सभी आर्यिकाओं, क्षुल्लिकाओं, क्षुल्लकों को बिठाकर चर्चा किया करते थे। जिसमें मार्गणाओं के उत्तर-भेदों में, गुणस्थानों को और मार्गणाओं को घटित करने में बड़ा आनन्द आता था। उस समय गर्मी और लू की तपन में भी पता ही नहीं चल रहा था कि दिन कितना बड़ा है और गर्मी कितनी अधिक पड़ रही है। प्रत्युत् धर्मचर्चारूप अमृत के पान से सभी को एक विशेष तृप्ति का अनुभव हो रहा था।

सबसे विशेष लाभ यह था कि आचार्यदेव के सानिध्य में नित्य ही एक घण्टा स्वाध्याय चलता था। उस समय आचार्यदेव स्वयं ही शास्त्र पढ़कर उसका अर्थ करके सुनाते थे। जिसे सुनकर मैं तो अपना बहुत बड़ा अहोभाग्य समझ रही थी। अन्य समय में आचार्यश्री के मुखारविंद से अनुपम सूक्तिरत्नों के कणों का लाभ मिलता रहता था।

मैं कभी-कभी आचार्यदेव के चरण सानिध्य में बैठकर अनेक शंकाओं के समाधान प्राप्त कर लिया करती थी। वे समाधान आज हमारे मोक्ष पथ में दीप स्तम्भ बने हुए हैं।

एक बार एक आर्यिका सिद्धमती जी ने कहा—"हम आर्यिकाओं के २६ ही मूलगुण हैं। चूँकि हमारे पास वस्त्र हैं और हम लोग बैठकर आहार लेती हैं।"

तब मेरे मन में आशंका होने से मैंने आचार्यदेव के समक्ष समाधान चाहा। मैंने जाकर प्रश्न किया—"गुरुदेव! हमारे कितने मूलगुण हैं?"

आचार्यश्री ने कहा—"तुम्हारे २८ मूलगुण हैं। देखो! दीक्षा के समय मुनिदीक्षा के ही सारे संस्कार हम आर्यिकाओं के मस्तक पर करते हैं, उन्हें २८ मूलगुणों को देते हैं। जो उनके पास साड़ी हैं वह उनका मूलगुण ही है क्योंकि वे वस्त्र छोड़ नहीं सकती हैं। हाँ, यदि वे दो साड़ी के बजाए तीन साड़ी रख लें तो उनका मूलगुण अवश्य ही भंग हो जायेगा तथा बैठकर करपात्र में आहार करना भी उनका मूलगुण ही है, चूँकि वैसी ही आगम में उनके लिए आज्ञा है। इसलिए तुम्हारे २८ मूलगुण ही हैं। दूसरी बात यह है कि प्रायश्चित्त ग्रन्थ में आर्यिकाओं के लिए मुनियों के बराबर प्रायश्चित्त देने का विधान है, जबकि क्षुल्लकों को उससे आधा प्रायश्चित्त देने की आज्ञा है। तीसरी बात शास्त्रों में आर्यिकाओं को मुनियों के सदृश ही पूजा के लिए योग्य अर्थात् पूज्य माना है।"

यह समाधान प्राप्त कर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। एक समय उद्दिष्ट दोष को लेकर मैंने आचार्यदेव से जिज्ञासा व्यक्त की। तब उन्होंने कहा—"यदि साधु आहार के लिए कृत, कारित या अनुमोदना करता है तो वह दोष का भागी है अन्यथा नहीं। श्रावक यद्यपि उनको निमित्त करके आज शुद्ध आहार तैयार करता है फिर भी साधु को दोष नहीं है। देखो! क्या चतुर्थ काल में सारे श्रावक गरम जल पीते थे? क्या रोगी साधु के लिए औषधि और पथ्यरूप आहार तैयार नहीं करते थे? तथा पंचम काल के अन्त तक जब निर्दोष मुनि-आर्यिका रहेंगे तब आज ही उनकी चर्या निर्दोष नहीं बन सके यह कैसे मान लिया जाये? इसलिए अपने को आचार्य शांतिसागर जी को सच्चे महासाधु मानना ही चाहिए। उनकी चर्या को निर्दोष मानकर उसी के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। स्वयं शंका नहीं करनी चाहिए और दूसरों को भी समाधान करने के लिए आगम प्रमाण दिखा देना चाहिए।"

एक बार रात्रि में मुझे दीर्घ शंका का प्रसंग आया। तब मैंने प्रातःकाल आचार्यश्री से प्रायश्चित्त माँगा और भविष्य के लिए मार्गदर्शन चाहा, तब आचार्यदेव ने कहा—

"रात्रि में दीर्घशंका की बाधा होने पर पास में रहने वाली श्राविका या ब्रह्मचारिणी को साथ में लेकर उजाले में जाना चाहिए। यदि कदाचित् कोई न हो और पास में लालटेन जलती हुई हो तो हाथ से उठाकर रास्ते में साथ ले जाना चाहिए, जिससे अंधेरे में गिरने पड़ने का भय न रहे इसमें कोई दोष नहीं है।

कफ या दाँतों से खून बार-बार आने पर पास में लकड़ी आदि के छोटे पात्र में (ग्लास में) राख डालकर रख लेना चाहिए।"

इत्यादि अनेक समयोचित समस्याओं का समाधान प्राप्त किया था। आज उसी के अनुरूप अपनी चर्या में मैं सतत सावधान रहने का प्रयास करती रहती हूँ।

उनके द्वारा कही गई सूक्तियों में से भी अनेक बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। यथा—

१. सुई का काम करो, कैंची का नहीं।

२. गुरु जो कहें सो करो, वे जो करते हैं वह मत करो।

मान लीजिये, गुरु ने अन्न छोड़ा है वह उनकी प्रकृति के अनुकूल है। तुम उनकी देखा-देखी अन्न छोड़ कर अस्वस्थ बन सकते हो अतः वे जो कहें सो ही करो।

३. गांठ बांध कर मत रखो अर्थात् यदि कदाचित् आपस में अनबन हो जाये तो उसे शीघ्र ही भुलाकर आपस में प्रेम से रहने लगो। कषाय को बाँधकर मत रखो चूँकि यह भव-भव में दुःखदायी है।

इन्हीं शिक्षास्पद सूक्तियों के कारण उनका उस समय सबसे विशाल संघ था, जो कि एक सूत्र में बँधा हुआ था और यह भी उन्हीं की देन समझो कि जो उनके पट्टाधीश द्वितीय आचार्य शिवसागर जी का संघ भी सबसे बड़ा रहा है और **आज उन्हीं के द्वितीय शिष्य आचार्य धर्मसागर जी**[१] का संघ भी सर्व संघों की अपेक्षा विशाल है।

यहीं पर ग्रीष्मावकाश में सोलापुर आश्रम से कु. विद्युल्लता शाह आ गई थीं। उन्होंने मेरे से यह आग्रह किया कि—

"मुझे कोई छोटी-सी पुस्तक एक माह में पढ़ा दो।"

उनके आग्रह के अनुसार आलाप पद्धति और एकीभाव स्तोत्र का अर्थ पढ़ाने का निर्णय हुआ। कई एक मुनि, आर्यिकायें, क्षुल्लक चिदानन्दसागर जी, क्षुल्लक सन्मतिसागर जी आदि साधु-साध्वियों के समक्ष ही ये दोनों पाठ चलाये गये। उस समय आलाप पद्धति की नयों की चर्चा सभी को खूब अच्छी लगी और एकीभाव स्तोत्र में तो मानों भक्ति का झरना ही फूट पड़ा हो।

क्षुल्लिका चन्द्रमती माताजी सतत विद्युल्लता को त्याग मार्ग में प्रेरित करती रहती थीं। चूँकि यह उन्हीं की गृहस्थाश्रम की पुत्री थीं।

इस तरह यहाँ आचार्य श्री की छत्रछाया में अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग चल रहा था। इसी मध्य सम्मेदशिखर जी से विहार करते हुए आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज अपने चतुर्विध संघ सहित यहाँ आचार्यदेव के दर्शनार्थ आ गये। उन्होंने अपने गुरुदेव के दर्शन कर अपने को कृतार्थ किया और हम सभी मुनि, आर्यिका आदि ने उनके दर्शन कर अपने को धन्य माना। इन्होंने आचार्य वीरसागर जी से ही क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की थी अतः ये आचार्यदेव को अपना गुरु मानकर उनकी सल्लेखना के समय उनके सानिध्य में रहने का लाभ लेने आये हुए थे। उनमें गुरुभक्ति अपार थी, देखकर मन गद्गद हो जाता था।

£ १८ ¤

इस चातुर्मास में क्षुल्लिका चन्द्रमती जी मेरे पास रहती थीं। उनके स्वास्थ्य की अस्वस्थता में मैं स्वयं परिचर्या करती रहती थी। आचार्य महाराज भी वैयावृत्य के बारे में बहुत ही प्रोत्साहित किया करते थे।

उस चातुर्मास में रांची के विद्वान् पण्डित शिवराम जी आचार्यश्री के दर्शनार्थ आने वाले थे। तभी जयपुर में उनके विरोध में मीटिंग हुई और यह विचार बनाया गया कि—

"इन्हें अपमानित करके यहाँ से भेजा जाये।"

चूंकि इन्होंने कुछ ही महीनों पूर्व बम्बई में शास्त्र की गद्दी पर बैठकर यह कह दिया था कि—"महिलायें आहार नहीं दे सकती हैं।"

---

१. जिस समय यह प्रकरण लिखा गया उस समय इस परम्परा के आचार्य धर्मसागर जी महाराज थे।

इस पर नेमिसागर जी मुनिराज ने उपवास करना शुरू कर दिया था, क्योंकि यह वक्तव्य आगम के विपरीत था। तब समाज में विरोध की लहर दौड़ जाने से जगह-जगह इस विषय के आगम प्रमाण भेजने हेतु तार दिये गये थे। यहाँ आचार्य वीरसागर जी के संघ में भी तार द्वारा समाचार आया था और आचार्यदेव ने अनेक प्रमाण भिजवाये थे तथा परम तपस्वी मुनिश्री नेमिसागर जी के लिए उपवास समाप्त करने की सूचना भी भिजवाई थी। यही कारण था कि इनकी इस आगम विरुद्ध विचारधारा से इनके प्रति जैन जनता में क्षोभ व्याप्त था। प्रातःकाल जब आचार्य श्री को यह बात विदित हुई तब उन्होंने श्रावकों को बुलाकर आदेश दिया कि—

"नहीं, गुरुदर्शन के लिए अपने यहाँ शत्रु भी आवे तो उसे आदर देना चाहिए। उसके अपमान की बात नहीं सोचना।"

अतः गुरुआज्ञा के आगे सबको शांत होना पड़ा था। जब वे पंडित महोदय यहाँ आये तो उन्होंने भक्ति से गद्‌गद हो आचार्यदेव को नमोस्तु किया। आचार्यदेव ने भी उन्हें शुभाशीर्वाद दिया।

अनन्तर चर्चायें शुरू हो गई। मध्य में प्रासंगिक चर्चा भी आ गई, आचार्यश्री के समक्ष अन्य किसी ने आज्ञा लेकर यह प्रश्न कर दिया कि—"पंडित जी! आपने किस आधार से यह कह दिया कि स्त्रियाँ साधुओं को आहार नहीं दे सकतीं?"

पंडित जी ने कहा—"मैं प्रथमानुयोग के उदाहरणों को प्रमाण नहीं मानता हूँ। मुझे विधान वाक्य दिखाइये।"

उन दिनों मैं जिनमती को मूलाचार पढ़ा रही थी तथा इससे पहले ही चर्चा के लिए विधान वाक्य ढूँढकर रख लिये गये थे। तभी आचार्यश्री ने उन्हें मूलाचार[६], आचारसार आदि के सबल प्रमाण दिखाये। दायकदोष में महिलाओं के बारे में स्पष्टीकरण किया गया है। यथा—

सूदी सुंडी रोगी मदयणपुंसय पिसायणग्गो य।
उच्चारपंडिदवंतरूहिरवेसी समणी अंगमक्खीया।।४९।।

सूतिः या बालं प्रसाघयति।....वेश्या दासी। श्रमणिकाऽऽर्यिका अथवा पंचश्रमणिका रक्तपटिकादयः। अंगम्रक्षिका अंगाभ्यंगनकारिणी। तथा-

अतिबाला अतिबुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था।।५०।।

अतिबाला अतिमुग्धा, अतिवृद्धा, अतीवजराग्रस्ता। ग्रासयन्ती भक्षयन्ती अन्तरिता कुड्यादिभिर्व्यवहिता। आसीनोपविष्टा। उच्चस्था उन्नतप्रदेशस्थिता। नीचस्था निम्नप्रदेशस्थिता। एवं पुरुषों वा वनिता च यदि ददाति तदा न ग्राह्यं भोजनादिकमिति।

ये मूलाचार की गाथायें श्री कुन्दकुन्द देव कृत हैं एवं टीकाकार सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री वसुनंदि आचार्यकृत हैं। मूलगाथा में ही महिलाओं को लिया है कि सूती, वेश्या, दासी, आर्यिका, लालवस्त्र धारण करने वाली सन्यासिनी, तैल मालिश करने वाली, अतिबाला, अतिवृद्धा, खाती हुई महिला, पाँच महीने वाली गर्भवती स्त्री, अंधी या काणी, दिवाल आदि से छिपकर खड़ी हुई, ऊँचे स्थान में स्थित या नीचे स्थान पर स्थित ऐसी स्त्रियाँ आहार देवें तो मुनि न लेवें अन्यथा उन्हें 'दायक दोष' लगता है। इससे अर्थापत्ति से यह अर्थ स्वयं हो जाता है कि इनसे अतिरिक्त महिलायें आहार देवें तो मुनि लेते हैं, उन्हें कोई दोष नहीं है। भला इन गाथाओं से बढ़कर और क्या विधान वाक्य होंगे? अर्थात् यह मूलाचार का कथन ही तो विधान वाक्य है।

बहुत देर तक चर्चा चलती रही। जयपुर शहर के विद्वानों में पंडित इन्द्रलाल जी शास्त्री आदि भी आ गये थे किन्तु आचार्यश्री के समक्ष प्रायः सभी विद्वान् मौन थे। सब कुछ प्रमाण दिखाने के अनंतर भी पंडित जी ने अंत में यही कहा—

"यह विषय अभी साध्य की कोटि में है, सिद्ध नहीं हुआ है।" यद्यपि उनका यह दुराग्रह हठवाद था, फिर भी सभी साधु-साध्वी हंसमुख मुद्रा से ही उनसे वार्तालाप करते रहे। किन्हीं ने किंचित् भी रोष व्यक्त नहीं किया। पंडित जी को ससम्मान विदा कर देने के बाद हम लोगों को आश्चर्य अवश्य हुआ तथा खेद भी कि— "यह विद्वान् होकर भी कितना कदाग्रही (हठाग्रही) है। वास्तव में मिथ्यात्व के उदय में सत्य बात भी असत्य ही प्रतीत होती है। "महुरं खु रसं अहा जरिदौ" यह गोम्मटसार का वाक्य याद आ जाता है कि पित्तज्वर से पीड़ित मनुष्य को मधुर रस—दूध भी कड़ुवा ही लगता है। यह उस दूध या व्यक्ति का दोष नहीं है प्रत्युत् ज्वर का ही दोष है।"

ऐसे-ऐसे अनेक प्रसंगों से आचार्यश्री के चरण सान्निध्य में मुझ जैसे नव दीक्षित साधुओं को आगम के तलस्पर्शी रहस्य का ज्ञान मिलता रहता था।

आचार्यदेव गुरुवर श्रीवीरसागर जी महाराज तो दिन पर दिन कमजोर चल ही रहे थे अतः संघस्थ क्षुल्लक चिदानंदसागर, जो कि संघ में उस समय एक अच्छे प्रतिभावान् साधु थे सभी चाहते थे कि ये आचार्यदेव के करकमलों से मुनि दीक्षा ले लेवें अतः सभी लोग प्रायः उनके पीछे पड़े रहते थे।

"क्षुल्लक जी! आप तो मुनि बनने के योग्य उत्तम पात्र हो, दीक्षा क्यों नहीं ले लेते?"

मैं तो उन्हें मुनि बनने की प्रेरणा शुरू से ही दे रही थी जबसे संघ में उनका निकट परिचय हुआ था। उनकी धर्मपत्नी बसंतीबाई भी कलकत्ते से संघ के दर्शनार्थ यहाँ आई हुई थीं।

एक दिन उन्होंने भी कहा—"महाराज जी! जब मैंने आपको दीक्षा के लिए स्वीकृति दे दी तब आप मुनि क्यों नहीं बन जाते हैं? क्यों लंगोटी-चादर में मोह कर रक्खा है?"

उनके ये प्रेरणास्पद वाक्य सुनकर भी क्षुल्लक जी हँसते रहे। टस से मस नहीं हुये। आचार्य वीरसागर जी उन्हें बहुत प्रेरणा दिया करते थे।

£ १९ ¤

आर्यिका इन्दुमती माताजी भी गुरुदेव की अंतिम समाधि देखने के लिए संघ में आ चुकी थीं। उनके साथ में ब्रह्मचारिणी भंवरी बाई थीं। ये कर्म प्रकृतियों की चर्चा में बहुत ही निष्णात थीं। इन्हें भी मैं सदा कहा करती थी—

'भंवरी बाई! तुम आर्यिका दीक्षा क्यों नहीं लेती हो? तुम्हारे में तो सर्वाङ्गीण योग्यता है।"

वे हँसकर टाल देती थीं और कहतीं—

"जब इन्दुमती माताजी आज्ञा दे देंगी तब मैं दीक्षा लूँगी।" उस समय आचार्यश्री के सान्निध्य में उन्हें इन्दुमती माताजी की आज्ञा मिल गई और वे दीक्षा के लिए तैयार हो गईं। आचार्यश्री के पादमूल में नारियल चढ़ाकर प्रार्थना की। तब आचार्यश्री ने उनकी आर्यिका दीक्षा के लिए मुहूर्त निकलवाया। भादों सुदी ६ का मुहूर्त था। ब्र. भंवरीबाई ने मण्डल विधान का आयोजन कर रखा था।

इसी मध्य एक दिन प्रातः प्रतिक्रमण के बाद सभी मुनि आर्यिकायें आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित थे। क्षुल्लक चिदानंदसागर जी को मुनि दीक्षा के लिए प्रेरणा दी जा रही थी कि इसी बीच क्षुल्लक सन्मतिसागर जी महाराज उठकर खड़े हुए और आचार्यदेव के निकट में बैठकर विनय से बोले—

"सब लोग क्षुल्लक चिदानंद जी को प्रेरणा दे रहे हैं, उनके भाव हों न हों, मेरे तो भाव हो गये हैं। हे गुरुदेव! अब आप मुझे जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिये।"

इतना सुनकर क्षुल्लक चिदानंद जी भी सामने आ गये और निवेदन किया—"हे गुरुदेव! मुझे भी मुनि दीक्षा प्रदान कीजिये।"

इतना सुनते ही साधुओं में हर्ष की लहर दौड़ गई। ब्र. सूरजमल से चिदानंद जी ने कहा—"बाबाजी! ब्र. भंवरीबाई की दीक्षा होने के पहले ही हमारी दीक्षा हो जानी चाहिए, ऐसा मुहूर्त निकालना।"

बाबाजी ने भी पंचांग निकालकर देखा तो बोले—

"भादों सुदी ३ (रोटतीज) को आप दोनों की मुनि दीक्षा के लिए सबसे बढ़िया मुहूर्त है।"

बहुत ही उल्लासमय, हर्षपूर्ण वातावरण में पहले इन दोनों क्षुल्लकों की मुनि दीक्षाएँ हुईं। क्षुल्लक चिदानंद जी का "मुनि श्रुतसागर जी" नाम रखा गया और क्षुल्लक सन्मतिसागर जी का वही नाम घोषित किया गया। अनंतर तीन दिन बाद ब्र. भंवरीबाई की आर्यिका दीक्षा हुई। उस समय उनका नाम "सुपार्श्वमती" रखा गया। इस प्रकार क्षुल्लिका पद्मावती की दीक्षा के अनन्तर मैंने आचार्यदेव के कर-कमलों से मुनि दीक्षा और आर्यिका दीक्षा को देखा। बस, आचार्यश्री के द्वारा ये अंतिम दीक्षाएँ थीं।

इस धर्ममय वातावरण में दिन तो ध्यान-अध्ययन में व्यतीत हो रहा था और रात्रि में स्वप्न में भी मुझे अनेक व्याकरण के नये-नये सूत्र याद हो रहे थे। मैं जब प्रातः आकर आचार्यश्री के सामने स्वप्न में याद हुए नये-नये सूत्र सुनाती तब वे जैनेन्द्र व्याकरण खोलकर उन सूत्रों को दिखा देते और प्रसन्न होकर कहते—

"ज्ञानमती जी! तुमने पूर्वजन्म में इन व्याकरणों का अभ्यास किया है, इसलिए ये सूत्र तुम्हें स्वप्न में याद हो रहे हैं।"

कुल मिलाकर यह बात थी कि नये सूत्रों के साथ दिनभर के पढ़े हुए विषय भी स्वप्न में आते रहते थे और उनका मनन अभ्यास चलता रहता था।

भादों के बाद आचार्यश्री दिन पर दिन कमजोर होते जा रहे थे। इससे यह लगता था कि इस चातुर्मास में आचार्यश्री की समाधि हो जावेगी अतः गुरुवियोग की आशंका कभी-कभी हृदय को क्षुब्ध कर दिया करती थी। श्रावक लोग आचार्यश्री की सल्लेखना की घोषणा करना चाहते थे कि जिससे सभी गाँव के, शहरों के भाक्तिकगण उनके दर्शनों का लाभ ले लेवें, वंचित न रह जायें किंतु आचार्यश्री ने घोषणा करने से मना कर दिया था अतः उनकी आज्ञा के बिना लोग बाहर सूचना नहीं कर पाये थे। आचार्यदेव ने क्रम-क्रम से सभी फल-रसों का भी त्याग कर दिया था। अब मात्र उनके आहार में जरा सा गेहूँ का चूरमा और मट्ठा ही रह गया था।

आश्विन वदी चतुर्दशी के दिन मध्याह्न में पाक्षिक प्रतिक्रमण हो रहा था, आचार्यदेव स्वयं पुस्तक लेकर पढ़ रहे थे, प्रतिक्रमण पूरा होने के बाद सभी ने क्रम-क्रम से अपने दोषों का निवेदन कर प्रायश्चित्त माँगा और महाराज जी ने सबको प्रायश्चित दिया। यह उनके श्रीमुख से प्रायश्चित्त लेने का अंतिम दिन था।

अगले दिन आश्विन कृष्णा अमावस्या को आहार के समय आचार्यदेव चर्या के लिए निकलना नहीं चाहते थे, उपवास करना चाहते थे किंतु संघ के प्रमुख ब्रह्मचारी सूरजमल जी ने और ब्र. चाँदमल जी-गुरुजी आदि ने आचार्यश्री से निवेदन किया—"महाराज जी! संघ के अधिकांश साधु-साध्वी कल चतुर्दशी के उपवासी हैं। आप यदि चर्या को नहीं निकलेंगे तो कोई भी साधु नहीं उठेंगे।"

इतना सुनकर आचार्यश्री को करुणा आ गई और वे चर्या के लिए निकले। आहार के लिए पास ही के चौके में पड़गाहन हो गया। श्रावकों ने नवधा भक्ति की और आचार्यदेव आहार के लिए खड़े हो गये। उन्होंने एक अंजुलि जल लिया था कि वापस बैठ गये। प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन करके चतुराहार त्याग कर अपनी वसतिका में आ गये। उनको लिटा दिया गया, किंतु वे सहसा उठकर ध्यानमुद्रा में बैठ गये। उनके निकट ब्रह्मचारी सूरजमल जी थे और पंडित खूबचंद जी शास्त्री थे। जब इन दोनों ने देखा कि आचार्यदेव ने आँखें बंद कर ली हैं तब ये दोनों उच्च स्वर से णमोकार मंत्र बोलने लगे।

सभी मुनि, आर्यिका आदि आहार को जा चुके थे। कोई-कोई जल्दी आहार कर आ रहे थे, कोई आहार

कर रहे थे। मैंने वहाँ जल्दी से आकर देखा तो आचार्यदेव ध्यान में लीन हैं और धीमी-धीमी सांस चल रही है। क्रम से सभी साधु-साध्वी आ गये। एक बार तो आचार्यदेव को अपने बीच से स्वर्ग को गये देख सबका हृदय शोक से व्याकुल हो उठा। अंत में संसार की स्थिति का विचार करते हुए सभी ने धैर्य धारण किया।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी के निकट बैठकर रत्नत्रय से पवित्र शरीर का हम सभी साधु-साध्वियों ने समाधिमरण की क्रिया संपन्न किया।

इधर जयपुर शहर में आचार्यश्री की समाधि का समाचार पहुँचते ही सारा जैन समाज उमड़ पड़ा। सामायिक उपरांत अपराह्न ३-४ बजे के करीब वहीं मंदिर जी के बाहर प्रांगण में आचार्यदेव के पार्थिव शरीर का अंतिम संस्कार ब्रह्मचारी सूरजमल जी के द्वारा विधिवत् संपन्न किया गया पुनः उनके निषद्या स्थान की सभी साधुओं ने मिलकर वंदना की।

आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज प्रतिदिन प्रातः सभी साधु-साध्वियों को साथ बैठाकर आचार्यदेव की निषद्या वंदना करते थे और अनेक बार उठकर-बैठकर नमस्कार करते थे। ये महावीरकीर्ति महाराज आचार्य वीरसागर जी महाराज से पहले आचार्य बन चुके थे, फिर भी इन्होंने सदा ही उन्हें पहले भक्तिपाठ पढ़कर नमोऽस्तु किया था। आजकल के आचार्यों के लिए उनका यह उदाहरण अनुकरणीय है। उनकी गुरुभक्ति देखकर हम लोगों का हृदय भी गुरुभक्ति से आप्लावित हो जाता था और मैं सोचा करती थी कि—

वास्तव में - गुरुभक्तिः सती मुक्तयै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकीमूल्य रत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः।''

आचार्यश्री की समाधि के पश्चात् उनके प्रथम शिष्य मुनिश्री शिवसागरजी को आचार्य पद देने का निर्णय किया गया।

चतुर्विध संघ की प्रार्थना से मुनिश्री शिवसागर जी ने यह गुरुतर भार वहन करने की स्वीकृति दे दी। तब उत्तम मुहूर्त निकाल कर समाज में घोषणा कर दी गई। कार्तिक शुक्ला एकादशी के मंगल मुहूर्त में विशाल जन मेदिनी के बीच मुनिश्री शिवसागर जी को गुरुदेव वीरसागर जी का आचार्य पट्ट प्रदान करने के लिए आचार्य पद की सारी क्रियायें करते हुए उन्हें इस चतुर्विध संघ का नवीन आचार्य बना दिया गया।

हम सभी साधु-साध्वियों ने संघ को सनाथ पाकर संतोष का अनुभव किया और पुनः पुनः नवीन आचार्य के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति पढ़कर नमोऽस्तु किया। आचार्य शिवसागर जी ने भी हम सबको वात्सल्य भाव से आशीर्वाद प्रदान किया और बोले—

''आप सभी लोगों ने मुझे आचार्य तो बना दिया है किन्तु मुझमें इतनी योग्यता तो है नहीं। अनुभव ज्ञान भी नहीं है, चूंकि अभी तक मैं संघ में मात्र स्वाध्याय में ही संलग्न रहा हूँ अतः इस आचार्यपद की शोभा बढ़ाना, गुरुदेव के गुरुतर भार को संभालने की क्षमता मुझमें होना, यह सब आप साधुओं पर ही निर्भर है।''

इस प्रकार से उनकी लघुतामयी वाणी सुनकर सभी साधु-साध्वी प्रसन्न हुये और बोले—

''महाराज जी! पद आने के बाद उस पद के अनुरूप योग्यता आ ही जाती है।''

पुनः हम सभी ने आपस में निर्णय किया कि यद्यपि इनका स्वभाव कुछ उग्र अवश्य है, फिर भी इनकी आज्ञा का पालन करते हुए इनके आचार्यपद को सुशोभित करना हम सभी के हाथ में है अतः अब सभी का यह कर्तव्य है कि इनकी आज्ञा का पालन करें, इन्हें महान् गिनें और गौरव देवें।''

मेरी स्मृतियाँ

द्वितीय खण्ड

£ २० ¤

गिरनार यात्रा हेतु प्रस्थान —

भगवान नेमिनाथ की निर्वाणभूमि की वंदना करने का विचार चल रहा था। नूतन आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज ने कतिपय मुनियों और आर्यिकाओं के मध्य बैठकर यह विचार बनाया कि—

"गुरुदेव के वियोग को भुलाने के लिए अब हम लोग एक सिद्धक्षेत्र की यात्रा करें।" सभी के हृदय में गिरनार पर्वत के दर्शन की लालसा जागृत हो रही थी। विचार-विमर्श के अनुसार सारे संघ का एक निर्णय हुआ और यात्रा कराने का भार निवाई के सेठ हीरालाल जी पाटनी ने सहर्ष धारण किया। आचार्यश्री के समक्ष श्रीफल चढ़ाकर हीरालाल जी ने निवेदन किया—

"महाराज जी! हम आपको चतुर्विध संघ सहित गिरनार क्षेत्र की यात्रा कराना चाहते हैं, आप स्वीकृति प्रदान कीजिये।"

आचार्यश्री की स्वीकृति प्राप्त होते ही संघ के प्रमुख ब्रह्मचारी श्री सूरजमलजी ने सेठ हीरालाल जी को **संघपति** नाम से संबोधित किया और यात्रा के लिए व्यवस्था बनाई गई। यह सन् १९५७ की बात है।

शुभमुहूर्त में आचार्यश्री ने अपने विशाल चतुर्विध संघ सहित गिरनार यात्रा के लिए गुजरात की ओर विहार कर दिया। उस समय संघ में आचार्यश्री के साथ पाँच मुनि थे—१. मुनिश्री धर्मसागर जी २. मुनिश्री पद्मसागर जी ३. मुनिश्री जयसागरजी ४. मुनिश्री सन्मतिसागरजी और ५. मुनिश्री श्रुतसागरजी। आर्यिकाओं में १. आर्यिका श्रीवीरमती माताजी २. श्री धर्ममतीमाताजी ३. श्री सुमतिमती माताजी ४. श्रीपार्श्वमती माताजी ५. श्रीपार्श्वमती माताजी ६. श्रीसिद्धमती माताजी ७. श्रीशांतिमती माताजी ८. श्रीवासुमती माताजी ९. श्री ज्ञानमती माताजी।

क्षुल्लक श्री सुमतिसागर जी थे जिन्हें लोग मदनभट्ट कहा करते थे। इनके अतिरिक्त १. क्षुल्लिका ज्ञानमतीजी २. क्षुल्लिका चन्द्रमती जी ३. क्षुल्लिका जिनमती जी और ४. क्षुल्लिका पद्मावती जी, ऐसे एक क्षुल्लक और चार क्षुल्लिकायें थीं।

इनमें आर्यिका धर्ममती माताजी, आचार्यश्री जयकीर्ति महाराज से दीक्षित थीं। इनके साथ इन्हीं की दीक्षित क्षुल्लिका ज्ञानमती थीं जिन्होंने बाद में आचार्यश्री शिवसागरजी से आर्यिका दीक्षा ली थी तब उनका नाम बुद्धिमतीजी रखा गया था। ऐसे ही नं. ४ की पार्श्वमती माताजी आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी की शिष्या हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचारियों में ब्र. सूरजमलजी, ब्र. राजमलजी, ब्र. लाडमलजी, ब्र. कचोड़मलजी ये चार प्रमुख थे। इन्हीं के साथ ब्र. सुगनचंद, ब्र. घासीराम, ब्र. गणेशीलाल, ब्र. कपूरचंदजी, ब्र. चिरंजीलालजी भी थे।

ब्रह्मचारिणियों में ब्र.कस्तूरीबाई, ब्र. सोनाबाई, ब्र. बसंतीबाई, ब्र.मुकुनीबाई, ब्र. हीराबाई, ब्र. पतासीबाई, ब्र. गट्टूबाई, ब्र. धूलीबाई, ब्र. गुलाबबाई, ब्र. सुक्कीबाई और ब्र. रूपाबाई आदि थीं।

सौ. रतनीबाई ध.प. श्रीमान सेठ हीरालालजी अपने नाम के अनुरूप ही रत्न थीं। इनमें उदारता, सहिष्णुता आदि विशेष गुण थे। वह बहुत ही दयालु और मिलनसार स्वभाव वाली धर्मनिष्ठ महिला थीं। इनके साथ सज्जनबाई आदि दो तीन बाईयाँ थीं।

उस समय संघ में संघपति हीरालालजी का चौका, ब्र. सोनुबाई का, ब्र. हीराबाई का, ब्र. गट्टूबाई का, ब्र. मुकुनीबाई का, ब्र. गुलाबबाई का, ब्र. सुक्कीबाई आदि के चौके स्थायी रूप से थे तथा बीच-बीच में अन्य श्रावकों के भी चौके होते रहते थे।

अजमेर—

संघ का विहार अजमेर की तरफ हुआ। सरसेठ भागचंदजी सोनी का संघ में आवागमन चालू हो गया। वे चाहते थे कि—

"संघ अजमेर में हमारे यहाँ बड़ी नशिया—सोनीजी की नशिया में ही ठहरे।"

किन्तु कुछ साधु और श्रावकों का कहना था कि—

"संघ के मुनि छोटे धड़े की नशिया में और आर्यिकायें बाबाजी की नशिया में ही ठहरें।"

यह एक बहुत बड़ा संघर्ष का विषय रहा। मार्ग में ५-६ दिनों तक इसी पर ऊहापोह चलता रहा। अंत में सेठ साहब की अनुनय-विनय और गुरुभक्ति की विजय हुई और आचार्यश्री आदि साधुगण सेठसाहब की नशिया में ही ठहरे तथा आर्यिकाओं को उसी के सामने हवेली में ठहराया गया। शहर के प्रवेश में अजमेर की जैन समाज ने संघ का स्वागत भी जोरदार किया। सेठसाहब भी भक्ति में विभोर हो संघ के मंगलप्रवेश में पैदल चलते रहे थे।

वहाँ संघ कई एक दिन ठहरा उस बीच एक दिन नशिया में मेरा प्रवचन आचार्यश्री ने करा दिया। प्रवचन के बाद तथा मध्याह्न में कई लोग आचार्यश्री के पास आये और प्रार्थना करने लगे—

"महाराजजी! आर्यिका ज्ञानमती जी का यहाँ शहर में एक दिन सार्वजनिक सभा में प्रवचन करा दीजिये, बहुत लोग चाहते हैं।"

इस प्रार्थना में सरसेठ भागचंद जी भी प्रयास कर रहे थे। आचार्यश्री ने भी गौरव का अनुभव करते हुए मुस्कराकर मौनस्वीकृति दे दी। सेठ हीरालालजी तो बहुत ही प्रसन्न हुए किन्तु सायंकाल में ही कुछ चर्चा बढ़ी और किन्हीं ईर्ष्यालुओं ने यह कहा—

"क्या संघ में ज्ञानमती ही हैं और कोई साधु नहीं है?" आचार्यश्री ने अशांति का वातावरण देखकर मना कर दिया और बोले—

"हमारे संघ के साधु सार्वजनिक सभा में प्रवचन नहीं करते हैं।" बात समाप्त हो गई, कुछ भक्त श्रद्धालु जन, जो धर्मप्रभावना के इच्छुक थे वे दुःखी बहुत हुए किन्तु मनमसोस कर रह गये। मुझे उस समय जनता की मेरे प्रति सद्भावना से विशेष हर्ष भी नहीं हुआ और आचार्यश्री के मना कर देने पर कोई विषाद भी नहीं हुआ किंतु मन में यही आया कि—

"अगर उपदेश न करने से संघ में शांति रहती है और मेरे उपदेश से कुछ लोगों में ईर्ष्या से अशांति भड़कती है तो ऐसे उपदेश देने से क्या लाभ? मैंने तो अपने ध्यान-अध्ययन के लिए, संसार बंधन से छूटने के लिए दीक्षा ली है अतः इस लोक प्रभावना से मुझे क्या प्रयोजन?"

मैं मार्ग में विहार करते-करते जब कहीं वृक्ष की छाया में किंचित् विश्राम के लिए बैठती तभी जिनमती शिष्या को गोम्मटसार जीवकांड की छह गाथायें पढ़ा देती। ऐसे दो तीन बार के विश्राम में मैं छह गाथायें गोम्मटसार की, छह श्लोक आप्तमीमांसा के और छह श्लोक समाधिशतक के पढ़ा देती। प्रायः प्रतिदिन अठारह श्लोक पढ़ाती थी और उन्हें क्षुल्लिका जिनमती रात्रि में याद करके सुना देती थीं। यदि उन्हें याद न हो सके तो मैं प्रायः बैठकर याद कराकर, सुन कर ही सोती थी। उन दिनों संघ का विहार दोनों समय होता था सब मिलकर प्रायः पंद्रह-सोलह मील हो जाता था। कभी-कभी चलते समय मेरे पेट में दर्द शुरू हो जाने से मैं धीरे-धीरे चलती थी तो प्रायः सभी साधुओं के पीछे रह जाती थी किन्तु देर-अदेर गंतव्य स्थान तक पहुँच ही जाती थी।

उस समय मेरे पास में क्षुल्लिका चंद्रमती, क्षुल्लिका पद्मावती, क्षुल्लिका जिनमती ये तीन साध्वियाँ थीं एवं एक ब्रह्मचारिणी थी। आर्यिका धर्ममती जी, आर्यिका वीरमती जी आदि का मेरे प्रति वात्सल्य अच्छा था। अच्छे हर्षोल्लास से विहार हो रहा था।

ब्यावर —अजमेर शहर से विहार कर संघ ब्यावर शहर में पहुँच गया। वहाँ सेठ चंपालालजी की

नशिया में संघ ठहर गया, वहीं 'ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन' में आर्यिकायँ ठहर गयीं। मैं सरस्वती भवन के प्रवेश द्वार के ही बगल में सड़क की तरफ के कमरे में ठहरी थी। रात्रि में १०-११ बजे तक उसी कमरे से लगी दीवाल में बाहर की ओर प्रवेशद्वार के बगल के ही कमरे में खटपट चलती रही। वहाँ ब्र. गणेशीलाल जी व ब्रह्मचारिणी गुलाबबाई आदि ठहरे थे, उन्हें चौका करना था अतः चंदोवा के लिए कीलें ठोंक रहे थे। इस खटपट के कारण मुझे भी देर से ही नींद आई पुनः पिछली रात्रि में चार बजे आँख खुलते ही बाहर के कमरे से जोरों से रोने की आवाज आई। मैंने उधर कान लगाये तो रोना करुण-क्रंदनरूप था, बाहर निकलकर पता लगाया तो मालूम पड़ा कि ब्र. गणेशीलाल जी स्वर्गस्थ हो गये हैं। सुनकर हम सभी लोग स्तब्ध रह गये।

ब्रह्मचारिणी गुलाबबाई ने बताया कि—

"बाबाजी नित्य की तरह लगभग साढ़े तीन बजे उठे, मेरे से माला मांगी और अपनी चटाई पर बिछे हुए बिस्तर पर ही चादर से मुंह ढककर माला फेरने लगे। पंद्रह-बीस मिनट में वे लुढ़क गये मैंने समझा नींद आ गयी होगी अतः ऐसे ही सो गये होंगे, कुछ क्षण बाद मैंने आवाज दी तो बाबाजी बोले ही नहीं तो मैंने चादर खींचा तब ऐसा लगा कि बाबाजी शायद इस शरीर को छोड़कर चले गये हैं मैंने हल्ला मचाकर बाहर से लोगों को बुलाया तब यह निर्णय हो गया कि बाबाजी की आत्मा अब इस शरीर में नहीं है।"

यह ब्र. गणेशीलालजी संघस्थ आर्यिका सुमतिमती माताजी के गृहस्थाश्रम के भ्राता थे। इनके दत्तक पुत्र का नाम पं. सनत्कुमार विलाला था। इनकी धर्मपत्नी उस समय साथ में नहीं थीं वे जयपुर में ही अपने घर पर थीं। उनके परिवार को सूचना गई वे लोग वहाँ आये और वहाँ ब्यावर में एक विशेष ही वैराग्य का वातावरण बन गया।

बात यह थी कि खानिया चातुर्मास में ब्र. गणेशीलालजी आचार्यश्री वीरसागर जी के करकमलों से क्षुल्लक दीक्षा लेना चाहते थे, श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की थी। इस धर्मकार्य में आर्यिका सुमतिमती माताजी की भी प्रेरणा थी। दीक्षा के लिए ब्र. सूरजमलजी ने मुहूर्त निकाल दिया था और आचार्य श्री की आज्ञानुसार उनके लिए लंगोट और चादर भी रंग लिये गये थे। दीक्षा के एक दिन पूर्व ब्रह्मचारी जी के पुत्र पंडित सनत्कुमार जी बहुत ही विरोध में आ गये, लोगों के समझाने पर भी वे नहीं समझ सके और अपने पिता को जबरदस्ती ले गये। घर ले जाकर उन्हें एक कमरे में बंद कर बाहर से ताला लगा दिया, ऐसी चर्चा सुनने में आई। निष्कर्ष यह निकला कि उनकी दीक्षा रुक गई और जयपुर समाज में यह एक चर्चा का विषय बन गया। ब्र. गणेशीलाल जी साठ वर्ष से अधिक के हो चुके थे फिर भी स्वास्थ्य और मनोबल अच्छा था किन्तु उनके भाग्य ने साथ नहीं दिया अतः उनका ही पुत्र उनके त्यागमय जीवन का विरोधी बन गया।

जयपुर के प्रबुद्ध वर्गों में कोई ब्र. जी के प्रति सद्भावना व्यक्त करते हुये उनके पुत्र के मोह की निंदा करने लगे और कोई पुत्र के इस व्यवहार की प्रशंसा करने लगे तथा कोई मध्यस्थ भाव से इस चर्चा को सुनते रहे।

मैं सोचने लगी—

"अहो! मोह का कैसा अचिन्त्य माहात्म्य है? वृद्धावस्था में भी ये परिजन लोग कैसा बांध लेते हैं!....."

पुनः उसी क्षण अपने वैराग्य के समय अपने माता-पिता के द्वारा किये गये मोह तथा जनता के विरोध का स्मरण कर मन सिहर उठा। इसके बाद मैंने जो अपने पुरुषार्थ से विजय पाई और मुझे दीक्षानिधि प्राप्त हुई इस विषय पर भी मैं सोचने लगी-

"अहो! मेरा कई जन्मों का पुण्य संचित किया हुआ ही मुझे काम आया जो मैं अपने कार्य में सफल हो गई, अब मुझे अपने मोक्षमार्ग की साधना में रंचमात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।"

उस समय तो ये अनेक ऊहापोह मन में उठे ही थे, आज पुनः उनके आकस्मिक निधन से वह संस्मरण सब साधु-साध्वियों के सामने उभर आया, सभी के मुख से एक स्वर से यही निकला—

"उस समय पं.सनत्कुमार ने ले जाकर ताले में बंद कर दिया था, अब भी मरते समय उन्हें रोक लेते.....।"

आज प्रातः ही इस घटना के होते ही मैं सोचने लगी—

आत्मानुशासन में श्री गुणभद्रस्वामी ने कहा है सो आज प्रत्यक्ष ही दिख रहा है—

शरणमशरणं वो बंधवो बंधमूलं।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।।
विपरिमृशतः पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः।।

जिन्हें हम शरण समझते हैं वे शरण नहीं अशरण ही हैं। ये सभी बंधु-बांधव बंधन के मूलकारण हैं। चिरकाल से परिचित भी भार्या आपत्ति के घर का मूल है। जो पुत्र हैं वे विचार करने पर शत्रु ही हैं इसलिए इन सबको छोड़ो और सुख के इच्छुक हो तो निर्मल धर्म का आश्रय लेवो।

बार-बार मन में चिंतन चलने लगा—

"संसार में गुरु से बढ़कर न कोई सच्चा बंधु है और न सच्चे माता-पिता ही। अर्थात् गुरु ही सच्चे माता-पिता हैं।"

उस समय जब पं. सनत्कुमार जी वहाँ आ गये तब अन्त्येष्टि क्रिया के बाद जब वे समय पाकर गुरु के पास बैठे तब वे स्वयं महसूस कर रहे थे कि—

"मैंने वास्तव में उस समय गुरुओं की नहीं मानी थी सो आज मेरे पिता का रात्रि में अकस्मात् स्वर्गवास हो गया, यदि ये आज क्षुल्लक होते तो साधुवर्ग के बीच में इनकी सल्लेखना महामंत्र सुनते-सुनते ही होती।"

खैर, यह भी अच्छी बात थी कि वे हाथ में माला लेकर ही लुढ़के थे। जो भी हो, जब उन्होंने जीवन में पूजन, दान, स्वाध्याय आदि करके पुण्य अर्जन किया था सो अवश्य ही उनके लिए काम में आ गया।

इस घटना से आर्यिका सुमतिमती माताजी को भी बहुत वैराग्य हुआ। एक सप्ताह पूर्व कुछ शास्त्र के विषय को लेकर आर्यिका श्री वीरमती जी ने मुझसे कह दिया था कि तुम इस विषय में दृढ़ रहना अतः मैं उन्हें संघ की बड़ी आर्यिका मानकर उनकी बात नहीं टाल सकी थी। इस कारण २-४ दिन से हमारे प्रति सुमतिमती माताजी के मन में कुछ तनाव सा चल रहा था। उस समय वे आकर सहजभाव से मुझसे बोलीं—

"ज्ञानमतीजी! मैंने जो आपसे कुछ दो शब्द कहे और आपकी बात को काटने का प्रयास किया सो क्षमा करो.....। वास्तव में जीवन क्षण भंगुर है। कुछ विश्वास नहीं, सोने के बाद यह जीव उठकर बैठे या न बैठे। देखो क्षणमात्र में ब्र. गणेशीलाल चले गये। अपन लोग आपस में जरा-जरा सी बात को लेकर उलझ जाते हैं इसमें क्या रखा है? आपस में प्रेम से रहना ही अच्छा है।"

उनकी इस प्रकार की सरलता और क्षमायाचना को देखकर मैंने भी विनम्रता से क्षमायाचना की—

"माताजी! मेरी बालबुद्धि से जो हठाग्रता हुई सो आप क्षमा कीजिये, आप बड़ी हैं, आप मेरे से क्षमा मांगें, यह ठीक नहीं.....।"

मैं सोचने लगी—

"इनका हृदय कितना स्वच्छ और विशाल है। इनके मन में इस समय वैराग्य का प्रवाह विशेषरूप से बह रहा है। वास्तव में खून का संबंध ऐसा ही होता है। देखो! इन ब्रह्मचारी जी के लिए दीक्षा का मुहूर्त

निकाला जाना, पुनः दीक्षा का रोका जाना और कुछ ही माह बाद इस तरह आज अकस्मात् निधन हो जाना, यह सब निकटसंसारी भव्यात्माओं के लिए वैराग्य वृद्धि का हेतु ही होता है। कहा भी है—

''**जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्**[१]।''

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार करने से संवेग—धर्म में प्रेम और वैराग्य बढ़ता ही है।''

£ २१ ¤

मार्ग में धर्म प्रभावना—

इसके बाद यहाँ संघ दो-तीन दिन ठहरा पुनः गुजरात की ओर मंगलविहार हो गया।

संघ में आर्यिका सुमतिमती माताजी वृद्ध थीं तथा आर्यिका पार्श्वमती जी (जयपुर वाली) कुछ अस्वस्थ रहती थीं अतः आचार्यश्री की आज्ञा से एक डोली का प्रबंध किया गया था जिसमें कुछ-कुछ दूर ये दोनों माताजी क्रम-क्रम से बैठ जाती थीं।

गुजरात में संघ का स्वागत जगह-जगह अच्छा होता था। कहीं-कहीं दिगंबर जैन के घर नहीं थे किन्तु श्वेतांबर जैन थे, वे लोग आगे आकर संघ का स्वागत करते और अच्छी व्यवस्था बनाते थे।

संघपति हीरालालजी निरभिमानी थे। जब मार्ग में खुले स्थानों में तंबू-कनातें लगाई जातीं और वहाँ चौका लगते तब जंगल में एक छोटा सा गाँव जैसा दिखने लगता था। जब मुनि, आर्यिकायें आदि आहार को निकलते और उन कपड़ों के तंबू में पड़गाहे जाते उनका आहार शुरू होता तब संघस्थ ब्र. सूरजमलजी तथा कभी-कभी सेठ हीरालालजी स्वयं हाथ में छड़ी लेकर बाहर आसपास घूमते रहते कि इधर-उधर से गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि जानवर या कुत्ते आदि न आ जावें, चारों तरफ की निगरानी रखते। जब साधुओं का आहार संपन्न हो जाता तब वे प्रसन्न होते। वे कहते—

''दोनों समय पैदल चलकर साधुवर्ग चौबीस घंटे में एक बार करपात्र में आहार ग्रहण करते हैं। यदि जरा सी असावधानी से अंतराय हो गई तो उन्हें कष्ट तो होगा ही, आगे विहार में भी असुविधा होगी अतः आहार देने की अपेक्षा व्यवस्था संभालना भी बहुत जरूरी है।''

यदि ये सेठजी आदि दूसरों से कुत्ते, बंदर देखने का काम कहते तो शायद लोगों को बुरा भी लगता अतः वे स्वयं सहर्ष यह काम करने में अपनी मानहानि या बेइज्जती नहीं महसूस करते। उनकी धर्मपत्नी रतनीबाई, सभी ब्रह्मचारिणियाँ भी चौके का हर एक काम अपने हाथ से कर लेतीं। आटा पीसना, पानी भरना आदि। पुनः आहार दान के बाद भोजन से निवृत्त होकर बर्तन मांजने बैठ जातीं।

उधर बड़े-बड़े शहरों में जब चर्चा होती कि-

''बहुत बड़ा मुनि-आर्यिकाओं का संघ लेकर गिरनार यात्रा कराने के लिए एक सेठजी निकले हैं। साथ में बहुत से ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ भी हैं।

ऐसा सुन-सुन कर संघ जहाँ ठहरता वहाँ आकर लोग दर्शन करते, पुनः पूछते—

''इस संघ के व्यवस्थापक संघपति कौन हैं?''

लोग लकड़ी लेकर इधर-उधर घूमते हुए साधारणवेष में हीरालाल जी की ओर अंगुली उठाकर बताते, तो पूछने वाले आश्चर्यचकित हो जाते—

''अरे! ये सेठजी हैं! ये स्वयं ऐसा काम क्यों करते हैं?''

जब वे स्वयं उन सेठजी से मिलकर उनसे वार्तालाप करते तो उनकी सरलता और गुरुभक्ति से बहुत

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सूत्र.....

प्रभावित होते। कोई-कोई पूछ लेते—

"इनकी सेठानी कौन हैं?"

उन्हें भी जब आटा पीसते या बर्तन साफ करते देखते तो आश्चर्यचकित हुए बगैर नहीं रहते। तब उन्हें बताया जाता कि—

"दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों को अपने हाथ से काम करके आहार देने में आनंद तो है ही, पुण्य भी महान् है।"

इन साधु साध्वियों को आहार देने की शुद्धि व चर्याविधि सुनकर लोग समय-समय पर मुनियों का आहार देखने के लिए एकत्रित हो जाते और खड़े होकर पाणिपुट में आहार लेते हुए मुनियों को देखकर चतुर्थकाल का स्मरण कर तथा ग्रंथों की पंक्तियाँ स्मरण कर बहुत ही प्रभावित होते। अन्य ग्रंथों में भी लिखा है—

एकाकी निस्पृहः शांतः, पाणिपात्रो दिगंबरः।
कदा शंभो! भविष्यामि, कर्मनिर्मूलनक्षमः[१]।।

हे शंभु! हे भगवन् ! मैं एकाकी विचरण करने वाला, इच्छारहित, शांत, पाणिपुट में आहार लेने वाला, दिगंबर साधु, ऐसा कर्मों को निर्मूलन करने में समर्थ कब होऊँगा?

दिगंबर संप्रदाय में कहा ही है—

प्रावृट्काले सविद्युत् प्रपतितसलिले वृक्षमूलाधिवासाः।
हेमंते रात्रिमध्ये प्रतिविगतभयाः काष्ठवत्त्यक्तदेहाः।।
ग्रीष्मे सूर्यांशुतप्ता गिरिशिखरगताः स्थानकूटांतरस्थाः।
ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगणवृषभाः मोक्ष निःश्रेणिभूताः।।
गिरकंदरदुर्गेषु ये वसंति दिगंबराः।
पाणिपात्रपुटाहारास्ते यांति परमां गतिम्[२] ।।

जो पर्वत की कंदरा और दुर्ग प्रदेशों में निवास करते हैं और करपात्र में आहार ग्रहण करते हैं ऐसे दिगम्बर मुनि परमसिद्धगति को प्राप्त करते हैं।

जैन और जैनेत्तर भक्तगण संघ के दर्शन करके, गुरु के मुख से धर्मामृतरूप वाणी सुनकर, अपने जीवन को सफल मानते हुए धन्य-धन्य हो जाते थे।

सोनगढ़—

यद्यपि यह कोई तीर्थक्षेत्र नहीं है किन्तु कहानजी के आध्यात्मिक वातावरण ने उसे तीर्थ जैसा बना दिया है। ये जन्म से स्थानकवासी थे। २३ वर्ष की उम्र में स्थानकवासी साधु बने। एक दिन समयसार ग्रंथ मिल गया उन्होंने उसका अध्ययन किया और निश्चय एकांतवादी बन गये। वे सोनगढ़ आये, एकांत स्थान में चैत्र सुदी १३ वि. सं. १९९१ में स्थानकवासी साधु वेष की मुखपट्टिका उतार दी और दिगम्बर संप्रदाय के प्रति अपनी आस्था घोषित कर दी। इससे स्थानकवासी संप्रदाय में एक तूफान सा खड़ा हो गया।

कुछ समय बाद श्री रामजीभाई राजकोट से यहाँ आये। धीरे-धीरे विरोध शांत होने पर दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग इनके भक्त बनने लगे। इन्होंने अंत तक अपना श्वेताम्बरी लुंगी और चादर नहीं छोड़ा। ये न दिगम्बर बन पाये न श्वेताम्बर ही रहे। इन्होंने दिगम्बर मुनियों का विरोध करते हुए एक नया ही 'कानजी' पंथ चलाया है। इनका स्वर्गवास जशलोक अस्पताल बम्बई में हुआ। आज तो इनके सम्प्रदाय को मानने वालों में ही फूट होकर दो पंथ हो गये हैं। एक ने तो इनको भावी सूर्यकीर्ति तीर्थंकर कहकर उनकी मूर्ति भी बनाकर

---

१. भर्तृहरिशतक। २. योगभक्ति।

उनके मंदिरों में स्थापित कर दी है।

इनके संप्रदायवादियों के साथ जगह-जगह दिगम्बर मूल आम्नाय वालों से विसंवाद चल रहा है। बहुत जगह कोर्ट तक केस पहुँच चुके हैं।

यहाँ सोनगढ़ में सीमंधर भगवान् का जैन मंदिर, मानस्तम्भ, समवसरण मंदिर, श्रीकुंदकुंदकहान दिगम्बर जैन सरस्वती भवन आदि अनेक स्थल हैं। यहाँ मानस्तम्भ के मध्य भगवान् की प्रतिमाओं के ऊपर कानजीभाई की मूर्ति उकेरी हुई है जो विवाद का विषय बनी हुई है।

आचार्यश्री शिवसागर जी का संघ जब वहाँ पहुँचने को हुआ तब एक दिन पूर्व ही कानजी भाई, चंपाबेन, शांताबेन आदि प्रमुख लोग वहाँ से राजकोट चले गये पुनः जब हम लोग राजकोट पहुँचे तब पता चला कि रात्रि में ही ये कानजीभाई आदि प्रमुख लोग सोनगढ़ चले गये हैं।

वास्तव में निश्चयाभासी, अपने को तीर्थंकर मानने वाले कानजीभाई, भला दिगम्बर गुरुओं के दर्शन कैसे कर सकते थे? अस्तु, हम लोग पंचमकाल के व हुंडावसर्पिणी के इस दोष का विचार कर शांतचित्त से अपनी यात्रा हेतु आगे बढ़ गये।

उन दिनों वह घटना पुनः याद आ गई कि जब सन् १९५६ में चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के पट्टाधीश आचार्यवर्य श्री वीरसागरजी महाराज अपने विशाल चतुर्विध संघ सहित यहाँ जयपुर में खजांची की नशिया में विराजे हुये थे। उस समय दिगम्बर सम्प्रदाय के मुनियों का यह सबसे बड़ा संघ था, मैं वहीं संघ में ही थी। उन्हीं दिनों कानजीभाई अपने बहुत बड़े समुदाय के साथ जयपुर आये हुए थे। उसी समय मुनिभक्तों में प्रमुख पं. खूबचन्द जी शास्त्री आदि कई विद्वान् इंदौर आदि से वहाँ आये थे पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री आदि स्थानीय कई विद्वान् भी वहाँ थे। सभी मिलकर आचार्यश्री के पास आये और बोले कि—

हम लोग प्रयास कर रहे थे कि किसी भी तरह यहाँ कानजी भाई को लाया जावे। इन लोगों ने प्रयास भी किया, उनसे अनेक चर्चायें भी कीं किन्तु कानजी भाई अनेक मंदिरों के दर्शन करके भी उस नशिया के मंदिर का दर्शन करने वहाँ नहीं आये। इस घटना से उस समय जयपुर में मुनिभक्त समाज में बहुत बड़ा क्षोभ हुआ था।

पगडंडी में चलने का परिणाम —

एक दिन मार्ग में चलते हुये डामर रोड से चल रहे थे, आजू-बाजू घने जंगल दिखते थे, कभी जंगल में उतरने की पगडंडियाँ मिलती थीं जो आगे सड़क से भी मिल जाती थीं। आर्यिका वीरमती माताजी ने एक बार एक पगडंडी से निकल कर जल्दी से ही आगे सड़क पर पहुँचना चाहा, मुझसे से भी कहा। यद्यपि मेरी नीति थी कि "राजमार्ग से ही चलना चाहिए भले ही कुछ देर लग जावे किन्तु अपवादमार्ग से नहीं चलना चाहिए यदि बीच में कहीं फंस गये, न निकल सके तो.....?"

उस समय मैंने यह सूक्ति कही—

रस्ता चलना सीधा चाहे फेर हो।
भोजन करना माँ से चाहे जहर हो।।

और पगडंडी से आगे जंगल से चलने में आनाकानी की किन्तु माताजी की विशेष इच्छा देखकर बिना अपनी इच्छा के भी मैं उनके साथ चल पड़ी। दैवयोग से उस पगडंडी से जल्दी ही सड़क आ गई और माताजी बहुत खुश हुईं। कुछ साधु-साध्वियाँ, जिन्हें पगडंडी के प्रवेश के समय छोड़ा था वे पीछे रह गये और हम दोनों आगे पहुँच गईं। माताजी की सूझ-बूझ व पगडंडी से रास्ता तय करने की कुछ लोगों ने प्रशंसा की, कुछ तटस्थ रहे, हंसी मजाक में वह बात समाप्त हो गई। मेरी सूक्ति की भी हंसी बनाई गई।

पुनः अन्य किसी दिन आर्यिका वीरमती जी ने ऐसे ही पगडंडी से उतरना चाहा। उस दिन चारों तरफ घोर जंगल दिख रहा था मैंने बहुत कुछ मना किया किन्तु उनके साथ उतरना ही पड़ा। साथ में शायद आर्यिका सिद्धमती माताजी भी थीं और ब्र. कजोड़मलजी भी थे। बहुत कुछ दूर जाने पर हम चारों लोग एक बीहड़वनी में उतर गये वहाँ इतना ऊबड़-खाबड़ रास्ता था, इतने पत्थर थे कि जिनसे आगे बढ़ना कठिन हो रहा था और आस-पास कहीं सड़क का रास्ता नहीं दिख रहा था और न सड़क पर चलने वाली बसों या ट्रकों की आवाज ही सुनने में आती थी। अब हम सबके होश-हवाश गुम हो गये। मन-मन में महामंत्र का स्मरण करते हुए इधर-उधर देखने लगे कि कहीं कोई रास्ता दिख जाये या किधर से कोई आदमी आता हुआ दिख जाये। सभी को थकान भी खूब हो गई थी अतः वहीं ऊँचे-ऊँचे पत्थरों पर बैठ गये और णमोकार मंत्र की जाप करने लगे।

कुछ क्षण बाद एक बालक हाथ में लकड़ी लिए हुए उधर से निकला, वह अपनी बकरियों को चरा रहा था। तभी ब्र. कचोड़मलजी ने उससे बाहर निकलने का रास्ता पूछा तो उसने कहा—

"सड़क यहाँ से बहुत दूर है।"

तब बाबाजी ने अपनी अंटी में हाथ डाला और देखा कुछ रुपये हैं, तब बोले—

"भइया! लो यह रुपया और तुम मेरे साथ चलकर आगे सड़क तक पहुँचा दो।" उसने अपनी बकरियों को यथास्थान छोड़ा और हम लोगों के आगे-आगे चल पड़ा। ऊँचे-नीचे स्थानों को पार कराते हुए पहले पगडंडी पर लाया पुनः धीरे-धीरे बाहर निकलने के मार्ग में लगाया। हम सभी थक कर चूर हो गये थे, पैर जवाब दे रहे थे फिर भी महामंत्र की जाप करते-करते जैसे-तैसे सड़क पर आ गये। उस बालक को बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर विदा किया पुनः सड़क के चारों ओर देखा तो कोई भी गाँव नजर नहीं आ रहा था और न कोई आदमी ही दिख रहा था। सूर्यदेव भी अस्ताचल की ओर चल रहे थे।

हम लोग आगे सड़क पर चलने लगे। आगे एक साइकिल वाला मिला, उसे रोक कर उस गाँव का नाम पूछा जहाँ सायंकाल संघ को पहुँचना था उसने बताया—

"वह गाँव तो एक तरफ है आपको आगे बढ़कर अमुक सड़क से जाना होगा तब वहाँ पहुँचेंगे। वह गाँव यहाँ से ६-७ मील है।"

तब मैंने पूछा—

"आगे आस-पास में कौन सा गाँव है?"

उसने एक छोटे से कस्बे का नाम बता दिया। सड़क से चल कर सूर्य डूबने तक वहाँ पर पहुँच गये पुनः शीत काल का समय होने से एक बरामदा सा मिला उसी में जाकर बैठ गये। प्रतिक्रमण, सामायिक किया। बाबाजी ने कमंडलु के जल की व्यवस्था की और कहीं से थोड़ी सूखी घास ले आये जिसमें कुछ कांटे से भी थे। उसी घास पर बैठे-बैठे रात्रि वहाँ व्यतीत की। रात्रि में विश्राम से थकान उतर गई। प्रातः प्रतिक्रमण और सामायिक करके आचार्य श्री वीरसागरजी का नाम लेकर वहाँ से चले। पूछताछ कर ९-१० बजे करीब संघ में आकर मिले। उस समय संघ के सभी साधु चिंतामग्न हो रहे थे, देखते ही प्रसन्नता का वातावरण छा गया। आचार्यश्री ने रत्नत्रय कुशल पूछी तथा सब समाचार सुनकर बहुत ही खेद व्यक्त किया। पुनः—

"पगडंडी के छोटे रास्ते के लोभ की बात से सबने उस वातावरण को हँसी के माहौल में बदल दिया।" और बोले—

इसलिए हम लोग कहते हैं कि—"मोक्षमार्ग में जो आचार्यों ने राजमार्ग बतलाया है उसी से चलो। इधर-उधर मार्ग से गंतव्य स्थान जल्दी मिलने के बजाए कभी-कभी भटकना भी पड़ जाता है।"

हम सभी ने उस समय हँसी के वातावरण से अपनी-अपनी थकान समाप्त की और भगवान् का

अभिषेक देखकर, शुद्धि करके सबके साथ आहार को उठ गये। कुछ क्षण बाद यह विषय समाप्त हुआ और आगे के विहार की रूपरेखा बनी।

दिगम्बर मुनियों के प्रति जनता के भाव —

मार्ग के कई एक संस्मरण विशेष रहे हैं। एक बार एक गांव में लोगों ने दिगम्बर मुनियों को अन्दर आने के लिए रोक दिया और कहा—"साध्वियाँ यहाँ अन्दर गाँव में आकर ठहरें।"

ऐसा सुनकर सेठ हीरालालजी और ब्रह्मचारी सूरजमल जी ने संघ को बाहर ही ठहरा दिया। रात्रि में दो-चार सज्जन वहाँ दर्शनार्थ आये और जब उन्हें यह पता चला कि—

"ये साधु महान् हैं, पहुँचे हुये महात्मा हैं।" तब वे पश्चात्ताप से घबराने लगे और साधुओं के दर्शन की भावना व्यक्त की। उन्हें दर्शन करा दिया गया अब वे लोग बाहर आकर ब्रह्मचारी जी के पास रोने लगे और बोले—

"हम लोगों का अपराध क्षमा करो, अब हम लोग इन महात्माओं को गाँव में ले जाकर ही रहेंगे। इनकी चरण रज से हमारा गाँव पवित्र न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। हम लोग इन्हें जबरदस्ती ले जायेंगे।"

इस प्रकार आग्रह करने के बावजूद भी आचार्यश्री ने गाँव में प्रवेश की स्वीकृति नहीं दी, बाहर से ही विहार का निर्णय रहा, तब बेचारे ग्रामनिवासी भक्तगण प्रातः अंधेरे में ही आ गये तथा बहुत कुछ अनुनय विनय करने पर भी जब संघ का विहार होने लगा तब सब ने सजल नेत्रों से नमस्कार किया और कुछ दूर तक साथ-साथ चलते रहे। आचार्यश्री ने कुछ मधुर शब्दों में उन्हें उपदेश दिया जिसे सुनकर वे लोग अपने को धन्य मानते हुए और अपनी गलती पर पश्चात्ताप करते हुए अपने-अपने घर चले गये।

संघ आगे बढ़ते हुए प्रथम ही आबू पहुँचा। वहाँ पहाड़ पर जाकर जिनमंदिर का दर्शन किया। वहाँ श्वेताम्बरी मंदिर कई हैं। मंदिरों के पत्थर में कलाकारी को देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता, इतना बारीक काम है। तब करोड़ों रुपयों की लागत लग गई, आज तो इतनी बारीकी का काम सोचना भी कठिन है।

£ २२ ¤

क्रम-क्रम से चलते हुए संघ तारंगा पहुँचा। वहाँ किसी कारणवश सामान की ट्रक व बस बाहर ही रह गई। साधुवर्ग तो पदविहारी थे यथासमय तारंगा क्षेत्र के मंदिर में पहुँच गये। जिनप्रतिमाओं का दर्शन कर धर्मशाला में विश्राम करने लगे किन्तु समय पर श्रावकगण नहीं आ पाये। धीरे-धीरे कुछ ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ अपने-अपने सिर पर कुछ सामान लेकर आये। वहाँ धर्मशाला में चौका लगाया। मध्याह्न सामायिक के अनंतर लगभग तीन बजे साधु साध्वियाँ आहार को निकले तब एक-एक व्यक्ति ने दो-दो, तीन-तीन साधुओं को एक साथ आहार दिया। सभी के मन में सिद्धक्षेत्र की वंदना की उमंग थी अतः किन्हीं ने भी इसे दुःखद नहीं माना, सभी प्रसन्नचित्त ही रहे। वहाँ छोटे से पर्वत पर चढ़कर सिद्धभूमि की वंदना की। जीवन में साधुओं की साधना का पथ यही है, ऐसा प्रतीत हुआ।

तारंगा सिद्धक्षेत्र —

"वरदत्तो य वरंगो, सायरदत्तो य तारवरणयरे।
आहुट्ठयकोडीओ, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।"

इस तारवर नगर से वरदत्त, वरांग, सागरदत्त आदि साढ़े तीन करोड़ मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है, उन सबको मेरा नमस्कार होवे।

इस नगर के तारानगर, तारापुर, तारागढ़ और तारंगा आदि नाम मिलते हैं।

भट्टारक ज्ञानसागर, देवेंद्रकीर्ति और सुमतिसागर ने अपने स्तोत्र आदि में तारंगा के ऊपर कोटिशिला होने का उल्लेख किया है। वर्तमान में एक पहाड़ का नाम यहाँ कोटिशिला है। कोटिशिला से अभिप्रेत वह कोटिशिला शायद यह नहीं है। जिसे नारायण उठाते हैं। वह तो कलिंग देश में मानी है।

तारंगा पर्वत की तलहटी में एक कोट बना हुआ है, जिसके भीतर दिगम्बर जैन धर्मशाला, मंदिर और कार्यालय है। धर्मशाला के पृष्ठ भाग में कोटिशिला पर्वत पर जाने के लिए पक्का मार्ग है। यहाँ से जाकर कोटिशिला के टोंकों की वंदना करके उतरकर कुंड पर होते हुये तारंगा के दूसरे पर्वत सिद्धशिला पर चढ़ते हैं। इन दोनों पर्वतों पर लगभग ९०० वर्ष प्राचीन प्रतिमायें विद्यमान हैं। नीचे तलहटी में दिगम्बर जैन मंदिर १३ हैं तथा १ मानस्तंभ है।

गिरनार सिद्ध क्षेत्र —

यहाँ से विहार करके संघ फाल्गुन सुदी में गिरनार पहुँच गया तब सभी के हर्ष का पार नहीं रहा। जिनके दर्शनों के लिए तीन महीने लगातार पद विहार करते हुए हम लोग चल रहे थे आज यहाँ आकर मनोकामना सिद्ध हो गई।

गिरनार विहार के समय आचार्यश्री ने एक मंत्र दिया था। साथ ही सभी साधुओं को कहा था कि मार्ग में चलते समय प्रतिदिन निर्विघ्न यात्रा की भावना से **'ॐ ह्रीं श्री अरिष्टनेमिनाथाय नमः'** यह मंत्र जपते रहो। गुरु की आज्ञानुसार मैंने यह मंत्र सवालाख से भी अधिक जपा था। रास्ता चलते समय प्रायः इस मंत्र को मन-मन में जपती ही रहती थी। सिद्ध क्षेत्र गिरनार पर्वत की वंदना करने तक मैंने नमक का त्याग कर दिया था और भी कई वस्तुएँ त्याग कर दी थीं। वास्तव में साधु के पास आहार में कुछ रसादि के त्याग के सिवाय और त्याग करने के लिए है ही क्या?

फाल्गुन शु.७ को पहली वंदना हम लोगों ने की। सभी सीढ़ियों को पार कर क्रम-क्रम से भगवान नेमिनाथ के चरणों के निकट पहुँचे। वहाँ पर बैठकर विधिवत् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, श्रुतभक्ति, निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर प्रभु के चरणों में बार-बार वंदन किया और सिद्धपद की याचना करते हुये अंत में समाधिभक्ति पढ़कर पुनः वंदना की आशा लिये हुये हम लोग नीचे धर्मशाला में आये। उस दिन मध्यान्ह में ३-४ बजे के लगभग आहार हुआ। इतनी थकान महसूस हुई कि अगले दिन वंदना के लिए ऊपर चढ़ने की हिम्मत नहीं हो पाई।

पुनः सभी साधुओं के साहस को देखकर तीसरे दिन फिर चढ़ी, तब मैंने यह निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो आज चौथी टोंक पर चढ़ना ही है। चौथी टोंक पर चढ़ने के लिए प्रायः सभी डरते थे और दूसरों को डर भी दिखाते थे। कुछ साधु नीचे से किसी का सहारा लेते, कुछ ऊपर से हाथ पकड़ते, तभी चढ़ते बनता था। मैंने भी भगवान् का नाम स्मरण करते हुए, साहस कर बिना किसी के सहारे ही जिस-तिस किसी पत्थरों को पकड़कर चढ़ने का उपक्रम किया और सफल भी हो गई। तब मेरी खुशी का पार नहीं रहा पुनः मैंने साहस कर ऊपर से ही आर्यिका वीरमती माताजी का हाथ पकड़कर खींचकर उन्हें ऊपर चढ़ा लिया पुनः आर्यिका सिद्धमती, क्षुल्लिका चंद्रमती, क्षुल्लिका पद्मावती आदि को भी चढ़ा लिया। सबने वहाँ वंदना कर अपने जीवन को धन्य माना। इस तरह आष्टान्हिका में प्रतिदिन मैंने उस गिरिराज की वंदना की। मैंने चौथी टोंक सहित सात वंदनाएं, कीं प्रथम वंदना चौथी टोंक की छोड़कर की थी।

दीक्षायें संपन्न —

तारंगा से निकलते ही आचार्यश्री शिवसागरजी ने मुझसे कई बार कहा था कि —

"ज्ञानमतीजी ! मैं गिरनार सिद्धक्षेत्र पर सर्वप्रथम बाल ब्रह्मचारियों को दीक्षा देना चाहता हूँ अतः आप

ब्र.राजमलजी को तैयार करो और क्षुल्लिका जिनमती जी को तैयार करो। अथवा इन दोनों में से किसी एक को तो तैयार कर ही दो।"

ब्र. राजमलजी प्रायः मेरी विनय भक्ति विशेष करते थे। अनेक बार धीरे-धीरे मार्ग में चलने से ये कभी-कभी मेरे साथ कमंडलु लेकर चला करते थे।

गिरनार क्षेत्र की यात्रा के समय आचार्यश्री महावीरकीर्तिजी ने इनसे कहा था कि ब्रह्मचारी जी! मार्ग में तुम ज्ञानमती माताजी की व्यवस्था में ध्यान रखना। यही कारण था कि आचार्यश्री शिवसागरजी ने इनको दीक्षा की प्रेरणा देने के लिए मुझसे कई बार कहा था।

आचार्यश्री की इच्छानुसार मैंने दोनों को पृथक्-पृथक् बहुत ही समझाया किन्तु न ब्र. राजमलजी ही तैयार हुये और न क्षुल्लिका जिनमती ही। ब्रह्मचारी जी तो बार-बार यही कहते—

"माताजी! मेरे गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज तो चले गये। अब मैं किसी से दीक्षा लेकर किसी को गुरु नहीं बनाऊँगा।"

जिनमती जी प्रायः केशलोच से हिचकिचा रही थीं। ब्र. राजमलजी से बार-बार आचार्य महाराज भी कहते मुनि श्रुतसागरजी आदि भी कहते, अन्य आर्यिकायें भी कहतीं किन्तु वे हंसकर टाल देते थे। परन्तु जिनमती जी को बार-बार प्रेरणा देने से वे उद्विग्न हो उठतीं, अतः उनसे पुनः-पुनः कहना छोड़ दिया गया।

क्षुल्लिका चन्द्रमती जी और क्षुल्लिका पद्मावती जी आर्यिका दीक्षा लेना चाहती थीं। उन्हीं दोनों की दीक्षा का निर्णय लिया गया। इसी बीच एक ब्रह्मचारी जी भी मुनि दीक्षा चाहते थे किन्तु आपस की परामर्श के अनुसार उन्हें योग्य पात्र नहीं समझा गया क्योंकि वे प्रायः नौकरों की संगति में अधिक बैठते थे।

इन दोनों क्षुल्लिकाओं की आर्यिका दीक्षायें हुईं तथा ब्र. रूपाबाई की क्षुल्लिका दीक्षा हुई, उनका नाम राजुलमती रखा गया।

मैं गिरनार पर्वत की वंदना के मध्य दो-तीन बार रात्रि में ऊपर मंदिर में भी ठहरी थी। मेरे साथ क्षुल्लिका चंद्रमती, पद्मावती आदि रही थीं। आहार के बाद सामायिक करके ऊपर जाकर मंदिर में विश्राम करती, प्रातः उठकर पूरी वंदना करके नीचे आ जाती। इसमें थकान कम होती थी।

गिरनार क्षेत्र के दर्शन में तीन बातें विशेष स्मरणीय रही थीं। १.भगवान् नेमिनाथ द्वारा पशुओं का बंधन छुड़ाकर वैराग्य। २. श्रीधरसेनाचार्य के द्वारा श्रुतपरम्परा को अविच्छिन्न रखने हेतु श्री पुष्पदंत-भूतबलि मुनियों को पढ़ाया जाना। ३. श्री कुंदकुंददेव की वंदना में विवाद होने पर अंबिका देवी का बोलना।

भगवान् नेमिनाथ —

भगवान् नेमिकुमार राजीमती को ब्याहने के लिए आये थे। उस समय बड़े-बड़े मंडलेश्वर राजाओं के पुत्रों से घिरे हुए भगवान् चित्रा नाम की पालकी में आरूढ़ होकर दिशाओं का अवलोकन करने के लिए निकले। वहाँ उन्होंने घोर करुण स्वर से चिल्ला-चिल्ला कर इधर-उधर दौड़ते, प्यासे, दीनदृष्टि से युक्त तथा भय से व्याकुल पशुओं को एक बाड़े में घिरे हुए देखकर परम करुणा से आर्द्र हो रक्षकों से पूछा—

"यह पशुसमुदाय यहाँ किसलिए रोका गया है?"

उत्तर में रक्षकों ने हाथ जोड़कर कहा—

"हे देव! आपके विवाहोत्सव में इनका वध करने के लिए इन्हें यहाँ बुलाया गया है।"

यह सुनते ही भगवान् नेमिनाथ विचार करने लगे—

"अहो! ये पशु जंगल में रहते हैं, तृण खाते हैं और कभी किसी का कुछ बिगाड़ नहीं करते, फिर भी लोग अपने भोग के लिए इन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं। ऐसे लोगों को धिक्कार हो।"

पुनः भगवान् ने अपने अवधिज्ञान से सारे रहस्य को जान लिया और तत्क्षण ही विरक्त हो वापस लौट पड़े। उसी समय स्वर्गों में घंटा, नाद आदि से लौकांतिक देव प्रभु का तप कल्याणक समय समझ कर आ गये और स्तुति करते हुए उनके वैराग्य की प्रशंसा करने लगे। तदनंतर सौधर्म इन्द्र आदि देवगण आ गये। प्रभु को देवकुरु पालकी में विराजमान कर सहस्राम्रवन में ले गये। वहाँ भगवान् ने श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल में एक हजार राजाओं के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। तब प्रभु ने तेला का नियम लिया था। दीक्षा लेते ही प्रभु को मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

जिस प्रकार संध्या सूर्य के पीछे-पीछे अस्ताचल पर चली जाती है उसी प्रकार राजीमती भी उनके पीछे-पीछे तपश्चरण के लिए चली गई। सो ठीक ही है—क्योंकि शरीर की बात तो दूर रही, वचनमात्र से भी दी गई कुल कन्याओं का यही न्याय है।

'संध्येव भानुमस्ताद्रावनु राजीमतिश्च तम् ।
ययौ वाचापि दत्तानां न्यायोऽयं कुलयोषिताम्[१]'।।१७२।।

आचार्य कहते हैं—देखो! अन्य मनुष्य तो अपने ऊपर दुःख आने पर भी विरक्त नहीं हो पाते हैं, पर जो सज्जन पुरुष होते हैं वे दूसरे के दुःख से ही विरक्त हो महाविभूति का त्याग कर देते हैं। प्रभु की दीक्षा के बाद बलभद्र, श्रीकृष्ण, सौधर्म इंद्र आदि देवगण तथा प्रमुख राजागण आदि सभी लोग अनेक स्तवनों से भगवान् की स्तुति कर अपने-अपने स्थान पर चले गये।

तेला के बाद भगवान् ने द्वारावती में प्रवेश किया। वहाँ के राजा वरदत्त ने भगवान् को पड़गाहन कर नवधाभक्ति से उन्हें आहारदान दिया। 'तभी देवों ने वहाँ बारह करोड़ रत्न बरसाए, फूल बरसाए, मंद सुगंध हवा चलने लगी, दुंदुभि बाजे बजने लगे और आपने बहुत अच्छा दान दिया है।' ऐसी घोषणा होने लगी। इस प्रकार देवों द्वारा पंचाश्चर्यवृष्टि की गई। इस प्रकार तपस्या करते हुए भगवान् ने छप्पन दिन बिताकर रैवतक—गिरनार पर्वत पर तेला का नियम लेकर किसी बड़े से बांस वृक्ष के नीचे ध्यान लगाया और आश्विन शुक्ला एकम के दिन उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।

उसी क्षण कुबेर द्वारा निर्मित समवसरण में भगवान् अधर विराजमान हो गये। उनकी सभा में वरदत्त आदि ग्यारह गणधर थे, सब मिलाकर अठारह हजार मुनि थे। राजीमती आदि चालीस हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं। असंख्यातों देव-देवियाँ और संख्यातें तिर्यंच उपस्थित होकर प्रभु का उपदेश सुनते थे। अनंतर छह सौ निन्यानवें वर्ष, नौ माह, चार दिन, विहार कर भट्टारक नेमिनाथ ने इसी गिरनार पर्वत से आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन रात्रि के प्रारंभ में मोक्ष प्राप्त कर लिया। यही कारण है कि आज भी यह गिरनार पर्वत इंद्रों द्वारा भी पूज्य है।

हरिवंश पुराण में बतलाया है कि—

"भगवान् के दीक्षा ले लेने पर राजीमती कन्या अपने परिजनों के बीच रोया करती थी। छप्पन दिन बाद भगवान् को केवलज्ञान हो जाने पर समवसरण की सभा में राजा वरदत्त ने जैनेश्वरी दीक्षा लेकर प्रथम गणधर का पद प्राप्त कर लिया। उसी समय राजीमती ने छह हजार रानियों के साथ आर्यिका दीक्षा ले ली और आर्यिकाओं में प्रमुख गणिनी बन गई।" जैसाकि कहा है—

षट्सहस्रनृपस्त्रीभिः, सह राजीमती तदा।
प्रव्रज्याग्रेसरी जाता, सार्यिकाणां गणस्य तु[२]।।१४६।।

आजकल जो नेमि-राजुल संवाद बनाये जाते हैं, वे अपनी दिगम्बर परंपरा के विरुद्ध हैं क्योंकि भगवान्

---

१. उत्तरपुराण, पर्व ७१। २. हरिवंशपुराण, सर्ग ५७।

को वैराग्य होते ही देवों का समूह आ गया, उस समय राजीमती ने आकर भगवान् से कोई वार्तालाप नहीं किया। हाँ! मोह के उदय से होनहार तीर्थंकर पति के आकस्मिक वियोग से अत्यधिक शोकाकुल होकर उनका रोना गलत नहीं कहा जा सकता। फिर भी अनंतर उन्होंने दीक्षा लेकर बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित किया है।

मुझे बचपन से ही राजुल के विलाप के भजनों को सुनने की अरुचि रही है पुनः एक बार क्षुल्लिका विशालमती जी ने ऐसे ही अरुचि व्यक्त की थी तब से और भी चिढ़ सी बन गई थी।

वहाँ राजुल की गुफा में प्रवेश कर पूज्य गणिनी महा आर्यिका श्री राजुलमती जी के चरणों की परोक्ष में वंदना कर बार-बार मैंने यही याचना की कि—

"हे मातः! आप जैसी कठोर तपश्चर्या करने की शक्ति मुझे भी प्राप्त हो और इस भव में सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्री पर्याय को छेदकर आगे दो-तीन भवों में मोक्ष की प्राप्ति हो, अब मुझे बार-बार जन्म-मरण के दुःख न उठाना पड़े, यही प्रार्थना है।"

उन दिनों मेरे मन में बहुत कुछ निर्भीकता रहती थी अतः एक दिन मैंने गिरनार पर्वत की चौथी टोंक पर रात्रि में रहने की इच्छा आचार्यश्री के सन्मुख व्यक्त की। तब आचार्यश्री ने तो मना किया ही, सभी साधुओं ने एक स्वर से निषेध किया और मेरी हंसी भी खूब उड़ाई। तब मैं मन ही मन सोचने लगी—"भगवन्! ऐसे पर्वत के शिखरों पर बैठकर आत्मध्यान करने का अवसर मुझे कब प्राप्त होगा?.....प्रभो! ऐसी शक्ति और ऐसा दिन मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो, ऐसा वरदान दीजिये।"

बचपन में पद्मनंदिपंचविंशतिका पढ़कर मैंने 'यतिभावनाष्टक' याद किया था, उसका एक श्लोक प्रायः पढ़ा करती थी—

"ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि।
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशांतात्मनां।
मार्गे संचरतः मम प्रशमिनः कालः सदा यास्यति।।"

हे भगवन्! ग्रीष्मकाल में पर्वत की चोटी पर, पत्थर की शिला पर, बैठकर मैं ध्यान करूँ। वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे और शीतकाल में खुले मैदान में बैठकर ध्यान करूँ। हे नाथ! आगम के अनुकूल उत्कृष्ट तप करते हुए और ध्यान से अपनी आत्मा में शांति का अनुभव करने वाले, ऐसे महामुनियों के मार्ग में चलने का अवसर मुझे कब प्राप्त होगा?

£ २३ ¤

श्री धरसेनाचार्य—

आचार्य परंपरा से सभी अंगों और पूर्वों के एकदेश का ज्ञान आचार्यश्री धरसेन को प्राप्त हुआ। सौराष्ट्र (गुजरात-काठियावाड़) देश के गिरिनगर नाम के नगर की चंद्रगुफा में रहने वाले अष्टांग निमित्त के पारगामी, प्रवचनवत्सल श्रीधरसेनाचार्य के मन में श्रुतविच्छेद का भय उत्पन्न हुआ। तब उन्होंने महामहिमा—पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के आचार्यों के पास एक लेख भेजा। लेख के अर्थ को अच्छी तरह से समझकर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ, विनयी, शीलरूपी माला के धारक, देश-कुल-जाति से शुद्ध, समस्त कला में पारंगत ऐसे दो शिष्यों को भेजने का निर्णय लिया। उन दोनों मुनियों ने भी तीन बार आचार्य से पूछकर विधिवत् आज्ञा लेकर आंध्र देश में बहने वाली वेणानदी के तट से विहार किया।

समय पर पहुँचकर श्री धरसेनाचार्य की तीन प्रदक्षिणा देकर उनकी पादवंदना की। अनंतर तीसरे दिन

अपने आने का हेतु निवेदन किया। तब भट्टारक श्री धरसेनाचार्य ने उन्हें दो विद्यायें दीं और कहा—"तुम दोनों इन्हें दो दिन के उपवास से सिद्ध करो।"

उन दोनों मुनियों ने विद्यायें सिद्ध की, तब उनके समक्ष विद्या की अधिष्ठात्री देवियाँ उपस्थित हुईं। उनमें से एक देवी के दांत बाहर निकले हुए थे और दूसरी कानी थी।

"विकृतांग होना देवताओं का स्वभाव नहीं है।"

ऐसा सोचकर मंत्र संबंधी व्याकरण के जानकार उन दोनों ने अधिक अक्षर वाले मंत्र से एक अक्षर निकाला और हीनाक्षर मंत्र में एक अक्षर जोड़कर पुनः जाप्य किया। तब वे विद्यादेवताएं सुन्दर रूप में उनके सामने दिखलाई पड़ीं।

उन दोनों मुनियों ने वहाँ से आकर यथावत् वृत्तांत गुरु से सुना दिया। गुरु ने प्रसन्न होकर शुभमुहूर्त में उन्हें ग्रन्थ पढ़ाना प्रारंभ किया। आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन ग्रन्थ समाप्त किया। तब शिष्यों की विनय से प्रसन्न हुये भूत जाति के व्यंतर देवों ने उन दोनों में से एक मुनि की पुष्प, बलि, शंख और तूर्य जाति के वाद्य विशेष से बहुत भारी पूजा की, उसे देखकर श्रीगुरुदेव ने उनका 'भूतबलि' यह नाम रख दिया तथा दूसरे मुनि की भूत देवों ने पूजा करके उनकी अस्त-व्यस्त दंत पंक्तियों को समान कर दिया, तब गुरु ने उनका नाम 'पुष्पदंत' रखा।

पुनः गुरु ने उन्हें उसी दिन वहाँ से विहार करा दिया। तब—

"गुरु की आज्ञा अलंघनीय होती है।"

ऐसा विचार कर वे दोनों अंकलेश्वर(गुजरात) में आ गये और वहाँ वर्षायोग बिताया। अनन्तर वर्षायोग के बाद अपने भानजे 'जिनपालित' को लेकर पुष्पदंत आचार्य तो वनवासी देश को चले गये और भूतबलि भट्टारक तमिल देश को चले गये। अनंतर पुष्पदंत आचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्र को बनाकर जिनपालित को पढ़ा कर उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा। तब पुष्पदंत आचार्य की अल्प आयु जानकर भगवान्[१] भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर ग्रन्थ रचना की। इसलिए इस खंडसिद्धांत (षट्खंडागम) की अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदंत आचार्य भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं।[२]"

श्री इन्द्रनंदि आचार्यकृत श्रुतावतार में यही प्रकरण विस्तार से है। यथा—

'देशे ततः सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयंतगिरौ।
चंद्रगुहाविनिवासी महातपाः परममुनिमुख्यः'।।१०३।।

सौराष्ट्र देश में गिरिनगरपुर के निकट ऊर्जयंतगिरि-गिरनारपर्वत के निकट चन्द्रगुफा में रहने वाले, महातपस्वी, परममुनियों में प्रधान आचार्य श्री धरसेन थे। एक बार उन्होंने अपनी अल्पायु जानकर और श्रुतविच्छेद न हो जाये, इस चिंता से युक्त होकर एक ब्रह्मचारी को पत्र देकर महामहिमा में एकत्रित हुए मुनियों के पास भेजा।

आगे इसी में विद्यासिद्धि के बारे में भी लिखा है कि दोनों शिष्यों ने—

'श्रीमन्नेमिजिनेश्वरसिद्धशिलायां विधानतो विद्या।
संसाधनं विदधतोस्तयोश्च पुरतः स्थिते देव्यौ।।११६।।

श्रीमान् भगवान् नेमिनाथ की सिद्धशिला पर बैठकर विधान से विद्या सिद्ध की तब उनके समक्ष दो देवियाँ उपस्थित हुईं।

इन प्रमाणों के उद्धरण से यह समझना चाहिए कि श्रीधरसेनाचार्य गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में रहते थे।

---

१. षट्खंडागम ग्रंथ में आचार्य के लिए भगवान शब्द आया है। २. धवला पुस्तक १, पृ. ६८ से ७२।

वहीं पर उन्होंने इन पुष्पदंत-भूतबलि मुनियों को महाकर्मप्रकृति प्राभृत पढ़ाया और आगे इन दोनों गुरुओं ने उसे षट्खंडागम रूप से लिपिबद्ध कर शास्त्ररूप में दिया है। जिस पर आचार्यश्री वीरसेन ने धवला टीका लिखी थी जो कि आज तक सुप्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ पूजा श्रुतपंचमी (ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी) को हुई थी अतः आज तक ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को श्रुतपूजा की जाती है।

श्री कुंदकुंददेव की पर्वतवंदना —

ऐसी किंवदंती प्रसिद्ध है कि श्रीकुंदकुंदाचार्य अपने संघ सहित गिरनार पर्वत की वंदना करने गये, वहाँ श्वेताम्बर आचार्य भी संघ सहित थे। उन्होंने कहा — पहले हम वंदना करेंगे, तब दोनों संघ में आपस में विवाद हो गया। यह निर्णय हुआ कि अंबिकादेवी जिस पंथ को सत्य व प्राचीन कहेंगी, वही संघ पहले वंदना करेगा। उस समय श्रीकुंदकुंददेव ने पाषाण की अंबिका देवी के मस्तक पर पिच्छिका रख कर कहा —

"देवी! बताओ, सत्यपंथ कौन है?"

देवी ने कहा —

"सत्य पंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर है।"

यह मात्र कल्पना नहीं है, प्रत्युत् सत्य घटना है। देखिये, श्रीवृंदावनकवि ने कहा है —

"संघसहित श्री कुंदकुंदगुरु, वंदन हेतु गये गिरनार।
वाद पर्‌यो तहं संशयमति को, साक्षी वदी अंबिकाकार।।
सत्यपंथ निर्ग्रंथ दिगम्बर, कही सुरी[१] तहं प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघन हरन मंगल करतार।।"

गुर्वावली में भी लिखा है —

पद्मनंदिगुरुर्जातो, बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन, वादिता श्रीसरस्वती।।
ऊर्ज्जयंतगिरौ तेन, गच्छः सारस्वतोऽभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय, नमः श्रीपद्मनंदिने।।

बलात्कार गण के अग्रणी श्री पद्मनंदि गुरु हुये हैं। इन्होंने ऊर्जयंत गिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। उससे ही सारस्वतगच्छ हुआ है, अतः उन पद्मनंदि मुनींद्र को मेरा नमस्कार हो।

पांडवपुराण में भी कहा है —

कुंदकुंदगणी येनोर्ज्जयंतगिरिमस्तके।
सोऽवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ।।

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयंत गिरि के मस्तक पर पाषाण से निर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया था।

मूलनंदिसंघ की पट्टावली में श्रीकुंदकुंददेव के पाँच नाम प्रसिद्ध हैं —

आचार्यः कुंदकुंदाख्यो, वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः, पद्मनन्दीति तन्नुतिः।।

कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदि ये पाँच नाम श्रीकुंदकुंदाचार्य के हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो।

गिरनार क्षेत्र की पूज्यता तो यहाँ से बहत्तर करोड़, सात सौ महामुनियों के निर्वाण पधारने से और भी बढ़ी हुई है।

---

१. देवि।

गिरनार क्षेत्र परिचय —

''णेमिसामी पज्जुण्णो, संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
बाहत्तरि कोडीओ, उज्जंते सत्तसया सिद्धा।।५।।''

भगवान् नेमिनाथ, प्रद्युम्नकुमार, शंबुकुमार, अनिरुद्धकुमार आदि बहत्तर करोड़, सात सौ मुनियों ने ऊर्जयंत गिरि से निर्वाण प्राप्त किया है, उन सबको मेरा नमस्कार हो।

श्री पूज्यपादस्वामी ने भी निर्वाणभक्ति में कहा है–

यत्प्रार्थ्यते शिवमयं विबुधेश्वराद्यैः,
पाखण्डिभिश्च परमार्थगवेषशीलैः।
नष्टाष्टकर्मसमये तदरिष्टनेमिः,
संप्राप्तवान् क्षितिधरे बृहदूर्जयंते।।२२।।

अर्थात् जो शिवमय स्थान इन्द्र आदि के द्वारा प्रार्थित किया जाता है, परमार्थ की खोज में लगे हुये पाखंडी साधु भी जिसकी प्रार्थना करते हैं, उस मोक्षपद को श्रीनेमिनाथ भगवान् ने विशाल ऊर्जयंत पर्वत पर से आठों कर्मों का नाश करके प्राप्त कर लिया है।

इस ऊर्जयंत–गिरनार पर्वत पर बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के तीन कल्याणक हुए हैं — दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण। यहाँ जो आज सहसावन या सिरसावन के नाम से जाना जाता है वह सहकारवन या सहस्राम्रवन नाम से शास्त्रों में वर्णित है। वहीं पर भगवान् ने दीक्षा ली थी।

हरिवंशपुराण में ऐसा लिखा है —

ऊर्जयंतगिरौ वज्रे, वज्रेणालिख्य पाविनीम्।
लोके सिद्धशिलां चक्रे, जिनलक्षणपंक्तिभिः[१]।।१४।।

भगवान् नेमिनाथ जिस स्थान से मुक्त हुए थे, वह स्थान अत्यंत पवित्र और लोकपूज्य था। उस स्थान के गौरव को सदा काल के लिए अक्षुण्ण बनाने हेतु इन्द्र ने अपने वज्र से सिद्धशिला का निर्माण किया, उस पर भगवान् के चरण चिन्ह उत्कीर्ण किये।

आचार्यदामनंदी ने भी यही बात कही है–

''कुलिशेन सहस्राक्षो लक्षणपंक्तिं लिलेख तत्रेशः।
भव्यहिताय शिलायामद्यापि च शोभते पूता।।५।।''

इस प्रकार यह शिला, जिस पर इन्द्र ने अपने वज्र से चरण चिन्ह उत्कीर्ण किये थे, वह आज भी मौजूद है।

शासन चतुस्त्रिंशतिका में यतिपति मदनकीर्ति ने गिरनार पर्वत पर इन्द्र द्वारा विराजमान की गई दिगंबर जिनमूर्ति का उल्लेख किया है —

सौराष्ट्रे यदुवंशभूषणमणेः श्रीनेमिनाथस्य या।
मूर्तिर्मुक्तिपथोपदेशनपरा शांतामुधापोहनात् ।।
वस्त्रैराभरणैर्विना गिरिवरे देवेंद्रसंस्थापिता।
चित्तभ्रांतिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससां शासनम् ।।२०।।

सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत पर यदुवंशभूषण श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर की आयुध, वस्त्र और आभरण रहित भव्य, शांत और मोक्ष मार्ग का मूक उपदेश करने वाली जो मूर्ति स्थित है, वह इन्द्र द्वारा स्थापित की गई है। वह संसार के चित्त की भ्रांति को दूर करे और दिगंबर शासन का लोक में प्रसार करे।

---

१. हरिवंशपुराण, सर्ग ६५।

इस पर्वत पर पांच टोंक हैं। लगभग दो मील की चढ़ाई चढ़ने पर दिगंबर मंदिर और धर्मशाला से पहले राजीमती की गुफा मिलती है। इस गुफा से आगे बढ़ने पर दिगंबर जैन धर्मशाला है तथा इसके कुछ आगे एक अहाते में तीन मंदिर और एक छतरी है।

दिगंबर मंदिर से थोड़ा आगे बढ़ने पर गोमुखी गंगा है, यहाँ कई कुंड हैं। चौबीस तीर्थंकर के चरण चिन्ह भी हैं, यह प्रथम टोंक कहलाती है, इस पवित्र स्थान पर हिन्दुओं ने अधिकार कर रखा है।

द्वितीय टोंक पर 'अनिरुद्धकुमार' के चरण हैं, तृतीय टोंक पर शंबुकुमार के चरण हैं। चौथी टोंक पर प्रद्युम्नकुमार के चरण हैं और पांचवीं टोंक पर भगवान् नेमिनाथ के चरण बने हुए हैं। हिंदू लोग इन्हें दत्तात्रेय के चरण कहते हैं।

तलहटी में दिगंबर जैन धर्मशाला में एक जिनमंदिर है। इसके आगे एक मानस्तंभ है।

इसी प्रकार जूनागढ़ में भी ऊपर कोट के निकट एक धर्मशाला बनी हुई है।

यहाँ से विहार कर संघ आगे बढ़ रहा था।

विहार कर संघ जहाँ रात्रि में पहुँचता, कई बार वृद्धा आर्यिकाएँ सुमतिमतीजी, सिद्धमती जी आदि मुझसे कहतीं—

"ज्ञानमतीजी! आज रात्रि में तीन बजे से उठकर तुम हम सभी को पाठ सुना दो, तुम्हारा पाठ हमें बहुत अच्छा लगता है।"

मैं कहती—

"माताजी! यथासमय शायद मेरी नींद न खुले तो आप जगा देना, मैं पाठ सुनाऊँगी।"

उस समय पाठ में सहस्रनाम, तत्त्वार्थसूत्र, भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमंदिरस्तोत्र, विषापहारस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र, भूपालचतुर्विंशतिकास्तोत्र, सिद्धभक्ति आदि दशभक्तियाँ, सुप्रभातस्तोत्र आदि मुझे कंठाग्र थे। ये आर्यिकायें जो जो पाठ सुनना चाहतीं, मैं उन्हें सुना देती थी।

कभी-कभी आर्यिका वीरमती माताजी समाधितंत्र, इष्टोपदेश, गोम्मटसार, परीक्षामुखसूत्र आदि सुनना चाहतीं, तो उन्हें ये पाठ भी सुना देती थी।

मुझे पाठ सुनाकर बड़ी प्रसन्नता होती। एक तो मेरा 'आम्नाय' नाम का स्वाध्याय हो जाता, कंठाग्र पाठ को पढ़ते रहने से वे भूलते नहीं हैं सो कंठाग्र पाठों को फेरना बहुत जरूरी समझकर यह दूसरा लाभ प्रतीत होता, तीसरे माताजी मेरे पाठ से प्रसन्न होतीं तो मुझे भी प्रसन्नता होती, अतः गुरुजनों की वैयावृत्ति भी हो जाती।

कभी-कभी मार्ग में चलते समय भी आर्यिका वीरमती जी मेरे साथ चलतीं, तब उन्हें कुछ न कुछ उनकी इच्छा के अनुसार पाठ सुनाया करती थी, इसलिए वे मेरे साथ चलना अधिक पसंद करती थीं।

£ २४ ¤

शत्रुंजयक्षेत्र दर्शन —

संघ वहाँ से विहार कर शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र पर आ गया। यहाँ की पावनभूमि की वंदना करके भी महान् आनन्द हुआ। यहाँ पर स्मरणीय विषय यह रहा कि एक दिन मैं पर्वत पर चढ़ रही थी, मेरे साथ कुछ आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें थीं एवं मेरे बराबर से ही कई श्वेतांबरी साध्वियाँ भी चढ़ रही थीं। उनमें दो साध्वियाँ बहुत छोटी उम्र की मेरे जैसी ही थीं। वे दो बड़े-बड़े घड़े पानी से भरे हुए लेकर चढ़ रही थीं। इसलिए वे खूब ही थकान महसूस कर रही थीं। साथ ही मैं भी धीरे-धीरे ही कहीं बैठकर, कहीं खड़े रहकर, श्रम घटाते हुए चढ़ रही थी।

उन दोनों साध्वियों ने धीरे-धीरे मेरा परिचय पूछा, चर्या पूछी। मैंने भी उनका परिचय पूछा, चर्या समझी, पुनः मैंने पूछा—

"आप ये दो-दो घड़े लेकर क्यों चढ़ रही हो? वास्तव में पहले तो पर्वत पर चढ़ने से ही श्रम होता है पुनः इतने बड़े भार को लेकर चढ़ना तो बहुत ही श्रमसाध्य है।"

तब उन्होंने कहा—

"बात यह है कि हम लोगों को प्यास तो लगती ही है, बार-बार पानी पीना रहता है, तो पर्वत के रास्ते में या ऊपर भी जल नहीं मिल पाता है।"

उनमें से एक लघुवयस्का साध्वी ने यह भी कहा—

"मुझे तो आपकी चर्या बहुत अच्छी लगी, वास्तव में राजमार्ग तो यही है, मोक्षमार्ग भी यही है, इस मेरे अपवाद मार्ग से मोक्ष प्राप्त होगा या नहीं? कौन जाने?"

अस्तु, इन पारस्परिक, सांप्रदायिक चर्चाओं को करते हुए हम लोग ऊपर पहुँच गये। वहाँ देखा, इतने सारे श्वेतांबर मंदिरों के बीच में एक दिगम्बर जिनमंदिर है, वह ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे कि 'बत्तीस दांतों के बीच एक जीभ।' हम सभी साधु-साध्वियों ने दो-चार दिन वहाँ बिताये।

चैत्र सुदी एकम, जिसे कि महाराष्ट्र में 'गुड़ी पाड़वा' कहते हैं, यह विक्रम संवत् का प्रथम दिवस यहीं पर आया था, तब मैंने देखा संघस्थ सभी ब्रह्मचारिणियों ने प्रातःकाल भगवान् के सामने खरबूजा चढ़ाया।

शत्रुंजय गिरि का परिचय —

यह शत्रुंजय गिरि निर्वाण क्षेत्र है। जैसा कि निर्वाणकांड में लिखा है—

"पंडुसुआ तिण्णिजणा, दविडणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
सत्तुंजयगिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।"

पांडुराजा के तीन पुत्र—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये तीन पांडव तथा आठ करोड़ द्रविड़ राजा आदि इस शत्रुंजय पर्वत के शिखर से निर्वाण गये हैं, उन सबको मेरा नमस्कार हो।

पालीताना शहर से शत्रुंजय गिरि की तलहटी एक मील दूर है। पालीताना शहर में एक दिगम्बर जैन मंदिर है। यहाँ से पहाड़ की तलहटी तक के लिए सवारियाँ मिलती हैं। पर्वत की सम्पूर्ण चढ़ाई लगभग ४ किमी. है। पत्थर की सड़क तथा सीढ़ियाँ बनी हुई हैं।

यह पर्वत एक प्रकार से जैन मंदिरों का गढ़ है। पर्वत के ऊपर श्वेतांबर समाज के लगभग ३५०० मंदिर और मंदरियाँ हैं। इन श्वेतांबर मंदिरों के मध्य माला में मणि के समान एक दिगम्बर जैन मंदिर शोभायमान है। इस पर्वत पर मुख्य दो टोंकें हैं। प्रथम टोंक पर कोई दिगम्बर मंदिर नहीं है। दूसरी टोंक पर श्वेतांबर मंदिरों के केन्द्र में परकोटे के भीतर एक प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर है। इसमें नौ वेदियां बनी हुई हैं। मुख्य वेदी में भगवान् शांतिनाथ विराजमान हैं, इसी में तीन पाण्डवों के चरणचिन्ह विराजमान हैं।

नगर के मध्य में एक दिगम्बर जैन मंदिर बना हुआ है। पालीताना नगर का नाम है। तथा शत्रुंजय पर्वत का नाम है। पालीताना नगर के भैरवपुरा मुहल्ले में दिगम्बर जैन धर्मशाला बनी हुई है।

श्वेतांबर संप्रदाय में शत्रुंजय तीर्थ की मान्यता अन्य सभी तीर्थों से अधिक है। यहाँ तक कि इनके यहाँ सम्मेदशिखर की अपेक्षा भी इस तीर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। यही कारण है कि यहाँ पर श्वेताम्बर साधु-साध्वियाँ हजारों की संख्या में रहा करते हैं।

£ २५ ¤

यात्रा से वापसी में समस्याएँ —

यह गुजरात यात्रा प्रायः पूर्ण ही हो चुकी थी यद्यपि कुछ साधु उस प्रांत में एक चातुर्मास करना चाहते थे किन्तु संघपति सेठ हीरालालजी का आग्रह था कि —

"हम वापस संघ को राजस्थान ही ले जायेंगे, वहीं ब्यावर, अजमेर आदि कहीं भी चातुर्मास होगा।"

मुनिश्री धर्मसागर जी, मुनिश्री सन्मतिसागर जी आदि वापस राजस्थान की तरफ विहार करने के लिए सहमत नहीं थे। अंदर ही अंदर चर्चायें चल रही थीं और खींचातानी बढ़ती जा रही थी। ऐसी कोई-कोई बातें श्रुतसागरजी महाराज और आर्यिका सुमतिमती माताजी मुझे अवश्य बतलाते रहते थे और मुझसे परामर्श भी किया करते थे।

"संघ विघटित न हो, जैसे बने वैसे यथावत् बना ही रहे, प्रत्युत् वृद्धिंगत हों" ऐसी भावना होने से मैं उस चर्चा में साधुओं को समझाने के लिए प्रयास कर रही थी। ब्र. सूरजमल जी भी प्रयास कर रहे थे। मुनिश्री धर्मसागरजी तो तटस्थ हो गये किन्तु सन्मतिसागरजी और श्रुतसागरजी अलग होने को तैयार हो गये। अनेकों पुरुषार्थ के बाद भी इन दोनों का संघ से अलग होना निश्चित हो गया, तब कुछ साधुओं ने कहा —

"जाने दो, आना जाना तो संघ में चलता ही रहेगा।"

इधर मैं श्रुतसागरजी को अधिक रूप से समझा रही थी कि —

"महाराज जी! आप आचार्यश्री के बायें हाथ हैं, आपको कतई नहीं जाना चाहिए।"

सब कुछ सुनकर भी श्रुतसागर जी ने एक दिन एक जिनमंदिर की वेदी में कहा —

"माताजी! मैं आपको माता के समान ही समझता रहा हूँ, मेरी आपके प्रति विशेष आस्था है फिर भी अभी तो मैं जाऊँगा ही। आप मुझे मेरे ज्ञान और चारित्र की वृद्धि के लिए मंत्र दे दीजिये।"

महाराजजी की इच्छानुसार मैंने उन्हें एक बड़ा सरस्वती मंत्र तथा एक दूसरा मंत्र भी दिया। उन्होंने उन दोनों मंत्रों को मस्तक पर चढ़ाया और —

"भविष्य में भी ऐसी ही सद्भावना और वात्सल्य आपका बना रहे।"ऐसी भावना व्यक्त की।

इसी बीच मैंने महाराज जी से कहा —

"महाराज जी! यदि आप संघ से चले जायेंगे, तो आपके वापस आने तक मेरा नमक का त्याग है।

महाराज जी ने कहा — "मैं तो वापस आने के लिए नहीं जा रहा हूँ।"

मैंने कहा — "तब तो मेरा नमक का त्याग भी जीवन भर के लिए हो जायेगा।"बात समाप्त हो गई।

उन दिनों मेरे पास में आर्यिका चंद्रमती, आर्यिका पद्मावती, क्षुल्लिका जिनमती और क्षुल्लिका राजुलमती ये चार साध्वियाँ रहती थीं। यद्यपि चंद्रमतीजी और जिनमती को भी सारी बातों की जानकारी थी फिर भी मुनियों के पास जाकर कुछ भी आंतरिक विचार-विमर्श करने में आर्यिका पद्मावती जी मेरे साथ अधिक ही रहती थीं, मैं अकेले नहीं जाती थी। ये पद्मावतीजी मेरे पास सोलह वर्ष तक रही हैं अजमेर में सन् १९७१ में उनकी समाधि हुई है। तब तक संघ की हर एक आंतरिक चर्चा में वे मेरे साथ रही हैं किन्तु अन्त तक कभी भी कोई बात बाहर नहीं गई न उनके द्वारा कुछ अर्थ का अनर्थ ही हुआ। कई एक शिष्याओं का ऐसा अनुभव आता है कि वे गुरुजनों की या संघ की कोई आंतरिक बात पेट में नहीं रख पाती हैं बल्कि कोई-कोई मूढ़ शिष्यायें तो अर्थ का अनर्थ ही कर देती हैं। यह गुण आर्यिका पद्मावती जी में विशेष ही था, वे सदा अंत तक छाया के समान मेरे साथ रही हैं। कभी-कभी उनका अभाव खटकता है किंतु संयोग के बाद वियोग तो स्वाभाविक ही है।

''संयुक्तानां वियोगश्च, भविता हि नियोगतः।''

यह सूक्ति स्मरण कर संतोष करना ही पड़ता है।

एक दिन प्रातः दोनों मुनि आचार्यश्री को नमस्कार कर, बिना बताये मार्ग से विहार कर गये। दुःख तो सभी को हुआ, परन्तु कर क्या सकते थे? श्रुतसागरजी व सन्मतिसागरजी से ब्र. राजमल जी की भी निकटता अधिक थी। उस समय मैंने ब्रह्मचारीजी से कहा—

''ब्रह्मचारी जी! देखो, एक बार प्रयास और करो।''

इतना सुनते ही ब्रह्मचारीजी उन्हें वापस लाने की भावना से, जिधर से वे गये थे उधर ही दौड़ पड़े। बेतहाशा पीछे दौड़कर आ रहे ब्रह्मचारी को देखकर दोनों साधु मार्ग में रुक गये। ब्रह्मचारीजी उनके पास पहुँचे और चरणों में गिरकर जोर से रो पड़े। कुछ देर तक वे रोते ही रहे, ऐसा दृश्य देखकर उन दोनों साधुओं का हृदय दया से आर्द्र हो आया, वे सोचने लगे-

''अहो! संघ का इतना वात्सल्य और प्रेम छोड़कर हम लोग क्यों जा रहे हैं? क्या अन्यत्र ऐसा वात्सल्य मिलेगा?''

इत्यादि प्रकार से सोचकर वे बोले—

''अच्छा,.....चलो, हम वापस चलते हैं।''

इधर दोनों मुनियों के चले जाने से सबका मन खिन्न था, सभी साधु गंतव्य स्थान तक पहुँच चुके थे, आहारचर्या का समय हो रहा था, तब ये सन्मतिसागरजी और श्रुतसागरजी महाराज व ब्र. राजमल जी वहाँ आ गये। यह दृश्य देखकर सभी के हर्ष का पार नहीं रहा। कुछ क्षण बाद मुनिश्री श्रुतसागरजी बोले—

''माताजी! आपका नमक का त्याग पूरा हो चुका है। अब मैंने नियम ले लिया है, संघ छोड़कर नहीं जाऊँगा।''

ऐसा आगे का वाक्य सुनकर मुझे बहुत ही खुशी हुई। सबका निरंतराय आहार हुआ पुनः उसी दिन से वह जाने-जाने की चर्चा का अध्याय समाप्त होकर नया अध्याय शुरू हुआ ही था कि दो-तीन दिन बाद सन्मतिसागरजी ने फिर कदम उठाया।

हम सभी साधुओं को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—

''मैंने अहमदाबाद जाने का नियम ले लिया था, इसलिए जाना ही है।''

उस समय श्रुतसागरजी बोले—

''मैं नहीं जाऊँगा।''

अब यह चर्चा चली कि—''यदि आपको अहमदाबाद ले जाकर वापस ले आया जावे, तो आपका नियम पूरा हो सकता है क्या?'' वे बोले—

''हाँ! पुनः मैं संघ में रहूँगा।''

अब दो-तीन दिन के विचार-विमर्श में यह तय हुआ कि—

''श्रुतसागरजी और सन्मतिसागरजी को अहमदाबाद ले जाकर वापस लाया जावे।''

इस विषय पर भी ब्र.राजमलजी तैयार हो गये। आचार्य श्री की आज्ञा लेकर ये दोनों मुनि अहमदाबाद की ओर विहार कर गये और सारा संघ उनकी प्रतीक्षा में कुछ दिन शायद आबू के मंदिर में ठहरा। उस समय भयंकर गर्मी पड़ने लग गई थी। दोनों मुनि खूब चल-चलकर अहमदाबाद पहुँचे, वहाँ के जिनमंदिरों का दर्शन करके दो-तीन दिन विश्राम कर वहाँ से निकले और अत्यधिक पैदल चलते हुए सकुशल वापस आकर संघ में मिल गये। ब्र. राजमलजी भी इनके साथ प्रायःपैदल ही चले थे। वापस आकर मिलने पर संघ में सभी

साधुओं को 'मानो कोई निधि ही मिल गई है' ऐसा प्रतीत हुआ।

उस समय इन दोनों मुनियों के पैरों में काफी थकान थी, पगतली में छाले पड़ गये थे और बहुत जलन होती थी। श्रुतसागरजी ने मुझे यह वेदना बताई। तब मैंने गीली मिट्टी के लेप का उपचार कराया। रात्रि में सोते समय ब्र. राजमलजी भीगी हुई चिकनी मिट्टी का पगतली में लेप कर देते थे और घंटे-दो घंटे बाद उतार देते थे। इससे महाराजजी को काफी शांति मिली और उनकी थकान दूर हुई।

£ २६ ¤

विहार में अनुभव —

इस वापसी मार्ग में मुझे आहार में अंतरायें बहुत होती थी। आहार में कभी जरा सी रोटी खायी तो अंतराय आ गई, तो कभी आधे आहार के होने पर अंतराय आ जाती, तो कभी आहार प्रारंभ करते ही आ जाती।

"सिद्धभक्ति के बाद आहार प्रारंभ करने पर हाथ में केश या मृतक चींटी आदि के आ जाने पर आहार छोड़ दिया जाता है। पानी भी नहीं पी सकते, फिर मात्र मुखशुद्धि — कुल्ला करके आ जाया जाता है, इसी का नाम अंतराय है। यह अंतराय व्यवस्था दिगम्बर मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका और ब्रह्मचारी आदि व्रतिकों में ही है।"

इधर वैशाख-ज्येष्ठ की गर्मी, उधर हर दूसरे-तीसरे दिन अंतराय और ऊपर से दोनों समय की १५-१६ मील से अधिक पैदल चलना। मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया। रास्ते में एक-एक फर्लांग पर मुझे बैठना पड़ता फिर उठ-उठ कर जैसे तैसे चलती थी। प्रायः सबके पहुँचने के बाद देर से पहुँचती, कभी साधुओं के आहार तक हो जाते थे, ग्यारह बजे तक पहुँचकर, शुद्धि करके आहार को उठती, तो गर्मी की वजह से आहार लेना कठिन हो जाता। उस समय मीठे का मेरा त्याग था तथा घी, दूध की मार्ग में प्रायः व्यवस्था नहीं हो पाती। मैं कभी दलिया लेती तो कभी पानी से रोटी चूरकर खा लेती। पानी तो मेरे पेट में दस दिन में मुश्किल से चार-छह दिन पहुँचता था चूँकि अंतराय कर्म का उदय चल रहा था।

इतनी कमजोर शारीरिक स्थिति होने पर भी मैं अपने मुख से किसी माताजी या किन्हीं महाराजों से कुछ भी नहीं कहती थी क्योंकि मैं मन ही मन सोचा करती —

"मैंने स्वयं स्वरुचि से स्वात्मकल्याण के लिए ही दीक्षा ली है। यह शरीर तो नश्वर है-पर है, इसकी क्या चिंता करना? जितना हो सके, उतना इसे मार-ठोककर काम ले लेना ही अच्छा है।"

उस समय कभी-कभी कोई साध्वी मेरी स्थिति को न समझकर प्रातः और सायं देर से पहुँचने पर ऐसा कह देती कि "यह तो संघ में सबसे छोटी है, अभी २२ वर्ष की उम्र है, फिर भी यह हम लोगों के बराबर क्यों नहीं चलती है?....उस समय यह सब सुनकर भी मैं कुछ उत्तर न देकर अपने वैराग्य को बढ़ाने का ही प्रयास करती थी।

आज मैं सोचती हूँ कि उन दिनों आचार्यश्री से या आर्यिकाओं से अपना सुख-दुःख यदि मैं कहती रहती तो शायद उतना शारीरिक कष्ट भी न उठाना पड़ता किंतु मैं तो वैराग्य और सहनशीलता बढ़ाने का ही पुरुषार्थ किया करती थी और किसी ने मुझे यह बतलाया भी नहीं था कि तुम अपना सुख-दुख आचार्य महाराज से कहा करो।

सायंकाल के समय कभी मैं जहाँ संघ पहुँच चुका है वहाँ नहीं पहुँच पाती और दिन छिप जाता तो मैं रास्ते में सड़क के एक तरफ किसी वृक्ष के नीचे या खुले में ही जमीन पर रात्रि बिता देती। ऐसे समय मेरे साथ कभी आर्यिका चंद्रमती जी या कभी आर्यिका पद्मावती जी रहती थीं। क्षुल्लिका जिनमती जल्दी चलने से प्रायः

आगे सब आर्यिकाओं के साथ चली जाती थीं।

जब रात्रि में मैं पीछे रह जाती, तब सेठ हीरालाल जी, ब्र. चिरंजीलाल या धर्मचंद्र आदि के हाथ से कमंडलु के लिए पानी भिजवा देते और उनसे समाचार मंगा लेते कि माताजी कितनी दूर हैं।

कई एक बार यदि पीछे कोई छोटा गाँव मिल जाता तो मैं पूर्व में गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागरजी के कहे अनुसार वहाँ जाकर किसी न किसी गृहस्थ के मकान के बाहर या उनके आग्रह से उनके मकान में रात्रि में सो जाती और प्रातः चलकर देर-अबेर संघ में पहुँच जाती।

इन सब परिस्थितियों के बावजूद भी मेरे निमित्त से कभी संघ को कहीं रुकना नहीं पड़ा। एक दो बार संघपति हीरालालजी ने आचार्यश्री से निवेदन भी किया कि-"महाराजजी! आर्यिका ज्ञानमतीजी की अंतराय अधिक होने से वे काफी कमजोर हो गई हैं, आज भी उनकी अंतराय हो गई है तो आज आप लोग यहीं रुक जाइये अथवा एक टाइम चलने का रखिये, तो अच्छा रहेगा।"

किंतु आचार्यश्री ने कहा—

"भाई! आज संघ इनके लिए रुके तो कल किसी दूसरे के लिए भी रुकना पड़ेगा अतः एक के लिए रुकना ठीक नहीं है।" इस वातावरण में मुझे दोनों टाइम चलना होता था। कभी-कभी तो बहुत थक जाने से जब पैर नहीं उठते और गर्मी भड़कती तब मैं मन में नरक, तिर्यंच आदि के दुःखों का विचार कर सोचने लगती कि—

"जब आज मैं इतना कष्ट नहीं झेल सकती हूँ तो भला शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि परीषहों को कैसे सहन करूँगी? इस पर्याय में न सही, अगली पर्याय में.....जब तक इन परीषहों को सहन नहीं करेंगे तब तक भला कर्मनिर्जरा कैसे होगी? और मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी?....."

एक दिन प्रातः दस बजे के समय मैं बहुत दूर रह गई थी, मेरे साथ जिनमती जी चल रही थीं। मेरी स्थिति देख-देख कर वे रास्ते में रोने लगतीं किन्तु संघ में आकर किसी के भी समक्ष वे मार्ग की मेरी स्थिति नहीं कहतीं। शायद यह उनका संकोच ही था या अज्ञानता.....।

इसी बीच सेठ हीरालाल जी साइकिल से आये, कमंडलु में पानी भर दिया और कुछ दूर तक मेरे साथ-साथ चले फिर भक्ति और वात्सल्य से बोले—

"माताजी! पद में आप हमारी माता हैं और उम्र से आप मेरी पुत्री के समान हैं, आप मेरे कंधे पर बैठिये, मैं अभी आपको संघ में पहुँचा दूँगा। आपका आज पैदल चलना बहुत कठिन दिख रहा है।"

उनकी वात्सल्यमयी वाणी को सुनकर मैंने हंसकर कहा—"सेठ जी! यह मार्ग नहीं है, मेरे पद के प्रतिकूल है। आपने भक्ति भरे शब्दों से पुण्यबंध तो कर ही लिया अब आप चलो, संघ में सब साधुओं की आहार व्यवस्था संभालो, मैं धीरे-धीरे गिरते-पड़ते आ ही जाऊँगी।।"

उस दिन मैं साढ़े ग्यारह बजे पहुँची, १५ मिनट आराम कर सामायिक करके आहार को उठी, भला ऐसी थकान में आहार क्या लिया जाता? जो कुछ ले पाई, लिया और आकर सो गई। तभी पुनः संघ के विहार का हल्ला मचा और उठकर चल पड़ी।

इस मार्ग में कभी-कभी ब्र. राजमलजी मेरे साथ रहते और मेरी शारीरिक कमजोरी देखकर मेरा कमंडलु लेकर चलते। जब मैं पीछे रह जाती, तब वे आगे जाकर सेठ हीरालाल जी को समाचार दे देते थे।

ब्र. राजमल जी मेरी सहनशीलता व ज्ञानाराधना से बहुत ही प्रभावित रहते थे अतः वे हमारे प्रति बहुत ही भक्ति भावना किया करते थे तथा समय-समय पर मेरी आज्ञा का पालन करके संघ की व्यवस्था और भक्ति में तत्पर रहते थे।

मार्ग में ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों की भक्ति —

रास्ते में ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ अपने हाथ से सब काम करते थे। महिलाएँ अपने हाथ से आटा पीसतीं, पानी भरतीं और आहार के बाद बर्तन मांजतीं। इन कार्यों के लिए कोई नौकर नहीं थे। कई बार कुंआ दूर होने से बाइयाँ एक-एक मील से पानी भर कर शिर पर घड़ों को रख कर लातीं और सर्दी के दिनों में प्रायः उनके पैर सुन्न हो जाते तब आकर अग्नि के पास बैठकर सेकतीं।

कई बार सेठ हीरालाल जी आदि स्वयं पानी के लिए घड़ा लेकर बाइयों के साथ आगे हो जाते, जिससे कि बाइयों को अखरे नहीं।

कई बार कपड़े नहीं सूख पाते, तो ब्रह्मचारिणियाँ आधे सूखे या गीले कपड़े पहन कर चौका बनातीं। सर्दी के दिनों में यह सर्वाधिक कष्ट था।

एक बार किसी पर्व के दिन भगवान् के अभिषेक के समय दो-तीन ब्रह्मचारिणी आईं नित्य के समान जिन प्रतिमा का एक कलश से अभिषेक किया और एक-दो अर्घ्य चढ़ाकर जल्दी-जल्दी भागने लगीं। तभी एक माताजी ने कहा—"अरे बाई! एक पूजा तो कर लो, तुमने तो एक कलश ढोला और अर्घ्य चढ़ाकर भगीं।"

तब एक समझदार-विवेकशील ब्रह्मचारिणी ने जवाब दिया—"माताजी! गुरुओं को आहार देना, इस समय हमारी यही सब से बड़ी पूजा है। देखो! दोनों टाइम साधु पैदल चल-चलकर आते हैं, समय से इनका निरंतराय आहार हो जाये, भला इससे बड़ी पूजा और क्या होगी?"

वास्तव में ये बाइयाँ पिछली रात्रि में तीन बजे से उठकर स्तोत्र, पाठ, सामायिक आदि करके अपने कार्यों में लग जाती थीं। एक-एक बाइयाँ एक-एक चौके में प्रायः चार-पाँच साधु तक को पड़गाहन कर आहार देती थीं, अनंतर दो तीन ब्रह्मचारियों को भोजन कराकर स्वयं भोजन करती थीं।

उस ब्रह्मचारिणी के ऐसे गुरुभक्ति के उत्तर पर मेरे मस्तिष्क में वे महापुराण की पंक्तियाँ उभर आईं कि—

"अर्हंत भगवान् की पूजा के चार भेद हैं—सदार्चन (नित्यमह), चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टान्हिक।

प्रतिदिन अपने घर से गंध, अक्षत, पुष्प आदि ले जाकर जिनमंदिर में श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना सदार्चन—नित्यमह कहलाता है अथवा भक्तिपूर्वक अर्हंतदेव की प्रतिमा और मंदिर का निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि का दान भी नित्यमह कहलाता है। इसके सिवाय अपनी शक्ति के अनुसार नित्यदान देते हुए महामुनियों की जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह कहते हैं। यथा—

"या च पूजा मुनीन्द्राणां, नित्यदानानुषंगिणी।
स च नित्यमहो ज्ञेयो, यथा शक्त्युपकल्पितः[१]।।२९।।"

आचार्य रत्न देशभूषण जी महाराज भी कहा करते थे कि—

"भगवान् की पूजा से मात्र पूजक को ही लाभ है भगवान् को नहीं, क्योंकि वे तो पूर्ण कृतकृत्य सिद्ध हो चुके हैं किन्तु मुनियों को दान देते हुए जो उनकी पूजा की जाती है उसमें दोनों तरफ से दोनों को लाभ है। मुनिगण शरीर से रत्नत्रय की साधना करके मुक्ति प्राप्त करते हैं यह उनके प्रति उपकार हुआ और दातार आहारदान के पुण्य से महान् अभ्युदय को प्राप्त कर परंपरा से मोक्षसुख भी प्राप्त करते हैं। दूसरी बात यह है कि—मुनियों को आहार दान दिये बगैर मोक्षमार्ग ही नहीं चल सकता। तीसरी बात धर्म दो ही हैं—मुनिधर्म और श्रावक धर्म। मुनि तो आहार लेते हैं और श्रावक देते हैं। श्रावक सप्तमप्रतिमाधारी तक आहार देते हैं और यदि नहीं देते हैं तो वे न मुनि हैं न श्रावक ही, वे दोनों पद से भ्रष्ट 'इतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः, जैसी स्थिति में ही हैं।"

इन संघस्थ ब्रह्मचारिणियों की आहारदान भक्ति को देख-देखकर मैं मन ही मन उनके गुणों की प्रशंसा

---

१. आदिपुराण, पर्व ३८।

करते हुए उनके प्रति बहुत वात्सल्य भाव रखती थी।

कई एक बार ब्र. सूरजमलजी, ब्र. कजोड़मलजी, ब्र. राजमलजी आदि भी चौका बनाकर बहुत ही विनय भक्ति से मेरा पड़गाहन कर आहार देते थे। इस प्रकार आहारदान की महत्ता को प्रदर्शित करते हुये संघस्थ ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ बड़े भक्तिभाव से संघ की व्यवस्था में लगे रहते थे।

व्यावर आगमन —

इस निर्वाणक्षेत्र की वंदना कर वापस विहार करते हुये संघ सकुशल ब्यावर आ गया। यहाँ की जैन समाज ने संघ का अच्छा स्वागत किया। आचार्यश्री सर्वमुनियों सहित यहाँ सेठ चंपालालजी की नशिया में ठहरे थे। वहीं पर मंदिर के निकट बने हुये "श्री ऐलक पन्नालाल जी सरस्वती भवन' में आर्यिकायें ठहरी हुई थीं। संघ में स्वाध्याय आदि क्रियायें समुचित चल रही थीं।

£ २७ ¤

स्वाध्याय प्रारम्भ —

आचार्यश्री से आज्ञा लेकर यहाँ ब्यावर में श्रुतपंचमी की क्रिया करके मैंने प्रातः राजवार्तिक द्वितीय अध्याय का स्वाध्याय प्रारंभ किया। पहले चातुर्मास में आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी के पास राजवार्तिक एक अध्याय का पठन हो चुका था अतः द्वितीय से ही अध्ययन कराना निश्चित हुआ।

इस स्वाध्याय में ब्र. राजमलजी और क्षुल्लिका जिनमती जी ये दो प्रमुख शिष्य अध्ययन करने वाले थे और सब स्वाध्याय सुनने की इच्छा से बैठते थे। आर्यिका सुमतिमती जी, आर्यिका चंद्रमती जी, आर्यिका सिद्धमतीजी और आर्यिका पद्मावती जी तो नियमित बैठती थीं। मुनि श्री सन्मतिसागर जी और श्रुतसागर जी भी कभी-कभी बैठ जाते थे तथा आर्यिका वीरमतीजी भी कभी-कभी बैठ जाती थीं। ब्रह्मचारी श्रीलाल जी और पं. पन्नालालजी सोनी भी कभी-कभी बैठते थे। ये विद्वान् मेरी अध्यापन शैली देखकर बहुत ही प्रसन्न होते थे। यह स्वाध्याय सरस्वती भवन की छत पर चलता था।

प्रातः आठ से नौ बजे तक तत्त्वार्थराजवार्तिक का अध्ययन चलता था पुनः आधा घंटे में ब्र. राजमलजी व जिनमती क्षुल्लिका को गोम्मटसार कर्मकांड पढ़ाती थी, इसकी ३-४ गाथायें प्रतिदिन रात्रि में सोते समय मैं भी याद करके सोती थी।

यहाँ ब्यावर के लोग तो संघ का चातुर्मास ब्यावर में ही कराना चाहते थे। साथ ही अजमेर के सर सेठ भागचंद सोनी आदि भी आकर श्रीफल चढ़ाकर चातुर्मास के लिए प्रार्थना कर रहे थे।.....फिर भी यहाँ सेठ चंपालालजी रानीवाला ने अपनी भक्ति में कोई कमी नहीं रखी अतः चातुर्मास का निर्णय यहीं (ब्यावर) का हो गया।

आर्यिका चन्द्रमती जी का धर्म प्रेम —

आर्यिका चन्द्रमती माताजी मेरे ज्ञान से बहुत ही प्रसन्न रहती थीं, मेरी चर्या और सरलता आदि से भी बहुत ही प्रसन्न रहती थीं, वे मुझसे कभी-कभी कहा करतीं कि —

"जब आपके माता-पिता मौजूद हैं तो भला वे लोग आपके दर्शन करने क्यों नहीं आते?" यह सुनकर मैं कुछ उत्तर नहीं देती थी। उनके अतीव आग्रह पर मैंने एक बार कहा कि —

"उन्हें पता ही नहीं होगा कि मैं कहाँ हूँ?"

चन्द्रमती जी को बहुत ही आश्चर्य हुआ, तब उन्होंने एक बार मुझसे घर का पता पूछ लिया और चुपचाप एक पत्र लिख दिया।

पत्र टिकैतनगर पहुँच गया, पिताजी पत्र लेकर घर आये और सजल नेत्रों से पढ़कर सुनाने लगे—

श्रीमान् सेठ छोटेलाल जी—

सद्धर्मवृद्धिरस्तु! यहाँ ब्यावर में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज का विशाल चतुर्विधसंघ के साथ चातुर्मास हो रहा है। इसी संघ में आपकी पुत्री, जो कि आर्यिका ज्ञानमती माताजी हैं, विद्यमान् हैं। मेरा नाम आर्यिका चन्द्रमती है, मैं संघ में उन्हीं के साथ अनेक दुर्लभ ग्रंथों का स्वाध्याय करती रहती हूँ। मैं यह पत्र धर्म प्रेम से आपको लिख रही हूँ। आप यहाँ आकर अपनी पुत्री का दर्शन करें उनके ज्ञान और चारित्र के विकास को देखकर आप अपने मन में बहुत ही प्रसन्नता का अनुभव करेंगे अतः आपको अवश्य आना चाहिए। मेरा आप सभी के लिए बहुत-बहुत आशीर्वाद है। आपने ऐसी कन्यारत्न को जन्म देकर अपना जीवन सफल कर लिया है..... इत्यादि।

माँ को और सारे परिवार को वह पत्र पढ़कर विदित हुआ कि हमारी पुत्री मैना आर्यिका ज्ञानमती हैं, वे इस समय आचार्य श्री शिवसागर जी के विशाल संघ में हैं। यह वह समय था कि जब साधु संघों के समाचार ज्यादा अखबारों में नहीं छपते थे और कदाचित् जैनमित्र आदि में छप भी गये तो उन्हें सभी लोग पढ़ते नहीं थे। यही कारण है कि उन्हें इतने वर्षों तक मेरे समाचार नहीं मालूम थे। पुत्री के बढ़ते हुए चारित्र को और बढ़ते हुए ज्ञान को सुनकर माँ का हृदय पुलकित हो उठा। स्मृतिपटल पर सारी पुरानी बातें ताजी हो आईं। साथ ही मोहिनी जी के मोह का उद्रेक भी नहीं रुक सका, उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे। उनका ऐसा भाव हुआ कि—

"मैं अभी शीघ्र ही जाकर दर्शन कर लेऊँ।"

पिताजी को ब्यावर चलने के लिए बहुत आग्रह किया गया किन्तु वे कथमपि तैयार नहीं हुए। उनके मन में कुछ और विकल्प उठ खड़ा हुआ। इसलिए वे बोले—

"पहले कैलाश को भेज रहा हूँ, वह जाकर दर्शन करके सारी स्थिति देखकर आवे पुनः हम तुम्हें लेकर चलेंगे।"

यद्यपि उनके मन में भी मोह का उदय हो आया था, वे भी दर्शन करना चाहते थे किन्तु.....।

मनोवती के मनोभाव—

मैंने दर्शनकथा पढ़कर बड़े प्यार से एक बहन का नाम "मनोवती" रखा था यह मनोवती वर्षों से कहती थी कि—

"मुझे मैना जीजी के दर्शन करा दो, मैं उन्हीं के पास रहूँगी।' इस धुन में वह इतनी पागल हो रही थी कि गाँव में चाहे कोई मुनि आवे या ब्रह्मचारी आवे अथवा पंडित ही आ जावे, वह उनके पास जाकर समय देखकर पूछने लगती—

"क्या तुम्हें हाथ देखना मालूम है? बताओ, मैं अपनी जीजी के पास कब पहुँच सकूँगी? मेरे भाग्य में दीक्षा है या नहीं.....?" इत्यादि। जब माँ को इस बात का पता चलता तो वे उसे फटकारतीं। उन्हें किसी को हाथ दिखाना कतई पसंद नहीं था। इस तरह यह मनोवती जब तब रोने लगती थी और आग्रह करती थी कि मुझे माताजी के पास भेज दो।

पत्र द्वारा मेरा समाचार सुनते ही मनोवती दौड़ी-दौड़ी माँ के पास आई और पत्र छीनने लगी। उसने सोचा "शायद अब मेरे पुण्य का उदय आ गया है, अब मुझे माँ के साथ ब्यावर जाने को अवश्य मिल जावेगा" किन्तु अभी उसके अन्तराय कर्म का उदय बलवान् था। शायद पिता ने इसी वजह से ब्यावर जाने का प्रोग्राम नहीं बनाया कि—

"मैं जाऊँगा तो मोहिनी जी मानेंगी नहीं, वे अवश्य जायेंगी पुनः यह मनोवती पुत्री जबरदस्ती ही चलना

चाहेगी और यह वहाँ उनके पास जाकर मुश्किल से ही वापस आयेगी अथवा यह वहीं रह जायेगी, दीक्षा ले लेगी तो मैं इसके वियोग का दुःख कैसे सहन करूँगा?"

माता मोहिनी का हृदय तड़फड़ाता रहा और मनोवती भी माँ के न जाने का सुनकर बहुत रोई, किन्तु क्या कर सकती थी? दोनों माँ बेटी अपने-अपने मन में अपनी स्त्री पर्याय की निंदा करती रहीं। कभी-कभी माता मोहिनी मनोवती को सान्त्वना देती रहती थीं और कहती रहती थीं—

"बेटी मनोवती! तुम इतना मत रोओ, धैर्य रखो, मैं तुम्हें किसी न किसी दिन माताजी के दर्शन अवश्य करा दूँगी।"

पिता की आज्ञानुसार कैलाशचन्द अपने छोटे भाई सुभाषचन्द को साथ लेकर ब्यावर के लिए रवाना हो गये।

कैलाश-सुभाष को संघ का दर्शन—

सरस्वती भवन की छत पर मैं तत्त्वार्थराजवार्तिक का स्वाध्याय करा रही थी। पास में आर्यिका सुमतिमती माताजी, आर्यिका सिद्धमती जी, आर्यिका चन्द्रमती जी, आर्यिका पद्मावती जी और क्षुल्लिका जिनमती जी बैठी हुई तन्मयता से अर्थ समझ रही थीं। एक तरफ ब्र. राजमल जी भी राजवार्तिक की पंक्तियों का अर्थ देख रहे थे। उसी समय वहाँ पर दो यात्री पहुँचे, नमस्कार किया और वहीं बैठ गये। उनकी आँखों से अश्रु बह रहे थे। पहले शायद किसी ने ध्यान नहीं दिया किन्तु जब कुछ सिसकने जैसी आवाज आयी, तब किसी ने सहसा पूछ लिया-

"तुम लोग क्यों रो रहे हो? कौन हो?"

तभी मैंने सहसा ऊपर माथा उठाया और पूछा—

"आप कहाँ से आये हैं?"

बड़े भाई ने कुछ आँसू रोककर जैसे-तैसे जवाब दिया—"टिकैतनगर से।"

पुनः मैंने पूछा—"किनके पुत्र हो? तुम्हारा क्या नाम है?"

उन्होंने कहा—

"लाला छोटेलाल जी के। मेरा नाम कैलाशचन्द है।"

इतना कहकर दोनों भाई और भी फफक-फफक कर रोने लगे। तभी अन्दर से आकर पं. पन्नालाल जी ने सहसा उनका हाथ पकड़ लिया और उनके आँसू पोंछते हुए बोले—

"अरे! आप रो क्यों रहे हो?"

पंडित जी को समझते हुए देर न लगी कि ये दोनों ज्ञानमती माताजी के गृहस्थाश्रम के भाई हैं। पुनः उस समय आर्यिका चन्द्रमतीजी ने भी उन दोनों को सान्त्वना दी और बोलीं—

"तुम्हारी बहन इतनी श्रेष्ठ आर्यिका हैं, तुम्हें इन्हें देखकर खुशी होनी चाहिए।

बेटे! रोते क्यों हो?"

सभी के समझाने पर दोनों शान्त हुए और मेरे चेहरे को एकटक देखते रहे। वे दोनों इस बात से और भी अधिक दुखी हुए कि—

"जिस मेरी बहन ने मुझे गोद में लेकर खिलाया था, प्यार-दुलार किया था, आज वे हमें पहचान भी नहीं रही हैं।"

पंडित पन्नालाल जी कहने लगे—

"अहो! वैराग्य की महिमा तो देखो! आज माताजी अपने भाइयों को पहचान भी नहीं पाईं। ये स्वयं में ही इतनी लीन हैं, ज्ञानाभ्यास में ही सतत लगी रहती हैं।"

पंडित जी दोनों भाइयों को अपने साथ अपने घर ले गये। रास्ते में इन दोनों ने उनसे यही अफसोस व्यक्त किया कि—

"दुख की बात यह है कि माताजी हम लोगों को सर्वथा भूल गईं।"

पंडित जी ने कहा—

"भाई! दुःख मत मानो। इनकी ज्ञानाराधना ऐसी ही है। मैं देखकर स्वयं परेशान हूँ। ये दिन भर तो अध्ययन कराती रहती हैं पुनः रात्रि में ११-१२ बजे तक सरस्वती भवन के हस्तलिखित शास्त्रों को निकाल-निकाल कर देखती रहती हैं। मैं प्रातः काल आकर देखता हूँ तो प्रायः ५०-६० ग्रंथों को खुला हुआ पाता हूँ, मैं स्वयं अपने हाथ से उन्हें बांधकर रखता हूँ। अगले दिन शाम को माताजी पुनःमुझसे दो तीन अलमारियाँ खुलवा लेती हैं पुनः रात्रि में ग्रंथों का अवलोकन करती रहती हैं।"

कैलाश ने पूछा—

"पंडित जी! ऐसा क्यों? माताजी ग्रन्थ खुले क्यों रख देती हैं?"

पंडित जी ने कहा—

"भाई! एक दिन माताजी ने ग्रन्थ बांध दिये । वे सभी ग्रन्थ अधिक कसकर नहीं बंधे थे किन्तु थे व्यवस्थित बंधे हुए।"

मैंने कहा—"माताजी! ग्रंथों को शत्रुवत् बांधना चाहिए। आप मेरे जितना कसकर नहीं बांध सकेंगी और आपको समय भी लगेगा अतः इतनी सेवा तो मुझे ही कर लेने दीजिये। उस दिन से प्रतिदिन मैं स्वयं आकर ग्रंथों को बांध-बांधकर जहाँ की तहाँ अलमारी में रख देता हूँ।"

पंडित जी बोले-

"माताजी का तो मेरे ऊपर विशेष अनुग्रह है। मेरी पुत्री प्रभा, पद्मा आदि इन्हीं के पास पढ़ती हैं।"

कैलाशचन्द्र की चर्चा—

पंडित पन्नालाल जी ने दोनों को स्नान कराकर भोजन कराया। अनन्तर दोनों भाई नशियाजी में आ गये। एक-एक करके सभी मुनियों के दर्शन किये, सभी आर्यिकाओं के दर्शन किये। अनन्तर मध्यान्ह में एक बजे मेरे पास आकर बैठ गये। वे पंडित पन्नालाल जी से हुई चर्चा सुनाने लगे। मैंने घर के और गाँव के धर्मकार्यों के बारे में जो भी पूछा उन्होंने बता दिया किन्तु मैंने जब घर के किसी भाई-बहन की शादी के बारे में कुछ भी नहीं पूछा और न कुछ अन्य ही घर की बातें पूछीं, तब समय पाकर कैलाश ने कहा—

"माताजी! बहन मनोवती आपके दर्शनों के लिए तरस रही है, वह शादी नहीं करना चाहती, वह आपके पास ही रहना चाहती है।"

इतना सुनते ही मैं एकदम चौंक पड़ी। अब मेरा भाव कुछ ठीक से कैलाशजी से वार्तालाप करने का हुआ। मैंने जिज्ञासा भरे शब्दों में पूछा—

"ऐसा क्यों?

"कैलाश ने कहा—"पता नहीं, आज लगभग दो वर्ष हो गये हैं, वह आपके लिए बहुत ही रोती रहती है। रो-रोकर वह अपनी आँखें लाल कर लेती है, कहती है मुझे माताजी के पास भेज दो, मैं भी दीक्षा लेऊँगी।"

मैंने कहा—"तब भला तुम उसे क्यों नहीं लाए?"

कैलाश जी ने कहा—

"माताजी! आपको मालूम है, पिताजी का कितना बड़ा नियंत्रण है।"

£ २८ ¤

पुनः कैलाश ने कहा—

माताजी! आपकी दीक्षा के बाद ही पिताजी ने बहुत ही जल्दी करके सोलह वर्ष की वय में ही शांति जीजी का विवाह "मोहोना" के सेठ गुलाबचन्द के सुपुत्र राजकुमार के साथ सम्पन्न करा दिया है।

चातुर्मास के अनन्तर कुछ दिन बाद पिताजी ने मेरा भी विवाह वहीं के निवासी लाला शांतिप्रसाद जी की सुपुत्री चन्दा के साथ कर दिया है। अब मैं भी अपनी सोलह वर्ष की वय से ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर व्यापारी बन गया हूँ।

आपके दीक्षा ले लेने से इधर इस घर के वातावरण में सतत धर्म की चर्चा ही रहा करती है। वैसे परम्परागत हम सभी भाई-बहन नित्य ही मंदिर जाते हैं, नियमित स्वाध्याय करते हैं और छोटे भाई-बहन धार्मिक पाठशाला में धर्म का अध्ययन करते रहते हैं पुनः कैलाशचन्द ने कहा—

एक दिन मुझे आपकी विशेष याद आई और अपने मन में आपके पास जाने, का यहीं रहने का भाव जाग्रत हुआ। यह बात मैंने घर में किसी से नहीं बताई और सहसा बिना कहे घर से निकल पड़ा। चतुराई से टिकैतनगर से रवाना होकर दरियाबाद स्टेशन पर आया, कहीं का टिकट लिया और रेल में बैठ गया। सोचा कहीं दक्षिण में पहुँचकर माताजी का पता लगा लूँगा। इधर मेरे घर न पहुँचने से घर में हलचल मची, चन्दारानी भी घबराई।

"यह क्या हुआ? कहीं मेरे पतिदेव भी माताजी के संघ में पहुँचकर दीक्षा न ले लेवें।"

बस उसी समय चारों तरफ से खोजबीन चालू हो गई। तभी मेरे ससुर श्री शांतिप्रसाद जल्दी से दरियाबाद स्टेशन पहुँच गये और जो गाड़ी मिली, उसी में बैठ गये। वह गाड़ी आगे जब किसी भी स्टेशन पर रुकती, तब उसी रेल के एक-एक डिब्बे में मुझे ढूँढ़ने लगते। आखिर मैं उन्हें मिल गया और उन्होंने जैसे-तैसे समझा-बुझाकर आग्रह, सत्याग्रह कर मुझे वापस ले आने का पूरा प्रयास किया जिसमें वे सफल हो गये और मुझे घर आना ही पड़ा। तब कहीं पिताजी के जी में जी आया।

इसके बाद कैलाशचन्द ने बहन श्रीमती की घटना सुनाई—

"सन् १९५७ की बात है। आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज ने सुना कि आचार्य श्रीवीरसागर जी महाराज अपने विशाल संघ सहित जयपुर में विराजमान हैं, अब सल्लेखना तक वे जयपुर में ही रहेंगे। जयपुर खानिया के खुले स्थान पर वे अपनी सल्लेखना करना चाहते हैं। उन्हें अपने निमित्त ज्ञान से यह स्पष्ट हो गया है कि इस चातुर्मास में (सन् १९५७ में) उनकी सल्लेखना निश्चित है। आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से महावीरकीर्ति जी महाराज ने प्रारंभ में क्षुल्लक दीक्षा ली थी, इसलिए वे इन्हें अपना गुरु मानते थे। उनके हृदय में अन्त में गुरु की वैयावृत्ति करने की, उनकी सल्लेखना के समय उपस्थित रहने की उत्कृष्ट भावना जागृत हो उठी अतः पूज्य श्री ने अपने संघ को लेकर तीर्थराज सम्मेदशिखर से विहार कर दिया। वे अयोध्या जी क्षेत्र पर आए, तब टिकैतनगर के श्रावकों ने अत्यधिक आग्रह कर उनका विहार टिकैतनगर की तरफ करवा लिया। मेरी माँ ने अयोध्या आकर आचार्य संघ का दर्शन किया और उनके निकट शुद्ध जल का नियम लेकर आहार देने लगीं पुनः टिकैतनगर आने तक वे संघ के साथ ही रहीं, चौका बनाकर आहार देते हुए अपने गांव तक संघ को लाई। निसर्गतः माँ साधुओं को अपना परिवार ही समझती थीं।

संघ टिकैतनगर में ठहरा हुआ था, माँ ने भी चौका लगाया हुआ था। एक-दो दिन तक आचार्य महाराज का आहार न होने से उन्हें बड़ी बेचैनी-सी हुई। यद्यपि प्रतिदिन अन्य कई एक मुनि, आर्यिका आदि के आहार

का लाभ मिल रहा था। तभी उन्हें पता चला कि आचार्य महाराज प्रायः जोड़े का नियम लेकर आहार को निकलते हैं। फिर क्या था, माँ ने पिताजी से अनुरोध किया कि—

"आप भी शुद्ध वस्त्र पहनकर पड़गाहन के लिए खड़े हो जावें।"

यद्यपि पिताजी जब भी कानपुर आदि जाते थे, घर से पूड़ियाँ ले जाते थे, वे ही खाते थे, कभी भी बाजार का या होटल का नहीं खाते थे अथवा कभी-कभी तो वे दाल-चावल ले जाते थे जिससे खिचड़ी बनाकर खा लेते थे फिर भी शुद्धजल का नियम एक हौआ सा प्रतीत होता था अतः पहले तो वे कुछ हिचकिचाये किन्तु आचार्यश्री को उधर आते देख वे भी स्नान कर शुद्धवस्त्र पहनकर कलश और नारियल लेकर जोड़े से खड़े हो गये। भाग्य से आचार्यश्री का नियम वहीं पर मिल गया और पिता ने भी शुद्धजल का नियम कर बड़े ही भावपूर्वक जोड़े से नवधाभक्ति करके आचार्यश्री को आहारदान दिया। उस समय उनको इतना हर्ष हुआ कि कहने में भी नहीं आ सकता था। आहार के बाद जब ये लोग गुरुदेव की आरती करने लगे तब माँ की आँखों में आँसू आ गये। आचार्यश्री को मालूम था कि इनकी पुत्री मैना ने आचार्य देशभूषण जी के पास में क्षुल्लिका दीक्षा ले ली थी अब वे आचार्य श्रीवीरसागर जी के संघ में आर्यिका हैं। उसी की याद आ जाने से यह माता विह्वल हो रही है, तब उन्होंने उस समय मेरे मां-पिता को बहुत कुछ समझाया और कहा—

"देखो! तुम्हारी कन्या ने दीक्षा लेकर अपने कुल का उद्धार कर दिया है।"

उस समय ब्र. चांदमल जी (गुरुजी) ने भी धर्मवात्सल्य से माँ और पिता की प्रशंसा की और उनके पुण्य की बहुत कुछ सराहना की।

इस तरह जब तक संघ टिकैतनगर में रहा, माँ आहारदान देती रहीं और उपदेश का, आर्यिकाओं की वैयावृत्ति का लाभ लेती रहीं।

बहन श्रीमती का निकलने का प्रयास —

जब संघ वहाँ से विहार कर दरियाबाद पहुँचा, तब टिकैतनगर के कुछ श्रावक-श्राविका और बालिक-बालिकाएं भी संघ के साथ पैदल चल रहे थे। उनमें एक बालिका भी नंगे पैर बेभान चली आ रही थी। ब्र. चांदमल गुरुजी को यह मालूम हो गया था कि यह कन्या पिता छोटेलाल जी की तृतीय पुत्री है और आर्यिका ज्ञानमती जी की बहन है। इसका नाम श्रीमती है, यह शादी नहीं करना चाहती है, संघ में रहना चाहती है इसलिए घर वालों की दृष्टि बचाकर यह पैदल चली आ रही है। इसी बीच जब घर में श्रीमती के जाने की बात विदित हुई तब हो-हल्ला शुरू हो गया। यह सुनते ही मेरे ताऊ श्री बब्बूमल जी वहाँ से इक्के पर बैठकर जल्दी से दरियाबाद आ गये। उस कन्या को समझाने लगे किन्तु जब वह कथमपि जाने को तैयार नहीं हुई तब मामला महाराज जी के पास आ गया। ब्र. चांदमल जी ने ताऊ को बहुत कुछ समझाने का प्रयास किया किन्तु सब निष्फल गया। वह कन्या श्रीमती बहुत ही रो रही थी। कुछ आर्यिकाओं ने भी ताऊ जी को समझाना चाहा, परन्तु भला वे कब मानने वाले थे? अतः उस समय कन्या को सीधे सादे लौटते न देख आगे बढ़े, उसको गोद में उठा लिया और इक्के में बिठाकर जबरदस्ती घर ले आये। तब कहीं घर में शांति हुई और पिताजी का मन ठण्डा हुआ। बहन श्रीमती अपने भाग्य को कोसकर रह गई और अपनी पराधीन स्त्रीपर्याय की निन्दा करती रही। कुछ दिनों तक उनका मन बहुत ही विक्षिप्त रहा अन्त में पूजा और स्वाध्याय में तथा गृहकार्य और हम सभी भाई-बहनों की संभाल में उन बातों को भूल गई। बाद में इनका विवाह बहराइच के सेठ सुखानन्द के पुत्र प्रेमचन्द के साथ हुआ है। (इनकी चतुर्थ पुत्री अनिता-आस्था इस समय ब्रह्मचर्यव्रत लेकर मेरे पास ही रह रही है।)

इतना सब सुनकर मैंने प्रेम से कैलाशचन्द को समझाना शुरू किया।

कैलाशचन्द! "देखो, इस अनादि संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव ने कौन-कौन से दुःख नहीं उठाये हैं? भला जब यह जीव इस संसार से निकलना चाहता है तब पुनः उसे इस दुःखरूपी सागर में वापस क्यों डालना? कैलाश! तुम मेरी बात मानो और जैसे बने उस मनोवती को संघ में पहुँचा दो। तुम्हारा उस पर बहुत बड़ा उपकार होगा....." और भी बहुत कुछ समझाया किन्तु कैलाशचन्द जी क्या कर सकते थे? उन्होंने अंत में यही कहा कि "मैं क्या कर सकता हूँ? मेरे वश की बात नहीं है। पिताजी इसी कारण से स्वयं आपके दर्शन करने नहीं आये हैं और न माँ को ही आने दिया है।"

पुनः मैं मन ही मन सोचने लगी—

"अहो! सचमुच में मैंने पूर्वजन्म में कितना पुण्य किया होगा जो कि मेरा पुरुषार्थ सफल हो गया और मैं इस गृहकूप से बाहर निकल आई हूँ, आज मेरा जीवन धन्य है। मैंने क्षुल्लिका दीक्षा के बाद इस स्त्रीपर्याय में सर्वोत्कृष्ट आर्यिका दीक्षा भी प्राप्त कर ली है। आश्चर्य है कि यह संयमनिधि सबको सुलभ नहीं है विरले ही पुण्यवानों को मिलती है।"

इधर कैलाशचन्द के साथ वार्तालाप कर उपर्युक्त बातों को उनके मुख से सुन कर पं.पन्नालालजी सोनी एवं ब्र. श्रीलाल जी कहने लगे—"यह कोई पूर्वजन्म के संस्कार ही हैं कि जो आपके भाई बहनों के भाव भी घर से निकलकर साधु संघों में रहने के हो रहे हैं।"

इसके बाद २-३ दिन तक कैलाश, सुभाष वहाँ रहे। मेरे स्वाध्याय और अध्ययन को देखते रहे, सरस्वती भवन में ऊपर मेरे पास संघ की प्रमुख आर्यिका वीरमती माताजी सोती थीं। मेरे पास आर्यिका चन्द्रमती, आर्यिका पद्मावती, क्षुल्लिका जिनमती और क्षुल्लिका राजमती ऐसी चार साध्वियाँ रहती थीं। पास में कोई भी ब्रह्मचारिणी नहीं थी। कैलाशचन्द ने इन आर्यिकाओं से बातचीत की, इनका परिचय लिया, सारे संघ के साधुओं की चर्या देखी, आचार्य महाराज का उपदेश सुना, पश्चात् वहाँ से चलकर वापस घर आ गये। माँ ने आते ही कैलाशचन्द के मुख से अपनी सुपुत्री मैना अर्थात् मेरे सारे समाचार सुने। मन में बहुत प्रसन्नता हुई। मेरे पास दो आर्यिकायें और दो क्षुल्लिकायें हैं, ऐसा जानकर उनका हृदय गद्गद हो गया। मेरे ज्ञान की प्रशंसा पंडित पन्नालालजी सोनी और ब्र. श्रीलालजी शास्त्री ने जैसी की थी वैसी सुनाई तो पिता का हृदय भी फूल गया। मनोवती के भी हर्ष का ठिकाना न रहा किन्तु उसे दुःख इस बात का बहुत हो रहा था "कि मुझे ज्ञानमती माताजी के दर्शन कब होंगे?"

£ २९ ¤

दैवसिक प्रतिक्रमण —

जब से मैंने क्षुल्लिका दीक्षा ली थी बराबर प्रतिदिन दोनों टाइम प्रतिक्रमण करती थी। मेरे निकट रहने वाली आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें भी करती थीं। एक दिन आर्यिका चंद्रमती जी ने कहा—

"माताजी! हम लोग सायंकाल में दैवसिक प्रतिक्रमण खुले रूप में एक साथ बैठकर क्यों न करें?"

मैंने कहा—"बिना कारण संघ में अशांति हो सकती है और विरोध भी हो सकता है.....।" पहले संघ में प्रातः सामायिक के बाद प्रतिक्रमण होता था यद्यपि यह रात्रिक प्रतिक्रमण था, फिर भी आचार्य महाराज के पास सभी मुनि, आर्यिका एकत्रित हो जाते थे और सामूहिक प्रतिक्रमण होता था इसमें "दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमण-क्रियायां" ऐसा बोला जाता था किन्तु उन दिनों सायंकालीन दैवसिक प्रतिक्रमण सामूहिकरूप में संघ में नहीं होता था। उन दिनों दक्षिण में कुछ साधु-साध्वियाँ मिलकर प्रातः सामायिक के बाद दशभक्तियों का पाठ करते पुनः कल्याणालोचना पढ़ते। मध्यान्ह में सामायिक के बाद सभी मिलकर भक्तामर-स्तोत्र, सहस्रनाम

और तत्त्वार्थसूत्र का पाठ करते। यद्यपि उनका यह पाठ बहुत ही कर्णप्रिय लगता था, फिर भी दोनों टाइम प्रतिक्रमण अवश्य होना चाहिए, यह अभाव मुझे खटकता था अतः बहुत कुछ सोचकर साहस करके एक बार हमने आर्यिका वीरमती जी से परामर्श कर उन्हें आगे कर एक साथ बैठकर सायंकाल में दैवसिक प्रतिक्रमण करना शुरू कर दिया। कई एक आर्यिकाओं ने पहले हँसी उड़ाई। कहने लगीं—

"दिनभर मिच्छा मे दुक्कडं, मिच्छा मे दुक्कडं" यह तो ढूँढ़ियाँ साध्वियों जैसा धंधा बना दिया है।"

मैंने इन बातों पर लक्ष्य नहीं दिया तब यह शिकायत के रूप में आर्यिका सुमतिमती माताजी ने आचार्यश्री के सामने कह दिया। मैंने देखा, मामला बढ़ने वाला है तब पं. पन्नालालजी को कहा कि आप भी इस शास्त्रोक्त क्रिया का समर्थन करना। इसके पूर्व पं. पन्नालालजी सोनी कई बार मुझसे कह चुके थे कि दोनों समय प्रतिक्रमण की पद्धति संघ में होनी चाहिए। इस मौके पर वे तटस्थ हो गये तब मैंने ही साहस बटोर कर आचार्यश्री के सामने मूलाचार ले जाकर प्रकरण दिखाते हुए कहा कि—

"इसी के आधार से मैं दोनों समय प्रतिक्रमण करती हूँ।"

इसके पूर्व मुनिश्री श्रुतसागरजी तो मेरी क्रियाओं से प्रारंभ से ही प्रभावित थे, वे भी चाहते थे कि—

"मुनियों में भी यह परंपरा सामूहिक रूप से चालू हो जाये।"

मैंने आचार्यश्री शिवसागर जी का मनोभाव उस समय अच्छा देखा अतः निवेदन भी किया कि—

"महाराज जी! कृपया आप आदेश दे दें तो सभी मुनि, आर्यिकायें सायंकाल में आपके समक्ष ही प्रतिक्रमण किया करें।"

आचार्यश्री ने कहा—

"अच्छा, सोचकर निर्णय देंगे।"

मैं वापस आ गई और अपना क्रम चालू रखा तथा वयोवृद्धा आर्यिका सुमतिमतीजी आदि से निवेदन किया कि—"आप सब भी प्रतिक्रमण करें तो मैं भी आपके साथ ही करूँगी।"

वे भी खुश हो गईं, कुछ दिन तो हम आर्यिकाओं ने मिलकर प्रतिक्रमण किया पुनः मुनि श्रीश्रुतसागरजी से निर्णय कर आचार्यश्री ने आदेश किया कि—

"सायंकाल में चार से पाँच बजे तक स्वाध्याय चलता है, पं. पन्नालालजी सोनी मूलाचार पढ़ते हैं, सभी साधु सुनते हैं, उसी स्वाध्याय के बाद यहाँ सामूहिक रूप से दैवसिक प्रतिक्रमण होगा, सभी साधु-साध्वियाँ उपस्थित रहेंगे।"

मुझे इस स्वस्थ परम्परा के चल जाने से बहुत ही प्रसन्नता हुई। आज देखती हूँ कि सर्वत्र संघों में सायंकाल में 'दैवसिक प्रतिक्रमण' की परम्परा चल रही है। इसमें मैंने धीरे-धीरे 'चत्तारिमंगल, अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु' आदि सामायिक दण्डक और कायोत्सर्ग के बाद 'थोस्सामि' पाठ भी शुरू करा दिया। आज यह दंडक और थोस्सामि को पढ़ने की परम्परा भी सर्वत्र चल गई है। पहले मात्र कायोत्सर्ग कर लेते थे, यह पाठ पुनः-पुनः नहीं पढ़ते थे।

इसके बाद अष्टमी के दिन सामूहिक रूप में अष्टमी क्रिया चालू करने के लिए मैंने बहुत प्रयास किया परन्तु सफलता नहीं मिली, तब मैंने आर्यिकाओं में तो चालू कर ही दी थी, उसमें कुछ ही आर्यिकायें नहीं बैठती थीं किन्तु बड़ी आर्यिका वीरमती माताजी और सुमतिमती माताजी अवश्य बैठती थीं।

कुछ दिनों पश्चात् मैं पाक्षिक प्रतिक्रमण में सामायिक दंडक और थोस्सामि का पाठ हर कायोत्सर्ग के साथ प्रारंभ कराना चाहती थी किन्तु सफलता नहीं मिल पाई। इस पाठ को मैंने आचार्यधर्मसागर जी महाराज के सानिध्य में चाकसू (जिला-जयपुर राज.) में सन् १९६९ में चालू कराया है। इसमें समय अधिक लग

जाता है, फिर भी साधुओं के पास विधिवत् अपनी क्रियाओं को करने के सिवाय और कार्य ही क्या है? अतः प्रमाद को छोड़कर सर्वक्रियाओं को विधिवत् करना चाहिए, ऐसी मेरी भावना रहती है।

पश्चिम रात्रि में प्रतिक्रमण —

उन दिनों एक चर्चा यह भी बनी कि मैं पिछली रात्रि में अपररात्रिक स्वाध्याय करके पहले प्रतिक्रमण करती थी पुनः सामायिक करती थी। प्रारंभ से ही मैंने देखा था कि आर्यिकायें प्रातः काल प्रतिक्रमण के लिए आचार्यश्री के स्थान पर नहीं आती थीं प्रत्युत् वहीं अपने स्थान पर सर्व आर्यिकायें मिलकर प्रतिक्रमण करती थीं, बाद में मेरी प्रेरणा विशेष से आर्यिका वीरमती माताजी आदि हम सभी मिलकर एक साथ प्रतिक्रमण कर लिया करते थे।

मूलाचार का अध्ययन कराते समय मैंने उसमें ये पंक्तियाँ पढ़ी थीं —

"पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि"[१] पिछली रात्रि में प्रतिक्रमण करने में कृतिकर्म (विधिवत् कायोत्सर्ग) चार होते हैं। अनगारधर्मामृत में भी लिखा है कि —

"स्वाध्याये द्वादशेष्टा, षड्वंदनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ, द्वौ चाहोरात्रगोचराः[२]।। ७५।।

स्वाध्याय के बारह, वंदना के छह, प्रतिक्रमण के आठ और योगभक्ति के दो, ऐसे अहोरात्र संबंधी अट्ठाईस कायोत्सर्ग होते हैं। मूलाचार की टीका में भी यही खुलासा है। वहाँ इन अट्ठाईस कायोत्सर्ग को अट्ठाईस 'कृतिकर्म' नाम दिया है।

अतः प्रतिक्रमण के 'रात्रिक दैवसिक' दो भेद करके पिछली रात्रि में होने वाले प्रतिक्रमण को रात्रिक और 'दिवसान्ते भवा' दैवसिकप्रतिक्रमण' व्याख्या के अनुसार दिवस के अंत में सायंकाल में अर्थात् होने वाले प्रतिक्रमण को दैवसिक संज्ञा है। उस समय इस विषय पर पं. पन्नालालजी सोनी का भी विशेष समर्थन प्राप्त हुआ और आगम प्रमाण के आगे सभी को संतोष रहा।

आर्यिका संघ में तो पिछली रात्रि में पहले प्रतिक्रमण करके सामायिक की परम्परा चल ही गई थी किन्तु अत्यधिक पुरुषार्थ करने के बाद भी आचार्य संघ में (मुनियों में) सामूहिक रूप से यह परम्परा नहीं चल पाई, ये सभी मुनिवर्ग प्रातः सामायिक के बाद ही आचार्यश्री के पास उपस्थित होकर प्रतिक्रमण करते थे।

ब्यावर चातुर्मास की चर्या —

पिछली रात्रि में अपरात्रिक स्वाध्याय करके मैं रात्रिक प्रतिक्रमण करती थी, उसमें आर्यिका वीरमती जी (बड़ी माताजी) आर्यिका चंद्रमतीजी, आर्यिका पद्मावती जी क्षुल्लिका जिनमती जी एवं क्षुल्लिका राजुलमतीजी भी बैठती थीं पुनः हम सभी मिलकर विधिवत् सामायिक करते अनंतर गुरु वंदना करके आर्यिका धर्ममतीजी, क्षुल्लिका जिनमती जी, क्षुल्लिका ज्ञानमतीजी, (आर्यिका बुद्धिमतीजी) आर्यिका पद्मावती जी और मैं, ऐसे कई साध्वियाँ मिलकर नशिया से काफी दूर लगभग डेढ़ मील दीर्घशंका के लिए जाती थीं। वहाँ से आकर देवदर्शन करके इधर सरस्वती भवन में संघस्थ चैत्यालय में अभिषेक देखतीं।

इसके बाद चंपालालजी रानीवाला के परिवार की कुछ महिलाएँ एवं बालिकाएँ आ जातीं, उन्हें उमास्वामी श्रावकाचार पढ़ाती, बाद में कुछ विद्यार्थी तत्त्वार्थसूत्र आदि अर्थ सहित पढ़ते पुनः आठ बजे से नव बजे तक तत्त्वार्थराजवार्तिक का अध्ययन कराती। नव से पौने दश तक गोम्मटसार कर्मकांड ग्रंथ को पढ़ाती, अनंतर शुद्धि करके मंदिर में आ जाती। आचार्य श्री के दर्शन कर सब साधु-साध्वियाँ क्रम-क्रम से आचार्यश्री के पीछे-पीछे आहार को निकलते थे। यह दृश्य बहुत ही सुन्दर दिखता था। लोग उस समय इस

---

१. मूलाचार गाथा ६०२ की टीका का अंश। २. अनगारधर्मामृत अ. ८, पृ. ५९७।

दृश्य को देखने के लिए इकट्ठे हो जाते और कहते कि—"अहो! चतुर्थकाल जैसा दृश्य दिख रहा है।"

इसके बाद मध्यान्ह की सामायिक करके पहले मैं क्षुल्लिका जिनमती को मूलाचार आदि पढ़ाती पुनः दो बजे से चार बजे तक सात-आठ लड़कियाँ आ जाती थीं जिन्हें कातंत्र-व्याकरण, द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र आदि का अध्ययन कराती। संघस्थ ब्रह्मचारिणियाँ—गट्टूबाई, सोनूबाई आदि भी आकर तत्त्वार्थसूत्र का अध्ययन करती थीं।

सायं चार बजे से पाँच बजे तक आचार्यश्री के सानिध्य में मूलाचार का स्वाध्याय चलता था, इसमें सभी मुनि, आर्यिकायें उपस्थित रहते थे। अनंतर दैवसिक प्रतिक्रमण होता था, पुनः सब आर्यिकायें सरस्वती भवन में अपने स्थान पर आ जाती थीं। पं. पन्नालालजी सोनी चरणानुयोग के अच्छे विद्वान् थे उन्होंने क्रियाकलाप, अभिषेक पाठ संग्रह आदि ग्रंथों का संपादन किया था अतः आचार्यश्री पंडितजी को सायंकालीन स्वाध्याय में मूलाचार पढ़ने के लिए बिठाते थे।

सायंकालीन सामायिक के बाद में हस्तलिखित ग्रंथों का मैं स्वयं अवलोकन करती थी, जिसमें रात्रि के ग्यारह-बारह भी बज जाते थे, तब मैं थककर चूर हो जाती थी। सारे चातुर्मास क्या, ज्येष्ठ सु. ५ से लेकर मगसिर तक प्रायः यही चर्या रही है। कभी-कभी कुछ परिवर्तन हो जाया करता था। उस समय की इस चर्या से मुझे बहुत ही आत्मसंतोष होता था आज भी वह व्यस्तचर्या याद आती है तो मन प्रसन्न हो जाता है।

अस्वस्थता —

यहाँ पर गर्मी में ही मैं आहार करके आती कि तत्क्षण दीर्घशंका के लिए जाना होता था इससे लगभग आधा घंटे तक मुझे बहुत ही बेचैनी होती थी किन्तु मैं न किसी को कुछ कहती ही थी और न स्वास्थ्य के बारे में चिंता ही करती थी और न कुछ दवा ही लेती थी। शरीर से कसकर काम लेना भर मेरा लक्ष्य था। इस प्रकार वैराग्य भावना का चिंतवन करते हुए अपना समय शुभोपयोग से व्यतीत हो रहा था। जब रात्रि की लाइट में कीट, पतंगे आने लगे, तब मैंने रात्रि में हस्तलिखित ग्रंथों का अवलोकन छोड़ दिया था और बाहर छत पर खड़ी होकर बाहर की दूर की लाइट की रोशनी से कर्मकांड ग्रंथ की तीन-चार गाथायें याद कर लेती और अनुप्रेक्षा तथा आम्नाय नाम के स्वाध्याय को करते हुए सो जाती थी।

आम्नायस्वाध्याय —

दशलक्षण पर्व में तत्त्वार्थसूत्र का अर्थसहित वाचन करने के लिए एक विद्वान् शास्त्री को आमंत्रित किया गया था। नवमीं अध्याय का अर्थ करते हुए पंडितजी जब स्वाध्याय के पाँच भेदों का वर्णन करने लगे। यथा—

'वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः'

स्वाध्याय नामक तप के पाँच भेद हैं—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

१. जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निर्गत और गणधर गुरु आदि मुनियों द्वारा ग्रंथित ग्रंथ को शुद्ध पढ़ना और पढ़ाना **वाचना** है।

२. जो मन में शंका हो या विशेष जानने की इच्छा हो उसको गुरु से पूछना शंका का समाधान करना **पृच्छना** है।

३. पढ़े हुए का बार-बार चिंतन करना **अनुप्रेक्षा** है।

४. पढ़े हुए को **घोकना,** रटना याद करना **आम्नाय** है।

५. धर्मकथा आदि को सुनाना **धर्मोपदेश** है।

इन पाँच प्रकार के स्वाध्यायों का अर्थ करते हुए पंडित जी आम्नाय का अर्थ करते हुए बोले—

"तेरह पंथ और बीस पंथ ये दो आम्नाय प्रचलित हैं किन्तु वास्तव में वीतराग पंथ ही शुद्ध है। फल,

पुष्प, दीप आदि सचित्त वस्तुओं से पूजन करना ठीक नहीं है इत्यादि।"

उनके शब्द क्या थे? मुझे याद नहीं है किन्तु अभिप्राय यही था। इस प्रकार विवेचन करते हुए वे अधिक बोल गये। उस समय आचार्यश्री शिवसागर जी, मुनि श्रुतसागर जी, पं. पन्नालालजी सोनी आदि आपस में एक-दूसरे का मुख देखने लगे पुनः आचार्यश्री हम सभी की ओर देखकर मुस्कराये—

जब उनका उपदेश चल रहा था तभी शायद मुनि श्रुतसागरजी ने टोक दिया कि—

"पंडित जी! आम्नाय का अर्थ आप गलत कर रहे हैं, यहाँ प्रकरण स्वाध्याय का है न कि पंथभेद का।"

उस समय आचार्यश्री ने मुझे भी बोलने का अवसर दिया और मैंने तत्त्वार्थ- राजवार्तिक के आधार से आम्नाय का अर्थ कर दिया।

वास्तव में वहां सब प्रबुद्ध लोग बैठे हुए थे जिसमें विद्वान्, मुनि, आर्यिकाएं और पण्डित लोग भी थे अतः उस समय पंडित जी मौनस्थ हो गये।

वहाँ ब्यावर में पंडित पन्नालालजी सोनी सिद्धांत, न्याय, व्याकरण आदि ग्रंथों के तलस्पर्शी विद्वान् थे। लेखन कला में भी प्रवीण थे किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वक्तृत्वकला उनमें नहीं थी, वे सभा में खड़े होकर पाँच मिनट भी बोलने का साहस नहीं कर पाते थे। यही कारण था कि वहाँ पर अन्य विद्वान् को बुलाया गया था।

यहाँ ब्यावर से चातुर्मास के पूर्व ही श्री धर्मसागर जी मुनि अपने साथ में श्री पद्मसागर जी मुनि को लेकर कालू गाँव की तरफ विहार कर गये थे।

£ ३० ¤

जयपुर में गुरुचरण स्थापना —

ब्यावर चातुर्मास के बाद ब्रह्मचारी सूरजमलजी ने निवेदन किया—

"महाराजजी! खानिया (जयपुर) में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के निषद्या स्थान पर छतरी बनकर तैयार हो गई है, अब आप ससंघ पधारकर उसमें गुरुदेव की चरण पादुका स्थापित करा दीजिये।"

आचार्यश्री ने सहर्ष स्वीकृति दी और अपने पूरे चतुर्विध संघ सहित जयपुर आ गये। यहां खानिया में मंगलमय मुहूर्त में चरणपादुका स्थापित किये गये। गुरुदेव की निषद्या की वंदना कर गुरुवर्य के गुणों का स्मरण करते हुए यह समारोह संपन्न हुआ।

इसी मध्य यहाँ क्षुल्लक श्री ज्ञानभूषणजी पधारे थे। वे पहले आचार्यश्री वीरसागरजी के संघ में पं. भूरामलजी के नाम से प्रसिद्ध विद्वान् थे, काफी दिन रहे है, ऐसा मैंने सुना था। संघ के ब्रह्मचारी गण एवं मुनि, आर्यिकायें भी इनसे अध्ययन करते थे। अनंतर कुछ मतभेद हो जाने से संघ से पृथक् हो गये थे।

मतभेद —

संघस्थ वृद्धा आर्यिका श्री सुमतिमती माताजी ने मुझे यह बताया था कि—

पंडित भूरामलजी एक प्रकार से सुधारक विचारधारा के विद्वान् थे। जातिव्यवस्था, वर्णव्यवस्था को नहीं मानते थे। तेरहपंथ विचारधारा के थे तथा सबसे नई विचारधारा यह थी कि ये हरी सब्जी और फलों के कण-कण में जीव मानते थे। यही कारण था कि वे अनार, सेव, संतरा आदि के रसों को भी गरम किये बगैर नहीं लेते थे और अपने विषय का दृढ़ता से प्रतिपादन भी करते थे।

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज अपने आचार्यश्री शांतिसागरजी गुरुवर्य के परमभक्त एवं आर्षपरंपरा के कट्टर थे अतः वे इन सुधारक विचारधाराओं के विरोधी थे, फिर भी संघ में बेमालूम ही साधुवर्गों में इन

पंडितजी का प्रभाव पड़ने लगा और संघ की बड़ी आर्यिका वीरमती जी भी सेव, आम, संतरा आदि फलों को तथा इनके रसों को गरम कराकर लेने लगीं। तब संघ में कुछ संघर्ष का वातावरण बन जाने से इन पंडित जी को हटाना पड़ा था।

वे यहाँ से जाने के बाद क्षुल्लक हो गये थे, वे अब यहाँ पर आये हुए थे।

इस समय यहाँ खानिया में ये बोले कि—

"अब मैं वृद्ध हो गया हूँ मुझे, अपनी समाधि की सिद्धि करनी है अतः मुझे मुनिदीक्षा देकर संघ में रखकर मेरी समाधि बना दीजिये।"

उनका यह निवेदन चर्चा का विषय बना। कई बार एकांत में आचार्यश्री, मुनिश्रुतसागर जी, ब्र. सूरजमलजी, ब्र. राजमल जी, संघपति हीरालालजी, पं. इंद्रलालजी शास्त्री आदि बैठकर ऊहापोह करते रहते थे। क्षुल्लक ज्ञानभूषण जी ने अपने प्रेमभाव से ब्र. राजमलजी से बहुत बार निवेदन किया और आग्रह किया कि जैसे बने वैसे मेरी मुनि दीक्षा करा दो तथा मुझे संघ में आश्रय मिल जाए।

अंततोगत्वा संघ के विशिष्ट साधु-साध्वी और ब्रह्मचारी तथा श्रावकवर्गों में यही निर्णय हुआ कि—

"ये वचन देवें कि अपने सिद्धांत का, अपनी विचारधाराओं का, कथमपि प्रचार नहीं करेंगे। स्वयं अपनी विचारधारा तो बदल नहीं सकते, उसे अपने तक ही सीमित रखें।"

यह बात इन्हें कही गईं, इन क्षुल्लक महाराज ने भी इसे स्वीकार कर लिया। तब शुभमुहूर्त में आचार्यश्री ने इन्हें मुनि दीक्षा देकर इनका नाम 'ज्ञानसागर' रखा।

संघ यहाँ से विहार कर जयपुर शहर में आ गया और कुछ दिन यहीं रहा।

आर्ष परम्परा —

उस समय जो संघ में "आर्षपरम्परा' के संरक्षण की चर्चा हुई थी, आज मुझे गौरव है कि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के सभी शिष्य इस आर्षपरम्परा के पोषक, समर्थक और संरक्षक ही रहे हैं। उनके प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्रीवीरसागर जी के सभी शिष्य भी कट्टर अनुयायी रहे हैं। उनके द्वितीय पट्टाधीश आचार्य श्री शिवसागर जी आगमपरम्परा में दृढ़ रहे हैं। जो उनकी परम्परा निभाने में असमर्थ रहे, उन्हें संघ से अलग होना पड़ा है। इन आचार्यश्री शिवसागर जी के पट्टाधीश आचार्यश्री धर्मसागर जी ने भी दिल्ली आकर निर्वाण महामहोत्सव के समय अच्छी धर्मप्रभावना की है। इस उत्तर प्रांत में अनेक संघर्ष के प्रसंग में भी वे 'यज्ञोपवीत, सज्जातीयत्व और बीसपंथ आदि' आर्षपरम्परा पर अटल रहे हैं तथा अपनी सरलता, निस्पृहता और चारित्र की दृढ़ता आदि गुणों से मुनिभक्त समाज ही क्या, सुधारकवर्ग के लोगों में भी अपना प्रभाव डाल गये हैं।

यही कारण है कि आज इस विषमयुग में भी इन महामुनियों द्वारा और आर्यिका संघों के द्वारा आर्ष परम्परा की रक्षा करते हुए चहुँमुखी धर्मप्रभावना हो रही है।

इससे यह अनुभव आता है कि दीक्षा के लिए आये हुए पात्र को अच्छी तरह देखकर, उसकी दृढ़ता की परीक्षा करके ही दीक्षा देना चाहिए। अन्यथा-जल्दबाजी कर देने से यदि वे शिष्य स्वच्छंद हो जाते हैं तो उनके द्वारा आर्षपरम्परा की हानि होती है और धर्मप्रभावना के बजाए अप्रभावना हो जाती है। मोक्षमार्ग को अक्षुण्ण चलाने के साथ-साथ आर्षपरम्परा के संरक्षण को भी दृष्टि में रखकर दीक्षा देने से धर्म की सर्वतोमुखी उन्नति होती है अतः संघ बढ़ाने के लोभ में आकर 'अपात्र' को दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

जो दुराग्रही हैं, गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित नहीं है, गुरुपरम्परा को पालने में दृढ़ नहीं हैं अथवा चारित्र में शिथिल हैं, ऐसे शिष्य अपात्र हैं। दैगम्बरी—जैनेश्वरी दीक्षा के लिए अथवा आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक और

क्षुल्लिका दीक्षा के लिए पात्र नहीं हैं।

आज जो शिष्य के लोभ में पढ़कर पात्र-अपात्र का विचार नहीं करके जल्दी से दीक्षा दे देते हैं तो उनसे धर्म की अप्रभावना का प्रसंग देखने में आता रहता है।

मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा —

यहाँ दीवानजी की नशिया में एक क्षुल्लिका वृषभसेना ने बहुत ही पुरुषार्थ से समाज से द्रव्य इकट्ठा करके एक मानस्तम्भ बनवाया था। यह बनकर तैयार हो गया था वहाँ की प्रमुख महिला 'दीवानीजी' ने और क्षुल्लिका ने भी आचार्यश्री से प्रार्थना की कि—

"आपके सानिध्य में इस मानस्तम्भ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराना चाहती है अतः आप इस नशिया में पधारकर इस प्रतिष्ठा को संपन्न करायें।"

प्रतिष्ठाचार्य में ब्रह्मचारी सूरजमलजी से निवेदन कर उनकी स्वीकृति ली और आचार्यश्री की भी स्वीकृति प्राप्त कर इस विशाल चतुर्विध संघ का पदार्पण यहाँ कराया गया। मुहूर्त के अनुसार बहुत ही सुन्दर प्रतिष्ठा हुई और जयपुर शहर में अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

अजमेर के लिए विहार —

इन्हीं दिनों संघ के अगले चातुर्मास के लिए अजमेर के श्रावकों का आग्रह शुरू हुआ। सर सेठ भागचन्दजी सोनी भी कई बार निवेदन करने के लिए आये। इधर जयपुर के श्रावकों का भी विशेष आग्रह था चूँकि आई निधि को भला कौन छोड़ना चाहेगा?

फिर भी अनेक ऊहापोह के बाद आचार्यश्री ने अजमेर में चातुर्मास करने के लिए स्वीकृति दे दी। समय कुछ कम था अतः आर्यिकाओं में वृद्धा सुमतिमती माताजी आदि ने अजमेर की तरफ विहार करने से इंकार कर दिया। उस समय बहुत ही संघर्ष का वातावरण बन गया। आचार्यश्री ने भी इनको समझाने का प्रयास किया लेकिन कुछ तथ्य नहीं निकला। तब यह निर्णय रहा कि—

"मुनिसंघ विहार करेगा और आर्यिकाएँ यहीं रहेंगी।" इस विषय में आर्यिका वीरमती जी सहमत नहीं थीं, फिर भी वे आर्यिका सुमतिमती माताजी के बगैर जाना भी नहीं चाहती थीं।

इधर मुझे आचार्यश्री ने बुलाया और कहा—

"ज्ञानमतीजी! मैं चाहता हूँ कि आप अपने आर्यिकासंघ सहित अजमेर चलें।"

आचार्यश्री ने कई प्रकार से समझाया तथा आश्वासन भी दिया और पुनःपुनः कहा कि—

"तुम्हें साथ चलना चाहिए।"

पहले तो मैं मौन से सुनती रही किन्तु आर्यिकासंघ में अशांति हो जायेगी, ऐसा सोचकर मैंने आचार्य महाराज के समक्ष यही कह दिया कि—

"जब सब आर्यिकाएँ चलेंगी, तभी मैं चलूँगी।"

इससे आचार्यश्री को बुरा भी लगा और मुझे भी खेद हुआ किन्तु.....मैं अशांति के डर से ही उस समय आचार्यश्री की आज्ञा नहीं पाल सकी।

अनंतर ब्र. सूरजमल जी और अजमेर समाज के धुरीण (प्रमुख) व्यक्तियों का आग्रह सभी आर्यिकाओं के विहार के लिए चालू ही रहा। आचार्यश्री के संघ का तो विहार हो गया, वह अपने गाँव में रुका रहा। इधर एक-दो दिन बाद भक्तों का पुरुषार्थ सफल हो गया, आर्यिकाओं ने भी अजमेर की तरफ विहार कर दिया और अगले दिन जाकर संघ में शामिल हो गईं। इस सफलता से संघ में सबको बहुत ही खुशी हुई। मार्ग के विहार में समय कम होने से अधिक चलना होता था कई बार विहार के मध्य मार्ग में खूब वर्षा हुई और सभी साधु

खूब भीगे फिर भी यथासमय आषाढ़ शुक्ला तेरस के दिन संघ सकुशल अजमेर पहुँच गया, वहाँ के अनुसार संघ का भव्य स्वागत हुआ।

यहाँ पठन-पाठन आदि क्रियाएँ सभी मुनि, आर्यिकाओं की सुचारू चल रही थीं, सभी श्रावक-श्राविकाएँ चतुर्विध संघ की भक्ति करते हुए धर्मलाभ ले रहे थे।

३१

अजमेर में संघदर्शन —

पिता छोटेलाल जी और माता-मोहिनी सन् १९५९ में अजमेर में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के संघ के दर्शन करने आए। अथवा यों कहिये सन् १९५३ के टिकैतनगर चातुर्मास के पश्चात् आज वे सात वर्ष बाद सन् १९५९ में मेरे प्रथम बार दर्शन करने आये थे। छोटे धड़े की नशिया में प्रातः आचार्यश्री का उपदेश होता था। सभी मुनि, आर्यिकाएँ उपस्थित रहते थे। उपदेश के अनन्तर मैं आर्यिकाओं के साथ नशिया से बाहर निकलकर बाबाजी की नशिया जा रही थी। मुझे देखते ही रास्ते में मोहिनी जी सहसा मुझसे चिपट गईं और रोने लगीं। साथ में चलते हुए सेठ लोग आश्चर्य से देखने लगे। मैं भी सहसा कुछ नहीं समझ सकी। आखिर ये कौन हैं?और क्यों रो रही हैं?

"अरे! यह क्या?"

ऐसा कहते हुए साथ में चलती हुई आर्यिका सिद्धमती माताजी ने मेरे से उन्हें छुड़ाया। मैंने सिर उठाकर देखा तो सामने खड़े पिता छोटेलाल जी भी रो रहे हैं। यद्यपि वे बहुत दुबले हो गये थे फिर भी इस अवसर पर मैंने उन्हें भी पहचान लिया था। साथ में चलते हुए श्रावकों ने उनका हाथ पकड़ा और बोले—

"सेठजी! आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं?....."

इसी मध्य आर्यिका चन्द्रमती जी को समझते देर न लगी कि ये आ. ज्ञानमती जी के माता-पिता हैं अतः वे शीघ्र ही बोलीं—"ये इन माताजी के माता-पिता हैं, टिकैतनगर से आये हैं। इन्हें साथ ले चलो, नशियाजी में एक कमरे की व्यवस्था करके इन्हें ठहराओ।"

श्रावकों ने बड़े प्रेम से पिताजी का हाथ पकड़ा और साथ में बाबाजी की नशिया में ले आये। मैं तो चर्या का समय होने से शुद्धि करके चर्या के लिए निकल गयी। इन लोगों को व्यवस्थित ठहरा दिया गया। आहार के बाद इन सभी ने आचार्यश्री के दर्शन किये। पश्चात् अन्य मुनियों का दर्शन कर मेरे पास आ गये। दर्शन करके रत्नत्रय कुशल पूछी। मैंने भी इन लोगों के धर्म कुशल को पूछा पुनः तत्क्षण ही पूछा—

"क्या मनोवती को नहीं लाये?"

माँ ने दबे स्वर में कहा—"नहीं।"

मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ कि देखो! "ये लोग कितने निष्ठुर हैं कि २-३ वर्षों से मेरे लिए रोती हुई उस बालिका को आखिर घर में ही छोड़ आये हैं।" मुझे यह समझते देर न लगी कि शायद वह वापस न जाती, इसी कारण उसे नहीं लाये हैं अस्तु.....। साथ में शांति देवी आई थी जो मोहोना ब्याही थी। छोटा पुत्र प्रकाशचंद आया था जो कि इस समय लगभग १५ वर्ष का था और माँ की गोद में छोटी बिटिया माधुरी थी।

ये लोग यहाँ पर रहकर प्रतिदिन आहार दान का, गुरु के उपदेश सुनने का लाभ लेने लगे।

स्वाध्याय क्रम —

माता मोहिनी मेरी प्रत्येक चर्या को बड़े प्रेम से देखा करती थीं। मैं बाबाजी की नशिया में मंदिर जी में प्रातः ७ से ८.३० बजे तक पंचाध्यायी ग्रन्थ का स्वाध्याय चलाती थी। उसमें आर्यिका सुमतिमती माताजी,

आर्यिका सिद्धमती जी, आर्यिका चन्द्रमती जी, आर्यिका पद्मावती जी, क्षुल्लिका जिनमती और ब्र. राजमल जी बैठते थे और ब्र. श्रीलाल जी भी बैठ जाते थे। मैं संस्कृत के श्लोकों को पढ़कर उसका अर्थ करके समझाती थी। उसके बाद पात्रकेशरी स्तोत्र का भी अर्थ बताती थी। उस समय मोहिनी जी जिनेन्द्रदेव की पूजा करके वहाँ स्वाध्याय में पहुँचकर सभी आर्यिकाओं को अर्घ्य चढ़ाकर ५-१० मिनट बैठ जाती थीं पुनः चौके में चली जाती थीं। मध्यान्ह में मेरे पास में वहाँ की कन्या पाठशाला की प्राध्यापिका विदुषी विद्यावती बाई सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का अध्ययन कर रही थीं। उस समय मोहिनी जी को अधिक अवसर स्वाध्याय के लाभ का मिल जाता था। मध्य-मध्य में अध्यापिका विद्यावती[१] जी मेरे ज्ञान की चर्चा किया करती थीं, जिसे सुनकर माता मोहिनी जी का हृदय गद्‌गद हो जाता था।

४-५ बजे के लगभग शहर की कुछ महिलाएँ और बालिकाएँ भी मेरे पास अर्थ सहित तत्त्वार्थसूत्र आदि का अध्ययन करने आ जाया करती थीं अनन्तर मैं साधु संघ के सामूहिक स्वाध्याय में पहुँच जाती थी। स्वाध्याय के बाद सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद ही सेठ जी की नशिया से हम सभी आर्यिकायें अपने स्थान पर आ जाया करती थीं। इस प्रकार से मेरी अत्यधिक व्यस्तचर्या देखकर माता मोहिनी जी बहुत ही प्रसन्न होती थीं।

मंत्रित जल का प्रभाव —

एक दिन बहन शांति के पेट में बहुत ही दर्द होने लगा और उसे अतिसार चालू हो गये। यह देख मोहिनी जी घबराईं और झट से आकर मुझसे कहा। साथ में यह भी बताया कि—

"यह ४-५ महीने की गर्भवती है, इसकी सासु इस समय यहाँ भेज नहीं रही थीं किन्तु यह दर्शन के लोभ में आग्रहवश आ गई है।"

मैंने उसी समय एक कटोरी में शुद्ध जल मंगाकर मंत्र पढ़ दिया और शांति को पिला दिया। उस मंत्रितजल से उसे बहुत कुछ आराम मिला। इसी बीच यह बात संघ की वयोवृद्धा आर्यिका सुमतिमती माताजी को मालूम हुई, तो वे स्वयं मंदिर से वहाँ बाहर कमरे में आईं, शांति को सान्त्वना दी। इसी समय सर सेठ भागचन्द जी सोनी वहाँ दर्शनार्थ आये हुए थे वे प्रायः आर्यिकाओं के कुशल समाचार लेने इधर आते ही रहते थे। आर्यिका सुमतिमती माताजी ने उनसे कहा—

"सेठजी! आप इसे (शांति को) किसी कुशल डाक्टरनी को दिखा दें।"

सेठानी रत्नप्रभा जी साथ में थीं उन्होंने शीघ्र ही अपनी गाड़ी में बिठाकर शांति को ले जाकर डाक्टरनी के पास दिखाया। डाक्टरनी ने कहा—

"इसके पेट में बालक बिल्कुल ठीक है। चिन्ता की कोई बात नहीं है।" शांति हँसती हुई मेरे पास आ गई और बोली—

"माताजी! आपके मंत्रितजल ने मुझे बिल्कुल स्वस्थ कर दिया है, अब मुझे कोई तकलीफ नहीं है।"

मैंने कहा—"महामंत्र में ऐसी ही अचिन्त्य शक्ति है, इसमें मैंने भला क्या किया है? यह तो मंत्र का ही प्रभाव है और तुम्हारी श्रद्धा अच्छी है अतः तुम्हें शीघ्र ही इसका लाभ दिखा है। शांतिदेवी ! अब तुम शांति के लिए हमेशा महामंत्र का जाप्य करते रहना इसे कभी नहीं छोड़ना, यही मेरा उपदेश है।

संघ की सबसे प्रमुख आर्यिका वीरमती माताजी यहीं मेरे कमरे में ही रहती थीं वे रात्रि में २, २.३० बजे से उठकर पाठ करना शुरू कर देती थीं, कभी-कभी माता मोहिनी इधर मेरे पास सो जाती थीं तो पिछली रात्रि में बड़ी माताजी के पाठ सुनकर बहुत ही खुश हो जाती थीं।

---

१. ये पं. लालबहादुर शास्त्री की बहन थीं।

संग्रहणी प्रकोप —

मुझे इन दिनों पेट की गड़बड़ चल रही थी। आहार लेने के बाद मुझे जल्दी ही शौच के लिए जाना पड़ता था। दिन में भी प्रायः कई बार जाती थी। माता मोहिनी को मालूम हुआ कि इन्हें डाक्टर, वैद्यों ने संग्रहणी रोग की शुरूआत बता दी है और ये औषधि नहीं लेती हैं। तब मोहिनी जी को बहुत ही चिंता हुई। उन्होंने मुझे समझाना शुरू किया और बोलीं—

"देखो, माताजी ! यह शरीर ही रत्नत्रय का साधन है, इसलिए एक बार आहार में शुद्ध काष्ठादि औषधि लेने में क्या दोष है? आखिर श्रावकों के लिए औषधिदान भी तो बतलाया गया है। इसलिए आपको शरीर से ममत्व न होते हुए भी संयम की रक्षा के लिए औषधि लेना चाहिए।"

उस समय तो मैंने इनकी बातें सुनी अनसुनी कर दीं किन्तु स्वास्थ्य ज्यादा गिर जाने से आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज, मुनि श्री श्रुतसागरजी आदि के विशेष समझाने से मैंने आहार में शुद्ध औषधि लेना शुरू कर दिया। एक दिन आर्यिका चन्द्रमती से वार्तालाप करते हुए माँ मोहिनी जी को विदित हुआ कि अभी सन् १९५८ में गिरनार क्षेत्र की यात्रा के रास्ते में इन्हें आहार में अंतराय बहुत आती थी जिससे पेट में पानी नहीं पहुँच पाता था और गर्मी के दिन, उस पर भी रास्ते का १४-१५मील का प्रतिदिन पद विहार करना, इन्हीं सब कारणों से इनकी पेट की आँतें एकदम कमजोर हो गयी हैं जिससे कि आहार का पाचन नहीं हो रहा है और इस संग्रहणी नाम के रोग ने अपना अधिकार जमा लिया है। तब वे बहुत ही चिंतित होकर बार-बार मुझे विश्राम के लिए कहतीं, मैं उनकी बातें सुनकर उनकी ममतापरिणति देखकर हंस देती। इस अस्वस्थता में कमजोरी होते हुए भी मैं अपने मनोबल से पठन-पाठन में ही तल्लीन रहती थी और माता मोहिनी जी को यही समझाया करती थी—

"जिनवचनमौषधमिदं" —जिनेन्द्र भगवान् के वचन ही सबसे उत्तम औषधि हैं। इनके पठन-पाठन से ही सच्ची स्वस्थता आती है। फिर यह शरीर तो नश्वर ही है इसकी क्या चिंता करना? चिंता तो अपनी आत्मनिधि की ही करनी चाहिए।

शिष्यायें —

मेरे पास वहीं अजमेर में केशरगंज के एक श्रावक जीवनलाल जी की पुत्री अँगूरीबाई सागारधर्मामृत आदि पढ़न आती रहती थीं। उनके पति को डाकुओं ने मार दिया था अतः वे विरक्तचित्त हुई मेरे पास ही रहना चाहती थीं। वहीं शहर की एक महिला हुलासी बाई भी मेरे पास अध्ययन करतीं तथा मेरी वैयावृत्ति भी किया करती थीं।

प्रकाश का पुरुषार्थ —

माता मोहिनी का द्वितीय पुत्र प्रकाशचन्द वहाँ साथ में आया था। मैंने उसे कितना प्यार दिया था यह कुछ-कुछ उसे याद था, उस समय उसकी उम्र १५ वर्ष के करीब थी। वह भी वहाँ मेरे पास कभी-कभी द्रव्यसंग्रह आदि की कुछ गाथायें पढ़ लेता और बहुत ही शुद्ध अर्थ सहित याद करके सुना देता। मैंने सोचा— "इसकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण है, क्यों न इसे संघ में कुछ वर्ष रोक लिया जाये और धार्मिक अध्ययन करा दिया जाये !"

मैंने उस बालक से पूछा, उसे तो मानों मन की मुराद मिल गई। वह प्रकाश भी अपनी माँ से आग्रह करने लगा कि—

"मुझे माताजी के पास छोड़ जाओ। मैं एक वर्ष में कुछ धर्म का अध्ययन कर लूँ।"

माँ मोहिनी ने हँसकर टाल दिया और सोचा, इतना मोही बालक भला माँ-बाप के बगैर कैसे रह सकता

है? इसे कुछ दिन पूर्व अयोध्या के गुरुकुल में भी भेजा था, वहाँ से १०-१५ दिन में ही भाग आया था।

अब इन लोगों के जाने का समय हो रहा था, सामान सब बंध चुका था, गाड़ी का समय हो रहा था। पिताजी प्रकाशचन्द को आवाज दे रहे हैं परन्तु उसका कहीं पता ही नहीं है, उस दिन का उनका जाना स्थगित हो गया। पिताजी ढूंढते-ढूंढते परेशान हो गये, काफी देर बाद देखा, तो वह नशिया के बाहर एक तरफ बगीचे में एक वृक्ष पर छिपा बैठा था। उसे उतारा गया, समझाया गया, अंततोगत्वा जब वह नहीं माना तब ब्र. श्री लालजी ने माता-पिता को समझाया—

"देखो! इस बालक को ४-६ महीने यहाँ संघ में रहने दो, हमारे पास रहेगा, हम तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि इसे ब्रह्मचर्य व्रत आदि नहीं देंगे, बालक को अपनी हठ पूरी कर लेने दो, बाद में घर भेज देंगे। भाई! छोटेलालजी! यदि इस समय इसे तुम जबरदस्ती बाँध कर ले जाओगे पुनः ये रास्ते से या घर से बिना कहे-सुने भाग कर आ गया तो तुम क्या करोगे? इसलिए शांति रखो, चिंता मत करो। इसे मैं कुछ धर्म पढ़ा दूँगा, बाद में घर से किसी को भेज देना, इसे ले जायेगा.....।"

इत्यादि समझाने-बुझाने के बाद पिता ने बात मान तो ली किन्तु उनका मन बहुत ही अशांत हुआ।

मोहिनी का मोह —

माता मोहिनी ने बालक की व्यवस्था के लिए चुपचाप अपने कान के ऐरन (बाले) उतारे और संघ के ब्र. राजमलजी को बुलाकर धीरे से कहा—

"ब्रह्मचारी जी! तुम इन्हें अपने पास रख लो, देखो! किसी को पता न चले! तुम इन्हें बेचकर रुपये ले लेना, उनसे इस बालक के नाश्ता, भोजन आदि की व्यवस्था करा देना।"

इतना कहकर माता ने वह सोने का गहना ब्रह्मचारी जी को दे दिया और एकान्त में मुझसे यह बात बताकर आप वहाँ से सकुशल रवाना हो गईं।

पिताजी प्रकाशचन्द को संघ में पढ़ने के लिए छोड़कर घर आ गये। घर में आते ही सारे बच्चे चिपट गये और मेरे तथा संघ के समाचार पूछने लगे किन्तु जब कैलाशचन्द आदि ने प्रकाश को नहीं देखा तब सब रोने लगे—

"पिताजी! प्रकाश कहाँ है?"

पिताजी ने कहा—"बेटे! आर्यिका ज्ञानमती माताजी के पास कुछ ऐसी चुम्बकीय शक्ति है कि क्या बताऊँ? मैं मनोवती को तो रोता छोड़ गया था, वहाँ नहीं ले गया था कि कहीं यह वहीं न रह जाये किन्तु माताजी ने तो प्रकाश को ही रोक लिया.....।"

प्रकाशचन्द ने संघ में रहकर पंचामृत अभिषेकपाठ, छहढाला, द्रव्यसंग्रह, कातन्त्रव्याकरण के कुछ पृष्ठ, ऐसी कई चीजें पढ़ी थीं मैंने तो उसे बहुत ही थोड़ा पढ़ाया था किन्तु शिक्षायें अनमोल दी थीं। उसने अंगूरी बाई से भी पढ़ा और ब्र. राजमलजी से तथा बाबा श्रीलालजी से भी कुछ पढ़ा था।

विशेष संस्मरण —

एक बार उसने मेरी पूजन[१] बनाई। उसे वह मेरे सामने पढ़कर अष्टद्रव्य से पूजन करना चाहता था। तभी मैंने उसे फटकार दिया और रोक दिया। उस समय उसे बहुत रोना आया। बाबाजी श्रीलालजी उसे समझाकर चुप कर रहे थे। इसी बीच मैं उधर आ गई और बोली—

"बाबाजी! आप इसे शास्त्री बना दें,मैं चाहती हूँ यह संस्कृत का अच्छा विद्वान् बन जाये इसलिए इसे आपके पास रखा है।"

---

१. यह पूजन की डायरी आज यहाँ माधुरी के पास सुरक्षित रखी है।

बाबाजी बोले—"इसकी बुद्धि तो बहुत अच्छी है। यदि यह मन लगाकर व्याकरण पढ़े तो अवश्य ही विद्वान् बन सकता है।.....वास्तव में कुछ गुण तो लोगों को विरासत में ही मिल जाया करते हैं।"

इसी मध्य पं. खूबचंद्रजी शास्त्री बोले—

"हाँ! देखो ना, भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में भी तो उनका परिवार ही इकट्ठा हो गया था। भगवान् के तृतीय पुत्र वृषभसेन ही भगवान् के प्रथम गणधर थे, बड़े पुत्र सम्राट भरत ही तो मुख्य श्रोता थे और उन्हीं की पुत्री ब्राह्मी ही तो मुख्य गणिनी थीं।....यह योग्यता उनके परिवार में ही आई और अन्य किसी को नहीं मिल पाई।.....मालूम पड़ता है कि भगवान् को भी बड़ा पक्षपात था.....।"

इतना कहकर वो हँस पड़े। तभी श्रीलालजी बाबाजी बोले—

"हाँ! यही बात तो भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में भी थी। वे बालब्रह्मचारी थे तो उनके मौसा राजा श्रेणिक ही उनकी सभा के मुख्य श्रोता थे और उनकी छोटी मौसी चन्दनाजी ही आर्यिकाओं की प्रधान गणिनी थीं.....।"

पुनः बाबाजी गंभीर स्वर में बोले—

"भाई! यह पक्षपात नहीं, यह तो योग्यता की ही बात है।"

उन दिनों के उभय विद्वानों के शब्द जब कभी याद आ जाते हैं तो मेरे मन में विचार आ जाता है कि—

"उन दिनों संघों में प्रायः एक साधु या साध्वी के परिवार से अनेक व्यक्ति नहीं निकले हुऐ थे। उस समय यद्यपि उस प्रकाश चन्द बालक ने संघ में रहने का पुरुषार्थ किया किन्तु छह महीने बाद उसके बड़े भाई आकर उसे जबरदस्ती घर लिवा ले गये थे आज वह तो गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट है किंतु उसके घर से सन् १९६१ में कु. मनोवती मेरे पास आ गई थी तब से वह घर नहीं गई थी। आज वे आर्यिका अभयमती के नाम से प्रसिद्ध हैं। सन् १९६९-१९७० में रवीन्द्र कुमार और कु. माधुरी भी क्रम-क्रम से मेरे संघ में आ गये। आज ये दोनों ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए धर्माराधना में तत्पर हैं सन् १९७१ में इन सभी की जननी माता मोहिनी जी स्वयं संघ में आकर आचार्यश्री धर्मसागर जी से दीक्षित होकर आर्यिका रत्नमती जी बनकर मेरे संघ में तेरह वर्ष रही हैं।

आचार्यकल्प श्रीश्रेयांससागर जी ने सन्१९६५ में अपनी माता क्षुल्लिका अरहमती और पत्नी के साथ महावीर जी क्षेत्र पर मुनि दीक्षा ली थी तब इनकी माता और पत्नी की आर्यिका दीक्षा हुई थी। अभी ये महाराष्ट्र प्रांत में विहार कर रहे हैं।

आचार्य विद्यासागर जी के भी माता-पिता और दो भाई दीक्षित होकर आर्यिका एवं मुनि हुए हैं।

अब तो अनेक साधु-साध्वियों के परिवार के सदस्य घर से विरक्त होकर संघों में रहकर संयम साधना कर रहे हैं।

वास्तव में यह अनादिपरम्परा है कि जिस घर से एक महापुरुष या महिला दीक्षा ले लेते हैं तो उनके कुटुंब के लोगों पर अच्छे संस्कार अवश्य पढ़ते हैं। उनके मोह से वे लोग संघ में आते-जाते रहते हैं और सत्संगति का प्रभाव ही ऐसा है कि उनमें से किसी के भाव दीक्षा लेने के हो जाते हैं। इसीलिए तो आचार्यों ने कहा है कि—

''शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः।''

हे भगवन् ! मैं सदा शास्त्रों का अभ्यास करता रहूँ, जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करता रहूँ और सदा ही मैं आर्य—सज्जन—साधुजनों की संगति करता रहूँ इत्यादि।"

३२

मुनिश्री वृषभसागर जी —

ब्र. काश्मीरीमल अजमेर आये हुए थे, आचार्यश्री से क्षुल्लक दीक्षा मांग रहे थे। उस समय उनकी वह घटना सबको याद आ गई जबकि ये ब्र. जी रैनवाल आये थे, आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज से दीक्षा माँग रहे थे किन्तु उनकी पत्नी ने पहले समझाया बुझाया फिर जब वे नहीं माने और घर जाने को राजी नहीं हुए तब उसने ऐसा फटकारा कि आचार्यश्री भी देखते रह गये। वह बोली —

"सीधे सादे चलते हो कि नहीं, अन्यथा मैं जबरदस्ती पकड़कर ले जाऊँगी.....।"

उसी बात को याद कर पहले तो आचार्यश्री हँसे, फिर सब साधुओं ने कहा —

"भैया! तुम्हारी पत्नी आकर जबरदस्ती उठाकर ले जायेगी अतः तुम तो पहले पत्नी की आज्ञा लेवो, फिर कुछ सोचो।"

ब्रह्मचारी बोले —

"महाराजजी! मुझे तो दीक्षा लेनी है, पत्नी की स्वीकृति की प्रतीक्षा कहाँ तक करूँगा?"

पुनः वे ब्रह्मचारी जी मेरे पास आये और बोले —

"माताजी! आपने इतनी छोटी उम्र में दीक्षा लेकर बहुत बड़ा पुरुषार्थ किया है, आप मुझे भी उपाय बताओ और आचार्यश्री को दीक्षा देने की प्रेरणा देवो, मेरा उद्धार करो।"

मैंने सहजभाव से कहा —

"ब्रह्मचारीजी! आप तो बिना घर सूचना दिये ही दीक्षा ले लो, जैसे कि मैंने ली थी। इसी में सफल हो सकोगे, अन्यथा तुम्हारी पत्नी के तेज स्वभाव से सब डरते हैं। सभी कहते हैं कि इनकी धर्मपत्नी तो इन्हें उठाकर ले जायेगी, दिल्ली की महिलायें तो बहुत ही मर्दानी दिखती हैं।"

ब्रह्मचारी जी हँसने लगे और बार-बार प्रार्थना करने लगे —

"माताजी! जैसे भी हो मेरी दीक्षा करा दो, मैं आपका उपकार जीवनभर नहीं भूलूँगा।"

मैंने जाकर मुनिश्री श्रुतसागरजी से निवेदन किया पुनः आचार्यश्री से भी कहा —

"महाराजजी! ये भव्यजीव हैं, इनका वैराग्य अच्छा है, आप इन्हें, इनके घर बिना सूचना दिलाये ही, दीक्षा दे दीजिये।"

ऐसा ही निर्णय हो गया। आचार्यश्री ने दीक्षा का मुहूर्त निकलाकर स्वीकृति दे दी। बिना प्रचार के दीक्षा हो गई। हाँ! इनके घर शायद ऐसे टाइम पर सूचना भेजी गई थी कि जिससे उनकी पत्नी दीक्षा के समय पर ही आ सकीं। बेचारी मोह के वश हो कुछ थोड़ा बहुत बोलीं फिर रो-धोकर शांत हो गईं, उनका क्षुल्लक दीक्षा का नाम वृषभसागर रखा गया। बाद में तो इनकी पत्नी ने इन क्षुल्लक जी की व इनके मुनि बनने के बाद सल्लेखना होने तक भी खूब भक्ति की है और आहारदान दिया है।

संभवमतीजी —

एक दिन आचार्यश्री ने यहाँ अजमेर में मुझे बुलाकर कहा — "ज्ञानमती जी! यह हुलासीबाई ब्रह्मचारिणी बनना चाहती है और संघ में रहना चाहती है, तुम इसे अपने पास रखो, पढ़ाओ, शिक्षा दो और संरक्षण दो।"

मैंने आचार्यश्री की आज्ञा स्वीकार कर उन्हें अपने साथ रखा। तत्त्वार्थसूत्र आदि का अध्ययन कराया और प्रतिदिन वैराग्य का उपदेश देकर दीक्षा की भी प्रेरणा देने लगी।

आचार्यश्री का ऐसा मुझ पर वात्सल्य था कि कोई महिला हो या बालिका, वे मुझे ही बुलाकर मेरे सुपुर्द

कर देते थे और कहते थे कि—

"ज्ञानमती में इतनी क्षमता है कि बालिका हो या युवती, वृद्धा हो या बालक, सबका उचित संरक्षण करती हैं, उचित अध्ययन कराती हैं और अपने जैसा वैराग्य सिखाकर दीक्षा की प्रेरणा देती हैं, उन्हें प्रपंचों में नहीं उलझाती हैं.....।"

आचार्यश्री के इस व्यवहार से प्रायः कई एक आर्यिकाएँ मुझसे ईर्ष्या किया करती थीं। खैर!

एक दिन हुलासीबाई ने कहा—

"माताजी! मैं क्षुल्लिका दीक्षा लेना चाहती हूँ आप मुझे दीक्षा दिलाकर मेरा उद्धार कीजिये।"

मैंने उन्हें साथ ले जाकर आचार्यश्री से निवेदन किया, आचार्यश्री बहुत ही खुश हुए.....पुनः कुछ देर बाद बोले—

"ज्ञानमती जी! तुम्हारे पास कोई ब्रह्मचारिणी नहीं है और तुम्हारा स्वास्थ्य इन दिनों काफी खराब चल रहा है, आहार, औषधि और वैयावृत्ति के लिए कोई एक ब्रह्मचारिणी चाहिए ही चाहिए पुनः तुम इनकी दीक्षा की इतनी जल्दी क्यों करती हो? दीक्षा दो-चार वर्ष बाद हो जायेगी।"

मैंने कहा—

"महाराज जी! मैंने जैसे-तैसे प्रेरणा देकर तो इन्हें दीक्षा के लिए तैयार किया है। अब आप दीक्षा दे दीजिये।"

महाराज जी ने ब्रह्मचारी सूरजमल को बुलाकर मुहूर्त निकलवाया और समय पर इनकी दीक्षा करायी। इनका दीक्षित नाम संभवमती रखा गया, ये मेरे साथ ही आईं, सायंकाल हो चुकी थी, ये मंदिर में दर्शन करने गईं, वहाँ से आईं, मेरी नजर बचाकर चुपचाप अपनी चटाई-पुस्तक लेकर मंदिर में चली गईं, मुझे किसी ने बताया—

"संभवमती जी मंदिर में आर्यिका सुमतिमती माताजी के पास चली गई हैं।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ फिर भी मैं कुछ नहीं बोली, जब वे प्रातःकाल दर्शन करने आईं, मैंने कुछ भी नहीं पूछा बाद में उन्होंने बताया कि—"आर्यिका वीरमती माताजी की प्रेरणा से मैं आर्यिका सुमतिमती जी के पास चली गई हूँ उन्हीं के पास रहना चाहती हूँ।" मैंने कहा—"ठीक है, कहीं भी रहो, ज्ञान और वैराग्य को बढ़ाते हुये चारित्र पालन करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण करो, जिस उद्देश्य से दीक्षा ली है वह उद्देश्य सफल करो, व्यर्थ के प्रपंच में न पड़ो, बस इतना ही मेरा कहना है।"

इसके बाद कई एक आर्यिकाओं ने कहा कि—

"आप आचार्यश्री से इनकी यह शिकायत कर दीजिये।"

मैंने कुछ लक्ष्य नहीं दिया।

प्रत्युत् आचार्यश्री ने ही एक बार कहा—"ज्ञानमती जी। मैंने आपके पास इन्हें ज्ञानाराधना के लिए ही रखा था किन्तु इन्हें पढ़ने में रुचि नहीं है.....इत्यादि।" अंत में इनकी समाधि सन् १९८७ में सीकर में आचार्य धर्मसागर जी के संघ में हो चुकी है।

अस्वस्थता —

जयपुर से अजमेर आते समय मार्ग में मैं कई बार शौच के लिए जाती और खूब थक जाती, तब धीरे-धीरे चलकर मार्ग तय कर पाती थी। वृद्ध ब्रह्मचारी श्रीलालजी काव्यतीर्थ ये मेरे साथ ही पीछे चलते थे। बार-बार शौच के लिए जाते देखकर ये बहुत ही चिंता व्यक्त करते थे।

अजमेर चातुर्मास में तो और भी अधिक अतीसार के बढ़ जाने से ब्र. श्रीलाल जी ने आचार्यश्री को व

मुनि श्रुतसागर जी को मार्ग की मेरी बीमारी का निवेदन किया कि—"इनकी इतनी छोटी उम्र है, अभी से ऐसी बीमारी लग गई है, इसकी चिकित्सा होनी चाहिए।"

दीक्षा लेने के बाद सन् १९५३ से सन् १९५९ तक शायद मैंने कोई औषधि नहीं ली थी अतः मैंने कह दिया कि—

"मैं कोई औषधि नहीं लेऊँगी यह शरीर तो नश्वर ही है.....इत्यादि।" तब श्रुतसागरजी ने कुतूहलवश सहज उपाय किया मैं सेठ जी की नशिया में अध्यापिका विद्यावती जी को सर्वार्थसिद्धि पढ़ा रही थी, मुनिश्री आकर सामने खड़े हो गये, हम लोगों ने उठकर उनका स्वागत किया तभी मुनिश्री ने कहा—

"मैं कुछ याचना करने आया हूँ।"

मैंने आश्चर्यचकित हो पूछा—

"आपको देने के लिए हम लोगों के पास भला क्या है?"

बोले—"मैं ऐसी ही याचना करूँगा, जो तुम्हारे पास है.....।"

पुनः बोले—

"देखो, माताजी! आपने जो औषधि का त्याग कर रखा है वह मुझे दे दो अर्थात् इस त्याग को समाप्त कर कल से औषधि ग्रहण करो।.....तुम्हारी उम्र अभी बहुत छोटी है तुम्हारे द्वारा समाज का बहुत कुछ उपकार होने वाला है अतः इस नश्वर शरीर की भी रक्षा करना उचित है।"

इतना सुनते ही विद्यावती जी समझाने लगीं। उस समय मुनिश्री के आग्रह से व वात्सल्य से मुझे झुकना पड़ा और मैंने औषधि लेने की स्वीकृति दे दी पुनः आचार्यश्री की आज्ञानुसार सर सेठ भागचंदजी सोनी ने वैद्य और डाक्टरों को लाकर उनसे परामर्श करके औषधि-उपचार चालू कर दिया। उस समय न मैं औषधि का नाम पूछती थी, न सुनती थी, न पथ्य की चर्चा करती थी, न सुनती थी। आर्यिका सुमतिमती माताजी के ऊपर व्यवस्था की जिम्मेवारी थी, वे मुझे जैसा कह देती थीं वैसा ही कर लेती थी। उन्होंने कहा-

"ज्ञानमती! आहार में एक चूरण भेजा जायेगा ले लेना, मट्ठा भेजा जायेगा ले लेना।"

"ठीक है।" कहकर मैं ले लेती थी। जब साधारण चूरण से लाभ नहीं हुआ तब वैद्य-डाक्टर, दोनों के परामर्श से सेठ साहब ने 'पर्पटी' का प्रयोग शुरू कराया। उस समय मात्र तक्र (मट्ठा) और केले की रोटी लेनी होती थी, तब मैंने एक माह के लिए अन्न ही त्याग कर दिया था।

एक दिन वैद्य, डाक्टर और सेठजी बैठे हुए मेरे पास चर्चा करते हुए यह समझना चाहते थे कि—"यह बीमारी शुरू कैसे हुई? उसका मूल कारण क्या है?"

मैंने तो झट कह दिया—

"असातार्कम का उदय।"

किंतु ये लोग बाह्य कारण की खोज में लगे हुए थे, जब उन्हें पता चला कि—

"सन् १९५८ में गिरनार यात्रा करके वापस आते समय गर्मी का मौसम था, मेरी अंतराय खूब होती थीं, मुश्किल से महीने में १५ दिन भर पेट भोजन हो पाता था।"

डाक्टर का यही कहना रहा कि गर्मी के दिनों में मात्रा के अनुसार पेट में पानी नहीं पहुँचा और ऊपर से पैदल चलने का श्रम अधिक हो गया, प्रायः प्रतिदिन १५-१६ मील चलना होता था यही कारण हुआ कि अब इनकी आंतें कमजोर हो गईं हैं, उनमें छाले पड़ गये हैं अतः अन्न का पचना बहुत ही कठिन हो गया है, यही कारण है कि इन्हें संग्रहणी की बीमारी हो गई, अब विश्राम से और यथोचित औषधि से ही शरीर की गाड़ी चलाई जा सकेगी।

इन सब बातों को सुनकर भी मुझे कोई चिंता नहीं थी, वैराग्य भाव के निमित्त से बाह्य उपचार को मैं बहुत महत्व नहीं देती थी। जब तक दवा कुछ फायदा करने लगी, तभी संघ का विहार हो गया, मैं भी पुनः पैदल चल पड़ी।

उस समय डाक्टर का यह कहना था कि—

"माताजी! आप दो माह यहीं ठहर कर शरीर का उपचार कर लो पुनः विहार करना अन्यथा जीवन भर यही बीमारी आपको कष्ट देगी।"

हुआ भी यही, उस समय की औषधि की उपेक्षा से आज तक वह बीमारी मेरे पीछे पड़ी हुई है और समय-समय पर सल्लेखना लेने जैसी स्थिति भी आ चुकी है।

चातुर्मास समाप्ति के बाद सेठ साहब ने बड़ी नशिया में तीन लोक का विधान किया था, इसमें मंडल के ऊपर नारियल चढ़े थे अनंतर विधान समापन पर रथयात्रा निकाली थी जिसमें अपनी नशिया के चाँदी के सभी उपकरण निकाले थे। इस रथयात्रा का राजसी वैभव अन्यत्र देखने को नहीं मिला। रथ में जुते हुए कृत्रिम घोड़े भी बड़े सुन्दर थे। यहाँ की नशिया के उपकरणों का वैभव राजस्थान में प्रसिद्ध है।

£ ३३ ¤

लाडनू की ओर विहार —

अजमेर से विहार कर संघ पुष्कर पहुँचा। यहाँ नदी के निमित्त से ठंडी बहुत थी। यहाँ से विहार कर संघ नागौर की ओर चला। मार्ग में एक ऐलक आनंदसागर को ठंड विशेष लग जाने से निमोनिया हो गई। वे मेड़तारोड़ गाँव में ही अधिक अस्वस्थ हो गये, संघ को कुछ दिन रुकना पड़ा। इन ऐलक जी को सन्निपात हो गया और समाधि हो गई। इसी पुष्कर से विहार के समय आर्यिका सुमतिमती माताजी को भी ठंड लग गई थी, ये भी अस्वस्थ चल रही थीं तथा कफ जकड़ गया, खांसी का प्रकोप हो गया था। धीरे-धीरे संघ मेड़तासिटी, नागौर, डेह होते हुए लाडनू पहुँच गया, वहाँ प्रतिष्ठा की तैयारियाँ जोरदार चल रही थीं।

प्रकाश का वापस घर जाना —

अजमेर चातुर्मास के बाद संघ का विहार लाडनू की तरफ हो गया। रास्ते में मेड़तारोड, नागौर, डेह होते हुए संघ लाडनू आ गया। वहाँ पर चन्द्रसागर भवन बनाया गया था, उसमें भगवान् महावीर स्वामी की पद्मासन प्रतिमाजी को विराजमान किया था तथा आचार्य शांतिसागर जी, आचार्य वीरसागरजी और आचार्य कल्प चन्द्रसागर जी की प्रतिमायें विराजमान की गयी थीं। इस स्मारक भवन में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कराने के लिए वहाँ के भक्त श्रावक आचार्य शिवसागर जी महाराज को संघ सहित वहाँ पर लाये।

वहीं पर आर्यिका सुमतिमती माताजी का स्वास्थ्य अस्वस्थ होने से उनकी सल्लेखना चल रही थी। एक दिन रात्रि में पिछले भाग में लगभग ३-३० बजे महामंत्र सुनते हुए पूज्य माताजी ने शरीर का त्याग कर दिया था। उसी दिन प्रातः कैलाशचंद वहाँ आ गये, माताजी की अन्त्येष्टि में भाग लिया पुनः मुझसे बोले—

"पिताजी बहुत ही अस्वस्थ हैं" अतः प्रकाश को भेजना बहुत जरूरी है। मैं लेने के लिए ही आया हूँ।

यद्यपि मुझे मालूम था कि पिता की अस्वस्थता तो बहाना मात्र है। ये लोग प्रकाश को संघ में न रहने देकर, एक दो वर्ष में गृहस्थाश्रम के बंधन में बाँध देंगे। मैंने बहुत कुछ समझाया-बुझाया परन्तु कैलाशचन्द जी नहीं माने, आखिरकार प्रकाशचन्द को रोते हुए अपने साथ लिवा ले आये।

जब प्रकाशचन्द घर आ गये, पिता के साथ ही भाई-बहनों की भी खुशी का पार नहीं रहा। सबने उन्हें घेर लिया और संघ के संस्मरण सुनने के लिए उत्सुकता से बैठ गये।

पुनः पिता बोले—"माताजी के दर्शन करके वहाँ एक महीना रहकर अच्छा तो खूब लगा किन्तु जो वे

किसी को भी संघ में रखने के लिए पीछे पड़ जाती हैं सो यह उनकी आदत अच्छी नहीं लगी।"

तब प्रकाश बोले—

"यह तो उनका कुछ स्वभाव ही है। उन्होंने म्हसवड़ चातुर्मास में आर्यिका पद्मावती और जिनमती को कैसे निकाला है। कितने संघर्षों के आने पर भी कितने पुरुषार्थ से उन्होंने उन दोनों को दीक्षा दिलाई है। संघ में मुझे श्री चंद्रमती आर्यिका ने स्वयं यह बात बताई है। वे सौ. सोनुबाई के यहाँ जब आहार को जाती थीं, तब उनके पति को कहती ही रहती थीं कि "तुम्हारी धर्मपत्नी को हम ले जायेंगे।"

उनके पुत्र, पुत्रवधू आदि भी जब-जब दर्शन करने आते माताजी हर किसी को भी कहती रहतीं—

"तुम्हारी माँ को हम ले जायेंगे।"

पहले तो ये लोग खुशी से कह देते—"बहुत अच्छा है! आप ले जाइये, ये जगत पूज्य माताजी बन जायेंगी।"

किन्तु जब साथ ले आईं तो उनके पति लालचन्द ने दो-तीन जगह आकर सोनुबाई को ले जाना चाहा, हल्ला-गुल्ला भी मचाया किन्तु माताजी भी दृढ़ रहीं और हँसती रहीं तथा सोनुबाई भी पक्की रहीं, आज वे ही आर्यिका पद्मावती जी हैं। कु. प्रभावती को निकालने पर तो उसकी नानी ने बहुत ही यद्वा-तद्वा बका था किन्तु माताजी ने बुरा भी नहीं माना था और घबराई भी नहीं थीं, तभी वह प्रभावती आज संघ में क्षुल्लिका जिनमती हैं। अभी ब्यावर चातुर्मास में भी माताजी ने कई एक कन्याओं को घर से निकलने की प्रेरणा दी थी। यद्यपि वे नहीं निकल सकीं, यह बात अलग है—

इतना सुनकर पिताजी हँस पड़े और बोले—

"सबको मूँडने में इन्हें मजा आता है" इत्यादि.....।

आगे जब माँ मोहिनी जी लाडनू में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आई थीं, तब प्रकाशचंद के द्वारा कही गई इन सब बातों को सुनाती रहती थीं।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं मुनिमूर्ति की प्रतिष्ठा —

यहाँ प्रतिष्ठा के अवसर पर चंद्रसागर स्मारक भवन में विशाल भगवान् महावीर स्वामी की प्रतिमा विराजमान की गई थी। उन्हीं के नीचे वेदी पर आचार्य श्री शांतिसागर जी, आचार्य श्री वीरसागर जी और आचार्यकल्प श्री चंद्रसागर जी की तदाकार प्रतिमायें विराजमान की गयी थीं, इन्हीं की प्रतिष्ठा होनी थी। प्रतिष्ठा मंडप सेठ गजराजजी गंगवाल के आश्रम के निकट बनाया गया था।

प्रतिष्ठा के मध्य ही एक चर्चा उठ गई कि—

"मुनियों की मूर्तियाँ नहीं होनी चाहिए।"

आचार्यश्री की आज्ञा से पं. इन्द्रलालजी आदि आए हुए थे, वे सब आर्ष परंपरा के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

आचार्यश्री ने मुझे भी कहा—

"ज्ञानमती जी! मुनियों की मूर्ति के प्रमाण निकाल कर दो।"

मैंने भी धवला, मूलाचार और वसुनंदि श्रावकाचार से प्रमाण निकाल कर दिये थे। धवला ग्रंथ के प्रमाण से विद्वानों को बहुत संतोष हुआ था। अन्य साधु-साध्वी व विद्वानों ने भी अनेक प्रमाण निकाले थे।

इसी मध्य सेठ गजराज जी आचार्यश्री के पास अनेकों शंका-समाधान किया करते थे। एक बार उन्होंने कहा—

"समवसरण में शूद्र पशु सभी बिना भेदभाव के जाते थे, बैठते थे पुनः आज मंदिरों में शूद्रों के जाने में बंधन क्यों?"

इस विषय पर आचार्यश्री की आज्ञा से मैंने भी तिलोयपण्णत्ति और हरिवंश पुराण आदि के अनेक प्रमाण दिये थे।

उनमें कुछ उद्धरण देखिये—

"संयतस्य गुणान् बुद्ध्याध्यारोप्याकृतिवति अनाकृतिवति च वस्तुनि स एवायमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापना संयतः[१]। आकारवान् अथवा अनाकारवान् वस्तु में 'यह वही है' ऐसा मूर्ति में संयत-मुनि के गुणों का अध्यारोप करना, इस प्रकार से स्थापित मूर्ति को स्थापना संयत कहते हैं।

''सिद्धाचार्यादिप्रतिबिंबानां च स्तवनं[२]।''

सिद्ध, आचार्य आदि की प्रतिमाओं का स्तवन करना, इन प्रमाणों से मुनियों की मूर्तियाँ होने की बात सिद्ध है।

समवसरण में मिथ्यादृष्टि का निषेध-

मिच्छाइट्ठि अभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा[३]।।९३२।।

अर्थात् इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते हैं तथा वहाँ अनध्यवसाय से युक्त,संदेह से युक्त और विविध प्रकार की विपरीतता से सहित जीव भी नहीं होते हैं।

शूद्र नहीं जाते हैं—

पापशीला विकर्माणाः शूद्राः पाखंडपंडकाः।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियंति बहिस्ततः[४]।।१७३।।

पापी, विरुद्धकार्य करने वाले, शूद्र, पाखंडी, नपुंसक, विकलांग, विकलेंद्रिय तथा भ्रांत चित्त के धारक मनुष्य बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते हैं—अंदर प्रवेश नहीं करते हैं इत्यादि।

प्रतिष्ठा के बाद कुछ दिनों तक संघ यहीं ठहरा, बाद में सुजानगढ़ के श्रावकों के आग्रह से संघ यहाँ से विहार कर सुजानगढ़ आ गया। यहाँ के मुनिभक्त समाज में अच्छी धर्म प्रभावना हो रही थी अतः संघ का चातुर्मास यहीं पर हो गया।

£ ३४ ¤

सुजानगढ़ चातुर्मास —

सुजानगढ़ चातुर्मास में सन् १९६० में अच्छी धर्मप्रभावना हो रही थी। यहाँ चौके पूरे शहर में लगते थे। यहाँ मैं सामायिक के लिए प्रातः नशिया चली जाती थी।

सामायिक का समय —

एक दिन एक आर्यिका ने यह प्रश्न किया कि—

"सामायिक तो पिछली रात्रि में चार बजे करना चाहिए, आप सूर्योदय के समय कैसे करती हैं?"

मैंने कहा—"अनगार धर्मामृत में प्रातः सूर्योदय के समय सामायिक करने का विधान है।" यथा—

क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया, लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।[५]
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिका-शेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ।।७।।

अर्धरात्रि में चार घड़ी निद्रा के द्वारा श्रम को दूरकर अर्धरात्रि के दो घड़ी बाद अपररात्रिक स्वाध्याय

---

१. मूलाचार गाथा १, टीका में। २. मूलाचार गाथा ५७७, टीका में। ३. तिलोयपण्णत्ति अ. ४,। ४. हरिवंश पुराण सर्ग ५७ गाथा नं. १७३। ५. अनगारधर्मामृत अध्याय ९ श्लोक ७, पृष्ठ ६४६।

प्रारंभ करें पुनः दो घड़ी रात्रि शेष रहने पर स्वाध्याय पूर्ण कर रात्रिक प्रतिक्रमण करके रात्रि योगनिष्ठापना करें अनंतर प्राभातिक देव-वंदना(सामायिक) करें। यह समय सूर्योदय का ही होता है।

परम्परा के अनुसार तब भी असंतोष रहा, जब पं. खूबचंदजी शास्त्री आये हुए थे उनके सामने यह विषय रखा गया। उन्होंने मुझसे पूछा, तब मैंने कहा—

"पंडित जी! आपने तो अनगार धर्मामृत का हिन्दी अनुवाद किया है, देखिये! उसमें सामायिक का समय क्या है?"

पंडित जी ने पुनः वह प्रकरण देखा और बोले—

"ठीक है, अनुवाद करना-लिखना बात अलग है और प्रयोग में लाना बात अलग है। वास्तव में आप आगम के अनुकूल क्रियाओं का पूरा लक्ष्य रखती हैं यह बहुत खुशी की बात है।"

मैंने मूलाचार भी दिखाया जिसमें लिखा है—

"सवितुरुदये देववंदनां कृत्वा घटिकाद्वयेऽतिक्रांते श्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं स्वाध्यायं गृहीत्वा वाचनापृच्छनानुप्रेक्षापरिवर्तनादिकं सिद्धांतादेर्विधाय घटिकाद्वयमप्राप्तमध्यान्हादरात् स्वाध्यायं श्रुतभक्तिपूर्वकमुपसंहृत्यावसथो दूरतो मूत्रपूरीषादीन् कृत्वा पूर्वापरकायविभागमवलोक्य हस्तपादादिप्रक्षालनं विधाय कुंडिकां पिच्छिकां गृहीत्वा मध्यान्हदेववंदनां कृत्वा पूर्णोदरबालकान् भिक्षाहारान् काकादिवलीनन्यानपि लिंगिनो भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशांते धूममुशलादि शब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः[१]।"

"सूर्योदय होने पर देववंदना (सामायिक) करके दो घड़ी—४८ मिनट के बीत जाने पर श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके सिद्धांत आदि ग्रंथों की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और परिवर्तन आदि करके मध्यान्ह काल से दो घड़ी पहले श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर देवें पुनः वसतिका से दूर जाकर मल-मूत्र आदि विसर्जित करके अपने शरीर के पूर्वापर भाग का पिच्छिका से परिमार्जन करके हस्त पाद आदि का प्रक्षालन करके मध्यान्ह काल की देववंदना—सामायिक करें पुनः जब बालक भोजन करके निकलते हैं, काक आदि को बलि—भोजन डाला जाता है और भिक्षा के लिए अन्य संप्रदाय वाले साधु भी विचरण कर रहे हों तथा गृहस्थों के घर में धुंआ, मूसल आदि शब्द शांत हो गया हो अर्थात् भोजन बनाने का कार्य पूर्ण हो चुका हो उस समय मुनि आहार की बेला जानकर आहार के लिए निकलें।"

इसमें सर्वप्रथम यह आया है कि सूर्योदय के होने पर प्राभातिक सामायिक करें।

यह प्रमाण दिखाने के बाद पंडितजी ने आचार्यश्री से कहा—

"वास्तव में सामायिक का समय यही है, परम्परा के अनुसार जो है सो है अतः इन्हें—ज्ञानमती माताजी के लिए गलत नहीं कहना चाहिए।"

पुनः चर्चा होने पर यह निर्णय रहा कि—

सूर्योदय के तीन घड़ी पूर्व व तीन घड़ी पश्चात् तक भी उत्कृष्ट सामायिक का काल होने से यदि सूर्योदय से पूर्व भी सामायिक करते हैं तो भी दोषास्पद नहीं है।

ऐसे ही आचारसार, अनगारधर्मामृत आदि में जिनमंदिर में या तीर्थस्थान आदि पर जाकर सामायिक करने का विधान है। अपने वसतिका आदि स्थान पर भी सामायिक कर सकते हैं।

दीक्षाएँ संपन्न हुईं—

आर्यिका इंदुमती जी के पास एक महिला शांतिबाई रहती थीं। इनकी आर्यिका दीक्षा का मुहूर्त निकाला गया। उस अवसर पर क्षुल्लक वृषभसागर जी भी मुनिदीक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे, मैंने भी इन्हें मुनिदीक्षा

---

१. मूलाचार गाथा ३१८ टीका अंश।

के लिए कई बार प्रेरणा दी थी अतः ये इस समय उत्सुक हो गये, इनकी प्रार्थना स्वीकृत हुई और मुनिदीक्षा का आयोजन हो गया। इसी मध्य क्षुल्लक शीतलसागर जी, जो कि महावीरकीर्ति जी महाराज के शिष्य थे, वे भी मुनिदीक्षा के लिए तैयार हो गये।

ये क्षुल्लक जी तेरहपंथ के आग्रह से अपने दीक्षित गुरु आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज को छोड़ कर कुछ दिन से अलग गये थे। पश्चात् अध्ययन आदि के लिए यहाँ संघ में आये थे। यहाँ पर ये पंथ का आग्रह न कर मध्यस्थ रहते हुए धर्माराधना करने के लिए आये थे।

यद्यपि अनेक साधुगण इन्हें संघ में रखने के पक्ष में नहीं थे, फिर भी इनकी छोटी उम्र और विद्याध्ययन की उत्कट भावना को देखकर मैंने भी केवल परोपकार की भावना से मुनिश्री श्रुतसागरजी को बहुत कुछ समझाया और प्रयास किया कि—

"इन क्षुल्लकजी को संघ में आश्रय देकर वात्सल्य देना चाहिए।"

"मेरा यह प्रयास विशेष था अतः मुनिश्री की प्रेरणा से आचार्यश्री ने क्षुल्लकजी को आश्रय दिया था।

उस समय तीन दीक्षाओं का निर्णय हुआ। दीक्षा के मंगल अवसर पर दीक्षा के लिए बनाये गये मंगलचौक पर दीक्षार्थी खड़े हुए। आचार्यश्री ने प्रतिज्ञा कराना शुरू किया—

"आप मुनिदीक्षा लेकर आचार्यश्री शांतिसागर जी की परम्परा के अनुकूल ही प्रवृत्ति करेंगे।"

इतना सुनते ही क्षुल्लक श्रीशीतलसागर जी मंगलचौक से नीचे उतर पड़े और बोले—

"मैं इस प्रतिज्ञा को निभाने में असमर्थ हूँ।"

अब तीन मंगलचौक में से एक खाली हो गया। बीच में ही मैंने क्षुल्लक भव्यसागर जी को मुनिदीक्षा के लिए तैयार कर दिया। वे स्वयं पहले से भी दीक्षा चाहते थे किन्तु आचार्य महाराज ने मना कर दिया था। फिर भी उस समय मुनिश्री श्रुतसागर जी आदि की प्रेरणा से आचार्यश्री ने तत्क्षण उनको स्वीकृति देकर उन्हें उस खाली हुये मंगलचौक पर बिठा दिया और तीनों दीक्षार्थियों ने उपर्युक्त प्रतिज्ञा को स्वीकार कर लिया और तीनों दीक्षायें संपन्न हो गईं।

क्षुल्लक शीतलसागर जी की दीक्षा न होने से मुनि विरोधी लोगों को मौका मिल गया और उन्होंने आचार्यश्री के विरोध में लेख निकाल दिया तब क्षुल्लक जी ने स्वयं ही समाधान लेख निकाला और स्पष्टतया लोगों को समझाया कि—

"वास्तव में मेरे तेरहपंथ के संस्कार होने से मैंने आचार्यश्री की प्रतिज्ञा को पालने में अपनी असमर्थता व्यक्त करके स्वयं दीक्षा नहीं ली है। इसमें आचार्यश्री का कोई दोष नहीं है..... इत्यादि। सुजानगढ़ का चातुर्मास सानंद संपन्न होने के बाद संघ का विहार यहाँ से सीकर की ओर हो गया।"

सीकर में संघ का आगमन—

सीकर में अच्छी धर्मप्रभावना हुई। यहाँ से आचार्यश्री का विहार फतेहपुर की तरफ करने का बना, तब वहाँ के श्रावकों ने पहले तो विहार के लिए कहलाया भी था किन्तु बाद में कुछ पत्र आये कि—

"आचार्यसंघ का विहार यहाँ मत कराओ, यहाँ शुद्धजल का नियम कर आहार देने वाले श्रावक नहीं मिलेंगे।" महाराजजी को ऐसी जानकारी मिलते ही आपस में यह चर्चा बनी कि—

"अब तो वहाँ विहार अवश्य करना चाहिए तथा लोगों का भय निकालना चाहिए।"

उस समय यह निर्णय लिया गया कि मात्र मुनिवर्ग को साथ लेकर आचार्यश्री फतेहपुर की तरफ विहार करें और आर्यिकायें सभी मिलकर अन्यत्र आस-पास विहार कर जावें। अनेक आर्यिकाओं की इच्छा न होते हुए भी आचार्यमहाराज की आज्ञा से आर्यिकाओं ने सीकर से दूजोद विहार कर दिया।

दूजोद जाकर मेरा वापस आना —

दूसरे दिन ही सायंकाल में एक श्रावक सीकर से आया और मेरे हाथ में एक कागज दिया, उसमें लिखा था—

"ज्ञानमतीजी! तुम अपने साथ की आर्यिकाओं के साथ यहाँ वापस आ जावो और मैंने बुलवाया है यह अभी किसी को पता नहीं चलना चाहिए।"

मैंने यह कागज अपने पास की आर्यिका चंद्रमतीजी को दिखाया तो वे हर्ष से गद्‌गद होकर बोलीं—

"माताजी! मेरी मनोभावना सफल हो गई।"

मैंने प्रातः आर्यिका वीरमतीजी से निवेदन किया कि—

"हम लोग वापस सीकर जा रहे हैं" और संघ में सबको वंदामि-प्रतिवंदामि आदि करके वहाँ से विहार कर सीकर आ गई। वहाँ आते ही मुनि श्रुतसागरजी से मिलकर आंतरिक बातें समझीं पुनः आचार्य महाराज ने कहा—

"ज्ञानमती जी! पहले से ही फतेहपुर के लोग घबरा रहे हैं अतः वहाँ चलकर समुचित व्यवस्था संभालनी है।"

संघ का विहार फतेहपुर की तरफ होने वाला था तभी वहाँ के कुछ श्रावक भी व्यवस्था हेतु आ गये। विहार हो गया, दो दिन में संघ लक्ष्मणगढ़ गांव में पहुँच गया। यह गाँव सीकर से फतेहपुर के बीच में था।

जटिल समस्या —

वहाँ संघ के एक मुनिश्री ने आहार के समय कहा कि—

"जब ज्ञानमती माताजी आर्यिकासंघ सहित वापस जायेंगी, तभी हम आहार के लिए उठेंगे अन्यथा हम अलग विहार कर जायेंगे।"

हमारे सामने एक जटिल समस्या आ गई, मैं आचार्य महाराज के पास पहुँची तो देखा वे चिंतित हो रहे हैं, कुछ बोले ही नहीं, मैं कुछ देर बैठी रही फिर वापस चली आई। उन सत्याग्रह करने वाले मुनि के सिवाय सभी मुनियों ने—जयसागरजी आदि ने यही कहा—"माताजी! कुछ भी हो, आपको वापस नहीं जाना है, हम लोग समस्या को सुलझायेंगे।"

आचार्य महाराज के पास आर्यिका चन्द्रमतीजी पहुँचीं तब वे बोले—

"चंद्रमतीजी! मैं क्या करूँ? इधर कुँआ उधर खाई क्या?"

चंद्रमतीजी ने कहा—"महाराज जी! आप की आज्ञा हो तो हम लोग वापस चले जायें?"

महाराजजी ने कहा—"मैं भला कैसे कह दूँ?"

उधर उन मुनिश्री का उस दिन तो उपवास हो ही गया, मुझे इस बात की बहुत चिंता हुई किन्तु कुछ मस्तिष्क काम नहीं कर रहा था। इसी बीच उन मुनिश्री ने एक मुनि जयसागर जी से कहा—"अब आगे संघ में आर्यिकाएँ नहीं रहेंगी और और न ब्रह्मचारिणी ही रहेंगी, मेरा यही कहना है।"

मुनि जयसागर जी ने मुझे बुलाकर यह बात बता दी। तब मैंने आकर आपस में विचार किया। मेरे मुंह से यह निकला कि "यदि आचार्य महाराज ऐसा कह दें कि अब आगे से संघ में आर्यिकायें नहीं रहेंगी, बस हम सभी वापस चली जायेंगी।" तभी एक महानुभाव ने आकर कहा—"माताजी! अनर्थ हो गया! मैंने ही तो इन मुनिश्री को भड़काया था और उपवास करके सत्याग्रह करके आपका विहार कराना चाहा था। मेरे मन में यह कषाय आ गई थी कि आर्यिका वीरमती जी आदि अलग विहार करें और आप लोग संघ में रहें, यह मुझे सहन नहीं हुआ था किन्तु इन्होंने तो उल्टा ही कर दिया। ये तो आगे किसी भी आर्यिका को संघ में रहने देना ही नहीं चाहते

हैं अतः इनकी बात नहीं चलने देना है, भले ही ये विहार कर जावें। ब्र. सूरजमल जी ने भी कहा—

"माताजी! आचार्य श्रीवीरसागर जी ने आर्यिकाओं को दीक्षा देकर संघ में संरक्षण दिया है अतः यह परंपरा कथमपि समाप्त नहीं करनी है।"

अनंतर जैसे-तैसे सभी ने उन मुनिश्री को समझा-बुझाकर आहार के लिए उठाया। आहार के बाद वे मुनिराज मुझे बुलाकर बोले—

"माताजी! मैंने जो आपको कष्ट दिया, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ, मेरा आपके प्रति कोई दुर्भाव नहीं है। मेरी इच्छा तो यह थी कि आगे संघ में आर्यिकाएँ रहें ही नहीं। इसी बीच अमुक महानुभाव ने मेरे से कहा कि "तुम ज्ञानमतीजी को संघ से हटाने का पुरुषार्थ करो.....। अस्तु, अब मुझे इन प्रपंचों में नहीं पड़ना है। आचार्य महाराज जैसा कहें, ठीक है।"

बात समाप्त हो गई। संघ अगले दिन विहार कर फतेहपुर पहुँच गया।

£ ३५ ¤

फतेहपुर में धर्मप्रभावना —

वहाँ पर प्रतिदिन चौके बढ़ने लगे और लोगों में गुरु भक्ति बढ़ने लगी। फाल्गुन की आष्टान्हिका के अवसर पर सिद्धचक्र विधान का निर्णय हुआ। तब वहाँ के लोगों में दो पार्टी बन गई, एक बीसपंथ के पक्ष में और दूसरी तेरहपंथ के पक्ष में। चर्चा बढ़ती गई, मुनिश्री श्रुतसागर जी के पास कई एक महानुभाव आये। महाराज जी ने जयधवला ग्रंथ का प्रमाण दिखा दिया, जो निम्नप्रकार है—

"ण्हवणोवलेवण संमज्जण छुहावण फुल्लारोहणधूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च।"

अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चंदन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना बन नहीं सकता।[१]

इसके बाद महाराज जी ने मुझे बुलाया और कहा—

"ज्ञानमतीजी! आप कितने प्रमाण दिखा सकती हैं?"

मैंने कहा—

"पचास से अधिक प्रमाण मैं दिखा सकती हूँ।"

ग्रंथों को निकलवाया गया, वसुनंदिश्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, श्री पूज्यपादकृत पंचामृत अभिषेकपाठ आदि।

इन सभी में सर्वोपरि प्रमाण तो जयधवला का ही है, अस्तु, सदासुख के द्वारा हिन्दी वचनिका लिखी गई ऐसे रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है। उन्हीं के वाक्य देखिए—"दोनों ही पंथ आगम में पाइये.....अब यहाँ जिनपूजन सचित्त द्रव्यनितैं हू अर अचित्त द्रव्यनितैं हू आगम में कह्या है जे सचित्त के दोषतैं भयभीत हैं यत्नाचारी हैं ते तो प्रासुक जल गंध अक्षत चन्दन कुंकुमादिकतैं लिप्त करि सुगन्ध रंगीन में पुष्पनिका संकल्पकरि पुष्पनितैं पूजैं हैं तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प वा रुपा के पुष्प तथा रत्नजटित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादिक अनेक मनोहर पुष्पनिकरि पूजन करै हैं अरु प्रासुक ही बहु आरम्भादिकरहित प्रमाणीक नैवेद्यकरि पूजन करै हैं। बहुरि रत्नन के दीपक वा सुवर्ण रूपामय दीपकनि करि पूजन करै हैं तथा सचिक्कण द्रव्यनिके केसरके रंगादितैं दीप का संकल्पकरि पूजन करें हैं तथा चंदन अगरादिककूं चढ़ावै हैं तथा बादाम

---

१. जयधवला पु. १ पृ. १००।

जायफल पूंगीफलादिकअवधि शुद्ध प्रासुक फलनितै पूजन करै हैं ऐसे तो अचित्त द्रव्यनिकरि पूजन करै हैं।

बहुरि जे सचित्त द्रव्यनितैं पूजन करें हैं ते जल गन्ध अक्षतादि उज्ज्वल द्रव्यनिकरि पूजन करें हैं अर चमेली चंपक कमल सोनजाई इत्यादिक सचित्त पुष्पनितैं पूजन करैं हैं,घृतका दीपक तथा कपूरादिक दीपकनि करि आरती उतारै हैं अर सचित्त आम्र केला दाडिमादिक फल करि पूजन करैं हैं धूपायनि में धूप दहन करें हैं ऐसैं सचित्त द्रव्यनिकरि हूँपूजन करिये हैं दोऊ प्रकार आगम की आज्ञा-प्रमाण सनातन मार्ग है। अपने भावनि के अधीन पुण्यबन्ध के कारण है।[१]"

इस प्रमाण को दिखाकर मुनिश्री श्रुतसागर जी ने कहा—

"एक पंथ के प्रमाण तो हम दे रहे हैं। दूसरे—तेरहपंथ के प्रमाण आगम से आप दे दीजिये, वे हों प्राचीन आचार्यों के न कि आधुनिक पंडितों के। इसके लिए हम आपको छह माह का समय देते हैं।"

आश्चर्य है कि आज तक वे लोग कोई प्रमाण लेकर सामने नहीं आये। अस्तु—

उस समय मुनिश्री श्रुतसागर जी के द्वारा व मेरे द्वारा समझाने के बाद दोनों पंथ के लोगों ने एक ही मंडल पर एकसाथ विधान किया। तेरहपंथ वाले खड़े-खड़े अपनी सामग्री से कर रहे थे और बीसपंथ वाले बैठकर फल-फूल चढ़ाकर आगम आम्नाय से विधान कर रहे थे। वहाँ पर इस प्रकार विधान व वेदी प्रतिष्ठा कार्य निर्विघ्न संपन्न हुए।

होली में दुर्घटना —

इसी आष्टान्हिक पर्व में होली त्यौहार के दो-तीन दिन पूर्व कुछ अज्ञानी लोगों ने एक दिन मध्यान्ह में एक बालक को नंगा कर उसके हाथ में एक लोटा और एक झाड़ू देकर मुनिमहाराज की जय करते हुए, ढोल बजाते हुए, जुलूस निकाला। जुलूस मंदिर के पास से निकला।

यह आश्चर्य देखकर हम लोगों को दुःख हुआ। श्रावक भी बहुत ही दुःखी हुए और इन मूर्खों को रोकने का प्रयास करने लगे। वे लोग तो सर्वथा मूढ़ थे, वे तो दिगम्बर मुनियों की हंसी उड़ा रहे थे अतः नहीं माने और पुनरपि रात्रि में एक स्थान पर बैठकर विचार-विमर्श करने लगे कि—

"अगले दिन दो-तीन नंगे साधु बनाकर, दो तीन महिलाओं को सफेद साड़ी पहनाकर आर्यिका बनाकर जुलूस निकालना है।"

तभी वहाँ आकस्मिक दुर्घटना हो गई, ऊपर से छत गिर गई और शायद एक-दो मर गये, कुछ घायल हो गये।

प्रातः होते ही उस समुदाय के कुछ लोग आचार्यश्री के पास आये और क्षमा याचना करने लगे, तब मैंने उपदेश दिया और समझाया कि—

"जैन साधु कभी किसी को शाप नहीं देते हैं, न किसी का बुरा ही सोचते हैं किन्तु उनकी निंदा, अवहेलना, हंसी आदि से लोग स्वयं ही पाप कमा लेते हैं और इनकी प्रशंसा, भक्ति, सेवा आदि से लोग स्वयं ही पुण्य बांध लेते हैं।"

वास्तव में दिगंबर मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका का वेष नाटक में, खेल में या हंसी में भी नहीं बनाना चाहिए। इससे बहुत बड़ी हानि होती है। इस विषय में ब्रह्मगुलाल की कथा प्रसिद्ध है—उसने लीला मात्र में मुनि का वेष धारण किया था पुनः मुनि ही बन गये, वापस गृहस्थी में नहीं रहे। पुनः संघ सीकर वापस आ गया।

शास्त्रार्थ का आह्वान —

आचार्यश्री सीकर में आकर कुछ दिन के लिए रानोली चले गये और मुझे चार आर्यिकाओं के साथ यहीं

---

१. 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' पं. सदासुखकृतभाषा, पृ. १७०।

सीकर कुछ दिन रुकने के लिए कह गये। यहाँ पर उन दिनों ब्र. मूलशंकर देशाई ठहरे हुए थे, वे मेरे पास नहीं आते थे। उधर दूसरे मंदिर में मुनियों के विरोध में कुछ न कुछ उपदेश दिया करते थे। प्रातः काल कुछ प्रबुद्ध श्रावक आकर मेरे पास शंका रखते और समाधान मांगते। एक बार शंका आयी—

"मुनियों को घास या पाटा नहीं लेना चाहिए चूँकि भूमिशयन मूलगुण है।"

मैंने मूलाचार दिखाकर समाधान दिया—

मूलाचार में लिखा है—"तृणमये काष्ठमये शिलामये भूमिप्रदेशे च संस्तरे गृहस्थयोग्यप्रच्छादनविरहिते[१]।"

संस्तर के चार भेद हैं—तृणमय—घास चटाई, काष्ठमय—पाटा, तखत आदि, शिलामय—पत्थर की चट्टान आदि और भूमिप्रदेश—जमीन इन पर साधु शयन करे। पुनश्च—"संथारवासयाणं—संस्तारश्चतुर्धा भूमिशिलाफलकतृणभेदात्[२]।" इसी प्रकार अनगारधर्मामृत, भगवती आराधना आदि ग्रंथों में भी अनेक प्रमाण विद्यमान हैं।

इस तरह दूसरे श्रावकों द्वारा ही अनेक प्रश्नोत्तर चलते रहे पुनः एक दिन ब्र. मूलशंकरजी ने कहलाया—

"मैं माताजी से शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ।"

मैंने उसी दिन एक श्रावक को रानोली आचार्यश्री के पास भेज दिया आज्ञा लेने हेतु, आचार्यश्री ने भी एक श्रावक से पत्र लिखा दिया—

"आर्यिका ज्ञानमतीजी को मैं पूर्ण अधिकार देता हूँ, वे कल से ही मूलशंकर जी के साथ शास्त्रार्थ प्रारंभ कर दें।"

यह सूचना प्राप्त करते ही ब्रह्मचारी महोदय उसी दिन रात्रि में ही चले गये। 'वे किधर गये हैं'? प्रातः यह जानकारी तक न हो पाई पुनः कुछ दिनों बाद आचार्यश्री का ससंघ चातुर्मास सीकर की भक्त समाज के आग्रह से सीकर में होना निश्चित हो गया।

£ ३६ ¤

सीकर में संघ का चातुर्मास—

यहाँ चातुर्मास में दंग की नशिया में ही सारा संघ ठहरा हुआ था। पांडाल में प्रतिदिन पहले अन्य मुनियों का, अनंतर आचार्यश्री का उपदेश होता था। एक बार पं. बाबूलालजी जमादार यहाँ आये हुए थे, उस समय आचार्यश्री के पास यह चर्चा आई कि—

"ये विद्वान् सुधारक हैं।"

आचार्यश्री ने मुझे बुलाया और कहा—

"ज्ञानमती जी! देखो, ये विद्वान् जाति-व्यवस्था और यज्ञोपवीत संस्कार नहीं मानते हैं, इन्हें यथोचित प्रमाण दिखा देना और मध्यान्ह में उपदेश भी तुम्हें ही करना है।"

मध्यान्ह में पहले पंडितजी बोले, अनंतर मेरा उपदेश हुआ पश्चात् आचार्यश्री का उपदेश हुआ अनंतर पंडितजी ने सराग-वीतराग सम्यक्त्व पर मुझसे चर्चा की, मैंने श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों से इन दोनों का स्पष्टीकरण किया जिससे पंडितजी बहुत ही प्रसन्न हुए पुनः यज्ञोपवीत के प्रमाण व जातिव्यवस्था के प्रमाण भी मैंने दिखाये। त्रिलोकसार में एक गाथा है, जिसे गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी ने मुझे दिखाया था—

दुब्भावअसुइसूदकपुप्फवईजाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।।९२४।।

---

१. मूलाचार गाथा ३२, पृ. ४१। २. मूलाचार गाथा १७२, पृ. १४८।

दुर्भाव, अशुचि, सूतक, पुष्पवती — रजस्वला स्त्री तथा जाति संकर आदि दोष से दूषित पुरुष यदि दान देते हैं अथवा जो कुपात्रों को दान देते हैं वे सब कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं। इस गाथा में जो 'जातिसंकर' शब्द आया है वह जाति के अस्तित्व को और भिन्नत्व को सूचित करता है अन्यथा 'जातिसंकर' दोष भला कैसे हो सकता है? ये जातियाँ गुलाब के फूल, आम्रफल, चावल आदि के समान हैं। जैसे इन फूल, फल व धान्य की अनेकों जातियाँ हैं, वैसे ही प्रत्येक वर्ण में भी अनेकों जातियाँ हैं। उनमें संबंध कर देना ही संकर दोष है। जैसे कि अग्रवाल, खंडेलवाल,पद्मावतीपुरवाल आदि यद्यपि ये नाम सादि हैं फिर भी ये जातियाँ अनादि ही हैं। ये पंडित बाबूलाल जी उस समय तो प्रभावित हुए ही थे, आगे सन् १९७४ से ये मेरी प्रेरणा से संस्थापित दिगंबर जैन त्रिलोक शोध संस्थान से ऐसे जुड़े कि उसके एक अंग ही बन गये और मेरे प्रति इनकी श्रद्धा अगाध थी। मेरी आज्ञा का पालन करते हुए शिविरों का संचालन और 'जंबूद्वीपज्ञानज्योति' का भी कई माह तक सफल संचालन किया है।

कैलाशचन्द को पुनः दर्शन —

घर में प्रायः जब भी आर्यिका ज्ञानमती माताजी की चर्चा चलती, तभी पिता के मन में मोह जाग्रत होता और दर्शन करने की उत्कंठा होती किन्तु वे इस डर से कुछ नहीं कहते कि अब की बार भी जो जायेगा, माताजी उसे ही रोक लेंगी। उधर मनोवती तो घर में जब भी अपने विवाह की चर्चा सुनती, रोने लगती और कहती —

"मुझे माताजी के पास भेज दो, मैं दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करूँगी।"

माता मोहिनी का हृदय पिघल जाता किन्तु मोह का उदय तथा पतिदेव का बंधन उन्हें भी मजबूर किए हुए था।

सन् १९६१ में सीकर में आचार्य शिवसागर जी के संघ का चातुर्मास हो रहा था, वहीं संघ में मैं भी थी।

एक दिन माता मोहिनी ने अपने पति से मेरे दर्शनार्थ चलने के लिए बहुत ही आग्रह किया किन्तु सफलता न मिलने पर लाचार हो अपने बड़े पुत्र कैलाशचन्द से बोलीं —

"बेटे कैलाश! तुम बहू चन्दा को लेकर सीकर चले जाओ और आर्यिका ज्ञानमती माताजी के दर्शन कर आओ। दो वर्ष का समाचार भी ले आओ, उनका स्वास्थ्य कैसा चल रहा है? मेरी जानने की तीव्र ही उत्कण्ठा हो रही है।"

इतना सुनते ही कैलाशचन्द जी को प्रसन्नता हुई। उन्होंने पिता से आज्ञा ली और अपनी पत्नी चन्दा को साथ लेकर सीकर आ गये। यहाँ आकर इन दोनों ने आचार्य संघ के दर्शन किये और मेरा भी शुभाशीर्वाद प्राप्त किया। चन्दा की गोद में नन्हा सा बालक था। कैलाश ने कहा —

"माताजी! इस नन्हें-मुन्ने का नाम रख दो।"

मैंने उसका नाम जम्बू कुमार रख दिया।

कैलाशचन्द कई दिनों तक वहाँ रहे। संघ में गुरुओं के उपदेश सुने, आहार देखा और मेरी दैनिक चर्या का सूक्ष्मता से अवलोकन किया। यद्यपि मेरा स्वास्थ्य कमजोर चल रहा था फिर भी मैं सतत ज्ञानाभ्यास में लगी रहती थी। उस समय मैं प्रातः संघस्थ कई एक आर्यिकाओं को लब्धिसार ग्रंथ का स्वाध्याय करा रही थी, उसकी सूक्ष्म चर्चा बहुत ही गहन थी तथा मध्यान्ह में अपनी प्रिय शिष्या क्षुल्लिका जिनमतीजी को प्रमेयकमलमार्तण्ड पढ़ा रही थी जो कि न्याय का उच्चतर ग्रंथ है।

मध्यान्ह में कभी-कभी मेरा सभा में उपदेश भी होता रहता था तथा ४ बजे करीब मेरे पास कई एक महिलाएँ अध्ययन करती रहती थीं।

कैलाशचन्द को सीकर की समाज का बहुत ही स्नेह मिला। प्रायः प्रतिदिन कोई न कोई श्रावक उन्हें अपने घर जिमाने के लिए बुलाने आ जाया करते थे। जब ये टिकैतनगर जाने के लिए तैयार हुए तभी एक महिला जो कि इन्हें बहुत ही आदर से देखती थीं और चन्दा को मानों वह अपनी ही बहू समझती थीं, वे एक

साड़ी ले आयीं, साथ ही नन्हे मुन्ने के लिए भी एक जोड़ी वस्त्र थे। चन्दा घबराई और बोली—

"अम्माजी! मैं यहाँ माताजी के दर्शन करने आई हूँ, यदि ये कपड़े भेंट में ले जाऊँगी तो सासु जी मेरे से बहुत नाराज होंगी, इसलिए मैं क्षमा चाहती हूँ मैं कतई यह भेंट नहीं लूँगी।"

उस महिला के बहुत आग्रह करने के बावजूद भी चन्दा ने वस्त्र नहीं लिये और बार-बार यही उत्तर दिया—

"अम्माजी! आपका आशीर्वाद ही हमें बहुत कुछ है। आपकी उत्तम भावना से मैं प्रसन्न हूँ.....।"

जाते समय कैलाश सभी गुरुओं का तथा मेरा शुभाशीर्वाद लेकर घर आ गये। आते ही मनोवती ने बड़े भाई और भावज को घेर लिया तथा रोने लगी—

"भाई साहब! आप मुझे भी माताजी के पास क्यों नहीं ले गये?"

कैलाश ने मनोवती को समझाने की चेष्टा की किन्तु मनोवती को संतोष नहीं हुआ।

सभी ने संघ के कुशल समाचार पूछे और मेरे द्वारा किये जा रहे उच्चतम ग्रंथों के स्वाध्याय की चर्चा सुनकर गद्‌गद हो गये।

दीक्षा महोत्सव पर श्रीमती का आगमन—

मेरे हर्ष का पार नहीं था क्योंकि आज मेरी शिष्यायें दीक्षा ले रही हैं। ब्र. राजमलजी भी मुनि दीक्षा लेने वाले हैं। मैंने इन ब्र. जी को मुनि दीक्षा लेने के लिए भी बहुत ही प्रेरणा दी थी। इस समय जो महिलाएँ आर्यिका दीक्षा लेंगी उनको मंगल स्नान कराया जा रहा है। चार महिलाएँ चार कोनों पर खड़ी होकर कपड़े का छोर पकड़ कर कपड़े से मर्यादा किये हुए हैं। एक छोर पर खड़ी एक महिला एक हाथ से पर्दे को पकड़े हुए हैं किन्तु उसकी दृष्टि बार-बार अपने नन्हें-मुन्ने की तरफ जा रही है, इस कारण पर्दा कुछ नीचा हो गया। तभी मैंने उस अपरिचित महिला को फटकारा—

"तुम्हें विवेक नहीं है, पर्दा ठीक से पकड़ो। इधर-उधर क्या देख रही हो?"

इसके बाद मैंने जब पुनः उसकी ओर देखा तो वह महिला रो रही थी।

मैंने कहा—"अरे! तुम्हें इतना भी सहन नहीं हुआ , जरा सी बात में रोने लगी?"

तभी उस महिला ने कहा—

"नहीं माताजी! मैं आपके गुस्सा करने से नहीं रो रही हूँ किन्तु आज पहली बार मैंने आपके दर्शन किये हैं, इसलिए रोना आ गया।'

तब मैंने उस महिला को सिर से पैर तक एक बार देखा और कुछ भी न पहचान पाने से पुनः पूछा—"तुम कौन हो? कहाँ से आई हो?"

उसने कहा—"मैं श्रीमती हूँ, बहराइच से आई हूँ। मैं टिकैतनगर के लाला छोटेलालजी की पुत्री हूँ।"

तब मुझे बहुत आश्चर्य हुआ और मैंने कहा—

"तुम्हें मैंने जब छोड़ा था, तब तुम दस-ग्यारह वर्ष की होगी। अब तो तुम बड़ी हो गयी हो, तुम्हारी शादी भी हो गयी है, भला मैं कैसे पहचान पाती?"

इतना सुनते ही श्रीमती को और भी रोना आ गया। वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। पास में खड़ी महिलाओं ने उसे सान्त्वना दी, शांत किया पुनः उनका परिचय मिलने के बाद समाज के लोगों ने उन्हें वहीं दंग की नशिया में एक कमरे में ठहरा दिया। साथ में उनके पति प्रेमचन्द्र जी आये हुए थे और श्रीमती की गोद में छोटा मुन्ना था, जिसका नाम प्रदीपकुमार था। श्रीमती ने उस दीक्षा समारोह को बड़े ही चाव से देखा और अपने भाग्य को सराहा कि मैं अच्छे मौके पर आ गयी जो कि इतना बड़ा महोत्सव देखने को मिल गया।

उस समय ब्रह्मचारी राजमल जी ने बहुत ही विस्तार से उपदेश दिया। तदनन्तर सबके द्वारा प्रार्थना हो जाने के बाद महाराज जी की आज्ञा से सभी दीक्षार्थी चावल से बने हुए स्वस्तिक पर, जिस पर नया कपड़ा बिछा हुआ

था, उस पर क्रम-क्रम से बैठ गये। महाराज जी ने मंत्र पढ़ते हुए दीक्षा के संस्कार शुरू कर दिये। उस समय मंच पर मैं भी थी। मैं क्षुल्लिका जिनमती, ब्र. अंगूरीबाई आदि के केशलोंच, दीक्षा संस्कार आदि करा रही थी।

आचार्यश्री ने सबको दीक्षा देकर पिच्छी, कमण्डलु दिये, शास्त्र दिये पुनः उनके नाम सभा में घोषित कर दिये। मुनि का नाम अजितसागर रखा गया। क्षुल्लिका जिनमती और संभवमती के आर्यिका दीक्षा में भी वे ही नाम रहे। ब्र. अँगूरी का आर्यिका में आदिमती नाम रखा गया और ब्र. रतनीबाई की क्षुल्लिका दीक्षा हुई उनका नाम श्रेयांसमती रखा गया।

प्रेरणा का सुफल —

गिरनारक्षेत्र की यात्रा के मध्य मैं आचार्यश्री शिवसागरजी महाराज की आज्ञा से ब्रह्मचारी राजमल को अनेक बार मुनिदीक्षा के लिए प्रेरणा दिया करती थी। आचार्यमहाराज भी चाहते थे कि ये ब्र. राजमलजी मुनि बन जावें, उधर संघ के सभी मुनिगण उन्हें प्रेरणा दिया ही करते थे। संघ के प्रमुख ब्रह्मचारी सूरजमल जी को, ब्र. राजमलजी को और ब्र. कजोड़मलजी को उनकी योग्यता, भक्ति, ज्ञानाराधना आदि देख-देख कर सभी मुनि-आर्यिकायें इन लोगों को मुनि होने के लिए एवं संघस्थ ब्रह्मचारिणियों को आर्यिका बनने के लिए प्रेरणायें देते ही रहते थे। फिर भी मेरे प्रति विशेष भक्ति होने के कारण मैं ब्रह्मचारी राजमल को दीक्षा हेतु बहुत ही प्रेरणा दिया करती थी।

ब्यावर में राजवार्तिक का अध्ययन कराते समय मध्य-मध्य में मेरा प्रयास चालू ही रहता था। अजमेर और सुजानगढ़ के चातुर्मास में भी मैंने बहुत ही उपाय किये थे। ब्रह्मचारी श्रीलालजी मेरी इस प्रेरणा से कभी-कभी मेरी हंसी भी बनाया करते थे। सीकर चातुर्मास में ब्रह्मचारी चांदमलजी नागौर वाले आये हुए थे, उनसे भी मेरा निकटतम संपर्क रहता था। एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में मैंने कहा—

"बाबाजी! आप भी ब्रह्मचारी राजमलजी को मुनि बनने के लिए प्रेरणा दीजिए.....।" ऐसे ही प्रेरणाओं के वातावरण में एक दिन आठ बजे मेरे कमरे में आकर सिद्धमती माताजी ने कहा—

"ज्ञानमतीजी! ब्रह्मचारी राजमलजी ने दीक्षा के लिए नारियल चढ़ा दिया है, आपको पता नहीं चला क्या?.....।"

मैं सुनते ही एकदम अवाक् रह गई—

"ऐं!! क्या यह बात सच है?.....।"

इसी बीच ब्र. श्रीलालजी काव्यतीर्थ ने आकर कहा—

"अरे! इन्हें इतनी जल्दी यह समाचार क्यों सुना दिया?"

मैंने कहा—"क्यों?"

तब ब्रह्मचारीजी बोले—"माताजी! कभी-कभी अति खुशी के समाचारों से भी एकदम दिल या दिमाग में असर हो जाता है अतः हम लोगों ने ऐसा निर्णय किया था कि आपको यह खुशी का समाचार दो दिन बाद शांति से बताया जावे।"

"मैं हँस पड़ी।" बाद में ब्र. राजमलजी ने भी आकर बड़ी विनय से नमस्कार कर अपने दीक्षा के भावों की शुभ सूचना दी। कई वर्षों से किया जाने वाला मेरा पुरुषार्थ सफल होने जा रहा है, तो भला खुशी का क्या ठिकाना?

और अब तो दीक्षा लेकर ब्र. राजमल मुनिश्री अजितसागर जी बन चुके थे। ये मुनि बनने के बाद भी मुझे अपनी माता के रूप में ही देखते थे।

ऐसे ही क्षुल्लिका जिनमती को भी मैंने अनेकों बार आर्यिका बनने की प्रेरणा दी थी, वह प्रेरणा भी इस समय सफल हो गई थी। इसी प्रकार अँगूरीबाई को घर से निकालने में और दीक्षा की प्रेरणा देने में जो पुरुषार्थ किया था, वह भी बहुत ही विशेष था, साथ ही संभवमती, जो कि हुलासीबाई थीं, उन्हें पहले मैंने ही

क्षुल्लिका दीक्षा दिलायी थी। रतनीबाई को अभी फतेहपुर से ही साथ लाई थी। दोनों बाइयों को दीक्षा के लिए तैयार करने पर आचार्यमहाराज ने कई बार कहा था कि "ज्ञानमती जी! कुछ दिन तुम इन्हें ब्रह्मचारिणी बनकर ही रहने दो, सेवा करना सिखाओ, जल्दी मत करो, तुम्हारे पास कोई ब्रह्मचारिणी नहीं है इत्यादि, फिर भी मैंने इन सभी को आत्महित में आगे बढ़ने की ही प्रेरणायें दी थीं, अपना स्वार्थ नहीं देखा था। इन सभी को उस दिन दीक्षित देखकर मेरा हृदय फूला नहीं समाया था।

वास्तव में विचार करके देखा जाये तो अनादिकालीन कर्तृत्वबुद्धि के निमित्त से ही ऐसी भावनाएं होती हैं कि—

"मेरा प्रयास सफल हो गया.....।"

प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना पुण्य ही ऐसे-ऐसे प्रसंगों में काम आता है, अन्य प्रेरक व्यक्ति चाहे गुरु हो चाहे कोई भी, कैसे ही परमहितैषी क्यों न हों? वे तो सभी निमित्तमात्र ही हैं। भला यदि हम लोगों की प्रेरणा से ही कोई दीक्षा लेने लगे तो हम जैसे साधु शायद किसी सज्जातीय मनुष्य को बिना दीक्षा के रहने ही न दें अतः कहना पड़ता है कि हर एक व्यक्ति का, चाहे वह पुरुष हो या महिला, उसका अपना पुण्योदय, आसन्नभव्यता—निकटसंसार आदि होना ही चाहिए, तभी गुरुओं की प्रेरणायें काम आती हैं, यही कारण है कि गुरुजन बाह्यनिमित्त कहलाते हैं न कि अंतरंगनिमित्त।

यहाँ दीक्षा सम्पन्न होने के बाद मुझे विशेष प्रसन्नता थी और आज भी उन प्रसंगों को याद कर प्रसन्नता होती है—फिर भी मैं तत्त्वज्ञान के बल से अपनी कर्तृत्वबुद्धि को हटाने का पुरुषार्थ करना ही अपना सबसे बड़ा पुरुषार्थ समझती हूँ।

यहाँ सीकर में आहार के समय का दृश्य देखते ही बनता था। सब साधु एक के पीछे एक ऐसे क्रम से निकलते थे। बाद में सभी आर्यिकायें एक के पीछे एक क्रम से निकलती थीं। यह दृश्य चतुर्थकाल के समान बड़ा अच्छा लगता था।

श्रीमती ने अपने पति के साथ यहाँ शुद्धजल पीने का नियम लेकर सभी साधुओं को आहारदान दिया बाद में अपने घर चली गई। टिकैतनगर में इन समाचारों को श्रीमती के मुख से सुनकर घर में छोटी बहन मनोवती बोली—

"हे भगवन्! मुझे ऐसी माताजी के दर्शनों का सौभाग्य कब मिलेगा? मैंने पूर्वजन्म में पता नहीं कौन-सा ऐसा पाप किया था कि जो ४-५ वर्ष हो गये, मैं उनके दर्शनों के लिए तरस रही हूँ....।"

इस प्रसंग में माता मोहिनी के भाव भी मेरे दर्शनों के लिए हो उठे किन्तु पिता ने कहा—

"अगले चातुर्मास में चलेंगे।"

प्रमेयकमलमार्तंड का अध्यापन —

"मैंने श्री जिनेंद्रदेव को हृदय में धारण कर, नौ बार महामंत्र का जाप कर, जिनमती को प्रमेयकमलमार्तंड पढ़ाना शुरू कर दिया। आश्चर्य इस बात का था कि मैं बिना पढ़े भी इस ग्रंथ का अर्थ समझते हुए जिनमती को समझा देती थी। उस समय मुझे वह गूढ़ ग्रंथ भी सरल ही प्रतीत हो रहा था। कुछ ही दिनों में मैंने उस प्रमेयकमलमार्तंड को जिनमती को पढ़ाते हुए स्वयं पढ़ लिया, मुझे बहुत ही आत्मसंतुष्टि हुई।"

चातुर्मास समाप्ति के बाद संघ के विहार हेतु चर्चा चलती ही रहती थी।

जिनमती के उपवास —

आर्यिका जिनमती जी ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक आठ दिन का उपवास किया। तीन-चार उपवास के बाद इनका स्वास्थ्य बहुत कमजोर हो चुका था किन्तु बहुत समझाने पर भी ये नहीं मानीं। अंत में दो उपवास इतने कठिन निकले कि—ये स्वयं घबरा गईं। ऐसा लगा कि अब इनकी समाधि हो जायेगी।

पारणा के दिन मना करने पर भी ये लघुशंका के लिए बाहर जाने लगीं, ये रजस्वला हो गई थीं, इस दिन इनका तीसरा दिन था। बाहर जाते समय एकदम गिर गईं और मूर्च्छित हो गईं। मैं घबरा गई ऐसा प्रतीत हुआ कि ये खतम हो गईं। आर्यिका चंद्रमतीजी ने व मैंने इन्हें संभाला, होश में आने के बाद शुद्धि कराकर पाटे पर लिटा कर आहार को ले जाया गया। जैसे-तैसे जरा-सी उकाली, धनिया, सोंठ आदि का काढ़ा पेट में गया। कई दिन बाद इनका स्वास्थ्य सुधार में आया। तब इनके शरीर में शून्यता सी आ गई थी।

आकस्मिक मेरा विहार —

मैंने कई एक वैद्यों के परामर्श से जिनमती जी की चिकित्सा कराई, जैसे ही कुछ लाभ मालूम पड़ा, पन्द्रह दिन ही हुए थे पुनः इन्होंने चौदश का उपवास आचार्यश्री से माँगा, तब एकदम से घबड़ा कर मैं बोल पड़ी—

"महाराज जी! अभी इन्हें उपवास नहीं देना, अभी ये पूर्ण स्वस्थ नहीं हो पाई हैं।"

इतना सुनते ही आचार्यश्री पता नहीं क्यों? एकदम आवेश में आ गये और बोले—

"हाँ, हाँ, तुम्हें अनुशासन करना आता है..... निकल जावो संघ से....।"

मैं सुनकर एकदम अवाक् रह गई, जिनमती ने उपवास तो ले ही लिया। इधर आचार्यश्री के यह शब्द-

"निकल जावो संघ से.....।"

इन शब्दों ने मेरे मन को झकझोर दिया। मैं कभी बड़ों को उत्तर नहीं देती थी अतः वहाँ तो कुछ बोली नहीं। वहाँ से आकर सोचने लगी—एक बार आचार्यश्री वीरसागर जी के पास आर्यिका पद्मावती भादों के माह में एकांतर उपवास से व्रत लेने गईं थीं, आचार्यश्री ने उसी क्षण कहा, जावो अपनी गुर्वानी ज्ञानमती जी को साथ लेकर आवो, तब मैं व्रत देऊँगा। जब वे मेरे साथ आचार्यश्री वीरसागर जी के समक्ष पहुँची, आचार्यश्री ने मुझसे पूछा—इन्हें एकांतर का व्रत देऊँ क्या? ये तुम्हारे पास रहती हैं, इनके स्वास्थ्य का तुम्हें पता है। मैंने कहा—महाराजजी। ये हमेशा करती हैं अतः दे दीजिये। पुनः आचार्यश्री ने कहा—देखो! तुम्हारे पास जो रहती हैं उन्हें तुम अपने साथ लाकर ही व्रत दिलाया करो क्योंकि कभी-कभी कोई शिष्यायें भावावेश में भी व्रत करने लगती हैं अतः उनकी योग्यता की जानकारी तो उनकी गुर्वानी को ही रहती है पुनः पद्मावती को व्रत देकर कहा— "देखो, बाई! तुम कभी भी कोई व्रत लेना चाहो तो इनके साथ ही मेरे पास आना।" यह बात मुझे पुनः याद आ गई। बाद में मैं मुनि श्रीश्रुतसागरजी के पास पहुँची और यह समाचार सुना दिया। महाराज जी भी आश्चर्यचकित हो गये और बोले—

"अरे! यह क्या? ना कुछ बात में आचार्यश्री ने ऐसे शब्द कैसे कह दिये?.....।"

मैंने महाराजजी से कहा कि—

"मैं तो अभी सामायिक के बाद ही विहार कर जाऊँगी।"

महाराज जी मौन रहे। मैंने आकर अपने पास की सभी आर्यिकाओं को कह दिया कि—

"मैं सामायिक के बाद विहार करूँगी।"

सभी आर्यिकाओं ने क्षणभर में अपने-अपने शास्त्रों को झोले में रख लिया। सामायिक के बाद हम सभी ने जाकर आचार्यश्री को, सर्वमुनियों को और सर्वआर्यिकाओं को नमोऽस्तु, वंदामि किया और आचार्यश्री के समक्ष निवेदन कर दिया कि—

"मैं यहां से विहार कर दूजोद जा रही हूँ।"

मैं एक दो श्रावकों को साथ लेकर दूजोद पहुँच गई, वहाँ के श्रावकों ने स्वागत किया। क्षणभर में सारी व्यवस्था बन गई।

इस समय मेरे साथ में आर्यिका चंद्रमती, आर्यिका पद्मावती, आर्यिका जिनमती, आर्यिका आदिमती व क्षुल्लिका श्रेयांसमती थीं। ब्रह्मचारिणी कोई भी नहीं थी।

वहाँ मेरे पाँच-सात दिन धर्माराधन पूर्वक व्यतीत हो गये।

आचार्य संघ का आगमन —

तभी मैंने एक दिन सुना कि—

"आचार्यश्री पूरे संघ सहित दूजोद पधार रहे हैं।"

मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा, श्रावकों को बुलाकर सूचना दी। लोगों ने छोटे गाँव के अनुसार भी बैण्ड बाजों के साथ एक मील आगे जाकर आचार्यश्री का स्वागत किया। मैंने भी अपने संघ सहित आगे जाकर आचार्यश्री का स्वागत किया।

संघ आकर यहाँ ठहरा। कई दिनों तक बहुत ही प्रसन्नता का वातावरण रहा। आचार्यश्री हंसकर बोले—

"माताजी! आपके लिए मुझे यहाँ आना पड़ा है।"

मैंने कहा—

"यह तो आपकी बहुत बड़ी कृपा हुई है।"

पुनः एक दिन मध्यान्ह में मुनिश्री श्रुतसागरजी ने कहा—

"माताजी! आपके विहार कर जाने के बाद मेरा मन बहुत ही विक्षिप्त रहा। मुनि श्री अजितसागर जी को तो इतना धक्का लगा कि वे कहने लगे—

"यह क्या हो गया? मेरी माता का इतना बड़ा अपमान मैं कैसे देखता रहा?....अंततोगत्वा इन्होंने कहा—कुछ भी हो, आचार्यश्री को ससंघ दूजोद ले चलना है। मैंने भी पुरुषार्थ किया और आचार्यश्री को राजी कर लिया, चूँकि आचार्यश्री के मन में तो आपके प्रति कोई कषाय नहीं थी अकस्मात् आवेश में उनके मुख से वैसा निकल ही गया।....."

असल बात यह थी कि यहाँ सीकर चातुर्मास में एक मुनि जातिव्यवस्था को न मानते हुए कभी-कभी आगमविरुद्ध शब्द बोल जाते थे। उस निमित्त से संघ में प्रबुद्ध और वृद्ध आर्यिकायें चिढ़ जाती थीं। एक दिन आहार के बाद एक वृद्धा आर्यिका ने आकर कहा—

"महाराजजी! वे मुनि सज्जातीयत्व के विरोध में ऐसा-ऐसा बोल रहे हैं, उन पर नियंत्रण कीजिये.....।"

महाराजजी ने कहा—"माताजी! शांति रखो, हम लोगों की नजर में सब कुछ है कि क्या हो रहा है? 'ठण्डा करके खाना चाहिए, गरम-गरम खाने से मुँह जल जाता है।'.....।"

यह आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज की सूक्ति थी।

इसके बाद भी वे वृद्धा आर्यिका पुनः एक-दो बार बोलीं, तभी आचार्य महाराज ने उन्हें जरा जोर से फटकार दिया। इस पर उनके पास रहने वाली दूसरी आर्यिका तमक कर बोलीं—

"महाराजजी! आप मेरी माताजी को कुछ भी नहीं कह सकते हैं, वे तो आगम का ही पक्ष ले रही हैं.....।"

इस पर आचार्य महाराज चुप हो गये पुनः दूसरे दिन उन वृद्धा माताजी के उद्वेग को देखकर मुझे फटकारते हुए बोले—

"ज्ञानमतीजी! प्रतिदिन एक ही बात मत कहा करो....।"

मैं आश्चर्यचकित हो गई और मौन से चुपचाप चली आई क्योंकि मैंने तो कुछ कहा ही नहीं था पुनः दूसरे दिन महाराजजी ने, जब मैं आहार के बाद दर्शन करने पहुँची तब कहा—

"ज्ञानमतीजी! मैंने कल तुम्हें अकारण ही फटकार दिया था बुरा नहीं मानना। बात यह है कि 'घर में माँ जब बहू को नहीं डाट पाती है तब कभी-कभी बेटी को डांट देती है कि जिससे बहू पुनः वैसी गलती न करे.....।" इतना कहकर आचार्य महाराज हँस पड़े, मैं भी हँसी और आचार्य महाराज के दर्शन कर वापस चली आई थी।

इसी प्रकार से उन दिनों उन आगमविरुद्ध बोलने वाले मुनि के प्रति संघ में ऐसी ही चर्चा चल रही थी

कि इन्हें संघ से अलग विहार करने के लिए कहा जाये। आचार्यश्री का मस्तिष्क उस समय कुछ विक्षिप्त सा था अतः वह आवेश मुझ पर उतर गया था।

संघ में कभी भी यदि कोई साधु जाने लगे या कोई आर्यिकायें ही जाने लगें तो आपस में कोई न कोई साधु-साध्वियाँ उन्हें अवश्य ही रोक लेते थे किन्तु उस दिन तो सवा ग्यारह बजे आचार्य महाराज ने मुझे आवेश में कहा और मैं वहाँ से आकर साढ़े ग्यारह बजे से साढ़े बारह बजे तक सामायिक समाप्त कर एकदम एक बजे ही निकल गई। यह घटना डेढ़ घंटे मात्र में ही हो गई अतः सभी साधु-साध्वियाँ प्रायः न कुछ समझ पाये और न बोले ही।

यहाँ आचार्य महाराज के ससंघ आने के बाद और उनका वात्सल्य मिलने के बाद मैं भी सोचने लगी—

"ठंडा करके खाना चाहिए गरम-गरम खाने से मुंह जल जाता है।" यह आचार्य महाराज की सूक्ति कितनी सुन्दर है, मैंने भी आवेश में ही जल्दी से विहार कर दिया यदि एक दिन रुक कर शांति से विहार करने का सोचती तो शायद स्थिति ही साफ हो जाती और विहार करने का प्रसंग ही न आता।

वहाँ सीकर से मुनिश्री ज्ञानसागरजी महाराज संघ के साथ नहीं आये थे, वे वहीं रुक गये थे। इसके बाद वे संघ से पृथक् ही विहार करने लगे थे।

यहाँ दूजोद में कई दिनों तक पूरा संघ रहा, छोटा गाँव होते हुए भी श्रावकों की भक्ति अच्छी थी अतः हर्षोल्लास का वातावरण रहा, संघ में स्वाध्याय और धर्मचर्चा चलती रहती थी।

मैं कई बार इन घटनाओं के याद आ जाने पर सोचा करती हूँ कि—"आज भी जिन संघों में आर्यिकाओं का अनुशासन प्रमुख आर्यिका संभालती हैं, वहाँ शांति रहती है और समुचित मर्यादा बनी रहती है किन्तु जिस संघ में हर एक आर्यिकाओं की छोटी-छोटी बातें आचार्यों तक पहुँचती हैं, वहाँ शांति और व्यवस्था दोनों ही भंग हो जाती है क्योंकि अतिनिकटता से महिलाओं का संरक्षण और संपोषण महिलायें ही कर सकती हैं, आचार्य तो स्थूलरूप से ही मार्गदर्शन दे सकते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जब आर्यिकाओं में प्रमुख आर्यिका के प्रति गुरु या माता जैसा भाव रहता है तथा कदाचित्-बीमारी आदि के प्रसंग में एक-दूसरे की वैयावृत्ति का सौहार्द रहता है, माता-पुत्री जैसा एक-दूसरे को संभालती हैं अन्यथा संकट व बीमारी के समय बड़ों की उपेक्षा से नव दीक्षिताओं का जीवन आदर्श नहीं बन पाता है प्रत्युत् उनके संयम की हानि की संभावना भी देखी जाती है।

अतः आचार्यश्री वीरसागरजी की आज्ञानुसार आर्यिकाओं को प्रधान आर्यिका की आज्ञानुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।

यह दूजोद गाँव बहुत ही छोटा था, पानी बहुत गहराई में था, सौ हाथ से अधिक रस्सी कुंएँ से पानी भरने में लगती थी इत्यादि। इन सब समस्याओं को देखकर पुनः यहाँ यही निर्णय लिया गया कि—

"कुछ दिन आर्यिकायें दो समुदाय में अलग-अलग विहार कर लेवें पुनः माघ मास तक लाडनूँ पहुँचना है। वहाँ मानस्तम्भ तैयार हो चुका है, उसकी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पूषराज केशरीचंद के परिवार के लोग कराना चाहते हैं वे प्रार्थना कर चुके थे और आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी थी।"

मैंने भी आचार्यश्री की आज्ञा लेकर यहाँ से मूँडवाड़ा की तरफ विहार कर दिया।

कभी-कभी तो आचार्यश्री का मेरे प्रति बहुत ही वात्सल्य दिखता था। एक बार सीकर में ब्र. राजमलजी आदि की दीक्षाओं के बाद जयपुर से आये सेठ रामचन्द्रजी कोठारी ठहरे हुए थे। आचार्यश्री उन्हें घर त्याग करने की और दीक्षा लेने की प्रेरणा दे रहे थे। मैं वहाँ पहुँची, वे सहसा बोले—

"कोठारी जी! आप मेरी एक बात मानो, बस एक माह आर्यिका ज्ञानमतीजी के निकट रह जावो.....। बस तुम्हें स्वयं वैराग्य हो जायेगा मुझे अधिक प्रेरणा देनी ही नहीं पड़ेगी।"

सेठ रामचन्द्रजी मेरी ओर देखकर बहुत ही खुश हुये और पुराने संस्मरण याद कर बार-बार मेरी प्रशंसा करने लगे। मैं उस समय कुछ भी नहीं बोली, मात्र अपनी प्रशंसा सुनकर नीचे माथा किये बैठी रही पुनः

रामचंद्र जी द्वारा बहुत विनय आदि के बाद मैं बोली—

"जो आज कुछ भी मेरे में ज्ञान का लेश है वह सब गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज के आशीर्वाद का ही फल है।"

मूँडवाड़ा में मैं आर्यिका चंद्रमती आदि के साथ कुछ दिनों तक रही। गाँव में लोगों की अच्छी भक्ति थी पुनः यहाँ से 'कूकनवाली' आदि गाँवों में विहार किया। जब आचार्यश्री का संघ लाडनू पहुँच गया, तब मेरे पास भी मांगीलालजी आदि द्वारा भेजे गये चौथमलजी आदि श्रावक आ गये और मैंने भी उस तरफ विहार कर दिया।

लाडनूं आगमन—

मैं लाडनूं के निकट ५-६ मील पूर्व में ठहरी थी। आर्यिका आदिमती के कमर में वायु का दर्द हो जाने से उन्हें चलना कठिन हो गया था अतः मैं रास्ते में ठहर गई थी। वहीं आहार कराकर पुनः डोली में उन आदिमती को लेकर जाना था। वहीं अकस्मात् माता मोहिनी जी आ पहुँचीं, वे कुचामन उतर कर इधर-उधर मुझे ढूंढ़ते हुए यहाँ आ गईं। मेरे दर्शन कर प्रसन्न हुईं। वहाँ आहारदान देकर भोजन आदि किया।

मैं भी विहार कर सायंकाल में लाडनूं आ गई। इधर सन् १९६२ की फरवरी में यहाँ मानस्तंभ के जिनबिंबों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी। मैं आदिमती का स्वास्थ्य खराब होने से प्रतिष्ठा के स्थल पर कदाचित् ही पहुँच पाती थी। इनकी वैयावृत्ति और संभाल में ही लगी रहती थी क्योंकि संघ में यदि कोई साधु या साध्वी अस्वस्थ हो और यदि बड़े ही वैयावृत्ति न करें तो छोटे साधु-साध्वी भी उपेक्षा कर देते हैं तथा बड़े को वैयावृत्ति करते देखकर सभी साधु-साध्वी प्रेम से सेवा शुश्रूषा करने लगते हैं अतः बड़ों को यह गुण अपने में लाकर छोटे साधु-साध्वियों को सदा वैयावृत्ति करने की शिक्षा और प्रेरणा देते रहना चाहिए।

वास्तव में वैयावृत्ति भी एक तप है और इसका अपना विशेष ही महत्त्व है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि वैयावृत्ति करने से आपस में वात्सल्य-धर्मप्रेम बढ़ता है और परस्पर में सौहार्द बने रहने से संघ में शांति, धर्माराधना, ज्ञानाराधना आदि विशेष गुण वृद्धिंगत होते रहते हैं अतः मुझे वैयावृत्ति करने की प्रारंभ से ही रुचि रही थी। अब तो अपना शरीर स्वयं ही ठीक तरह से काम नहीं करता है तो अन्य की वैयावृत्ति भी हाथों से नहीं हो पाती है। इन आर्यिका आदिमती की वैयावृत्ति तो मैंने श्रवणबेलगोल में भी खूब ही की थी अभी ये आचार्यकल्प श्रुतसागर जी के संघ में रह रही हैं।[१]

£ ३७ ¤

मनोवती के मनोरथ फले —

मनोवती अस्वस्थ चल रही थी। डाक्टर का इलाज चल रहा था किन्तु कोई खास फायदा नहीं दिख रहा था। माँ मोहिनी एक बार लखनऊ गईं। वहाँ चौक के मंदिर में दर्शन करने पहुँचीं तो देखा, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की कुंकुमपत्रिका मंदिर जी में लगी हुई है। बारीकी से पढ़ने लगीं। विदित हुआ, इस समय आचार्य शिवसागर जी का संघ लाडनूं राजस्थान में है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का अवसर है, वहाँ पर आर्यिका ज्ञानमती जी भी हैं। मन में सोचने लगीं—

"यह मनोवती पाँच वर्ष से माताजी के लिए तड़फ रही है। इसका शरीर स्वास्थ्य इस मानसिक चिंता से ही खराब हो रहा है। इसको जब तक माताजी के दर्शन नहीं मिलेंगे तब तक इसे कोई भी दवाई नहीं लगेगी।.....यह मौका अच्छा है। पति से पूछने पर, पता नहीं वे कितने मोही जीव हैं, इसे संघ में ले जाने की अनुमति नहीं देगें। मेरी समझ से तो अब मुझे इस मनोवती को माताजी के दर्शन करा देना चाहिए।"

माँ मोहिनी के साथ उस समय रवीन्द्र कुमार नाम का सबसे छोटा पुत्र था। सोचा—

---

१. सन् १९८८ में यह प्रकरण लिखा गया है।

"इसे ही साथ लेकर मैं क्यों न लाडनूं चली जाऊँ?"

यद्यपि माँ मोहिनी ने आज तक कभी अकेले इस तरह रेल का सफर नहीं किया था, फिर भी साहस बटोर कर भगवान् का नाम लेकर उन्होंने किसी विश्वस्त व्यक्ति से लाडनू आने-जाने का मार्ग पूछ लिया और मनोवती पुत्री तथा रवीन्द्र पुत्र को साथ लेकर लाडनूं आ गईं, मेरे सब दर्शन किये, मन शांत हुआ पुनः दूसरे ही क्षण घबराहट में मुझसे बोली—

"मैं तुम्हारे पिता से न बताकर लखनऊ से ही सीधे इधर आ गई हूँ। अगर मैं घर नहीं पहुँचूँगी तब लोग चिंता करेंगे।"

मैंने सारी स्थिति समझ ली। शीघ्र ही ब्र. श्रीलाल जी को बुलाया और सारी बात बता दी तथा घर का पता बताकर कहा कि—

"इनके घर तार दे दो कि ये लोग सकुशल यहाँ प्रतिष्ठा देखने आ गई हैं, चिंता न करें।"

ब्र. श्रीलालजी ने उनके घर तार दे दिया। अब उन्होंने यहाँ रहकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा देखी और प्रतिदिन आहार दान का लाभ लेने लगीं।

मनोवती की खुशी का क्या ठिकाना? मानों उसे सब कुछ मिल गया है। वह मेरे दर्शन कर अपने को धन्य मानने लगी। मेरे पास बैठकर उसने अपने ४-५ वर्ष के मनोभाव सुनाये और कहने लगी—

"माताजी! अब मैं घर नहीं जाऊँगी। अब तो आप मुझे यहीं पर दीक्षा दिला दो।

मैंने समझाया, सान्त्वना दी और कहा—

"बेटी मनोवती! अब तुम संघ में आ गई हो, खूब धार्मिक अध्ययन करो, व्याकरण पढ़ो, दीक्षा भी मिल जायेगी। धीरे-धीरे सब काम हो जावेगा।"

उस समय संघ में वयोवृद्धा और दीक्षा में भी सबसे पुरानी आर्यिका धर्ममती माताजी थीं। उनका मेरे प्रति विशेष वात्सल्य था। उन्होंने इस कन्या मनोवती के ज्ञान की और वैराग्य की बहुत ही सराहना की तथा बार-बार माँ मोहिनी से कहने लगीं—

"माँ जी! तुम्हारी कूँख धन्य है कि जो तुमने ऐसी-ऐसी कन्यारत्न को जन्म दिया है। देखो! ज्ञानमती माताजी के ज्ञान से सभी साधुवर्ग प्रभावित हैं। ये इतनी कमजोर होकर भी रात-दिन संघ में आर्यिकाओं को पढ़ाती ही रहती हैं। यह कन्या मनोवती भी देखो, कितने अच्छे भावों को लिये हुए है। सिवाय दीक्षा लेने के और कोई बात ही नहीं करती है। इसे भी तत्त्वार्थसूत्र आदि का अर्थ मालूम है, अच्छा ज्ञान है और क्षयोपशम भी बहुत अच्छा है, खूब पढ़ जायेगी। अब इसे हम लोग संघ में ही रखेंगे, घर नहीं भेजेंगे।"

इन बातों को सुनकर मनोवती खुश हो जाती थी। एक दिन मेरे साथ आचार्य शिवसागर महाराज के पास पहुँचकर उसने नारियल चढ़ाकर दीक्षा के लिए प्रार्थना की। महाराज जी ने कहा—

"अभी तुम आई हो, संघ में रहो, कुछ दिनों में दीक्षा भी मिल जायेगी।"

किन्तु माँ मोहिनी घबराने लगीं, उन्होंने कहा—

"यदि यह वापस घर नहीं चलेगी तो मुझे घर में रहना भी मुश्किल हो जायेगा। इसके पिता बहुत उपद्रव करेंगे।"

तब सभी माताजी ने मनोवती को समझा-बुझाकर शांत कर दिया।

व्रती जीवन का प्रारंभ —

एक दिन मैंने केशलोंच किया। मोहिनी देवी ने अपनी पुत्री के अर्थात् मेरे केशलोंच पहली बार देखे थे। उनके हृदय में वैराग्य का स्रोत उमड़ आया। केशलोच के बाद वे श्रीफल लेकर आचार्यश्री के पास गईं और दो प्रतिमा के व्रत लेने के लिए प्रार्थना करने लगीं। मैंने कहा—

"आपको उस प्रान्त में शुद्ध घी नहीं मिलेगा पुनः रूखी रोटी कैसे खावोगी? तुम्हारा स्वास्थ्य तो बहुत कमजोर रहता है?"

उन्होंने कहा—"कोई बात नहीं, जैसा होगा सब निभ जायेगा।"

आचार्यश्री ने उस समय उन्हें पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत देकर दो प्रतिमाओं के व्रत दे दिये, सारी विधि बतला दी। वैसे ये स्वयं घर में प्रायःशुद्ध भोजन करती थीं, हाथ का पिसा हुआ आटा, शुद्ध घी और कुंये का जल मात्र इतने की ही कमी थी। दोनों समय सामायिक भी करती थीं और प्रातः नित्य ही शुद्ध वस्त्र पहनकर शुद्ध धुले अष्टद्रव्य से भगवान् का पूजन करती थीं, स्वयं स्वाध्याय करती थीं और महिलाओं की सभा में भी शास्त्र बाँचकर सुनाती थीं।

अब इनका जीवन व्रतिक बन चुका था। ये मन में तो यही सोच रही थीं कि—

"भगवन्! कब ऐसा दिन आयेगा कि जिस दिन मैं केशलोंच करके घर-कुटुम्ब, पति, पुत्र-पुत्रियों का मोह छोड़ करके दीक्षा लेकर संघ में रहूँगी.....?"

इसी प्रसंग में मनोवती ने भी ब्रह्मचर्यव्रत के लिए आग्रह किया किन्तु माँ ने कहा—"अभी मैं तुम्हें व्रत नहीं दिला सकती।" माँ की आज्ञा न होने से आचार्य महाराज ने भी टाल दिया।

यहाँ आदिमती माताजी की कमर में वायु प्रकोप हो जाने से वे उठने-बैठने में बहुत ही परेशान थीं। मैं स्वयं अपने हाथ से उनकी वैयावृत्ति करती रहती थी, संघ की अन्य आर्यिका जिनमती जी, क्षुल्लिका श्रेयांसमतीजी भी उनकी वैयावृत्ति में लगी रहती थीं। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर भी मैं इनकी अस्वस्थता के कारण प्रतिष्ठा के पांडाल में कम ही जा पाती थी। मैं वैयावृत्ति को ही बहुत बड़ा धर्म समझती थी। ऐसे प्रसंग पर माँ मोहिनी भी समयोचित वैयावृत्ति में पीछे नहीं रही थीं।

इस समय मेरे पास में कोई ब्रह्मचारिणी न होने से सारी वैयावृत्ति आदि मुझे ही संभालना पड़ती थी। तभी एक दिन आर्यिका सिद्धमती माताजी ने मोहिनी जी से कहा—

"ये आपकी पुत्री जब वीरमती क्षुल्लिका थीं, संघ में आईं, आचार्यश्री वीरसागरजी महाराज ने भी इनसे कहा था कि—

"तुम कुछ दिन सोनुबाई और कु. प्रभावती को ब्रह्मचारिणी अवस्था में ही रखो। ये दोनों कुछ दिनों तक संघ की और तुम्हारी सेवा करें, आहार देवें और गुरुओं की विनय करें, पश्चात् इन्हें दीक्षा दिलाना।"

किन्तु ये नहीं मानीं और झट अपने साथ ही कु. प्रभावती को क्षुल्लिका दीक्षा दिला दी। कुछ दिन बाद ही ब्र. सोनुबाई को भी आर्यिका पद्मावती बना दिया। अभी एक वर्ष पूर्व ही यह ब्र. अंगूरी संघ में आई थी, झट से इसे भी माताजी बना दिया और ब्र. रतनीबाई को भी क्षुल्लिका दीक्षा दिला दी। तुम्हीं सोचो, भला इन्हें इतनी जल्दी क्या रहती है? हम सभी यहाँ जितनी भी आर्यिकायें हैं, सबने संघ में कई-कई वर्षों रहकर सेवा की है? आर्यिकाओं की वैयावृत्ति की है और चौका बनाकर खूब आहार दिया है। बाद में खूब अभ्यास हो जाने के बाद ही दीक्षा ली है।.....देखो न! अंगूरी को कुछ अभ्यास नहीं था अतः दीक्षा लेते ही बीमार रहने लगी.....।"

यह सब सुनकर माँ मोहिनी ने आकर एकांत में मुझसे सारी बातें सुना दीं और कुछ समझाना शुरू किया। तब मैं बोली—

"बात यह है कि जिसने घर छोड़ा है, मुझे लगता है दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करे। अपनी वैयावृत्ति और व्यवस्था के लिए भला मैं उसे क्यों ब्रह्मचारिणी वेष में रहने दूँ? मैं अपने भाग्य पर भरोसा रखती हूँ। मेरा भाग्य होगा तो ये आर्यिका बनकर भी मेरी सेवा करेंगी तथा गृहस्थ लोग भी करेंगे और भाग्य नहीं होगा तो ये ब्रह्मचारिणी रहकर भी नहीं करेंगी.....।"

ऐसा उत्तर सुनकर और मेरी निःस्पृहता देखकर माँ मोहिनी चुप हो गईं।

यात्रा के प्रस्थान की चर्चा —

एक दिन मोहिनी जी ने सुना। मैं अपनी शिष्या जिनमती के साथ कुछ परामर्श कर रही थी। जिनमती ने आज तक सम्मेदशिखर जी की यात्रा नहीं की थी अतः वह मुझसे शिखर जी यात्रा हेतु चलने के लिए प्रार्थना कर रही थी। मैं कह रही थी—

"हाँ! कई बार ब्र. सुगनचन्द जी ने भी कहा है कि मैं आपको सम्मेदशिखर की यात्रा कराना चाहता हूँ और सेठ हीरालाल जी निवाई वालों ने भी कई बार कहा है कि "माताजी! आपकी शिखर जी की यात्रा की व्यवस्था जैसी चाहो, वैसी मैं करने को तैयार हूँ।"

किन्तु गर्मी आ रही है चातुर्मास के बाद ही यात्रा के लिए प्रस्थान किया जा सकेगा। इसी मध्य शिखर जी की वन्दना होने तक मैंने चावल का त्याग कर दिया था, मैं मात्र एक अन्न गेहूँ ही आहार में लेती थी। मेरा इतना कमजोर शरीर और इतना अधिक त्याग देखकर माँ मोहिनी बहुत घबराने लगती थीं।

मोहिनीजी को यहाँ संघ के सानिध्य में रहते हुए लगभग एक महीना व्यतीत हो रहा था, अब वे घर जाने के लिए सोच रही थीं कि एक दिन सहसा घर से तार आया कि ताऊजी का स्वर्गवास हो गया है। तभी मोहिनी जी ने ब्र. सुगनचंद के साथ घर जाने की तैयारी की।

मनोवती का संघ में रहना —

अब मनोवती ने जिद पकड़ ली—

"चाहे जो हो जाये, अब मैं घर नहीं जा सकती। कितनी मुश्किल से मुझे माताजी मिली हैं, अब मैं इन्हें नहीं छोड़ने की, मैं तो यहीं रहूँगी।"

तब ब्र. श्रीलालजी ने माता मोहिनीजी को जैसे-तैसे समझाकर उनसे स्वीकृति दिलाकर कु. मनोवती को एक वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत आचार्य शिवसागरजी से दिला दिया और एक वर्ष तक उसे संघ में रहने की स्वीकृति दिला दी तथा मोहिनी जी को सान्त्वना देकर घर भेज दिया।

मोहिनीजी के पास लगभग २ वर्ष की छोटी सी कन्या थी। उसका नाम मैंने "त्रिशला" रखा था। मोहिनीजी अपनी इस कन्या को और रवीन्द्र कुमार को साथ लेकर ब्रह्मचारी जी के साथ अपने घर वापस चली गईं। सारे पुत्र-पुत्रियाँ माँ को देखते ही उनसे चिपट गये और कहने लगे—

"माँ! तुम हमें छोड़कर माताजी के पास क्यों चली गयी थीं? बताओ, हम माताजी के दर्शन कैसे करेंगे?"

इधर जब पिता ने मनोवती को नहीं देखा, तो उनका पारा गरम हो गया और वे गुस्से से बोले—

"अरे! मेरी बिटिया मनोवती कहाँ है? क्या तुम उसे ज्ञानमती के पास छोड़ आईं?"

मोहिनीजी ने शांति से जवाब दिया—

"वह पाँच वर्ष से रोते-रोते बीमार हो गयी थी, आखिर मैं कब तक अपना कलेजा पत्थर का रखती? अब मैं क्या करूँ?.....संघ की आर्यिकाओं ने मुझे खूब समझाया और उसे एक वर्ष तक के लिए संघ में रख लिया है। जब चाहे आप संघ में चले जाना, सब साधु-साध्वियों के और ज्ञानमती माताजी के दर्शन भी कर आना तथा जैसे प्रकाश को वापस बुला लिया था, वैसे ही उसे भी ले आना.....।"

वातावरण शान्त हो गया पुनः समय पाकर सबने संघ के समाचार सुने। माँ ने दो प्रतिमा के व्रत ले लिये हैं, ऐसा मालूम होते ही घर में सबको दुःख हुआ। पिता ने सोचा—

"अब ये भी एक न एक दिन दीक्षा ले लेंगी ऐसा ही दिखता है अतः इन्हें भी संघ में नहीं भेजना चाहिए।"

पुत्र कैलाशचन्द, पुत्रवधू चन्दा आदि भी सोचने लगे—

"क्या माँ भी कभी हम लोगों को छोड़कर दीक्षा ले लेंगी, आखिर बात क्या है?"

सभी लोग तरह-तरह की आशंका करने लगे, तब माँ ने समझाया—

"देखो ! चिंता करने की कोई बात नहीं है, अभी तो मैंने मात्र दो प्रतिमा के ही व्रत लिये हैं। छठी प्रतिमा तक लेकर भी गृहस्थाश्रम में रहा जाता है, कोई बाधा नहीं आती है।"

शोध चतुराई —

अब माँ कुएँ का ही जल पीती थीं, बाहर का घी नहीं खाती थीं, हाथ का पिसा आटा यदि कदाचित् न मिल सके तो खिचड़ी बनाकर ही खा लेती थीं। इनकी शोध चतुराई में पिताजी कभी-कभी चिढ़ जाते थे और हल्ला मचाना शुरू कर देते थे। कभी-कभी तो उनका चौका छू देते, तब ये पुनः दूसरा चौका बनाकर भोजन करती थीं। ये माँ मोहिनी अपने त्याग में बहुत ही दृढ़ थीं और आजकल की अपेक्षा बहुत ही बढ़-चढ़कर शोध किया करती थीं। इनको क्रियाकोष में बहुत प्रेम था, स्वाध्याय भी अच्छा था, सभी बातों का ज्ञान था। सभी लड़के और लड़कियाँ इनकी आज्ञा के अनुरूप ही शुद्ध दूध, जल आदि के लाने में लगे रहते थे।

इन लोगों के उधर कुएँ से जल भरने की प्रथा नहीं थी, प्रायः कहार नौकर-नौकरानी ही पानी भरते थे। उस समय इनके लिए पुत्र या पुत्रियाँ पानी भरने जाते थे तब पिताजी को बहुत ही खेद होता था। ऐसा देखकर पिता ने घर में "हैण्डपम्प" लगवा दिया, उसमें किरमिच का वाल डलवा दिया और बोले —

"तुम अब इसका पानी अपने भोजन के काम में ले लो। यह धरती से आया हुआ पानी बिल्कुल शुद्ध है।"

माँ मोहिनी ने संघ में पत्र लिखा —

"क्या मैं हैण्डपम्प का पानी पी सकती हूँ?"

मैंने उत्तर दिया — "नहीं" चूँकि उस समय संघ में कोई व्रतिक हैण्डपम्प का पानी नहीं पीते थे।

तब पिताजी के अत्यधिक आग्रह से भी मोहिनी जी ने उस हैण्डपम्प का जल नहीं पिया। आजकल तो बहुत से सप्तम प्रतिमाधारी भी हैण्डपम्प का जल पीते हैं। आचार्यों ने छूट कर दी है क्योंकि उसे शुद्ध समझते हैं। उस समय माता मोहिनी ने अपने प्रतिमा के व्रतों को भी बहुत ही विशेषता से पाला था।

संघ में रहने की प्रेरणा—

एक बार मुनिश्री अजितसागर जी कुछ छोटी सी बात के लिए संघ से अलग होने को तैयार हो गये। उन्होंने यह बात मुझे बताई, तब मैंने उन्हें समझाने का पूरा-पूरा प्रयास किया और संघ में ही रहने का अनुरोध किया। मेरा कहना यही था कि अब तो मैं सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए जा रही हूँ, पता नहीं कितने वर्ष बाद संघ में आकर मिलूँ? आप तो आचार्य संघ में ही रहकर धर्माराधना करते हुए संघ का गौरव बढ़ावें, संघ के साधु-साध्वियों को अध्ययन करावें और आर्ष परंपरा को अक्षुण्ण बनावें। मैं सोचा करती थी कि मूलाचार में लिखा है —

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो।।

तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य इन सबमें परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किया गया है।

सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी।।

गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जित करना — इन कार्यों में जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला है और बोलने में भी स्वच्छन्द रुचि वाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे।

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।
भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि।।

स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति में गुरु की निन्दा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढ़ता, आकुलता,

कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं।

कंटयखण्णुयपडिणियसाणगोणादिसप्पमेच्छेहिं।
पावइ आदविवत्तो विसेण व विसूइया चेव।।

ठूँठ, विरोधीजन, कुत्ता, गौ आदि तथा सर्प और म्लेच्छ जनों से अथवा विष से और अजीर्ण आदि रोगों से अपने आप में विपत्ति को प्राप्त कर लेता है।

गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो।
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो।।

जो गौरव से सहित है, आहार में लम्पट है, मायाचारी है, आलसी है, लोभी है और धर्म से रहित है, ऐसा शिथिल मुनि संघ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता है।

आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा।।

एकाकी रहने वाले के, आज्ञा का उलंघन, अनवस्था, मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश और संयम की विराधना ये पाँच पापस्थान माने गये हैं।

ये अजितसागरजी महाराज ब्र. राजमल के रूप में बचपन से संघ में रह रहे थे। आचार्य शिरोमणि श्रीवीरसागर जी महाराज को गुरु बनाया। उनके संरक्षण में बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर चुके थे, शास्त्रज्ञान भी अच्छा था और अब आचार्य शिवसागरजी से मुनिदीक्षा ग्रहण कर चुके थे, अतः संघ परम्परा के निर्वाह में कुशल थे। इसलिए मैंने कहा—"महाराजजी! आप संघ से अलग हो जायेंगे तो मूलाचार ग्रंथ में कथित जो दोष हैं वे भले ही आप में नहीं आ सकेंगे लेकिन फिर भी आज्ञालोप, अनवस्था, मिथ्यात्व-आराधना, आत्मनाश और संयमविराधना इन पाँच दोषों में से 'अनवस्था' दोष तो आ ही जावेगा अर्थात् अन्य मुनि भी आपकी देखा-देखी एकलविहारी होने लगेंगे। यह उन दिनों की घटना है जब आचार्यवर्य श्रीवीरसागरजी के और शिवसागर जी के संघ के कोई भी मुनि 'एकल-विहारी' नहीं हुए थे।

संघ के अन्य साधु भी मुनिश्री अजितसागर जी को संघ में रोकने के प्रयास में लगे हुए थे। कई बार मुनिश्री श्रुतसागरजी एवं मुनिश्री जयसागरजी ने मुझसे कहा—

"माताजी! हम लोग तो पुरुषार्थ कर चुके हैं अब आपके पुरुषार्थ से ही इन्हें संघ में रोका जा सकता है.....इत्यादि।"

जब मेरे जाने का निश्चित हो गया तब मैंने पुनः मुनिश्री अजितसागर से अनुनय-विनय करके संघ में रहने का अनुरोध किया क्योंकि अब मैं अनुशासन तो नहीं कर सकती थी, मात्र विनय से ही समझाने का प्रयास कर रही थी। मुनिपद आर्यिका से महान है, अपना शिष्य हो चाहे पुत्र, मुनिदीक्षा लेने के बाद बड़ी से बड़ी भी आर्यिकायें उन्हें उसी क्षण -नमोऽस्तु' करती हैं अतः मैं भी बहुत ही विनय से उन्हें नमस्कार करती थी। जब मुनिश्री ने किसी की भी नहीं मानी और जाने का विचार नहीं बदला तब मैंने कहा—

"महाराजजी! यदि आप संघ से पृथक् विहार कर जायेंगे तो पुनः संघ में वापस न आने तक मैं अपने स्वास्थ्य के लिए औषधिस्वरूप ऐसे तक्र (मट्ठा) का ही त्याग कर दूँगी।" क्योंकि साधुओं के पास आहार के सिवाय भला अन्य वस्तु है ही क्या?

इतना सुनकर मुनिराज बोले—

"माताजी! मैं वापस आने के लिए नहीं जाऊँगा, जाकर पुनः आने की क्या बात?.....।"

तब मैंने कहा—"महाराजजी! तब तो जीवन भर के लिए ही मेरा तक्र का त्याग हो जावेगा.....।"

बात आई गई हो गई और सम्मेदशिखर यात्रा हेतु मेरे विहार का निर्णय आ गया।

मेरी स्मृतियाँ

तृतीय खण्ड

३८

श्री सम्मेदशिखर यात्रा के लिए विहार —

सानंद लाडनूं का चातुर्मास संपन्न होने के बाद संघ का विहार होना निश्चित हो गया। मैंने आचार्यश्री शिवसागरजी से सम्मेदशिखर यात्रा जाने के लिए आज्ञा माँगी किन्तु आचार्यश्री एकदम उठकर खड़े हो गये और बोले–

"चलो, मैं भी साथ चलता हूँ.....।"

मैं चुप हो गई, संघ के साथ विहार कर 'नावा' तक आ गई। अब यहाँ पुनः मैंने मुनिश्री श्रुतसागरजी से निवेदन किया—

"महाराजजी! आप मुझे जैसे–तैसे भी सम्मेदशिखर यात्रा के लिए आचार्य श्री से आज्ञा दिला दीजिये।

मुनिश्री ने भी आचार्य श्री से निवेदन किया पुनः मैंने प्रार्थना की, तब आचार्य श्री ने स्वीकृति दे दी। जब मैं यात्रा के लिए निकलते समय आचार्यश्री का आशीर्वाद लेने गई और आचार्यश्री के चरण स्पर्श किये तब मेरी आँखों में आँसू आ गये, उस समय का दृश्य इतना रोमांचकारी बन गया कि और तो क्या आचार्यश्री के भी नेत्र सजल हो आये। उस समय माँगीलाल पांड्या, जो कि वयोवृद्ध थे, वो बोले—

"महाराजजी! आपको ऐसा करना शोभा नहीं देता.....।"

महाराजजी बोले—

"भैया! तुम जब अपनी पुत्री को विदा करते हो तो कैसा लगता है? यह भी हमारा परिवार है, इन्हें विदा करते हुए आज हमारा दिल टूट रहा है.....।"

आचार्यश्री का मंगल आशीर्वाद लेकर हम सभी आर्यिकाओं ने मुनिश्री श्रुतसागर जी व मुनिश्री अजितसागर जी के दर्शन किये। उन्होंने भी खिन्नमना होते हुए विदाई दी। हम सभी ने सर्व आर्यिकाओं से मिल कर यथायोग्य वंदामि प्रतिवंदामि कर नावा के जिनमंदिर का दर्शन कर वहाँ से फुलेरा की ओर विहार कर दिया। लाडनूँ व नावा के अनेक श्रावक–श्राविकायें कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए आये।

यहाँ से फुलेरा आदि होते हुए मैं जयपुर आ गई। मेरे साथ में आर्यिका पद्मावती, आर्यिका जिनमती, आर्यिका आदिमती और क्षुल्लिका श्रेयांसमती जी ये चार साध्वियाँ थीं। आ. चंद्रमती जी चलने में कमजोर थीं अतः ये संघ में ही रह गई थीं।

ब्र. सुगनचंदजी प्रमुख थे, उनके साथ उनकी बहन ब्र. गल्कूबाई थीं और ब्र. मूलीबाई थीं। कु. मनोवती के साथ एक ब्र. भंवरीबाई थीं। जयपुर में सरदारमल श्रावक संघ के साथ जुड़ गये। ये सेठ रामचंद्रजी कोठारी की प्रेरणा से आये थे।

दादी हो कि बाबा? —

अतिशय क्षेत्र महावीर जी के रास्ते में एक मजेदार घटना हुई। मार्ग में विहार करते हुए मेरे साथ चार साध्वियाँ चलती थीं। तब गूजानी महिलायें पूछने लगतीं—"आप दादी हो कि बाबा?"

इस प्रश्न से मेरे साथ चलती हुई जिनमती, आदिमती आर्यिकायें खूब हँसतीं। उन महिलाओं को हम लोगों को देखकर यह भ्रम होता था कि हम लोगों के शिर में केश नहीं हैं और सफेद साड़ी महिलाओं जैसी है इसलिए ये गूजरनी ऐसा प्रश्न कर देती थीं।

एक दिन सायंकाल में सूर्य डूबते–डूबते मेरे साथ आदिमती जी धीरे–धीरे चल रही थीं अतः हम दोनों पीछे रह गईं। बाकी तीन साध्वियाँ और साथ में ब्र. सरदारमल आगे बढ़ गये, जिस गाँव में रात्रि में ठहरना था

वहाँ पहुँच गये। निकट एक गाँव में प्रवेश कर मैंने पूछा—यह गाँव कौन सा है?

उसका नाम.....कुछ बताया पुनः जहाँ पहुँचना था, उसका नाम पूछने पर मालूम पड़ा कि वह गाँव एक मील आगे है, मैंने देखा—

अब वहाँ पहुँचना शक्य नहीं, अतः इसी गाँव में एक चबूतरे पर बैठ गई। गाँव के कुछ लोग इकट्ठे हो गये, उन्होंने पूछा मैंने कहा—"आज रात्रि में यहीं ठहर कर सुबह विहार कर आगे जाऊँगी।"

वहाँ के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने निवेदन कर अपने घर में अलग एक कमरे में ठहरा दिया, वह गोबर से लिपा-पुता साफ था। इसके बाद उसके घर की महिलाएँ आ गईं और वे शंकास्पद दृष्टि से देखकर बार-बार पूछने लगीं—"तुम लोग दादी हो या बाबा?"

हम दोनों प्रतिक्रमण कर रही थीं। एक बार समझा दिया फिर बार-बार उनके प्रश्न के उत्तर में सिरपच्ची समझ मौन ले लिया। अब वे महिलायें आपस में खुसुर-फुसुर करने लगीं—

"हाँ! देखो-देखो, ये कोई ठग दिखते हैं, भेष बना-बना कर घूम रहे हैं.....।"

महिला ने अपने पति से कहा—"इन्हें घर से निकाल दो.....।"

आपस में पति-पत्नी झगड़ने लगे। मैंने देखा पुरुष तो कहता है—"ये साधुनी हैं ऐसी-ऐसी महावीरजी में बहुत बार मैंने देखी हैं।" किंतु महिला कहती थी कि—"ये कोई ठग पुरुष हैं।"

अब मैंने कुछ सोचकर कहा कि—

"हम दोनों यहाँ घर में न रहकर सामने जो खेत दिख रहा है वहीं पर रात्रि में रहेंगी।"

ऐसा सुनकर पुरुष बहुत घबराया और बोला—

"ना ना, ऐसा नहीं होगा। वहाँ खुले में ठंडी बहुत है।"

किसी ने कहा—"कंबल दे दो।" मैंने कहा कि "मैं घास के सिवाय कुछ भी नहीं लूँगी। ऐसे ही एक साड़ी में ही सर्दी में भी रहती हूँ।

अतः कुछ लोगों ने बाहर नहीं जाने दिया। तब मैंने कोठरी के अंदर से सांकल लगा लिया और हम दोनों सामायिक पर बैठ गईं। उधर से ब्र. सरदारमल जी हल्ला मचाते हुए, ढूँढते हुए आ गये और कहने लगे—

"माताजी! कहाँ हैं? कहाँ हैं?" उनसे उन महिलाओं ने पूछा—

"क्या ये तुम्हारी माँ हैं?"

सरदारमल ने समझाया—"ये साध्वियाँ हैं, जगत् की माता हैं।" फिर प्रश्नोत्तर में ब्र. जी ने समझाया कि "ये केशों को उखाड़कर केशलोच करती हैं, महिलाएं हैं, इन्हें बड़े-बड़े करोड़पति भी पूजते हैं। ये जमीन पर मात्र चावल की घास बिछाकर ही सोती हैं, भयंकर ठंड में भी कुछ नहीं लेती हैं। यदि कोई धर्मशाला या मकान आदि में ठहरा दे तो ठीक, अन्यथा ये खुले में भी सो जाती हैं। सुनकर वे महिलाएं बहुत प्रभावित हुईं और जो 'दादी बाबा' के भ्रम थे, वे दूर हो गये, अब वे पश्चाताप करने लगीं। रात्रि में मैंने इन लोगों को अंदर नहीं आने दिया। थकान भी थी, विश्राम चाहिए था। प्रातः विहार के समय उन सबको थोड़ा सा धर्मोपदेश सुनाकर आगे गाँव के लिए विहार कर गई किन्तु उन गूजरनी महिलाओं के "दादी हो कि बाबा?" प्रश्न वाक्य आज भी स्मृतिपथ में आ जाते हैं और विचार आता है कि—

"देखो! आज इधर-उधर भेष बदलकर अनेक ठग फिरते रहते हैं अतः बेचारी भोली महिलाएँ सहसा अपरिचित भेष को देखकर डरने लगती हैं किन्तु जब उन्हें वास्तविकता मालूम पड़ती है तो कितनी भक्ति प्रदर्शित करती हैं।"

कई महिलाओं ने, पुरुषों ने प्रातः दूध लेने के लिए बहुत आग्रह किया तब सरदारमल ने समझाया—

ये माताजी १० बजे के समय विधिवत् पड़गाहन होने पर अपने 'करपात्र' में ही दूध, रोटी, दाल, चावल आदि भोजन लेती हैं, बार-बार नहीं लेती हैं, इनकी चर्या बहुत ही कठोर है। सुनकर वे सब ग्रामीण लोग आश्चर्य करते हुए समझने लगे कि 'आज मेरे गाँव में कोई निधि ही आ गई थी, हम लोग धन्य हो गये।'

जिस घर के कोठे में मैं सोयी थी उस व्यक्ति ने कहा—"मेरा घर मंदिर बन गया, सफल हो गया, अब मेरे घर में कोई कमी नहीं रहेगी.....।"

इसी प्रकार विहार करते हुए पद्मपुरी में भगवान् पद्मप्रभु के दर्शन करके आगे बढ़ते हुए हम लोग महावीर जी आ गये।

क्षेत्रों के दर्शन —

भगवान् महावीर की अतिशयपूर्ण प्रतिमा के दर्शन किये। यहाँ ब्र. श्रीलालजी ने अच्छी व्यवस्था की पुनः शांतिवीर नगर के मंदिर के, आश्रम के, मंदिरों के, दर्शन कर वहाँ से विहार कर कुछ दिन बाद मथुरा आ गई। मथुरा में जंबूस्वामी के चरणों की वंदना की। यहाँ ३-४ दिन रहने का विचार था। इसी बीच सेठ हीरालालजी निवाई वाले आ गये। इन्होंने लाडनूं में अनेक बार कहा था कि—

"माताजी! आप शिखर जी की यात्रा कीजिये, पूरी व्यवस्था मेरी रहेगी, ब्रह्मचारी सुगनचंदजी आपके साथ में रहेंगे।"

इन शब्दों से मैंने यही अर्थ निकाला था कि चौके की व्यवस्था ब्र. सुगनचंद करेंगे और उनके लिए अर्थ की व्यवस्था शिखर जी पहुँचने तक हीरालालजी करेंगे।" "मैं साध्वी हूँ अतः इन प्रपंचों में क्यों पड़ूँ"? ऐसा सोचकर मैंने कुछ भी विशेष नहीं पूछा था। अब यहाँ आकर उन्होंने ब्र. जी से कुछ वार्तालाप किया। उसके बाद ब्र. जी ने मेरे पास आकर कहा—"माताजी! अभी तक तो हीरालालजी ने कहा था, शिखर जी पहुँचने तक पूरा खर्चा मेरा रहेगा, आज वे कह रहे हैं कि मैं कुछ नहीं करूँगा।'

मैंने पूछा—"क्यों?" तब ब्र. जी ने कोई छोटी सी बात बतायी। मुझे सुनकर आश्चर्य हुआ कि यह गलती तो ना कुछ है, सुधारी जा सकती है। फिर भी मैंने सोचा—"अब पुनः इनसे क्या कहना?"

"मुझे भी अपने भाग्य पर भरोसा है। क्या दीक्षा लेते समय मैंने किसी का अवलंबन लिया था? पुनः भला आहार की व्यवस्था में अपने मुख से किसी को कुछ क्यों कहना?"

हीरालालजी ने मुझसे कोई बात नहीं की, बोले—"मैं जा रहा हूँ।" मैंने भी खुशी-खुशी आशीर्वाद दे दिया, वे चले गये, उसके बाद मैंने मंदिरजी में ब्र. सुगनचंद और ब्रह्मचारिणी कु. मनोवती को बुलाया तथा पूछा—

"अब आप लोगों ने सम्मेदशिखर की यात्रा कराने के लिए क्या सोचा? मेरी समझ में तो अब यात्रा स्थगित कर दी जाये, धीरे-धीरे इस गाँव से उस गाँव विहार करते हुए कुछ दिनों में यात्रा हो जायेगी।"

ब्र. जी ने कहा—"माताजी! हम लोग आपको यात्रा करायेंगे। हम दोनों लोग अपने-अपने चौके की व्यवस्था संभालेंगे और चाहिए क्या? हाँ! आप इतनी आज्ञा दे दो कि इस गाँव से अगले गाँव तक हम लोग बैलगाड़ी की व्यवस्था श्रावकों से करा लें।"

मैंने कहा-ठीक है, साथ ही तुम दोनों लोग यह नियम लो कि—

"शिखर जी पहुँचने तक मार्ग में किसी श्रावक से पैसे नहीं माँगना और यदि कोई देवे भी, तो नहीं लेना, कह देना मेरा नियम है किसी से रुपये-पैसे नहीं लेना है।"

उसी समय खुशी-खुशी ब्र. सुगनचंद ने और कु. मनोवती ने यह नियम ले लिया। तब हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरा कहना यही था कि जैसे कोई साधु यात्रा करने के निमित्त से श्रावकों से रुपये पैसे की माँग करते हैं या उनके संघ के ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी याचना करते देखे जाते हैं, वैसा मुझे इष्ट नहीं है, भले ही यात्रा न हो

अतः मेरी आज्ञा के अनुसार इन ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों ने नियम कर लिया। इसके बाद मनोवती ने मुझसे आज्ञा लेकर अपने घर एक पत्र भाई प्रकाशचंद को आने के लिए डाल दिया।

मथुरा क्षेत्र —

यह मथुरा पवित्रतीर्थ माना गया है —

महुराये अहिछित्ते, वीरं पासं तहेव वंदामि।
जंबुमुणिंदो वंदे, णिव्वुइं पत्तोवि जंबुवणगहणे।।

मथुरा के भगवान् महावीर और अहिच्छत्र के भगवान् पार्श्वनाथ की वंदना करता हूँ तथा महान जंबूवन से निर्वाण प्राप्त करने वाले जंबू मुनिराज की वंदना करता हूँ।

मथुरा शूरसेन जनपद की राजधानी थी, शूरसेन जनपद में महावीर भगवान् का समवसरण आया था और उनके उपदेशों को सुनकर नगरसेठ जिनदत्त के पुत्र अर्हदास, मथुरा के नरेश उदितोदय, उनके मंत्री, राज्याधिकारी और अनेक नागरिक भगवान् महावीर के धर्मानुयायी बन गये[१]।

अनुबद्ध केवलियों में श्रीगौतमस्वामी के मोक्ष जाने के बाद उसी दिन श्री सुधर्माचार्य को केवलज्ञान हुआ और इनके मुक्ति प्राप्त करने के दिन ही श्रीजंबूस्वामी को केवलज्ञान हुआ था। ये जंबूस्वामी यहाँ मथुरा के जंबूवन से मोक्ष गये हैं। प्राचीन काल में मथुरा में चौरासी वन थे। इनमें १२ तो बड़े थे और ७२ छोटे थे। ये मथुरा के चारों ओर दूर-दूर तक फैले हुए थे। इन वनों में से कुछ वनों के नाम पर आज नगर बस गये हैं। जैसे वृंदावन, विधिवन, महावन, मधुवन, तालवन आदि। बहुत से वन समय के प्रभाव से नष्ट हो गये हैं और उनके स्थान पर खेती होने लगी अथवा गाँव-नगर बस गये। इन चौरासी वनों में एक जंबूवन भी था, वहाँ जामुन के वृक्षों की बहुलता थी, वहाँ से जंबूस्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया था।[२]

यहाँ चौरासी नामक प्राचीन स्थान पर एक मंदिर है। इस मंदिर में नव वेदियाँ और एक चरण युगल है। प्रतिमाओं की कुल संख्या ६८ है। इनमें २० पाषाणप्रतिमायें और शेष धातुप्रतिमाएं हैं। चौरासी का यह मंदिर दिल्ली-मथुरा 'बाईपास' तथा मथुरा-गोवर्धन सड़क के किनारे बना हुआ है। मैं यहीं धर्मशाला में ठहरी थी।

मथुरा शहर में चार दिगम्बर जैन मंदिर और एक चैत्यालय है। एक दिगम्बर जैन मंदिर वृन्दावन में है, जो मथुरा शहर से लगभग चार मील है। यह हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ है। नारायण श्रीकृष्ण की लीला भूमि रहा है।

यहाँ ४-५ दिन रहकर मैंने जंबूस्वामी के चरणों की वंदना करके स्तुति की। मुझे जंबूस्वामी के चरित से बहुत ही प्रेम रहा था, वह यहाँ द्विगुणित हो गया। मुझे घर की एक बात स्मरण हो गई कि एक दिन रात्रि में दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में मैं जो जंबूस्वामी चरित मंदिर से लाई थी, उसे पढ़ने बैठ गई, विषय इतना अच्छा लगा कि मैं पढ़ती ही रही। पिताजी बार-बार जगकर बोलते —

"बेटी! सो जावो, बहुत रात हो गई है, कल पढ़ लेना....।"

माँ ने भी कई बार जगकर कहा फिर भी मैं यही कहती गई —

"हाँ, हाँ, अभी सो रही हूँ अभी जा रही हूँ।" और पढ़ती ही गई, अंत में रात्रि के लगभग १-२ बजे इस चरित को पढ़कर ही सोयी थी, इसमें जंबूस्वामी के वैराग्य का वर्णन कितना सुन्दर है कि दीक्षा लेने के लिए उत्सुक जंबूस्वामी का माता-पिता ने आग्रह करके शाम को ही चार कन्याओं से विवाह कर दिया जबकि जंबूस्वामी कह चुके थे कि मैं प्रातः काल निश्चित ही दीक्षा ले लूँगा। माता-पिता ने समझा था कि विवाह होने के बाद रात्रि में निश्चित ही यह स्त्रियों के मोहपाश में बंध जायेगा किन्तु विवाह के बाद इन पत्नियों से

---

१. व्रज का सांस्कृतिक इतिहास— श्री प्रभुदयाल मित्तल, पृ. ३४५। २. भारत के दिगंबर जैन तीर्थ, भाग १, पृ. ३६।

जंबूस्वामी की रात्रि भर जो राग-विराग की चर्चा चलती रही, वह रोमांचकारी है। आखिर राग पर विराग ने विजय पाई और जंबूस्वामी के साथ माता-पिता, पत्नी और पाँच सौ चोरों ने भी दीक्षा ले ली।"

मेरे लिए यह चरित ऐसा ही हुआ था जैसे कि अग्नि को अधिक संधुक्षित करने के लिए हवा। पहले पद्मनंदिपंचविंशतिका से मेरे हृदय में वैराग्य का अंकुर तो फूट ही चुका था पुनः इस चरित के पढ़ने से वैराग्य बढ़ता ही गया था। यहाँ भी मैंने जंबूस्वामी से प्रार्थना की—

"भगवन्! मुझे सम्मेदशिखर आदि तीर्थक्षेत्रों की वन्दना की इच्छा है किन्तु जब तब रास्ते में चलने से स्वास्थ्य गड़बड़ हो जाता है, आपकी भक्ति के प्रसाद से यात्रा सम्पन्न हो.....।"

वहाँ से निकलकर सम्मेदशिखर पहुँचने तक मेरा स्वास्थ्य सामान्य रहा। अब तक जैसे चलने से संग्रहणी बढ़ जाती थी सो नहीं हुआ अतः मैं निर्विघ्न सम्मेदशिखर आ गई थी। इसी से मथुरा तीर्थ और जंबूस्वामी के प्रति मेरी श्रद्धा अधिक बढ़ गई। इसी श्रद्धावश मैंने श्रवणबेलगोल में स्तुतिरचनाओं में एक जंबूस्वामी की भी संस्कृत में स्तुति बनाई थी, जो छप चुकी है पुनः सम्यग्ज्ञान में इनका चरित भी संस्कृत में छपाया था।

प्रकाशचन्द का मथुरा आना—

उधर एक दिन घर में मनोवती का पत्र मिलता है। पहले पिताजी पढ़ते हैं पुनः सबको सुनाते हैं, उसमें विस्तार से लिखा हुआ था कि—

"पूज्य आर्यिका ज्ञानमती माताजी का संघ सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए विहार कर चुका है। संघ में आर्यिका पद्मावती जी, आर्यिका जिनमतीजी, आर्यिका आदिमतीजी, क्षुल्लिका श्रेयांसमतीजी, ऐसी चार साध्वियाँ हैं। ब्र. सुगनचन्दजी संघ की व्यवस्था में प्रमुख हैं। उनकी एक बहन ब्रह्मचारिणी भी साथ में हैं। एक महिला मूलीबाई और ब्र. भंवरीबाई भी साथ में हैं। जयपुर के एक श्रावक सरदारमलजी साथ में हैं। एक चौका ब्र. सुगनचन्दजी का है और एक मेरा है। हम लोग कल यहाँ मथुरा में पहुँचे हैं। संघ यहाँ से आगरा, फिरोजाबाद, मैनपुरी, कन्नौज, कानपुर, लखनऊ होते हुए अयोध्या पहुँचेगा। टिकैतनगर यद्यपि कुछ बाजू में है फिर भी मेरी इच्छा है कि संघ का पदार्पण टिकैतनगर अवश्य हो। संघ में मुझे कुछ असुविधाएँ हो जाती हैं, चूँकि सरदारमलजी माताजी के साथ चलते हैं अतः मैं चाहती हूँ कि यात्रा में भाई प्रकाशचन्द जी को आप भेज दें तो मुझे बहुत ही सुविधा रहेगी। माताजी ने सभी ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों को नियम दे दिया है कि शिखरजी पहुँचने तक रास्ते में कोई किसी श्रावक से पैसा या कोई वस्तु नहीं लेगा। कोई कुछ देना चाहे तो कह देना कि आप संघ में दो चार दिन रहकर स्वयं कुछ कर सकते हैं, हम लोग कुछ नहीं लेंगे। मात्र बैलगाड़ी की व्यवस्था इस गांव से अगले गाँव तक गाँव वालों से ही कराने की छूट कर दी है। इसलिए मेरी सारी व्यवस्था संभालने के लिए प्रकाश का आना आवश्यक है।"

साथ ही प्रकाशचन्द को भेजने के लिए एक तार भी आ गया है।

पत्र सुनने के बाद तथा तार भी देखकर माँ ने सोचा—"ये प्रकाश को क्या भेजेंगे? मैं कुछ न कुछ प्रयत्न कर भेजने का प्रयास करूँ।"

किन्तु हुआ इससे विपरीत, पिताजी बहुत ही प्रसन्न थे और बोले—

"देखो, कुछ नाश्ता-वास्ता बना दो। प्रकाश जल्दी चला जाये। बिटिया मनोवती को रास्ते में बहुत कष्ट होता होगा।"

माँ का हृदय गद्गद हो गया। पिताजी ने उसी समय प्रकाश को बुलाकर सारी बात समझा दी और बोले—"जाओ, कुछ दिन मनोवती के साथ व्यवस्था में भाग लेवो। बाद में व्यवस्था अच्छी हो जाने के बाद जल्दी से चले आना।"

साथ में रुपयों की व्यवस्था भी कर दी और बोले—"बेटा! अपने खेत का एक बोरी चावल लेते जाना।"

प्रकाशचन्द मथुरा आ गये, सारी बातें बताईं, सुनकर खुशी हुई। यहाँ से इन्होंने ब्र. मनोवती के चौके की व्यवस्था संभाली और मेरे साथ पैदल चलने लगे।

३९

आगरा—

मथुरा से निकल कर विहार करते हुए मैं आगरा पहुँची, वहाँ पर छीपीटोला वालों के आग्रह से छीपीटोला ही ठहरी। २-४ दिन में कुछ मंदिरों के दर्शन किये। यहाँ बाजार के बीच सभा में पांडाल बनाया गया था, वहाँ एक आर्यिका का केशलोच कराया। जैन जैनेत्तर बहुत प्रभावित हुए। उपदेश सुनकर आगरा के भिन्न-भिन्न जगह के लोगों ने बहुत आग्रह किया कि "माताजी! आप यहाँ कम से कम एक महीना ठहरें" किन्तु मेरा लक्ष्य यात्रा का बन चुका था अतः कहीं ठहरने का विचार ही नहीं था।

यहाँ आगरा में एक दिन एक विद्वान् महानुभाव बोले—

"माताजी! जब साधु-साध्वियाँ घर छोड़कर दीक्षा ले लेते हैं तो पुनः संघ क्यों इकट्ठा करते हैं? अरे! एक घर छोड़ा और दूसरा बसा लिया, यह भला कहाँ की बुद्धिमानी है?

मैंने कहा—पंडितजी! संघ बनाये बगैर मोक्षमार्ग भला कैसे चलेगा? देखो, संघ में शिष्यों का संग्रह करने के लिए और उन पर अनुग्रह करने के लिए श्रीकुंदकुंददेव ने भी कहा है—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य[१]।।२४८।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना और उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना, यह सब सरागचारित्री मनुष्यों की चर्या है। टीकाकार ने कहा है—"रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलानां शिष्याणां ग्रहणं स्वीकार-स्तेषामेव पोषणमशनपानादिचिंता।"

रत्नत्रय आराधना की शिक्षा को ग्रहण करने वाले ऐसे शिष्यों को संघ में रखना और उनके आहार आदि की चिंता करना, आदि ये सब आचार्यों के कर्तव्य हैं।

इस प्रवचनसार के प्रमाण को सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए पुनः उन्होंने और भी शंकाएँ कीं, जिनका समाधान आगमप्रमाण सहित मैंने दे दिया।

"यह गाथा मुझे क्षुल्लिका अवस्था से ही याद थी कि जब मैंने प्रवचनसार का स्वाध्याय किया था पुनः यही गाथा रैनवाल में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के समय जब चर्चा में आई तब से तो मेरे हृदय-पटल पर अंकित ही हो गई है। बात यह थी कि एक दिन मध्यान्ह में कुछ संघस्थ-साधु-साध्वियों के मध्य चर्चा चल रही थी कि मुनियों को श्रावकों के लिए भगवान की पूजा का उपदेश नहीं देना चाहिए क्योंकि पूजा की सामग्री तैयार करने में और पूजा करने में आरंभ होता है।"

इस विषय को क्षुल्लक चिदानन्दसागरजी अधिक खींच रहे थे चूँकि दीक्षा के पूर्व ये सुधारक विचाराधारा के थे, सो अभी भी उनके संस्कार गये नहीं थे। उस समय संघ में एक पार्श्वमती माताजी थीं जो कि आचार्यकल्प चन्द्रसागरजी की शिष्या थीं (ये अभी मौजूद हैं) उन्होंने कहा—

"मेरे गुरु श्रीचन्द्रसागरजी महाराज सदा ही हाथ में 'भावसंग्रह' ग्रंथ रखते थे और श्रावकों की सभा में

---

१. प्रवचनसार गाथा २४८।

दान-पूजा का ही विशेष उपदेश दिया करते थे....." किन्तु वे बेचारी कुछ प्रमाण न दे पाईं और दुःखी होने लगीं। बात बढ़ती गई, कुछ निष्कर्ष नहीं निकल पाया कि अकस्मात् मेरे मस्तिष्क में यह गाथा आ गई, मैंने प्रवचनसार लाकर दिखाया तब सभी साधु आश्चर्यचकित होकर बोले—

"अरे! हम लोगों ने भी तो प्रवचनसार का स्वाध्याय किया है, इस गाथा पर लक्ष्य क्यों नहीं गया था? यह तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण गाथा है। इसमें बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि सरागचर्या वाले—शुभोपयोगी मुनि 'जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश' दे सकते हैं जब तक संघ में शिष्यों का संग्रह-अनुग्रह करना होता है तब तक दान-पूजा का उपदेश भी देना चाहिए, कोई बाधा नहीं है।"

पुनः क्षुल्लक चिदानन्दसागरजी आचार्यवर्य श्रीवीरसागरजी के पास पहुँचे और प्रश्नोत्तर की बातें सुनकर आचार्यदेव को यह गाथा दिखाकर बोले—

"महाराजजी! आपकी क्या आज्ञा है?"

आचार्य महाराज बोले—"जो आगम में लिखा है, उससे अधिक हम क्या बोलेंगे.....? चन्द्रसागरजी महाराज गलत नहीं थे, वे आगम के अनुकूल ही उपदेश करते थे.....।"

आचार्य महाराज के मुख से ऐसे शब्द सुनकर आर्यिका पार्श्वमतीजी भी बहुत ही प्रसन्न हुईं और मुझसे बोलीं—

"ज्ञानमतीजी! तुम शंका-समाधान में शास्त्रप्रमाण जरूर दिखाया करो। देखो! हमें तो इतना ज्ञान है नहीं कि जो कुछ प्रमाण दिखा सकें, हम लोग तो, "गुरु के वचन ही शास्त्र हैं" ऐसा मान लेते हैं.....।"

उनके ये वचन आज भी हमें कितने अच्छे लगते हैं कि मुनि श्रीचन्द्रसागरजी के वचन ही शास्त्र हैं। वास्तव में वे महामुनि शास्त्र के अनुकूल ही उपदेश करते थे, सिंहवृत्ति के साधु थे, तभी सुधारक विद्वान और श्रावक उनसे घबराते रहते थे।

एत्मादपुर —

वहाँ से विहार करते हुए हमें एत्मादपुर पहुँचना था। प्रातः नवम्बर-दिसम्बर की ठंड में कुहरा पड़ रहा था। रास्ते में ही बारिश आ गई। इतनी भयंकर ठण्ड में गीले वस्त्र पहिने हुए जैसे-तैसे ७-८ मील का रास्ता पार कर हम लोग एत्मादपुर मंदिर में पहुँचे। श्रावकों ने अच्छी भक्ति की। यहाँ पर संघस्थ लोगों ने हम लोगों की साड़ियाँ धोकर रखी थीं। वे सूखी नहीं थीं अतः आहार के समय उन्हीं गीली साड़ियों को पहन कर आहार को उठना पड़ा।

कुछ बाईयाँ जो दर्शनार्थ आई थीं, वे कहने लगीं—

"अरे! मैं नई साड़ी मंगाये देती हूँ, माताजी इन्हें बदल दो। कई घंटे गीली साड़ी पहनकर आप लोग बीमार पड़ जावोगी।"

मैंने कहा—"बाई! नयी साड़ियाँ भी तो धोकर सुखानी पड़ेंगी। हम लोग नया— कोरा वस्त्र बिना धोये नहीं पहनती हैं।"

तब उन महिलाओं ने समझाना शुरू किया—

"माताजी! ऐसे-ऐसे प्रसंगों के लिए तीसरी साड़ी रखना चाहिए।"

मैंने कहा—"शास्त्र में आर्यिकाओं के लिए तीसरी साड़ी का विधान नहीं है, दो ही साड़ियाँ बतायी हैं। यथा—

'वस्त्रयुग्मं सुबीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च।
आर्याणां संकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते।।

आर्यिकाओं को दो साड़ी अपने शरीर को ढकने के लिए ग्रहण करना होता है, यदि तीसरी साड़ी रखती हैं तो उन्हें उन्हें प्रायश्चित्त का भागी माना गया है। इस नियम के अनुसार आर्यिकायें दो साड़ी रखती हैं, फिर भी एक साथ में एक ही पहनती हैं। दूसरे दिन दूसरी बदल लेती हैं।

यदि कदाचित् विशेष बीमारी आदि में कोई संघस्थ ब्रह्मचारिणी अपने पास एक नई साड़ी धोकर रखे और प्रसंगोपात्त बदला दे, तो चल भी सकता है किन्तु यह उत्सर्ग (उत्तम) मार्ग नहीं है।

हम सभी आर्यिकाएँ उस समय लगातार कई दिनों तक कुहरा, ओस, वर्षा, बूँदें, ठंडी हवा को झेलती हुयी चलती रहीं। क्रम से फिरोजाबाद पहुँचीं किन्तु कोई बीमार नहीं पड़ीं। उस समय मेरी उम्र २८ वर्ष की थी। उस ठंडी में अयोध्या तक लगभग हम लोगों ने चलायी की है।

इधर कई वर्षों में जरा सी हवा लग जाने से जुकाम, नजला, खांसी आदि प्रकोप शुरू हो जाते हैं। सन् १९७० से जुकाम होकर लगभग मुझे तीन वर्ष तक परेशान करता रहा था।

इन दिनों मैं कई बार सोचा करती हूँ कि—

"शक्ति, संहनन, देश, काल और वातावरण से भावों में परिवर्तन आता ही है और कर्मनिर्जरा में अंतर पड़ता ही है। अब आज यदि मैं ऐसी सर्दी झेलने की कोशिश करूँ तो सारा शरीर ही अकड़ जाये और पता नहीं कुछ व्याधि प्रकोप होकर असमाधि ही हो जाये। उस समय शरीर में शक्ति होने से सहनशीलता थी। आज कितना ही सोचो, शरीर जवाब दे देता है अतः यह कहना पड़ता है—

"समय एव करोति बलाबलं"

फिरोजाबाद —

फिरोजाबाद एक दिन बाद पहुँचना था। मार्ग में सेठ छिदामीलालजी एक दो महानुभावों के साथ आये। रास्ते में कार रोकी, उतरे और विनय से दर्शन किया। मैंने भी नाम पूछा—उन्होंने बताया। अनंतर उन्होंने पूछा—"आप किसके संघ की हैं?"

मैंने कहा-"आचार्यश्री वीरसागरजी की शिष्या हूँ, उन्हीं के संघ के पट्टाधीश आचार्यश्री शिवसागरजी के संघ से निकलकर अब यात्रा के लिए जा रही हूँ।"

रास्ता चलते हुए किंचित् पीछे होकर इन लोगों ने आपस में कुछ चर्चा की और पुनः आगे बढ़कर नमस्कार करके वापस चले गये। इसके बाद पुनः आगरे वालों की सूचना के अनुसार फिरोजाबाद के दो-चार श्रावक और आ गये। उन्होंने नमस्कार कर सारी बातें समझीं और "शहर में बाहुबलि मंदिर में आपके लिए व्यवस्था की है" ऐसा बोले। इसी बीच संघस्थ एक आर्यिका ने छिदामीलाल सेठजी के आने का और समाचार सुना दिया। तब उसमें से एक श्रावक ने हंसकर कहा—

"माताजी! आप की गुरुपरंपरा सुनकर शायद ये चमक गये होंगे। आपकी गुरुपरंपरा में शूद्र जल त्याग कराकर आहार लेना और अंतर्जातीय विवाह वालों के यहाँ आहार नहीं लेना, ऐसी व्यवस्थायें हैं अतः इन्होंने अपने यहाँ मंदिर में ठहराने के लिए नहीं सोचा होगा। चूंकि इन्होंने जानबूझ कर सुधारक होने के नाते अपने पुत्र का अंतर्जातीय विवाह कर लिया है। ये पल्लीवाल हैं और अग्रवाल की पुत्री से पुत्र का विवाह किया है.....।"

खैर! इन बातों को सुनकर मुझे सन् १९५३ की बात याद आ गई, जब आचार्यश्री देशभूषणजी महाराज यहाँ आये थे। तब इन श्रीमान सेठजी ने आचार्यश्री का बहुत बड़े समारोह से स्वागत किया था और साथ में कुछ दूर पैदल भी चले थे। लोगों ने कहा-

"शायद उस समय इनके यहाँ यह अंतर्जातीय संबंध नहीं हुआ था।" अगले दिन मैं फिरोजाबाद पहुँची,

वहाँ भी ४-५ दिन ठहरी। इन छिदामीलालजी के विशाल जिनमंदिर का भी दर्शन किया। यहाँ प्रतिदिन मेरा उपदेश हुआ पुनः यहाँ से विहार कर भयंकर सर्दी की भी परवाह न करते हुए मैं शिकोहाबाद, कन्नौज, मैनपुरी आदि होते हुए कानपुर आ गई।

संघ फिरोजाबाद तक आया ही था कि कुछ लोगों से पता चला—

"मुनिश्री अजितसागरजी आचार्यसंघ से अलग होकर जयपुर के एक मंदिर में ठहरे हुए हैं।" मुझे बहुत ही दुःख हुआ। अपने वचन के अनुसार मैंने तक्र का त्याग कर दिया। संघ यहाँ से विहार करते हुए कुछ दिनों में कानपुर आ गया। उन दिनों पेट की गड़बड़ी से तक्र ही मेरे लिए औषधि था, कुछ स्वास्थ्य गिरते देखकर संघस्थ साध्वियों और ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों को चिंता होने लगी, तभी आर्यिका आदिमती ने मेरे से तक्र लेने का बहुत आग्रह किया किन्तु जब मैंने नहीं लिया तब उन्होंने भी अन्न का त्याग कर दिया और बोली-

"माताजी! तक्र ही आपके स्वास्थ्य के लिए सबसे बड़ी औषधि है अतः जब तक आप तक्र नहीं लेंगी मैं भी अन्न नहीं लूँगी।" इधर ब्र. सुगनचंद और प्रकाशचंद को इस तरह त्याग की बात मालूम होने से वे मेरे पास आकर बहुत कुछ अनुनय-विनय करने लगे, तब मैंने कहा कि—

"जब तक मुनिश्री अजितसागर जी आचार्यसंघ में नहीं पहुँचेंगे, तब तक मैं तक्र नहीं ले सकती हूँ।"

तब इन दोनों ने जयपुर में पं. इन्द्रलालजी शास्त्री और श्रेष्ठी रामचंद्रजी कोठारी को पत्र दिया तथा सेठ हीरालालजी को भी निवाई गाँव में पत्र डाल दिया। पत्रों द्वारा विगत समाचार जानकर ये लोग ब्र. श्रीलाडमलजी को साथ लेकर मुनिश्री के पास मंदिर जी में पहुँचे और सारी बातें सुना दीं। महाराजजी ने विचार किया और उठकर खड़े होकर बोले—

"चलो, मैं आचार्यसंघ में चलता हूँ। मैं आर्यिका ज्ञानमती माताजी का आग्रह नहीं टाल सकता हूँ, वे मेरी माँ हैं.....।"

इतना कहकर उन्होंने आचार्यसंघ की ओर विहार कर दिया और संघ में पहुँच गये तब उधर से पं. इन्द्रलालजी शास्त्री का पत्र आया कि—

"पूज्य माताजी! अब आप अपना नियम पूरा करके आहार में तक्र लेना शुरू करें, आपके पुरुषार्थ से मुनिश्री अजितसागरजी आचार्यसंघ में पहुँच गये हैं। हम लोगों को प्रसन्नता है कि आप संघस्थ मुनि-आर्यिकाओं का कितना हित चाहती हैं.....इत्यादि।"

मैं तो सोचती हूँ कि यह पूज्य अजितसागर महाराज की महानता ही थी जो उन्होंने मुनि होकर भी मेरी इतनी बात मानी थी।

पत्र सुनकर मुझे भी बहुत ही प्रसन्नता हुई और अगले दिन ही मैंने अपना नियम पूरा करके आहार में तक्र ले लिया, तभी आर्यिका आदिमती ने भी आहार में अन्न ग्रहण किया। संघ में सबको बहुत ही प्रसन्नता हुई। आगे संघ सहित विहार करके मैं लखनऊ आ गई।

आज मुझे लिखते हुए अतीव प्रसन्नता है कि उस समय सन् १९६२ में आचार्यसंघ में प्रवेश करने के बाद आचार्यश्री शिवसागरजी के जीवित रहने तक सन् १९६९ तक ये मुनिश्री अजितसागर जी संघ में ही रहे हैं। बाद में आचार्यश्री शिवसागर जी की समाधि के पश्चात् मुनिश्री श्रुतसागरजी के साथ जयपुर से अलग हुए हैं।

इसी प्रकार गिरनार क्षेत्र की यात्रा करके वापस आते समय मुनिश्री श्रुतसागर महाराजजी संघ से अलग हो रहे थे, तब मैंने वापस संघ में न आने तक 'नमक' का त्याग कर दिया था। इसके बाद वे संघ से अलग विहार कर दो घंटे बाद ही वापस आ गये थे और बोले थे कि—

"माताजी! अब आपका नमक का त्याग पूरा हो गया, अब मैंने नियम ले लिया है कि आचार्य संघ से

कभी भी अलग नहीं होऊँगा।''

वे मुनिश्री श्रुतसागरजी भी आचार्य शिवसागरजी की समाधि के बाद ही सन् १९६९ में मुनिश्री अजितसागर आदि मुनि-आर्यिकाओं को लेकर संघ से पृथक् हुए थे।

उन दिनों जो मेरा संघ के मुनि-आर्यिकाओं के प्रति वात्सल्य भाव था और साधु-साध्वियाँ जो मेरी बात मानते थे, इन प्रसंगों में आचार्यश्री शिवसागर जी भी कितना मेरा गौरव करते थे? उन सब बातों का स्मरण करते ही मन पुलकित हो उठता है। इसमें मैं अपना पूर्व पुण्य, आगमानुकूल चर्या, परामर्श एवं मार्गदर्शन ही कारण समझती हूँ। मेरी जो संघ के प्रति एकसूत्र में बंधे रहने की भावना थी, वह गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के उपदेश का ही प्रभाव था, गुरुदेव हमेशा कहा करते थे कि—

''सुई का काम करो, कैंची का नहीं—देखो! सुई जोड़ती है और कैची काटती है अतः सुई के समान संघ में साधु-साध्वियाँ एक-दूसरे को जोड़ने का—संघ में रहने का और रखने का प्रयास करो, अलग करने का नहीं।''

इसी प्रकार मूलाचार के पढ़ने-पढ़ाने से भी श्रीकुंदकुंददेव की गाथायें मस्तिष्क में हमेशा घूमा करती थीं और आज भी घूमती ही रहती हैं तथा खास करके यह पंक्ति तो विशेष ही स्मरण में आती रहती है कि—

''मा भूद मे सत्तु एगागी'' अर्थात् मेरा शत्रु भी मुनि एकल विहारी न होवे।

इसके बाद मैं विहार करते हुए लखनऊ आ गई, यहाँ डालीगंज में ठहर गई।

आर्यिका दीक्षा में संघ सहित मुझे देखकर और मेरा उपदेश सुनकर लखनऊ के लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। मैंने यहाँ से विहार कर नौराही के दर्शन किये पुनः अयोध्या पहुँच गई।

£ ४० ¤

रतनपुरी—

इसके नौराही और रौनाही दोनों नाम प्रचलित हैं। यह 'रतनपुरी' तीर्थक्षेत्र है। यहाँ रौनाही नाम से छोटा सा गांव हैं। कहते हैं जब श्री रामचंद्र वन में जाने के लिए अयोध्या से निकले थे तब यहाँ तक लोग पैदल उनके साथ आये थे और बहुत रोये थे अतः इसका नाम 'रोनाही' पड़ गया। यहाँ सरयू के निकट दो दिगम्बर जैन मंदिर हैं। जैन धर्मशाला भी है। यह पंद्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ की जन्मभूमि है। बचपन में यहाँ भगवान् धर्मनाथ की जिनप्रतिमा विराजमान के समारोह में मैंने वेदी का पर्दा खोला था, मेरे पिता ने यह छोटी सी बोली लेकर मेरे हाथ से यह मंगल कार्य करवाया था। यहाँ मैंने भगवान् की जन्मस्थली के दर्शन कर भक्ति पढ़कर 'जन्मकल्याणक' की वंदना की पुनः अयोध्या आ गई।

अयोध्या—

यह जैन मान्यता के अनुसार शाश्वत नगरी है। यहाँ भगवान् ऋषभदेव के गर्भ, जन्म दो कल्याणक हुए हैं। श्रीअजितनाथ, श्रीअभिनंदननाथ, श्रीसुमतिनाथ और श्रीअनंतनाथ इन चार तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ऐसे चार-चार कल्याणक हुए हैं।

'' महाराजा नाभिराज की महारानी मरुदेवी के गर्भ से तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव जन्म लेंगे'' इस निमित्त से कर्मभूमि की आदि में अनेक देवों के साथ इंद्र ने स्वयं आकर इस अयोध्या की रचना की थी।

इस समय यहाँ दो जैन मंदिर और पाँच टोंकें हैं। उस समय सन् १९६२-६३ में एक ही मंदिर था। वहाँ आचार्यश्री देशभूषणजी की प्रेरणा से कटरा मंदिर में एक तरफ भगवान् आदिनाथ, भरत और बाहुबली की तीन खड्गासन प्रतिमायें विराजमान करायी गई थीं। इस समय रायगंज मुहल्ले में विशाल प्रांगण में भगवान

आदिनाथ की २८ फुट ऊँची खड्गासन जिनप्रतिमा औंधी लिटाई हुई थीं, उनकी प्रतिष्ठा सन् १९६५ में हुई है।

इन मंदिरों के दर्शन कर टोंकों के दर्शन किये पुनः इन लेटी हुई जिनप्रतिमा के निकट आकर सोचने लगी—

"ऐसी विशालकाय जिनप्रतिमा के खड़े किये जाने पर, प्रतिष्ठा होने पर, यह अयोध्या पुनः महान तीर्थ बन जायेगी। तीर्थ तो महान ही है परंतु इस समय आचार्यश्री देशभूषण जी ने जो इसके विकास के लिए अथक परिश्रम किया है, उनकी किन शब्दों में स्तुति करना? वे गुरु महान हैं। इत्यादि भावना करते हुए प्रसन्नमना वहाँ से विहार कर गई। यहाँ अयोध्या में हनुमान गढ़ी बहुत प्रसिद्ध है। श्री रामचंद्रजी के मंदिर बहुत हैं। अयोध्या को मैं अपनी जन्मभूमि समझती हूँ क्योंकि प्राचीन अयोध्या १२ योजन की थी जो कि ९६ मील प्रमाण थी, उस हिसाब से टिकैतनगर, बाराबंकी इसी में आ जाते थे। आज ये अलग-अलग दिख रहे हैं।

टिकैतनगर आगमन —

इससे पूर्व मेरे संघ को टिकैतनगर के श्रावकगण टिकैतनगर चलने के लिए प्रार्थना करने आये थे। इस समय इस सम्मेदशिखर यात्रा की कापियाँ खो गई हैं अतः यात्रा के क्रम, तिथि आदि का मुझे बहुत कम स्मरण रहा है।

टिकैतनगर के श्रावकों ने आर्यिका संघ को टिकैतनगर चलने का आग्रह किया। मैंने स्वीकार कर टिकैतनगर पदार्पण किया। माता मोहिनी और पिता बहुत ही प्रसन्न हुए। आर्यिका अवस्था में आज मैं अपनी जन्मभूमि में दस वर्ष बाद पहुँची। संघ वहाँ ५-६ दिन रहा, अच्छी प्रभावना हुई। जैनेतरों ने भी मेरे दर्शन कर अपने को और अपने गाँव को धन्य माना। यहाँ पर मनोवती और प्रकाश अपने घर ही ठहरे थे, वहीं चौका चल रहा था। अब पिताजी का मोह पुनः जाग्रत हुआ, उन्होंने कु. मनोवती और प्रकाश दोनों को भी आगे नहीं जाने के लिए कहा और रोकना चाहा।

मैंने कहा—

"बीच में अधूरी यात्रा में इन्हें क्या पुण्य मिलेगा? पूरी यात्रा तो करा देने दो।"

एक दिन पिता ने दोनों को बिठाकर रास्ते के अनुभव पूछना शुरू किया, तब प्रकाश ने बतलाया—

"रास्ते में प्रतिदिन माताजी दोनों समय में १२ से १५ मील तक चलती हैं। मैं भगवान् की पेटी और कमण्डलु लेकर साथ ही पैदल चलता हूँ। बाबाजी (ब्र. सुगनचंदजी) मध्यान्ह ३-४ बजे बैलगाड़ी पर सारा सामान लाद कर चल देते हैं। रात्रि में प्रायः१०-११ बजे वहाँ पर आ पाते हैं कि जहाँ माताजी ठहरती हैं। वहाँ आकर घास का बोरा खोलकर घास देते हैं।

इतना सुनते ही पिताजी बोले—

"इतनी भयंकर पौष, माघ की ठण्डी में सभी आर्यिकायें एक साड़ी में १०-११ बजे तक कैसे बैठी रहती हैं?"

प्रकाश ने कहा—"जहाँ माताजी ठहर जाती हैं, वहीं स्कूल या ग्राम पंचायत का स्थान या डाक बंगला आदि कोई स्थान ढूँढ़कर उन लोगों से बातचीत कर मैं सभी माताजी को वहाँ ठहरा देता हूँ पुनः कुँआ देखकर, पानी लाकर गर्म कर कमण्डलु में भरकर, मैं गाँव में चावल की घास ढूँढ़ने के लिए चला जाता हूँ। कभी तो घास मिल जाती है, तो एक गट्ठा लाकर सबको बैठने के लिए थोड़ी-थोड़ी देता हूँ, कभी नहीं मिले, तो ज्वार की कडव या गन्ने के फूस (बाण) ही ले आता हूँ। उसी पर माताजी बैठकर सामायिक, जाप्य, स्वाध्याय आदि कर लेती हैं।

माँ ने पूछा—"गन्ने की फूस तो धार वाली रहती है, इससे तो शरीर में घाव हो जाने का भय रहता होगा।"

"हाँ! माताजी उस पर बिना हिले डुले बैठ जाती हैं, कभी-कभी तो बाबा जी की गाड़ी देर से आने पर इसी पर आहिस्ता से लेट भी जाती हैं। हिलने-डुलने या करवट बदलने से तो यह फूस शरीर में घाव बना दे.....।"

माँ ने कहा—"ओह! रास्ते में माताओं को कितने कष्ट हैं!....."

प्रकाश ने कहा—

"कोई भी माताजी इसको कष्ट नहीं गिनती हैं बल्कि बड़ी माताजी तो कहा करती हैं कि—

"हे भगवन्! ऐसी भयंकर ठण्डी में भी खुले स्थान में बैठकर रात्रि बिताने की क्षमता मुझे कब प्राप्त होगी?....." पुनः आगे सुनो, क्या होता है—

तब सभी लोग उत्सुकता से सुनने लगते हैं—

"बाबाजी रात्रि में २-३ घण्टे सोकर जल्दी से उठ जाते हैं और तीन बजे ही हल्ला शुरू कर देते हैं पुनः सभी माताजी घास छोड़कर जरा सी चूरा-चारा में बैठकर प्रतिक्रमण पाठ, सामायिक आदि शुरू कर देती हैं। बाबाजी सारी घास बोरों में भरकर बैलगाड़ी में सब बिस्तर बोरी लादकर, उसी में बैठकर, बैलगाड़ी ४ बजे करीब रवाना कर देते हैं।....."

बीच में पिता ने कहा—

"क्यों, इतनी जल्दी क्यों? आजकल तो सात, साढ़े सात बजे दिन उगता है, छह बजे तक घास में माताजी को क्यों नहीं बैठने देते.....?"

प्रकाश ने कहा—"यदि बाबाजी इतनी जल्दी न करें तो माताजी का आहार मध्यान्ह एक बजे होवे।"

"क्यों?" "क्योंकि माताजी सुबह उठकर दिन उगते ही चल देती हैं। लगभग ९-१० मील तक चलती हैं। बाबाजी की बैलगाड़ी यदि चार बजे रवाना होती है तो ७-८ बजे तक आहार के स्थान पर पहुँच पाती है। ये लोग पहले आहार के योग्य स्थान ढूँढते हैं पुनः वहाँ सामान उतारकर, कपड़े सुखाकर, स्नान आदि से निवृत्त होकर चौका बनाते हैं। माताजी ९-३०, १० बजे तक वहाँ आ जाती हैं। लगभग ११ बजे तक माताजी का आहार होता है पुनः माताजी सामायिक करके १ बजे रवाना हो जाती हैं।"

एक दिन माँ आकर सारी बातें मुझे सुनाकर मुझसे पूछने लगीं—"माताजी! क्या प्रकाशचंद सच कह रहा है?" मैं हंस दी, पुनः वे पूछने लगीं—

"माताजी आपको संग्रहणी की तकलीफ थी, सो रास्ते में स्वास्थ्य कैसा रहता है?"

मैंने कहा-"मथुरा आने तक तो रास्ते में बहुत ही अतीसार लगते रहे किन्तु मथुरा आकर मैंने कुछ जाप्य करना प्रारंभ कर दिया। रास्ते भर मंत्र जपती रहती हूँ, उसी मंत्र के प्रभाव से अब प्रायः मुझे रास्ते में कोई खास तकलीफ नहीं होती है। सभी संघस्थ माताजी भी तो हर समय बहुत ही प्रसन्न दिखती हैं बल्कि रास्ते में हम सब आपस में कर्म प्रकृतियों की चर्चायें करते हैं जिससे कि साथ में चलने वाले गाँव-गाँव के नये-नये श्रावक भी लाभान्वित होते हैं। रास्ते में जो भी जैन के गाँव आते हैं मैं प्रायः एक दिन वहाँ ठहरती हूँ और श्रावकों को उपदेश सुनाती हूँ। उपदेश सुनकर लोग और दो-चार दिन रुकने का आग्रह करते हैं। कहीं-कहीं के श्रावक-श्राविकायें तो पैर पकड़ कर बैठ जाते हैं लेकिन मैं इस यात्रा के प्रसंग में उन सबकी प्रार्थना को न सुनकर आगे विहार कर देती हूँ।"

इन सब बातों को सुनकर माँ कहने लगीं—

"अहो! दीक्षा लेकर पैदल चलना, रास्ते के कष्टों को झेलना, बहुत ही कठिन है।"

मनोवती ने बताया—

"प्रातः प्रतिदिन जब हमारी बैलगाड़ी ७-८ बजे गन्तव्य स्थान पर पहुँचती है, तब कपड़े सुखाते हैं, इससे प्रायः हम लोग इतनी भयंकर सर्दी में भी गीले कपड़े पहन कर रसोई बनाते हैं।"

मनोवती की संघ सेवा, कुशलता और योग्यता को देखकर पिता बहुत ही प्रसन्न थे, उन्होंने पूछा—

"बिटिया! तुम्हें खाना कितने बजे मिलता है?"

"खाना प्रतिदिन १२-१ बजे खाती हूँ।"

तभी प्रकाश ने कहा-"चौके की रसोई का खाना यद्यपि ठण्डा और रूखा-सूखा रहता है तो भी भूखे पेट मीठा लगता है। घर में तो मैं ऐसी रोटियाँ हाथ से भी नहीं छुऊँगा किन्तु रास्ते में बड़े प्रेम से खा लेता हूँ।"

"और शाम को क्या खाते हो?"

"शाम को माताजी के साथ चलता हूँ इसलिए प्यास लगने पर कमण्डलु का पानी पी लेता हूँ।"

तब पिता ने कहा-"बेटा! तुम घर में ५-७ बार खाते हो और रास्ते में एक बार, अतः अब संघ में नहीं जाना, नहीं तो बहुत कमजोर हो जाओगे।"

प्रकाश ने हंसकर कहा—

"वाह! मैं तो अभी साथ में ही जाऊँगा और पूरी यात्रा कराऊँगा।"

उस समय टिकैतनगर में मेरे सामने एक लड़की आती थी जो अपने गोद में छोटी सी बालिका को लिये रहते थी। वह वहाँ खड़ी ही रहती और मुझको एकटक निहारा करती थी। एक बार मैंने पूछ लिया—

"तुम किसकी लड़की हो?"

वह रोने लगी और बोली-"मैं छोटेलाल जी की लड़की हूँ।"

मैं उसे आश्चर्य से देखने लगी पुनः पूछा-"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा नाम कुमुदनी है।"

तभी मैंने कहा-"तुम रोती क्यों हो? जब मैंने तुम्हें छोड़ा था, तब तुम मात्र ढाई-तीन वर्ष की थी। भला अब मैं तुम्हें कैसे पहचान पाती?"

इसके बाद मैंने कुमुदनी को कुछ शिक्षाएं दीं और सान्त्वना देकर घर भेज दिया। उसी समय कुमुदनी घर तो आ गई, माँ से बोली—

"मुझे भी माताजी के साथ शिखरजी भेज दो।"

माँ ने कहा—"इधर तेरे पिता तो मनोवती और प्रकाश को ही रोक रहे हैं, भला तुझे कैसे भेज देंगे?....."

बेचारी कुमुदनी रोकर रह गई।

संघ का विहार टिकैतनगर से हो गया। क्रम-क्रम से फैजाबाद, जौनपुर आदि होते हुए संघ आरा पहुँच गया।

इधर कुमुदनी ने मेरे पास आने के लिए बहुत ही पुरुषार्थ किया किन्तु सबने घर में बहुत समझाया, गुस्सा किया। बाद में वह रो-धोकर चुप हो गई, भला वह कर ही क्या सकती थी? आज अनेक वर्ष से उसकी पुत्री कु.बीना मेरे पास रह रही है और धर्माराधना, संघ सेवा कर रही है।

एक बार हम लोग विहार करते हुए एक गाँव में आये। सामने आकर ब्र.सुगनचंद ने स्वागत किया और एक बहुत बड़ा स्थान था, जहाँ चारों तरफ से बाउंड्रीवाल बनी हुई थी, वहाँ अन्दर ले गये। बाहर धूप में एक चबूतरा था, उस पर हम लोग बैठ गये। वहीं बीच में चौकी लगाकर भगवान् का अभिषेक किया। अनंतर ग्यारह बज चुके थे अतः कमंडलु में पानी भर दिया और हम लोगों ने शुद्धि करके वस्त्र बदल दिया, उसी समय उस चबूतरे के पास कुछ महिलाएँ बच्चों को लिए आकर बैठ गई। मैंने सहसा पूछ लिया—

"तुम लोग कौन हो?"

उन्होंने कहा—"हम हरिजन हैं, यही पर रहते हैं।" ऐसा सामने बने कच्चे कमरों की ओर अंगुली से बता दिया।

मैंने पुनः पूछा—"इस परिसर के चारों तरफ और कौन लोग रहते हैं?"

उन महिलाओं ने कहा—"सभी हरिजन लोग रहते हैं।"

मैंने १-२ मिनट मन में कुछ सोचा और कमंडलु हाथ में उठाकर सीधे वहाँ से निकलकर, सड़क की ओर चलकर, सड़क पर आगे-आगे विहार कर गई। मेरी सभी शिष्यायें भी मेरे पीछे चली आईं। प्रकाशचंद ने झट से मूर्तिजी को पेटी में विराजमान कराया और पेटी लेकर वे भी सड़क पर दौड़कर, आकर मेरे साथ हो लिये। उन लोगों को पता चल गया कि 'यह मांसाहारी-हीन लोगों का स्थान है' ऐसा मालूम हो जाने से माताजी आगे विहार कर कई हैं। पहले दिन आहार के बाद लगभग १० मील चलायी हो चुकी थी। आज प्रातः १० बजे तक हम लोगों ने ७-८ मील करीब चलाई की थी और फिर आहार न होने से भी थकी हुई थीं लेकिन हम लोग चुपचाप महामंत्र का स्मरण कर बढ़ते ही जा रहे थे। प्रकाशचन्द बार-बार कुछ पूछना चाहता था किन्तु उसकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। उधर ब्र. सुगनचंद आदि सभी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो कुछ सोच नहीं पा रहे थे। १२ बजने का समय होने पर हम लोगों ने सड़क के एक बाजू में बैठकर सामायिक कर ली। पौन घण्टे बाद पुनः चलने लगे।

मार्ग में धीरे से प्रकाशचन्द ने पूछ ही लिया—

"माताजी! यदि साधु प्रातः काल आहार को न उठें तो सामायिक के बाद भी तो आहार के लिए निकल सकते हैं।"

मैंने कहा—"हाँ, उठ सकते हैं।"

बस इतना सुनते ही प्रकाशचंद बेभान पीछे की ओर भागा, मार्ग में एक रिक्शा आ रहा था, उसे रोककर, पकड़कर कुछ अनुनय विनय करके कहा—

"आज मेरे गुरु बिना आहार के रह जायेंगे, सब बहुत थके हुए हैं अतः तुम मुझे अमुक गाँव तक जल्दी पहुँचा दो....।"

उसने इसे पहुँचा दिया। यह वहाँ से बहन मनोवती को और सरदारमल को साथ लेकर, कुछ सामान लेकर, दूसरे किसी रिक्शे से या बस से आगे लगभग ८ मील पर आने वाले गाँव में पहुँचे। वहाँ से ब्र. सुगनचंद भी अपना सारा सामान गाड़ी में भरकर चल पड़े। इधर प्रकाश ने वहाँ मंदिर के पास एक स्थान में जल्दी-जल्दी चौका बनवाया। हम सबकी धोतियाँ सुखायीं और कमंडलु के लिए पानी गरम किया।

हम लोगों ने वहाँ पहुँचकर विश्राम करना चाहा चूँकि शरीर बिल्कुल जवाब सा दे रहा था किन्तु प्रकाश ने घड़ी दिखायी, साढ़े तीन बज रहे थे, बोले—

"माताजी! जल्दी शुद्धि कीजिये।"

हम लोगों ने शुद्धि करके साड़ियाँ बदलीं। भगवान् का दर्शन कर आहार को उठे। घड़ी सवा तीन बजा रही थी, सर्दी के दिनों में साढ़े पाँच बजे प्रायः सूर्यास्त हो जाता है अतः चौके में जल्दी-जल्दी इन लोगों ने आहार दिया। आहार में मात्र गरम पानी, खिचड़ी और दलिया बनाई थी। खिचड़ी में ही आटे की छोटी-छोटी बाटियाँ डाल दी थीं जो कि दालबाटी जैसी पक गई थीं। सभी ने खिचड़ी और बाटी खाई। मेरे एक मात्र गेहूँ धान्य का ही नियम होने से, बाकी अन्न त्याग होने से मैंने दलिया खायी और भर पेट पानी पिया। आहार करके आने के बाद जल्दी-जल्दी ब्रह्मचारी लोगों ने भी कुछ खाया पिया पुनः जल्दी ही दिन छुप गया।

उस दिन जो कुछ भी आहार हुआ था वह अमृत के समान गुणकारी हुआ, सायंकाल में सभी संघस्थ माताजी खूब हँसी, पैर तो मानों ऐसा कह रहे थे कि अब खड़े ही मत होवो। ब्रह्मचारीजी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—

"माताजी! कल आहार के बाद मध्यान्ह में ही विहार करना चाहिए।"

मैंने भी अपनी और सबकी शरीर स्थिति देखकर कह दिया-

"ठीक है!"

रात्रि में सामायिक करके सब आर्यिकायें सो गईं, तब कुछ थकान उतरी और शांति मिली। तब प्रातः प्रकाशचंद बोला—

"माताजी! मैंने घड़ी आधा घंटे पीछे कर दी थी" और हँसने लगा। मैंने समय का हिसाब लगाया, फिर देखा कि सूर्यास्त से तीन घड़ी पहले आहार हो जाना चाहिए अतः ठीक ही रहा है, कोई बाधा नहीं आई है। मूलाचार में लिखा है—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु।।३५।।

सूर्य उदय और सूर्यास्त के काल में से तीन-तीन घड़ी से रहित काल आहार काल है। इसमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्तपर्यंत जो आहार ग्रहण है वह 'एक भक्त' नाम का मूलगुण है।

एक घड़ी २४ मिनट की होती है अतः सूर्यास्त के १ घंटा १२ मिनट पहले आहार हो जाना चाहिए सो ऐसा ही हुआ था।

उस समय विहार से पूर्व मैं आहार और चौके के बारे में कुछ कहना, सुनना, दोष समझती थी, उत्कृष्ट चर्या पालती थी अतः मैंने किसी को कुछ नहीं कहा था, फिर भी यदि ब्र. सुगनचंद को कह देती कि यह मांसाहारी लोगों की बस्ती है, यहाँ आहार न करके आगे करूँगी। तो उस समय शायद ब्रह्मचारी जी वहीं गाँव में कहीं अन्यत्र स्थान ढूँढ कर चौका करके आहार करा सकते थे फिर भी मैं ऐसी-ऐसी वीरचर्या पालने लगती थी, आज सोचती हूँ तो मुझे स्वयं आश्चर्य होता है।

ऐसी ही घटनायें अथवा इससे मिलती-जुलती अकस्मात् विहार कर देने की घटनाएँ मेरे पाँच वर्ष के जीवन में सन् १९६३ से लेकर १९६७ तक में अनेक बार हुई हैं।

£ ४१ ¤

बनारस पहुँचने से २-३ दिन पूर्व हम लोग एक गाँव से बाहर स्कूल में ठहरे हुए थे। प्रातः बाहर एक चबूतरे पर बैठकर मैं हाथ में 'प्रथमगुच्छक' पुस्तक लेकर पढ़ रही थी। उसमें 'समयसार कलश' श्लोक छपे हुए हैं। उन्हीं कलश काव्यों का स्वाध्याय कर रही थी। सामने से एक विद्वान् महोदय आये। वे स्नान कर धोती-दुपट्टा में थे, तिलक लगाये हुए थे, उनके कंधे पर यज्ञोपवीत थी, पैरों में खड़ाऊँ थे। वे मेरे सामने आकर खड़े हो गये। एक क्षण देखते रहे पुनः नमस्कार कर पूछा—

"आप यह जो पाठ पढ़ रहीं है, उसका कुछ अर्थ भी समझ रही हैं या नहीं?"

मैंने संस्कृत भाषा में ही उत्तर दिया—

"**अथ किं, किंचित्-किंचित् अवबुध्यते।**" हाँ! कुछ-कुछ समझ में आता है।

वे ब्राह्मण विद्वान् आश्चर्यचकित हो गये पुनः संस्कृत में बोलने लगे कि—

"मैं समझता था कि जैन साधु-साध्वी संस्कृत में निरक्षर भट्ट होते हैं पुनः आज उससे विपरीत देख रहा

हूँ। सो आपने संस्कृत में व्याकरण पढ़ा है क्या?"

मैंने भी संस्कृत में ही उत्तर दिया कि—"हाँ, जैनेन्द्र व्याकरण, कातंत्ररूपमाला ऐसे व्याकरण मैंने पढ़े-पढ़ाये हैं।"

इस संदर्भ में मैंने उन्हें बताया कि—दिगंबर जैनाचार्यश्री महावीरकीर्तिजी महाराज अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं, धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हैं, सिद्धांत, न्याय, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, निमित्त और मंत्र-तंत्र आदि सर्व विषयों के ज्ञाता हैं।

उस समय वे ब्राह्मण महोदय १० मिनट तक वहीं मेरे पास बैठ गये और बोले—

"आप जो पढ़ रही हैं, उसे समझाइये।"

"मैंने भी समयसार कलश के कई एक काव्य पढ़कर, उनका विस्तृत अर्थ भी संस्कृत में ही समझा दिया। एक प्रकार से वहाँ उस समय मेरा संस्कृत में ही छोटा सा प्रवचन हो गया। वे विद्वान् बाद में बहुत-बहुत प्रशंसा करते हुए बोले—

"आज मैं 'ब्राह्मण वर्ण में ही गीर्वाणी भाषा है, इस गर्व को छोड़कर आपके श्रीचरणों में नत-मस्तक हूँ। मुझे आपने जो अध्यात्म का उपदेश ५-७ मिनट सुनाया है, वह मैं कभी नहीं भूलूँगा।"

अनंतर उन्होंने मेरा संक्षिप्त जीवन परिचय ब्र. सुगनचंद और प्रकाशचंद से पूछा—उन लोगों ने सुनाया और कहा—

"अभी आप माताजी के आहार की चर्या देखिये।"

उन विद्वान् ने आहार देखा, गद्गद् होकर प्रार्थना की कि—

"आप यहाँ मेरे गुरुकुल में सभी विद्यार्थियों को कुछ धर्म उपदेश सुनाकर ही विहार कीजिये" अतः मैंने उन्हें उपदेश सुनाया और वहाँ से विहार किया। वे विद्वान भी मेरे साथ कुछ दूर तक छोड़ने आये। इससे पूर्व जब वे खड़े-खड़े मेरे पास वार्तालाप कर रहे थे, मैंने देखा था कि विद्यार्थी बटुक आ-आकर उन गुरुजी को नमस्कार करके चरण स्पर्श कर रहे थे। यह चरण स्पर्श की परम्परा आज के स्कूल-कालेजों में कहाँ मिलेगी? वह शुद्ध गुरुकुल परम्परा का स्कूल था।

विहार के समय उन विद्वान् ने मुझसे पूछा—

"हम लोग मातुश्री के चरण स्पर्श करना चाहते हैं, क्या आज्ञा मिलेगी?"

आज्ञा मिलने पर सभी ने बहुत ही विनय से चरण स्पर्श किये थे। उन विद्वान् ने तो साष्टांग नमस्कार कर संस्कृत में ही बहुत कुछ स्तवन करते हुए बार-बार चरण स्पर्श कर विदाई दी थी। उन्होंने अपना नाम, स्कूल का नाम आदि बताये थे, मैंने वह सब दैनिक डायरी में लिखा भी था, लेकिन उन डायरी-कॉपियों के इधर-उधर हो जाने से आज मुझे वह याद नहीं है।

उन विद्वान् से वार्तालाप के बाद मुझे वह 'पात्र केशरी' आचार्य की घटना याद आ गई कि जिन्होंने जैनमुनि के मुख से 'आप्तमीमांसा' स्तोत्र सुनकर एकपाठी होने से अर्थ हृदयंगम कर जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।

उन विद्वान् ने भी बार-बार मुझसे यही कहा कि—

"आज से मेरा जैनधर्म और जैन साधुओं से द्वेष जाता रहा, अब मैं जैनधर्म के ग्रंथ अवश्य पढ़ूँगा।"

उस समय मैंने उन्हें 'आत्मानुशासन' और 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' पढ़ने की प्रेरणा दी थी। उसके बाद वे विद्वान् कलकत्ते में एक बार दर्शनार्थ आये थे। ऐसे ही उस मार्ग में कई जगह स्कूलों में विद्वानों से संस्कृत भाषा में वार्तालाप और विद्यार्थियों के लिए उपदेश देने का प्रसंग आता रहा था।

मैंने सोचा—"देखो! बनारस के निकट आस-पास में भी संस्कृत का अध्ययन कितना सुन्दर चल रहा है।"

मेरे मन में प्रारंभ से ही यह इच्छा थी कि लगभग १०० बालक और १०० बालिकाओं को घर-घर से निकाल कर ब्रह्मचर्य व्रत देकर, संस्कृत व्याकरण का और जैन सिद्धांतों का, न्याय ग्रंथों का गहरा अध्ययन कराया जावे। उस समय भी यह भावना पुनः जाग्रत हुई।

सन् १९६८ में प्रतापगढ़ चातुर्मास में आर्यिका विशुद्धमती के साथ में चर्चा करते हुए कई बार मेरे मुख से यह भावना निकल जाती थी, तब वे जोर देकर कहती थीं कि—

"माताजी! यदि आप बुन्देलखंड में विहार करें, तो मैं निश्चित कहती हूँ कि आपको सौ बालिकाएँ मिल जायेंगी।"

खैर! मैं तो इधर उत्तरप्रदेश में आ गई और जम्बूद्वीप निर्माण आदि कार्यों में मुझे मार्गदर्शन देना पड़ा। आज मैं देखती हूँ कि लगभग ५० ब्रह्मचारी और लगभग १०० ब्रह्मचारिणियाँ घर से निकल कर मोक्षमार्ग में भी लग चुके हैं और अध्ययन भी अच्छा कर रहे हैं। इन्हीं ब्रह्मचारी वर्ग के पढ़ने हेतु सन् १९७३ में अनुवादित मेरी 'कातंत्ररूपमाला' १९८७ की प्रतिष्ठा में छपकर आ चुकी थी और इन ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों के हाथ में पहुँच चुकी थी।

बनारस क्षेत्र के दर्शन —

बनारस के अनेक श्रावक सामने लेने आये, मैं संघ सहित वहाँ पहुंची और मैदागिन धर्मशाला में ठहराया गया। वहाँ से शहर के मंदिरों के दर्शन करने गई। यहाँ चार तीर्थंकरों के जन्म हुए हैं—सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ और श्रेयांसनाथ।

भदैनीघाट —

भदैनीघाट के मंदिर में दर्शन करने गई। यहाँ स्याद्वाद महाविद्यालय नामक एक संस्था है। इसके भवन के ऊपर भगवान् सुपार्श्वनाथ का मंदिर है, यह गंगा तट पर अवस्थित है, अत्यन्त सुन्दर है। वेदी में भगवान् सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा है और भी जिन प्रतिमाएं हैं। गर्भगृह के द्वार पर दायें-बायें पार्श्व में मातंग यक्ष और मानवी (काली) यक्षी बनी हुई हैं, यहाँ दर्शन किये पुनः स्याद्वादमहाविद्यालय के प्रधान पंडित कैलाशचंदजी सिद्धांत शास्त्री सामने आये और विद्यालय में अन्दर ले जाकर सब कुछ दिखाने लगे। साथ ही मेरे साथ संस्कृत में वार्तालाप करते हुए बहुत खुश थे और एक घण्टा घूमने-घुमाने के बाद बोले—"माताजी! मैं दिगम्बर जैन मुनि-आर्यिकाओं से अरुचि सी रखता हूँ किन्तु आज आपसे वार्तालाप करके, आपकी चर्या और आपका ज्ञान देखकर बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ। मुझे बहुत ही खुशी हो रही है कि आज आप जैसी आर्यिकाएँ हैं। आपके यात्रा की व्यवस्था में भी, जैसा कि मैंने सुना है कि न आप रुपये आदि की याचना स्वयं करती हैं न संघस्थ श्रावकों को करने देती हैं। ये सब व्यवस्थायें हमें बहुत अच्छी लग रही हैं.....।"

भेलूपुर—

वहाँ से आकर मैं अगले दिन भेलूपुर गई। वहाँ दो मंदिर बने हुए हैं। जैन धर्मशाला भी है। यहाँ मंदिर की वेदी में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की प्रतिमायें विराजमान हैं। इस मंदिर के बगल में दिगम्बर जैन मंदिर है। मुख्य वेदी में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा है[१]।

सिंहपुरी —

यह तीर्थ बनारस शहर से ६ किलोमीटर दूर उत्तर में अवस्थित है। यहाँ भगवान् श्रेयांसनाथ के चार कल्याणक हुए हैं। यहाँ पर भी दिगम्बर जैन मंदिर है।

---

१. यह सन् १९६३ का वर्णन है।

जैन मंदिर के निकट ही एक स्तूप है। इसकी ऊँचाई १०३ फुट है। मध्य में इसका व्यास ९३ फुट है। स्तूप के ठीक सामने सिंह द्वार बना हुआ है। जिसके दोनों स्तंभों पर सिंह चतुष्क बना हुआ है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र है।

भारत सरकार ने इस स्तम्भ की सिंहत्रयी को राजचिन्ह के रूप में मान्य किया है और धर्मचक्र को राष्ट्रध्वज पर अंकित किया है। जब से इन धर्मचिन्हों की शासन से मान्यता प्राप्त हुई है, तब से जन साधारण का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है।

चंद्रपुरी —

यह तीर्थ क्षेत्र बनारस से आगे गंगा के किनारे अवस्थित है। यह आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभु भगवान् का जन्म स्थान है। इसी स्थान पर भगवान् के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक हुए हैं। मैं जिस दिन यहाँ दर्शन करने आयी, उस दिन यहाँ छोटा सा मेला था, भगवान् चंद्रप्रभु का गर्भ कल्याणक था। वहाँ उस दिन भी पंडित कैलाशचंदजी आये हुए थे, पुनरपि उनसे कुछ चर्चायें होती रहीं। यहाँ चैत्र कृष्ण पंचमी को वार्षिक मेला भरता है।

यहाँ बनारस में मैंने वहाँ एक स्थान पर जाकर वह 'शिव पिंडी' भी देखी, जो शतखंड थी और सांकल से बंधी हुई थी, उस स्थान का नाम मैं अवश्य भूल गई हूँ।

उस शिवपिंडी का स्मरण कर यह पद्य याद आये बिना नहीं रहता है—

शिवकोटि ने हठ था किया सामंतभद्र सों।
शिवपिंड को वंदन करो शंको अभद्र सों।।
उस वक्त स्वयंभू रचा गुरु भावभद्र सों।
जिनचंद्र की प्रतिमा तहाँ प्रगटी सुभद्र सों।।२१।।

आरा —

लाडनूं से लगभग १२०० मील सम्मेदशिखर था और मार्ग का हमने सारा विवरण लिख लिया था। एक पुस्तक मुझे छपी हुई मिल गई थी, एक कापी भी संघस्थ ब्र. जी ने मुझे दी थी, उसके आधार से मैंने ये एक प्रकार का रूपक बना लिया था कि हर महीने २०० मील चलना है जिससे कि ६ महीने में मैं सम्मेदशिखर पहुँच जाऊँ, इस प्रकार से चलते हुए वहाँ पर मैंने टिकैतनगर में अधिक विराम नहीं लिया, वहाँ से विहार कर दरियाबाद आदि होते हुए आगे बढ़कर फैजाबाद से आगे आरा पहुँची। आरा में ब्र. चंदाबाई बड़ी ही वात्सल्य प्रधान महिला थीं। इन्होंने बहुत ही आदर से मेरे संघ का स्वागत किया, आश्रम में ठहराया। सुनने में आया कि आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज आरा पधार रहे हैं, तब ब्र. चंदाबाई के आग्रह से मैं वहां कुछ दिन के लिए और ठहर गईं।

आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज पधारे। दोनों संघ का सम्मेलन बहुत ही प्रभावनापूर्ण रहा। ब्र. चंदाबाई मेरे पास तो घंटों बैठती थीं। गोम्मटसार आदि अनेक प्रकार के सैद्धान्तिक विषयों पर चर्चा किया करती थीं। मैं जिनमती के साथ संस्कृत में वार्तालाप करती, तब वे बहुत प्रसन्न होतीं। कभी मैं न्याय की चर्चा करती, कभी ऊँचे-ऊँचे ग्रंथों की, तो उन्हें ऐसा लगता था कि कुछ भी हो, सम्मेदशिखर की वंदना करने के बाद माताजी! आप अपना चातुर्मास आरा में ही करें, यहाँ तत्त्व चर्चा का हम लोगों को बड़ा लाभ मिलेगा।

पिता का प्रयास —

उधर घर में पिता ने कैलाश से कहा—

"कैलाश! तुम आरा तार दे दो कि तुम्हारे पिताजी बहुत ही बीमार हैं, प्रकाश तुम जल्दी आ जाओ।"

पिता की आज्ञा के अनुसार कैलाश ने तार दे दिया।

आरा में तार मिलते ही प्रकाशचन्द ने मुझको बताया। उस समय वहाँ आचार्य विमलसागर जी महाराज संघ सहित आये हुए थे। प्रकाशचंद घबराए हुए बोले—

'मेरे पिताजी अस्वस्थ हैं' ऐसा तार आया है।...."

तब उन्हें कहा गया कि "प्रकाश! तुम चिंता मत करो, तुम्हारे पिता स्वस्थ हैं। दुकान पर बैठे कपड़े फाड़ रहे हैं और ग्राहक उन्हें घेरे हुए हैं।"

प्रकाश कुछ शांत तो हुए किन्तु पूर्ण विश्वास नहीं कर पाये। तभी सब लोगों के द्वारा समझाने पर विश्वस्त हो गये।

आचार्य विमलसागरजी महाराज का वात्सल्य बहुत ही अच्छा था। यहाँ पर शरबतीजी, जो कि यहाँ पहले अध्यापिका रहीं था, अब वे विजयमती आर्यिका थीं, वो ब्यावर चातुर्मास में मेरे पास आई थीं, कुछ दिन रही थीं, उस समय अष्टसहस्री का पठन-पाठन और कर्मकांड की चर्चा, संस्कृत में वार्तालाप आदि देखकर ये बहुत प्रभावित हुई थीं और बोली थीं कि—"माताजी! मैं किसी भी तरह से आरा से छुटकारा पाकर, आपके श्री चरणों में रहूँगी और अष्टसहस्री आदि न्याय ग्रंथों का उच्चतम अध्ययन करके, अपने ज्ञान को विकसित करूँगी किन्तु योगायोग ऐसा हुआ कि उन्होंने आचार्यश्री विमलसागरजी के दर्शन किये और उन्हीं आचार्यश्री से आर्यिका दीक्षा ले ली थी अतः वे संघ में थीं। पुरानी स्मृति उनके सामने आ गई और हंसकर बोलीं—"माताजी! आपके पास रहने का हमें योग नहीं था, अष्टसहस्री के अध्ययन का भी योग नहीं था।"

पटना —

मधुर वातावरण में यहाँ से हमारा विहार पटना की तरफ हुआ। महावीर जयंती का अवसर आ रहा था। पटना में प्रकाशचन्द साहित्यरत्न जो कि अभी गाजियाबाद रहते हैं। इन्होंने एक बहुत बड़े हॉल में महावीर जयंती का प्रोग्राम रखा और वहाँ मेरा प्रवचन विशेष रूप में कराया। लोग बहुत प्रसन्न हुए, ये लोग भी कुछ दिन ठहरने का बहुत आग्रह कर रहे थे किन्तु समयाभाव के कारण ठहरना नहीं हुआ।

यहाँ से गुलजार बाग जाकर, सेठ सुदर्शन की निर्वाणभूमि की वंदना कर, उनके चरणों को नमस्कार किया। यहाँ पटना में पटना के साहित्यरत्न प्रकाशचंद जैन और संघ के प्रकाशचंद जैन दोनों एक छोटी सी बात में उलझ कर अंधेरे में आ गये। बात यह थी कि पटना के प्रकाशचंद कुछ सामान लाकर उनके रूपये नहीं ले रहे थे और संघस्थ प्रकाशचंद कह रहे थे कि आपको रुपया लेना होगा। साहित्यरत्न ने कहा—"क्या आपने माताजी को खरीद लिया है? जो कि हम लोगों का सामान नहीं ले सकते"?

संघस्थ प्रकाश ने कहा—"हम लोगों ने नियम लिया है कि किसी से पैसा आदि नहीं लेना है। आपको गुरुभक्ति है तो कुछ दिन साथ चलो....।" खैर! यहाँ से एक हेमंत नवयुवक साथ में आया था, वह शिखरजी तक साथ रहा है।

राजगृही —

मैं संघ सहित राजगृही आ गई। यहाँ के पाँचों पहाड़ों की वंदना कर बहुत थक गई।

इस राजगृही में भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक हुए हैं। यह क्षेत्र सिद्धक्षेत्र भी माना गया है। यहाँ से जीवंधर स्वामी, मुनि धर्मरुचि, मुनिश्री श्वेतसंदीव, मुनिश्री प्रीतिंकर आदि अनेक मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है।

खास करके यह क्षेत्र भगवान महावीर की प्रथम देशना से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। षट्खंडागम ग्रंथ में गाथाएँ हैं—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खह्मि सावणे बहुले।
पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती हु अभिजिम्हि।।५६।।
सावण बहुल पडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम जोए एत्थ जुगाई मुणेयव्वो[1]।।५७।।

वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में प्रथम पक्ष—कृष्ण पक्ष में, प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई। ।।५६।।

श्रावणकृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्र मुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग का आरंभ हुआ, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।।५७।।

देव और विद्याधरों के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम वाले पंचशैल नगर (राजगृह) में पर्वतों में श्रेष्ठ विपुलाचल पर्वत पर श्रीवीरजिनेन्द्र अर्थशास्त्र के कर्ता हुए हैं[2]।

अर्थात् श्रावणकृष्णा एकम् के दिन विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी। यों तो वैशाख शुक्ला १० को भगवान् को केवलज्ञान होते ही समवसरण की रचना हो गई थी किन्तु गणधर के अभाव में दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी। इस दिन इन्द्र के द्वारा गौतम को उपस्थित किये जाने पर और गौतम के द्वारा दीक्षा लेकर मनःपर्ययज्ञान प्राप्त करने पर, उनके गणधर होते ही भगवान् की दिव्यध्वनि खिरी थी।

यहाँ के राजा श्रेणिक और रानी चेलना की भक्ति और इतिहास बहुत ही प्रसिद्ध है।

वर्तमान में दिगम्बर जैन धर्मशाला और दो विशाल दिगम्बर जैन मंदिर हैं। वर्तमान में आचार्य श्री विमलसागरजी ने महावीरकीर्तिजी गुरुदेव के स्मारक रूप में यहाँ एक विशाल सरस्वती भवन का निर्माण कराया है। साहूजी ने सन् ९९८६ में वहाँ पर्वत पर चतुर्मुखी प्रतिमा विराजमान करायी हैं। यहाँ पर उपाध्याय अमरमुनि जी, जो कि स्थानकवासी थे, इन्होंने बहुत बड़ा 'वीरायतन' बनवाया है।

ये रचनायें सन् १९६३ में नहीं थीं।

यहाँ पर अनेक झरने और कुंड हैं, इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय सप्तधारा और ब्रह्मकुंड के झरने हैं। कुंडों के गरम जल में स्नान कर यात्रियों को बड़ा आनन्द आता है।

यहाँ पर ब्रह्मचारिणी चन्दाबाईजी आ गई थीं। उन्होंने बैठकर मेरे पास अनेक चर्चायें कीं। उसमें एक चर्चा प्रमुख रही कि भगवान् महावीर स्वामी के पादमूल में दीक्षा लेकर उन्हीं का शिष्यत्व स्वीकार करने पर ही वे गौतम गणधर बन सके थे, उसके पूर्व मस्करीपूरण नाम के एक मुनि विशेष ज्ञानी वहाँ उपस्थित थे किन्तु वे भगवान् के शिष्य न होने से गणधर नहीं बन सके थे, इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि 'गुरु शिष्य संबंध' भी बहुत महत्त्व रखता है। मुझे सन् १९५५ की म्हसवड़ की घटना याद आ गई कि जब कु. प्रभावती को दसवीं प्रतिमा के व्रत देने थे, क्षुल्लिका विशालमतीजी ने समझा-बुझाकर कर मुझसे ही व्रत दिलाया था और कहा था कि यह प्रभावती आगे चलकर आपके पास ही रहेगी अतः गुरु-शिष्य का वात्सल्य बना रहे, इसलिए उन्होंने व्रत नहीं दिया था।

ब्र. चंदाबाई जी ने बहुत आग्रह किया कि—

"माताजी! आप सम्मेदशिखर की वंदना करके वापस आरा आकर ही चातुर्मास करेंगी, ऐसा आश्वासन दे दो, इसलिए मैं यहाँ आई हूँ।"

किन्तु मैंने कहा—"अभी मैं वचन नहीं दे सकती। तीर्थराज की वंदना के बाद ही विचार करूँगी।"

---

१. षट्खंडागम, भाग १, पुस्तक १, पृ. ६३-६४ । २. तिलोयपण्णत्ति १, ६५।

२-३ दिन वहाँ रहकर पुनः वहाँ से विहार कर मैं पावापुरी आ गई।

पावापुरी —

यह पावापुरी भगवान् महावीर स्वामी का सिद्धक्षेत्र प्रसिद्ध है। संस्कृत की निर्वाण भक्ति में श्रीपूज्यपाद स्वामी ने कहा है —

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्रीवर्धमान जिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा।।२४।।

पावापुर के बाहर उन्नत भूमिप्रदेश पर कमलों से सुशोभित तालाब के बीच में कर्मों से रहित भगवान् वर्धमान ने निर्वाण प्राप्त किया है। यहाँ जलमंदिर के दर्शन के समय मन में बहुत ही हर्ष हुआ, ऐसा लगा मानो साक्षात् भगवान् ही मिल गये हों।

सरोवर के मध्य संगमरमर से निर्मित जैनमंदिर है। यहाँ पहुँचने के लिए लगभग ६००फुट लम्बा पुल बना हुआ है। उस पर से जाकर ही छोटे से मंदिर में भगवान् महावीर स्वामी के चरण विराजमान हैं। यहाँ निर्वाण लाडू चढ़ाने के लिए लाखों की भीड़ उपस्थित होती है। कार्तिक कृष्णा अमावस्या के निर्वाण समय-पिछली रात्रि में यहाँ मेला भरता है। जलमंदिर के निकट ही दिगम्बर जैन मंदिर है उसको घेर कर धर्मशाला है।

पावापुरी या पावा —

आजकल पुरातत्त्व के अन्वेषक कुछ विद्वान् पावापुरी के अतिरिक्त अन्य ही 'पावा' को भगवान् की निर्वाणस्थली कहते हैं। हमें उन अन्वेषकों की बातों पर विश्वास और प्रेम नहीं है, प्रत्युत् इसी पावापुरी को निर्वाणस्थली मानने में प्रेम है।

यहाँ पर रहकर भगवान् की वंदना कर आगे विहार कर दिया।

गुणावा —

एक गुणावा क्षेत्र है, यह बिहार प्रांत में नवादा जिले में है। यह स्थान गौतम स्वामी का निर्वाणस्थल माना जाता है अतः इसे भी सिद्ध क्षेत्र कहते हैं। पावापुरी की तरह यहाँ भी सरोवर के मध्य जिनमंदिर बना हुआ है। इस मंदिर में एक वेदी में श्री गौतमस्वामी के चरण विराजमान हैं।

धर्मशाला के बीच में एक दिगम्बर जैन मंदिर है। यहाँ के दर्शन कर हम लोग और आगे बढ़े।

कुंडलपुर —

यह कुंडलपुर भगवान् महावीर की जन्मभूमि है, यहाँ दर्शन किये। आज कुछ लोग वैशाली को राजा चेटक की राजधानी मानकर जो भगवान् की जन्मभूमि मानते हैं सो सर्वथा गलत है। पं. सुमेरुचंद दिवाकर ने एक बार कहा था — तीर्थंकर जैसे महापुरुष नाना के गाँव में जन्म लेवें, असंभव है। उनके पिता एक देश के स्वतंत्र राजा रहते हैं। खैर! अन्वेषक विद्वानों की बातें दिगम्बर जैन ग्रन्थों के अनुकूल नहीं हैं।

चंपापुरी —

चंपापुरी अत्यन्त प्राचीन तीर्थ क्षेत्र है यहाँ बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक हुए हैं। यह एक ही ऐसा क्षेत्र है, जहाँ एक तीर्थंकर के पाँचों कल्याणकों का लाभ मिला है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है-

चंपापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान्।
सिद्धिं परामुपगतो गतरागबंधः।।

वसुपूज्य राजा के पुत्र भगवान् वासुपूज्य ने राग-द्वेषरूपी बंधन का नाश कर चंपापुर से निर्वाण प्राप्त

किया है।

यहाँ पहले मैं भागलपुर में एक धर्मशाला में ठहरी, उपदेश हुए, श्रावकों ने आहार दान आदि का लाभ लिया। यहाँ सीकर के कई एक परिचित श्रावक रह रहे थे। यहाँ से चंपापुर क्षेत्र के दर्शन करने गई, वहाँ भी २-३ दिन रही। वहाँ पर दो लंबी मीनारें बनी हुई हैं, ये लगभग ५०फुट ऊँची हैं।

यहाँ से मंदारगिरि पर्वत पर चढ़कर भगवान् के निर्वाणस्थल की वंदना की। यह पर्वत बहुत ही छोटा है अतः चढ़ने में श्रम न होने से बहुत ही अच्छा लगा। यहाँ से चौरानव मुनियों के साथ भगवान् वासुपूज्य मोक्ष गये हैं। प्राचीन काल में अंग देश की राजधानी चंपापुरी ४८ कोश (९६ मील) की थी अतः यह मंदारगिरि भी उसी नगरी के उद्यान में समझना चाहिए।

इस क्षेत्र की वंदना करके अनंत अशुभ कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसा विश्वास हुआ क्योंकि निर्वाण क्षेत्र की वंदना कर्मों का नाश करने में समर्थ ही है।

बैजनाथ से गिरडीह —

विहार करते हुए मैं बैजनाथ धाम पहुँची, इसे देवघर भी कहते हैं। यहाँ पर कुछ लोगों ने बताया कि प्रमुख मार्ग से गिरिडीह ७५मील है और बीच के-जंगल के रास्ते से कुल ३५ मील है। ऊहापोह करने के बाद यह निश्चित हुआ कि हम लोग पैंतीस (३५) मील वाले रास्ते से ही चलेंगे। तब ब्र. सुगनचंदजी ने यह व्यवस्था बनाई कि गाड़ी और सारा सामान तथा वृद्धा ब्रह्मचारिणियों को सीधे गिरडीह भेज दिया। आप स्वयं २-३ दिन का सामान और कुछ बर्तन २-३ कावड़ियों को देकर, साथ लिया और मेरे साथ वहाँ से रास्ते के जानकार आदमी दिये। मैं चारों साध्वियों और कु. मनोवती को साथ लेकर चल पड़ी। जंगल के बीच में कहीं पगडंडी से चलते थे, कहीं बैलगाड़ी की सड़क भी मिल जाती थी, बड़ा आनंद आ रहा था। मार्ग में ८-१० मील के बाद जहाँ कहीं जल की व्यवस्था दिखती, ब्र. जी वहीं चौका की व्यवस्था करते। मनोवती चौका बना लेती और दोनों लोग मिलकर पाँचों आर्यिकाओं को आहार करा देते थे पुनः स्वयं भोजन करके मेरे साथ पैदल चल देते थे।

इतने लम्बे रास्ते को हम लोगों ने तीन दिन में पार कर लिया और सकुशल गिरडीह पहुँच गये। वहाँ के लोगों ने अच्छी व्यवस्था की। प्रातः काल मेरा उपदेश सुनकर अतीव आग्रह करने लगे कि यहाँ एक सप्ताह तो ठहरना ही होगा किन्तु हम लोगों को तो अब सम्मेदशिखर पहुँचने की इतनी आकुलता थी कि ऐसा लगता था मानों उड़कर ही अब तीर्थराज पर पहुँच जाएँ। यहाँ से मध्यान्ह में ही विहार कर दिया और यथासमय सम्मेदशिखर पहुँच गई।

£ ४२ ¤

सम्मेदशिखर वंदना —

यहाँ ज्येष्ठ कृष्णा सप्तमी को प्रातः आहार करके हम लोगों ने पहाड़ पर चढ़ने का निर्णय लिया। तदनुसार आहार के बाद भगवान् का दर्शन करके हम पाँचों साध्वियाँ और ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी सभी एक साथ चढ़े। मार्ग में सीता नाले के पास पहुँचकर लगभग १२ बजने के समय वहाँ एक तरफ बैठकर सामायिक किया और पुनः चढ़ना प्रारंभ कर दिया। पर्वत पर चढ़ते समय बराबर णमोकार मंत्र और सिद्धचक्र मंत्र को जप रहे थे।

जब भगवान् कुंथुनाथ के टोंक की दर्शन किये, हर्ष का पार नहीं रहा। हम सभी के आँखों से आनन्दाश्रु झरने लगे, ऐसा लगा कि मानो अब हमारा संसार बहुल अल्प ही रह गया है, हम लोग निश्चित भव्य हैं। इसके पूर्व मैंने तो एक बार बचपन में माता-पिता के साथ इस तीर्थ की वंदना की थी पुनः दूसरी बार क्षुल्लिका

अवस्था में क्षुल्लिका विशालमती के साथ आई थी अतः यह तृतीय बार वंदना की। मेरे साथ रहने वाली आर्यिका पद्मावती, आर्यिका आदिमती और क्षुल्लिका श्रेयांसमती ने भी पहले इस क्षेत्र के दर्शन किये थे। मात्र आर्यिका जिनमती ने ही नहीं किये थे अतः उन्हें ही धुन लग रही थी और वे बार-बार कहा करती थीं कि—

"अम्मा! मुझे शिखरजी की वंदना करा दो, जिससे यह निश्चित हो जाये कि मैं भव्य हूँ।"

अतः आज उन्हें अपने भव्यत्व का निर्णय हो गया और वे अपने में फूली नहीं समायीं। हम सभी साध्वियाँ रात्रि में वहीं कुंथुनाथजी की टोंक से लेकर चन्द्रप्रभ टोंक तक दर्शन कर, शाम को कुंथुनाथ टोंक के पास एक टूटी-फूटी धर्मशाला में सोयी थीं और प्रातः उठकर पुनः आधी वंदना करके भगवान् पार्श्वनाथ की टोंक पर पहुँचकर सामायिक किया। यहाँ पर कु. मनोवती की इच्छा और प्रार्थना के अनुसार मैंने उसे सात प्रतिमा के व्रत दे दिये।

अभी तक मैंने कई वर्षों से चावल का त्याग कर रखा था, मात्र एक गेहूं धान्य ही आहार में लेती थी अतः ब्र. बाबाजी यहाँ टोकों पर जो जल लाये थे उससे सर्वत्र चरणों का अभिषेक किया, अर्घ चढ़ाया पुनः एक डिब्बे में खीर लेकर आये थे, एक-एक पत्तों के दोने में खीर लेकर यहाँ चरणों के निकट नैवेद्यरूप में खीर भी चढ़ाई। इस प्रकार एक-एक दिन में आधी-आधी, ऐसे दो दिन में पूरी वंदना कर हम सभी मध्यान्ह में तीन बजे के लगभग पर्वत से उतरे, बाद में आहार ग्रहण किया।

इस प्रकार कुछ वंदनाएँ हम लोगों ने दो-दो दिन में की थीं तथा कुछ वंदनाएँ प्रातः ६ बजे से चढ़कर वापसी तीन बजे तक आकर की थी। मेरे साथ आर्यिका पद्मावती जी थीं, वे प्रातः उजेला होने पर वंदना के लिए निकलतीं और १० बजे तक आहार के समय वापस आ जाती थीं। मैंने पूछा—

"तुम सारे टोंकों के दर्शन इतनी जल्दी कैसे कर लेती हो?"

वह बोलीं—

"अम्मा! मैं जल्दी-जल्दी चढ़कर, वहाँ पहुँचकर, प्रत्येक टोंक के पास एक कायोत्सर्ग कर पंचांग नमस्कार करती हूँ, ऐसे ही चौबीसों टोंकों की वंदना करके ही आती हूँ।"

उनकी ऐसी शक्ति देखकर मुझे बहुत ही आश्चर्य होता था।

यहाँ शिखरजी की वंदना के बाद सरदारमल जैन जयपुर वाले, ब्र. मूलीबाई और प्रकाशचंद जैन टिकैतनगर वाले, ये तो आशीर्वाद लेकर अपने-अपने घर चले गये। प्रकाशचंद के पिता के द्वारा दिया गया पत्र एवं तार हमें यहाँ पहुँचते ही मिल गया था, अतः अब इन्हें घर जाना ही था।

हम पांचों साध्वियाँ यहाँ लगभग १ माह आनंद से ठहरीं। ब्र. सुगनचंद, उनकी बहन, ब्र. भंवरीबाई और कु. मनोवती, ये चारों यहीं संघ में ठहरे हुए थे। यहाँ दो चौके करते थे। हम लोग निराकुलता से यहाँ धर्माराधना कर रहे थे।

भगवान् शांतिनाथ का निर्वाणदिवस —

यहाँ एक मुनि धर्मकीर्तिजी ठहरे हुए थे। बीच में कुछ सनावद के यात्री दो बसें लेकर यात्रा के लिए आये हुए थे, वे ठहरे हुए थे। ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को भगवान् शांतिनाथ का मोक्ष कल्याणक था। मुनिश्री के आदेशानुसार वे लोग गाजे बाजे के साथ पर्वत पर भगवान् शांतिनाथ की टोंक पर लाडू चढ़ाने गये थे। उस समय मैं तो इन लोगों को पहचानती नहीं थी और न कोई परिचय ही हो पाया था। अब यहाँ कई बार मोतीचंद कहा करते हैं कि—

"माताजी! उन यात्रियों में मैं भी था किन्तु आपके दर्शन किये या नहीं? मुझे याद ही नहीं है।"

बात यह थी कि मैं यात्रियों से या अन्य किसी से बहुत कम बोलती थी। अपना उपयोग अपने कार्यों में

ही लगा रहता था। कभी ऊपर वंदना के लिए जाती थी, तो कभी नीचे के बीसपंथी मंदिर, कभी तेरापंथी मंदिर के दर्शनों के लिए, तो कभी भगवान् बाहुबली के दर्शनों के लिए चली जाती, वहाँ जाकर कभी-कभी ध्यान भी किया करती थी।

सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए नावा से निकलते ही हम लोगों ने एक जाप्य करना शुरू कर दिया था, जो बराबर रास्ते में भी जपते रहते थे एवं जब कभी दिन-रात्रि में अवकाश मिले, वह जाप्य बराबर चलती रहती थी। मैं समझती हूँ कि उसी के प्रभाव से ऐसे रुग्ण, कमजोर शरीर से मैंने छह माह में निर्विघ्न रूप से बारह सौ मील की चलाई कर ली और यहाँ आकर वंदना कर रही थी। वह जाप्य यह है—

''ॐ ह्रीं अर्हं श्रीअनंतानंतप्रमसिद्धेभ्यो नमो नमः।''

रास्ते में भयंकर सर्दी झेली। पावापुरी से लू-लपट भरी गर्मी की बाधाएँ झेलीं। कभी अधिक चलाई और कभी अधिक अंतराय आदि के कष्ट झेले लेकिन यहाँ तीर्थराज की वंदना कर सब दुःख ऐसे लग रहे थे कि मानों वे फूल के सदृश ही कोमल थे अथवा वे इतना बड़ा पुण्य संचय कराने में कारण हुए थे अतः सुखकर ही प्रतीत हो रहे थे। सम्मेदशिखर की वंदना का माहात्म्य तो अचिन्त्य ही है, जहाँ की एक-एक टोंक के दर्शन से अरबों-खरबों उपवास का फल मिल जाता है और इस क्षेत्र की वंदना करने वाले भव्य जीव अधिकतम उनंचास भव ही ले सकते हैं, इससे अधिक नहीं। यह नियम है कि वंदना करने वालों की नरक गति और तिर्यंच गति टल जाती है।

सम्मेदशिखर तीर्थ परिचय —

ऐसी अनुश्रुति है कि श्री सम्मेदशिखर और अयोध्या ये दो तीर्थ अनादिनिधन- शाश्वत हैं। अयोध्या में सभी तीर्थंकर जन्म लेते हैं और सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त करते हैं। किन्तु इस हुंडावसर्पिणी के दोष से इस बार अयोध्या में पाँच ही तीर्थंकर जन्मे हैं शेष अन्य नगरियों में जन्मे हैं। ऐसे ही भगवान ऋषभदेव ने कैलाशपर्वत से, वासुपूज्य ने चंपापुरी से, नेमिनाथ ने ऊर्जयंत से और महावीर स्वामी ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया है, शेष बीस तीर्थंकरों ने यहाँ सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया है। कहा भी है-

बीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।२।।

तिलोयपण्णत्ति में प्रत्येक तीर्थंकरों के साथ मोक्ष प्राप्त करने वालों की संख्या भी दी गई है।

इन बीस तीर्थंकरों से अतिरिक्त अनेक मुनिगण यहाँ पर कर्मों का नाश कर मोक्ष पधारे हैं। सम्मेदशिखर विधान में और टोकों के अर्घ में एक-एक टोंक से मोक्ष प्राप्त करने वालों की संख्या दी गयी है पुनः किस-किस टोंक की वंदना से कितने-कितने उपवासों का फल मिलता है, यह भी बतलाया गया है।

यहाँ सम्मेदशिखर मधुबन में बीसपंथी, तेरहपंथी तथा श्वेताम्बर नाम से तीन कोठियाँ हैं। बीसपंथी कोठी सबसे प्राचीन है। लगभग चार सौ वर्ष पुरानी है, इस बीसपंथी कोठी के बाद लगभग २५० वर्ष बाद श्वेतांबर कोठी बनी है। इसके बाद लगभग १०० वर्ष बाद तेरहपंथी कोठी बनी है।

गिरिराज की भक्ति —

सम्मेदशिखर का माहात्म्य और उसकी वंदना से होने वाले पुण्य फल को मैंने जो समझा था, श्रद्धान किया था, उसे ही सोलापुर में संस्कृत स्तोत्र और हिन्दी स्तोत्र में संजोया था। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये— ''श्रीसम्मेदशिखर वंदना'' में प्रथम श्लोक—

सिद्धान् सर्वान् नमस्कृत्य, सिद्धस्थानं जिनेशिनां।
पूज्यं सम्मेदशैलेन्द्रं, भक्तया संस्तौमि सिद्धये।।१।।

एक कूट की वंदना में—

कूटे सिद्धवराभिख्येऽजितनाथः शिवं ययौ।
सहस्त्रमुनिभिः सार्धं, वंदे भक्तया शिवाप्तये।।३।।

स्कंध छंद— **तत्कूटे चैकार्बुद-चतुरशीतिकोटिपंचचत्वारिंशत् ।**
लक्षप्रमिता मुनयो, दग्ध्वा कर्माणि मुक्तिमापुर्योगात् ।।४।।

अनुष्टप् — **मनसा वपुषा वाचा, संततं भक्ति भावतः।**
तान् सुसिद्धान् नमस्यामि, स्वकर्ममलहानये।।५।।

पुनः अंत में— **कुरुते वंदनां भक्तया, वारमेकं जनोऽस्य यः।**
तिर्यङ्नरकगत्योश्च गमनं तस्य नो भवेत् ।।७३।।
तथा चैकोनपंचाशत् भवस्याभ्यंतरे स हि।
नियमाल्लप्स्यते मुक्तिमेतदुक्तं जिनेश्वरे।।७४।।

इसी का हिन्दी अनुवाद है—

सिद्धों को कर नमस्कार, सम्मेदगिरीन्द्र स्तवन करूँ।
सिद्धभूमि के वंदन से, कटु कर्मकाष्ठ को दहन करूँ।।१।।
कूट सिद्धवर से श्री अजितप्रभु सहस्त्र मुनियों के साथ।
भव समुद्र से पार हुए हैं, वंदन करूँ नमाकर माथ।।३।।
मुनिगण एक अरब चौरासी, कोटि तथा पैंतालिस लक्ष।
इसी कूट पर कर्मनाश कर, मोक्ष गये वंदूँ मैं नित।।४।।

मैंने पुनः सन् १९८७ में सम्मेदशिखर विधान पूजन बनायी है। उसमें टोंक के अर्घ के साथ उनकी वंदना से होने वाले उपवासों की संख्या भी दी है। यथा—

श्री अजितनाथ जिन कूट सिद्धवर से निर्वाण पधारे हैं।
उन संघ हजार महामुनिगण, हन मृत्यू मोक्ष सिधारे हैं।।
इससे ही एक अरब अस्सी, कोटी अरु चौवन लाख मुनी।
निर्वाण गये सबको पूजूँ, मैं पाऊँ निज चैतन्य मणी।।

दोहा— **भावसहित इस टोंक की, करूँ वंदना आज।**
बत्तिस कोटि उपवास फल, अनुक्रम से निज राज्य।।

ॐ ह्रीं सिद्धवरकूटात् सिद्धपदप्राप्त सर्वमुनिसहित अजितजिनेन्द्राय अर्घं।

इसी प्रकार मथुरा में श्रीजंबूस्वामी की चरण वंदना कर मैं आगे बढ़ी थी तो निर्विघ्न यात्रा हो गई थी। इस निमित्त से मेरी जंबूस्वामी के प्रति भी भक्ति भावना बढ़ गई थी अतः श्रवणबेलगोल में सर्वप्रथम बाहुबलि स्तोत्र संस्कृत और बाहुबलि चरित हिंदी पद्य में रचने के बाद श्रीजंबूस्वामी की स्तुति भी बनायी थी। उसका प्रथम श्लोक यह है—

विहितविमलसम्यक्खड्गधाराव्रतः प्राक्।
भव इह न हि कांतासक्तचेता निकामः ।।
इह भरतधरायामंतिमः केवली तम् ।
त्रिभुवननुतजंबूस्वामिनं स्तौमि भक्त्या।।१।।

बीसपंथी कोठी में तीन अहाते हैं एवं धर्मशालाओं में १६६ कमरे हैं। इसके मुख्य मंदिर में आठ

शिखरबंद जिनालय हैं।

तेरहपंथी कोठी में पाँच अहाते और पाँच धर्मशालाएँ हैं तथा बारह जिनालय और एक सहस्रकूट जिनालय है। यह सन् १९७५ में लिखी गई '**भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ**' पुस्तक से लिया है चूँकि बहुत सी रचनाएँ बाद में बनी हैं।

उस समय नंदीश्वर द्वीप तो बन रहा था। समवसरण मंदिर बाद में बना है। अब तो वहाँ आर्यिका सुपार्श्वमती जी द्वारा चार सौ अट्ठावन जिनमंदिरों का निर्माण कराया जा रहा है जो कि मध्यलोक संस्थान नाम से प्रसिद्ध है। कल्याणसागर नाम के एक मुनिराज ने वहाँ 'कल्याणनिकेतन' नाम से एक संस्था खोली है, जिसमें भी विभिन्न निर्माण हो रहे है।

वस्त्रों का शोध —

यहाँ की जलवायु मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल रही अतः रास्ते की सारी थकान समाप्त हो गई थी। ईसरी के उदासीन आश्रम के ब्रह्मचारी लोग भी आहार देने आ जाते थे। एक बार एक ब्रह्मचारी आये और पैर धोकर चौके में आने लगे, मैंने संकेत से रोका, तब वे बाहर ठहर गये। ब्र. सुगनचंदजी ने पूछा—

"आपने शुद्ध कपड़े कहाँ बदले हैं?"

उन्होंने कहा—

"मैंने ईसरी में प्रातः स्नान कर शुद्ध कपड़े पहने थे, पूजा किया था, उसके बाद सीधे वहाँ से आ रहा हूँ।"

ब्रह्मचारीजी ने पूछा—"क्या पैदल आये हैं?"

वे बोले—"नहीं, नहीं, मैं बस से आया हूँ।"

तब ब्र. सुगनचंद ने कहा कि—

"अब आपके वस्त्र शुद्ध कैसे रहे? बस में तो सभी लोगों से छू गये हो!"

वे बोले—"प्रातः शुद्ध कपड़े पहने थे, तो बार-बार बदलने की भला क्या जरूरत है?"

खैर! उन्हें रोक दिया गया अतः वे दुःखी भी हुए और झुँझलाए भी। बाद में आहार के पश्चात् भोजन आदि करके मेरे पास 'शोध' की चर्चा करने बैठ गये। तब मैंने उन्हें समझाया—

"मेरी आचार्य परम्परा में वस्त्रों के शोध की जो व्यवस्था है सो सुनिये—धोती दुपट्टे आदि कपड़े धोकर, रस्सी या लोहे के तार की रस्सी पर सुखा देते हैं। उस समय उस रस्सी पर पहले के जो कपड़े सूख रहे हों, उन्हें हटा देना चाहिए अन्यथा वे अब आपसे छू गये और तब ये गीले भी वस्त्र सूखकर छुए ही माने जायेंगे पुनः उस रस्सी के सूखे वस्त्रों को एकांत में वस्त्र बदलकर, आकर उतारकर पहनना चाहिए या गीले कपड़े पहनकर इन्हें उतारना चाहिए या एकांत में नग्न होकर इन्हें उतारना चाहिए पुनः इन शुद्ध वस्त्रों को पहनकर ही चौका बनाना चाहिए और आहार देना चाहिए। यदि बाहर के छुए वस्त्र वालों से छू गये हैं तो चौके में नहीं आना चाहिए। चारित्र चक्रवर्ती श्री आचार्य शांतिसागरजी से लेकर आज तक उनकी परम्परा के साधुओं में वस्त्रों की शुद्धि की यही व्यवस्था चलती है।

कोई-कोई धुलकर सूखे हुए वस्त्र लकड़ी से उठाकर रख देते हैं, उन्हें शुद्ध मानते हैं। कोई-कोई हाथ से ही वस्त्र उठाकर, टीन के डिब्बे में या प्लास्टिक की थैली में रखकर अन्यत्र ले जाते हैं, उन्हें पहनकर आहार दे देते हैं। कोई-कोई साधु तो ऐसे वस्त्र पहनने वालों से आहार ले लेते हैं किन्तु हम लोग वैसे नहीं लेते हैं।"

यह सुनकर उन ब्रह्मचारी ने भी वहाँ मधुबन आकर अपने वस्त्र प्रातः सुखा दिये पुनः बदलकर आहार दिया, तब मैंने ले लिया। उन्हें खूब खुशी हुई।

संघस्थ व्रतिकों की वैयावृत्ति —

इस यात्रा में ये ब्रह्मचारी लोग बैलगाड़ी से प्रवास कर रहे थे अतः इन लोगों ने बहुत कष्ट झेले हैं। जहाँ प्रातः ७-८ बजे पहुँचते थे। वहाँ कपड़े धोकर सुखाते, फिर चौका बनाते थे। कपड़े कुहरा, ठंडी, ओस अथवा बारिश में सूख ही नहीं पाते थे। प्रायः गीले-सीले पहन कर चौका बनाकर आहार देते थे। ग्यारह बजे लगभग आहार होने से ये लोग १२-१ बजे भोजन करते तब वैसे ही ठंडा और रूखा-सूखा भोजन कर लेते। प्रकाशचंद और मनोवती तो पेट भी नहीं भर पाते थे। इसके बाद जल्दी-जल्दी बर्तन साफकर, सब सामान बांधकर, प्रायः ३-४ बजे बैलगाड़ी रवाना कर देते, तब कहीं मेरे विश्राम के स्थान पर रात्रि में ११-१२ बजे आ पाते थे। बाद में हम लोगों के लिए घास बिछाकर जब स्वयं सोते तो १२-१ सहज बज जाता। इसके बाद पिछली रात्रि में तीन बजे ही उठकर गाड़ी में घास और अपने बिस्तर आदि डालकर गाड़ी में बैठकर चल पड़ते, फिर भी आहार के स्थान पर गाड़ी ७-८ बजे पहुँच पाती थी। इस यात्रा में हम साध्वियों को भी प्रतिदिन प्रायः रात्रि में ११-१२ बजे घास मिलती और तीन बजे वापस घास छोड़ देनी होती थी। उस समय उम्र और स्वास्थ्य की कुशलता से ये कष्ट झेल लिये थे। आज तो कथमपि संभव नहीं है। बंद कमरे में शाम को ५ बजे से घास में बैठकर प्रातः ९ बजे घास से निकलना होता है।

ऐसे ही इनके पास नौकर न होने से ये दोनों, चौके का पानी भरना, आटा पीसना, बर्तन मांजना पुनः सामान बांधकर गाड़ी में लादना आदि सारी मेहनत स्वयं करते थे। फिर भी इन लोगों को अरुचि, अशांति नहीं थी। इन लोगों ने इस यात्रा में इस वैयावृत्ति और गुरुसेवा से महान् पुण्य बंध किया, इसमें कोई संदेह नहीं है।

ब्रह्मचारी जी ने बताया था कि कानपुर से उन्हें एक गाड़ीवान् ऐसा मिल गया था जो कि ब्राह्मण था, मेरी थाली का ही प्रसाद खाता था और दिन में एक बार ही भोजन करता था। न बीड़ी-सिगरेट, न पान, न रात्रि भोजन, वह बहुत सात्विक था, उसकी मेरे प्रति बहुत भक्ति थी, रोज नमस्कार करके भोजन करता था। वह हम आर्यिकाओं की धोती धोने के लिए बहुत ही लालायित रहता था लेकिन मेरी आज्ञा न होने से संघस्थ ब्रह्मचारिणियाँ स्वयं हम लोगों की धोतियाँ धो लेती थीं। वह कहता—"बाबाजी! यदि मैं कुछ भी माताजी की सेवा नहीं कर सकता हूँ तो धोती ही धो लाऊँ, मुझे कुछ भी लाभ तो मिल जाये।" बाबाजी कहते—"मैं क्या करूँ? बाइयाँ धो डालती हैं।"

ब्र. जी कहते थे कि—"इसके बैल भी खूब बड़े-बड़े हैं और गाड़ी भी बड़ी है अतः दो गाड़ी की अपेक्षा मेरा एक से ही काम चल जाता है।

यह गाड़ीवान् बाबाजी के साथ शिखरजी तक रहा है पुनः वंदना करके आशीर्वाद लेकर घर गया।

ईसरी में धर्मोपदेश —

इसके बाद मैं कुछ दिन के लिए ईसरी आ गई। चूँकि यहाँ पर ब्र. सुरेन्द्र कुमार जी बहुत आग्रह कर रहे थे यहाँ पर उन्होंने ने मुमुक्षु आश्रम में एक दिन मेरा प्रवचन रखा। सामने प्रवचनसार रख दिया, मैंने भी प्रवचनसार की गाथा और अमृतचंद्रसूरि की टीका का अच्छा अर्थ कर दिया। मैंने न्याय की पंक्तियों को न्याय की शैली में समझाया, तब ब्र. सुरेन्द्रजी बोले—

"माताजी! आपका संस्कृत व्याकरण, न्याय और सिद्धान्त, तीनों विषयों पर अच्छा अधिकार है। आप प्रतिदिन हम लोगों को प्रवचनसार सुनाइये।"

इस तरह कई दिन स्वाध्याय चलाया गया। वैसे मैं यहाँ बीसपंथी मंदिर के स्थान में ठहरी थी। अब इन लोगों का आग्रह था कि—

"आप संघ सहित यहाँ ईसरी में ही चातुर्मास करें।" इधर गया से चंपालाल सेठ जी आकर आग्रह कर

रहे थे कि गया में चातुर्मास करिये। रांची, गिरिडीह और भागलपुर के लोगों ने भी आग्रह कर रखा था। आरा से ब्र. चन्दाबाई जी के भी समाचार आ रहे थे। गया की ब्र. पतासीबाई भी आग्रह कर रही थीं। इन सभी के साथ ही उधर कलकत्ते से श्रावकों और ब्र. चांदमलजी (गुरुजी) के हर तीसरे-चौथे दिन बराबर पत्र आ रहे थे। मैं सोच नहीं पा रही थी कि—

"कहाँ चातुर्मास करना?"

वैसे मेरी इच्छा सम्मेदशिखर में ही रहने की थी किन्तु लोग मच्छर आदि का भय बता-बता कर बात टिकने नहीं देते थे। आखिर कर एक दिन संघ से मुनिश्री श्रुतसागरजी के द्वारा लिखाया हुआ एक पत्र (सेठ रामचंद्र कोठारी का) मिला कि—

"महाराजश्री का कहना है कि जैसे आपने सम्मेदशिखर जी के लिए बारह सौ मील की यात्रा की है, वैसे ही धर्म प्रभावना के लिए दो सौ (२००) मील और चलकर एक बार कलकत्ते चली जावो, वहाँ पाँच माह विश्राम कर लेना।"

चूँकि यह चातुर्मास पाँच माह का था, एक महीना बढ़ा हुआ था। इस पत्र को पाकर मुनिश्री की बात मानकर 'कलकत्ते चली जाऊँ" इस पर आपस में विचार किया। यद्यपि कोई भी आर्यिकाएँ अब दो सौ मील चलना नहीं चाहती थीं, फिर भी सबने मेरे ऊपर ही डाल दिया और बोलीं—

"अम्मा! जैसा आप निर्णय करें, वैसा हमें मान्य होगा।" इधर कलकत्ते से अमरचंद जी पहाड़िया आदि श्रावक भी आने वाले थे। एक बार हम लोगों ने सोचा और कलकत्ते का ही निर्णय कर लिया।

इस बीच हम लोग ईसरी से निमियाघाट होकर, ऊपर पर्वत पर जाकर, वंदना करके वहीं जलमंदिर में सोकर, वापस मधुबन ही उतर गई थीं। वहाँ पहुँचते ही कलकत्ते के श्रावक आ गये और प्रार्थना करने लगे। हम लोगों ने आहार करके विहार कर दिया। वह दिन आषाढ़ शुक्ला चौथ का था। मात्र अपने पास आषाढ़ सुदी १४ में तो दस दिन ही शेष रहे थे। आचार्य संघ से जो पत्र आया था, उसमें लिखा था कि "आप लोग विहार कर श्रावण बदी चौथ तक वहाँ पहुँचो। विशेष प्रसंग में श्रावण वदी चौथ तक वर्षायोग स्थापना करने का शास्त्र में विधान है।" अतः हम लोगों ने साहस करके विहार कर दिया था। इन लोगों ने कलकत्ता पहुँचने तक ब्र. सुगनचंद को रोक लिया था अतः मार्ग में सारी व्यवस्था ब्र. सुगनचंद और ब्र. मनोवती ने संभाली थी। कलकत्ते के श्रावक रास्ते में आते-जाते रहते थे और ठहरने के स्थान का निर्णय कर देते थे।

£ ४३ ¤

कलकत्ता चातुर्मास —

आषाढ़ शुक्ला चौथ से आषाढ़ शुक्ला चौदश तक, ग्यारह दिन मेरे हाथ में थे। मैंने आषाढ़ सुदी चौथ को दोपहर में विहार कर १० मील लगभग चलाई की थी अतः ऐसा क्रम बनाया था कि मध्य के नव दिनों में बीस-बीस मील चलना और प्रथम व अंतिम दिवस दस-दस मील मिलकर, दो सौ मील पूरे हो जावेंगे। उसी हिसाब से चल रही थी। आहार और सामायिक से अतिरिक्त चलना ही चलना रहता था। इस मार्ग में शक्ति से अधिक बहुत ही थकान आती थी, तब बीच में सड़क के किनारे बैठकर ५-१० मिनट विश्राम करके फिर चल देती थी। पैरों के तलवे घिसकर खूब वेदना उत्पन्न करते थे, उनसे खून बहने लगता था, कहीं गीली मिट्टी को कुछ क्षण पैर में लगा लेने से कुछ नाममात्र की शान्ति मिल जाती थी।

इधर २-४ दिन बाद ही एक दिन आहार में मेरे एक-दो ग्रास लेने के बाद ही अंतराय आ गया। इस उपवास जैसी स्थिति में भी उतना ही मैं चली। इधर संग्रहणी के प्रकोप से तीन-चार बार शौच तो जाना ही

होता था, फिर भी शरीर से निर्मम होकर चलाई हो रही थी। यद्यपि स्वस्थ साधु-साध्वियाँ आज भी इतनी लम्बी क्या, इससे अधिक चल लेते हैं। जबकि जहाँ लाडनूं में मेरी संग्रहणी की बीमारी के निमित्त से मुझे छह माह में सम्मेद शिखर पहुँचने की बात असंभव सी दिख रही थी, वहाँ मैंने मनोबल से यह दो सौ मील की चलाई भी ग्यारह दिन में तय कर ली और आषाढ़ शुक्ला चौदस को कलकत्ते पहुँच गई।

वर्षा की बूँदें —

कलकत्ता शहर से कुछ दूर पहले ही स्वागत के लिए बहुत से स्त्री-पुरुष चले आ रहे थे, उन्होंने बताया कि शहर में वर्षा हो रही थी मात्र यहाँ आपके निकट एक-दो फर्लांग तक ही वर्षा नहीं है। इन लोगों ने शहर के निकट से बैंड बाजे के साथ जुलूस बना लिया और मुझे मंदिरों के दर्शन कराकर जुलूस के साथ ही बेलगछिया तक पहुँचने तक लगभग ग्यारह बज रहा था। वहाँ पहुंचकर जुलूस सभा में परिणत हो गया और मेरा मंगल आशीर्वादात्मक प्रवचन हुआ। वहाँ उस समय लोगों की खुशी, उत्साह और भक्ति देखते ही बनती थी। इस दिन हम सभी साध्वियों का उपवास था।

वर्षा योग स्थापना —

मध्यान्ह सामायिक के बाद मैंने एक श्रावक से कहा —

"आप जयपुर में श्री रामचन्द्र कोठारी को टेलीफोन से सूचित कर दो कि माताजी कलकत्ता बेलगछिया में आ चुकी हैं। अब आचार्यश्री शिवसागर जी का आशीर्वाद और चातुर्मास स्थापना के लिए स्वीकृति भेज देवें।"

तदनुसार यहाँ से जयपुर टेलीफोन किया गया। वहाँ जब सेठ रामचन्द्र जी ने आचार्यश्री से समाचार कहे, तब सभी साधुओं के आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रहा। आचार्यश्री ने कहा —

"यह समाचार झूठ भी हो सकता है, चूँकि ज्ञानमती माताजी के बीस-बीस मील चलने की शक्ति नहीं है।

फिर भी सेठ रामचन्द्र जी ने कहा —

"महाराज जी! विश्वस्त सेठ अमरचन्द पहाड़िया आदि ने फोन किया है, आप आशीर्वाद दीजिये।"

पुनः कोठारी जी के टेलीफोन से जब यहाँ मुझे आशीर्वाद और चातुर्मास स्थापना के लिए स्वीकृति का समाचार मिला तो बहुत खुशी हुई।

रात्रि में सामायिक के बाद कलकत्ता शहर के सभी प्रतिष्ठित लोग प्रायः आ चुके थे। नथमलजी सेठी, मदनलाल पांड्या, अमरचन्द पहाड़िया, सीताराम पाटनी, चांदमल बड़जात्या, सुगनचंद लुहाड़िया, किशनलाल काला, पारसमल बलूँदा वाले, हरखचन्द पांड्या, नागरमल अग्रवाल जैन आदि अनेक महानुभावों ने श्रीफल चढ़ाकर चातुर्मास स्थापना के लिए प्रार्थना की। मैंने भी रात्रि में मौन छोड़कर वर्षायोग के बारे में कुछ उपदेश देकर स्वीकृति प्रदान की, पुनः श्रावकों ने हर्ष से विभोर हो जय-जय ध्वनि की।

हम सभी आर्यिकाओं ने विधिवत् भक्ति पाठ करके वर्षायोग स्थापना की, लगभग ग्यारह बजे सभा विसर्जित हुई। तब हम लोगों ने विश्राम किया। प्रातः काल से ही यहाँ बेलगछिया में मेला सा लगा रहता था।

प्रातः आठ बजे मेरा प्रवचन हुआ। इसके बाद दस बजे आहार के लिए निकली, तब आठ-दस चौकों में पड़गाहन करने वाले लगभग सौ लोग खड़े थे। पड़गाहन के बाद हम सबके निरंतराय आहार हुए, सबको खुशी हुई। इसी दिन सायंकाल में सुगनचन्द लुहाड़िया आदि श्रावक-श्राविकाओं ने हारमोनियम, तबले आदि बजाकर भक्ति में विभोर हो, मेरी आरती की।

एक चर्चा रात्रि में वर्षायोग स्थापना की —

वर्षायोग स्थापना के बाद कतिपय तेरहपंथी और सुधारक लोगों ने एक चर्चा चालू कर दी कि "रात्रि में वर्षायोग स्थापना उचित है क्या?"

मेरे पास शंका-समाधान आने के पहले ही वहाँ बेलगछिया में रहने वाले ब्रह्मचारी प्यारे लाल जी (भगतजी) ने उन सबको समाधान देकर शांत कर दिया। उन्होंने कहा —"रात्रि में वर्षायोग प्रतिष्ठापन की विधि मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए शास्त्र में है।"[१]

लोग शांत हो गये। मुनिभक्त लोगों को बहुत ही आश्चर्य हुआ कि —"ये भगत जी स्वयं तेरहपंथी हैं, सुधारक हैं, फिर भी ऐसा समाधान देकर शांति कर रहे हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। बाद में समझ में आता गया कि —

भगत जी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी चमेलाबाई ये दोनों ही आगम के श्रद्धालु हैं और मेरे प्रति भी श्रद्धालु ही हैं, अतः श्रद्धा और भक्ति से ही वे ऐसा समाधान देते रहे हैं।"

उपदेश में स्पष्टीकरण —

रविवार के दिन मध्यान्ह में विशेष भीड़ हो जाने से विशेष उपदेश होता था। प्रारंभ में मैंने पं. बाबूलाल जी वक्ता को मंगलाचरण के लिए खड़ा कर दिया। इन्होंने अच्छा भाषण किया, मेरी प्रशंसा भी की पुनः अपने भाषण में ही बोले —

"मैं पूज्य माताजी से निवेदन करना चाहता हूँ कि वे अपने उपदेश में तत्त्वों का ही विषय लेवें, क्रिया कांड आदि का विषय न लेवें, चूँकि यहाँ अनेक विचारधारा के लोग हैं।

मैंने इसके बाद अपने प्रवचन के अंत में कहा —

"जैसा कि पं. बाबूलाल जी ने निवेदन किया है वह नहीं जंचा क्योंकि मैं शास्त्र के आधार से क्रिया और तत्त्व दोनों का ही प्रतिपादन करूँगी। मैं चर्या के विषय छोड़कर मात्र तत्त्वों का प्रतिपादन करूँ, यह एकांत मेरे द्वारा संभव नहीं है। हाँ! जिन्हें जिस विषय में शंका होवे, वे मेरे पास आकर उस-उस विषयक आगम प्रमाण देख सकेंगे। चूंकि पंडित जी ने सभा में ही स्पष्टीकरण कर दिया है। मैं अपने गुरुओं और आगम ग्रंथों के सिवाय किसी के बंधन में नहीं बंध सकती हूँ.....।"

इस मेरे वक्तव्य का सभा के सभी लोगों ने करतल ध्वनि से अच्छा स्वागत किया।

यद्यपि मैंने आज तक अपने ३५ वर्ष के दीक्षित जीवन में सभा में कभी भी बीसपंथ का प्रतिपादन नहीं किया है और न तेरापंथ का खंडन ही किया है, फिर भी उनका यह बंधन मुझे नहीं जँचा था। मेरे पास अलग से यदि कोई तेरह-बीस की चर्चा लाये हैं तो मैंने शास्त्रों के एक ही नहीं अनेक प्रमाण दिखा दिये हैं। अस्तु। इसके बाद उन विद्वान् ने कई बार भाषण भी दिया है, मुझे पड़गाहन कर आहार भी दिया है, प्रायः आते थे, भक्ति व नमस्कार आदि करते थे परन्तु फिर कभी भी कोई ऐसी बात नहीं कही।

शासन देव-देवियों के प्रमाण —

उसी बेलगछिया में एक नन्दलाल जी जैन प्रसिद्ध श्रावक थे। उनके घर में प्रायः चौका लगता रहता था और वे आहार भी देते थे, अच्छे भक्तिमान थे। शायद उन्हीं के भाई छोटेलाल जी एक अच्छे प्रसिद्ध और सुधारक श्रीमान वहीं रहते थे। वे भी प्रायः प्रतिदिन मेरे पास आकर नमस्कार करते और कुछ न कुछ चर्चा किया करते थे। वे एक बार बहुत से फोटो लाये और दिखाने लगे। ये फोटुए खंडगिरि-उदयगिरि की गुफाओं की थीं, वे श्रीमान इन फोटुओं को दिखा दिखाकर बार-बार यह कह रहे थे —

"माताजी! देखो, ये शासन देव और देवियाँ चौबीस सौ वर्ष पुरानी हैं जो कि वहाँ गुफाओं के शिलालेख

---

१. ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रेः सिद्धमुनिस्तुती। चतुर्दिक्षु परीत्याल्याचैत्यभक्तिर्गुरुसुतिम।।६६।।
शांति भक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगतु गृह्यताम् । ऊर्ज कृष्ण चतुर्दश्यां पश्चाद् यौत्र्च मुच्यताम् ।।६७।।
..... आषाढ़ शुक्ल चतुर्दश्या रात्रे प्रथम प्रहरोद्देश..... (अनगारधर्मामृत अ. ८)

से स्पष्ट है अतः इन शासन देव और देवियों की मूर्तियाँ चतुर्थकालीन हैं, ये जैन धर्म में मान्य हैं। आपको भी यहाँ से खंडगिरि-उदयगिरि के दर्शन अवश्य करना चाहिए।"

ये श्रीमान छोटेलाल जी कट्टर तेरहपंथी थे फिर भी शासन देव-देवियों का समर्थन कर रहे थे। यह देखकर उस समय वहाँ पास में बैठे हुए बीसपंथी श्रावक हंस रहे थे। इनके चले जाने के बाद कुछ लोग खूब हंसते और कहते —

"माताजी! देखो तो सही, ये लोग 'गुड़ खाते हैं और गुलगुले का परहेज करते हैं।" वास्तव में तेरापंथी लोग शासन देव-देवियों का बहुत ही विरोध करते हैं पर ये महानुभाव तो प्रायः आये दिन आपके पास शासन देवों के फोटो-चित्र दिखाने के लिए लाते हैं और समर्थन भी करते रहते हैं।"

इसी प्रकार से जो कोई भी श्रावक तेरह बीस के बारे में चर्चा लाते थे, मैं उन्हें श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित पंचामृत अभिषेक आदि के प्रमाण दिखा देती थी।

संघस्थ चैत्यालय —

आचार्यश्री वीरसागरजी ने मुझे १९५६ में ही जयपुर के पास के एक गांव बगरू के लिए विहार करते समय यह समझाया था कि —"देखो, ज्ञानमती जी! तुम विहार के समय एक जिनप्रतिमाजी संघ में रखना, जिससे संघस्थ ब्रह्मचारिणी उन्हीं प्रतिमा जी का अभिषेक करें और फूल, फल आदि चढ़ाकर पूजा करें चूंकि आजकल समाज में तेरह और बीस नाम से दो पंथ चल रहे हैं अतः संघस्थ चैत्यालय में बाइयां अभिषेक करती रहें, जिससे मंदिरों की परम्परा में बाधा न आवे और जैन समाज में अशांति न होवे।"

गुरुदेव के इसी आदेशानुसार सम्मेद शिखर जी के विहार में भी आचार्यश्री शिवसागर जी की आज्ञा से संघ में ब्रह्मचारी जी ने एक छोटी सी महावीर स्वामी जी की प्रतिमा रखी थी।

दूसरी बात यह भी है कि यदि कहीं विहार में २५-५० मील तक जैन मंदिर नहीं हैं तो भी बिना दर्शन के हम लोग आहार कैसे करेंगे? जिनका यह कहना है कि "मुनि, आर्यिका आदि साधुओं को जिन दर्शन की आवश्यकता नहीं है वे बिना दर्शन किये ही आहार कर सकते हैं।" यह मान्यता हमारी गुरु परम्परा के विरुद्ध है। आचार्यश्री शांतिसागर जी, आचार्य श्रीवीरसागर जी, आचार्य श्री शिवसागर जी, आचार्य श्री धर्मसागर जी, आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी, आचार्य श्री देशभूषण जी, आचार्य श्री विमलसागर जी आदि महासाधु पुंगव जिनप्रतिमा के दर्शन करके ही आहार को उठते थे और आज भी दर्शन करके ही उठते हैं।

वास्तव में ये साधु इतने ऊँचे उपशम-क्षपक श्रेणी में चढ़ने वाले नहीं हैं और न आज जिनकल्पी मुनि ही हैं, आज के साधु स्थविर कल्पी हैं। इनकी चर्या संघ में ही मानी गई है और संघ में ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी श्रावक-श्राविका रहेंगे ही । ये लोग जिनप्रतिमा रखेंगे ही क्योंकि ये भी बिना जिनदेव के दर्शन के भोजन नहीं करते हैं। प्रतिमाधारी श्रावक तो जिनपूजा अवश्य ही करते हैं।

इसके सिवाय आचारसार, अनगारधर्मामृत आदि यतिग्रंथों में मुनियों के लिए देव- दर्शन का विधान भी पाया जाता है यथा —

श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुत्यं पश्यन् गत्वा जिनालयम्। कृतद्रव्यादिशुद्धिस्तं प्रविश्य निसहीगिरा।।
चैत्यालोकोद्यदानंदगलद्वाष्पस्त्रिरानतः। परीत्य दर्शनस्तोत्रं वंदनामुद्रया पठन् ।।

श्रुतज्ञानरूपी चक्षु से अपनी आत्मा में चिच्चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को देखते हुए जिनालय में जाकर द्रव्यादि की शुद्धि से शुद्ध हुए 'निसही, निसही, निसही' इस प्रकार उच्चारण करते हुए मंदिर के भीतर प्रवेश करके जिनप्रतिमा के मुखचंद्र का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भगवान् को तीन बार नमस्कार करते हैं पुनः चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देते हैं....। ऐसे ही चारित्रसार में लिखा है —

"आत्माधीनः सन् चैत्यादीन प्रतिवंदनार्थं गत्वा धौतपादास्त्रिप्रदक्षिणीकृत्य ईर्यापथ-कायोत्सर्गं कृत्वा.....।"

आत्माधीन होकर जिनप्रतिमा आदि की वंदना करने के लिए जाकर, पैर धोकर, तीन प्रदक्षिणा देकर, ईर्यापथ शुद्धि का कायोत्सर्ग करके आदि।

यह प्रकार देववंदना अर्थात् त्रिकाल सामायिक का है। जब मुनियों के लिए सामायिक क्रिया को मंदिर में भगवान के पास करने का विधान पाया जाता है तब यदि सामायिक मंदिर में न करें तो भी देवदर्शन त्रिकाल या नित्य एक बार अनिवार्य हो ही जाता है। दूसरी बात यह है कि कहीं शास्त्रों में ऐसा कथन नहीं आया है कि 'मुनि या आर्यिका होने के बाद वे देवदर्शन न करें या इन्हें देवदर्शन की आवश्यकता नहीं रह गई अतः आज जो साधु-साध्वी अकेले या दो चार रहते हैं पुनः बिना देवदर्शन किये आहार ले लेते हैं, वह गलत है। कोई साधु-साध्वी अस्वस्थ होने पर मंदिर न जा पाने से भी बिना देवदर्शन के आहार ले लेते हैं, यह भी हमारी गुरु परम्परा से गलत है क्योंकि आहार कराने वाले श्रावक-श्राविकाएँ ही होते हैं। जैसे वे आहार की व्यवस्था बनाते हैं, वैसे ही उन्हें देव-दर्शन की व्यवस्था भी करानी चाहिए।

मैंने आज तक संघ में यही देखा है और ऐसा ही किया है। अपनी संघस्थ साध्वियों को अस्वस्थ अवस्था में भी देवदर्शन कराकर ही आहार कराया है। मैंने भी दीक्षा लेने के बाद आज तक बिना देवदर्शन किये आहार नहीं किया है।

यहाँ कलकत्ते में मेरे संघ में ब्रह्मचारिणी भंवरीबाई और कु. मनोवती थीं। ये अपने अभिषेक-पूजन के लिए भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा का चैत्यालय रखे थीं। यहाँ बेलगछिया में हाल की एक वेदी में उन्हें विराजमान कर दिया था। यहाँ पर ये ब्रह्मचारिणियाँ अभिषेक-पूजन करती थीं।

यहाँ प्रवास में आकर रहने वाले अनेक श्रावक, जो कि नागौर, डेह, सुजानगढ़, लाडनूं आदि के थे, उनमें बहुत से बीसपंथ विचारधारा वाले थे जो कि आचार्य श्री वीरसागर जी और आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी के शिष्य थे। इन लोगों को मानों स्वर्ण अवसर ही मिला था। ये यहाँ कलकत्ता के मंदिरों में पूरी विधि से पूजन नहीं कर पाते थे अतः कई एक महानुभाव सपत्नीक आकर यहाँ चैत्यालय में अभिषेक-पूजन करने लगे थे।

दूध से शांतिधारा —

एक बड़ी शांतिधारा नागौर के भंडार से आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी ने निकाली थी, वह छपायी गई थी। वही शांतिधारा दक्षिण से छपी हुई मेरे पास थी। श्रावकों ने भक्ति में वह बड़ी शांतिधारा दूध से करना शुरू कर दिया। श्याम बाजार के एक भक्तिमान श्रावक, जो रोज चौके के लिए शुद्ध दूध लाते थे, वे ही लगभग पांच किलो दूध शांतिधारा के लिए लाते थे। यह बड़ी शांतिधारा दूध से यहाँ पूरे पाँच महीने चलाई गई है। जब मैं एक माह शहर में जाकर रही थी, तब भी यहीं चैत्यालय में एक-दो महानुभाव दूध से शांतिधारा करते ही रहे थे।

नैवेद्य चढ़ाना —

एक बार कु.मनोवती ने नियम ले लिया कि मैं भगवान को नैवेद्य चढ़ा कर ही भोजन करूँगी अतः वह रोटी, दाल, चावल आदि एक छोटी सी थाली में लाकर अपने चैत्यालय में भगवान को चढ़ाती थी। यद्यपि मेरी आज्ञा से शीघ्र ही वह चढ़ाया गया नैवेद्य माली को उठाकर दे देती थी, फिर भी ऐसी चर्चायें छिपाये भी नहीं छिप सकती हैं और छिपाने की कोई ऐसी बात भी नहीं थी। आठ-दस दिन हुए थे कि सेठ अमरचन्द पहाड़िया आदि चार महानुभाव मेरे पास मध्यान्ह में आये और बोले —"माताजी! कुछ समस्या लेकर आया हूँ।"

मैंने कहा —"कहिये।"

वे बोले —"शहर में यह चर्चा हो रही है कि माताजी के चैत्यालय में भगवान् को भोग लगता है। यह

चर्चा साहू शांतिप्रसाद जी तक भी पहुँची है। उन्होंने अभी मुझे फोन से पूछा था —मैंने कहा कि ऐसा संभव नहीं है फिर भी मैं जानकारी लेकर आता हूँ।"

मैं कुछ हँसी पुनः बोली —

"भाई! आप लोग आठ द्रव्य से पूजन करते हो, उसमें नैवेद्य को क्या मानते हो?"

तब वे एक-दूसरे के मुँह को देखने लगे पुनः बोले —

"सूखे पकवान, लाडू आदि नैवेद्य हैं न कि रोटी, भात, दाल आदि।"

मैंने कहा —"शास्त्रों में तो सभी भोज्य —खाद्य पदार्थ नैवेद्य में लिये हैं। साथ ही वसुनंदिश्रावकाचार दिखा दिया —

दहिदुद्धसप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं।
तेवट्ठिविंजिणेहिं य बहुबिह पक्कण्ण भेएहिं।।४३४।।
रूप्पयसुवण्णकंसाइ थालिणिहिएहिंविविहभक्खेहिं।
पुज्ज वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ।।४३५।।

चाँदी, सोना, कांसे आदि की थालियों में रखे हुए दही, दूध और घी से मिले हुए नाना प्रकार के चावलों के भात से, तिरेसठ प्रकार के व्यंजनों से, नाना प्रकार की जाति वाले पकवानों से और विविध भक्ष्य पदार्थों से, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र चरणों के सामने पूजा को विस्तारें अर्थात् नैवेद्य से पूजा करें।

इसके बाद मैंने सिद्ध पूजा की पंक्ति का अर्थ पूछा —

'क्षीरान्नसाज्यवटकैः रसपूर्णगर्भैः' इसका अर्थ है खीर, घी में भीगी हुई बाटी आदि, जिसमें रस-घी आदि भरा हुआ है। दूसरी बात आप लोगों में जो तेरापंथी हैं वे सदासुखजी की टीका रत्नकरण्ड श्रावकाचार लाकर देखें, उसमें तेरह और बीस दोनों पंथ को आगम सम्मत कहा है। यथा —

"केई रोटी चढ़ावै हैं, केई राबड़ी चढ़ावे हैं, केई अपनी बावड़ी तै पुष्प ल्याय चढ़ावै हैं, केई नाना प्रकार के हरित फल चढ़ावै हैं, कोई जल चढ़ावै हैं, केई, दाल, भात अनेक व्यंजन चढ़ावै हैं, केई नाना मेवा चढ़ावै हैं।

....अब यहाँ दिन पूजन सचित द्रव्यनि तैं हू अचित्त द्रव्यानि तैं हू आगम में कह्या है[१]....।

ऐसा कहा है, सो आपको यह सदासुख जी की टीका वाला रत्नकरंड श्रावकाचार मान्य ही है।

अतः इस नैवेद्य चढ़ाने की पद्धति को भोग लगाना कथमपि नहीं कहा जा सकता है तथा एक बात यह भी समझने की है कि आचार्य कल्प चन्द्रसागरजी ने भी नैवेद्य चढ़ाने पर जोर दिया था। ब्यावर के सन् १९५८ के चातुर्मास में पं. पन्नालाल जी सोनी ने भी संघ के चैत्यालय में सरस्वती भवन में महिनों तक नैवेद्य चढ़ाया है। आज भी दक्षिण में भगवान के सामने चावल-भात आदि नैवेद्य चढ़ाते हैं, इसे भोग लगाना नहीं कहते हैं। वैदिक संप्रदाय में भगवान के सामने भोग लगाते समय अन्दर थाल रखकर बाहर से पर्दा डाल लेते हैं, मानों भगवान खा रहे हैं किन्तु यहाँ दिगम्बर जैन आम्नाय में नैवेद्य का मंत्र है —

"ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।"

इसमें अपनी क्षुधा रोग को दूर करने के लिए नैवेद्य चढ़ाया जाता है न कि भगवान को खिलाने के लिए.....।

इत्यादि समाधान को सुनकर ये श्रावक हाथ में रत्नकरंड श्रावकाचार की सदासुख जी की टीका को लेकर शायद साहू जी के पास गये और पंक्तियाँ दिखाकर आये।

कानजी पंथ चर्चाएँ —

एक मदनलाल जी सीकर वाले थे और उनके साथ दो-तीन महानुभाव मिलकर, जब तक निश्चय

---

१. श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार+हिन्दी भाषाकर पं सदासुख जी। पृ०. १६९-१७०

एकांत की चर्चा लेकर आ जाते थे। उनका एक ही प्रश्न विशेष था कि 'कर्मों का उदय जीव का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता है।'

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं।।

यह आत्मा सर्वज्ञानी-सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है फिर भी अपने द्वारा संचित किये गये कर्मरूपी रज से आछन्न है —ढका हुआ है अतः यह संसारी हो रहा है, यही कारण है कि यह सर्व प्रकार सर्वलोक-अलोक को नहीं जान रहा है। ऐसी-ऐसी समयसार की पंक्तियाँ दिखाने के बावजूद भी वे इसी-इसी बात को घोटा करते थे। तब मैंने पूछा —

"भाई! आप कर्मों के उदय से मनुष्य हैं.....यदि कर्मोदय कुछ नहीं कर सकता तो मैदान में आओ, मुनि बनकर घोर तपश्चर्या करके मोक्ष प्राप्त करो।" जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पा लो। यह संसार भ्रमण क्यों कर रहे हो.....?"

उनकी इन चर्चाओं से भगतजी ब्रह्मचारी कभी-कभी उन्हें बाहर ही रोक लेते और कहते —

भइया! ये चर्चायें मेरे से ही निपट लो, व्यर्थ ही माताजी के स्वाध्याय में विघ्न क्यों डालते हो?...."

ब्र. चमेलाबाई की भक्ति और स्वाध्याय —

यहाँ ब्र. चमेलाबाई प्रायः चौका लगाती रहती थीं। मैं अनेक चौका होने से प्रायः वृत्तपरिसंख्यान लेकर आहार के लिए निकलती थी। वे पड़गाहन में बहुत ही आकुलता करती थीं। कदाचित् मेरा उनके यहाँ पड़गाहन हो जाता तो उनकी आँखों से हर्ष की अश्रु- धारा बहने लगती। बहुत ही भावविभोर होकर वे नवधाभक्ति करके आहार देती थीं। उनकी भक्ति देखते ही बनती थी। मध्यान्ह में ये मेरे पास स्वाध्याय में आ जाती थीं। इन्होंने मेरे पास समाधिशतक पढ़ना शुरू किया। मैं टीका के आधार से समझा देती थी तो वे बहुत गद्गद हो जाती थीं पुनः पंचसंग्रह ग्रंथ का स्वाध्याय रखा था। सभी आर्यिकायें तो बैठती ही थीं अतः अच्छी चर्चा चलती रहती थी, कर्म प्रकृतियों की चर्चा में उन्हें भी बड़ा आनन्द आता था।

एक दिन मैंने कहा —"ब्रह्मचारिणी जी! आप सम्यग्दृष्टि हो पुनः जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक क्यों नहीं करती हो?"

वे बोलीं —"माताजी! मैंने एक-दो बार किया किन्तु.....लोगों की चर्चा के भय से नहीं करती हूँ। चूँकि एक सम्प्रदाय भेद.....या पंथ का पक्ष ही उसमें कारण है फिर भी मैं एक-दो बार आपके संघ के चैत्यालय में अभिषेक अवश्य करूँगी।"

इसी कथन के अनुसार उन्होंने एक दिन प्रातः अभिषेक के समय आकर अभिषेक किया। उस समय मिश्रीलाल पाटनी, उनकी पत्नी सूंठीबाई आदि श्रावक-श्राविकायें थीं। एक महानुभाव ने कहा —"माताजी! आपने पहले मुझे क्यों नहीं बताया? नहीं तो मैं इनका अभिषेक करते हुए फोटो ले लेता।"

मैंने कहा —"यह विषय अधिक प्रचार का नहीं था अतः फोटो लेने की क्या जरूरत?"

इसके बाद भी उन्होंने कई बार अभिषेक किया और बोलीं —"माताजी! मुझे शास्त्र पर पूरी श्रद्धा है। मात्र पंथ भेद से ही डर जाती हूँ।"

इन्होंने बराबर ४ महीने तक स्वाध्याय में भाग लिया है। खूब आहार दिया है और खूब ही वात्सल्य रखा है। मैं भी कभी-कभी इनसे परामर्श का कोई भी निर्णय लेती थी। इनकी राय मुझे अच्छी लगती थी।

ब्र. प्यारेलाल जी का वात्सल्य —

ब्र. प्यारेलाल जी को मैं प्रतिदिन अपने प्रातः काल के उपदेश के बाद पन्द्रह मिनट बोलने के लिए

समय देती थी और वे भी अच्छा बोलते थे। प्रारंभ से ही इनकी भक्ति और वात्सल्य मेरे प्रति बहुत अच्छा था। ये प्रतिदिन मेरे अनुशासन की, मेरे संघ की साध्वियों और ब्रह्मचारिणियों की प्रशंसा भी किया करते थे। कहते कि —"आपके संघ में कोई भी साध्वी या ब्रह्मचारिणी किसी से कुछ भी याचना नहीं करती हैं। प्रातः से रात्रि सोने तक अपने स्वाध्याय, अध्ययन में ही लगी रहती हैं, कोई प्रपंच, कलह या अशांति नहीं है। जब आपका अनुशासन इतना अच्छा है, तब आपके गुरु आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज का अनुशासन भी बढ़िया ही होगा, यह अनुमान लगाया जाता है....इत्यादि।"

एक दिन मेरी प्रशंसा करते हुए ये उपदेश में ही एक मुनिराज का नाम लेकर उनकी निंदा करने लगे। मैंने बीच में ही रोक दिया और कहा —" उन मुनिश्री में यह दोष नहीं है, आपका कथन या अनुमान गलत है।"

पुनः अगले दिन संकोचवश वे मेरे उपदेश में नहीं आये, तब मैंने उन्हें मध्यान्ह में बुलाकर कहा — "ब्रह्मचारी जी! मैं किसी भी मुनि की निंदा नहीं सुनती हूँ, भले ही सच क्यों न हो?.....देखो, पद्मपुराण में ये पंक्तियाँ हैं —

दृष्टः सत्योऽपि दोषो न वाच्यो जिनमतश्रिता।
उच्चमानोऽपि चान्येन वार्यः सर्वप्रयत्नतः।।२३२।।
ब्रुवाणो लोकविद्वेषकरणं शासनाश्रितं।
प्रतिपद्य चिरं दुःखं संसारमवगाहते।।२३३।।
सम्यग्दर्शनरत्नस्य गुणोऽत्यंतमयं महान्।
यद्दोषस्य कृतस्यापि प्रयत्नादुपगूहनम् ।।२३४।।
अज्ञानान्मत्सराद्वापि दोषं वितथमेव तु।
प्रकाशयञ्जनोऽत्यंतं जिनमार्गाद् बहिः स्थितः।।२३४।।

यदि यथार्थ दोष भी देखा हो, तो भी जिनमत के अवलम्बी को नहीं कहना चाहिए और कोई दूसरा कहता भी हो, तो उसे सब प्रकार से रोक देना चाहिए। फिर लोक में विद्वेष फैलाने वाले, जैन शासन संबंधी दोषों को जो व्यक्ति कहता है, वह दुःख पाकर चिरकाल तक संसार में भटकता रहता है, अन्य के द्वारा किये हुए दोष को भी प्रयत्नपूर्वक छिपाना यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न का बड़ा भारी गुण है। अज्ञान अथवा मत्सर भाव से भी जो किसी के मिथ्या दोष को प्रकाशित करता है, वह मनुष्य जिनमार्ग से बिल्कुल ही बाह्य स्थित है।

इतना सुनकर उन्होंने उसी समय क्षमा माँगी और पुनः मेरे सामने किसी की भी निंदा नहीं की तथा मेरी चर्या आदि के विषय में कैसी भी चर्चा हो, उसके लिए कट्टर तेरापंथी लोगों को भी अच्छा समाधान दिया है। आगे प्रसंगोपात्त उनका उल्लेख करूँगी। इन्होंने एक दिन गद्गद होकर कई एक श्रावकों के सामने ऐसा कह दिया कि "मैं माताजी को सौ नम्बर देता हूँ और अमुक साधु को दस नम्बर।" श्रावक इस शब्द को प्रचार में लाना चाहते थे किन्तु मैंने रोक दिया। "पहली बात, मुझे किसी मुनि आदि से क्यों तोलना? मुझे ऊँचा कहकर किसी को हीन क्यों कहना? दूसरी बात, मेरी चर्या निर्दोष है, तो मेरा ही हित होगा उसके प्रचार की क्या आवश्यकता?"

दशलक्षणपर्व —

इस दशलक्षण पर्व में मैंने पंडित श्रीवर्धमान शास्त्री-सोलापुर वालों को बुलाने के लिए कहा था अतः दशलक्षण में पंडित जी आये। लोगों ने यहाँ बेलगछिया में 'दशलक्षण विधान' का आयोजन कर लिया। श्रावक गण इन्द्र-इन्द्राणी बनकर फूलों का मुकुट और हार पहनकर बड़े ठाठ-बाट से यहाँ संघस्थ चैत्यालय में पूजा कर रहे थे। दूसरे एक विद्वान् और आये थे जो कि शहर में प्रवचन कर रहे थे। उन्होंने शास्त्र की गद्दी

पर ही बैठे हुए कह दिया —"देखो! बेलगछिया में भगवान् को फूलों का मुकुट लगाकर और फूलों की माला पहनाकर लोग पूजा कर रहे हैं।"

उसी समय से अमरचन्द पहाड़िया ने उन्हें रोक दिया और बोले —"आप शास्त्र की गद्दी पर बैठकर भला इतना झूठ क्यों बोलते हो? वहाँ हम लोग स्वयं फूलों का मुकुट, हार पहनते हैं न कि भगवान् को पहनाते हैं। बिना देखे आपने ऐसी बात कैसे कह दी?"

विद्वान् की इस बात को सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखी और सुनी हुई बातों का कितना अन्तर पड़ जाता है।

यहाँ बेलगछिया में बड़ा-सा पांडाल बनाया गया था। क्षमावणी के कार्यक्रम में साहू शान्तिप्रसाद जी आये और एक श्वेताम्बरों के प्रसिद्ध महानुभाव दूगड़ जी भी आये थे। वैसे साहू जी पहले भी एक-दो बार आ चुके थे। उस दिन साहू जी ने उच्चगोत्र-नीचगोत्र के बारे में चर्चा छेड़ दी। बात यह है कि ये लोग जन्म से ऊँच-नीच न मानकर कर्म से मानते हैं। इस पर सभा के अतिरिक्त मेरे स्थान पर काफी चर्चाएँ चलीं। मैंने यही कहा कि —"पिण्ड अर्थात् शरीर का संबंध माता-पिता के रजोवीर्य से है अतः यह जैसा बन गया, ऊँच या नीच गोत्र का संबंध भी उसी से है। पिण्ड को पुनः कैसे सुधारा जा सकता है?

"संस्कार शतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ।"

सैकड़ों संस्कार करने पर भी अजाति —विजाति ब्राह्मणपने को नहीं प्राप्त हो सकता है। यह उपासकाध्ययन की पंक्ति है। यहाँ पंडाल में विशाल स्तर पर क्षमावणी पर्व मनाया गया था।

अल्प प्रभावना में संतोष —

एक बार एक प्रबुद्ध श्रावक ने कहा —

"माताजी! यदि आप सभा में यह कहना शुरू कर दें कि जाति-पाति कुछ नहीं है, वर्ण व्यवस्था कुछ नहीं है, सब लोग सभी के साथ रोटी-बेटी संबंध कर सकते हैं, जैन धर्म की यही उदारता है, तो देखो! आपकी सभा में अगले सप्ताह पच्चीस हजार लोग आ जायेंगे। अलग से पांडाल बनाना पड़ेगा।" मैंने कहा —"भाई! मैंने दीक्षा आत्मकल्याण के लिए ली है। आगम विरुद्ध बोलकर जनसमूह इकट्ठा करके प्रभावना करना मेरा लक्ष्य नहीं है। मेरी आगम अनुकूल प्रवृत्ति और वचनवृत्ति से जितना लोग लाभ ले लें, हमें उतने में ही संतोष है। लोक प्रभावना के लिए मैंने दीक्षा नहीं ली है। आगम को सुरक्षित रखते हुए, प्राचीन संस्कृति की रक्षा करते हुए, जितनी धर्म प्रभावना हो जाये, उसी में मुझे हर्ष है। धर्म की मर्यादा से हटकर प्रभावना करना वह जिनधर्म की प्रभावना नहीं है, प्रत्युत् निज की प्रभावना है उसका मुझे लोभ नहीं है।" मैं देखती हूँ कि आज कुछ साधु-साध्वियाँ, ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियाँ प्राचीन धर्म की मर्यादा से हटकर जाति-पाति लोप आदि का उपदेश देकर निज की प्रभावना में संलग्न हैं। वास्तव में यह प्रभावना तो स्वयं को मोक्षमार्ग से दूर कर देती है।

धर्म में शांति है न कि शांति में धर्म —

जरा-जरा सी बात में आजकल लोग कहने लगते हैं कि भाई! शांति में धर्म है। तब मुझे आश्चर्य होता है और बोले बगैर रहा नहीं जाता है। वहाँ कलकत्ते में भी कई एक महानुभावों ने एक बार कहा —

"माताजी! शांति में ही धर्म है।"

तब मैंने पूछा —

"यह बताओ, **"पात्राधारे घृतं घृताधारे पात्रं वा, पात्र के आधार में घी है या घी के आधार में पात्र?"**

लोग बोले —"पात्र के आधार में घी है।"

तब मैंने कहा —"देखो भाई! इसी प्रकार '**धर्मे शांतिः न च शांतौ धर्मः**' धर्म में शांति है न कि शांति में धर्म। अभी किसी के मकान पर कोई कब्जा कर ले तब वह कहेगा क्या कि शांति में धर्म है? नहीं, प्रत्युत् वह उस समय न्यायालय की शरण लेकर धर्म में शांति समझेगा। वैसे ही भाई! यदि मंदिर की जगह कोई हड़प ले, तब तो लोग ऐसा सोच भी लेते हैं कि शांति में धर्म है किन्तु खुद के मकान की जगह में एक फुट जगह के लिए भाई-भाई लड़ते-झगड़ते हैं, और तो क्या कोर्ट तक पहुँचते हुए देखे जाते हैं।"

देखो! शास्त्रों में भी अनेक उदाहरण हैं —

जिस समय रावण ने कैलाश पर्वत उठाकर समुद्र में फेंकना चाहा था, उस समय बालि मुनि ने पर्वत कंपायमान होते ही अवधिज्ञान से जान लिया था वे महामुनि भावलिंगी महासाधु थे। फिर भी उन्होंने शांति में धर्म न समझकर धर्म में शांति समझी अतः 'इस पर्वत पर श्री भरत चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये हुए रत्नों के जिनालय नष्ट हो जावेंगे और असंख्य प्राणियों का संहार हो जावेगा' ऐसा सोचकर उन्होंने अपने पाँव के अंगूठे से पर्वत को दबा दिया जिससे वह कैलाशपर्वत दब गया, उसके नीचे रावण भी दब गया और रोने लगा। इसके पूर्व उसका नाम दशानन था तभी से 'रौति इति रावणः' रोने से उसका रावण ऐसा नाम पड़ गया। उस समय उसकी रानी ने क्षमा याचना की। रावण का गर्व खर्व हो गया और उसने आकर मुनिराज की तथा जिनप्रतिमाओं की खूब भक्ति करके ही धरणेंद्र के द्वारा 'अमोघ शक्ति' नाम की विद्या पाई थी। यह कथा पद्मपुराण में विस्तार से देख लेनी चाहिए।

ऐसे ही समंतभद्रस्वामी को जब शिवकोटि राजा ने महादेव की पिण्डी को नमस्कार करने के लिए बाध्य किया था, तब उन्होंने भी शांति में धर्म न मानकर, धर्म में शांति मानी थी और स्वयंभूस्तोत्र रचना द्वारा जिनेन्द्रभक्ति करके भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रगट कर दी थी।

श्री अकलंकदेव ने भी धर्म में शांति समझकर ही बौद्धों से छह महीने तक शास्त्रार्थ किया था।

यदि श्रीरामचन्द्र जी ऐसा समझ लेते कि शांति में धर्म है, तो भला वे रावण से युद्ध क्यों करते? किन्तु नहीं, उन्होंने धर्म में ही शांति मानी और महायुद्ध करके सीता को उससे लाकर ही शांति प्राप्त की।

रानी चेलना ने भी श्रेणिक राजा को सच्चे धर्म में लाने के लिए अनेक उपाय किये और धर्म में ही शांति मानी, उसी का फल है कि आगे आने वाले उत्सर्पिणी काल में राजा श्रेणिक महापद्म नाम के प्रथम तीर्थंकर होवेंगे।

रानी उर्विला यदि शांति में धर्म मान लेती, तो बौद्ध सम्प्रदाय की बुद्धदासी का रथ पहले निकल जाता पुनः वह सत्याग्रह करके 'जैन रथ पहले चले' ऐसा क्यों ठानती? और अकलंकदेव से शास्त्रार्थ करने की बात ही क्यों आती? अतः ऐसा एकांत कभी मत पकड़ो कि 'शांति में धर्म है।' हाँ! जहाँ तक शांति में धर्म कह कर धर्म की हानि, अपने धन, जन की हानि न होती हो, वहाँ तक तो शांति में धर्म मानो और जब धर्म, धर्मायतन आदि की हानि हो रही हो, तब जैसे बने वैसे उनकी रक्षा के उपाय करो।

श्री विष्णुकुमार महामुनि ने भी सात सौ मुनियों की रक्षा के लिए अपने मुनिवेष को छोड़कर, वामन का वेष बनाकर, बलि को जीता था और धर्मात्माओं की रक्षा का श्रेय लिया था जिनका उदाहरण वात्सल्य अंग में बड़े आदर से आचार्यों ने भी दिया है।

इन शिक्षास्पद नीतियों के बाद लोगों ने ये वाक्य ग्रहण किये और कई लोगों ने तो अनेक बार इस सूक्ति को दोहराया भी कि 'धर्म में शांति है न कि शांति में धर्म।"

माँ मोहिनी की श्रद्धा —

इस कलकत्ता चातुर्मास में अपने पिता श्री छोटेलालजी से आज्ञा लेकर कैलाशचंद अकेले ही दशलक्षण

पर्व में मेरे सान्निध्य में आ गये। ११-१२ दिन रहे, मेरे उपदेश का लाभ लिया पुनः जब घर जाने लगे, तब उदास मन से मेरे पास बैठ गये और बोले —

"माताजी! इस समय हमारे घर की व्यापारिक स्थिति कमजोर चल रही है, पिताजी का स्वास्थ्य अब दिन पर दिन कमजोर होता जा रहा है अतः वे दुकान पर काम बहुत कम देख पाते हैं परिवार बड़ा है...।"

मैंने ऐसा सुनकर शिक्षास्पद बातें कहीं और बोली —

"कैलाश! सबसे पहले तुम पंच अणुव्रत ले लो। पंच अणुव्रत में जो परिग्रहपरिमाणव्रत आता है, इसको लेने वाला व्यक्ति नियम से धन में बढ़ता ही चला जाता है। साथ ही नित्य देव पूजा का नियम कर लो.....।"

कैलाश ने मेरी आज्ञा शिरोधार्य करके विधिवत् पंच अणुव्रत ग्रहण कर लिये तथा देवपूजा का नियम भी ले लिया पुनः मुझसे कोई यंत्र के लिए प्रार्थना की, उस समय मेरे संघ के चैत्यालय में एक यंत्र विराजमान था, मैंने उसे ही कैलाशचन्द को दे दिया और कहा —

"देखो! इस यंत्र को ले जाकर तुम अपने घर में तीसरी मंजिल पर बनी हुई जो एक छोटी सी कोठरी है, उसी में विराजमान कर देना। प्रतिदिन इसका अभिषेक होना चाहिए, अर्घ्य चढ़ाना चाहिए और शाम को आरती करनी चाहिए।"

कैलाशचन्द ने वह यंत्र बड़े आदर से लिया, मस्तक पर चढ़ाया पुनः वहाँ से चलकर घर आ गये। घर आकर माता-पिता, पत्नी और भाई-बहनों को कलकत्ते के समाचार सुनाये। मेरे उपदेश में जो कुछ विशेष बातें सुनते रहे थे, वह सब सुनाया तथा कलकत्ते के श्रावकों की गुरुभक्ति और अपने प्रति किये गये वात्सल्य भाव को भी बताया तथा अनेक बातें बताईं।

वे बोले —"वहाँ दशलक्षण पर्व में पं. वर्धमान शास्त्री के द्वारा दशलक्षण विधान कराया गया। बेलगछिया में बहुत बड़ा पंडाल बनाया गया। उसमें क्षमावणी का प्रोग्राम बड़े रूप में रखा गया। श्वेताम्बर समाज में प्रसिद्ध "दूगड़ जी" और दिगम्बर जैन समाज के प्रमुख श्रीमान् साहू शांति प्रसाद जी भी आये थे" पुनः पिता से बोले —

"आप यहाँ मोह में पागल रहते हो, सदा चिंता और दुःख माना करते हो, जरा वहाँ जाकर तो देखो!...आप अपनी पुत्री की विशेषताओं को देखकर रोना भूल जावोगे।"

माताजी के उपदेश के लिए वहाँ का समाज लालायित रहता है, जो कि देखते ही बनता है। वहाँ के भक्त माताजी को एक विद्वत्ता की खान और अद्भुत निधि के रूप में देखते हैं। भक्तगणों में प्रसिद्ध चाँदमल जी बड़जात्या, अमरचन्द जी पहाड़िया, किशनलाल जी काला, सीताराम पाटनी आदि तन-मन-धन से सपत्नीक, सपरिवार माताजी की भक्ति कर रहे हैं। वहाँ बेलगछिया में प्रतिदिन अनेक चौके लगते हैं। बेलगछिया में रहने वाले ब्र. प्यारेलाल जी भगत और ब्रह्मचारिणी चमेलाबाई प्रमुख हैं। उनकी भक्ति भी अटूट है इत्यादि।"

यहाँ कैलाश ने शुद्ध जल का नियम लेकर आहार देना शुरू कर दिया था, सो भी बताया। अनन्तर अपने अणुव्रत और देवपूजा के नियम को बताकर मेरे द्वारा दिया गया यंत्र माँ को दे दिया तथा मेरे द्वारा कथित उपासना विधि भी बता दी। उस समय माँ को यंत्र पाकर ऐसा लगा कि मानो अपने को कोई निधि ही मिल गई है अथवा यह यंत्र पारसमणि ही है। उन्होंने बड़ी भक्ति से मेरे कहे अनुसार यंत्र को तिमंजिले कमरे में एक सिंहासन पर विराजमान कर दिया और स्वयं देवपूजा करके आकर विधिवत् उसका न्हवन करने लगीं, अर्घ्य चढ़ानें लगी और शाम को ऊपर सामूहिक (सब मिलकर) आरती करने लगीं।

उस घर में वह यंत्र ऐसा फलीभूत हुआ है कि दिन पर दिन माँ मोहिनी जी के पुत्रों ने अपने व्यापार

बढ़ाये हैं और धन कमाते हुए धर्म भी कमाया है। आज भी उनके तीनों पुत्र, जो कि गृहस्थाश्रम में हैं, प्रतिदिन देवपूजा करते हैं, शक्ति के अनुसार दान भी देते हैं, स्वाध्याय भी करते हैं, हर एक साधुसंघों की सेवा में तत्पर रहते हैं। यह सब उस यंत्र का और माँ मोहिनी के द्वारा की गई विधिवत् उपासना का ही फल है। मैं देखती हूँ कि आज भी यंत्र लेकर जो श्रावक अणुव्रत और देवपूजा का नियम ले लेते हैं, तो वे निश्चित ही धन की वृद्धि-समृद्धि को प्राप्त कर परिवार, पुत्र, मित्र, यश आदि को प्राप्त कर लेते हैं।

£ ४४ ¤

शहर के बड़े मंदिर में उपदेश एवं आहार चर्या —

आश्विन में विशेषआग्रह से मैं कुछ दिन के लिए शहर में जाकर बड़े मंदिर में ठहर गई। यहाँ बहुत से श्रावकों को अपने-अपने घर में चौका लगाकर आहार देने को मिला, तब उन्होंने अपने घर को पवित्र माना। यहाँ दिन प्रतिदिन २०-२५ चौके लगते थे। हम पाँच ही साध्वी थीं अतः प्रायः मैं वृत्तपरिसंख्यान लेकर आहार को निकलती थी। सभी चौकों की तरफ २-३ चक्कर भी लग जाते थे। साथ में आगे पीछे सौ-पचास श्रावक लोग हो जाते थे। उस समय प्रत्येक दरवाजे पर दस-दस, बीस-बीस लोग पड़गाहन करते थे। चारों ओर से —"हे माताजी! नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु अत्र तिष्ठ तिष्ठ।" की उच्च ध्वनि से आकाश गूँजने लगता था। उस समय जैनेत्तर लोग हजारों की संख्या में वह दृश्य देखने के लिए उमड़ पड़ते थे। कई लोग आहार चर्या देखकर, आहार भी देखने आ जाते और हाथ में ऐसा आहार लेते देखकर आश्चर्य के साथ बहुत ही भक्ति व्यक्त करते और जैन साधुओं की प्रशंसा करते थे।

"देखो! ये हैं साधु, सच्चे साधु, जो कि चौबीस घंटे में एक बार ऐसा कठोर नियम धारण करके मिलने के बाद, अपने हाथ में भोजन करके साधना कर रहे हैं। धन्य हैं ऐसे साधु.....!"

ऐलक का दुराग्रह —

यहाँ शहर के मंदिर में प्रातः और मध्यान्ह दोनों समय मेरा उपदेश होता था, उसमें बहुत भीड़ हो जाती थी। इस प्रवचन में यहाँ ठहरे हुए ऐलक सिद्धसागरजी आकर बैठ जाते थे, उन्हें मेरे बराबर ही ऊँचा आसन दिया जाता था। वे सुधारक लोगों की संगति से एक दिन उन लोगों के कहे अनुसार अष्टपाहुड़ ग्रंथ को लाकर एक श्लोक दिखाते हुए बोले —

"माताजी! इस आधार से आपको ऐलक को नमस्कार करना चाहिए।"

मैंने सोचा —"यह अच्छा रहा, मेरी गुरु परम्परा में ऐलक व क्षुल्लक दोनों ही आर्यिकाओं से छोटे माने गये हैं और वे आर्यिकाओं को नमस्कार करते हैं किन्तु ये उल्टा ही बोल रहे हैं। अरे! ये मुझे नमस्कार न करें तो न सही किन्तु कराने का दुराग्रह क्यों कर रहे हैं?"

खैर! उनकी यह दुराग्रह वृत्ति बढ़ती ही गई और उनके साथ ४-५ महानुभाव जोर-जोर से बोलने लग गये, तब मैंने उपदेश के बाद शास्त्र दिखाकर बड़े ही प्रेम से समाधान दिया —

"देखो! आर्यिकाओं की चर्या मुनि के समान है, मूलाचार में कहा है —

एसो अज्जाणं पि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जहाजोग्गं।।६७।।

जैसी यहाँ मुनियों के लिए मूलगुण और समाचार विधि बताई गई है, वही सब यथा योग्य अहोरात्रि में आर्यिकाओं के लिए भी है, अतः ये उपचार से महाव्रती मानी गई हैं। सर्वत्र प्रथमानुयोग में इन्हें महाव्रती और संयतिका कहा है। आचारसार में भी कहा है —

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यंते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः।।८९।।

इनके उपचार से महाव्रत हैं किन्तु ऐलक के उपचार से भी महाव्रत नहीं है। सागारधर्मामृत में कहा है —

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतं।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति।।३६।।

अहो! आश्चर्य की बात है कि ऐलक लंगोटी में ममत्व परिणाम होने से उपचार से महाव्रती नहीं हो सकता है किन्तु आर्यिका साड़ी धारण करने पर भी ममत्व परिणाम रहित होने से उपचार से महाव्रतिनी कहलाती हैं अर्थात् ऐलक लंगोटी त्याग कर सकता है, मुनि बन सकता है फिर भी ममत्व परिणाम आदि से उसे धारण किये है अतः उत्कृष्ट श्रावक ही है किन्तु आर्यिका तो साड़ी का त्याग करने में समर्थ नहीं है।

दूसरी बात हमने यह बताई कि —"आज भी जो आचार्य शिवसागर जी, आचार्य महावीरकीर्ति जी, आचार्य देशभूषण जी आदि हैं उनसे इस विषय में समाधान मंगा लीजिये।" लेकिन वे लोग सुनने को ही तैयार नहीं थे, "बस आप इन ऐलक को नमस्कार करें।" ऐसा दुराग्रह पकड़े हुए थे। मैंने पाहुड़ ग्रंथ के उस श्लोक का भी अर्थ बताया कि —

एक्कं जिणस्स रूवं वीयं उक्किस्ससावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि।।१८।।

एक जिनमुद्रा का नग्न दिगंबर रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का और तीसरा आर्यिकाओं का, इस प्रकार जिन शासन में तीन लिंग कहे गये हैं। चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

इसमें पूज्यता का क्रम नहीं है प्रत्युत् जैन आम्नाय में तीन ही लिंग पूज्य हैं, चौथा नहीं है यह बतलाया गया है। दूसरी बात यह है कि —"**सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्**" यह नीति है कि सामान्य शास्त्र की अपेक्षा विशेष शास्त्र का कथन बलवान होता है। यहाँ यह पाहुड़ की गाथा सामान्य है और सागारधर्मामृत का श्लोक विशेष है। इत्यादि।

खैर! जब यही चर्चा बार-बार ये लोग लाने करने और सभा में हल्ला मचाना चाहते थे तभी झूमरमल बगड़ा आदि महानुभावों ने एक दिन इन्हें नीचे ही रोक कर कहा —

"आप लोग माताजी द्वारा दिखाये गये प्रमाण मानने को तैयार हैं या नहीं? यदि नहीं, तो अब इसी प्रश्न को बार-बार यहाँ लाने की जरूरत नहीं है और यदि उनकी बात प्रमाण मानते हैं तो उन्होंने अनेक प्रमाण दिखा दिये हैं अतः अब रोज-रोज व्यर्थ बकवास की जरूरत नहीं है।" इस प्रकार सख्ती करने पर वे लोग शांत हुए।

सिद्धचक्र विधान —

यहाँ अष्टान्हिकपर्व में अनेक श्रावकों ने 'अहिंसाभवन' में सिद्धचक्र विधान करने का आयोजन किया। सम्मेदशिखर जी से बीसपंथी मंदिर से एक जिनप्रतिमाजी धातु की लाये और मेरी आज्ञा से ब्र. सूरजमलजी को बुलाया गया। विधान अच्छे समारोह से हुआ। उसमें नागरमल जी प्रमुख इन्द्र बने थे। कार्तिक शुक्ला चौदस के दिन हम लोगों ने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके नूतन पिच्छिका बदली। सेठ भागचंद जी सोनी भी इस अवसर पर आ गये थे। उन्होंने भी मुनि-आर्यिकाओं की चर्या पर प्रकाश डाला और विशेषरूप से मेरे ज्ञान की प्रशंसा की। मैंने सोचा कि वास्तव में यह मेरी प्रशंसा नहीं है, यह तो आगम के ज्ञान की ही प्रशंसा है.....। वहाँ इस विधान की फिल्म भी बनायी गयी थी। विधान के समापन में एक हजार आठ (१००८) छोटे-छोटे मिट्टी के कलश बनवाये थे। जिन पर नारंगी फल रखकर सजाये गये थे और उन्हीं कलशों से बेलगछिया में बनी हुई पांडुकशिला पर श्रीजी की प्रतिमा का अभिषेक किया गया। बहुत ही धर्म प्रभावना हुई, इस अभिषेक की

फिल्म बहुत अच्छी लगती थी।

भक्त लोगों के आग्रह से शहर में मेरा लगभग एक माह तक ठहरना हो गया। इसी मध्य एक विषय और चर्चा का बन गया।

जिनप्रतिमा के चरण स्पर्श की चर्चा —

मैं यहाँ प्रतिदिन बेलगछिया में भी और अपने संघस्थ चैत्यालय में भी जब आहार के लिए निकलते समय शुद्ध वस्त्र पहनकर दर्शन करने जाती थी, तब भगवान के चरण स्पर्श करती थी। आज तक तो कोई विरोध हुआ नहीं था। यहाँ शहर में कुछ दिनों बाद किन्हीं लोगों ने यह चर्चा उठा दी और मदनलाल जी पाडवा जो कि मंदिर कमेटी के मंत्री थे, उन्होंने एक पर्चे में लिखकर वह पर्चा मंदिर के बोर्ड पर लगा दिया। उसमें लिखा था —

'मैं पूज्य माताजी से निवेदन करता हूँ कि आप श्रीजी की प्रतिमा के चरण न छुएँ क्योंकि यहाँ समाज में अशांति होती है।"

ऐसे ही अभिप्राय के वाक्य थे। अब गुरुभक्त लोगों ने आकर मुझसे कहा —

"माताजी! इस विषय पर आपका क्या समाधान है? अब तो यह नोटिस जब तक यहाँ बोर्ड से वे ही लोग नहीं हटायेंगे, तब तक आप विहार भी कैसे करेंगी?....."

मैंने शांति से उत्तर दिया —"बात ठीक है। उन्हें ऐसा लिखने के बजाए व्यक्तिगत मेरे पास निवेदन करना चाहिए था.....।"

मैं यथासमय मंदिर में पहुँची। दो-चार वे ही विरोधी श्रावक आ गये थे किन्तु वे लोग खड़े-खड़े देखते रहे। मैंने जिन प्रतिमा के चरण छूकर भक्ति से माथे में लगाये और आहार को उठ गई। आश्चर्य इस बात का था कि जो इन विषयों का विरोध करते थे, वे ही आहार के बाद मेरे आगे-आगे बैंड-बाजे के जुलूस में नाचते हुए भक्ति में विभोर होते हुए चलते थे। लोगों ने मदनलाल जी से कहा —

"आप यह नोटिस फाड़कर माताजी से क्षमा याचना कर लो, इसके बाद ही माताजी का विहार होगा, तब तक माताजी यहीं रहेंगी।" कुछ दिनों बाद कुछ लोग बेलगछिया भगत जी के पास पहुँचे और यह समस्या कह सुनायी, उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से लोगों से प्रश्नोत्तर किया —

"आप लोग आर्यिका को अपने से बड़ा और पूज्य मानते हैं क्या?"

लोगों ने कहा —"हाँ।"

"उनके चरण धोकर गंधोदक माथे पर चढ़ाते हो या नहीं?"

"हां, चढ़ाते हैं।"

"पुनः यदि तुम भगवान का स्पर्श कर सकते हो, तो माताजी ने स्पर्श कर लिया तो क्या अनर्थ हो गया? अरे भाई! सामान्य महिलाओं में और आर्यिकाओं में आप अन्तर तो मानते ही हैं।"

इस समाधान से लोगों को प्रसन्नता हुई पुनः सेठ मदनलाल जी ने वह बोर्ड पर लिखा हुआ पर्चा हटा दिया। सभी में तनाव खत्म होकर शांति का वातावरण बन गया। इसके पूर्व नवयुवक एक भजन गुनगुनाते रहते थे —

''धर्मवीर तैयार रहो नित, अपना शीश कटाने को।'
आन के आगे जान नहीं कुछ, दिखला देओ जमाने को''

खैर! वहाँ तो ऐसी कोई बात न होकर बहुत ही छोटी बात थी, समाप्त हो गई। उसके बाद मैंने बेलगछिया के लिए विहार कर दिया। इसके पहले एक दिन कुछ लोगों ने अमरचंद पहाड़िया आदि श्रावकों से

कहा था कि —"आप लोग माताजी को शहर से बेलगछिया विहार करा दें।

तब उन लोगों ने उत्तर दिया था —"भाई! हम आर्यिका संघ व्यवस्था कमेटी के लोग गुरुओं के पीछे चलने वाले हैं, न कि आगे।"

उनके ये शब्द आज भी हमें याद आ जाते हैं। ऐसे ही दिल्ली के लाला पन्नालाल तेजप्रेस वालों ने भी कई बार कहा है कि —

कभी भी "घोड़े के पीछे नहीं चलना चाहिए और गुरुओं के आगे नहीं चलना चाहिए।"

वास्तव में जो श्रावक यह नीति अपनाते हैं, वे गुरुभक्त बने रहते हैं, गुरु द्रोही नहीं होते हैं।

विहार स्थगित —

यहाँ आकर मैंने एक तिथि विहार के लिए घोषित कर दी। अब कुछ महानुभाव आकर अनुनय-विनय करने लगे कि —

"माताजी! १०-१५ दिन बाद ही विहार का रखिये" किन्तु मैंने निर्णय नहीं बदला, तब कुछ लोगों ने और ही उपाय किया। जिस दिन शायद मगसिर सुदी पंचमी को विहार करना था, तब चौथ की रात्रि में ५-७ नवयुवक आये, जिसमें पारसमल बड़जात्या प्रमुख थे। इन लोगों ने रात्रि में संघस्थ चैत्यालय में एक मंडल मांडना शुरू कर दिया और भजन गाने लगे —

"केशरिया चावल रंगवा दो ज्ञानमती माताजी का विहार रुकवा दो।"

इन लोगों का मतलब यह था कि जब हम लोग संघस्थ प्रतिमा जी को प्रातः मंडल पर विराजमान कर पूजा करने लगेंगे, तब माताजी भला कैसे विहार करेंगी? किंतु पता नहीं क्यों? मेरे मन में रंचमात्र भी ढिलाई नहीं आई और मैंने यही निर्णय रखा कि प्रातः आहार के बाद मध्यान्ह में विहार करना ही है।

इधर रात्रि भर जागरण कर भजन गाते और मंडल पूरते हुए इन लोगों की भक्ति भावना मैं सुनती रही थी। अकस्मात् रात्रि में १-२ बजे के बाद मन में ऐसा विचार आया कि-

"कई बार आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज भी विहार की घोषणा करने के बाद रुक जाते हैं। हाँ! इतना अवश्य है कि आचार्य श्री विहारघोषणा के बाद १-२ मील विहार करके वापस आ जाते हैं" ऐसे कुछ उदाहरण मैंने देखे हुए थे अतः प्रातः सामायिक से निवृत्त होकर मैंने संघस्थ आर्यिकाओं से परामर्श किया, उन सबने यही कहा —

"अम्मा! जैसा आप निर्णय करो ठीक, हमें क्या?" पुनः मैंने ब्र. चमेलाबाई को बुलाकर उनसे एकांत में राय ली। उन्होंने भी यही कहा कि —

"माताजी! चूँकि आप महाव्रती हैं, आपको अपने वचन का बहुत लक्ष्य है अतः आप भी यथासमय विहार कर दीजिये पुनः ये लोग आपको कुछ दूर से वापस ले आयेंगे।"

मैंने भी मध्यान्ह में तीन बजे के लगभग विहार कर दिया पुनः बहुत लोग साथ में चल रहे थे। एक मील करीब जाने के बाद पुनः श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना करने लगे —

"माताजी! अभी हमें १०-१५ दिन का समय और दीजिये। एक बार पुनः बेलगछिया विहार कीजिये।"

तब हम लोग भी सरल भाव से वापस आ गये। अब पारसमल आदि नवयुवकों की खुशी का भला क्या ठिकाना?"

इसके पूर्व शहर में बहुत से नवयुवकों ने एक दिन आकर प्रार्थना की थी कि —

"माताजी! प्रातः ८ बजे से आपका उपदेश होता है। उससे पूर्व ७ से ८ बजे तक हम नवयुवकों को कुछ प्रश्नोत्तर करने के लिए समय देवें, हम लोग कुछ चर्चायें करना चाहते हैं।" चूँकि उस समय कोई प्रौढ़

स्त्री-पुरुष नहीं आ पाते थे, वे भगवान की पूजन में रहते थे अतः मैंने इन नवयुवकों को मौका नहीं दिया था। अब इस समय वे भक्ति से मेरा विहार स्थगित कर प्रसन्न हुए और आगे आकर कुछ न कुछ धर्मलाभ लेने लगे, जिससे उनके माता-पिता को बहुत ही हर्ष हुआ।

कु. सुशीला पर संस्कार —

मैं जब कलकत्ता पहुँची, मुनिश्री श्रुतसागर जी की गृहस्थाश्रम की धर्मपत्नी बसंतीबाई, उनके सुपुत्र माणिकचंद, पुत्रवधू सूरजबाई आदि आते ही थे। पुत्री सुशीला के बारे में एक बार खानिया में श्रुतसागरजी ने श्रीमती बसंतीबाई से कहा था कि —

"आप अपनी पुत्री सुशीला को ज्ञानमती माताजी को गोद दे देवो।" वह बात मैं इन्हें याद दिलाती ही रहती थी किन्तु वह लड़की एक-दो बार मेरे पास आई थी पुनः आती ही नहीं थी। जब मैं एक माह शहर के मंदिर में रही, तब मेरी संघस्थ ब्रह्मचारिणी कु. मनोवती तीर्थयात्रा गई हुई थी। इधर ये बसंतीबाई और कु. सुशीला दोनों ही रात्रि में मेरे पास ही सोती थीं। अब मुझे सुशीला को समझाने, शिक्षा देने और धर्मघूँटी पिलाने में सुविधा मिल गई। मैं प्रायः उसे अनेक वैराग्यप्रद शिक्षायें दिया करती थी। मैं कहा करती थी —

"देखो सुशीला! अनादिकालीन संसार में यह मनुष्य पर्याय बड़ी मुश्किल से मिली है, इसे विषयों में फंसा देना मतलब, चिंतामणि रत्न को फेंक देने के समान है।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्यः इतः पिण्याकखंडकं।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वान्द्रियन्तां विवेकिनः।।"

एक हाथ में चिन्तामणि रत्न है और एक हाथ में खली का टुकड़ा, ध्यान से ये दोनों मिल सकते हैं, तो भला समझदार लोग किस में आदर करेंगे?

इत्यादि शिक्षाओं का प्रभाव सुशीला पर पड़ने लगा, मुझे खुशी हुई। अब वह सुशीला शहर से बेलगछिया आने पर मेरे साथ आ गई थी और वह अब मुझे छोड़कर रहना नहीं चाहती थी। मैंने यह सब संस्कार उसकी माँ के सामने ही डाले थे अतः उसकी माँ तो पूर्णतया पक्ष में थीं किन्तु उसके भाई माणिकचंद, हीरालाल और पदमचंद विरोधी बन गये। फिर भी वहाँ से विहार कर 'चिनसुरा' नामक गाँव में, जो कि कलकत्ते से लगभग २० मील दूर था, यहाँ आकर मैंने उसे उसकी मां से सहमति लेकर ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया था। उसके चार वर्ष पश्चात् वह मेरे पास आ गई थी। लगभग नव वर्ष मेरे पास रही है। आचार्यश्री धर्मसागर जी से यहाँ दिल्ली में मैंने उसे आर्यिका दीक्षा दिलाकर 'श्रुतमती' नाम रखा था। आजकल वह अपने पिता आचार्य कल्पश्रुतसागर जी के संघ में है।[१] मां बसंतीबाई भी सप्तमप्रतिमाधारिणी ब्रह्मचारिणी हैं। ये भी पहले मेरे पास रहती थीं, अब महाराजजी के संघ में ही हैं।

ब्र. प्यारेलाल की भक्ति और चर्चाएँ —

यहां बेलगछिया में ब्र. प्यारेलाल जी आकर बैठ जाते थे, तब गोम्मटसार कर्मकांड, पंचसंग्रह और धवला ग्रंथ की भी चर्चाएँ चलती रहती थीं। एक बार चर्चा यह चली कि श्रावकों को सामायिक में आत्मा का ध्यान करना चाहिए। मैंने कहा— श्रीगौतमस्वामी ने नवदेवताओं की वंदना भक्ति को प्रधान किया है। श्रावक-प्रतिक्रमण और यतिप्रतिक्रमणश्री गौतम स्वामी के बनाये हुए प्रसिद्ध हैं। श्रावक प्रतिक्रमण में सामायिक का लक्षण देखिये —

जिणवयणधम्मचेदियपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।
ज वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु।।

---

१. सन् १९८८ में आ. कल्प मुनिश्री श्रुतसागर जी का स्वर्गवास हो चुका है अब ये मेरी शिष्या आर्यिका श्रीआदिमती जी के पास हैं।

जिनवचन, जिनधर्म, जिनप्रतिमा, अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी और जिनालय ये नव देवता हैं। त्रिकाल में इनकी वंदना करना वही सामायिक है। यह प्रसंग उन्हें बहुत अच्छा लगा। एक बार यह चर्चा चल रही थी कि —

"वीतराग चारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है।"

मैंने कहा —"ऐसा एकांत नहीं है, वीतराग चारित्र अर्थात् यथाख्यातचारित्र को प्राप्त करके भी जीव अर्ध पुद्गलपरावर्तन तक संसार में घूम लेता है।"

भगतजी मेरी तरफ देखने लगे —"ऐसा कैसे?"

मैंने 'कसायपाहुड़' ग्रंथ की पंक्तियाँ दिखायीं। वे ये हैं —

"५३. अट्ठण्ह....५४...तसेसु आगदो संजमासंजमं संजमं च बहुसो गदो। चत्तारिवारे कसाए उपसामित्ता तदो एइंदिएसु गदो। असंखेज्जाणि वस्साणि अच्छिदो.....।"

शंका —आठ मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रमण किसके होता है?

समाधान —जो जीव एकेंद्रियों के योग्य जघन्य सत्कर्म के साथ त्रसों से आया, वहाँ पर संयमासंयम और संयम को बहुत बार प्राप्त किया, चार बार कषायों का उपशमन करके (ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचकर पुनः नीचे उतरकर) तदनंतर एकेंद्रियों में गया। वहां पर जितने काल में उपशामक काल में बंधे हुए समयप्रबद्ध गलते हैं, उतने असंख्यात वर्षों तक एकेन्द्रियों में रहा, तदनंतर त्रसों में आया और सर्वलघु काल से संयम को प्राप्त हुआ पुनः कषायों की क्षपणा के लिए उद्यत हुआ। ऐसे जीव के अधःप्रवृत्तकरण से चरम समय में आठों मध्यम कषायों का जघन्य प्रदेश संक्रमण होता है।"[१]

इस उद्धरण से यह समझ में आता है कि सम्यक्त्व सहित संयमासंयम और संयम को बहुत बार प्राप्त कर सकते हैं तथा उपशम श्रेणी पर चार बार चढ़कर वहां पर वीतरागी-शुद्धोपयोगी-यथाख्यातचारित्र वाले हो सकते है फिर गिरकर कदाचित् एकेन्द्रियों में जाकर असंख्यात वर्षों तक पुनः भ्रमण कर सकते हैं।

सोनगढ़ी चर्चाएँ —

सोनगढ़ विचारधारा वाले लोग मुनि-आर्यिकाओं को द्रव्यलिंगी कहते हैं और यह भी कहते हैं कि "आजकल पंचम काल में मुनियों की चर्या निभ ही नहीं सकती है।"

मैंने उन्हें श्री कुंदकुंददेव की गाथायें दिखायीं —

"भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे णहु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।७६।।

इस भरत क्षेत्र के दुःषम काल में मुनि को आत्म-स्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है, जो ऐसा नहीं मानता है, वह अज्ञानी है।

यहां तो मैंने नमूना मात्र दिखाया है, ऐसे प्रश्नोत्तर वहाँ खूब होते रहते थे।

एक बार मैंने ब्र. श्री भगतजी से पूछा कि —

"मुनिश्री श्रुतसागर जी आपके बारे में कहा करते हैं कि जयधवला के पृ. १०० पर जो दूध, दही से जिन प्रतिमा का अभिषेक, दीप, धूप से पूजा, चंदन, पुष्प चढ़ाना आदि विधान है, उसके आधार से आपने बीसपंथ को मान्यता दी है।"

उन्होंने कहा —"हाँ, माताजी! मेरी श्रद्धा उन पंक्तियों पर पूर्णरूपेण है। बस, आजकल लोग अतिरेक कर देते हैं अतः मैंने उनका प्रचार-प्रसार नहीं किया है और यही कारण है कि मैं बीसपंथ के मुनियों को, आचार्यश्री

---

१. कसायपाहुड़सुत्त, पृ. ४०८।

वीरसागर जी आदि को और आपको प्रमाण मानता हूँ और सच्चे साधुओं की कोटि में गिनता हूँ....।"

इन सभी वातावरणों से मेरा चातुर्मास तथा बाद में भी मगसिर का समय अच्छे धर्मध्यान में व्यतीत हुआ। यहाँ एक ब्र. 'चिन्तामणिबाई' थीं। वह विधान का मंडल बहुत अच्छा बनाती थीं। यहां बेलगछिया में कई एक विधान सम्पन्न हुए। मिश्रीलाल जी पाटनी और उनकी धर्मपत्नी सूँठीबाई अधिकतर बेलगछिया ही रहते थे। सेठ सुगनचंद लुहाड़िया की धर्मपत्नी मोहनीबाई भी अनेक दिनों तक वहीं मेरे पास रही थीं। इसके बाद मेरे विहार का अच्छा कार्यक्रम बनाया गया और सुखद वातावरण में मैंने संघ सहित विहार कर दिया। प्रस्थान के समय सभा में विनयांजलि समर्पित करते हुए अनेक लोगों ने अपने-अपने उद्‌गार व्यक्त किये, श्रीचांदमलजी बड़जात्या ने कहा—

"मुझे माताजी की हर एक चर्चा से, चर्या से और संघ की अनुशासन व्यवस्था से आज पुनः आचार्यकल्प चंद्रसागर जी महाराज का स्मरण हो रहा है।"

विहार के बाद मैंने सुना, कुछ लोग कह रहे थे कि—

"यदि माताजी इतनी विदुषी न होतीं और आगम पर इतनी दृढ़—कठोर न होतीं तो यहाँ के लोग उन्हें घोल कर पी जाते.....। अतः माताजी अपनी चर्या से यहाँ पर विजय की ध्वजा फहराते हुए जा रही हैं।"

किन्हीं ने कहा—

"माताजी के उपदेश में कथा, कहानी व मनोरंजन न होकर ठोस सिद्धान्त, अध्यात्म, वैराग्य और भक्तिमार्ग का विषय अधिक रहता था।

मैं सोचा करती थी कि—

"मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना" यह सूक्ति तो है ही, किन्तु कोई भी साधु या साध्वी यदि अपने मार्ग पर दृढ़ हैं, आगम के अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं तो उनकी विजय होती ही है। इसमें भला मेरी क्या विजय है?....यह तो लोगों की ही विशेषता है कि वे अपने-अपने अनुरूप गुरुओं के गुणों को ग्रहण कर लेते हैं.....।"

मदनलालजी पांड्या के घर में विश्राम—

विहार से पूर्व मदनलाल पांड्या, जिन्होंने शहर में एक पर्चा चिपकाकर अपना विरोध दिखाया था, वे ही आ गये और बोले-"विहार के मार्ग में मेरी कोठी आती है अतः आपको प्रथम विश्राम वहीं करवे, अगले दिन मध्यान्ह में विहार करना है।"

इस विषय पर कुछ भक्तों के साथ परामर्श में कुछ लोग बोले—"इन्होंने पर्चा लगाया था, इनके यहाँ कतई नहीं ठहरना चाहिए।" कुछ लोगों ने कहा कि—"इनके यहाँ ठहरने से यह प्रभावित होकर, गुरु भक्त बनकर विशेष लाभ ले सकते हैं।"

मैंने सबकी बात सुनकर निर्णय किया कि—"इन्हीं के यहाँ ठहरना है चूँकि हमारे लिए निंदक-वंदक समान हैं।—

अरिमित्र महल मसान कंचन, कांच निंदन थुतिकरण।
अर्घावतारण असि प्रहारण, में सदा समता धरन।।

हमें इनसे कोई द्वेष-भाव नहीं रखना है।

विहार के बाद रात्रि विश्राम उन्हीं की कोठी पर हुआ। प्रातः ठंड अधिक होने से मध्यान्ह में विहार का रहा। वहीं ८ बजे अनेक श्रावक-श्राविकाएँ आ गये थे, उपदेश हुआ। मैंने मदनलाल जी से कहा—"मदनलालजी! यज्ञोपवीत लेकर जैन बन जावो," उन्होंने यज्ञोपवीत ग्रहण कर लिया। सभी को खुशी हुई। इसके बाद उन्हीं के यहाँ चौके लगे एवं आहार हुआ। मदनलालजी ने भी आर्यिका चर्या की फिल्म खिंचवाई।

यहाँ से विहार करते हुए 'चिनपुरा' आ गई। वहाँ पर भी श्रावकों का मेला भर गया। यहाँ के लोगों ने शांति विधान किया और आगंतुक भक्तों के लिए प्रीतिभोज की व्यवस्था रखी। इसके बाद सम्मेदशिखर की ओर विहार हो गया।

विहार के समय ब्र.भगतजी और ब्र. चमेलाबाई की भी आँखों में आँसू थे, तमाम भक्त लोग रो रहे थे। खासकर महिलायें, जिन्होंने निकट से सेवा की थी, बालिकायें, जो पास में कुछ अध्ययन करती थीं, वे सब आँखों में अश्रु भरे हुए थीं परन्तु साधु जीवन में निर्ममता ही प्रधान है। जब हम लोगों ने घर छोड़ते समय माता-पिता के, भाई-बहनों के, अश्रुओं पर ध्यान नहीं दिया था, तब भला भक्तों के अश्रुओं पर क्या ध्यान जायेगा? हाँ, सबको यही आशीर्वाद दिया कि ऐसे ही गुरुभक्ति करते रहो, यही संसार समुद्र से तिरने का उपाय है।"

£ ४५ ¤

पुनः सम्मेद शिखर की ओर —

सम्मेद शिखर की ओर पुनः विहार होने से हम लोगों के मन में बहुत उत्साह था कि पुनरपि महान् तीर्थराज की वंदना का सौभाग्य मिलने वाला है। विहार की व्यवस्था में चाँदमलजी बड़जात्या की धर्मपत्नी भंवरीबाई का एक चौका था और पूषराज जी अग्रवाल जैन की धर्मपत्नी का एक चौका था। ये महिलायें आहार कराकर वैयावृत्ति, करते हुए धर्म चर्चा करती रहती थीं और प्रसन्न थी। साथ में अनेक महिलाएं थीं।

मध्य में हिन्दू-मुस्लिम दंगा शुरू हो गया। वहाँ से रास्ते-रास्ते में कलकत्ता से टेलीफोन आने लगे, तब यहाँ से महिलाओं ने जवाब दिया —

"आप लोग अपनी-अपनी चिंता करें, हमारी चिंता न करें क्योंकि हम लोग तो यहाँ सबसे अधिक सुरक्षित हैं। यहाँ पर हम लोग देव, शास्त्र और गुरु तीनों के सानिध्य में, तीनों की शरण में हैं.....।"

ऐसा उत्तर पाकर कलकत्ता के लोग हंसते थे और ये प्रबुद्ध महिलाएँ यहाँ हंसती रहती थीं। ऐसे सुखद वातावरण में हम सभी धनबाद, कतरास, खरखरी होते हुए ईसरी से सम्मेदशिखर-मधुवन आ गईं। यहाँ आकर मेरे साथ कलकत्ता से आने वाले पुरुष और महिलाओं ने भी वंदना की और सभी महिलाएँ कलकत्ता चली गईं। कुछ अन्य महिलाएँ यहाँ आहार दान देने के भाव से आ गयीं।

नंदीश्वर प्रतिष्ठा समारोह —

सन् १९६४ की फरवरी में सम्मेद शिखर में नंदीश्वर द्वीप की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी अतः लोगों के आग्रह से मैं यहाँ पर रुक गई। नागौर से ब्र. चांदमलजी-गुरुजी आये हुए थे। यहाँ भी गिरिराज की वंदना, उपदेश और चर्चाएँ हुआ करती थीं। पं. सुमेरुचंद दिवाकर भी यहीं पर ठहरे हुए थे। इधर वे ऐलक सिद्धसागर जी भी यहाँ आ गये थे। सभा में ये मुझसे बहुत ऊँचे पर बैठते थे, मैंने कोई लक्ष्य ही नहीं दिया।

मैं सोच लेती थी कि-इनसे नीचे के तखत पर बैठने से भला मेरा क्या नुकसान है? मैं कुछ इनसे छोटी तो नहीं हो जाऊँगी? मेरा पद तो जो है, सो ही रहेगा।" कुछ श्रावक अवश्य उत्तेजित हो जाते थे, तब मैं उन्हें शांत कर देती थी और इन ऐलक जी का तो मुनिभक्त लोगों में कोई विशेष आदर-भाव भी नहीं था, चूँकि ये अपनी बुद्धि से काम न लेकर प्रायः लोगों के सिखाने में आ जाते थे।

इधर ब्र. कु. मनोवती आर्यिका दीक्षा मांग रही थीं। ब्र. भगत जी कलकत्ता से आ गये थे, वे भी चाहते थे और कहते थे कि —

"माताजी ! आप इन्हें दीक्षा दे दीजिये।"

किन्तु आचार्यश्री शिवसागर जी की आज्ञा मँगाए बगैर मैंने स्वीकार नहीं किया। मनोवती के पत्र से

उसके माता-पिता भी यहाँ आ गये थे।

तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव और संघ के दर्शन का लाभ, एक साथ तीनों मिल जावेंगे अतः ये लोग सम्मेदशिखर जी पर आ गये, यहाँ पर मेरे दर्शन किये। माँ ने देखा, यहाँ तो हर समय कलकत्ते के श्रावक-श्राविकाएँ मुझे घेरे रहते हैं और कोई न कोई तत्त्वचर्चा या प्रश्नोत्तर यहाँ चला करता है। प्रतिष्ठा के अवसर पर पंडाल में मेरा उपदेश भी होता था। पिता ने इतनी बड़ी सभा में मेरा उपदेश सुना तो उनका हृदय फूल गया, बहुत ही प्रसन्न हुये। वहाँ मैंने इन लोगों को समझाया-"देखो! संसार में एक धर्म ही शरण है, अतः मोह को छोड़कर धर्म की ही शरण लेवो.....।"

स्वयं दीक्षा का निषेध —

वहाँ तप कल्याणक के अवसर पर एक व्यक्ति ने अकस्मात् वस्त्र उतारकर फेंक दिया और नग्न हो गये। उसी समय किसी व्यक्ति ने कहीं से एक पिच्छी, एक कमण्डलु लाकर उन्हें दे दिया। कुछ श्रावक उनकी जय-जय बोलने लगे। उस समय वहाँ पर एक मुनि धर्मकीर्ति जी बैठे हुए थे और मैं अपने संघसहित बैठी थी। महाराज जी ने भी इस दीक्षा को अमान्य व आगम विरुद्ध बतलाया तथा मैंने भी यही कहा कि-

"यदि इन्हें मुनि बनना है तो विधिवत् मुनि धर्मकीर्ति जी से दीक्षा लेवें अन्यथा इन्हें समाज मुनि न माने और इन्हें कपड़े पहना दिये जायें।" कलकत्ते आदि के प्रबुद्ध श्रावक भी मेरी बात से सहमत थे, किन्तु ऐसा करे कौन? इसमें ढिलाई देखकर मैंने ब्र. चांदमलजी आदि कई एक लोगों को बुलाकर कहा-"स्वयं दीक्षित को मान्यता देना ठीक नहीं है....।"

वहाँ पर पंडित सुमेरुचंद जी दिवाकर मौजूद थे। उन्होंने तप कल्याणक के बाद सारी स्थिति समझकर पुनः महाराज जी से और मुझसे परामर्श कर, उन नग्न हुए व्यक्ति को एकान्त में ले जाकर समझाया, तब वे बेचारे अपने को अपात्र देख, उसी दिन रात्रि में ही कपड़े पहनकर, अपने घर चले गये। तब कहीं वहाँ समाज में शांति हुई।

माता-पिता को मोह से दुखी देख, ब्र. चांदमल जी-गुरुजी ने तथा ब्र.प्यारेलाल-भगत जी ने आकर उन्हें समझाया और बोले-"भला कौन से माता-पिता ऐसे होंगे, जो अपनी पुत्री को इतने ऊँचे चारित्रपद पर, इतने ऊँचे ज्ञानपद पर, प्रतिष्ठित देखकर अतिशय आनन्दित नहीं होंगे? अतः आप लोग अब शोक को छोड़ो और इनके त्याग की सराहना करो।" तब इन बातों से प्रभावित होकर माता-पिता ने प्रतिष्ठा के बाद भी वहाँ कुछ दिन रहने का निर्णय ले लिया। कु. मनोवती उस प्रतिष्ठा के अवसर पर दीक्षा चाहती थीं लेकिन शायद अभी उनकी काललब्धि नहीं आई थी, यही कारण था कि अभी उन्हें दीक्षा नहीं मिल सकी।

मेरे साथ वंदना में खुशी —

माँ मोहिनी ने एक दिन मेरे साथ पूरे तीर्थराज के पर्वत की पैदल वंदना की, उस समय उन्हें बहुत ही आनन्द आया और उन्होंने अपने जीवन में उस वंदना को बहुत ही महत्त्वपूर्ण समझा। यह उनकी अपनी पुत्री के आर्यिका जीवन के प्रति एक अप्रतिम श्रद्धा का प्रतीक था।

वे प्रतिदिन चौका करती थीं। कोई न कोई माताजी उनके चौके में पहुँच जाती थीं किन्तु मेरा जाना तो प्रतिदिन वहाँ संभव नहीं था, तब पिताजी मुझे आहार देने के लिए आस-पास के चौके में पहुँच जाते थे और आहार देकर खुश हो जाते थे। एक दिन वे चौके में बैठे किसी वस्तु को देने के लिए आग्रह कर रहे थे और मैंने हाथ बंद कर दिया था तब वे बोले —

"माताजी! एक ग्रास ले लो, एक ग्रास.....बस मैं चला जाऊँगा। नहीं माताजी, एक ग्रास लेना ही पड़ेगा.....।"

उनका इतना आग्रह देखकर चौके के लोग, जिन्हें मालूम था कि ये माताजी के पिता हैं, खिलखिलाकर हँस पड़े।

पिता की पापभीरुता —

एक बार उनके चौके में कोई महिला कुछ संतरे दे गई और बोली–"इन्हें आहार में लगा देना।"

माँ मोहिनी ने दो–तीन सन्तरे छीलकर रख लिये क्योंकि पहले और भी संतरे, सेव आदि बिनार कर रख चुकी थीं। आहार के बाद वह सन्तरा बच गया। तब माँ वह पिता को खाने के लिए देने लगीं। वे बोले—

"यह आहार दान में एक महिला दे गई थीं, अतः यह निर्माल्य सदृश है, मैं इसे कतई नहीं खाने का.....।" तब माँ बच्चों को देने लगीं, पिता ने रोक दिया, बोले—

"बच्चों को भी नहीं खिलाना और तुम भी नहीं खाना.....।"

तब माँ मोहिनी इस समस्या को लेकर मेरे पास आईं और सारी बातें सुना दीं तथा पूछने लगीं—

"माताजी! यदि कोई महिला चौके में जबरदस्ती फल दे जावे और वह आहार में नहीं उठे, तो उसे क्या करना चाहिए?"

मैंने हँसकर कहा—

"उसे प्रसाद समझकर खाना चाहिए।"

यह उत्तर पिता के गले नहीं उतरा, तब मैंने कहा—

"अच्छा, इसे अन्य लोगों को प्रसाद रूप में बाँट दो।"

तब वे बहुत खुश हुए और बोले—

"ठीक है, अब कल से तुम किसी के फल नहीं लेना.....।"

देखो! किसी ने आहार के लिए फल दिया और यदि वह अपने खाने में आ गया, तो महापाप लगेगा.....।"

मैंने कहा—

"यदि कोई साधु को न देकर स्वयं खा लेता है, तब तो उसे पाप लगता है और यदि शेष बच जाने पर प्रसाद रूप से उसे खाया है, तो पाप नहीं लगेगा.....। फिर भी यदि तुम्हें नहीं पंसद है तो छोड़ दो, मत खावो, हाथ की हाथ अन्य किसी को प्रसाद कहकर बाँट दो।"

यह थी पिता छोटेलाल जी की निःस्पृहता और पापभीरुता! यही कारण है कि आज उनकी संतानों पर भी वैसे ही संस्कार पड़े हुए हैं।

मोह से विक्षिप्तता —

एक दिन कु. मनोवती के विशेष आग्रह से मैंने उसके केशों का लोंच करना शुरू कर दिया। वह चाहती थी कि मुझे दीक्षा लेना है तो केशलोंच का एक–दो बार अभ्यास कर लूँ। इसी भाव से वह केशलोंच करा रही थी। मैंने सोचा—

इसके माता–पिता यहाँ ठहरे हुए हैं तो उन्हें बुला लूँ। केशलोंच देख लें....।"

ऐसा सोचकर मैंने उन्हें सूचना भिजवा दी। पिताजी वहाँ कमरे में आये, देखा कु.मनोवती के केशों का लोंच, वे एकदम घबरा गये और हल्ला मचाते हुए जल्दी से अपने कमरे में भागे। वहाँ पहुँचकर मोहिनी जी से बोले—

"अरे! देखो, देखो, माताजी हमारी बिटिया मनोवती के सिर से केश नोंचे डालती हैं। चलो, चलो जल्दी से रोको" और ऐसा कहते हुए वे रो पड़े। माँ दौड़ी हुई वहाँ आई और बोलीं—

"माताजी! आपने यह क्या किया? देखो! इसके पिताजी तो पागल जैसे हो रहे हैं और रो रहे हैं। उनके सामने आप इसका लोंच न करके बाद में भी कर सकती थीं।"

उनकी ऐसी बातें सुनकर सभी माताजी हँसने लगीं और बोलीं—

"भला केशलोंच देखने में घबराने की क्या बात है? मैं भी तो सदा अपने केशलोंच करती हूँ।....."

पुनः पिताजी वहीं आ गये और बोले—

"अरे, अरे, छोड़ दो माताजी! मेरी बिटिया मनोवती को छोड़ दो, इसके बाल न नोचो, देखो तो, इसका सिर लाल-लाल हो गया है।.....।"

परन्तु उनकी बातों पर लक्ष्य न देकर मैं हँसती रही, कु. मनोवती के केशों का लोंच करती रही। मनोवती भी हँस रही थी और मौन से ही संकेत से पिताजी को सान्त्वना दे रही थी कि—

"पिताजी! मुझे कष्ट नहीं हो रहा है, मैं तो हँस रही हूँ, फिर आप क्यों दुःखी हो रहे हो? और क्यों अश्रु गिरा रहे हो?"

मैंने भी उन्हें सान्त्वना दी। लोंच पूरा होने के बाद मनोवती ने कहा—

"मैंने तो स्वयं ही आग्रह किया था। मैं एक वर्ष से माताजी से प्रार्थना कर रही थी। बड़े भाग्य से ही आज तीर्थराज पर ऐसा अवसर मिला है। अब मुझे विश्वास हो गया है कि मैं एक दिन आर्यिका बन जाऊँगी।"

पिताजी उसे अपने कमरे में ले गये, खूब समझाया और बोले—

"बिटिया! तुम अब इनके साथ मत रहो, थोड़े दिन घर चलो। बाद में फिर जब कहोगी तब कैलाश के साथ भेज देंगे.....।"

लेकिन इधर मेरे संघ का श्रवणबेलगोल यात्रा के लिए निर्णय हो चुका था अतः वह पिता के साथ घर जाने को राजी नहीं हुई और पिता को समझाते हुए बोली—

"माताजी ने अभी कलकत्ता चातुर्मास में मुनि श्रुतसागर की लगभग १८ वर्षीया पुत्री सुशीला को घर से निकालने के लिए लाखों प्रयत्न किये हैं। महीनों प्रतिदिन सुशीला को और उनकी मां को समझाती रहती थीं। जब सुशीला दृढ़ हो गई तब उसकी माँ को समझा-बुझाकर माताजी ने उसे ब्रह्मचर्यव्रत दे दिया है। अभी उनके भाइयों ने उन्हें आने नहीं दिया है, फिर भी वह एक दिन संघ में तो आयेगी ही। सुशीला के भाई माताजी के परम भक्त थे, अब कुछ माताजी से नाराज भी रहते हैं किन्तु माताजी के हृदय में इतनी परोपकार भावना है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।" इत्यादि समझाने के बाद आखिर पिता को लाचार होना पड़ा।

कुमुदनी के लिए प्रयास—

एक दिन मुझे पता चला कि कुमुदनी मेरे दर्शन के लिए घर में बहुत ही आग्रह कर रही है किन्तु वह यहाँ आकर यदि संघ में रह जाये तो.....इसलिए पिता उसे नहीं लाये हैं। तब मैंने पिता छोटेलाल जी को बहुत समझाया। वे हँसते रहे और बोले—

"माताजी! अब मैं तुम्हारे पास अपनी किसी भी पुत्री को दर्शन करने नहीं भेजूँगा। देखो! अभी तुमने कैसे मनोवती की खोपड़ी लाल कर दी है। तुम बड़ी निष्ठुर हो.....।"

मैं क्या कर सकती थी? सोचा—उसके भाग्य में जो लिखा होगा, सो ही होगा, कोई क्या कर सकता है? आगे कुछ दिनों बाद उसका विवाह कानपुर के प्रकाशचंद जैन से हो गया।

एक दिन कलकत्ते के सुगनचन्द लुहाड़िया ने वहीं पर मेरे पास एक १८ वर्षीय युवक ब्र. सुरेशचन्द को लाकर सौंप दिया। ब्र. महावीर प्रसाद जी भी साथ में ही थे। एक ब्र. वृन्दावनजी बुन्देलखण्डीय थे। ब्र. भंवरीबाई, ब्र. कु. मनोवती थीं, संघ में एक दो महिलाएं और भी थीं।

सुरेशचंद जैन —

इस सुरेशचन्द को मैंने पास में बिठाकर जब इतिहास सुना तो बहुत ही दुःख हुआ। ये उदयपुर के एक सेठ का इकलौता बेटा है। वैराग्य से घर छोड़कर तो निकल आया है। लेकिन अन्यमती के साधुओं के पास भी कुछ दिन रहा है। कभी श्वेतांबर साधुओं की संगति की है, योग्य गुरु न मिलने से भटक रहा है। मैंने वात्सल्य दिया और संघ में रख लिया। संघ में दैनिकचर्या बना दी तथा छहढ़ाला आदि पढ़ाना शुरू कर दिया। इसे अगले चातुर्मास में मैंने आचार्य संघ में भेज दिया था। वहाँ क्षुल्लक होकर अनंतर मुनि बन गये हैं। ये मुनि अवस्था में मेरे सानिध्य में बहुत दिन तक रह कर पढ़े हैं। आजकल एक दो साधुओं के साथ विचरण कर रहे हैं, इनका नाम 'संभवसागर' है।

खानदान शुद्धि-खानपान शुद्धि —

एक दिन यहाँ शिखर जी में भगवान् बाहुबली का १०८ कलशों से महाभिषेक कराया गया, वहाँ विशाल सभा में मैंने उपदेश देते हुए कहा कि-"पिण्डशुद्धि के दो अर्थ हैं—खानदान शुद्धि और खानपान शुद्धि। जिनकी खानदान शुद्धि नहीं है, वे मोक्षमार्ग में नहीं चल सकते। भगवान् की पूजन, आहारदान और दैगम्बरी दीक्षा तथा राजा बनने का अधिकार खानदान शुद्धि वाले को ही है। खानपान शुद्धि बिगड़ने पर सुधारी जा सकती है किन्तु खानदान शुद्धि नहीं सुधारी जा सकती है।" इस उपदेश को सुनते ही पं. सुमेरुचंद दिवाकर और तीर्थ कमेटी के तत्कालीन महामंत्री चन्दूलाल जी सर्राफ उछल पड़े। गद्गद होकर कहने लगे—आज हमें लग रहा है कि आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा को अक्षुण्ण रखने वाले साधु मौजूद हैं। आचार्यकल्प चन्द्रसागर जैसे निर्भीक वक्ता मौजूद हैं।.....इत्यादि कहते हुए मेरी खूब प्रशंसा की और अनेक मुनिभक्त बहुत ही प्रसन्न हुए। उस समय तो मैं इसका विशेष महत्व नहीं समझ सकी थी किन्तु आज समझ में आ रहा है कि खानदानशुद्धि अर्थात् सज्जातियत्व के समर्थक दिगम्बर जैन समाज में कम होते चले जा रहे हैं और तो क्या, कुछ दिगम्बर जैन संस्थाएं ही विधवा विवाह और विजातीय विवाह की समर्थक हो रही हैं।

सम्मेद शिखर से विहार —

मेरी श्रवणबेलगोल यात्रा की इच्छा थी अतः ब्र.चांदमलजी ने हैदराबाद होकर कुछ जल्दी पहुंचने वाला मार्ग बताया। इन्हीं के अनुसार मैंने चैत्र में सम्मेद शिखर से पुरलिया की ओर विहार कर दिया। उस समय मेरे संघ में ये ही चारों साध्वी थीं। आर्यिका पद्मावती जी, आर्यिका जिनमती जी, आर्यिका आदिमती जी और क्षुल्लिका श्रेयांसमती जी। ब्र. भंवरीबाई और ब्र. मनोवती थीं। एक ब्रह्मचारी महावीर प्रसाद जी यहाँ आ गये थे। ब्र. वृन्दावनदास जी थे, सुरेशचन्द थे और एक दो बाइयाँ और आ गई थीं अतः मैंने यहाँ से पुरलिया की ओर विहार कर दिया।

£ ४६ ¤

पुरलिया के अनुभव —

सम्मेदशिखर से चैत्र में गुरुवार को पुष्यनक्षत्र में अभिजि योग के समय आहार के बाद साढ़े ग्यारह बजे विहार कर दिया। गुरुजी चांदमलजी ने मुहूर्त निकाला था। मुझे तो यह मुहूर्त विद्या नहीं आती है। वहाँ से विहार कर पुरलिया आ गई। इधर हिन्दू-मुस्लिम दंगे से मेरा विहार रुक गया। मुझे यहां २५ दिन करीब रहना पड़ा। फिर बहुत साहस करके श्रावकों की न मानकर, मैंने चैत्र शु. ११ को यहाँ से विहार कर मार्ग में बलरामपुर में आ गई। वहाँ पर पुरलिया के लोग आये और संघस्थ जिनप्रतिमा को छोटी सी पालकी में विराजमान कर जुलूस निकाल कर महावीर जयंती का अच्छा प्रोग्राम मनाया, जिससे जैनेतर लोगों में अच्छी

प्रभावना हुई, उन्हें मेरा उपदेश सुनने का मौका मिला।

वहाँ पुरलिया में आने पर ब्र. महावीर प्रसाद ने सायं ४ बजे दूध के लिए एक श्रावक को कहा। उसने कहा—"मेरी गाय एक टाइम सुबह ही दूध देती है।"

ब्र. जी ने कहा—"चलो, आज देखें।"

वहाँ आते ही गाय के पास दुहने बैठे, उसने दूध दे दिया। श्रावकों को बहुत खुशी हुई। ऐसे ही प्रतिदिन वह श्रावक, जिनका नाम उम्मेदमल था, वे सायंकाल ४-५ बजे अपनी गाय का दूध दुहकर, लाकर संघ में कु. मनोवती को दे जाया करते थे। वह दही जमा दिया करती थी और सुबह मठ्ठा बनाकर आहार में देती थीं। जिस दिन मेरा विहार हो गया, उस दिन भी वह श्रावक अपनी गाय शाम को दुहने गया, तब उसने पूर्व की भांति दूध नहीं दिया। श्रावकों को बहुत ही आश्चर्य हुआ और उसने बार-बार यही कहा कि—

"यह गाय केवल माताजी के स्वास्थ्य हेतु मट्ठा के लिए ही दूध देती थी, अब नहीं दे रही है।"

ये श्रावक बलरामपुर में आकर कई लोगों के सामने यह घटना सुनाने लगे। लोगों ने कहा—

"माताजी में बहुत बड़ा चमत्कार है।"

मैं सोचने लगी—"भला मुझ जैसी सामान्य आर्यिका में क्या चमत्कार होगा? फिर भी यदि कुछ होवे, तो वह त्याग और संयम का ही चमत्कार है न कि मेरा।"

सराक बस्ती में विहार—

सम्मेदशिखर में साहू शांतिप्रसाद जी ने कई बार कहा था कि—"सराकजाति के स्थानों में साधुओं को विहार करके उनका उद्धार करना चाहिए।"

मैं कुछ सोचकर संघ की आर्यिकाओं को यहीं छोड़कर कु. मनोवती और ब्र. महावीर प्रसाद को साथ लेकर, अपने साथ आर्यिका पद्मावती को लेकर, यहाँ से सराकवस्ती में निकल गई। वहाँ छोटे-छोटे गांवों में रास्ते खेत और जंगल के ही थे। साथ में रास्ते का जानकार एक आदमी लिया था। ५-७ दिन में मैं १०-१२ गांवों में घूमी, उपदेश दिया। उन लोगों की बातें सुनी, चर्चायें कीं और उनकी जीवनचर्या भी देखी। वहाँ अनपढ़ लोग अधिक हैं, महिलाएं भीरु हैं, घूंघट में रहती हैं, बाहर आने से बहुत शरमाती हैं। आजकल कुछ पाठशालायें वहाँ खुल जाने से और जैन मंदिर बन जाने से कुछ लोग प्रबुद्ध बन रहे हैं।

वहाँ कई एक वृद्धों ने मुझे बताया कि—

"हम लोग सुधारवाद से बहुत डरते हैं।"

"क्यों?" तो बताया कि—

"इधर पचासों वर्ष पूर्व एक ब्र. शीतलप्रसाद जी आये थे। उन्होंने बाल विधवाओं को देखकर पुनर्विवाह की प्रथा चला दी। जिससे हमारी सराक जाति में दो पार्टियाँ हो गईं। एक सादा पार्टी, दूसरी काला पार्टी। हम दोनों पार्टियों में एक साथ जीमन—भोजन नहीं करते हैं। अभी-अभी कतरास में सराक लोगों को बुलाया गया। वहाँ श्रीमत लोगों ने जबरदस्ती हम दोनों पार्टियों के लोगों को एक साथ बिठाकर भोजन करा दिया और एक-दूसरे में शादी करने के लिए भी प्रोत्साहित कर दिया। कुछ नयी-नयी बुद्धि के लोग आजकल इस नीति से प्रभावित हैं किन्तु हम लोग अच्छे शुद्ध घरानों में जातिच्युत— अशुद्ध घराने की बेटियाँ नहीं लेना चाहते हैं और न ही उनके साथ बैठकर खाना चाहते हैं।

इधर के लोग जब सुनते थे कि आर्यिका माता जी आ रही हैं तब साथ में कुछ लोग पुराने शहनाई आदि वाद्य बजाने वालों को लेकर, स्वागत के लिए मीलों पहले आ जाते थे पुनः खेत के रास्ते में हम दो साध्वियाँ, मात्र १०-२० श्रावक-सराकजन तथा बाजे वालों का दृश्य बड़ा अच्छा लगता था। आज भी वह संस्मरण

याद आते ही वह खुले खेतों में पपीरी आदि बाजों का दृश्य दृष्टिपथ में आ जाता है। कु. मनोवती उन पुराने बाजों को देखकर खूब हंसती और कहती—

"माताजी! यहां जंगल में बाजे बज रहे हैं, भला कौन देख रहा है?" तब वे लोग बोलते-"बहनजी! हमारी भक्ति है, हम जंगल में ऐसे महान् साधु का स्वागत करके आज पहली बार कितने हर्ष का अनुभव कर रहे हैं सो हम लोग मुख से नहीं कह सकते हैं।"

इस प्रकार मैंने सराकबस्ती में एक सप्ताह विहार कर लोगों के अनुभव लिए पुनः वहाँ से वापस आकर 'कटक' की ओर विहार कर दिया।

उड़ीसा में विहार —

इधर लगभग २०० मील तक जैन के घर कहीं भी नहीं थे। एक दिन मार्ग में एक महात्मा के मठ में ठहर गई, यह मठ बहुत बड़ा था, उसमें बरामदे में आहार हुआ। वहाँ के महात्मा-बाबाजी बहुत ही भक्तिमान थे। उन्होंने एक-दो दिन वहाँ रहने के लिए निवेदन किया किन्तु हमें भला कहाँ रुकना था? वैसे प्रतिदिन मैं आहार के बाद विहार कर देती थी और दो-ढाई मील चलकर सामायिक करती थी। उस दिन सहसा मेरे मुख से निकल गया—

"आज सामायिक के बाद ही विहार करना है।"

सामायिक करके उस दिन चतुर्दशी होने से मैंने कहा—

"लाओ, पुस्तकें अब यहीं पर ले आओ। पाक्षिक प्रतिक्रमण करके ही विहार करूँगी।"

प्रतिक्रमण शुरू कर दिया, आधे से अधिक हो चुका था पुनः इतनी जोर की आँधी आई कि मानो महातूफान ही आ गया हो और यह बहुत देर तक चलती रही। रुकने के बाद ब्र. महावीर प्रसाद ने आकर कहा—

"माताजी! यदि आज विहार हो गया होता तो क्या होता?

ओह! सारी सड़कों पर बड़े-बड़े वृक्ष धराशायी हो गये हैं। कहीं से भी मेटाडोर गाड़ी नहीं जा सकती है।....।"

शाम को मैं दीर्घशंका के लिए बाहर निकली और स्वयं देखा कि—

"सड़कों पर आधे-आधे फर्लांग से बड़े-बड़े वृक्ष गिरे पड़े हैं।" यह घटना देखकर सभी आर्यिकाओं के मुख से यही निकला-

"ओह! यदि आज विहार किया गया होता, तो हम लोगों की क्या दशा हुई होती?....." पुनः सबने यही कहा कि—

"माताजी के शब्दों में महान् शक्ति है। आज उनके मुँह से अकस्मात् निकल गया कि विहार अभी नहीं करना है। बाद में सामायिक के बाद पुनः प्रतिक्रमण के लिए आदेश दे दिया।"

मैंने कहा—

"दुर्घटना टलनी थी या नहीं होनी थी अतएव ऐसी उत्तम विचार सरणि उपजी और विहार स्थगित कर दिया.....।"

बात यह है कि जब तक पुण्य का उदय रहता है, तब तक सभी लोग अच्छे बनते हैं, अतएव सदा पुण्य का ही संचय करते रहना चाहिए।

सायंकाल से ही लोग वृक्षों को वहाँ सड़कों से हटाने के प्रयास में लग गये। हम लोगों ने रात्रि विश्राम वहीं मठ में किया पुनः प्रातः वहाँ से विहार कर जैसे-तैसे वृक्षों की टहनी आदि को उलंघन कर चलते हुए आगे गंतव्य स्थान पर पहुँचे।

उसी के निकट शायद एक नदी आई थी, जिसका नाम वैतरणी था। महाभारत में वैतरणी नदी को कलिंग देश की उत्तर-पूर्वी सीमा बताया गया है।

वहाँ से आगे बढ़ते हुए हम लोग आपस में विचार कर रहे थे—

"देखो! ये महात्मा कितने सरल स्वभावी हैं किन्तु इनके पत्नी हैं, बच्चे हैं, बड़े-बड़े खेत हैं और ईटों के भट्टे का काम है। फिर भी ये गेरुवा वस्त्र पहनकर 'महंत' कहलाते हैं। यह पंचमकाल की ही विडम्बना है।.....मोक्ष इनसे कितनी दूर है?"

मैं सोचती रही—

"भगवन्! मैंने कई जन्मों में बहुत ही पुण्य संचित किया होगा जो कि मैंने जैन कुल में जन्म लिया और बचपन से ही मुझे समीचीन शास्त्रों के स्वाध्याय का लाभ मिला पुनः सच्चे दिगम्बर गुरु मिल गये और मैंने रत्नत्रयस्वरूप सच्चा मार्ग पा लिया.....।"

ऐसे चिंतवन करते हुए क्रम-क्रम से मैंने कटक का किनारा पा लिया। वहाँ से 'पूषराज जैन' उनके परिवार के लोग आये, बहुत ही भक्ति से ले गये। वहाँ धर्मशाला में ठहरी, मंदिर के दर्शन किये। यद्यपि कुछ विचार यहाँ कटक या खण्डगिरि-उदयगिरि में ही चातुर्मास करने का मन में था क्योंकि गर्मी पड़ने लग गई थी, फिर भी मैंने कुछ नहीं कहा। यहाँ से तीर्थवंदना के लिए गई।

खण्डगिरि-उदयगिरि क्षेत्र वंदना —

खण्डगिरि-उदयगिरि क्षेत्र पर पहुँचकर तीर्थक्षेत्र की वंदना की। कलकत्ता में जो श्रेष्ठी छोटेलाल जी ने अनेक गुफाओं और यक्ष-यक्षिणियों के फोटो दिखाये थे, उनका स्मरण हो आया। अनेक गुफाएँ देखीं और अनेक दीवालों में बनी हुई—उत्कीर्ण हुए-चौबीस सौ वर्ष पुरानी जिन प्रतिमाओं को और शासन देव-देवियों को देखा। अनेक उत्कीर्ण लेख देखे, जो कि अपने से पढ़े नहीं जा सकते थे।

इतिहास में राजा खारवेल का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। यहाँ हाथी गुफा में जो इस राजा के राज्याभिषेक आदि का वर्णन है, उसमें णमोकार मंत्र से अभिलेख प्रारंभ हुआ है। यह खारवेल राजा जैन थे? खारवेल राजा की पट्टरानी द्वारा निर्मित मंचपुरी गुफा में लेख है कि-

"अर्हंतों की प्रसन्नता के लिए यह गुफा श्रमणों के लिए समर्पित की गई।"

इसी प्रकार खारवेल शासन के तेरहवें वर्ष का विचरण चौदहवीं पंक्ति में बताया है जिसके अनुसार 'कुमारी पर्वत' पर अर्हंतों अथवा जैन साधुओं के विश्राम के लिए गुफाओं का निर्माण किया गया था।[१]

ये सब गुफाएँ देखकर मन में यह भाव आता था कि—

"भगवान्! मेरे जीवन में इस भव में तो शायद ऐसी गुफाओं में रहने का, ध्यान करने का अवसर नहीं मिलेगा परन्तु अगले भव में पुरुष होकर, दिगम्बर मुनि बनकर ऐसी गिरि गुफाओं में, कंदराओं में और पर्वत की चोटी पर ध्यान करने का अवसर अवश्य मिले।"

यहाँ का कुमारी पर्वत तीर्थ रूप से प्रसिद्ध रहा है। भगवान् महावीर का समवसरण यहाँ आया था, ऐसा इतिहास प्रसिद्ध है।

खंडगिरि पर्वत पर छोटे-बड़े चार मंदिर हैं और लगभग १५ गुफाएँ हैं। उदयगिरि पर्वत पर कुल १८ गुफाएँ बनी हुई हैं।

यहाँ दर्शन कर, गुफाओं का अवलोकन कर, प्राचीन संस्कृति को जीवंत देखा और मन प्रसन्न किया। इधर उड़ीसा प्रान्त में उड़िया भाषा थी।

---

१. 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग २, पृ. १९७।

अभी भीषण गर्मी पड़ने लगी थी, यहाँ क्षेत्र पर और कटक में भी जैनों के अधिक घर नहीं थे, मात्र पूषराज निहालचंद अग्रवाल जैन का परिवार ही प्रमुख था, ये लोग भी अधिकांशतः कलकत्ते में रहते थे अतः मैंने सोचा, "कुछ और चल करके 'हैदराबाद' पहुँचकर वहाँ चातुर्मास कर लें। वहाँ से श्रवणबेलगोल भी लगभग चार सौ, साढ़े चार सौ मील ही रह जायेगा। चातुर्मास के बाद जल्दी ही भगवान् बाहुबली के दर्शन हो जायेंगे।"

ऐसा सोचकर यहाँ से विहार कर दिया। यहाँ से विहार की पूरी व्यवस्था पूषराज जैन, फतेहचंद जैन आदि भक्तिमान श्रावकों ने बना दी थी। संघ में ब्र. महावीर प्रसाद जैन और ब्रह्मचारिणी मनोवती प्रमुख थे।

आन्ध्र प्रदेश में विहार —

इधर मार्ग में अनकापल्ली, विशाखापत्तणं आदि शहर आये। बड़े शहरों में कलकत्ता के किन्हीं-किन्हीं व्यापारी सेठों के यहाँ मुनीम आदि रहते थे। यहाँ वहाँ से टेलीफोन आ जाने से ये लोग सामने स्वागत के लिए आ जाते थे। एक-दो बार ही ऐसे प्रसंग आये। बाकी इस प्रांत में जैन के गाँव एवं मंदिर न होने से हमें बहुत ही असुविधा हो गई। इधर मांस-मछली आदि खाने वाले बहुत लोग हैं। ताड़ के बड़े-बड़े वृक्ष हैं, उनमें मटकी लटकी रहती हैं। जब आदिवासी लोग कमर में रस्सा बांधकर ताड़वृक्ष पर चढ़ते थे और ताड़ी की मटकी लेकर उतरते थे, तब मार्ग में यह दृश्य कभी-कभी डरावना सा लगता था।

रास्ते चलते महिलाएँ और पुरुष सामने आकर मुट्ठी बाँधकर हम लोगों से पूछते-

"या ऊरु रंडे ! या ऊरु रंडे !!"

तब मेरे संघ की जिनमती जी आदि आर्यिकाएँ बहुत ही डर जातीं थीं। हम लोग उनके शब्दों को न समझकर एक-दो मिनट रुक जाते पुनः हाथ के संकेत से उन्हें हटाकर आगे बढ़ जाते। कभी-कभी जिनमती जी आदि आपस में खूब हँसतीं, कहतीं —

"अम्मा ! लगता है कि ये लोग गालियाँ दे रहे हैं। भला क्या पूछते हैं?"

कुछ दिनों में वहाँ के स्कूलों में ठहरकर प्रबुद्ध लोगों से मैंने पूछा-"या ऊरु रंडे, का क्या अर्थ है?" तब दो भाषा वालों ने बताया-ये लोग पूछते हैं-"हे महानुभाव ! आपका कौन सा गांव है?" ये बहुमान से ही आपसे पूछते हैं। वहाँ 'रंडे' का अर्थ महानुभाव है। अपने इधर गाली के समान है। ऐसे ही दक्षिण में गुण्डा छोटे बालक को बोलते हैं। इधर 'गुण्डा' का अर्थ 'बदमाश' होता है। देश-देश की भाषा में बड़ा ही आनन्द आता था।

जहाँ पर हम लोग ठहरते थे, ऐसे स्कूल आदि के पास बच्चे हम लोगों का एक अजनबी वेष देखकर आपस में बोलते —

"रा रा रा," जिसका अर्थ था, आवो आवो आवो।"

ऐसा बोलकर तमाम बच्चों को इकट्ठा कर लेते। जब हम लोग गर्मी से परेशान हो जाते, तब ब्रह्मचारी लोग इन्हें हटाते। तब ये बोलते —

"पो पो पो अर्थात् जावो जावो जावो।"

ऐसा तेलगु भाषा में ये लोग बोलते थे —

विजयवाड़ा बहुत बड़ा शहर है, वहाँ पहुँची। जैन लोग न होने से बहुत ही असुविधा थी। संघस्थ ब्रह्मचारी लोग एक धर्मशाला में ठहर गये। वहाँ बरामदे में चौका लगाया। हम लोग प्रातः करीब ९-१० मील चलकर पहुँचे थे, आहार को उठे, चौके में आकर बैठे, नवधाभक्ति के बाद आहार शुरू किया ही था कि जोर से हवा चलने से ऊपर में लगा हुआ चंदोवा गिर गया, मुझे लग गया, मेरा तो अंतराय हो गया, कुल्ला करके

वापस आ गई। अब ब्रह्मचारी लोग घबराये—

"क्या होगा? ऐसी भयंकर गर्मी में इतनी चलाई और ऊपर से अंतराय! पेट में पानी नहीं है, माताजी के चौबीस घंटे कैसे निकलेंगे?" मध्यान्ह सामायिक के बाद यहाँ धर्मशाला में विवाह के बारातियों की भीड़ का हल्ला-गुल्ला देखकर मैंने वहाँ से विहार कर दिया। शरीर, स्वास्थ्य की किंचित् भी परवाह नहीं की। यद्यपि उस समय शरीर से निर्मोही होकर मैं विहार कर देती थी किन्तु आगे उसका परिणाम दुःखद ही हुआ है। अस्तु।

कहीं-कहीं श्वेताम्बर लोग आ जाते थे, वे लोग बहुत ही भक्ति प्रदर्शित करते थे किन्तु मुझे हैदराबाद तक पहुँचना था। इसके बीच में कहीं चातुर्मास के लिए उपयुक्त स्थान नहीं था इसलिए चलना ही चलना दीखता था।

इधर आन्ध्रप्रदेश में माँसाहारी लोग बहुत थे। जहाँ कहीं स्कूलों में ठहरने पर भी वहाँ के मास्टर या चपरासी मुर्गी पाले रहते थे और अण्डे-माँस खाते थे अतः कहीं स्कूलों में भी ठहरने की इच्छा नहीं होती थी। प्रायः शिवमंदिर-हनुमान मंदिर आदि मिल जाते, तो मैं वहाँ ठहरना ज्यादा पसंद करती थी क्योंकि वहाँ शुद्धता और स्वच्छता रहती थी। अनकापल्ली में पहुँचे। वहाँ एक जैन परिवार था जो कि कलकत्ते के व्यापारी सेठ का मुनीम था। यहाँ कुछ शांति मिली। यहाँ के श्रावक ने अपना दुभाषिया- 'तेलगू और हिन्दी जानने वाला नौकर दे दिया। यह दो भाषा का जानकार नौकर, अच्छा भक्तिमान निकला और संघ में मनोरंजन का साधन बन गया।

एक जगह रात्रि में हम लोग बाहर खुले मैदान में विश्राम कर रहे थे, पास में ही कुत्ते खूब भौंक रहे थे, तभी इस नौकर ने जाकर चपरासी से कहा—

"अरे! तुम इन कुत्तों को कमरे में भरकर रख दो। हमारे गुरुओं को नींद नहीं लेने देते हैं।"

उसका अभिप्राय था कि कमरे में बंद कर दो, उसकी इस भाषा से संघ के लोग खूब हँसते और उसके साथ विनोद करते रहते।

एक दिन कोई महानुभाव, गुरु समझकर आकर अपनी तेलगू भाषा में कुछ निवेदन करने लगे—

मैंने इसी नौकर से पूछा कि-"ये महानुभाव क्या कह रहे हैं?"

उसने कहा—

"माताजी! ये अपनी लड़की को स्कूल में रख देना चाहते हैं सो स्वीकृति नहीं मिल रही है, आपका आशीर्वाद लेने आये हैं।"

मैंने अभिप्राय समझ लिया कि—

"ये अपनी पुत्री का स्कूल में प्रवेश चाह रहे हैं।"

मैंने उन्हें कहा-"आप **ॐ नमः** मंत्र जपो पुनः लड़की को स्कूल में ले जाना, उसे प्रवेश मिल जायेगा।"

वैसा ही हुआ, तो वे महानुभाव अगले गाँव में आकर भक्ति से नमस्कार कर, खुशी से समाचार सुनाकर, चले गये।

जगह-जगह मैं हिन्दी में अहिंसा का उपदेश देती और कभी मृगसेन धीवर की, कभी खदिरसार भील की, कभी आटे के मुर्गे की आदि की कथायें सुना देती। यह दुभाषिया नौकर उन्हें तेलगू में समझा देता, जिससे कितने ही लोग मांसाहार का त्याग कर देते थे, तब मुझे बहुत ही खुशी होती थी।

इस नौकर ने स्वयं एक दिन बताया कि मेरे यहाँ रोज एक मुर्गी का मांस बनता था। अनकापल्ली में मैंने आपका उपदेश सुना और मांसाहार का त्याग कर दिया। घर जाकर बर्तन में पक रही मुर्गी के मांस समेत बर्तन

को ही बाहर ले जाकर फेंक दिया और अपनी माता तथा पत्नी को भी मांसाहार का त्याग करा दिया है अतः यह औरों से भी मांसाहार त्याग कराने में बहुत मेहनत करता था।

इस मार्ग में कितने ही लोग पूछते—"आपका व्यवसाय क्या है?"

तब मैं उन्हें उत्तर देती—"मेरा व्यवसाय अहिंसा धर्म का प्रचार करने का है।"

लोग खुश होते और कौतुक से उपदेश सुनना चाहते।

हम लोगों के हाथ में मयूर पिच्छिका देखकर जगह-जगह लोग पूछते—

"यह क्या है? और क्यों आपने ले रखी है? बहुत अच्छी लगती है, क्या हमें दे सकती हैं?"

तब मैं पिच्छी के गुणों को बतलाती कि यह हम दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों का चिन्ह है। संयम का, जीव दया का उपकरण है, ऐसा समझा देती। कभी-कभी एक पंख निकाल कर आशीर्वाद और स्मृति के रूप में दे देती थी।

यदि पंख सभी को देने लग जाती, तो पिच्छी के सारे पंख ही समाप्त हो जाते अतः सावधानी से कभी किन्हीं प्रबुद्ध महानुभावों को ही देती थी।

इस प्रकार विशाखापत्तनं आदि होते हुए मैं हैदराबाद के निकट पहुँच गई। कलकत्ता से सूचना मिल जाने से यहाँ के लोग कई दिनों पहले ही आते रहे थे और हैदराबाद में किस दिन प्रवेश करना है? यह दिन निश्चित कराना चाहते थे। यद्यपि मैं जरूरत से ज्यादा थक चुकी थी, गर्मी का मौसम, अंतरायों का होना और लम्बी चलाई से शरीर जवाब देता जा रहा था, फिर भी मैंने उससे खींचतान करने में कमी नहीं रखी और हैदराबाद वालों को अषाढ़ की आष्टान्हिका में पहुँचना निश्चित कर दिया । वहाँ के लोगों में खूब उत्साह था क्योंकि दिगम्बर जैन आर्यिकाओं का तो क्या, साधुओं के प्रवेश का ही इनके लिए पहला मौका था। इससे पूर्व निजाम स्टेट में बहुत वर्षों पूर्व आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का विहार हुआ था परन्तु आज तक किसी के चातुर्मास का इन्हें लाभ नहीं मिला था अतः ये लोग बहुत ही उत्कंठित थे।

शहर के प्रवेश में मीलों दूर से बैंड बाजे के साथ जुलूस बना लिया। मैं जुलूस में चल तो रही थी किन्तु शरीर में इतनी कमजोरी आ चुकी थी कि "लगता था अभी गिर जाऊँगी।" बहुत ही मनोबल से चल रही थी। इससे ४-५ दिन पूर्व से मुझे खून के अतिसार (दस्त) शुरू हो गये थे। पहले तो मैंने किसी शिष्या को बताया ही नहीं था पुनः एक दिन पूर्व कह दिया था।

दैवयोग से या मेरे कर्मोदय से मेरी शिष्यायें भी उन दिनों कुछ सोच नहीं पाई थीं, जैसे-तैसे मैं हैदराबाद में केशरबाग दिगम्बर जैन मंदिर के प्रांगण में पहुँची। बस, जुलूस के समाप्त होते ही मैं पड़ गई। उसके बाद शायद २०-२५ दिन बाद ही उठ कर बैठ पायी थी।

मेरी अस्वस्थता —

इधर आषाढ़ माह में मैंने लगभग १ माह में साढ़े तीन सौ मील की चलाई की थीं। गर्मी की भीषणता से तथा पुरानी संग्रहणी के निमित्त से अब शरीर ने जवाब दे दिया। आहार में कुछ जल व फल-रस लेते ही वमन हो गया। इधर दिन भर खून के दस्त होने से इतनी नाजुक स्थिति देखकर संघ के क्या, वहाँ के श्रावक लोग भी एकदम घबड़ा गये। डाक्टर-वैद्यों को बुलाया गया। जब उन्होंने मेरी चर्या सुनी कि-"चौबीस घण्टे में दिन में १०-११ बजे मात्र एक बार करपात्र में आहार, उसी समय जल और औषधि, उसमें भी औषधि आयुर्वेदिक, शुद्ध काढ़ा या चूर्ण आदि.....।"

तब डाक्टरों ने तो कह दिया—

"इन्हें जीवित रख पाना बहुत कठिन है.....।"

वैद्यों ने भी जवाब दे दिया। उस समय आर्यिका जिनमती ने साहस बटोरकर बुद्धिमत्ता से कलकत्ते टेलीफोन कराया। वहाँ के लोग जब सारी स्थिति समझ गये, तब वैद्यराज केशव देव को भेजा।

इसके पूर्व यहाँ मैंने अस्वस्थ अवस्था में ही संस्तर पर (पाटे पर) पड़े-पड़े वर्षा-योग स्थापना क्रिया कर ली थी। मेरी सीरियस स्थिति में लोगों का उत्साह समाप्त सा हो गया था। एक दिन रात्रि में कुछ लोग एकत्रित होकर मंदिर के बाहर ही बैठकर, चर्चाएँ कर रहे थे जो कि कुछ-कुछ मेरे कान तक भी आ रही थीं।

एक ने कहा—"यह क्या हुआ?"

दूसरे ने कहा—"बताओ, समाधि हो जायेगी तो क्या होगा?"

तीसरे ने कहा—"भाई! माताजी की बहुत छोटी उम्र है। सुना है, इनके उपदेश से कलकत्ते में हजारों-हजारों लोगों ने लाभ लिया है। इस समय इनके समान उपदेश देने वाला आचार्य देशभूषणजी के सिवाय कोई दूसरा साधु नहीं है, बल्कि ये आर्यिकाओं में पहली आर्यिका हैं जो इतना अच्छा उपदेश करती हैं।"

एक ने कहा—"इनके पास जितनी भी साध्वियाँ हैं, सब इन्हीं की शिष्यायें हैं, उनका क्या होगा? इनके बाद भला ये लोग क्या करेंगी?".....।

कुछ लोग बोले—

"अरे भाई! यहाँ समाधि हो जाने से हम लोगों का नाम और हैदराबाद शहर का नाम बदनाम हो जायेगा?"

इस प्रकार बेचारे श्रावक किंकर्तव्यविमूढ़ हो अनेक चर्चायें कर रहे थे। इसी बीच कलकत्ते से वैद्यराज आ गये।

उन्होंने आहार के समय शुद्ध औषधि, काढ़ा, चूर्ण आदि दिलाया। वैसे मेरी परिचर्या में आर्यिका जिनमती जी आदि सभी कुशल थीं। वे स्वयं चौके में आकर आहार दिलाती थीं लेकिन वमन और दस्तों में नियंत्रण नहीं हो पा रहा था। लगभग पाँच दिन तक वैद्यराज अपना इलाज चलाते रहे। मुझे प्रतिक्षण णमोकार मंत्र सुनने की ही इच्छा रहती थी। इधर उपचार से सफलता नजर नहीं आ रही थी। वैद्य जी ने कहा—

"माताजी ने इस संग्रहणी रोग से ग्रसित शरीर से इतनी अधिक पदयात्रा कर ली है कि अब इनकी आंतें बेकार हो गई हैं, पेट में पानी सूख गया है। अब इनको कैसे बचाया जावे.....?"

वे भी चिंतित होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे पुनः मेरे पास आकर बैठे और धीरे से बोले—

"माताजी! मेरी बुद्धि तो अब कुछ काम नहीं कर रही है अतः आप ही कुछ उपाय बतलाइये।"

मैंने कुछ सोचा पुनः धीरे-धीरे से कहा—

"वैद्य जी! मट्ठा बंद करके एक-दो दिन जरा सा दूध का प्रयोग कराकर देखो.....।"

वैद्य जी ने अगले दिन आहार में मट्ठा बंद करा दिया और जरा सा दूध दिलाया। उसमें भी इलायची आदि कुछ चीजें डलवाई थीं। दैवयोग से उस दिन वमन रुक गया। वैद्य जी प्रसन्न हुए। बाद में धीरे-धीरे औषधि ने अपना काम शुरू कर दिया।

उस समय मुझे पानी न देकर 'डाभ' के जल में भी कुछ वस्तु डालकर, उसे भोभल में गरम कर भिन्न प्रक्रिया से उस 'डाभ' के जल को आहार में दिया जाता था। दूध में भी कुछ न कुछ इलायची आदि डालकर गर्म कर दिया जाता था। औषधि की पुड़िया, काढ़ा और चूर्ण दिया जाता था। अनार को भी मिट्टी या आटे में लपेटकर गर्म कर उसके रस को निकाल करके दिया जाता था। कुल मिलाकर औषधिरूप से ही कुछ रस, दूध या जल पहुँचाया जाता था।

धीरे-धीरे स्वास्थ्य में सुधार होना शुरू हुआ, तब सभी के जी में जी आया और वैद्यराज जी मेरा

आशीर्वाद लेकर कलकत्ते के लिए रवाना हो गये।

यहाँ संघस्थ ब्रह्मचारिणी का एक चौका था और श्रावकों का भी चौका था। धीरे-धीरे कई श्राविकाओं ने शुद्ध जल का नियम लेकर आहार देना शुरू कर दिया।

मनोवती की मनोभावना सफल हुई —

इधर हैदराबाद से किसी श्रावक का लिखा हुआ एक पत्र टिकैतनगर पहुँचा-

"आर्यिका ज्ञानमती माताजी अत्यधिक बीमार हैं।" माता-पिता बहुत दुःखी हुए। कैलाशचंद जी को भेजा, "जाओ समाचार लेकर आओ, कैसी तबियत है? कैलाशचंद आये — देखा, मैं पाटे पर लेटी हुई हूँ और बोलने अथवा करवट बदलने की भी मेरी हिम्मत नहीं है पुनः दो-चार दिन बाद कुछ सुधार होने पर एक दिन मध्यान्ह में कु. मनोवती भाई कैलाशचंद के पास बैठी-बैठी रोने लगी, बोली —

"भाई साहब! मुझे दीक्षा दिला दो, अभी ८ दिन पूर्व भी माताजी के बारे में सभी डाक्टर-वैद्यों ने जवाब दे दिया था, बोले थे, कि अब ये बचेंगी नहीं.....यदि माताजी को कुछ हो गया, तो मैं क्या करूँगी?

कैलाशचंद जी ने बहुत कुछ सान्त्वना दी किन्तु उसे शान्ति नहीं मिली पुनः वह आकर मेरे पास रोने लगी और बोली —

"मेरे भाग्य में दीक्षा है या नहीं? मैं कितने वर्षों से तड़प रही हूँ।" इतना कहकर उसने दीक्षा न मिलने तक छहों रस त्याग कर दिये। दो दिनों तक वह नीरस भोजन करती रही, तब कैलाशचंद मेरे पास बैठे और बोले-

"माताजी! इसे कैसे समझाना?....."

मैं धीरे-धीरे बोली-

"कैलाश! मैंने देखा है कि संघ में जिसके भाव दीक्षा के नहीं होते हैं, उसे कैसी-कैसी प्रेरणा देकर दीक्षा दी जाती है? किन्तु.....पता नहीं इसके किस कर्म का उदय है।.....जो भी हो, यह बेचारी दीक्षा के लिए रो-रोकर आँखें सुजा लेती है। अब मुझे भी इसके ऊपर करुणा आ रही है।.... जब मेरे दीक्षा के भाव थे, तब मैंने भी तो पुरुषार्थ करके छह महीने के अंदर ही दीक्षा प्राप्त कर ली थी किन्तु इसे आज ६-७ वर्ष हो गये हैं। न इसके ज्ञान में कमी है न वैराग्य में, मात्र इसका शरीर अवश्य कमजोर है, फिर भी यह चारित्र में बहुत ही दृढ़ है, यह मैंने अनुभव कर लिया है अतः मेरी इच्छा है कि तुम अब इसके सच्चे भ्राता बनो.....।'

इतना सुनकर कैलाशचंद का भी हृदय पिघल गया। वे बोले —

"माताजी! आप जो भी आज्ञा दें मैं करने को तैयार हूँ।.....मैं इसका रस परित्याग पूर्ण कराकर ही घर जाऊँगा।"

मैंने कहा —

"तुम आज ही पपौराजी (टीकमगढ़) चले जावो और इसकी दीक्षा हेतु आचार्य श्री शिवसागर जी से आज्ञा ले आवो। यह मेरे से ही दीक्षा लेना चाहती है।"

कैलाशचंद ने मेरी आज्ञा शिरोधार्य की। वहाँ से रवाना होकर टीकमगढ़ पहुँचे। आचार्यश्री को नमोऽस्तु करके यहाँ की सारी स्थिति सुना दी। सन् १९६४ का आचार्य संघ का यह चातुर्मास पपौरा तीर्थ पर हुआ था।

आचार्य श्री ने कहा —

"मेरी आज्ञा है कि आर्यिका ज्ञानमती माताजी उसे क्षुल्लिका दीक्षा दे दें।

आज्ञा लेकर कैलाशचंद वापस हैदराबाद आ गये। कु. मनोवती की खुशी का भला अब क्या ठिकाना?

मैंने श्रावण शुक्ला सप्तमी को भगवान् पार्श्वनाथ का मोक्ष कल्याणक होने से उसी दिन दीक्षा देने के लिए सूचना कर दी। फिर क्या था, हैदराबाद के श्रावकों के लिए यहाँ दीक्षा देखने का पहला अवसर था। भक्तों ने बड़े उत्साह से प्रोग्राम बनाया, तीन दिन ही शेष थे। कैलाशचंद ने खुली जीप में मनोवती की

शोभायात्रा निकाली पुनः वहाँ के श्रावकों ने हाथी पर बिंदोरी निकाली थी। कु. मनोवती को रात्रि के १-२ बजे तक सारे शहर में घुमाया गया। श्रावक-श्राविकाएँ चन्दन के हार, नोटों की मालाएँ और पुष्पमालाओं से मनोवती को सम्मानित करते गये।

जाप्य का प्रभाव —

श्रावण शुक्ला सप्तमी के प्रातः से ही मूसलाधार बारिश चालू हो गई। ऐसा लगा-

"खुले मैदान में दीक्षा का मंच बना है, दीक्षा वहाँ कैसे होगी? जनता कैसे देखेगी?....।"

कैलाश ने मेरे सामने समस्या रखी। मैंने एक छोटा सा मंत्र कैलाश को दिया और बोली—

"एक घंटा जाप्य कर लो और निश्चिंत हो जाओ, दीक्षा प्रभावना के साथ होगी।"

ऐसा ही हुआ, दीक्षा के समय दिगम्बर जैन, श्वेताम्बर जैन और जैनेतर समाज की भीड़ बहुत ही अधिक थी।

इधर दीक्षा के एक घंटे पहले ही बादल साफ हो गये और आश्चर्य तो इस बात का रहा कि मुझमें बैठने की भी शक्ति नहीं थी। सो पता नहीं उस समय स्फूर्ति कहाँ से आ गई कि मैंने विधिवत् दीक्षा की क्रियायें एक घंटे तक स्वयं अपने हाथ से कीं और नवदीक्षिता क्षुल्लिका का नाम "अभयमती" घोषित किया, अनन्तर ५ मिनट तक जनता को आशीर्वाद भी दिया। दीक्षा विधि सम्पन्न होने के एक घंटे पश्चात् पुनः मूसलाधार वर्षा चालू हो गयी। तब सभी लोगों ने एक स्वर से यही कहा—

"माताजी में बहुत ही अतिशय है।

तब मैंने कहा—"मेरे में कुछ भी अतिशय नहीं है। अतिशय तो धर्म में है। वास्तव में, धर्म के प्रसाद से ही सर्व अमंगल दूर होते हैं और तो क्या? धर्म से ही मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है अतः धर्म पर ही श्रद्धा रखो।"

अगले दिन कैलाशचंद ने सजल नेत्रों से क्षुल्लिका अभयमती माताजी को आहार दिया, उन्हें दूध, घी आदि रस देकर अपना मन संतुष्ट किया। अब उन्हें यह समाचार माता-पिता को सुनाने की आकुलता थी अतः मेरी आज्ञा लेकर उधर से भगवान बाहुबलि की (श्रवणबेलगोल) की वन्दना करके वापस अपने घर पहुँच गये।

इधर मुझे भी स्वास्थ्य लाभ होता गया। उधर कैलाशचंद के मुख से माता-पिता ने मेरी स्वस्थता सुनी तो खुश हुए किन्तु जब मनोवती की दीक्षा के समाचार सुने, तब माँ मोहिनी रो पड़ीं। वे बोलीं—

"मैंने कौन-से पापकर्म संचित किये थे कि जो अपनी दोनों पुत्रियों की दीक्षा देखने का अवसर नहीं मिल सका.....।"

पिता जी को भी बहुत खेद हुआ किन्तु उस समय जाने-आने की इतनी परम्परा नहीं थी कि जो झट ही रेल से यात्रा करके आकर दर्शन कर जाते.....अस्तु।

ब्र. सुरेश को व्रत और दीक्षा —

ब्र. सुरेशचंद को मैंने उसकी प्रबल इच्छा और प्रार्थना के अनुसार सप्तम प्रतिमा के व्रत दे दिये पुनः आगे उसको आचार्य शिवसागर जी के संघ में भेजकर क्षुल्लक दीक्षा दिला दी। आज ये सुरेश 'मुनि संभवसागर जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मुनि होने के बाद भी इन्होंने मेरे पास बहुत दिनों तक अध्ययन किया है। मैंने भी अपने इन ब्रह्मचारी शिष्य को मुनिपद पर पहुँचाकर उन्हें श्रद्धा से सदा 'नमोऽस्तु' किया।

अब मैं स्वस्थ होने लगी थी। यहाँ भक्तों में सौ. जीऊबाई, राजुबाई आदि तथा मांगीलाल पहाड़े, नन्दलाल, ताराचंद, अखयचंद आदि प्रसिद्ध थे। इन सभी में भी सेठ जयचंद लुहाड़िया अच्छे भक्तिमान थे। उनकी माता सप्तमप्रतिमाधारिणी थीं और उनके बड़े भाई पूनमचंद भी आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी के भक्तों में थे।

ये तो नांदगाँव रहते थे, फिर भी यहाँ आते रहते थे। ऐसे ही वरंगल के सेठ सुवालाल जी सपत्नीक यहाँ

बहुत दिन तक रहे थे और उन्होंने अभयमती की दीक्षा के समय माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त किया था। इन्होंने मुझसे दूसरी प्रतिमा के व्रत धारण कर व्रती जीवन बना लिया था।

माताजी पूर्ण स्वस्थ हो जावें —

श्रीमान जयचंद लुहाड़िया हंसमुख प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे मुझे स्वस्थ होते देखकर बोले —

"यदि नित्य ही दीक्षाएँ होने लगें, तो आप पूर्ण स्वस्थ हो जावेंगी।"

वहाँ के लोगों ने उनके ये शब्द पकड़ लिये और प्रायः हँसकर सुनाते रहते थे।

सन् १९६७ में मैं औरंगाबाद में अस्वस्थ हो गई, तब भी जयचंद लुहाड़िया आये और "किसी को दीक्षा दिला दो तो माताजी स्वस्थ हो जायेंगी" ऐसा कहने लगे थे। अभी यहाँ सन् १९८५ में मैं हस्तिनापुर में अस्वस्थ थी, तब भी ये दर्शन करने आये थे।"

आजकल ये कानजी पंथ विचारधारा से सहमत हैं, अतः इधर के मुनिभक्त लोगों से इनके वैचारिक संघर्ष-टकराव चलते रहते हैं। व्यक्तिगत वात्सल्य से मैंने इन्हें हस्तिनापुर में सन् १९७९ और सन् १९८५ की प्रतिष्ठा में बुलाया भी किन्तु यहाँ मंच पर वैचारिक टकराव हो जाने से इन्हें सम्मान नहीं मिल पाया, जिसका मुझे खेद रहा है।

शांतिविधान में श्रद्धा —

मेरी श्रद्धा शांति विधान में प्रारम्भ से ही रही है। इधर श्रावण शुक्ल पक्ष सोलह दिन का था। मैंने कु. मनोवती से यह विधान शुरू कराया। प्रतिदिन नया मंडल बनाकर विधान होता था। यहाँ एक नवयुवक झूमरमल था। वह रंगोली से बहुत ही सुन्दर मंडल बना देता था। मनोवती ने तो मध्य में सप्तमी को ही दीक्षा ले ली। अन्य भक्तों ने यह विधान सोलह दिन किया और मैं स्वस्थ हो गई, तब लोगों का भी यह विश्वास रहा कि यह विधान विधिवत् करने से बहुत ही लाभदायक है।

भाद्रपदपर्व में धर्मप्रभावना —

दशलक्षण पर्व में मैंने पं. श्री वर्धमान शास्त्री-सोलापुर वालों को बुलाने की प्रेरणा दी थी। इनसे दोनों समय लोग प्रवचन सुनते थे। यहाँ लोगों के घर एक मुहल्ले में न होकर एक-एक, दो-दो मील के अंतराल से प्रायः बिखरे हुए होने से लोग एक साथ हमारे यहाँ नहीं आ पाते थे। दशलक्षण में तो सभी ने अच्छा लाभ लिया।

विधान की बहुलता —

जीऊबाई ने एक दिन कहा कि —

"मुझे रविव्रत का उद्यापन करना है। माताजी ! आप विधिवत-उद्यापन करा दीजिये।"

मैंने आर्यिका जिनमती से बतलाकर जो 'रविव्रत व्रतोद्यापन' विधान संस्कृत में था, उसे करा दिया। इसके बाद एक-एक महिलाओं ने और पुरुषों ने कहीं, उद्यापन के लिए, कही पुण्य संचय के लिए अथवा शांति के लिए एक-एक विधान कराने शुरू कर दिये। दो बार तो यहाँ तीन लोक मंडलविधान हुआ। एक बार अच्छी प्रभावना से बड़े रूप में श्री मांगीलाल पहाड़िया ने किया था। आश्विन शुक्ला में सोलह दिन का पक्ष होने से पुनः एक श्रावक ने सोलह दिन का शांति विधान किया। इस विधान में उसने सोलह दिन तक प्रत्येक दिन पृथक्-पृथक् जाति के फल मंडल पर चढ़ाये थे, उनमें से एक दिन कच्ची सुपाड़ी चढ़ायी जो कि बहुत अच्छी लगी थीं क्योंकि वह हमारे लिए नई वस्तु थी।

कार्तिक की अष्टान्हिका में यहाँ नांदगांव के पूनमचंद लुहाड़िया ने बड़ी अच्छी विधि से सिद्धचक्र विधान कराया था। कुल मिलाकर यहाँ पर छप्पन विधान हुए थे। इतने विधान किसी भी चातुर्मास में नहीं हुए हैं।

इन विधानों को होते देखकर एक-दो श्रावक बहुत चिंतित हो रहे थे और आपस में कहते थे — 'न जाने

कितना खर्चा हो रहा है....." जबकि इन विधानों में हमारी तरफ से कोई प्रेरणा नहीं रहती थी। मात्र अपनी-अपनी रुचि से प्रायः महिलाएँ ही करा रही थीं। कई एक विधान पुरुषों ने, प्रेम से सपरिवार मिल कर किये हैं। इनमें वे लोग मात्र विधान की सामग्री ले आते थे और मंडल तो झूमरमल आदि लड़के बना देते थे। विधान आर्यिका जिनमती, आदिमती आदि करा देती थीं। कोई खास खर्चा लोगों को नहीं दिखता था।

उन एक-दो कंजूस प्रकृति के लोगों की भावनाओं को सुनकर कुछ महिलाएँ हँसा करती थीं और कहती थीं कि—

"जिन्होंने विधान नहीं किया है, उनके कौन से स्वर्ण के कंगूरों के महल बन रहे हैं? हम लोग अपनी-अपनी सुख, शांति और समृद्धि के लिए विधान करा रहे हैं, इन्हें क्यों 'हाय' लगी है? खैर! मेरे सामने तो कोई विधान के रोक-टोक की चर्चा आई नहीं थी, फिर भी एक प्रबुद्ध महिला ने कहा—

"माताजी! आप उन कंजूस महानुभाव को भी प्रेरणा देकर एक छोटा सा विधान अवश्य करा दो।"

मैंने एक दिन उन श्रावक से कहा—

"आप भी एक नवग्रह विधान कर लो, घर में शांति रहेगी, मंगल होगा.....।"

तब उन्होंने भी खुशी-खुशी सामग्री और नव श्रीफल चढ़ाकर छोटे से छोटा नवग्रह विधान कर ही लिया। तब महिलाएँ बहुत प्रसन्न हो गयीं। इस प्रकार वहाँ सन् १९६४ के चातुर्मास में ५६ विधान सम्पन्न हुए थे। फिर भी 'इन्द्रध्वजविधान' की संस्कृत हस्तलिखित प्रति हमें उपलब्ध नहीं हो पायी थी, अतः यही विधान नहीं हो पाया था।

जब इसे मैंने सन् १९७६ में हिन्दी में बना दिया है, तब से सारे भारतवर्ष में शायद आज तक यह हजारों की संख्या में हो चुका है।

मंदिर पर शिखर निर्माण —

एक बार मैंने श्रावकों से पूछा—

"यहाँ पांच मंदिर हैं, किसी पर शिखर क्यों नहीं है?"

किसी ने बताया—"यहाँ मुसलमानी रियासत होने से उनका विरोध था कि मस्जिद के सिवाय कोई ऊँचे शिखर के मंदिर नहीं बना सकते, अतः बिना शिखर के ही मंदिर हैं।"

मैंने कहा—"अब तो स्वतंत्र भारत में ऐसा कोई बंधन नहीं है।"

बोले—"हाँ माताजी! अब आप प्रेरणा दीजिये।"

मैं भी जब-तब लोगों के सामने "मंदिर पर शिखर होना चाहिए" ऐसा बोल देती थी और जयचंद जी लुहाड़िया को लोग प्रेरणा देते, तो वे कह देते थे कि-

"जिस दिन माताजी की आज्ञा हो जावेगी, उसी दिन मैं शिखर का काम शुरू करा दूँगा.....।"

अब तो लोग मेरे सामने बार-बार अनुनय विनय से कहने लगे—

"माताजी! आप जयचंद से कह दीजिये।"

मैं भी लक्ष्य नहीं देती थी। मैं सोचती कि—

"मैं आज्ञा क्या देऊं? कह तो दिया ही है कि मंदिर पर शिखर बनना चाहिए।

आखिरकार लोगों ने मेरे पास अधिक रूप से आग्रह करना शुरू किया। एक बार जब जयचंद जी दर्शनार्थ आये, तो मैंने कहा—

"जयचंद जी! इस मंदिर पर शिखर बनवाना है।"

उन्होंने कहा—"हाँ माताजी! जब आप आज्ञा दें, काम शुरू करा दूँ।

मैंने मुहूर्त निकलवा दिया और जयचंद जी ने इस केशरबाग के मंदिर के ऊपर शिखर का काम शुरू करा दिया। इधर के लोगों ने भी आग्रह करके कलकत्ते के समान ही रात्रि जागरण कर, सत्याग्रह करके, मुझे चातुर्मास के बाद रोक लिया तथा शिखर में वेदी प्रतिष्ठा कराने और जिन प्रतिमा विराजमान कराने का निर्णय कर लिया। मगसिर में इसका मुहूर्त रहा। मेरी प्रेरणा से इन लोगों ने ब्रह्मचारी सूरजमल जी को बुलाया और उनके द्वारा यहाँ शिखर में वेदी शुद्धि और भगवान् विराजमान कराने का काम सम्पन्न हुआ।

गृह चैत्यालय —

प्रायः सभी श्रावकों के घरों से यहाँ के मंदिर दूर-दूर पड़ते थे अतः बहुत से श्रावक बिना देवदर्शन के रहते थे। उन्हें नित्य देवदर्शन दुर्लभ हो रहा था। तब मेरी प्रेरणा से नंदलाल ने अपने घर में छोटा सा चैत्यालय बनवाया, जिसकी वेदी शुद्धि और जिनप्रतिमा विराजमान के कार्य श्री ब्र. जी ने सम्पन्न कराए।

केशलोंच और धर्म प्रभावना —

यहाँ के श्रावक हम सभी के केशलोंच कार्यक्रम यत्र-तत्र पांडाल बनाकर, खुले में कराते थे जिसे हजारों जैनेतर लोग देखकर बहुत ही प्रभावित होते थे। वहाँ मेरे प्रवचन का भी लाभ आबाल-गोपाल सभी लोग ले लेते थे।

यहाँ मेरे सानिध्य में श्वेतांबर संप्रदाय के साधु-साध्वी और यति लोग भी आते रहते थे। एक बार 'आनन्दजी कल्याणजी पेड़ी' के प्रमुख 'कस्तूरभाई' स्वयं दर्शनार्थ आये थे। काफी चर्चाएँ हुईं, उन्होंने बताया कि—

"मेरे यहाँ एक नियम है कि किसी को पुत्र न होने से वे दंपत्ति दत्तक पुत्र नहीं लेते हैं प्रत्युत् अपनी सारी संपत्ति अपने बाद इस संस्था के लिए लिखा देते हैं। इसलिए हमारी पेड़ी सशक्त है और इसके धन से हम लोग अनेक तीर्थों का विकास और अनेक कार्य किया करते हैं।"

हमें उनकी यह बात बहुत अच्छी लगी।

आज मैंने स्वयं देखा है कि—अपनी दिगम्बर जैन समाज में बड़े-बड़े लखपति निःसंतान होने से दत्तक पुत्र ले लेते हैं और वह माता-पिता को बहुत कम सुख देकर प्रायः सम्पत्ति को दुर्व्यसनों में लगा देते हैं। चूँकि स्वतः की कमाई को बरबाद करने में थोड़ा सोचना भी पड़ता है अतः माता-पिता का कर्तव्य है कि—

"अपनी कमाई को जितना हो सके, धर्म व दान में लगा दें।"

वह अगले भव में असंख्य गुणा होकर फलेगी। पुत्रों के लिए क्यों संग्रह करके रखें? देखो! एक नीति है—

यदि पुत्रः सुपुत्रः स्यात् संपदा किं प्रयोजनम् ।
यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात् संपदा कि प्रयोजनम् ।।

यदि पुत्र सुपुत्र है तो स्वयं कमाकर खायेगा और यदि पुत्र कुपुत्र हैं तो वह दुर्व्यसनों में ही लगाकर, आप स्वयं भी दुर्गति का भाजन बनेगा और सारे कुल को डुबो देगा।

अपने समाज में दत्तक पुत्र की परम्परा यदि हम लोग नहीं रोक सकते हैं तो भी मेरा कहना रहता है कि—

"अपने परिवार के बालक को ही गोद लेना चाहिए। यदि यह नहीं शक्य हो तो पत्नी के परिवार से बालक गोद लेना चाहिए। यदि ऐसा भी संभव न हो सके तो अपनी जाति का ही बालक गोद लेना चाहिए, जैसे कि खंडेलवाल, अग्रवाल, पोरवाड़, जायसवाल आदि जातियाँ हैं। इनमें से अपनी-अपनी जाति के ही पुत्र दत्तक लेकर अपने कुल-जाति को संकर—अंतर्जातीय में मिश्रण नहीं करना चाहिए।"

आजकल तो कुछ लोग पड़े हुए, छोड़े हुए, बालकों को गोद ले लेते हैं। यह तो अपने कुल को नष्ट करने वाला परोपकार है क्योंकि ऐसे बालक व्यभिचारिणी स्त्री के ही होते हैं। भला पतिव्रता, सच्चरित्रवान कौन सी महिला अपने जन्म लिये हुए बालक को ऐसे फेंकेगी? अरे! जिसके माता-पिता का पता नहीं, ऐसे

बालक को गोद लेने से आगे अपनी कुल परम्परा और धर्म परम्परा कैसे चल सकेगी?

दिल्ली में एक प्रबुद्ध जैन महिला, ऐसे ही बालकों को पाल कर उन्हें अपने अच्छे-अच्छे जैन घरानों में गोद दिलाती है। यह देखकर मुझे बहुत ही दुःख होता है कि— भगवन्! सज्जातीयत्व की रक्षा कैसे होगी?"

रथयात्रा —

हैदराबाद में दर्शन करने और आहार देने के लिए कटक से फतेहचन्द जी और उनकी धर्मपत्नी आये हुए थे। लगभग एक माह रहकर खूब भक्ति की। ये केशरबाग में ही चौका करते थे। प्रातः भगवान् की पूजा के बाद, चौके में जाकर, सेठजी स्वयं बैठ जाते और फल छीलने, रस निकालने आदि कार्य को करा लेते। यहाँ के लोग कौतुक से इनका चौका देखने के लिए आ जाते थे। इनकी आहारदान की भक्ति देखकर यहाँ के पुरुषवर्ग आश्चर्य करते थे चूँकि किसी पुरुष ने शुद्ध जल का नियम लेकर आहार नहीं दिया था।

एक दिन फतेहचंद ने मध्यान्ह में मुझसे कहा—

"माताजी! हम कुछ खर्चा करना चाहते हैं सो, आप जिसमें कहिये, उसमें कर दें।"

मैंने सोचकर कहा कि—

"सुना है, मुसलमानी रियासत की वजह से यहाँ रथयात्रा नहीं निकलती थी, सो अब भी ये लोग हिम्मत नहीं करते हैं अतः तुम यहाँ रथयात्रा निकाल दो।"

तभी उन्होंने ३-४ दिन के लिए एक विधान किया और समाज के लोगों के साथ विचार-विमर्श करके रथयात्रा का प्रोग्राम बनाया। यहाँ रथ भी नहीं था अतः खुली जीप को रथ जैसा बनाकर, उसमें गंधकुटी रखकर, श्रीजी की प्रतिमा विराजमान करके बैंडबाजे और जुलूस के साथ शहर में रथयात्रा निकाली गई। यद्यपि उस समय बिना किसी मेले- महोत्सव आदि के यह रथयात्रा छोटे रूप में निकाली गई थी फिर भी वहाँ पहली बार होने से जैन लोगों में बहुत ही उत्साह था और जैनेतर लोगों में भी अच्छी धर्म प्रभावना हुई।

मैंने सोचा—

"देखो! कहीं पर भी नूतन व्यवस्था चलाने में बड़ी कठिनाई पड़ती है, मुश्किल से लोग राजी होते हैं पुनः जब सफलता मिलती है तब बहुत ही खुश होते हैं, फिर ऐसा कहने लगते हैं कि यह कार्य यहाँ हमेशा ही होता रहे।"

जीऊबाई की भक्ति —

यहाँ एक महिला जीऊबाई ध.प. श्री नानचन्द जी थीं। ये मेरे चातुर्मास में बराबर यहाँ केशरबाग में चौका लगाकर आहार देती थीं और मध्यान्ह में मेरी अस्वस्थता में मुझे स्वाध्याय सुनाती थीं। इनकी भक्ति बहुत विशेष रही है। इनका पुत्र अरुण कुमार अमेरिका जाने वाला था। तब इन्होंने कई बार मुझसे कहा कि—

"माताजी! इसे ऐसी शिक्षा दे दो कि यह वहाँ सात्विक रहे.....।"

मैंने अरुण कुमार को बुलाकर एकांत में कई शिक्षाएँ दीं। उसने ग्रहण किया और वहाँ जाकर लिखा कि—

"मैं अपने हाथ से खिचड़ी आदि बनाकर भोजन करता हूँ।" कालान्तर में इसने यहीं आकर सोलापुर की सजातीय कन्या से शादी की है और अपनी सात्विक प्रवृत्ति से माता-पिता को भी प्रसन्न किया है, मुझे भी प्रसन्नता रही है। वास्तव में ऐसे-ऐसे नवयुवक ही आज धर्म क्षेत्र में उदाहरण बन जाते हैं।

यात्रा के लिए विघ्न —

यहाँ पर पहले मैं अस्वस्थ हुई पुनः बीच में एक बार आर्यिका आदिमती जी भी अस्वस्थ हो गई थीं पुनः हम दोनों स्वस्थ हो गये। फिर भी आर्यिका जिनमती जी ने कई बार कहा-

"अम्मा! अब यहाँ से श्रवणबेलगोल की यात्रा नहीं करनी है। क्या बाहुबली जी के दर्शन के बगैर

अपनी आर्यिका दीक्षा निष्फल हो जायेगी....?"

मुझे उनके इन शब्दों से बहुत ही दुःख होता। मैं सोचती कि—

"यात्रा में यह भी एक विघ्न आ उपस्थित हुआ है...." किन्तु संघ में शिष्यों को संभालकर आगे का कार्यक्रम बनाना पड़ता था। मुझे कुछ तो शिष्यों में मोह भी था कि उन्हें छोड़कर भी यात्रा करने के लिए नहीं सोच सकती थी। मैंने शांत भाव से एक जाप्य करना शुरू कर दी—

"ॐ ह्रीं श्री बाहुबलिस्वामिने नमः।"

और किसी से भी कुछ नहीं कहा। एक दिन मंदिर के शास्त्र भंडार को देखते हुए आर्यिका जिनमती को 'बाहुबली अभिषेक' की कोई एक स्मारिका छपी हुई मिल गई। उसी के साथ एक छोटी सी छपी हुई तथा फटी हुई पुस्तक के दो-चार पेज मिल गये। उसमें ऊपर ही लिखा था कि—

"दक्षिण की यात्रा के लिए निकलते समय यदि गुरुवार हो, पुष्य नक्षत्र हो और अभिजित् योग का समय हो, तो मृत्यु योग बन जाता है.....।"

इसे पढ़कर मैंने सोचा—

"मुझे तो मुहूर्तज्ञान है नहीं किन्तु ब्र. चांदमल जी ने इन्हीं तीनों को बताकर, बहुत अच्छा समझकर, मेरा विहार शिखर जी से इधर दक्षिण के लिए कराया था....। खैर! होनहार तो टलती नहीं है अतः मुहूर्त को क्या दोष देना?" मैंने सम्मेद शिखरजी की यात्रा के समय कोई मुहूर्त नहीं देखा था, फिर भी वह मंगलीक, शुभ रही है....।"

पुनः जिनमती ने वह बाहुबलि स्मारिका पढ़ी। अब वे उसके महत्वपूर्ण अंश में लाल पेंसिल से निशान लगा लगाकर मुझे ला-लाकर दिखाने लगीं, सुनाने लगीं और कहने लगीं—

"अम्मा! कुछ भी हो, भगवान् बाहुबली जी के दर्शन अवश्य करना है।" मुझे भी शांति मिली, हर्ष हुआ और यात्रा के लिए मुझे जो विघ्न दिख रहे थे वे, टल गये। अब मैंने पुनः यात्रा की रूपरेखा बनाई और श्रावकों ने भी रुचि से व्यवस्था में भाग लिया।

राजूबाई का विवेक —

यहाँ एक राजूबाई नाम की महिला है। अकस्मात् उनके पति का स्वर्गवास हो गया , उनके दो पुत्र थे। राजूबाई की उम्र भी ३५-३६ के लगभग थी। मैंने उसे बुलाकर समझाया कि—

"तुम यहाँ आवो, उपदेश सुनो, आहार दो, धर्मकार्य में रुचि लेवो, जिससे रोना-धोना नहीं करोगी। देखो! रोने-धोने से असाता कर्म ही बंधता है जिससे आगे पुनः ऐसे ही इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग से रोना पड़ता है।"

यह महिला मेरी आज्ञा पालन करने लगीं। आगे ये मेरी आज्ञा से मेरे साथ श्रवणबेलगोल की यात्रा में चलने के लिए भी तैयार हो गईं।

उनकी माँ ने कहा—"माताजी! यहाँ लोग क्या कहेंगे? विधवा महिलाएँ छः-छः महीने घर से बाहर नहीं निकलती हैं।"

मैंने कहा—"यह कोई अच्छी परम्परा नहीं है, इसे तोड़ देना चाहिए। विधवा होने के बाद महिलाएँ यदि दान, पूजन, गुरु के साथ तीर्थ यात्रा के अच्छे कार्यों में लगती हैं तो बुराई क्या है?....."

उसकी माँ ने, भाई नन्दलाल ने, सभी ने मेरी आज्ञा का पालन किया और मेरे उपदेश के अनुसार राजूबाई को मेरे साथ भेज दिया।

इस प्रकार यहाँ सन् १९६४ में हैदराबाद के चातुर्मास में मेरा अस्वस्थ होकर स्वस्थ होना, कु. मनोवती की दीक्षा होना, छप्पन विधान होना, मंदिर पर शिखर का निर्माण होना आदि कार्य सम्पन्न हुए हैं।

£ ४७ ¤

श्रवणबेलगोल यात्रा के लिए विहार—

यहाँ मेरे साथ में तीन आर्यिकायें, दो क्षुल्लिकायें और एक ब्रह्मचारिणी थीं। ब्रह्मचारिणी का नाम भंवरीबाई था, यह वृद्धा थी अतः यात्रा कराने के लिए सारी जिम्मेदारी श्रावकों ने ली थी। इसमें मांगीलाल जी पहाड़िया प्रमुख थे बल्कि यों कहा जाये कि यात्रा कराने में बहुत बड़ा सहयोग उनका ही था। वहीं से मंगलसेन जैन श्रावक साथ में रहने के लिए तैयार हुये। सात-आठ महिलायें भी हो गईं जिनमें राजूबाई भी आ गईं। मगसिर में नवम्बर १९६४ में मैंने भगवान के दर्शन किये और विहार कर दिया।

मार्ग में आर्यिका आदिमती जी का स्वास्थ्य बिगड़ जाने से कहीं-कहीं रुकना भी पड़ा पुनः उन्हें डोली में बिठाकर आगे विहार किया, चूँकि इस रास्ते में भी जैन के घर जल्दी नहीं मिलते थे।

सन् १९५७-५८ में जब आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज ने अपने विशाल संघ सहित गिरनार की यात्रा की थी, तब उसमें मैं भी थी। संघ में मैंने देखा था कि श्री सुमतिजी आर्यिका जो कि वयोवृद्धा थीं, उनके लिए डोली की व्यवस्था की गई थी तथा जब कोई साधु-साध्वी अस्वस्थ हो जाते थे, तब भी उन्हें डोली पर बिठाकर विहार कराया जाता था अतः मैंने वही व्यवस्था अपनायी और आदिमती को डोली से विहार कराया।

मार्ग में इन्द्रपुर, अनन्तपुर आदि होते हुए हम लोग अरसीकेरे तक पहुँच गये। रास्ते में कभी-कभी मुझे अन्तराय के निमित्त से , कभी ठहरने की सुविधा न मिलने से, कभी अधिक चलाई हो जाने से शारीरिक कष्ट भी उठाना पड़ता था।

माघ की ठण्ड में खुले मैदान में —

एक बार अगले गाँव को जितने मील मानकर चले थे, उससे अधिक हो गया। मतलब जहाँ भी मैं विश्राम करती थी, वहीं के प्रमुख लोगों को बुलाकर उनसे पूछकर २-३ दिन के लिए गाँवों के नाम और मील का हिसाब लिखकर आगे कहाँ सोना है? और कहाँ आहार लेना है? यह व्यवस्था बना लेती थी। उसी के अनुसार किसी ने ७-८ मील बताया था, किन्तु वह गाँव १०-१२ मील होने से वहाँ नहीं पहुँच सके। तब दिन डूबने के समय हम लोग सड़क से हटकर बाजू में एक खेत में जाकर बैठ गयीं। वहाँ पर चावल की घास के भी ऊँचे-ऊँचे ढेर लगे हुए थे। इधर सामायिक के समय श्रावकों की मेटाडोर उधर सड़क से हार्न देते हुए आगे बढ़ गई। उन्हें खेत में बैठे हम लोग भला अंधेरे में कैसे दिख सकते थे? मेरे साथ एक १५-१६ वर्षीय बालक था, जो कि कमंडलु लेकर चलता था। वह बेचारा मेटाडोर का हार्न सुनकर मेरे पास खेत से बाहर सड़क पर दौड़ता, तब तक गाड़ी आगे निकल जाती, वह बेचारा पुनः वापस आ जाता। ऐसे रात्रि में ९-१० बजे तक मेटाडोर इधर से उधर चक्कर काटती रही और ये लोग मुझे न ढूंढ पाकर चिंता करने लगे।

वास्तव में मैं इधर खेत में काफी दूर पर आकर बैठ गई थी, लगभग आधे फर्लांग से अधिक था। अब हम लोग माघ की ठंड में रात्रि में वहीं खेत में सोये। कमजोर आर्यिकाओं के लिए चावल की घास वहीं से लेकर डाल दी और सुला दिया। रात्रि में महामंत्र का स्मरण करते हुए मैंने रात्रि व्यतीत कर दी। उन दिनों ऐसे प्रसंगों में जंगल में न तो मुझे डर ही लगता था और न ही दुख मानती थी, प्रत्युत् आनन्द आता था और मेरा चिंतवन बढ़ता था कि—

"हे भगवन् ! मुझे गिरि, कंदर, गुफाओं में, जंगलों में, एकाकी विचरण करते हुए आत्म-ध्यान करने का अवसर कब मिलेगा?"

प्रातः सामायिक से निवृत हो, आगे सड़क पर आकर आगे बढ़ी, तब पुनः ये बेचारे श्रावक मंगलसेन

आदि हमें ढूंढते हुए आ रहे थे। सामने देखकर नमस्कार कर घबराये हुए पूछने लगे—

"माताजी! आप लोग रात्रि में कहाँ रहे? बिना घास के, बिना कमरे के कहाँ सोये?.....।"

मैंने हंसते हुए सारी बातें सुना दी। बेचारे उन लोगों ने समझा कि माताजी खूब गुस्सा होंगी, फटकारेंगी किन्तु यहाँ तो उल्टा ही मुझे प्रसन्न पाया, तब बेचारों के जी में जी आया और आगे बढ़कर चौका की व्यवस्था बनाई। इस तरह कई बार रात्रि में यत्र-तत्र, अव्यवस्थित सोने के प्रसंग आ जाते थे किन्तु भगवान् की कृपा से कुछ हानि नहीं हुई। एक और घटना रोमांचकारी हो गई।

नरसिंह का मंदिर —

एक बार इन संघस्थ श्रावकों ने जिस गांव में सोने का प्रोग्राम बनाया था, उसके किनारे सड़क पर ही रात्रि के लिए घास आदि उतार दी और आगे चले गये। हम लोगों ने यहाँ आकर देखा तो गांव की बस्ती बहुत अन्दर जाकर थी, बाहर रोड से किंचित् दूरी पर एक मंदिर था वह 'नरसिंह' का कहलाता था। हम लोगों ने सोचा—

"रात्रि में यहीं रुक जावें, आगे गांव के भीतर एक मील जाना-आना भारी है, अब रात्रि भी होने वाली है।" उस दिन डोली उठाने वाले मराठे व्यक्ति चार थे अतः हम लोग वहीं मंदिर में ठहर गये। उधर से मराठा आदमी गांव में चले गये। इधर हम छहों साध्वियाँ ही यहाँ रह गयी थीं।

अर्द्धरात्रि में मैं दरवाजा खुला डालकर ही दरवाजे के पास सोयी थी। अकस्मात् फट-फट जूतों की आवाज करते हुए एक आदमी सीढ़ी चढ़ा और घुस आया। मैं जल्दी से एक बाजू सरक गई। वह आदमी अंदर आकर सीधे मंदिर में वेदी के भीतर घुस गया और कुछ बड़-बड़ करने लगा। हम लोगों के होश-हवास गुम हो गये। घबराहट में मैंने सबको जगा दिया और कहा—

"सभी लोग बैठकर णमोकार मंत्र का जाप्य करो।"

सभी ने उपसर्ग समझकर मन-मन में मंत्र जपना शुरू कर दिया। मैं भी महामंत्र जपती रही। उधर वह आदमी वेदी के अंदर पर्दे में बैठा हुआ कुछ करता रहा। एक-दो बार बाहर भी निकला किन्तु हम लोगों से न कुछ पूछा ही और न कुछ बोला ही। मानों वहां कोई ठहरे हैं, उसे पता ही नहीं था। बाद में लगभग चार बजे वह निकल कर चला गया। उसके बार वे चारों मराठा डोली वाले भी आ गये। मैंने दिन में जब यह समाचार सुनाया, तब गांव के कुछ लोग दर्शन करने भी आये थे, वे भी आश्चर्य करने लगे। ऐसा अनुमान हुआ कि हो सकता है कोई शराबी हो। जो भी हो, अपने लोगों से कुछ भी नहीं कहा, चुपचाप ही चला गया। यह देखकर हम लोगों ने यही समझा कि-

"पता नहीं, आज हमारे कुछ पुण्य का ही उदय था जो कि उस शराबी ने कोई कष्ट नहीं पहुँचाया। तथा हम सबके द्वारा जपे गये महामंत्र का ही प्रभाव समझना चाहिए।"

दूर से ही भगवान बाहुबली के दर्शन —

श्रवणबेलगोल पहुँचने से पहले ही बहुत दूर से भगवान बाहुबली के मस्तक के दर्शन होने लगे थे। हृदय में अपार हर्ष की लहरें उठ रही थीं पुनः जिस मंगल घड़ी के लिए सम्मेदशिखर जी से विहार कर हैदराबाद में बीमारी झेली थी और मार्ग में गर्मी-सर्दी के कष्ट झेले थे, आज उन भगवान के दर्शन प्रत्यक्ष में हो गये। हम लोगों ने श्रवणबेलगोल में मंगल प्रवेश किया।

भट्टारक जी द्वारा स्वागत —

यहाँ के वयोवृद्ध भट्टारक श्री चारूकीर्ति जी अनेक भक्तों के साथ कुछ दूर आगे आये। उनके साथ उनके मठ के पंडित के हाथ में एक थाल था। उसमें अर्घ्य, पुष्प, श्रीफल आदि के साथ ही एक दर्पण उसमें

रखा हुआ था और मंगल कलश भी था। भट्टारक जी ने श्रीफल लेकर मेरे सम्मुख चढ़ाया, विधिवत् 'वंदामि' कहकर वंदना की और रत्नत्रय कुशलक्षेम पूछा—

मैंने भी उन्हें 'समाधिरस्तु' आशीर्वाद देकर बहुत ही वात्सल्य के साथ रत्नत्रय कुशल पूछा। इसके बाद हम लोग बार-बार रुक-रुककर सिर ऊँचा कर-करके भगवान बाहुबलि को निहारते हुए गांव में आ गये। सर्वप्रथम भंडारवस्ती नाम से चौबीस तीर्थंकर के मंदिर के दर्शन किये पुनः भट्टारक जी में मठ के मंदिर के दर्शन किये और इसके बाद भट्टारक जी के साथ ही मठ के निकट बनी हुई धर्मशाला में आ गये, वहीं हमारे ठहरने की व्यवस्था की गयी थी। यहाँ के वयोवृद्ध भट्टारक जी का विनय और वात्सल्य विशेष देखकर मन में बड़ा संतोष हुआ। यह मंगल दिवस फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी का था। मुझे आज भी यह स्मरण में है।

भगवान बाहुबली के साक्षात् दर्शन —

रात्रि विश्राम कर हम लोग प्रातः बड़े पहाड़ पर चढ़े, वहाँ भगवान् श्री बाहुबली के दर्शन करते ही सारी थकान दूर हो गई। उस समय भगवान के मुख कमल को देखते हुए हम लोगों को जो आनंद आया, उसका वर्णन शब्दों में किया ही नहीं जा सकता है। आँखों से आनंद अश्रु झरने लगे। उन प्रतिमा के दर्शन करके आज भी सामान्य लोगों को जो आनन्द आता है, उसका अनुभव उन्हें ही होता है, फिर जो हम जैसे अस्वस्थ, कमजोर साधु-साध्वियाँ पद-विहार करते हुए, वर्षों कष्ट झेलकर, भगवान् का दर्शन करें, उनके हर्ष का क्या कहना?

मध्यान्ह में छोटे पहाड़ के ऊपर चढ़कर वहाँ के मंदिरों के दर्शन किये। यहाँ कन्नड़ में बड़े पहाड़ को 'दोड्डवेट्ट' और छोटे पहाड़ को 'चिक्कवेट्ट' कहते हैं।

कन्नड़ भाषा का ज्ञान —

श्रवणबेलगोल आने के कुछ दिन पूर्व टुमकूर गांव में मध्यान्ह में मैंने एक कन्नड़ की पहली पुस्तक मंगा ली थी, जिसमें कन्नड़ के अ आ आदि स्वर-व्यंजन और मात्राएं थीं। उस पुस्तक के आधार से मैंने जिनमती आदि को कन्नड़ भाषा पढ़ाना शुरू कर दिया। मेरे पास 'त्रिभाषा शिक्षक' नाम से एक पुस्तक थी, उसके माध्यम से कुछ वाक्य रचना भी शुरू कर दी थी। मुझे लोगों के बोलने-चालने से कन्नड़ भाषा का ज्ञान नहीं हो पाया था। पढ़ने-पढ़ाने से ही भाषा सीख पाई थी।

कुछ दिनों तक यहाँ रहकर नीचे के मंदिरों के दर्शन किये। जहाँ बैठकर श्रीनेमिचंद सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकांड आदि ग्रंथों की रचना की थी, उस गुफा के भी दर्शन किये तथा जिननाथपुर आदि जाकर भी मंदिरों के दर्शन किये। यहाँ मंदिरों में नंदीश्वरद्वीप के बावन प्रतिमाओं के भी दर्शन किये। इधर प्रांत में एक धातु के स्तूप में चारों तरफ तेरह-तेरह जिन प्रतिमाएं रहती हैं, उसे ही नंदीश्वर दर्शन कहते हैं।

यहाँ धर्मशाला में रत्नराज नाम के मैनेजर थे जो कि यहीं के थे। ये कन्नड़ भाषी होकर हिन्दी भी जानते थे। इनके माध्यम से मैं वहाँ के लोगों की और भट्टारक जी आदि की बात समझती थी और उन्हीं के माध्यम से अपनी हिन्दी भाषा की बातें उन लोगों को समझाती थी। भट्टारक जी महाराज बहुत ही सरल स्वभावी थे अतः वे मेरे यहाँ प्रतिदिन आकर व्यवस्था और सुख-दुःख की बात पूछते थे, मैं भी उन्हें अच्छा सम्मान देती थी।

आर्यिकाओं की अस्वस्थता —

कुछ ही दिनों बाद यहाँ आर्यिका आदिमती और क्षुल्लिका अभयमती अस्वस्थ हो गईं। आदिमती की प्रकृति को संभालना कठिन हो गया। यहीं के आस-पास के वैद्यों का उपचार चलता रहा।

हैदराबाद की बाईयाँ तो चली गई थीं। यहां पर महिला कनकम्मा और दूसरी ललितम्मा शुद्ध जल का नियम लेकर चौका लगाकर आहार देने लगी थीं। फिर भी दो साध्वियों की अस्वस्थता के निमित्त से मैंने हैदराबाद से सौ. जीऊबाई को बुलाया। उन्होंने यहाँ आकर चौका करके आहार दिया, औषधि, उपचार किया।

यहाँ की महिलाओं को अस्वस्थ साध्वी के लिए आहार देने योग्य वस्तुएं बनाना भी सिखाया। यहाँ महिलाएँ चावल की रोटी, दाल बनाना जानती थीं प्रायः गेहूं की रोटी बनाना नहीं जानती थीं और बीमारी में साध्वी को तो गेहूं की रोटी और दलिया ही दी जाती थी। वास्तव में यहाँ इन दोनों की बीमारी वायु के प्रकोप से ही थी।

खासकर आदिमती जी ज्यादा अस्वस्थ थीं....। कुछ दिन बाद जीऊबाई भी घर चली गई थीं। आखिर गृहस्थ महिलाएँ भला कितने दिन रह सकती हैं?

परिचर्या —

मैंने रात-दिन एक कर वैयावृत्ति करना शुरू कर दी थी। मेरे साथ ही आर्यिका श्री पद्मावती और आर्यिका श्री जिनमती ने खूब वैयावृत्ति की। उनकी शारीरिक सेवा-टहल आर्यिका जिनमती जी सबसे अधिक करती थीं और मैं संबोधन करना, पाठ सुनाना आदि अधिक करती थी। यहाँ चारों तरफ के यात्रियों की बसें आती रहती थीं। जब उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान के यात्री आते और देखते कि —

"माताजी रातों-रात जगकर उनके पास बैठकर, एकीभाव स्तोत्र, समाधिशतक आदि सुना-सुनाकर उनका अर्थ समझा-समझाकर उन्हें ज्ञानामृत पिला रही हैं।"

तब वे लोग बहुत आश्चर्य करते और कहते कि —

"ऐसी सेवा और वैयावृत्ति मैंने आज तक कहीं नहीं देखी है।..... रात-रात जगकर एक मिनट न सोकर भी आप माताजी इन्हें कैसे पाठ सुनाती हो? आप स्वयं बीमार पड़ जावोगी।"

यहाँ के भट्टारक जी भी बहुत ही आश्चर्य करते और कहते —

"वास्तव में मेरे जीवन में मैंने किसी भी साधु-साध्वी को ऐसा उपचार करते नहीं देखा है.....।'

दिन में भी प्रायः किसी दिन ही मैं मंदिर के दर्शन करने जा पाती, फिर भी उनकी सेवा-शुश्रूषा करके संतोष था। बस संघ के चैत्यालय में विराजमान जिनप्रतिमा का दर्शन कर लेती थी।

इसका कारण यह था कि मैंने अनगारधर्मामृत में पढ़ा था —

"त्याग और तप, शक्ति के अनुसार करना किन्तु वैयावृत्ति सर्वशक्ति लगाकर करना।" इसलिए मैं अपनी पूरी शक्ति लगाकर वैयावृत्ति में लगी रहती थी, ऐसा देखकर मेरी शिष्यायें-आर्यिकायें भी दिन-रात वैयावृत्ति में लगी रहती थीं, अस्वस्थ की उपेक्षा किंचित् मात्र भी नहीं करती थीं।

कलकत्ते से वैद्यराज का आना —

जब इनकी प्रकृति कोई खास सुधार पर नहीं आई, तब मैंने पुरुषार्थ करके कलकत्ते टेलीफोन कराकर वैद्यराज केशवदेव को बुलाया। वे आये और यहाँ सात दिन करीब रुके, चिकित्सा चालू कर दी। उनकी चिकित्सा से कुछ-कुछ मंद गति से सुधार चालू हुआ पुनः वैद्यराज तो कलकत्ते चले गये, उन्हीं की औषधि का उपचार चलता रहा। कभी-कभी ये आदिमती जी बहुत ही शिथिल हो जाती थीं। इन्हें पाटे पर बिठाकर, चौके में ले जाकर आहार कराना होता था।

"असल में असाता का उदय अधिक होने से दवाईयाँ भी काम नहीं कर पाती हैं"

इधर यहाँ की ही महिलाएँ आकर कुछ न कुछ पाठ कन्नड़ में सुनातीं तो मुझे बहुत ही कर्णप्रिय लगता। अभिप्राय और प्रसंग से कुछ-कुछ अर्थ समझ लेती थी। यदि वे लोग भक्तामर, कल्याणमंदिर आदि स्तोत्र बोलतीं तो भी उनके उच्चारण शुद्ध और मधुर थे। वे प्रायः बाहुबली स्वामी के भजन, स्तोत्र आदि बोलती थीं, तो बहुत ही अच्छा लगता था। धीरे-धीरे आहारदान, परिचर्या आदि में भी भाग लेने लगी थीं। इधर मैं प्रायः इन दोनों बीमार साध्वियों को आहार कराकर, ११ बजे करीब आहार के लिए उठती थी। आर्यिका जिनमती आदि भी सभी मेरे अनुकूल थी अतः किसी को भी वैयावृत्ति आदि में प्रमाद नहीं था, प्रत्युत् आगे से

आगे करती थीं।

एक दिन आपस में परामर्श करके मैंने किसी श्रावक से आदिमती के घर में सूचना भेज दी कि—"यहाँ ये काफी अस्वस्थ हैं, आप आ जावें।"

मैंने सोचा कि एक महिला परिचित की आ जाती है तो वैयावृत्ति में कुछ सुविधा हो जावेगी और इनकी मां आदि आयेंगी तो और आत्मीयता से वैयावृत्ति करेंगी। दूसरी बात यह थी कि–इनकी प्रकृति कभी–कभी ऐसी हो जाती थी, लगता था कि ये बचेंगी या नहीं? ऐसा संदेह होने लगता। मैंने सोचा कि यदि इनके घर वालों को सूचना नहीं जायेगी तो पश्चात् वे उलाहना देंगे अतः सूचना भेजना आवश्यक समझा था किन्तु एक सप्ताह बाद उनके घर से पत्र आया कि–

"आप ही उनकी अच्छी समाधि करा दीजिये, हम लोग नहीं आयेंगे।"

ऐसा पत्र यद्यपि मैंने आदिमती को नहीं बताया परन्तु लोगों को पढ़कर बहुत ही आश्चर्य हुआ.....।

आगे उनके स्वस्थ हो जाने पर एक वर्ष बाद उनकी माँ आई थीं, खैर?

इधर इस बड़ी धर्मशाला में यात्रियों का आना बहुत रहता था अतः भट्टारकजी व अनेक श्रावकों के आग्रह से हम लोग छोटी धर्मशाला में आ गये। उस समय यहाँ केवल दो ही धर्मशालाएँ थीं।

इन लोगों का स्वास्थ्य कुछ सुधरने पर लोगों की यह प्रेरणा रही कि—

"एक बार इनकी जलवायु अवश्य बदलाओ....।"

अतः पास के गांव बेलूर के लिए विहार कर दिया। इन दोनों को डोली से ले लिया। वहाँ अच्छी प्रभावना रही। प्रतिदिन मेरा उपदेश होता था। एक अध्यापिका आकर उस हिन्दी के उपदेश को कन्नड़ में परिवर्तित कर समझा देती थी, बड़ा आनंद आता था। वहाँ जाने पर भी दोनों माताजी के स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ। एक माह वहाँ रहने के बाद तीर्थ भक्ति, बाहुबली के दर्शन, वंदन आदि की अभिलाषा से और लोगों के विशेष आग्रह से मैं वापस श्रवणबेलगोल आ गई। सभी लोगों ने श्रीफल चढ़ाकर, चातुर्मास के लिए प्रार्थना की और मैंने भी स्वीकृति प्रदान कर दी। उस समय यहाँ लोगों में हर्ष की एक अद्भुत लहर दौड़ गई।

जलवायु निमित्त —

इससे पूर्व एक बार यहाँ श्री भागचंद जी सोनी (अजमेर), उनकी धर्म पत्नी रत्नप्रभा जी, इंदौर के श्री राजकुमार सिंह कासलीवाल आये। कुछ क्षेत्र कमेटी की मीटिंग आदि का निमित्त था अतः यहीं मेरे निकट के कमरे में तीन दिवस ठहरे थे। उन्होंने आते ही पहले मेरे संघ की कुशलता और व्यवस्था संबंधी जानकारी ली थी। सन् १९५६ का चातुर्मास मेरा आचार्य शिवसागर जी के संघ में वहाँ अजमेर में हुआ था, तभी से सेठ साहब का मेरा अच्छा परिचय था अतः उनकी भक्ति और व्यवस्था की पूछताछ से वहाँ के मैनेजर रमेशचंद जी घबराये और सोचने लगे —

"हो सकता है कि माताजी हम लोगों की कुछ कमियाँ कह दें, तो ये लोग क्या कहेंगे?"

खैर! रमेशचंद मेरे पास आकर बाद में ऐसा कहने लगे। तब मैंने कहा–

"हम साधु–साध्वियाँ इस तरह लोगों की शिकायतें या निंदा किसी से नहीं करते हैं।" तब रमेशचंद मैनेजर बोले —

"मुझे आपके प्रति उस दिन से विशेष भक्ति हो गई, जिस दिन से देखा कि भारत के जैन समाज के इतने बड़े–बड़े सेठ श्रीमान भी आपको पूजते हैं, आपकी प्रशंसा करते हैं।..... पहले तो मैंने आपको एक साधारण साध्वी समझा था और अब पता चला कि आप बहुत विशेष हैं.....।"

मैं सोचने लगी —

"देखो! बड़े लोग नमस्कार करें, भक्ति करें, प्रशंसा करें, तो साधु भी बड़े दिखने लगें, यह कितने आश्चर्य की बात है! वास्तव में, साधु तो अपनी निर्दोष चर्या से बड़े होते हैं और सदोष चर्या से छोटे होते हैं।.....फिर भी दुनिया की रीति है कि जिन्हें श्रीमान और धीमान लोग आदर देते हैं, उनमें कुछ विशेषताएं तो आंकी ही जाती हैं। यद्यपि सर्वथा ऐसा एकांत नहीं है फिर भी प्रायः ऐसा ही होता है।....., अहो और क्या? भगवान् की महानता भी इन्द्रों के द्वारा की गई भक्ति से ही प्रगट होती है।".....यद्यपि ऐसी बात है फिर भी मैं तो एक तुच्छ बुद्धि, किंचित् संयम को धारण करने वाली एक सामान्य साध्वी हूँ। श्रीमंतों के नमस्कार मात्र से भला मैं क्या विशेष बन जाऊँगी?"

सेठानी जी ने जब मेरे पास बैठकर इनकी बीमारी का विवरण सुना और स्थिति देखी तो बार-बार उनके मुख से निकला कि —

"इन्हें यहाँ की जलवायु अनुकूल नहीं हुई है, इनको जलवायु परिवर्तन से ही स्वस्थता आयेगी।"

उस समय उनकी इन बातों पर मेरा विशेष लक्ष्य नहीं गया और न विश्वास ही हुआ। यद्यपि उन्होंने एक-दो अपने अनुभव के उदाहरण सुनाये भी थे, फिर भी मैंने सोचा-

"कर्म का उदय जीव के साथ चलता है, चाहे दक्षिण हो चाहे उत्तर। भला जलवायु इतना क्या असर डालेगी?"

खैर! आगे जब मैं वहाँ से विहार कर सोलापुर आई, तो ये दोनों कुछ स्वस्थ दिखने लगीं किन्तु जब वहाँ से भी विहार कर मध्यप्रदेश सनावद में आ गई, तब ये दोनों बिना दवाई के भी स्वस्थ हो गईं। तब मैंने दो वर्ष बाद इन दोनों की बीमारी में जलवायु का निमित्त स्वीकार किया और सिद्धान्ततः विचार किया कि —

"जैसे रति का नोकर्म पुत्र है, हास्य का नोकर्म विदूषक है और नींद का नोकर्म भैंस का दही है, ऐसा गोम्मटसार कर्मकांड में लिखा है, वैसे ही इन दोनों की बीमारी का नोकर्म दक्षिण प्रदेश की जलवायु ही थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। हां! मुझे उस प्रदेश में कुछ स्वस्थता रही थी अतः उधर की जलवायु मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल ही थी, प्रतिकूल नहीं थी।"

उस समय श्रवणबेलगोल में धीरे-धीरे इन दोनों का स्वास्थ्य भी सुधर रहा था और यहाँ की महिलाएं भी आहार तथा वैयावृत्ति की व्यवस्था संभाल रही थीं अतः मैंने एक दिन कुछ विशेष विचार किया और उसे क्रिया-रूप से परिणत भी कर दिया। वह यह कि मैंने जिनमती जी से परामर्श करके उन्हें समझाकर सब आर्यिकाओं से कहा कि —

"मैं पंद्रह दिन भगवान् बाहुबली के चरण सानिध्य में पर्वत पर रहूँगी और तुम सब यहाँ शांति से रहना। आर्यिका जिनमती सब व्यवस्था संभाल लेंगी।" एक महिला के ऊपर प्रमुख रूप से आर्यिका आदिमती की व्यवस्था डाल दी और एक महिला को क्षुल्लिका अभयमती को संभालने के लिए कह दिया पुनः भट्टारक चारूकीर्ति जी से बातचीत करके ऊपर में रहने की व्यवस्था बनवा ली।

भगवान बाहुबली के श्रीचरणों में उपलब्धि —

मैं ऊपर चढ़ गई। मेरे साथ आर्यिका पद्मावती माताजी भी थीं, चूँकि मैं अकेली कभी नहीं रही हूँ। मैं दिन भर भगवान् के समक्ष बैठकर ध्यान करती, पाठ करती और चिंतन करती रहती थी, मौन ग्रहण कर लिया था। बस, स्तोत्र पाठ को ही बोलती थी। मात्र १० बजे आहार के लिए नीचे आती थी और शुद्धि करके आहार ग्रहण करके पुनः तत्क्षण ही ऊपर चली जाती थी। किन्हीं भी शिष्याओं का कुछ भी सुख-दुख न सुनती थी और न किसी से बोलती ही थी। मन में संघ के प्रति कोई चिंता न रखने से निराकुलता भी थी। इधर भट्टारक जी ने एक बालक को वहाँ रात्रि में सोने के लिए निश्चित कर दिया था। वह कमंडलु के पानी की व्यवस्था भी

बना देता था।

उन दिनों मैं रात्रि में बहुत कम सोती थी। दो-तीन बजे से ही उठकर, भगवान की मूर्ति को चंद्रमा की चांदनी में निहारती रहती थी पुनः आँख बंद करके भी ध्यान किया करती थी। "एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में लगभग ३-४ बजे ध्यान में सहसा मुझे कुछ अलौकिक क्षेत्रों के दर्शन होने लगे। सुमेरु पर्वत से लेकर जंबूद्वीप के हिमवान् आदि पर्वत, उनके चैत्यालयों के दर्शन हुए और धातकीखंड, पुष्करार्ध द्वीप, नंदीश्वर द्वीप, कुण्डलपुर पर्वत और रुचक पर्वत के जिन मंदिरों के दर्शन हुए। मानों कभी पूर्व जन्म में मैंने इन अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन किये ही हों। घंटों मेरा उपयोग उन्हीं मंदिरों की जिन- मूर्तियों की वंदना में लगा रहा पुनः एक दिव्य प्रकाश दिखने लगा। आज भी जब मैं उन दिनों को, उस ध्यान को याद करती हूँ, तो वह प्रकाश स्मृतिपथ में आ जाता है।"

ध्यान के बाद आँखें खोलकर श्री बाहुबलि को एकटक देखा और बार-बार उनके श्रीचरणों में वंदना की। उस समय मुझे जो आनंद आया था, जो हर्षातिरेक हुआ था, वह मैं शब्दों से तो कह ही नहीं सकती हूँ। मैं बार-बार उन्हीं चैत्यालयों का स्मरण कर रही थी। लगभग साढ़े नौ बजे मैं पर्वत से नीचे धर्मशाला में अपने कमरे में आई। अन्दर जाकर अपने बस्ते से त्रिलोकसार ग्रंथ निकाला। उसमें मध्यलोक के अकृत्रिम चैत्यालयों की गणना देखी, जैसा कि मैंने ध्यान में देखा था, वैसे ही चार सौ अट्ठावन चैत्यालयों की संख्या देखी, तब मेरे हर्ष का पार नहीं रहा। मैंने सोचा —

"ध्यान में जो रचना और जो संख्या मुझे उपलब्ध हुई है, वही इस ग्रंथ में है अतः कुछ कपोलकल्पना नहीं है, प्रत्युत् सही रचना दिखी है.....अहो! मैंने पूर्व जन्म में इन चैत्यालयों के दर्शन अवश्य किये होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।"

इधर जब आर्यिका जिनमती ने देखा कि —

अम्मा ने अंदर से त्रिलोकसार निकाला है और ये बहुत ही खुश हैं, तो पूछने लगीं-

"अम्मा! क्या देख रही हो?"

मैं कुछ भी न बोली और मुस्कराते हुए ग्रंथ लेकर ऊपर चली गई। वहाँ रहने तक बराबर यही ध्यान करती रही और ग्रंथ को पढ़कर उसका विस्तार समझती रही।

दूसरी उपलब्धि —

पर्वत पर रहते हुए वहाँ उन्हीं दिनों मैंने संस्कृत में वसंततिलकाछंद में एक बाहुबलि स्तोत्र बनाना प्रारंभ किया। वह इतना सुन्दर, सरस एवं मधुर बना है कि पढ़ने, सुनने वाले विद्वान् आनन्दमग्न हो जाते हैं। मैं समझती हूँ कि यह भगवान बाहुबलि की भक्ति का ही अतिशय था। इस स्तोत्र को कापी में लिखकर, मैं वहीं भगवान के सामने पढ़ने लगी। अंतरंग के भावों से निकले हुए शब्दों से, 'वर्णों से' गूँथी हुई वह स्तुति पढ़ते समय मुझे रोमांच हो आता था। स्तोत्र के प्रथम श्लोक ये हैं —

सिद्धिप्रदं मुनिगणेंद्रशतेंद्रवंद्यं, कल्पद्रुमं शुभकरं धृतिकीर्तिसद्म।
पापापहं भवभृतां भववार्धिपोत-मानम्य पादयुगलं पुरुदेवसूनोः।।१।।
सप्तर्द्धिशालिगणिनां स्तुतिगोचरस्य, युद्धत्रये विजितविक्रमचक्रपस्य।।
ध्यानैकलीनतनुनिश्चलवत्सरस्य, तस्य प्रभोरहमपि स्तवनं विधास्ये।।२।। युग्मं।।

यह स्तोत्र मैंने इक्यावन श्लोकों में बनाया था।

इसके बाद मौन व्रत के १५ दिवस पूर्ण कर मैं नीचे आ गई। मौन छोड़कर शिष्याओं से वार्तालाप किया तो सबसे पहले उन्हें ध्यान में उपलब्ध उन चार सौ अट्ठावन (४५८) चैत्यालयों के दर्शन कराये, उनका

विस्तार सुनाया पुनः यह स्तोत्र सुनाया। उन सबको भी महान आनन्द हुआ और उन सभी की आंखों में भी आनन्द के आँसू आ गये।

यह वीरनिर्वाण सम्वत् २४९१, आश्विनमास, ईस्वी सन् १९६५, सितम्बर-अक्टूबर की बात है। श्रवणबेलगोल का यह चातुर्मास इस जम्बूद्वीप रचना के साथ-साथ एवं मेरी साहित्य रचनाओं के साथ-साथ सदा काल अमर रहेगा।

आज यहाँ हस्तिनापुर में बनी हुई जम्बूद्वीप रचना और मेरे द्वारा लिखे गये लगभग १५० ग्रन्थ (जिनमें मुद्रित हुये सौ करीब ग्रंथ-पुस्तकें) उन सबका सूत्रपात वहीं श्रवणबेलगोल में ही हुआ था।

मैंने अपने कन्नड़ के टूटे-फूटे शब्दों के उपदेश में, वहाँ के श्रावक-श्राविकाओं को भी इन चैत्यालयों का एक दो बार संक्षेप में दर्शन कराया था।

बाहुबलि चरित हिन्दी —

इसके बाद मैंने नीचे वसतिका में रहते हुए, उसी आश्विन मास में एक बाहुबलि चरित बनाया, जिसमें चौबोल छंद है जो कि १०८ पद्यों में है पुनः अंत में दोहा में तीन पद्य बनाकर, १११ मणियों की एक माला ही बनाकर, मानों भगवान के श्रीचरणों में चढ़ाई थी अथवा उस माला से भव्यजन भगवान को जप लेते हैं। मुझे उस समय क्या पता था कि यह रचना आगे भगवान बाहुबलि के सहस्राब्दी महोत्सव में रेकार्डिंग होकर जन-जन के मन को आल्हादित करने वाली होगी! इस स्तुति के कुछ पद्यों का प्रसारण सात सप्ताह तक आकाशवाणी दिल्ली से हुआ था। इस चरित का मोतीचन्द ने बहुत ही श्रम करके सन् १९८० में ९० मिनट का संगीत ध्वनि में टेपरेकार्ड कैसेट बनवाया था, जिसका कैसेट आज भी जब यहाँ बजता है, तब मुझे सन् १९६५ की पुरानी स्मृतियाँ याद आ जाती हैं।

वहाँ श्रवणबेलगोल में रहते हुए मैंने आचार्यश्री वीरसागर जी की संस्कृत में एक लघु स्तुति बनाई। आचार्य शिवसागरजी की स्तुति बनायी, उसे लिखकर संघ में आर्यिका विशुद्धमती को भेजा कि इसे पढ़कर आचार्यश्री के सामने मेरी तरफ से वन्दना कर देना। मथुरा से यात्रा के लिए निकलते समय जो भावना आयी थी, वह सफल हुई थी, निर्विघ्न सम्मेदशिखर पर्वत की वंदना हो गई थी, तभी से मुझे श्री जम्बूस्वामी केवली भगवान के प्रति बहुत ही भक्ति थी अतः एक उनकी ८ श्लोकों में स्तुति बनायी। वहाँ पर प्रसिद्ध सांगत्यराग, जिसमें भरतेशवैभव और निरंजनस्तुति प्रसिद्ध हैं , उसी सांगत्यराग में, संस्कृत में भगवान महावीरस्वामी की एक लघु स्तुति बनायी, जो यह है —

सांगत्य राग —

मनसिजमर्दक! मुनिमनोहर्षक! वीर! महावीर! धीर!
मृत्युंजय! हंसनाथ! नमोऽस्तु ते, कर्म विध्वंसकशूर!।।१।।

मुझे प्रारंभ से ही यह श्रद्धा रही है कि जिनेन्द्र देव की भक्ति से मन में शांति होती है, सर्व अमंगल नष्ट हो जाते हैं और आत्मा को पवित्र करके भक्त एक न एक दिन अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेता है। अतएव जिनभक्ति में सदा प्रवृत्ति रखनी चाहिए क्योंकि आज घोरातिघोर तपश्चरण तो संभव नहीं है, इसलिए भक्तिमार्ग से ही जितनी हो सके, उतनी आत्मशुद्धि कर लेनी चाहिए।

कन्नड़ में स्तुति और बारहभावना —

इसके बाद मैंने जो पुस्तकों से कन्नड़ भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था, उसी के अनुसार आदिपुराण, उत्तरपुराण आदि कन्नड़ में अनुवादित ग्रन्थों का स्वाध्याय करती रहती थी। पता नहीं क्यों? मुझे कन्नड़ भाषा से विशेष प्रेम था अतः मैंने कन्नड़ भाषा में भगवान बाहुबलि की एक स्तुति बनाई, जो छप चुकी है पुनः

श्रीभद्रबाहुस्वामी की एक स्तुति बनाई। इसके बाद बारह भावना (द्वादशानुप्रेक्षा) नाम से बनाई।

''अरसरवैभव सुररविमानवु धनयौवन संपदवेल्ल।''

यह बारह भावना छप चुकी है और दक्षिण में घर-घर में पढ़ी जाती है। इधर जब भी कर्नाटक से बसें आती हैं तब प्रायः महिलायें सामूहिक रूप में यह बारह भावना अवश्य बोलती हैं तब हम लोगों को बहुत आनन्द आता है। पहले तो मैं भी पढ़ा करती थी, तब ये सब स्तुतियाँ और भावनाएँ याद थीं, अब प्रतिदिन न पढ़ने से कण्ठाग्र नहीं हैं।

आचार्य विद्यानन्द महाराज को भी मेरे द्वारा रचित यह कन्नड़ की द्वादशानुप्रेक्षा बहुत प्रिय है। वे उधर दक्षिण में भी बुलवाते रहते हैं अतः दक्षिण में उसका प्रचार खूब हुआ है। इसके बाद मैंने आचार्यश्री विमलसागर जी के श्रवणबेलगोल आने के समय कन्नड़ में उनकी एक स्तुति बनाई थी जो कि उसी समय छपवाकर लोगों ने वितरित की थी।

वहाँ पहाड़ पर मैं जब-तब जाकर, ध्यान अथवा स्तोत्र पाठ किया करती थी। वहाँ बाहर के यात्रियों के समूह बहुत आते रहते थे, तब वहाँ के व्यवस्थापकों की प्रार्थना से मैं उन्हें उपदेश भी सुनाया करती थी और जो लोग अन्य भाषा वाले होते थे, वहाँ के पण्डित लोग उन्हें कन्नड़ आदि में समझा देते थे। कभी-कभी विदेशी लोगों को वहाँ का महत्त्व, नग्नमूर्ति का महत्त्व, भगवान बाहुबली का जीवन चरित आदि सुनाती थी, तब वहाँ के इंग्लिशवेत्ता लोग उन्हें मेरा उपदेश इंग्लिश भाषा में समझा देते थे, जिससे वे लोग भगवान की मूर्ति के प्रति नतमस्तक हो जाते थे।

वहाँ एक वर्ष रहकर मैंने यह अनुभव किया था कि —

"विदेशी लोग नग्नमूर्ति को देखकर हंसते नहीं थे, चाहे पुरुष हों या महिलायें किन्तु कौतुक से देखते ही रहते थे और विस्मय की मुद्रा बनाते थे परन्तु इधर अपने भारत के कुछ जैनेतर लोग यदि वहाँ दर्शनार्थ आते, तो उनकी महिलायें मुख कपड़े से ढक लेतीं और बेभान हंसती, कभी-कभी वे हंसते-हंसते बाहर चली जातीं।

मैं वहाँ बैठकर कई बार ये दृश्य देखती रहती थी। तब सोचने लगती कि —

"वास्तव में विदेशों में सभ्यता है अतः वे हंसने के बजाए कौतुक से देखते हैं और समझना चाहते हैं कि ये भगवान नग्न क्यों हैं? उनके हृदय में भारतीय संस्कृति को समझने की जिज्ञासा रहती है।

इसके विपरीत भारत की कतिपय जातियाँ ऐसी मूर्तियों को देखकर, शर्म का अनुभव करते हुए हंसती हैं। इन्हें भी समझने के लिए उत्कंठा होनी चाहिए कि आखिर ये नग्न क्यों हैं? इनमें कुछ गुण हैं या नहीं?"

जब मैं उन्हें अपने उपदेश में बताती कि —

"इन्होंने पूर्णरूप से परिग्रह छोड़ दिया है और ब्रह्मचर्य की पूर्णशुद्धि पाल रहे हैं। ये बालक के समान निर्विकार हैं अतएव जन्म के समय के सदृश यथाजात — प्राकृतिक रूप को धारण कर लिया है। इस रूप से इन्हें पूर्ण निराकुलता है, ये पूर्ण रूप से आत्मा के आनन्द में निमग्न हैं.....।' इत्यादि रूप से उपदेश सुनकर ये लज्जा से मुँह ढककर हँसने वाली महिलाएँ भी प्रभावित होकर पुनः भगवान को नमस्कार करने लगती थीं।

सन् १९६५ में श्री बाहुबलीजी की प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक होने वाला था किन्तु वर्षा के कम होने से वह आगे बढ़ा दिया गया।

पुनरपि सन् १९६६ की फरवरी में अभिषेक की संभावना थी किन्तु जल की कमी से इस वर्ष भी स्थगित कर दिया गया, तब मैंने समझ लिया कि —

"मेरे भाग्य में महामस्तकाभिषेक देखना नहीं है।"

अतः मैंने भगवान की मूर्ति का मेघ से होने वाली जल-वर्षा के समय अभिषेक देखकर ही हर्ष माना

और वहाँ से विहार के लिए सोचने लगी। इधर मेरे संघ में आर्यिका जिनमती को भी यहाँ से विहार के लिए आकुलता लगी हुई थी। उधर संघ से आचार्य श्री शिवसागर जी, मुनि श्री श्रुतसागर जी और मुनि श्री अजित सागर जी की प्रेरणा से आर्यिका विशुद्धमतीजी के पत्र बराबर आ रहे थे कि —

"माताजी! अब आप जैसे भी हो, वैसे जल्दी ही संघ में वापस आ जाइये।"

अतः मैंने संघ से ब्रह्मचारी सुगनचन्द को बुला लिया था। वे दो ब्रह्मचारिणियों को लेकर मेरे संघ का विहार कराने के लिए यहाँ आ गये थे।

आचार्य श्री विमलसागर जी के दर्शन —

इधर मैंने सुना, आचार्यश्री विमलसागर जी मूडविद्री से होते हुए मैसूर आ रहे हैं। मुझे बहुत खुशी हुई। इधर मैसूर से कई बार प्रमुख-प्रमुख श्रावक 'श्रीपालय्या' आदि आकर मैसूर की ओर विहार के लिए प्रार्थना कर चुके थे और मैंने विहार के लिए एक-दो बार विचार भी किया था लेकिन इन अस्वस्थ साध्वियों को लेकर कैसे जाना और छोड़कर भी कैसे जाना? अतः जाना रह गया था। अब पुनः इन लोगों की प्रार्थना स्वीकार कर मैंने विहार करने का विचार बना लिया।

अस्वस्थ साध्वियों को यहीं छोड़कर, साथ में दो साध्वियों को लेकर, विहार कर दिया। यहाँ से ४-५ दिन में मैसूर पहुँची। वहाँ आचार्य संघ आ चुका था। मैंने भी सन् १९६३ में आरा में दर्शन किये थे पुनः सन् १९६६ की फरवरी में यहाँ दक्षिण में दर्शन किये। आचार्यश्री का वात्सल्य बहुत अच्छा था। यहाँ भी संघ में कोई साधु कन्नड़ भाषा नहीं जानते थे अतएव आचार्यश्री हिन्दी में ही उपदेश करते थे, इससे पूर्व मेरा प्रवचन होता था। मैं कुछ-कुछ कन्नड़ में उपदेश दे देती थी। मेरी टूटी-फूटी कन्नड़ से भी लोगों को विषय समझ में आ जाने से बड़ा आनन्द आ जाता था।

यहाँ के अनेक लोगों ने श्रवणबेलगोल में आकर दर्शन किए थे और कई एक लोग उपदेश भी सुन चुके थे अतः ये लोग बार-बार कहने लगे —

"अहो! ऐसी निधि हमारे प्रांत में एक वर्ष रह गई और हम लोग उनसे लाभ लेने में वंचित रह गये। यह हम लोगों का दुर्भाग्य ही था।"

मैंने कहा—"न मैं कोई निधि हूँ न कोई विशेष ही, हाँ! यहाँ तो महानिधि भगवान बाहुबलि विराजमान हैं, ये तो सारे विश्व की ही निधि हैं.....और इनके दर्शन के निमित्त से तो यहाँ पर सभी साधु-साध्वियाँ प्रायः आते ही रहते हैं।"

इसके बाद वहाँ के लोगों ने बहुत प्रार्थना की कि —

"माताजी! कम से कम एक माह आप यहाँ मैसूर विराजो, हम लोग आप से धर्मलाभ लेना चाहते हैं।"

किन्तु अब हमारा मन विहार के लिए उत्सुक हो चुका था अतः किसी की भी प्रार्थना पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। मात्र हँसकर ही उनको सान्त्वना दी और ४-५ दिन बाद ही वहाँ से आचार्य संघ के साथ विहार कर दिया। मैं कुछ कन्नड़ में वार्तालाप करके आचार्यश्री के शब्दों को भी समझा देती थी। उपदेश में भी कुछ-कुछ कन्नड़ बोल देती थी अतः लोगों को अच्छी तरह से समझ में आ जाता था।

मार्ग में एक हास्यास्पद घटना —

मैसूर से विहार कर अर्द्ध मार्ग में एक जगह किसी एक जैनेतर मंदिर के निकट खुले बगीचे में साधु संघ ठहरा था। वहीं पास में चौके लगे हुए थे। आहार के बाद सामायिक करके मैं बहिर्भूमि-शौच के लिए कुछ दूर जंगल की ओर गई थी। उधर से वापस आ रही थी, मेरे साथ एक आर्यिका थीं। उधर देखा —

कुछ ही दूर एक पागल आदमी बिल्कुल नंगा घूम रहा है और कुछ ग्रामीण लोग आपस में हंसते हुए

कुछ अपनी कन्नड़ भाषा में कह रहे हैं।

चूँकि मैं कुछ कन्नड़ समझ लेती थी अतः मैंने सब समझ लिया। ये लोग कह रहे थे-

"चलो, चलो, पास ही नंगे लोगों का संघ ठहरा हुआ है, उसी में इस 'हुच्च' अर्थात् पागल को छोड़कर उन्हीं में शामिल करके आ जाएँ।"

उनके इन शब्दों से मुझे नग्न दिगम्बर साधुओं की हंसी और अवहेलना सहन नहीं हुई। मैं अपने स्थान पर आकर बैठ गई और एक प्रबुद्ध व्यक्ति को बुलाकर सारी बातें उनसे पूछी पुनः उन्हीं से मैंने कहा —

"आप इन ग्रामनिवासी लोगों को बुलाओ, मैं उपदेश सुनाऊँगी।"

उपदेश सुनने की लालसा से व्यक्ति निकट से गाँव के बहुत सारे लोगों को इकट्ठे कर लाया। मैंने वहीं बाहर चबूतरे पर बैठकर कन्नड़ में उपदेश दिया और दिगम्बर मुनियों की चर्या बतलाई। यथा —

"दिगम्बर जैन साधु सर्वथा सब परिग्रह छोड़कर साधु बनते हैं अतः लंगोटी भी नहीं रखते हैं क्योंकि उसे धोना, सुखाना, फट जाने पर माँगना आदि उन साधु के लिए दैन्य प्रवृत्ति है तथा ये पूर्णब्रह्मचर्य पालते हैं। जैसे बालक माँ की गोद में और अड़ोस-पड़ोस में नग्न खेलता है किन्तु उस बालक को देखकर न किसी को विकार आता है और न उस बालक में ही विकार है, वह निर्विकार है, वैसे ही ये साधु भी-"निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके पायन धोक हमारी" — निर्विकार हैं, ये दिशारूपी वस्त्र को धारण करने से दिगम्बर हैं, शील के भूषण से भूषित हैं, तीन लोक में पूज्य हैं। साथ ही मैंने कथा भी सुनाई कि —

किसी समय ऐसे ही दिगंबर मुनियों का संघ सम्मेदशिखर यात्रा के लिए जा रहा था। ऐसे ही उन्हें नग्न देखकर एक गांव के सारे के सारे लोग हंसने लगे, एक कुंभकार ने मना किया कि ये वन देवता हैं, चक्रवर्ती से भी पूज्य हैं, इन्हें हंसो मत। इसके कुछ ही दिनों बाद गांव में किसी एक के द्वारा अपराध करने पर राजा ने कुपित हो सारे गांव में आग लगवा दी। सब जलकर मर गए और 'गिजाई' नाम के छोटे-छोटे कीड़े हो गये। जिस कुंभकार ने मना किया था, वह उसी दिन कहीं बाहर चला गया था, सो बच गया अतः कालांतर में वह अपनी आयु से मरकर एक वणिक हुआ। ये सब के सब गिजाई के जीव मरकर कौड़ी हो गये, जिन्हें वणिक ने खरीद लिया। ये सब कौड़ी के जीव साठ हजार थे।

इस कथा के बाद मैंने समझाया कि —

ये नग्न मुनि जगत् पूज्य हैं, पागल नहीं हैं अतः तुम लोग पागल को इनमें शामिल करने की बात क्यों कह रहे थे? अब ऐसी गलती नहीं करना।

लोगों ने मेरा उपदेश सुना, तब पश्चात्ताप से क्षमायाचना करने लगे पुनः भक्ति से जाकर सबने इन गुरुओं के दर्शन किये और अपने जन्म को सफल माना।

इस प्रकार विहार करते हुए संघ श्रवणबेलगोल आ गया। श्री भट्टारक जी ने सम्मुख आकर आचार्यश्री का स्वागत किया, श्रीफल चढ़ाकर नमस्कार किया और आचार्यश्री का क्षेत्र पर मंगल प्रवेश हुआ। मेरे संघ की आर्यिका आदिमती जी व क्षुल्लिका अभयमती ने भी दर्शन किये। महान् प्रसन्नता और धर्मप्रभावना का वातावरण बन गया।

भगवान का लघु अभिषेक —

अब यहां से मुझे विहार करना था। मैंने आचार्यश्री से कहा कि —

"मेरी इच्छा है कि लिफ्ट द्वारा किसी को भेजकर भगवान का दो-चार घड़ों के जल से अभिषेक करा दिया जावे।"

आचार्यश्री को भी यह बात जंच गई। मैंने भट्टारक जी से कहा किंतु 'मैसूर सरकार से स्वीकृति मिलना कठिन है और बिना स्वीकृति के अभिषेक करना कठिन है' अतः भट्टारक जी ऊहापोह में पड़ गये। इधर मेरी

भावना और आचार्यश्री की प्रेरणा से कई एक मैसूर के लोगों से परामर्श करके, प्रचार न करके, अत्यंत लघु रूप में प्रोग्राम बनाया गया। यहाँ आसपास के कुछ गाँवों के लोग उपस्थित हो गये।

आचार्यश्री का संघ और मेरा संघ ऊपर चढ़ गया। यथास्थान सब बैठ गये और एक-दो पण्डितों ने कुछ घड़े जल लिफ्ट से चढ़ाकर ऊपर जाकर अभिषेक कर दिया।

उस समय जो आनन्द आया, उसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता है। इधर इस अभिषेक व्यवस्था में कठिनाईयों की चर्चा चलते समय मेरे कमरे में आर्यिका जिनमती, आदिमती भी मिलकर आपस में चर्चा कर रही थीं कि —

"अम्मा को चैन नहीं पड़ती, कुछ न कुछ करती-कराती रहती हैं। व्यर्थ ही अभिषेक देखने के लिए बात उठा दी है। इन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।"

इसके बाद ये दोनों आकर मुझसे भी कहने लगीं —

"अम्मा! अब सकुशल यहाँ से विहार कर दीजिये। अब अभिषेक देखने आदि की बात न उठाइये.....।"

फिर भी मेरे मन में जो विषय आ गया था और सफल होने की संभावना थी अतः मैंने इन दोनों की बातें सुनी-अनसुनी कर दी थीं, बल्कि मेरे मन में यह आया था कि-

"ऐसे प्रसंगों में तो इन्हें मेरा सहयोग देना चाहिए था अथवा बैठकर महामंत्र का जाप करते हुए शांति की कामना करनी चाहिए न कि विरोध.....।"

खैर! उस अभिषेक के समय ये दोनों ही आर्यिकायें भगवान बाहुबलि के चरण सानिध्य में जाकर खड़ी हो गईं और अभिषेक का ऐसा आनन्द लिया, ऐसी गद्‌गद हुईं कि देखते ही बनता था। मैंने तो आनन्द लिया ही, सभी साधुओं ने और उपस्थित समुदाय ने भी आनन्द लिया। बाद में भगवान बाहुबलि के चरणों का विस्तार से पंचामृत अभिषेक हुआ, शान्तिधारा हुई और सबने गंधोदक मस्तक पर चढ़ाकर, नेत्रों में लगाकर अपने जीवन को पवित्र किया। उसके बाद ही मैसूर से व आस-पास हासन आदि गाँवों से कुछ लोग आ गये थे अतः वहीं पर मेरा और आचार्यश्री का उपदेश हुआ। मैंने कुछ कन्नड़ में भी उपदेश दिया। इसके बाद हम सब लोग पर्वत से नीचे आ गये।

मैंने उस दिन विचार किया —

"देखो! छोटे कार्य हों चाहे बड़े, जिसमें सब लोग प्रतिकूल हो जाते हैं उस में यदि पास रहने वाले शिष्य वर्ग भी प्रतिकूल हो जावें या सहयोग न देवें, तो कैसा एकाकीपन अनुभव में आता है? फिर भी एक दृढ़ता संकल्प ही ऐसी शक्ति है जो कि कार्य को सफल कर देती है और कार्य की सफलता में तो सभी आगे आकर भागीदार बन जाते हैं।"

ऐसे-ऐसे प्रसंग में मेरे जीवन में अनेक कार्यों में तो क्या, मैं समझती हूँ कि प्रायः सभी कार्यों में आये हैं और मेरे 'दृढ़संकल्प' के आगे सभी कार्यों में सफलता भी मिली है।

यही हेतु है कि मैं हमेशा अपने शिष्यों को ही क्या, प्रत्येक कार्यकर्ता श्रावक-श्राविकाओं को यही शिक्षा दिया करती हूँ कि-

"यदि आप कोई भी कार्य हाथ में लेते हैं, तो पहले यह सोच लीजिये कि यह आगम विरुद्ध तो नहीं है? यदि आपका सोचा हुआ कार्य आगम के अनुकूल है तो आप दृढ़संकल्प लेकर उसे कीजिये। अन्य लोगों के विरोध की परवाह मत कीजिये क्योंकि विरोध में अनेक कारण होते हैं। कुछ लोग तो ईर्ष्या, असहिष्णुता से विरोध करते हैं, कुछ लोग विरोध के भय से भी विरोध करके कार्य में रुकावट डालने की कोशिश करते हैं.....इत्यादि।"अतः —

''श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि।'

इस नीति वाक्य का स्मरण करते हुए छोटे-छोटे विरोधों को तो न कुछ गिनकर धर्म कार्यों में पीछे नहीं हटना चाहिए।

यहाँ से एक वर्ष के बाद मेरा विहार हो रहा था अतः ललितम्मा, कनकम्मा आदि भक्तिमान महिलाओं ने, जिन्होंने लगभग १ वर्ष तक तन-मन-धन से सेवा की थी, उनका हृदय टूट रहा था। वे खूब रो रही थीं लेकिन मुझे विहार तो करना ही था।

यहाँ से हमारी मूडविद्री, हुम्मच आदि तीर्थों की वन्दना करने की इच्छा थी। इधर मार्ग में ऊँची-चढ़ाई बहुत थी अतः आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज से परामर्श कर मैंने आर्यिका आदिमती जी और क्षुल्लिका अभयमती जी को आचार्य श्री के साथ हुबली तक भेजने का निश्चय किया चूँकि इन दोनों ने दीक्षा से पहले इन तीर्थों की वंदना की हुई थी और अभी अस्वस्थ भी थीं, पूर्ण स्वस्थ नही हो पाई थीं अतः इन्हें सीधे यहाँ से हुबली भेजने का निर्णय कर दिया। आचार्यश्री ने भी इन्हें साथ ले जाने की स्वीकृति दे दी। तब मैंने एक साथ ही यहाँ से विहार कर दिया।

यह दिन भी फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी था जो कि मुझे बाद में स्मरण में आया, तब मैंने सोचा —

"देखो! यह योग कैसा बना! भगवान बाहुबलि ने स्वयं एक वर्ष का योग लेकर निश्चल खड़े होकर ध्यान किया था, तो मुझे भी यहाँ एक वर्ष तक रहकर भगवान बाहुबलि की दिव्य मूर्ति के दर्शन करने का सौभाग्य मिला है।"

अभी सन् १९८१ की फरवरी, में जब भगवान बाहुबलि का सहस्राब्दी महोत्सव मनाया जा रहा था, तब फाल्गुन कृष्ण चतुदर्शी को ही भगवान का महामस्तकाभिषेक हुआ था अतः मुझे यह तिथि बहुत ही अच्छी प्रतीत हुई।

£ ४८ ¤

मूडविद्री यात्रा —

मैं भगवान बाहुबलि की मूर्ति को एकटक देखते हुए जब छोड़कर जाने लगी, तब हृदय में जो वेदना हुई, जो दुःख हुआ, वह हृदय को विदीर्ण कर रहा था। नेत्र जैसे प्रभु को देखते ही रहना चाहते थे परन्तु जबरदस्ती नेत्रों को वहाँ से हटाकर हृदय में भगवान की मूर्ति को स्थापित कर, उनकी भक्ति को साथ में लेकर, मैं अपने संघ के साथ वहाँ से चल पड़ी।

मार्ग में हासन आई, यहाँ पर मंदिरों के दर्शन किये। यहाँ की कलाकृतियों का अवलोकन किया पुनः मार्ग में पहाड़ी रास्ते पर चढ़कर महामंत्र का जप करते हुए धीरे-धीरे लगभग १५ दिन में मूडविद्री क्षेत्र पर पहुँच गई। वहाँ के भट्टारक जी भी आगे आये, वहाँ भी स्वागत थाली में दर्पण रखा हुआ था। यहाँ दक्षिण में सर्वत्र स्वागत की थाली में दर्पण अवश्य लाते हैं क्योंकि यह अष्टमंगल द्रव्य में से एक है, इसलिए इसे मांगलिक मानते हैं, एक-एक प्रान्त की अलग-अलग प्रथायें हैं।

कलकत्ता में स्वागत के समय मंगल कलश और मंगल आरती की प्रथा है। साधुओं के विहार के समय घर-घर के दरवाजे पर लोग आरती उतारते हैं। इंदौर में देखा कि विहार करने पर रास्ते में जो भी श्रावकों के घर आते हैं, वे श्रावक दरवाजे पर थाली रखकर दूध से गुरु के चरण धोते हैं पुनः मंगल आरती करते हैं। दिल्ली में भी द्वार के पास निकलते हुए साधुओं की मंगल आरती करते हैं।

यहाँ मूडविद्री में २-३ दिन रहकर सभी मंदिरों के दर्शन किये, पुरानी कलाकृतियों को देखा, मन में

बहुत ही प्रसन्नता हुई।

दिव्य प्रतिमाओं के एक साथ दर्शन —

श्री चान्दमल जी पांड्या गोहाटी वाले अपने परिवार सहित दक्षिण यात्रा करते हुए यहाँ आ पहुँचे। उनके साथ ब्रह्मचारी सूरजमल जी भी थे। बहुत दिनों बाद इन लोगों को देखकर प्रसन्नता हुई। उसके बाद मध्याह्न में इन लोगों ने मेरे साथ ही रत्नों की मूर्ति के दर्शन का प्रोग्राम बना लिया था। यहां पर प्राचीन अनेक रत्नों की मूर्तियां हैं, उस समय उन्हें निकाल-निकाल कर दर्शन कराते थे।

हम लोग बैठे-बैठे दर्शन कर रहे थे। उन मूर्तियों के दर्शन करके मन में एक अपूर्व ही भाव जाग्रत हुआ पुनःचांदमल जी ने कहा —

"माताजी ! मूर्तियों के दर्शन के बारे में कुछ उपदेश सुनाइये।"

मैंने कहा —अब आप लोगों ने कृत्रिम जिनप्रतिमाओं के दर्शन कर लिए हैं। इसके बाद मैं आपको अभी यहीं से अकृत्रिम जिनमंदिरों का दर्शन कराऊँगी। आप लोग सुखासन से बैठ जाइये और आँख बंद कर लीजिये। मैं जैसे-जैसे जहाँ-जहाँ ले चलूँ चलते चलिये और जो-जो दर्शन कराऊँ ! दर्शन करते रहिये। देखिये ! कितना आनंद आयेगा। सभी लोग मेरे कहे अनुसार स्थिरता से बैठ गये और मैंने दर्शन कराना प्रारंभ किया।

अकृत्रिम चैत्यालयों के अपूर्व दर्शन —

मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में सर्वप्रथम जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन विस्तृत गोल थाली के आकार का है। इसके बीचोंबीच में सुदर्शनमेरु पर्वत है। यह नीचे दश हजार योजन विस्तृत गोल है और एक लाख चालीस योजन ऊँचा है। इसके भूमितल में भद्रसाल वन है। उस वन में चारों तरफ एक-एक जिनमंदिर है। आप पहले पूर्व दिशा के मंदिर में प्रवेश करके वहां विराजमान १०८ जिनप्रतिमाओं को नमस्कार कीजिये। देखिये.....अब आपको मंदिर में प्रतिमायें दिख रही हैं। हाथ जोड़कर वंदन कीजिये। अब आप दक्षिण दिशा में चलें। बुद्धि से अर्धनिमिष में पहुंच गये। मंदिर के अंदर प्रवेश करके भगवान् के दर्शन करें। दर्शन हो रहे हैं.....नमस्कार करके बाहर आकर पश्चिम दिशा के मंदिर में चलें.....वहां अंदर प्रवेश कर लिया। अब प्रतिमाजी के दर्शन हो रहे हैं.....। नमस्कार करें, बाहर आवें, शीघ्र ही उत्तर दिशा के मंदिर में प्रवेश करके भगवान् का दर्शन करें....दर्शन हो रहे हैं। जिनप्रतिमायें दिख रही हैं.....नमस्कार करें।

अब बाहर आकर बुद्धि से ही अर्ध सेकिंड में पाँच सौ योजन ऊपर पहुँच गये। यह नंदन वन है। यहां भी पूर्व दिशा मंदिर में प्रवेश करें.....दर्शन करें, जिनप्रतिमाओं को नमस्कार करें.....। बाहर आकर दक्षिण दिशा के मंदिर में प्रवेश करके, प्रतिमाओं की हाथ जोड़ कर वंदना करें.....। पश्चिम दिशा के मंदिर में प्रवेश करके, भगवान को हाथ जोड़कर नमस्कार करें.....। उत्तर दिशा में पहुँचकर जिनमंदिर के अंदर प्रवेश करें। अब जिनप्रतिमाओं को एक क्षण देखें.....दिख रही हैं। नमस्कार करें.....।

अब आप बुद्धि से ही एकदम साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर आ जावें .....। पूर्व दिशा के मंदिर में दर्शन करें.....दक्षिण दिशा के मंदिर में प्रवेश करें, दर्शन करें.....। पश्चिम दिशा के मंदिर में प्रवेश करके भगवान् को हाथ जोड़कर नमस्कार करें.....। उत्तर दिशा के मंदिर में अंदर आइये.....भगवान को नमस्कार कीजिये। यह सौमनस वन कहलाता है।

यहां से छत्तीस हजार योजन ऊपर उछल कर आ जाइये, अब हम और आप पांडुक वन में आ गये हैं। यहाँ पूर्व दिशा के मंदिर में प्रवेश कर दर्शन कर रहे हैं.....प्रतिमाएँ दिख रही हैं। चलिये, दक्षिण दिशा के मंदिर में प्रवेश कीजिये। जिनभगवान के मुखकमल का दर्शन करके वंदन कीजिये.....पश्चिम दिशा के मंदिर में आ गये हैं.....प्रतिमाजी दिख रही हैं, नमस्कार कीजिये.....आइये, उत्तर दिशा के मंदिर में अंदर चलें। भगवान्

के चरणों में नमस्कार करें। इन सुदर्शनमेरु के सोलह चैत्यालयों की वंदना हो गई है।

यहां ईशान दिशा में पांडुक शिला है। यह अर्धचन्द्राकार है। इसी पर हमारे भरतक्षेत्र के जन्मजात तीर्थंकर शिशु का अभिषेक होता है। १००८ कलशों द्वारा इंद्रादि देवगण मिलकर अभिषेक करते हैं। चारण ऋद्धिधारी मुनि भी आकाश में स्थित होकर अभिषेक देखते हैं.....मैं भी अभिषेक कर रहा हूं.....देखिये, बुद्धि से ही भगवान् का अभिषेक कर लीजिये। अब आग्नेय विदिशा में पांडुकंबला शिला दिख रही है। यहाँ पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। यह शिला भी देवों द्वारा पूज्य है। मुनिगण भी इसकी वंदना करते हैं। आप भी इस शिला को नमस्कार कीजिये। अब नैऋत्य कोण में आइये, यहाँ "रक्ता" नाम की शिला है। यह अर्धचन्द्राकार है और लाल वर्ण की है यहाँ पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर बालक का न्हवन होता है, इसे भी हाथ जोड़कर नमस्कार कीजिए आइये, अब वायव्य कोण की 'रक्तकंबला' शिला की ओर चलिये,नमस्कार कीजिये। इस शिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का अभिषेक होता है, इसे भी भक्ति से नमस्कार कीजिये।

इस समय आप इस भूमितल से निन्यानवे हजार योजन ऊपर पांडुकवन में खड़े हैं। इस तीन लोक में यह पर्वत सबसे ऊँचा है। इस पर्वत को बार-बार नमस्कार करें.....। अब धीरे से बुद्धि से एक क्षण में नीचे आ जाइये।

सुदर्शनमेरु की ईशानदिशा में 'माल्यवान' नाम का गजदंत पर्वत है। इस पर सुमेरु की तरफ एक अकृत्रिम जिनमंदिर है उसमें चलिये। वहां पर भी १०८ जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। इनकी सौम्य छवि अलौकिक है। हाथ जोड़कर नमस्कार कीजिये। आगे पूर्व दिशा में आ जाइये। आग्नेय विदिशा में महासौमनस गजदंत पर्वत है, इसके मंदिर की वंदना कीजिये, आगे बढ़िये.....नैऋत्य विदिशा में विद्युत्प्रभ गजदंत पर्वत है, उसके मंदिर में प्रवेश कीजिये और प्रतिमाओं को नमस्कार कीजिये। आगे और बढ़िये, वायव्य कोण में गंधमादन गजदंत पर्वत के मंदिर में आ जाइये, नमस्कार कीजिये, ये चार गजदंत पर्वत इस जंबूद्वीप में स्थित हैं।

अब आप सुदर्शनमेरु के उत्तर में उत्तरकुरु भोगभूमि में थोड़ी देर के लिए आ जाइये।..... देखिये, एक बहुत बड़ा जामुन का वृक्ष है, यह पृथ्वीकायिक है, रत्नों से निर्मित है, अनादिनिधन है, इसमें जामुन फल लटक रहे हैं.....। इसके उत्तर की शाखा पर बहुत बड़ा मंदिर बना हुआ है, उसमें भी १०८ जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। दर्शन कीजिये, वंदन कीजिये.....। वहां से बाहर आकर सुदर्शनमेरु के दक्षिण में देवकुरु भोगभूमि में आ जाइये, यहां शाल्मलि वृक्ष है, इसे हिन्दी में सेंमल का वृक्ष कहते हैं। इसके पत्ते सात-सात मिले हुए हैं, फूल-फल लगे हुए हैं। इन फलों से सेंमल की रुई निकलती है। यह भी पृथ्वीकायिक रत्नमयी है। इसकी दक्षिण दिशा की शाखा पर एक मंदिर है। इसमें प्रवेश करिये, भगवान के दर्शन हो रहे हैं.....नमस्कार कीजिये।

अब मैं विस्तार में आपको न ले जाकर संक्षेप से दर्शन कराऊँगी।

इसी तरह इस जंबूद्वीप में सोलह वक्षार पर्वत हैं, चौंतीस विजयार्ध पर्वत हैं, छह कुलाचल हैं, सब मिलाकर अकृत्रिम जिनमंदिर ७८ हैं। इस जंबूद्वीप को चारों ओर से घेरकर लवण समुद्र है। इसके बाद धातकीखण्ड द्वीप है। इसमें दक्षिण-उत्तर में एक-एक इष्वाकार पर्वत होने से धातकीखण्ड के पूर्वधातकी और पश्चिमधातकी ये दो भेद हो गये हैं। इनमें से पूर्वधातकी में ठीक बीच में 'विजय' नाम से मेरु पर्वत है। वहाँ भी जम्बूद्वीप के समान ७८ जिनमंदिर हैं। ऐसे ही पश्चिम धातकी में 'अचल' नाम से मेरुपर्वत है, वहाँ भी ७८ जिनमंदिर हैं, इस प्रकार यहाँ धातकी खण्ड द्वीप में (इष्वाकार २+७८+७८=१५८) कुल एक सौ अट्ठावन मंदिर हैं।

इस धातकी खण्ड द्वीप को घेरकर कालोदधि समुद्र है। इसके बाद पुष्कर द्वीप है। इसके ठीक बीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। इसके आगे मनुष्य नहीं जाते हैं। इस पुष्करार्ध के इधर में भी

पूर्व में 'मन्दरमेरु' और पश्चिम में 'विद्युन्माली मेरु' हैं। इस द्वीप में भी दोनों तरफ के जिनमंदिर १५८ ही हैं।

पुनः मानुषोत्तर पर आ जाइये, यहाँ पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में एक-एक जिनमंदिर है।

अब आप को चाहे आकाशगामी विद्या हो, चाहे चारण ऋद्धि, आगे नहीं जा सकेंगे अतः मात्र बुद्धि से ही चलिये। आठवां नन्दीश्वर द्वीप है, वहाँ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर में चारों तरफ तेरह-तेरह जिनमंदिर हैं। इन सबको हाथ जोड़कर नमस्कार कीजिये पुनः आगे ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीप में चूड़ी के आकार पड़े हुए कुण्डलपर्वत पर चारों दिशा के जिनमंदिरों की वंदना कीजिये।

इसके आगे तेरहवें रुचकवर द्वीप में चूड़ी के सदृश रुचकवर पर्वत के ऊपर बने हुए चारों दिशाओं के चार जिनमंदिरों को, उनमें विराजमान प्रतिमाओं को, हाथ जोड़कर नमस्कार कीजिये।

इस प्रकार इस मध्यलोक में ७८+१५८+१५८+४+५२+४+४=४५८ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। इन सबमें १०८-१०८ जिन प्रतिमाएँ हैं। उन सबको मेरा मन, वचन और काय से बारम्बार नमस्कार होवे।

अब आप लोग आँख खोलें और सामने विराजमान रत्नों की जिनप्रतिमाओं के दर्शन करके, हाथ जोड़कर इन्हें नमस्कार करें।

इस प्रकार मध्यलोक के चैत्यालयों की वंदना कराकर, मैंने अपना उपदेश पूर्ण किया। उस समय उन लोगों को इतना आनंद आया कि सब लोग भक्ति में विभोर होते हुए, गद्‌गद वाणी से जय-जयकारा करने लगे।

"बोलिये, अकृत्रिम जिनमंदिरों की जय, जिनप्रतिमाओं की जय, आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज की जय, आर्यिका ज्ञानमती माताजी की जय!

इसके बाद श्रीमान सेठ चांदमल जी पाँड्या के मुख से निकला —

"माताजी! यह रचना इस पृथ्वीतल पर अवश्य बननी चाहिए.....।"

वहाँ से सुखद वार्तालाप करते हुए हम सभी लोग धर्मशाला में आ गये पुनः एक-दो दिन बाद मैंने वहाँ से विहार कर दिया और ये श्रावक लोग भी अपनी गाड़ियों से आगे की यात्रा के लिए प्रस्थान कर गये।

दक्षिण के अन्य तीर्थ —

कारकल — वहाँ से आकर कारकल में भगवान बाहुबलि की मूर्ति के दर्शन किये। यहाँ मूर्ति में कुछ काई-सी लग गई थी, देखकर बहुत दुःख हुआ कि इधर के जैन समाज को इस विषय में ध्यान देना चाहिए।

वेणूर में भी भगवान बाहुबलि के दर्शन किये।

यहाँ से विहार करते हुए कुंदकुंदाद्रि पर्वत के दर्शनार्थ वहाँ तलहटी में नीचे ठहरी। कुंदकुंदाद्रि एक छोटा-सा पर्वत है। इस पर चढ़कर ऊपर पहुँचे, वहाँ एक छोटा-सा मंदिर है, जिसमें श्री कुन्दकुन्ददेव के चरण विराजमान हैं, उनकी वंदना की। कहते हैं कि —

श्री कुंदकुंद ने यहीं इस मंदिर में बैठकर, अनेक ग्रंथ लिखे थे। यह स्थल देखकर मन में यह बात अवश्य आई कि —

"ये महान् आचार्य खुले जंगल में या खुले किसी भी स्थान में बैठकर ग्रंथ रचना नहीं कर सकते थे। कभी हवा, आंधी आ गई, कभी वर्षा आ गई तो ताड़ के पत्र उड़ जायें, फट जायें, कट जायें तो कैसा होगा? अतः यह निश्चित है कि उन्होंने इन ग्रंथों का लेखन मंदिर या गुफा आदि में बैठकर ही किया होगा.....।"

यहाँ पर कुंदकुंददेव के इतिहास को स्मरण करते हुए -दो तीन दिन तक मैं रही। अनन्तर आगे विहार कर दिया।

हुम्मच —

कई दिनों पूर्व हुम्मच के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति जी मार्ग में आकर मेरी व्यवस्था बना रहे थे। इनकी भी

भक्ति भावना बहुत अच्छी थी। मेरे हुम्मच के प्रवेश में भट्टारक जी ने अच्छा स्वागत किया। यहाँ पर मैं ठहरी। भगवान का अभिषेक देखा, दर्शन किया और आहार किया।

इधर दो-तीन दिन तक मैं ठहरी। एक दिन भट्टारक जी ने सभा में बालकों का कार्यक्रम रखा, कई बालकों ने भाषण किया। कुछ बालक कन्नड़ भाषा में बोले, कुछ बालक मराठी में बोले, कुछ हिन्दी में बोले और कुछ बालक इंग्लिश में बोले-बहुत अच्छा लगा। इसके बाद मेरा आशीर्वाद प्रवचन हुआ मैंने भी कुछ हिन्दी में, कुछ कन्नड़ में, कुछ मराठी में और कुछ संस्कृत में उपदेश किया।

भट्टारक जी ने इसके बाद मेरे समक्ष तीन बालक खड़े किये और बताया कि मैंने इन्हें आगे श्रवणबेलगोल, मूडविद्री और हुम्मच इन तीन स्थानों के भट्टारक पद के योग्य निर्धारित किया है, आप इन्हें आशीर्वाद दीजिये। मैंने उनकी बुद्धि की तीक्ष्णता को देखते हुए कुछ प्रश्न किये, उन बालकों ने अच्छे उत्तर दिये, संतोष हुआ। ये तीनों भट्टारक बन चुके हैं।

धर्मस्थल क्षेत्र दर्शन —

इस कर्नाटक में 'धर्मस्थल' नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है। यद्यपि यह कोई 'तीर्थक्षेत्र' नहीं है फिर भी यहां वीरेंद्र जी हेगड़े ने सन् १९८२ में एक विशालकाय लगभग ४० फुट ऊँची भगवान् बाहुबलि की प्रतिमा विराजमान करके प्रतिष्ठा करायी है अतः अब तीर्थ अवश्य बन गया है। उस समय सन् १९६६ में वहाँ मैं संघ सहित पहुँची, तब श्रीमंदिर जी में ठहरी थी। यहां वीरेंद्र जी हेगड़े की माता मेरे पास आईं। मैं कुछ-कुछ कन्नड़ में बातचीत कर लेती थी अतः उनसे वार्तालाप हुआ पुनः वे अपने गृह चैत्यालय के दर्शनार्थ हम सभी को साथ ले गईं। वहाँ उनके चैत्यालय में एक चांदी का सहस्रदल कमल छोटा सा था। उस पर चन्द्रप्रभ जिनप्रतिमा विराजमान थी। दर्शन कर बड़ा अच्छा लगा। हेगड़े की माता की गुरुभक्ति और धर्मप्रभावना अच्छी लगी।

वहां की एक प्रसिद्धि यह है कि वहां मंजुनाथ का एक मंदिर है, जिसमें हर एक जाति के लोग खूब चढ़ावा चढ़ाते हैं, खूब मनौती करते हैं अतः यहाँ पैसे का अतुल भंडार भरा रहता है। यहां के धर्माधिकारी हेगड़े जी हमेशा सदावर्त करते हैं। "जहां भोजन बनता रहे और जो भी आवे भोजन करता रहे, कोई बंधन न हो, उसे सदावर्त कहते हैं।"

धर्मस्थल के इस सदावर्त की सन् १९५३-५४ में क्षुल्लिका विशालमती जी खूब प्रशंसा किया करती थीं। सो यहां आकर ऐसी सदावर्त परंपरा सुनकर मन बहुत प्रसन्न हुआ। वैसे हेगड़े परिवार जैन है, फिर भी इनके यहाँ यह 'मंजूनाथ' का मंदिर कैसे बना? और इनके परिवार में यह परंपरा कबसे रही है? देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

मैंने विचार किया —

"यह हुंडावसर्पिणी का ही दोष है कि जहाँ अन्य धर्मों के आश्रित स्थल इतने प्रभावशाली, आकर्षक और महान बन गये हैं। काश! यदि जैन धर्म के आश्रित आज कुछ ऐसे चमत्कार हों, ऐसे प्रभावशाली क्षेत्र हों और ऐसी सदावर्त की परंपरा चले, तो कितना अच्छा हो.....।"

इन्हीं भावनाओं को भाते हुए एक-दो दिन मैं वहां ठहरी पुनः विहार कर दिया।

सहस्रफणा पार्श्वनाथ —

इधर से विहार करते हुए बीजापुर आ गई। यहाँ से निकट में बाबानगर पहुँची। वहां भगवान पार्श्वनाथ की सहस्रफणा मूर्ति के दर्शन कर बहुत ही प्रसन्नता हुई। यह मूर्ति भी अतिशय प्राचीन है।

वर्षा से कठिनाई —

इधर एक दिन छोटे गाँव में रात्रि में विश्राम था। वहाँ जैन के घर नहीं थे। वर्षा बहुत हो चुकी थी। कुंआ

कुछ दूर था। मार्ग में मिट्टी काली थी, चिकनी थी तथा गीली होने से फिसलन हो गई अतः ब्र. सुगनचंद जी आदि पानी भरने गये। वे लोग चिकनी मिट्टी में बहुत परेशान हुए। इन लोगों ने मुझे तो कुछ बताया नहीं बल्कि ब्र. जी ने संघ में पत्र डाल दिया।

उधर संघ में मुनिश्री अजितसागर जी ने पत्र पढ़ा, उन्हें लगा कि माताजी को इधर विहार में बहुत कष्ट हो रहा है अतः वे कुछ क्षण के लिए चिंतित हो उठे और अकस्मात् उनके मुख से कुछ शब्द निकल पड़े —

"ओह! आज..... इस समय मैं अपनी मां की कुछ भी....व्यवस्था आदि नहीं कर सकता हूँ.....।"

उसी क्षण पास बैठे हुए एक मुनिश्री ने इसका कारण पूछा, तब उन्होंने ब्र. सुगनचंद के पत्र का समाचार बताकर दुःख व्यक्त किया।

यह बात मुझे जब मालूम पड़ी तब बहुत ही आश्चर्य हुआ।

यहाँ से आगे विहार कर मैं सोलापुर आ गई।

£ ४९ ¤

सोलापुर में चातुर्मास —

यहाँ सोलापुर के प्रमुख श्रेष्ठीवर्ग एवं ब्र. सुमतिबाई जी आदि सामने लेने के लिए आये। सबसे पहले सोलापुर के श्राविका आश्रम में मंदिर के दर्शन किये और ब्र. सुमतिबाई जी के विशेष आग्रह से मैं संघ सहित यहीं ठहर गई। वैसे कुछ दिन विश्राम कर यहाँ से विहार करने का विचार था किंतु ब्र. सुमतिबाई जी के विशेष आग्रह से यहाँ से विहार की व्यवस्था समाप्त कर दी गई अब मैं यहीं रुक गई।

यहाँ पर आश्रम में प्रातः अध्यात्म ग्रंथ—समयसार का स्वाध्याय चलता था। मध्यान्ह में उपदेश होता था।

इधर आचार्यश्री विमलसागर जी का संघ सहित आगमन था। शहर के लोग एवं आश्रम की महिलाओं ने आचार्य संघ का स्वागत किया पुनः कुछ दिन रहकर संघ कुंथलगिरि की ओर विहार कर गया। विहार के समय आचार्यश्री से मैंने कहा —

"महाराज जी! आप यह चातुर्मास यहाँ सोलापुर में कर लीजिये।"

महाराज ने कहा—"देखा जायेगा, यहाँ के लोगों की भाव-भक्ति पर निर्भर है।"

तब मैंने यहाँ सोलापुर के प्रतिष्ठित लोगों को आग्रहपूर्वक कुंथलगिरि भेजा। ये लोग जा-जाकर प्रार्थना करते रहे पुनः आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी, जिससे यहाँ शहर में हर्ष का वातावरण हो गया।

इसके पहले मैंने औरंगाबाद की तरफ विहार करने का विचार किया था। स्वप्न में भी मैंने नहीं सोचा था कि अभी वैशाख से ही मैं सात-आठ महीने यहाँ रहूँ किन्तु ब्रह्मचारिणी सुमतिबाई आदि के अत्यधिक आग्रह से हमारे संघ की आर्यिकाओं के भाव भी यहाँ रहने के बन गये। आखिर में मेरे भी भाव हो गये और मैंने यहाँ रहना स्वीकार कर लिया। अब मुझे यहाँ सोलापुर रहने के लिए स्वीकृति देनी पड़ी।

यहाँ के लोगों को एक साथ दो संघ के चातुर्मास का योग मिलने से बहुत खुशी आई। आचार्य संघ का पुनः यहाँ पदार्पण हुआ। आचार्य संघ शहर में ठहरा और मैं अपने आर्यिका संघ सहित आश्रम में ठहरी।

स्वाध्याय विशेष —

यहाँ प्रातः मैं लब्धिसार का स्वाध्याय चलाती, जिसमें ब्र. सुमतिबाई, ब्र. विद्युल्लता आदि बैठती थीं। बहुत ही आनन्द आता था। सूक्ष्म चर्चायें होती रहती थीं। ब्र. सुमतिबाई जी खूब रुचि से चर्चा में भाग लेती थीं पुनः ८ बजे से समयसार या परमात्मप्रकाश पर प्रवचन चलता था। इसमें भी ये दोनों ब्रह्मचारिणी बैठती थीं।

बाद में दिन भर ब्र. सुमतिबाई इसे ही रटा करती थीं और कहा करती थीं —

"माताजी! आपने आर्यिका जिनमती आदि को खूब पढ़ाकर बुद्धिमती बनाया है, आपने बहुत अच्छा अभ्यास कराया है.....।"

उनकी गुणग्राहकता देखकर हृदय वात्सल्य से भर जाता था। आज भी जब मैं उनके धर्म-प्रेम का स्मरण करती हूँ तो मन में यही विचार आता है कि—"इतने बड़े आश्रम की संचालिका होकर इतनी, गुरुभक्ति और गुणग्राहकता जो उनमें है, वह उनके बड़प्पन का सूचक है।"

मध्यान्ह में त्रिलोकसार श्लोकवार्तिक का स्वाध्याय चलता था पुनः उपदेश होता था। चर्चाएँ तो दिन में कई बार अच्छी तरह चलती रहती थीं।

चातुर्मास स्थापना —

शहर के लोगों के आग्रह से वह मंगल घड़ी आ गई। आषाढ़ शुक्ला चौदश की रात्रि में शहर में आचार्य संघ ने और आश्रम में मैंने, अनेक भक्तों के मध्य चातुर्मास स्थापना की। इसके पूर्व यहाँ सोलापुर में खूब वर्षा हो रही थी। अब चातुर्मास में भी स्वाध्याय, उपदेश और अध्ययन-अध्यापन चल रहा था।

प्रशिक्षण शिविर —

यहाँ आश्रम की अध्यापिकाएँ लगभग साठ थीं, उसमें जैन महिलाएँ लगभग चालीस थीं। इन सबके लिए जब मैंने धर्म पढ़ने की प्रेरणा दी, तब उन सभी ने कहा कि-

आप कुछ अध्ययन करा दीजिये। तब मैंने इन अध्यापिकाओं को द्रव्यसंग्रह के अध्ययन कराने का निर्णय लिया और आर्यिका जिनमती जी से अध्यापन कराया। मध्यान्ह में शहर की महिलाओं को भी द्रव्यसंग्रह का शिक्षण दिया गया। इसके बाद मैंने संस्कृत की सामायिक विधिवत् मध्यान्ह में महिलाओं को सिखायी। इस शिक्षण कक्षा में महिलायें धूप में, वर्षा में, शहर से दौड़ी चली आती थीं। इनके नन्हें-नन्हें बालक यहाँ मांटेसरी में पढ़ते थे, वे अपनी-अपनी माताओं को देखते ही जोर-जोर से बोलते-वे मराठी में बोलते थे-

"माझी मम्मी शिकायला आली—मेरी मम्मी पढ़ने आई।"

उस समय बच्चे खूब खुश होते, तब बड़ा आनन्द आता था। यहाँ की महिलाएँ विद्याध्ययन करने में संकोच नहीं करती थीं।

सम्मेदशिखर मॉडल जुलूस —

श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन, दोनों समाज का सम्मेदशिखर पर्वत के लिए झगड़ा चलता ही रहा था। उधर कुछ दिनों से एकपक्षीय कुछ निर्णय हो गये थे, जिससे दिगम्बर जैन लोग न्यायालय से न्याय की मांग कर रहे थे। उस समय दिगम्बरों को भी कुछ अधिकार मिले थे अतः लोगों में खूब हर्षोल्लास था। यहाँ सोलापुर में मोतीचंद, रेवचंद, गाँधी ने सम्मेदशिखर का एक मॉडल बनवाकर घर में रखा था। मेरी प्रेरणा से श्रावण शुक्ला सप्तमी—भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष कल्याणक के दिन उस मॉडल को खुली जीप में रखकर जुलूस निकाला गया। उसमें एक छोटी सी जिनप्रतिमा जी भी विराजमान कर दी गई थीं। आचार्य संघ एवं हम सब को भी जुलूस में साथ ले गये। तीर्थराज सम्मेदशिखर और भगवान पार्श्वनाथ की जयकार से आकाश मंडल गूँज रहा था। धर्म के प्रति लोगों का प्रेम और उत्साह देखकर, मन प्रसन्नता से भर गया था।

जन्मजयन्ती समारोह —

आश्विन कृष्णा सप्तमी को आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज का जन्म जयंती समारोह मनाया जाने वाला था। मेरी प्रेरणा से श्रावकों ने रथयात्रा का भी आयोजन कर लिया, जिसमें दोनों संघ के साधु-साध्वी भी चल रहे थे और आचार्यश्री भी सम्मिलित थे। उस दिन अच्छे समारोह से आचार्यश्री का जन्मजयंती समारोह सम्पन्न हुआ। यहाँ महिलाओं ने तखत पर रंगोली से आचार्यश्री का चित्र बनाया था। कई महिलाओं

ने थाल में शक्कर की चासनी जमाकर, उसमें सम्मेदशिखर आदि चित्र उकेर कर रंग भर दिये थे, जो मनोरम दिख रहे थे। आचार्यश्री के शतायु की कामना भी की गई थी।

शरद पूर्णिमा —

शरद पूर्णिमा आने वाली थी। ब्र. सुमतिबाई जी मेरी जन्मजयंती मनाना चाहती थीं। इससे पूर्व अभी तक नहीं मनायी गई थी। मैंने सख्ती से मना कर दिया। उन्होंने जाकर आचार्यश्री के पास चर्चा की। महाराज जी ने कहा—

"अच्छे समारोह से जयंती मनाओ, माताजी को मना करने दो, मैं आऊँगा।"

ब्र. सुमतिबाई जी का उत्साह बढ़ गया अतः उन्होंने विशेष रूप में प्रचार करके कार्यक्रम बना लिया। आचार्यश्री संघ सहित आकर सभा में विराज गये। मुझे भी जाकर सभा में बैठना पड़ा। सभी ने अच्छे उद्‌गार व्यक्त किये। जिनमती जी तो अपने अनुभव कहते हुए रो पड़ीं, बोलीं—

"अम्मा ने हमें ज्ञानरूपी अमृत से पाला है.....।"

ब्र. सुमतिबाई ने मेरे ज्ञान और चारित्र की प्रशंसा की, अंत में मैंने अपनी लघुता प्रगट करते हुए बतलाया कि—"यह शरद पूर्णिमा मेरा त्याग दिवस भी है। इसी दिन मैंने १८ वर्ष की आयु को पूर्ण कर आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया था और आचार्य श्री देशभूषण जी के सानिध्य में गृहत्याग किया था, इसलिए यह दिवस मेरे लिए महान् है.....।" पुनः मैंने आचार्यश्री के चरणों में वंदन करते हुए उपस्थित जनसमूह को आशीर्वाद दिया। इस प्रकार अच्छे उत्साह में श्राविकाश्रम के प्रांगण में यह समारोह संपन्न हुआ था पुनः उसके बाद कई वर्षों तक मैंने अपनी जन्म जयंती नहीं मनाने दी थी।

यहाँ दिल्ली में सन् १९८० में मेरे निषेध करने पर भी पुनः जन्म जयंती मनायी गई।

उभय संघ में आहारदान —

ब्र. सुमतिबाई प्रातः ९ बजे शहर में जाकर आचार्यश्री विमलसागर जी को, उनके पास में पड़गाये गये अन्य साधुओं को आहार देकर आ जाती थीं पुनः गाड़ी से शीघ्र ही आकर, वस्त्र बदलकर मुझे भी आहार दे लेती थीं। उधर महाराज जी ९ बजे आहार को उठते थे और इधर मैं १० बजे के बाद आहार को उठती थी अतः ये प्रायः दोनों तरफ आहारदान का लाभ ले लेती थीं।

इनकी भक्ति बहुत विशेष थी। प्रायः रात्रि में ये मेरे पास बैठकर पैर दबाना, मालिश करना, आदि वैयावृत्य करने लगती थीं। तब आश्रम की बालिकाएँ आकर बैठ जातीं और कहने लगतीं—"भून! आप छोड़िये, मैं वैयावृत्ति करुँगी।"

किन्तु ये स्वयं अपने हाथ से वैयावृत्ति करके बहुत खुश होती थीं। तब बालिकाओं को बहुत आश्चर्य होता था और वैयावृत्ति की प्रेरणा भी मिलती थी। वे आपस में चर्चा करतीं—

"देखो! गुरुओं की वैयावृत्ति करना बड़ा गुण है, तभी तो भून (बुआजी) स्वयं अपने हाथों से माताजी की वैयावृत्ति करती हैं।"

यहां अभयमती को दौरे का प्रकोप बढ़ा हुआ था। उस समय ब्र. सुमतिबाई उनकी भी हर एक परिचर्या करती-कराती रहती थीं। उनका साधु-साध्वियों के प्रति वात्सल्य बहुत अच्छा था।

दिव्य अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन —

चातुर्मास के पूर्व गर्मी के दिनों में ही ब्र. सुमतिबाई की प्रेरणा से मैंने एक दिन मध्यान्ह के उपदेश में सभी को अकृत्रिम चैत्यालय के दर्शन कराये। मैंने कहा-

"आप लोग पद्मासन या सुखासन से बैठ जाइये, आँख बंद कर लीजिये। मैं आप लोगों को जंबूद्वीप के सुमेरु पर्वत से लेकर ४५८ चैत्यालयों के दर्शन कराऊँगी।"

पुनः मैंने दर्शन कराना प्रारंभ किया—

आप सबसे पहले सुदर्शन मेरु पर्वत देखिये। इसमें तीन कटनी हैं, उनमें नंदनवन, सौमनसवन, पांडुकवन हैं। पृथ्वी पर भद्रसाल वन है। इन चारों वनों में, चारों दिशाओं में एक-एक अकृत्रिम जिनमंदिर हैं, उन सबमें १०८-१०८ अकृत्रिम जिन प्रतिमायें हैं। ये प्रतिमाएँ ५०० धनुष ऊँची हैं, पद्मासन विराजमान हैं, नासाग्र दृष्टि और प्रहसितायमान (मन्द-मन्द मुस्कान सहित) मुख हैं। प्रत्येक मंदिर में क्रम से ले जाकर मैंने वंदना कराई, पुनः क्रम-क्रम से गजदंत आदि के मंदिरों के दर्शन कराये। पूर्व में जैसे मैंने मूड़विद्री में रत्नों की प्रतिमा के दर्शन के समय लोगों को दर्शन कराये थे, वैसे ही लगभग डेढ़ घंटे तक धाराप्रवाह बोल-बोलकर दर्शन कराती गई। ब्र. सुमतिबाई, ब्र. विद्युल्लताबाई आदि ने सभा में नेत्र बंदकर बैठे-बैठे भावों से दर्शन किये। आँख खोलने के बाद इन लोगों की आँखों में आनन्द के आँसू आ गये। सभी ने गद्‌गद होकर एक स्वर से जयकारा किया। अनंतर ब्र. सुमतिबाई ने कहा—"माताजी! यह रचना पृथ्वी पर बननी ही चाहिए। आज जैसे कहीं-कहीं समवसरण की रचनाएँ हैं, कहीं-कहीं नन्दीश्वर द्वीप की रचनाएँ बनी हैं, वैसे ही यह मध्यलोक (तेरह द्वीप) की रचना बनवानी ही चाहिए।"

अब ब्र. सुमतिबाई जी को यह धुन चढ़ गई कि इस रचना को यहीं बनवाना है। उन्होंने कहा—

"माताजी! यहीं आश्रम से लगी हुई बाहर मैंने एक जगह खरीदी है। वह एक खुला स्थान है, (जो कि वहीं आश्रम के मंदिर में बैठे हुए दिखता था) इसी में यह रचना बनवाना है। बस आप यहीं रहिये, नक्शा बताते जाइये, मैं यह काम कराऊँगी। आपको किसी से द्रव्य की—पैसे की याचना नहीं करनी पड़ेगी। मात्र आपको नक्शा बताना रहेगा। बस, अब आप यहीं विराजिए.....।" मैं उनके इन शब्दों को सुनकर मुस्करा देती थी। लेकिन स्वीकृति नहीं देती थी। वे उपर्युक्त शब्दों को दोहराया ही करती थीं। एक बार उन्होंने कोई एक अच्छे इंजीनियर बुलाये और मेरे पास चर्चा करने के लिए बिठा दिया। मैंने मध्यलोक के जंबूद्वीप से लेकर रुचकवर द्वीप तक, जहाँ तक की अकृत्रिम चैत्यालय है, वहाँ तक का वर्णन सुना दिया। तब उसने कहा—

"माताजी! आप आर्चीटेक्ट को अपना अभिप्राय बताकर नक्शा बनवा दीजिये।"

आर्चीटेक्ट आया, उसको भी मैंने अपना शास्त्र के आधार से विस्तार से सब कुछ सुना दिया। वह भी सुनकर चक्कर खाने लगा.....पुनः बोला—"माताजी! आप इस रचना को कितने फुट जमीन में बनवाना चाहती हैं? और कौन-कौन सा द्वीप कितने फुट हो?.....इत्यादि विस्तार से बताइये.....।"

मैंने कहा—

"ठीक है, अब मैंने कम से कम १०००×१००० फुट में रचना को लेना चाहा और उसमें इस मध्यलोक के तेरह द्वीप को विभाजित कर दिया। वह ऐसा था—

पहले गोल थाली के आकार वाले जम्बूद्वीप को सौ (१००) फुट में लेना है पुनः उसे घेरकर लवण समुद्र को पचीस (२५) फुट में लेना है, उसके बाद उसे चारों ओर से घेरकर धातकी खंड को सौ (१००) फुट में लेना है। उसे घेरकर कालोदधि समुद्र को भी पचीस फुट लेना है। इसके बाद पुष्करार्ध द्वीप को सौ (१००) फुट में लेना है पश्चात् चूड़ी के समान मानुषोत्तर पर्वत को पाँच (५) फुट में लेना है। अनंतर के पुष्करार्ध के लिए दस (१०) फुट देना है। अनंतर पुष्कर समुद्र से लेकर सातवें द्वीप समुद्र के लिए दो-दो (२-२) फुट की जगह देनी है। इसके मध्य जो पाँचवा क्षीर समुद्र है उसे दस फुट में लेना है।

नंदीश्वर द्वीप को सौ (१००) फुट में लेना है पुनः एक-एक फुट का अन्तर देकर ग्यारहवाँ कुंडलवर द्वीप पन्द्रह फुट का लेकर, उसके ठीक बीच में चूड़ी के समान पाँच फुट का कुंडल पर्वत लेना है। ऐसे ही एक-एक फुट के ग्यारहवां समुद्र, बारहवां द्वीप, बारहवां समुद्र लेकर पन्द्रह (१५) फुट का रुचकवर द्वीप

लेना है। इसके ठीक बीच में चूड़ी के समान आकार वाला पाँच फुट का रुचकवर पर्वत देना है पुनः कुछ एक-दो द्वीप समुद्रों के लिए एक-एक फुट की जगह देकर अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र को पचीस फुट का रखना है। इस प्रकार जंबूद्वीप के बाहर प्रत्येक द्वीप समुद्र एक-दूसरे को घेरे हुए हैं।

पुनः जम्बूद्वीप का प्रमाण, उसमें बीचों-बीच में स्थित सुदर्शन मेरु का प्रमाण, हिमवान आदि पर्वतों के प्रमाण और भरत क्षेत्र आदि क्षेत्रों के प्रमाण निश्चित किये।

इसी प्रकार इस जंबूद्वीप के अंतर्गत चौदह नदियों का प्रमाण, विदेह क्षेत्र में स्थित सोलह वक्षार के प्रमाण, बारह विभंगा नदियाँ और बत्तीस विदेह देशों के प्रमाण, उनमें बहने वाली गंगा-सिन्धु तथा रक्ता-रक्तोदा ऐसी चौंसठ नदियों के प्रमाण भी फुट और इंच में निर्धारित किये तथा चौंतीस विजयार्ध पर्वत, उनकी कटनी आदि का भी प्रमाण निश्चित किया। दो वृषभाचल और चार नाभिगिरि का भी प्रमाण निश्चित किया। इस प्रकार मैंने जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वतादि, धातकीखंड, पुष्करार्ध के, नंदीश्वर द्वीप के पर्वत आदि के माप निर्धारित कर-करके कापी में लिख लिए थे।

उसी प्रकार से मैं अपने चिंतवन में इस तेरह द्वीप की रचना को बनाकर, उनमें चार सौ अट्ठावन चैत्यालय बनाकर, चिंतवन में ही दर्शन किया करती थी।

जम्बूद्वीप —

मैं जब ब्र. सुमतिबाई जी को तथा आर्कीटेक्ट आदि को यह उपर्युक्त विस्तार बताती तब इन सभी को यह बहुत बड़ा मालूम पड़ता था अतः ब्र. सुमतिबाई ने यह कहना शुरू किया कि—

"माताजी! आप तो मात्र जम्बूद्वीप की ही रूपेरखा बनाइये, यही शक्य होगा किन्तु मैं उस समय यही सोचती थी कि—

"रचना बने तो पूरी ही बने, न कि मात्र जम्बूद्वीप....।"

वहाँ पर ब्र. सुमतिबाई के साथ ही अनेक महानुभावों ने भी आग्रह किया कि—

"माताजी! आप स्वीकृति दीजिये, हम लोग कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र पर यह जम्बूद्वीप रचना बनवाएँ.....।"

लेकिर मैंने स्वीकृति नहीं दी और न उस समय वहाँ रहना ही मंजूर किया। यद्यपि मुझे वह प्रांत अच्छा लगा था और जैसा कि मैंने कभी सोचा था कि—

हर एक प्रांत में घूमकर-विहार कर, अपने अनुकूल, अपनी सल्लेखना के अनुकूल, प्रांत चयन कर लेना चाहिए। उस दृष्टि से भी हमें यह प्रांत बहुत ही जंचा था। धर्मध्यान की अनुकूलता, भक्तों की अनुकूलता, पंथ की अनुकूलता, साथ ही जलवायु की भी अनुकूलता थी। फिर भी मेरी शिष्या आर्यिका जिनमती ने श्रवण बेलगोल में अलग विहार करने की बात कही थी। उस समय मुझे मानसिक अशांति बहुत हुई थी। इसमें शायद उनके प्रति होने वाला मेरा शिष्यमोह ही मूल कारण था। इसके साथ मेरी यह भी प्रबल भावना रही है कि—

इस पंचम काल में कोई साधु एकाकी विचरण न करे, चूंकि श्री कुंदकुंद देव की आज्ञा नहीं है। वे कहते हैं-'मा भूद मे सत्तु एगागी।' मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे।"

अतः मैं इन्हें संघ में लाकर छोड़ना ही चाहती थी। इसके साथ आचार्य संघ के प्रति भी मेरा इतना अनुराग और अपनत्व था कि मैं आचार्य संघ में ही रहना चाहती थी। इन्हीं अनेक कारणों से मैंने ब्र. सुमतीबाई की बात नहीं मानी, सुनी-अनसुनी करती गई और अंत में वहां से विहार का निर्णय बना लिया।

अथवा अब यह भी कहना पड़ता है कि—

"इस जंबूद्वीप रचना का योग यहाँ हस्तिनापुर में ही बनने का था, तो भला वहाँ मेरे रहने के भाव कैसे होते?"

जगह-जगह उपदेश —

ब्र. सुमतिबाई जी और ब्र. विद्युल्लताजी को जगह-जगह मेरे उपदेश कराने की बहुत रुचि थी। कभी आश्रम में हाईस्कूल की छात्राओं के मध्य उपदेश करातीं, कभी जैनबोर्डिंग में नवयुवक छात्रों के लिए मेरा उपदेश होता, कभी आश्रम में छात्राओं के लिए उपदेश होता, कभी गुरुकुल के छोटे-छोटे बालकों के लिए उपदेश देती और कभी सार्वजनिक सभा में उपदेश कराया जाता।

मेरे उपदेश के प्रारंभ में या अनन्तर ब्र. विद्युल्लता भी गुरुभक्ति में बहुत अच्छा बोलती थीं चूंकि आचार्य शिवसागर जी के संघ में आकर ये मेरे पास धर्म ग्रंथों का अध्ययन भी कर चुकी थीं। इनकी मां ब्र. माणिकबाई, जो कि आर्यिका चन्द्रमती थीं, वे संघ में मेरे सानिध्य में ही रहती थीं अतः इनका मेरे प्रति विशेष प्रेम था।

पं. वर्धमान जी शास्त्री भी मेरे उपदेश के प्रारंभ में मंगलाचरण रूप में बोलते थे। तब वे मेरी प्रशंसा में बोलते-बोलते उछलने लगते थे। वे कहते थे कि—"हम लोग यद्यपि शास्त्री हैं विद्यावाचस्पति हैं फिर भी राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों में कहाँ क्या लिखा है? यह समझने के लिए मैं भी माताजी के पास पहुँचता हूँ। कोई भी कैसी शंका क्यों न हो, माताजी शास्त्र का प्रमाण दिखाकर समाधान दे देती हैं.....।" इत्यादि रूप से बहुत ही गुणगान किया करते थे और कई बार कहते थे कि—"मैं जब माताजी के पास पहुँचता हूँ, तो मुझे लगता है कि मैं अपनी मां के पास ही आ गया हूँ।"

उनके द्वारा की गई प्रशंसा सुनकर मैं सोचा करती थी कि—"मेरे में जो कुछ भी शास्त्रज्ञान है, वह केवल संयम-साधना का ही फल है। पं. वर्धमान शास्त्री, जो मेरा गुणगान विशेष करते हैं वह केवल उनकी गुरुभक्ति का ही सूचक है।" मैंने कई प्रसंगों में अनुभव किया था कि—

इन पंडित जी की आर्ष परम्परा में अच्छी श्रद्धा थी, यही कारण था कि सन् १९७५ में हस्तिनापुर की प्रतिष्ठा में मेरी विशेष प्रेरणा से सेठ सुकुमार चंद मेरठ वालों ने इन्हें ही प्रतिष्ठाचार्य बनाया था, तब यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर विराजमान भगवान महावीर की सवा नौ फुट ऊँची प्रतिमा की प्रतिष्ठा का श्रेय इन्हें ही मिला था।

इनकी धर्मपत्नी मदनमंजरी प्रायः रोज घर से एक मील करीब पैदल चलकर आतीं और आश्रम में मुझे आहार देती थीं। इनकी मेरे प्रति बहुत भक्ति थी। पंडित जी ने भी मेरी प्रेरणा से आचार्यश्री से दो प्रतिमा के व्रत ले लिये थे।

ब्र. सुमतिबाई की विशेष इच्छा से एक बार मैंने संस्कृत में भी प्रवचन किया था। ये मेरे संस्कृत, न्याय, व्याकरण, छंद, सिद्धांत, भूगोल आदि के ज्ञान से बहुत ही खुश रहती थीं। इनमें ईर्ष्या, मत्सरता नहीं थी। ये बहुत ही गुरुभक्त महिलारत्न हैं।

उषावंदना आदि —

यहाँ मैंने 'त्रैलोक्य वंदना' 'सम्मेदशिखर वंदना' स्तुतियाँ संस्कृत में बनायी थीं पुनः अनेक भक्तों की प्रेरणा से उन्हें हिन्दी पद्य में भी कर दिया था।

यहाँ मराठी भाषा में प्रातः बालिकाएँ प्रभाती स्तोत्र बोला करती थीं। कन्नड़ भाषा में भी एक प्रभाती थी जिसे कि मैं क्षुल्लिका अवस्था से ही बोला करती थी-

'एलु भव्य! वेलगायतु' उठो भव्य प्रभात हो गया। बचपन में मेरी माँ भी एक प्रभाती हिन्दी में बोला करती थीं—

'उठ भोर भयो भज जिनवर को, तुम काहे सयाने सोवत हो।'

अतः मेरे मन में एक सुन्दर प्रभाती वंदना बनाने की इच्छा जाग्रत हुई, चूँकि उत्तर प्रांत में प्रातः प्रभाती वंदना

की परंपरा प्रायः न के बराबर है। इसलिए मैंने निर्वाण-कांड को लेकर प्रभाती बनायी, जिसका नाम 'उषावंदना' रखा, दिन उगने के पूर्व उषा काल में करने वाली वंदना उषावंदना है। वह बहुत ही सुन्दर बन गई—

'उठो भव्य! खिल रही है उषा, तीर्थवंदना स्तवन करो।
आर्त रौद्र दुर्ध्यान छोड़कर, श्रीजिनवर का ध्यान करो।।
अष्टापद से वृषभदेव जिन, वासुपूज्य चंपापुरि से।
ऊर्जयंत से श्री नेमीश्वर, मुक्ति गये वंदो रुचि से।।

आज भी सोलापुर आश्रम में यह वंदना प्रातः काल में बोली जाती है। सन् १९७२ में दिल्ली में ब्र. मोतीचंद ने इस वंदना की रेकार्डिंग करायी थी। तब वह घर-घर में बजती थी। अभी भी कहीं-कहीं उसकी मधुर ध्वनि सुनने में आती रहती है। कई एक दिल्ली के महानुभाव बहुत बार कहा करते हैं कि—

"माताजी! मैं अपने घर में यह उषा वंदना का रिकार्ड अवश्य बजाता हूँ। मुझे यह वंदना बहुत ही प्रिय है।"

वहीं सोलापुर में मैं 'चन्द्रप्रभु' स्तुति संस्कृत में बना रही थी। ब्र. सुमतीबाई बोलीं—

"माताजी! श्री समंतभद्रस्वामी ने तो न्याय में ही स्तुति रचना कर दी है। आपका ज्ञान न्याय के विषय में विशेष है अतः आपको भी अपनी रचनाओं में न्याय के अंश लाना चाहिए।"

बस फिर क्या था, मैंने भी चन्द्रप्रभ स्तुति में सृष्टिकर्तृत्व खण्डन, सांख्य मत खण्डन आदि विषय में ले लिये। जैसे कि—

शिखरिणी छन्द—**शरीरी प्रत्येकं भवति भुवि वेधा स्वकृतितः।**
विधत्ते नानाभूपवनजलवन्हिद्रुमतनुम् ।।
त्रसो भूत्वा भूत्वा कथमपि विधायात्र कुशलं।
स्वयं स्वस्मिन्नास्ते भवति कृतकृत्यः शिवमयः।।१८।।

पृथ्वीछन्द— **विचित्रभुवनत्रयं यदि कदाचिदीशः सृजेत् ।**
जगद्धि सकलं शुभं निखिलदोषशून्यं न किं।।
निगोदनरकादिदुर्गतिकृतिश्च दुष्टाय चेत् ।
कथं पुनरधर्मिणां विहितसृष्टिरन्यायिनी[१]।।१९।।

इन स्तुति रचना के समय में मेरा उपयोग हर समय प्रायः चिंतन में लगा रहता था। एक बार मैं नीचे उतरी। पीछे बाजू में दीर्घशंका के लिए जाना था। चिंतन के उपयोग में कुछ भान ही नहीं रहा और मैं आश्रम के बाहर निकल गई। सामने धर्मशाला की ओर उधर जाते हुए अकस्मात् बाईयाँ दौड़ीं और बोलीं—

"माताजी! आप कहाँ जा रही हैं?"

मैं झेंपकर वापस आ गईं। कमंडलु हाथ में था, पीछे चली गई। ऐसे ही एक बार आहार करके शहर से आश्रम की ओर जा रही थी। आश्रम के गेट को छोड़कर आगे बढ़ती गई। साथ में कमंडलु लेकर आता हुआ श्रावक कुछ दूर तो साथ चला आया, फिर बोला-

"माताजी! आपको कहाँ जाना है?.....'

मैं झेंपकर वापस मुड़कर आश्रम में आ गईं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी विद्युल्लता जी मेरी मजाक बनाती थीं। इसमें उनकी भक्ति ही प्रमुख रहती थी।

मैं सोचती—

"देखो! स्तुति रचना आदि करने में चौबीस घंटे उपयोग में वही विषय चलता रहता है। यहां तक कि

१.जिनस्तवनमाला, भक्तिसुमनावली।

स्वप्न में भी वही-वही विषय आता रहता है.....। मैंने सन् १९८७ में सर्वतोभद्र विधान की रचना में भी अनुभव किया था कि कई बार स्वप्न में कई एक श्लोक बना लिये।"

"इसी प्रकार से वचन और काय से क्रिया करते हुए भी यदि हम लोग अपना उपयोग अपनी आत्मा की तरफ रखें तो भला मोक्ष प्राप्ति में कितनी देर लगेगी?"

भक्तिसुमनावली प्रकाशन —

यहां चातुर्मास में कटक से फतेहचंद जी और उनकी धर्मपत्नी, दोनों आहारदान, भक्ति हेतु आये थे। लगभग एक माह रहे थे। एक दिन वे बोले —

"माताजी! मुझे कुछ खर्च करना है, कोई कार्य बताइये।"

मैंने कहा —

"ये स्तुतियाँ छपा दो।"

उसी समय ब्र. सुमतीबाई ने उन स्तुतियों का संकलन कराया और उसका नाम 'भक्तिसुमनावली' रखा। पुस्तक ब्र. फूलचन्द शाह ने अपनी प्रेस में छपायी। यह पुस्तक सेठ फतेहचंद जी की ओर से छप गई।

इसके पूर्व भी श्रवणबेलगोल में जो मैंने भगवान बाहुबलि चरित हिन्दी में लिखा था, उसकी पं. वर्धमान शास्त्री ने तीन हजार प्रतियां छपाई थीं जो कि दो-तीन महिलाओं की तरफ से प्रकाशित हो चुकी थीं।

पं. वर्धमान जी ने मेरी रची हुई 'बाहुबलिस्तोत्र' रचना का सुन्दर कन्नड़ भाषा में अनुवाद किया। उसे भी उन्होंने छपाया था। यह कन्नड़ अनुवाद सहित बाहुबलिस्तोत्र श्रवणबोलगोल में भी वेलूर के एक गंगराजय्या ने छपाया था।

आहारदान और भक्ति —

ऐसे ही चांदमल जी बड़जात्या भी कलकत्ता से सपत्नीक यहाँ आये थे और आहारदान आदि का लाभ ले रहे थे। जब कभी अस्वस्थ्या में क्षुल्लिका अभयमती अशांत होतीं और आचार्य विमलसागर जी के संघ में जाना चाहतीं, वे समझाते और कहते-

"देखो! 'पानी में मीन पियासी' तुम ज्ञानमती माताजी जैसे गुरु पाकर भी तृप्त नहीं हो पा रही हो। इधर-उधर जाना चाहती हो तो ऐसा लगता है जैसे मछली पानी में भी प्यासी रहे, वैसी ही तुम्हारी स्थिति हो रही है। भला माताजी के पास तुम्हें क्या कमी है?....."

आचार्य विमलसागर जी का वात्सल्य —

क्षुल्लिका अभयमती के वायु प्रकोप से (गैस अधिक बनने से) उन्हें बार-बार दौरे पड़ते थे, बेहोश होती रहती थीं। एक बार आचार्यश्री विमलसागर जी ने कहा-

"माताजी! तुम इन्हें मेरे पास भेज दो, मैं ठीक कर दूँगा।" मैंने आश्रम से शहर में उन्हें आचार्यश्री के पास भेज दिया। आचार्यश्री ने उनका इलाज भी किया, उनसे जाप्य भी कराई और अनुशासन से भी रखा पुनः कुछ स्वस्थ होने पर एक माह बाद वापस उन्हें मेरे पास भेज दिया। उन जैसा धर्मवात्सल्य शायद ही किन्हीं मुनियों में मिलेगा।

८ मार्च १९८७ को यहाँ (जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर) आकर उन्होंने मोतीचंद को क्षुल्लक दीक्षा देकर मोतीसागर बनाकर जो उपकार किया है और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में मेरे प्रति जो वात्सल्य दिखलाया है, वह शब्दों से अकथनीय है।

कुंभोज के श्री समंतभद्र का वात्सल्य —

कुंभोज में मुनिश्री समंतभद्र जी विराज रहे थे। कई बार वहाँ से कोई एक महानुभाव आये और प्रार्थना

करते रहे कि—

"माताजी! श्री समंतभद्र महाराज जी आपकी बहुत ही प्रशंसा करते रहते हैं। उनकी भी इच्छा है कि आप एक बार कुंभोज होकर ही जावें अतः आप कुंभोज की ओर विहार कीजिये।"

इन मुनिश्री समंतभद्र जी का धर्म-वात्सल्य और गुण-ग्राहकता आदि गुण बहुत ही प्रशंसनीय हैं। 'जम्बूद्वीपज्ञानज्योति के वहाँ पहुँचने पर भी उन्होंने बहुत अच्छे शब्द कहे थे कि-"एक महिला होकर ज्ञानमती माताजी जी ने बहुत बड़ा कार्य किया है। यदि ये पुरुष होतीं तो पता नहीं कितने महान-महान कार्य कर डालतीं.....।

वहां सोलापुर में गजाबेन भी आईं, वे लगभग एक माह मेरे पास रहीं। मेरा प्रवचन सुनती थीं, चर्चायें करती थीं, आहार देती थीं और बहुत ही भक्ति करती थीं। उन्होंने भी कुंभोज चलने के लिए बहुत आग्रह किया किन्तु आर्यिका आदिमती और क्षुल्लिका अभयमती इन दोनों की शारीरिक कमजोरी से मैंने विहार का भाव नहीं बनाया। चूंकि मुझे ऐसा लगता था कि—

"अब जल्दी ही सीधे रास्ते आचार्य संघ में पहुंचा जाये" अतः मैंने इन लोगों की प्रार्थना सुनी-अनसुनी कर दी। इसी बीच अकलूज से कई एक महानुभाव, चंपाबाई आदि महिलाएं आ गईं। वहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने वाली थी, सभी ने निवेदन किया। चंपाबाई ने कई बार कहा कि—

"माताजी! आप अकलूज चलिये। हमारे यहाँ प्रतिष्ठा में आशीर्वाद प्रदान कीजिये, उपदेश दीजिये। इसके बाद मैं आपको संघ सहित जहाँ भी कहोगी, वहाँ पहुँचाऊँगी.....।"

इतना सब कुछ निवेदन करने के बाद मैंने जब आपस में आर्यिका जिनमती से परामर्श किया, तब उनकी इच्छा बिल्कुल न होने से इन लोगों को स्वीकृति नहीं दी। उन महिला चंपाबाई ने भी 'व्रतविधि सुमनावली' नाम से एक पुस्तक छपायी थी।

बासंतीबाई-

यहां पुणे से बासंतीबाई आई थीं। कई दिनों रही थीं। ये अच्छी प्रबुद्ध महिला थीं। गर्मी के दिनों में मैं मध्यान्ह में शिष्याओं को त्रिलोकसार आदि का अध्ययन कराती, पश्चात् उपदेश करती। कभी-कभी अंतराय आदि के निमित्त से ओंठ सूख जाते थे, मुख म्लान हो जाता था, तब बासंती देवी कहतीं कि—

"माताजी! सायंकाल में एक गिलास मोसम्मी का रस लेना चाहिए। इतना शरीर को कष्ट क्यों देना?....."

मैं हँस देती थी और कहती थी कि—

"यदि शरीर को पोषना ही होता, तो दीक्षा क्यों लेते?.....

"विचित्रा जैनी दीक्षा हि स्वैराचारविरोधिनी।"

वह कई बार कहा करतीं—

"माताजी! जैन धर्म में जो यह काय-क्लेश तप है, शरीर को कष्ट देना, यही अच्छा नहीं लगता है, बाकी सारी बातें बहुत अच्छी लगती हैं। अध्यात्म भावना भानी चाहिए। इत्यादि।"

उस पर मैंने समझाया—

"देखो! सुखिया जीवन में किया गया आत्म तत्त्व का अभ्यास, दुःख आने पर पलायमान हो जाता है अतः दुखों को बुला बुलाकर आत्म तत्त्व की भावना करते रहना चाहिए। श्रीपूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।

सुखिया जीवन में भाया गया तत्त्वज्ञान दुःख के आने पर नहीं टिक पाता है, भाग जाता है, अतः अपनी शक्ति के अनुसार दुःखों से कायक्लेश, उपवास आदि तपश्चरणों को करते हुए मुनिराज आत्मा की भावना भाएँ।

ऐसे-ऐसे संबोधन को सुनकर बासंतीबाई ने कहा कि—

"आपका कहना सत्य है। मुझ पर भी ऐसा ही बीता है।" इतना कहकर उसने सुनाया कि—

एक बार मेरी नाक में दर्द हो गया। डाक्टर ने कहा कि हड्डी बढ़ गई है, आपरेशन कराना होगा। मैं रोने लग गई। पिता ने कहा—

"बेटी! क्यों रोती है? इस समय चिन्तन करना कि आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है।"

मैंने कहा—

"पिताजी! यह सब तत्त्वज्ञान अच्छे भले में सुहाता है। जब नाक के अन्दर डॉक्टर आपरेशन करेंगे तो मैं सांस कहां से लेऊंगी?....."

ऐसा कहकर मैं बहुत घबड़ा रही थी। आखिर आपरेशन कराया गया और दो-तीन दिन में ही घाव सूख गया। मैं स्वस्थ हो गई, लेकिन पहले बहुत घबरा रही थी।

यह घटना सुनाकर वह हमेशा कहा करती थीं कि—

"माताजी! जैन शास्त्रों के अनुसार आज भी आप लोग तपश्चर्या कर रही हैं और आत्म भावना भा रही हैं, यह महान् है।"

उन्होंने कई बार मेरा परिचय पूछना चाहा और चरित्र लिखना चाहा किंतु मैंने मना कर दिया। कोई भी मेरे से, मेरा, मेरे घर का परिचय पूछता था तो मैं बस मात्र अपने दीक्षा गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी का नाम बता देती थी।

ब्र. राजूबाई —

ये राजवी सखाराम दोषी की धर्मपत्नी थीं। इनके पति आचार्यश्री शांतिसागर जी के परमभक्तों में थे। ये सोने के पात्रों में भोजन परोसकर आचार्यश्री को आहार देते थे। उन दिनों इनके पति स्वर्गस्थ हो चुके थे। ये सात प्रतिमाधारिणी व्रतिक महिला थीं। साधुओं को आहारदान देने में आगे थीं, प्रवचन सुनने में भी बहुत रुचि रखती थीं।

एक दिन किसी चर्चा में इन्होंने मुझसे कहा—

"माताजी! लगभग एक वर्ष हुआ, ब्र. गुलाबचन्द्र चंडक से मेरी कुछ कहा-सुनी हो गई थी, तब से आज तक मैंने इनसे बात तक नहीं किया है.....।"

यह शब्द उन्होंने अपने स्वाभिमान को बताने के लिए कहे थे किन्तु मैंने उन्हें एकांत में कुछ शिक्षाएँ दीं, समझाया और कहा—

"राजूबाई! सम्यग्दृष्टि की क्रोधादि कषायों का वासना काल यानि संस्कार अधिकतम छह महीने का है। इसके ऊपर चला जाये तो वह मिथ्यादृष्टि हो जायेगा, उसके अनंतानुबंधी कषाय मानी जायेगी और आप तो व्रती हैं। व्रती के कषाय का वासना काल पंद्रह दिन का है। इसलिए आपको इनके प्रति कषाय निकाल कर बातचीत करना चाहिए।

मैंने बार-बार ऐसी प्रेरणा दी, तब राजूबाई जी ने मेरी बात मान ली और बोलीं-

"अभी मेरा जन्मदिवस आने वाला है, उसी दिन मैं बोल दूँगी।" उनके जन्मदिवस के उपलक्ष्य में उनके पुत्र गोविंदराव और पुत्रवधू कुमुदनी ने घर में जीमन आदि का आयोजन किया था। गृहचैत्यालय में बड़ा अभिषेक रखा था। उसी दिन ब्र. राजूबाई जी स्वयं ब्र. गुलाबचंद चंडक के घर पहुँचीं और हाथ जोड़कर

वंदना करके बोलीं—

"भाई! आज आपका मेरे घर निमंत्रण है, चलिये।"

वे ब्रह्मचारी जी भी यहाँ पर मेरी भक्ति में अग्रसर थे। मेरा उपदेश प्रतिदिन सुनते थे, अतः कषायों में उपशम भाव से वे भी झट बोल पड़े—"हाँ, बहन! मैं आ रहा हूँ।"

चंडक जी उनके घर पहुँचे-भोजन किया, वार्तालाप किया। इसके बाद राजूबाई जी ने आकर मुझे सारी बातें बता दीं। सुनकर मुझे भी बहुत खुशी हुई। वास्तव में सम्यग्दृष्टि की यही पहचान है कि गुरूपदेश से, कैसी भी कषाय हो, कैसा भी मनमुटाव हो, उसे दूर कर वापस प्रेमभाव से पूर्व जैसा अच्छा व्यवहार बना लेवें, तभी वे सच्चे शिष्य कहलाते हैं। ऐसे शिष्यों पर ही गुरुओं का प्रेम बढ़ता है।"

पुनः इन दोनों ने क्षमावणी के दिन भी आपस में प्रेम से क्षमा याचना की थी।

जैन कॉलेज —

एक बार मैंने सुना—

"कुछ मेंढ़क पेटियों के अंदर बंद किये गये हैं। वे जैन कॉलेजों में भेजे जायेंगे। वहाँ बालक बायलोजी पढ़ते हैं। इस शिक्षण में उन्हें मेंढ़क मारकर, उन्हीं में चीर-फाड़ करना सिखाया जाता है।"

यह सुनते ही मेरा रोम-रोम काँप उठा। मैंने ब्रह्मचारिणी सुमतीबाई को बुलाकर यह सब कहा और उनने सारी बातें समझीं पुनः मैंने उपवास कर लिया और कहा कि—

"जैन कॉलेजों में यह शिक्षण-यह मेंढ़कों की हिंसा बंद होनी चाहिए।"

ब्र. सुमतिबाई ने जैन कॉलेजों से संबंधित एक-दो महानुभावों को बुलाया। उन लोगों ने मुझसे बातचीत की। मैंने उन्हें समझाया और कहा—

"कुंभोज में विराज रहे मुनिश्री समंतभद्र जी दिगंबर जैन महामुनि हैं। उनकी प्रेरणा से खोले गये जैन कॉलेजों में यह हिंसा नहीं होनी चाहिए। देखो! यह संकल्पी हिंसा है। इसे आप न आरंभी में ले जा सकते हैं, न उद्योगिनी में और न विरोधिनी में ही। चूँकि मृत कलेवर में भी चीर-फाड़ सिखाया जा सकता है अतः जैन नाम की संस्था में यह निर्दयी कार्य नहीं होना चाहिए।

लोगों ने मुझे बताया था कि—

जीते हुए मेंढक को पेट्रोल में भिगोकर, कैसी बेरहमी से उसे चीर-फाड़ कर जान से मार डालते हैं। सुनकर मेरा हृदय थर्रा उठा था। उन महानुभावों से बहुत देर तक चर्चाएँ होती रहीं। उन्होंने बार-बार यही कहा—

"माताजी! आपको उपवास करने की जरूरत ही नहीं है। आपके आदेश से ही बायलोजी शिक्षण बंद करा दिया जायेगा।"

पुनरपि उन्होंने कहा—

"आप आहार कीजिये। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

मैंने अगले दिन आहार ले लिया। कुछ माह बाद मालूम हुआ कि श्रीसंमतभद्र जी मुनिश्री की प्रेरणा से चलने वाले सात-आठ सभी कॉलेजों में यह शिक्षण चल रहा है, मुझे बहुत ही दुःख हुआ।

वास्तव में 'जैन' नाम से खोली गई शिक्षण संस्थाओं में यह हिंसामय बायलोजी शिक्षण नहीं होना चाहिए। अरे! आटे का मुर्गा बनाकर बलि करने वाले यशोधर राजा ने दस भवों तक जो दुःख भोगे हैं, वह कथा पढ़कर हर किसी को सोचना चाहिए कि भले ही इन मेंढकों के मारने में डाक्टरी सीखकर, आगे हजारों रोगियों का आपरेशन कर उन्हें जीवनदान देंगे किन्तु हजारों जीवनदान के पुण्य से एक जीव का बुद्धिपूर्वक घात

करना, उस पुण्य से अधिक गुणा बड़ा महापाप है।"

आचार्य संघ का विहार —

सोलापुर चातुर्मास समापन के बाद आचार्यश्री ने अपने संघ सहित गिरनार क्षेत्र की ओर विहार कर दिया। मैं भी वात्सल्य से पूरित आचार्यश्री का दर्शन करके उन्हें कुछ दूर तक पहुँचाने गई, पुनः वापस आ गई। अब मुझे भी यहाँ से विहार करके कुंथलगिरि होते हुए औरंगाबाद पहुँचना था। ब्र. गुलाबचन्द चंडक ने मेरे विहार की समुचित व्यवस्था बना ली थी।

संघ का विहार —

मैंने भी अपने संघ सहित यहाँ से विहार का कार्यक्रम बना लिया। आश्रम में सभा का आयोजन किया । ब्र. सुमतिबाई तो चाहती थीं कि माताजी हमेशा-हमेशा के लिए यहीं रहें, भले ही आस-पास में थोड़ा विहार कर आवें अतः वे धर्मवात्सल्य के निमित्त से कुछ खिन्न अवश्य हो रही थीं। सभी ने अपने-अपने उद्‌गार व्यक्त किये। पं. वर्धमान जी कन्नड़ में एक कविता बनाकर तत्काल ही अपनी प्रेस में छापकर लाये थे, उसे पढ़कर सुनायी और विदाई समारोह के बाद मैंने मंदिर के दर्शन कर कुँथलगिरि की ओर विहार कर दिया। मेरा यह सन् १९६६ का सोलापुर का चातुर्मास विशेष ज्ञानाराधना से सहित रहा है।

इस समय मेरे संघ में आर्यिका पद्मावती, आर्यिका जिनमती, आर्यिका आदिमती, क्षुल्लिका श्रेयांसमती और क्षुल्लिका अभयमती ये पाँच साध्वियाँ थीं। ब्र. भंवरीबाई और कु. शीला ये दो बाईयां थीं। यहाँ आश्रम से मालती और सुमन नाम की दो बाईयां और साथ में आ गई थीं।

कु. शीला —

श्रवणबेलगोल विहार में वहां के श्रीमान धरणेन्द्रय्या की धर्मपत्नी ललितम्मा ने अपनी पुत्री कु. शीला को चौके की व्यवस्था हेतु साथ में भेज दिया था। यह सोलापुर से जाना चाहती थी किन्तु मैंने वैराग्य का उपदेश दे-देकर इसे रोक लिया था, यद्यपि यह घर की याद करके कभी-कभी रोने लगती थी तथा इस प्रांत में कन्नड़ में बात करने वाले प्रायः कोई न मिलने से भी घबराने लगती थी। फिर भी चूँकि मैं और मेरे पास की एक-दो आर्यिकायें कन्नड़ भाषा बोल लेती थीं अतः मैं इसे समझा-बुझाकर, शिक्षा देकर, धर्म कार्य में लगा देती थी। इसका स्वयं का भी पुण्य योग था जो कि उस समय रुक गई थी, तो ये आर्यिका शिवमती हो गई हैं और मेरे पास २७ वर्ष तक रही हैं।

£ ५० ¤

कुंथलगिरि दर्शन —

यहाँ से विहार कर हम लोग कुंथलगिरि पहुँच गये। वहाँ के दर्शन करके एक बार पुनः आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की सल्लेखना समय के अनेक संस्मरण स्मृतिपटल पर आ गये। गुरुदेव के चरणों की वंदना की। वास्तव में निषद्या की वंदना, साधु जीवन में बहुत ही महत्व रखती है।

सिद्ध क्षेत्र — **वंसत्थलवरणयरे पच्छिमभायम्मि कुँथुगिरिसिहरे।**
कुलदेसभूसणमुणी णिव्वाणगया णमो तेसिं।।

वंशस्थलनगर में पश्चिम दिशा की ओर कुंथलगिरि शिखर से श्री कुलभूषण और देशभूषण मुनि निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उन्हें मेरा नमस्कार होवे। आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की इन युगल मुनियों के प्रति अगाध भक्ति थी अतः उन्हीं की प्रेरणा से पर्वत के मंदिर में इन देशभूषण और कुलभूषण महामुनियों की ४ फुट की खड्‌गासन प्रतिमायें विराजमान की गई थीं। मैंने स्वयं देखा था कि आचार्यश्री प्रतिदिन इन मूर्तियों का

पंचामृत अभिषेक बड़े प्रेम से देखते थे।

इस क्षेत्र पर ध्यानस्थ खड़े हुए इन दोनों मुनियों के उपसर्ग को श्री रामचन्द्र जी ने वनवास के समय दूर किया था। उसी के बाद इन दोनों मुनियों को केवलज्ञान प्रगट हो गया था।

यहाँ पर्वत पर सात मंदिर है—१. कुलभूषण-देशभूषण मंदिर २. शांतिनाथ मंदिर ३. बाहुबलि मंदिर ४. आदिनाथ मंदिर ५. अजितनाथ मंदिर ६. चैत्यमंदिर ७. नंदीश्वर जिनालय।

इसी पर्वत पर आचार्यश्री शांतिसागर जी के निषद्या स्थान में छतरी में चरण विराजमान हैं।

यहाँ तलहटी में चार मंदिर हैं—१. श्री नेमिनाथ मंदिर २. महावीर मंदिर ३. रत्नत्रय मंदिर ४. समवसरण मंदिर।

यहाँ क्षेत्र पर देशभूषण-कुलभूषण ब्रह्मचर्याश्रम नाम से एक गुरुकुल चल रहा है। क्षेत्र पर दो धर्मशालाएँ हैं।

क्षुल्लिका अजितमती अम्मा —

सन् १९५५ में यहाँ पर आचार्यश्री की सल्लेखना के समय मैं (क्षुल्लिका वीरमती) थी। उस समय म्हसवड़ चातुर्मास में मैं क्षुल्लिका विशालमती अम्मा के साथ यहाँ आई थीं और करीब एक महीने रही थी। उस समय एक छोटे से कमरे में क्षुल्लिका अजितमती अम्मा आदि हम सभी पास-पास ही सोते थे। उन क्षुल्लिका जी से मैं बहुत ही प्रभावित भी। वे भी मेरी छोटी उम्र देखकर, मेरे से बहुत वात्सल्य रखती थीं और कभी-कभी मुझसे गोम्मटसार जीवकांड की चर्चायें करती थीं। कभी-कभी मुझे आचार्यश्री शांतिसागर जी के अच्छे-अच्छे संस्करण सुनाया करती थीं। उनके प्रति मेरा इस समय वात्सल्य भाव उमड़ रहा था अतः मैंने उन्हें यहां बुलाया था, चूँकि वे कार में बैठती थीं अतः श्रावक उन्हें यहां ले आये थे। वे भी यहां आकर मुझसे मिलीं। मुझे अपने से बड़े आर्यिका पद में देखकर विधिवत् 'वंदामि' की । हम दोनों ने एकांत में बैठकर अनेक चर्चायें कीं और उनसे अनेक अनुभव की बातें पूछीं।

गतवर्ष भी मैंने यहां से (हस्तिनापुर से) उन्हें पत्र लिखाया था कि "आप आकर एक बार जम्बूद्वीप के दर्शन कर जावें।"

किंतु अब वे काफी वृद्ध हो चुकी हैं अतः कार से भी लंबी यात्रा उनके लिए कठिन है, ऐसा उन्होंने लिखवाया और बहुत सद्भावनाएँ व्यक्त कीं।

ब्र. सुमतीबाई —

यहाँ ब्र.सुमतीबाई जी आई थीं। उनके आश्रम की दो बाइयां मेरे साथ आ गई थीं। वे इन्हें वापस ले जाना चाहती थीं और ये बाइयां जाना नहीं चाहती थीं। तब ब्र. जी ने कहा-"माताजी! आचार्य विमलसागर जी गिरनार यात्रा जा रहे हैं। मार्ग में उन्हें बाइयों की आवश्यकता है अतः आप इन दोनों को वहां भेज दें। मैंने भी उनकी इच्छानुसार इन मालती और सुमन को आचार्यश्री के संघ में भेज दिया।

धाराशिव की गुफाएँ —

इधर इन गुफाओं को 'लयण' कहते हैं। यह स्थान उस्मानाबाद से पाँच किलोमीटर दूर है। मैं यहां गुफाएँ देखने के लिए आ गई। इन गुफा मंदिरों का इतिहास बहुत प्राचीन है। भगवान पार्श्वनाथ के कुछ वर्षों पश्चात् करकंड नरेश ने यहां तीन लयणों अथवा गुहामंदिरों का निर्माण कराया था और उनमें भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ विराजमान करायी थीं। इन लयणों का इतिहास वृहत्कथा कोष में मिलता है।

एक गुफा में विशाल मंडप है जो कि २० स्तंभों पर बना हुआ है। इसमें जगह-जगह से पानी टपकता है। आगे गर्भगृह में भगवान पार्श्वनाथ की ६ फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान है। आगे भी गुफाएँ देखीं। यह क्षेत्र

वर्तमान में पुरातत्व विभाग के अधिकार में है। क्षेत्र की दुर्दशा देखकर दुःख होता है कि हमारे जैन लोग अपने पुरातत्व की रक्षा नहीं कर पाते हैं।

तेर-अतिशय क्षेत्र —

इधर तेर नाम से एक अतिशय है, वहाँ हम लोग पहुँचे। एक-दो दिन पूर्व वर्षा हो जाने से इधर की काली-काली चिकनी मिट्टी सूखकर कांच के समान कठोर हो गई थी, जिस पर चलने से पैरों के तलुओं में बहुत वेदना हो गई। ब्र. गुलाबचंद चंडक की गाड़ी भी तेर की धर्मशाला तक नहीं आ सकी अतः वे स्वयं, उनकी पत्नी आदि महिलाएँ, सिर पर सामान लेकर कुछ दूर से पैदल ही चल कर आये और चौका बनाकर आहार दिया।

यहां एक किंवदन्ती प्रचलित है कि इस मंदिर में ऐसी ईंटों का उपयोग किया गया था कि जो जल में तैरती हैं। मंदिर की एक तरफ की दीवार तोड़कर खिड़कियां बनायी गई थीं, तब उसमें से जो ईटें निकली थीं, वे वहां पड़ी थीं। यह दृश्य दिखाया था। इसी अतिशय के कारण इस क्षेत्र को 'तेर' यह नाम प्राप्त हुआ है। यहाँ मंदिर का दर्शन किया। प्राचीन प्रतिमाओं के दर्शन से मन में बड़ी शांति मिली।

पैठण-अतिशय क्षेत्र —

ब्र. गुलाबचंद जी की प्रेरणा से मैंने पैठण क्षेत्र के दर्शन का भी निश्चय किया। मेरे संघ की आर्यिका जिनमती जी और आदिमती जी नहीं चाहती थीं, फिर भी मैंने कहा-

"अभी तो १०-२० मील की बात है, फिर जीवन में इस प्रांत में हम जैसे पैदल विहार करके दर्शन करने वालों के लिए यह क्षेत्रदर्शन दुर्लभ ही हैं।"

मैंने निर्णय बना लिया, तब ये सभी मेरे साथ ही आ गईं परन्तु यहाँ आकर मंदिर में प्रवेश कर भगवान मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा के दर्शन कर, इन दोनों आर्यिकाओं को इतना आनंद हुआ, स्तुतिपाठ में इतना मगन हो गईं कि घंटों इन्हें कुछ भान ही नहीं रहा। मैंने सोचा—

"चलो, बिना इच्छा के आकर भी यहां दर्शन कर ये इतनी प्रसन्न हुई हैं तो अच्छी बात है।"

मैं कहा करती हूँ कि-

"यदि कोई मिश्री रुचि से खावे, तो भी मीठी लगती है और बिना रुचि के खाये, तब भी मीठी लगती है। वैसे ही भगवान के दर्शन कोई रुचि से करे, चाहे बिना रुचि से किन्तु उसे मिश्री की मिठास के समान मधुर फल ही मिलता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। फिर यदि पहले अरुचि भी हो और प्रतिमा जी के दर्शन के समय प्रेम-भाव-हर्षभाव उमड़ आवे तब तो पुण्य है ही है।"

कचनेर-अतिशय क्षेत्र —

कचनेर नाम से प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र के दर्शन किये। यहाँ का भी इतिहास प्रसिद्ध है। मूर्ति का धड़ से मस्तक अलग हो जाना, पुनः स्वप्न देकर घी-शक्कर में मूर्ति को रखने से मूर्ति का जुड़ जाना, यह एक चमत्कार ही है। आज भी प्रतिमा के गले में खंडित का निशान दिखता है।

यहाँ आकर मुझे अपने आर्यिका दीक्षा गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी का इतिहास स्मृति-पथ में आ गया। यहाँ पर गुरुदेव ने पाठशाला खोलकर धर्म-अध्ययन कराकर प्रारम्भ से 'गुरुजी' नाम पाया था जो कि अन्त तक विद्यार्थियों के ही नहीं, सारे विश्व के गुरु बने रहे हैं।

औरंगाबाद —

औरंगाबाद शहर में प्रवेश के समय वहाँ के भक्तिमान श्रावक-श्राविकायें स्वागत में आगे आ गये। वहाँ पहुँचकर मैंने मंदिर के दर्शन किये और पांच-दस दिन वहीं रहने का विचार बना लिया।

यहाँ पर सारी व्यवस्था सुव्यवस्थित करके ब्र. गुलाबचन्द जी चंडक, उनकी धर्मपत्नी, उनकी बहन आदि संघ के लोग वापस सोलापुर जाने के लिए आज्ञा लेने आये। इन लोगों के नेत्रों में गुरु-वियोग के अश्रु थे। अनेक भक्ति-भावना सहित ये लोग मेरा आशीर्वाद ग्रहण कर अपने घर वापस लौट गये।

ब्र. गुलाबचन्द जी की भक्ति —

सोलापुर आश्रम में मेरे रहने तक प्रतिदिन ये ब्रह्मचारी जी यहाँ आते थे। प्रायः दिनभर भी यहीं रहते थे। ये मेरे उपदेश में, मेरे स्वाध्याय में, अध्यापन में और धर्म-चर्चाओं में तो रुचि लेते ही थे। उनमें एक विशेष आदत थी कि मैं मंदिर में या बाहर प्रांगण में या बरामदे में कहीं भी बैठूं, तो वे झट से एक पाटा लेकर मेरे पीछे सहारे के लिए लगा देते थे। कभी-कभी मैं हंस देती थी, लेकिन उन्होंने अपना यह काम नहीं छोड़ा था। मैं जब शहर में आचार्यश्री के दर्शनार्थ जाती थीं तब भी ये मेरे साथ कमण्डलु लेकर पैदल चलते थे। इनकी जैसी भक्ति वास्तव में हर किसी में होना मुश्किल है। ये वृद्ध थे, फिर भी थकान नहीं महसूस करते थे। कभी-कभी आचार्यश्री शान्तिसागर जी के कुछ संस्मरण सुना देते थे, वैसे कम बोलते थे।

ये सोलापुर से औरंगाबाद तक मेरे साथ पैदल चले थे। एक हाथ में मेरा कमण्डलु लेते थे और दूसरे हाथ में एक छोटी सी ढक्कन बंद बाल्टी लेते थे। मेरे से लगभग आधा फर्लांग पीछे चलते थे। मैंने कभी भी नहीं पूछा कि-"आप पीछे क्यों चलते हैं?" मैंने यह भी कभी नहीं पूछा कि—

"आपके हाथ में जो यह बाल्टी है, इसमें क्या है?"

यद्यपि मेरे मन में विकल्प कई बार आया था कि ये पीछे क्यों चलते हैं?

फिर भी 'इनका ऐसा ही स्वभाव होगा' ऐसा सोचकर लक्ष्य नहीं दिया था।

यहाँ औरंगाबाद में संघस्थ आर्यिका से मुझे मालूम हुआ कि-"ये ब्रह्मचारी जी साथ में दही का पात्र लेकर चलते थे और इसलिए ये कुछ पीछे रहते थे कि यदि माताजी को पता चल जायेगा तो ये मट्ठा नहीं लेंगी.....।"

मैंने विचार किया—

"देखो! इनकी भक्ति और पैदल चलने की शक्ति।" इतने वृद्ध होकर भी पैदल चले और हाथ में दही का पात्र लेकर, आकर आहार में रास्ते के प्रसंग में भी मट्ठा पहुँचाया। उन्होंने सोलापुर में देख लिया था कि—

"माताजी के स्वास्थ्य के लिए दवाई से अधिक मट्ठा लाभकारी है" अतः इन्होंने अपना कर्तव्य पालन करके अपूर्व भक्ति का परिचय दिया था।

इन्होंने एक बार बतलाया कि आचार्यश्री को हर एक कुएँ का पानी अनुकूल नहीं आता था, अतः हम लोग कई बार ४-४, ५-५ मील से पानी भरकर पैदल लेकर आते थे और चौके में लेकर जाते थे। उनकी गुरु-भक्ति विशेष थी। हो भी क्यों न, क्योंकि जिन्होंने चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी की भक्ति और सेवा का पुण्य अवसर साठ से अधिक वर्ष की उम्र तक प्राप्त किया हो।

महिलाओं की भक्ति —

औरंगाबाद में प्रातः से ही महिलाएँ आकर भगवान का अभिषेक पूजन करतीं, पुनः मेरे पास आकर मेरी पूजन करने लगतीं। इस तरह कई समूहों में महिलायें आकर प्रातः १० बजे तक पूजन करती रहती थीं। उस समय तक मेरी पूजन करने की संघ में परम्परा नहीं थी, अतः छपी भी नहीं थी। इससे पूर्व अजमेर में सन् १९५९ में प्रकाशचंद (टिकैतनगर वालों) ने मेरी पूजन बनाई थी, तब मैंने उसे करने भी नहीं दिया था और छपने भी नहीं दिया था।

यहाँ ये महिलाएँ किसी भी चालू पूजन में अष्टक के ऊपर की दो लाइनें लेतीं और नीचे की दो लाइनों में मेरा

नाम जोड़कर पूजन कर लेतीं। अनन्तर जयमाला न पढ़कर अर्घ्य चढ़ा देती थीं। जैसे कि चौबीसी पूजा में—

मुनिमन सम उज्ज्वल नीर, प्रासुक गंध भरा।
भरि कनक कटोरी नीर दीनी धार करा।।
श्री ज्ञानमती जी अम्ब, आनंद कंद सही।
पद जजत हरत भवफंद, पावत मोक्ष मही।।

ऐसे ही किसी भी पूजा में गुरु का नाम जोड़कर पूजा करने की यह पद्धति और ऐसी गुरुभक्ति मैंने और कहीं नहीं देखी है।

आचार्य महावीरकीर्ति जी के दर्शन —

यहाँ आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज का संघ आने वाला था। लोगों ने आग्रह से मुझे रोक लिया और मुझे भी इन आचार्यश्री के दर्शन की विशेष उत्कंठा थी। आचार्य श्री संघ सहित पधारे। मैंने दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल किया। सन् १९५७ के बाद आज सन् १९६६ में आचार्य महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मिला था। दो-चार दिन उनके सान्निध्य में रही। यहां महाराज जी के प्रवचन बाहर पांडाल में हुए। मैंने भी प्रवचन सुना और श्रावकों को अपना प्रवचन सुनाया। अच्छी धर्म प्रभावना रही।

इसके बाद आचार्यश्री ससंघ कुंथलगिरि की ओर विहार कर गये। मैंने भी वहाँ से कसाबखेड़ा के लिए विहार कर दिया।

अस्वस्थता-कसाबखेड़ा में —

मैं यहाँ कसाबखेड़ा में बीमार हो गई। यहाँ श्रावकों की भक्ति बहुत अच्छी थी। ८-१० मकान एक साथ पंक्तिबद्ध थे। श्रावकों ने पूछा—

"माताजी! सात घर का आहार लेती हैं या नहीं?"

ब्र. भंवरीबाई ने कह दिया—

"लेती हैं।"

यहाँ लोग चन्द्रसागर जी मुनिराज के परमभक्तों में थे। शास्त्र में सात घर का आहार लेना कहा है। हाँ! यदि घर पंक्तिबद्ध नहीं हैं तो 'अभिघट' दोष आता है। यहाँ पंक्तिबद्ध होने से मैंने भी आचार्य परम्परा के अनुसार जहाँ पर पड़गाहन हुआ, उसके आजू-बाजू के तीन-तीन घरों से श्रावक-श्राविकाओं द्वारा लाये गये रोटी, भात आदि आहार में ले लिया था।

यहाँ मेरा स्वास्थ्य गड़बड़ हो जाने से आहार बिल्कुल जरा सा ले पाती थी। लोग वैयावृत्ति में कुशल थे, वैद्यों को दिखाया लेकिन उनकी दवाइयों से फायदा नहीं हुआ। हैदराबाद सूचना जाते ही जयचन्द जी लुहाड़िया दर्शनार्थ आ गये। उन्होंने यहाँ 'एलोरा', जो कि बिल्कुल पास था, वहाँ पर मध्यलोक चैत्यालय की रचना की बात कही।

मध्यलोक रचना चर्चा —

जयचन्द जी ने सोलापुर में सुन लिया था कि माताजी के मस्तिष्क में कोई रचना विशेष आई है, वे अतिआग्रह कर रहे थे कि—

"माताजी! मैं कोई एक 'अहिंसा प्रचार केन्द्र' खोलना चाहता हूँ। मै अपने जीवन में कोई बड़ा कार्य करना चाहता हूँ अतः आप यहीं विराजें, मैं बम्बई से बढ़िया मॉडल बनाने वाला कारीगर लेकर आता हूँ। आपके मस्तिष्क में जो मध्यलोक के चैत्यालयों की रचना आई है, उसे यहाँ एलोरा में बनवाना है, यहाँ जगह भी लगभग पचहत्तर बीघे है।"

इतनी सब कुछ अनुनय-विनय के बाद भी मैंने स्वीकृति नहीं दी और संघ में मुझे जल्दी पहुँचना है, ऐसा कहकर टाल दिया।"

पुनः जयचन्द जी ने मुनिश्री आर्यनंदीजी की प्रेरणा का एक टेप-कैसेट भेजा। और बतलाया कि-

महाराज श्री भी कोई विशेष कार्य करने के इच्छुक हैं। उनका कहना है कि -"पैसा 'रुपया माँगने की, किसी को भी प्रेरणा देने की, आपको जरूरत नहीं है, मैं सब व्यवस्था करा लूँगा। एलोरा का क्षेत्र रम्य है, शांत है, अनुकूल है और गुफाओं की प्रसिद्धि से विदेशियों के भी पर्यटन का स्थल है.....।"

मैंने मुनिश्री का टेप भी सुना, उनकी प्रेरणा और अभिरुचि समझी किन्तु-"यह रचना आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज की आज्ञा से जहाँ कहीं भी बनेगी।" ऐसा कहती रही।

१०-१५ दिन बाद स्वास्थ्य कुछ चलने-फिरने लायक हुआ, तब मैंने सबके मना करने पर भी साहस करके 'एलोरा' की तरफ विहार कर दिया। एक-एक फर्लांग पर बैठकर, विश्राम करके जैसे-तैसे पहुँच गई। सायंकाल में वहाँ पहुंचते ही वमन हो गया। संघस्थ आर्यिकाएँ घबड़ा गईं कि कहीं प्रकृति एकदम न बिगड़ जाये। अगले दिन मनोबल बढ़ाकर मैं छोटे से पर्वत पर चढ़ गई और भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के दर्शन किये, मन में बड़ी शांति मिली। वास्तव में दर्शन-स्तोत्र में पढ़ती ही हूँ कि—

दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनं।
दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनं।।

पुनश्च— **अनंतानंतसंसारसंततिच्छेदकारणम् ।**
जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम।।

इन्हीं श्लोकों को पढ़ते हुए श्रद्धा के साथ बार-बार वन्दना की, पुनः नीचे आ गई। नीचे आते ही बहुत बड़ा अतिसार हो गया। घबराहट हो जाने से कुछ देर विश्राम करना पड़ा। बाद में स्वास्थ्य में कुछ हल्कान मालूम पड़ी। धीरे-धीरे ऐसा लगा कि-

"मैं स्वस्थ हो रही हूँ।"

मैंने सोचा—

"जिनेन्द्र देव की भक्ति से असाता कर्म साता में संक्रमित हो जाते हैं, ऐसा सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा है, सो सच ही है, उस पर विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन है।"

यह प्रकरण मैंने बाहुबली स्तोत्र में भी रखा है—

''त्वामाश्रितस्य जिन! मे कटुकर्मबंधाः। क्रूरत्वमत्र जहतु त्वरमद्भुतं किं।।
स्वामिन्नसातविविधप्रकृतीः सुभक्तिः। संक्रामयत्यापि शुभे कथितं त्वयैव।।११४।।''

"हे जिनेन्द्रदेव! आपका आश्रय लेने वाले के कटुकर्मबन्ध क्रूरता को छोड़ देवें, उसमें आश्चर्य ही क्या है? हे स्वामिन्! आपकी भक्ति अनेक विध असाता प्रकृतियों को शुभ—साता प्रकृति में संक्रमण करा देती है, ऐसा आपने ही तो कहा है।"

एलोरा क्षेत्र परिचय —

यहाँ कुल ३४ गुफाएँ हैं। गुफा नं. १ से १२ तक गुफाएँ बौद्ध धर्म की हैं। १३ से २९ तक की गुफाएँ शैवधर्मावलम्बियों की हैं। शेष ३० से ३४ तक की गुफाएँ जैनधर्म से संबंधित हैं।

यह एलोरा अपने शिल्प वैभव और स्थापत्य कला की दृष्टि से सारे संसार में प्रसिद्ध है। कठिन पाषाणों में लावण्य, मनोज्ञता और वीतरागता जैसी कोमल भावनाओं को उभारने में शिल्पी ने कला को उसके उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया है।

गुफा नं. ३० से उत्तर की ओर एक मार्ग पहाड़ के ऊपर गया है। उस पर भगवान पार्श्वनाथ का मंदिर है। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति १६ फुट उत्तुंग श्याम-वर्ण की विराजमान है, यह अर्धपद्मासन है। आजू-बाजू धरणेन्द्र और पद्मावती यक्ष-यक्षिणी बने हुए हैं। मूर्ति के मस्तक पर नौफणा सुशोभित हैं। यहाँ की गुफाओं को देखने से सबसे बड़ा उदाहरण इस युग के लिए यही मिलता है कि—

"धर्मसहिष्णुता।"

पास-पास ही जैनों के कलात्मक मंदिर है। उन्हीं के पास बौद्धों के हैं और पास-पास में ही शिवमंदिर हैं।

यहाँ जैन मंदिर अथवा गुफाओं में भगवान पार्श्वनाथ के उपसर्ग समय की मूर्तियाँ और श्रीबाहुबली की बेलचढ़ी मूर्तियाँ बहुत हैं। ये पाषाणों में ही उत्कीर्ण हैं। श्री बाहुबली मूर्ति की बेलें गंधर्व बालायें अथवा ब्राह्मी-सुन्दरी दूर कर रही, हैं ऐसा चित्रण किया है।

नांदगांव —

यहाँ कसाबखेड़ा से विहार कर क्रम से मैं नांदगांव आ गई। यह गांव आचार्यकल्प श्रीचन्द्रसागर जी महाराज की जन्मभूमि है। यहाँ श्रावकों की गुरु-भक्ति बहुत ही अच्छी है। इनकी देवपूजा आवश्यक क्रिया भी अनुकरणीय है। प्रातः एक-एक परिवार के स्त्री-पुरुष अथवा अपने-अपने समूह की महिलाएँ पृथक्-पृथक् चौकी पर जिन-प्रतिमा विराजमान कर विधिवत् पंचामृत अभिषेक और शांतिधारा करके पूजन करते हैं।

आचार्य कल्प श्रीचन्द्रसागर जी के उपदेश को मानों यहाँ पूर्णरूप से ही साकार मूर्तरूप ही दिया गया है। ऐसा सोचकर मन में श्रीचन्द्रसागर जी के प्रति अगाध श्रद्धा उमड़ आई। मैंने उन गुरुदेव के दर्शन नहीं किये हैं, फिर भी परोक्ष में उनके चरणों में बारम्बार नमोऽस्तु किया और उनके गुणों का स्मरण करने लगी।

इस तरफ मैंने गजपंथा और मांगीतुंगी क्षेत्रों के दर्शन किये, इन सिद्धक्षेत्रों की वन्दना से महान हर्ष का अनुभव किया।

गजपंथा क्षेत्र दर्शन —

नासिक होते हुए मैं गजपंथा पहुँची। वहाँ माघ शु. १४ का मेरा उपवास था, रत्नत्रय व्रत था। उपवास के अगले दिन आहार लेकर मैं पहाड़ पर चढ़ने लगी। संघस्थ आर्यिकाएं मेरे साथ थीं, कुछ श्रावक वर्ग भी साथ थे। कुछ सीढ़ी चढ़ने के बाद मेरी साँस जोर-जोर से चलने लगी, मैं आगे नहीं चढ़ सकी, तब वहीं बैठ गई, ऐसा लगा कि शायद अब ऊपर चढ़कर दर्शन होना मुश्किल है। कुछ देर तक साँस का वेग बड़ा, पुनः ठीक हो गया, किन्तु कमजोरी इतनी महसूस हुई कि सारी सीढ़ियाँ चढ़ना कठिन हो गया। मैं णमोकार मंत्र जपती रही। सभी शिष्याएँ पास में बैठकर मंत्र सुनाती रहीं।

कुछ देर बाद सभी ने कहा—

"माताजी! अब नीचे चलो, आज वापस चलो, कल आहार के बाद पुनः आकर चढ़ना और वन्दना करना।"

किन्तु मैं किसी की भी न सुनकर, मनोबल बढ़ाकर, हिम्मत करके चढ़ने लगी। धीरे-धीरे ऊपर पहुँच गई, तब इतनी खुशी हुई कि क्या कहना?

मैंने सोचा—

"इस वन्दना का फल मुझे अधिक ही मिलेगा।"

निर्वाण क्षेत्र की वन्दना करने में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, श्रुतभक्ति, निर्वाणभक्ति, शान्तिभक्ति और समाधिभक्ति पढ़कर, निर्वाण को प्राप्त हुए सिद्धों की बार-बार वंदना की।

क्षेत्र-परिचय —

सत्तेव य बलभद्दा जदुवणरिंदाण अट्ठकोडीओ।
गजपंथे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।६।।

सात बलभद्र और आठ करोड़ यदुवंशी राजा इस गजपंथा गिरि के शिखर से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, उन्हें मेरा नमस्कार होवे। सात बलभद्रों के नाम इस प्रकार हैं-

१. विजय २. अचल ३. सुधर्म ४. सुप्रभ ५. नंदी ६. नंदमित्र और ७. सुदर्शन। इन सातों बलभद्रों ने यहाँ से मुक्तिधाम को प्राप्त किया है।

यह क्षेत्र नासिक से ६ किलोमीटर दूर है।

इस क्षेत्र पर नीचे धर्मशाला में मंदिर है। यहाँ पर्वत की ऊँचाई मात्र ४०० फुट है, सीढ़ियाँ प्रायः १ फुट ऊँची और खड़ी हैं। पर्वत पर बलभद्र मुनियों के चरण हैं। यहाँ पर्वत पर जिनालय में भगवान पार्श्वनाथ की १० फुट ४ इंच की श्यामवर्ण पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। यहाँ दीवारों में सिद्धमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। एक फलक में खड्गासन साधुमूर्ति हैं तथा दोनों पार्श्वों में आचार्य और उपाध्याय की पद्मासन मूर्तियाँ हैं। साधु परमेष्ठी के हाथों में माला और पिच्छी है। आचार्य परमेष्ठी की साधुगण वन्दना कर रहे हैं और उपाध्याय परमेष्ठी के सामने शास्त्र है तथा श्रोतागण बैठे हुए हैं।

अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। सप्त-ऋषियों के चरण-चिन्ह बने हुए हैं तथा सात बलभद्रों के भी चरण-चिन्ह बने हुए हैं।

इस क्षेत्र पर सन् १९३६ और सन् १९५० में दो बार चारित्र-चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागरजी ने चातुर्मास किये हैं। इसी प्रकार आचार्यश्री महावीर कीर्तिजी ने भी यहाँ दो चातुर्मास किये हैं।

यहाँ पर नासिक के कतिपय श्रावकों ने और क्षेत्र के मुनीम ने मुझसे बहुत प्रार्थना की कि—

"माताजी! यह क्षेत्र रम्य है, यहाँ बहुत जगह पड़ी है, आप यहीं ठहरिये और मध्यलोक के चैत्यालयों की रचना यहीं कराइये।" मैं सभी की प्रार्थना सुनती थी। इधर की जलवायु, वातावरण और श्रावकों की भक्ति सब कुछ मुझे अच्छी लगती थी। खासकर एक बात विशेष प्रिय थी कि इधर आगमपंथ—बीसपंथ के सिवाय तेरापंथ या सोनगढ़पंथ आदि नहीं है। लोग गुरुओं के प्रति क्षोदक्षेम चर्चा कर-करके उन्हें संक्लेशित करने के बजाए गुणग्राही और भक्तिमान हैं। सब कुछ अनुकूलता होते हुए भी मुझे आचार्य शिवसागर जी के संघ में पहुँचना है, कहीं भी रुकना नहीं है' ऐसा कहकर वहाँ से भी विहार कर दिया।

मांगीतुंगी क्षेत्र दर्शन —

नांदगांव में आर्यिका जिनमती जी ने कह दिया कि—

"मैं माँगीतुगी नहीं जाऊँगी, सुना है कि पर्वत बहुत ऊँचा है, मुझे तीर्थों के दर्शनों की कोई उत्कंठा नहीं है.....।"

मैं कई दिनों तक ऊहापोह करती रही कि—

"इन्हें कैसे समझाऊँ? या इन्हें यहीं छोड़कर दर्शन करने चली आऊँ? या मैं भी तीर्थदर्शन छोड़ दूँ.....?"

कसाबखेड़ा में एक श्रावक धर्मचन्द आये हुए थे। ये अति निकट के भक्त बन गये थे। मेरी उन्मनस्कता देखकर बोले—

"माताजी! कुछ भी हो, आप मांगीतुंगी के दर्शन नहीं छोड़ना। यह भी महातीर्थ है। यहाँ से निन्यानवे करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं.....।"

पुनः वे बोले—

'माताजी! आप पुनः इधर महाराष्ट्र में आयेंगी, यह संभव नहीं है अतः शिष्यों के कहने से तीर्थ मत छोड़ो.....।"

मैंने भी विचार किया—

"अहो! यह मांगीतुंगी क्षेत्र यहाँ से तो मात्र कुछ ही मील दूर है। यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की भी निर्वाण भूमि है। वास्तव में शिष्यों के मोह में पड़कर, इतने महान तीर्थराज की वन्दना छोड़ देना बुद्धिमत्ता तो नहीं है.....।"

अतः मन मजबूत करके मैंने यात्रा का निर्णय ले लिया। नांदगांव की सेठानी ने, अनेक श्रावक-श्राविकाओं ने यात्रा कराने के लिए व्यवस्था बना ली।

मेरे निकट ब्र. भंवरीबाई थीं। वे एक दिन रात्रि में गिर पड़ी थीं सो चोट आ जाने से बोलीं—

"मुझे घर भिजवा दो, यहाँ यात्रा में मुझे कौन संभालेगा?" मैंने पहले यात्राएँ कर ली हैं अतः घर जाऊँगी। इस निमित्त से उन्हें घर भेज दिया गया था। मात्र एक ब्रह्मचारिणी कु. शीला मेरे साथ थीं।

जब मैंने निर्णय ले ही लिया तब आर्यिका जिनमती भी इच्छा न होते हुए भी साथ ही साथ विहार में चल पड़ीं। मुझे खुशी हुई। मार्ग में कुछ असुविधाओं को भी झेलते हुए मैं मांगीतुंगी आ गई। यहाँ पर मुनीम गणेशीलाल अच्छे भक्तिमान थे और संघ की व्यवस्था में कुशल थे।

पर्वत की वंदना —

यहाँ हम सभी एक साथ पर्वत पर चढ़े, चढ़ते-चढ़ते महामंत्र जपते रहे। ऊपर पहुँचकर निर्वाणभूमि के दर्शन करके, वन्दना करके बहुत ही आनंद आया। आर्यिका जिनमती भी बोलीं—

"अम्मा! आपके प्रसाद से मुझे दर्शन हो गये, नहीं तो मेरे भाव गिर गये थे, मैं तो सीधे यहाँ से कुसुम्बा जाने के लिए सोच रही थी। आपके साथ आ गई तो क्षेत्र वन्दना करके पता नहीं मैंने कितना पुण्यबंध कर लिया होगा.....।"

तब मैंने मन में सोचा कि—

"शिष्यों के मोह में पड़कर कभी भी शिष्यों के अनुकूल नहीं चलना चाहिए, उन्हें अपने अनुकूल चलाना चाहिए। ऐसे-ऐसे प्रसंगों में उनके शब्दों की अथवा उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।"

क्षेत्र-परिचय —

निर्वाणकांड में पड़ते हैं—

रामहणूसुग्गीवो गवयगवक्खो य नीलमहनीलो।
णवणवदी कोडीओ तुंगीगिरि णिव्वुदे वंदे।।८।।

राम, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष, नील और महानील आदि निन्यानवे करोड़ मुनियों ने तुंगीगिरी से निर्वाण प्राप्त किया है, मैं उन सबकी वंदना करता हूँ।

यद्यपि ग्रंथों में तुंगीगिरि नाम आता है, फिर भी मांगीतुंगी एक ही पर्वत है, ऐसा समझना।

यहाँ से एक घटना और संबंध रखती है, जो कि विशेष है—

जब कौशाम्बी के वन में जरत्कुमार के बाण से श्रीकृष्ण की मृत्यु हो गई, तब बलभद्र मोह और शोक में पागल से होकर, उनके शव को लिये हुए छह माह तक इधर-उधर घूमते रहे थे। एक दिन एक देव के समझाने पर इन्हें बोध हुआ तब इन्होंने इसी तुंगीगिरि पर्वत के ऊपर श्रीकृष्ण का दाह-संस्कार किया था। वह जगह आज भी 'दहनकुंड' के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके बाद संसार से विरक्त होकर उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी। वे इसी पर्वत पर ध्यान किया करते थे। यहाँ एक उलट मुँह करके खड़े हुए बलभद्र की मूर्ति भी बनी हुई है जो कि इस बात की सूचक है कि जब ये आहार को गाँव में जाते थे तो इनके रूप-सौंदर्य को देखने के लिए महिलायें तो क्या, पुरुष भी बेभान हो जाते थे अतः इन्होंने गांव न जाने का नियम लेकर कुछ काल तक यहीं ध्यान किया था। ये महामना बलदेव यहीं से सल्लेखना की सिद्धि करके, नश्वर शरीर को छोड़कर, पाँचवे स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए हैं।

यहां धर्मशाला है, मंदिर है और मानस्तंभ बना हुआ है। यहीं पर ठहर कर पर्वत के लिए चढ़ते हैं, यहाँ २९६० सीढ़ियां है। अभी और भी सीढ़ियों का निर्माण बाकी है।

कुछ सीढ़ियां चढ़ने पर बायीं ओर दो गुफाएँ हैं। इन्हें सुध-बुध की गुफा कहते हैं। यहाँ जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। भित्तिओं पर भी प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। गुफाओं के निकट निर्मल जल के प्राकृतिक कुंड बने हुए हैं। यहां पर्वत पर मंदिरों में अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं और अनेक साधुओं की — श्रीरामचन्द्र जी, हनुमानजी आदि की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। बहुत से मुनियों की प्रतिमाओं में, एक हाथ में पिच्छी और एक हाथ में मालायें हैं। साधुओं की ऐसी प्रतिमाएँ भित्ति पर भी उत्कीर्ण हैं।

सीताजी के चरण —

परिक्रमा समाप्त कर उतरते समय एक खुली हुई गुफा में सीताजी के चरणचिन्ह बने हुए हैं। कहते हैं कि यहाँ सीताजी ने आर्यिका अवस्था में तपश्चर्या की थी। इन आर्यिका सती सीता माताजी के चरणों की वंदना करके बड़ा आनंद आया और मन में भावना उत्पन्न हुई —

"हे मातः ! आप जैसी तपश्चर्या और आप जैसा धैर्य हमें भी प्राप्त हो।"

उन शील शिरोमणि माता के चरणों में भला किसका मस्तक नहीं झुकेगा कि जिन्होंने अग्नि परीक्षा में अग्नि को जल का सरोवर बनाकर, परीक्षा में उत्तीर्ण होकर भी इतने बड़े त्रिखंडाधिपति श्रीरामचंद्रजी के पट्टरानी पद के वैभव को ठुकरा कर आर्यिका दीक्षा ली हो और घोर तपश्चर्या करके स्त्रीलिंग का छेदकर, अच्युतेंद्र पद प्राप्त किया हो।

श्रीरामचंद्र की मूर्ति —

तुंगीगिरी पर्वत पर एक श्रीरामचंद्र की गुफा प्रसिद्ध है। उसमें मध्य में श्रीरामचंद्र की प्रतिमा है। यहाँ भी दीवारों में मुनियों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

इस क्षेत्र पर तलहटी में तीन मंदिर हैं।

अब वर्तमान में ८-१० वर्षों से मुनि श्री श्रेयांससागर जी महाराज की प्रेरणा से यहाँ नूतन निर्माण कार्य चल रहा है। चौबीसी प्रतिमाएँ विराजमान की जायेंगी। श्रीपद्मनाथ और श्रीशैल की भी प्रतिमाएँ विराजमान की जायेंगी।

वि.सं. १९९७ में मानस्तम्भ की प्रतिष्ठा के समय मुनिश्री (आचार्यश्री) वीरसागर जी संघ सहित एक माह यहाँ ठहरे थे और प्रतिष्ठा के समय श्री चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी संघ सहित पधारे थे।

मेरे संघ में क्षुल्लिका अभयमती जी अस्वस्थ थीं, फिर भी उन्होंने साहस करके एक वंदना पैदल ही की। वास्तव में इन पवित्र क्षेत्रों का ही यह महात्म्य है कि इतनी सीढ़ियां चढ़कर, पैदल वंदना कर ली जाये। देखो ना! सम्मेदशिखर जी की वंदना में अठारह मील की चलाई हो जाती है। जो व्यक्ति कभी दो मील भी पैदल नहीं चले हैं, वे भी भक्ति में लीन होकर अठारह मील की पैदल वंदना कर लेते हैं।

'निर्वाणप्राप्त मुनियों की निर्वाणस्थली की वंदना करके निर्वाणफल की याचना करना और जब तक निर्वाण प्राप्त न हो, तब तक उनके चरणों को हृदय में स्थापित करते रहना ही निर्वाण वंदना का फल है।"

सभी लोग पढ़ते हैं—

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेंद्र! तावद् यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः।।

मध्यलोक चैत्यालय रचना की प्रेरणा —

यहाँ भी यहाँ के मुनीम ने और नाँदगाँव आदि के कतिपय महानुभावों ने मध्यलोक के चैत्यालयों की रचना कराने के लिए मुझसे प्रार्थना की, अनुनय-विनय की और आग्रह किया। 'किन्तु जहाँ का योग होता है वहीं होता है' यही सूक्ति, आज चरितार्थ हो रही है। तभी तो मैं ऐसे-ऐसे क्षेत्रों को भी छोड़कर यहाँ हस्तिनापुर में आ गई।

यहाँ मांगीतुंगी क्षेत्र पर संघ से ब्र. सुगनचन्द जी, उनकी बहन आदि लोग आ गये थे। चूँकि आगे विहार की व्यवस्था के लिए मैंने इन्हें सूचना भेज दी थी, इसलिए ये लोग यहाँ आ गये थे। इन लोगों ने भी क्षेत्र की वंदना की पुनः यहाँ से विहार कर कुसुंबा, धूलिया आदि होते हुए मैं संघ सहित बड़वानी सिद्धक्षेत्र पर आ गई। यहाँ पहले बड़वानी ठहरी। उस समय श्रवणबेलगोल में महामस्तकाभिषेक होने वाला था अतः मैंने ब्र. सुगनचंद के साथ कु. शीला, जो कि श्रवणबेलगोल की थीं, उन्हें और संघ की भंवरीबाई आदि सभी बाइयों को यात्रा के लिए भेज दिया। यद्यपि ये लोग जाना नहीं चाहते थे, कहते थे—

"आपकी व्यवस्था, आहार आदि की व्यवस्था कौन संभालेंगे?"

चूँकि उसी दिन हम लोग यहाँ आये थे, कोई खास परिचय किसी से हो नहीं पाया था, फिर भी मैंने कहा—

"साधुओं का आहार-विहार उनके भाग्य के अधीन है, तुम लोग चिंता मत करो, जाओ, श्री बाहुबली भगवान का महामस्तकाभिषेक देखकर आओ, तब तक मैं यहीं ठहरूँगी.....।" ऐसा कहकर इन सबको मैंने भेज दिया था।

£ ५१ ¤

बावनगजा तीर्थक्षेत्र दर्शन —

प्रातःकाल आशीर्वाद देकर इन सबको मैंने भेज दिया। इसके बाद दर्शन के लिए श्रावकों का तांता लग गया। ८ से ९ बजे तक मेरा उपदेश हुआ। अनन्तर कमंडलु के लिए पानी आ गया। हम लोगों ने शुद्धि की और आहार के लिए निकले, श्रावकों के कई चौके थे, सभी साध्वियों के निरंतराय आहार हो गये।

यहाँ से चूलगिरि सिद्धक्षेत्र सात किलोमीटर दूर था। यह तो बड़वानी नाम से प्रसिद्ध नगर है। मध्यान्ह में ब्र. दाखाबाई आईं। ये आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी महाराज की शिष्या थीं। घर में ही धर्माराधना कर रही थीं। इनसे वार्तालाप होने के बाद यह सोचा कि—

कुछ दिन यहाँ रहकर चूलगिरि जाया जाये चूँकि वहाँ तो बाइयां चौका करने वाली चाहिए। यहां के लोग उपदेश से अच्छे प्रभावित हुए। कई दिन बाद दाखाबाई ने कहा—

"माताजी! आप चूलगिरि पधारें, तो मैं आपके संघ की और चौके आदि की सारी व्यवस्था संभाल लूँगी।"

साथ में कई एक श्रावक-श्राविकाएँ भी वहाँ रहने के लिए तैयार हो गये थे।

खुले दरवाजे रखकर रात्रि विश्राम —

यहाँ बड़वानी की धर्मशाला में हम लोग रात्रि में एक कमरे में सोते थे। यात्रियों की बसें आकर यहीं धर्मशाला में ठहरती थीं। एक दिन हम लोग रात्रि में अपने कमरे में सो रहे थे। रात्रि में करीब ग्यारह-बारह बजे थे, कुछ यात्री कमरे का किवाड़ खोलकर अन्दर देखने लगे। तभी एक आदमी ने बुंदेलखंडी भाषा में कहा—

"इतै तो बिरमचारी परे हैं।"

हम सभी उठकर बैठकर गईं। वास्तव में हम सभी सफेद साड़ी पहनती हैं, उसे ही ओढ़-लपेटकर सर्दी के दिनों में घास पर सो रही थीं। उसने समझा ब्रह्मचारी लोग हैं अतः ऐसा बोलकर बाहर चला गया। प्रातः जब इन यात्रियों ने हम सभी आर्यिकाओं के दर्शन किये, तब वे महानुभाव सकुचाने लगे। मेरे संघ की आर्यिकाओं ने कहा—

"कोई बात नहीं, इतै तो बिरमचारी परे थे।"

यहाँ यह एक हंसी का विषय बन गया था।

ब्र. दाखाबाई ने मुझसे कहा—

"माताजी! रात्रि में सोते समय कमरे का दरवाजा बंद कर लिया करो।"

मैंने कहा—

"हम लोग कभी दरवाजा बंद नहीं करते हैं। हाँ! यदि कोई ऐसा स्थान है, जहाँ के दरवाजे सड़क आदि पर हैं, तब दरवाजा बंद कर लेते हैं अन्यथा जैन-धर्मशाला में कमरे के दरवाजे क्या बंद करना?"

खैर! तब से सर्दी के दिनों में प्रायः दरवाजा बंद करने की आदत डाली थी। गर्मी में तो कोई बात ही नहीं रहती है, खुले में ही सोना पड़ता है।

यहाँ कुछ दिन रहकर मैंने चूलगिरि के लिए विहार कर दिया। वहाँ पहुँचकर मंदिरों के दर्शन कर भगवान् आदिनाथ की विशालकाय प्रतिमा के दर्शन किये। उस समय का आनंद अनुभवगम्य ही था पुनः ऊपर शिखर पर जाकर निर्वाण भूमि की वंदना की।

बावनगजा क्षेत्र परिचय —

यह चूलगिरि सतपुड़ा शैलों में सबसे ऊँची चोटी कही जाती है। यहाँ पहाड़ के मध्य में एक ही पाषाण में उकेरी हुई भगवान आदिनाथ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी ८४ फुट ऊँची मूर्ति है। सर्वसाधारण में यह बावनगजाजी के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में इस प्रांत में हाथ को ही कच्चा गज मानने की परंपरा थी, चूंकि यह प्रतिमा बावन हाथ ऊंची है। जैन तीर्थों में एक यही मूर्ति इतनी विशाल—उत्तुंग है। इसके बराबर ऊँची अन्य कोई प्रतिमाएँ नहीं हैं। इस प्रतिमा में कोई लेख न होने से इसका निर्माण काल ज्ञात नहीं है अतः लोग इसे चतुर्थकालीन भी कहते हैं।

इन बावनगजाजी-भगवान आदिनाथ के अभिषेक के लिए पहाड़ी पर दोनों तरफ सीढ़ियां बनी हुई हैं।

पहाड़ की चोटी पर चूलगिरि मंदिर है। यही सिद्धभूमि है। यहीं से इंद्रजीत और कुंभकर्ण आदि अनेक मुनि मोक्ष गये हैं, जैसा कि प्राकृत निर्वाण कांड में पढ़ते हैं—

बडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्हि चूलगिरिसिहरे।
इंदजियकुंभयण्णो णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१२।।

बड़वानी नगर से दक्षिण की ओर चूलगिरि शिखर से इंद्रजीत और कुंभकर्ण आदि मुनि मोक्ष गये हैं, उन सबको मैं नमस्कार करता हूँ।

ऊपर मंदिर में तीन मुनिराजों के चरणचिन्ह बने हुए हैं तथा दो प्रतिमाएँ भी विराजमान हैं। इनके अतिरिक्त महामंडप में और भी अनेक मूर्तियाँ विराजमान हैं।

इस चूलगिरि की तलहटी में १९ जिनमंदिर हैं, एक मानस्तंभ है और चार धर्मशालाएं हैं।

ऋषभजयंती महोत्सव —

उधर श्रवणबेलगोल में भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबलि की ५७ फुट उत्तुंग प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक

होने वाला था। मैंने यहाँ पर चैत्र कृष्णा नवमी के दिन भगवान् आदिनाथ का जन्मदिवस होने से उन ८४ फुट उत्तुंग भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा का अभिषेक कराने की भावना व्यक्त की। श्रावकों ने इस पर विचार-विमर्श करके निर्णय किया और छोटा-मोटा आयोजन रखने की सूचना कर दी गई। १०८ कलशों से तथा दूध, दही, इक्षुरस आदि पंचामृत से अभिषेक की रूपरेखा बनाई गई।

लोगों को डर था कि "कहीं अभिषेक के निमित्त से मधुमक्खी के छत्तों से मक्खियाँ निकलकर उपद्रव न कर दें।"

किन्तु मैंने आत्मविश्वास से कह दिया—

"मधुमक्खियों का उपद्रव नहीं होगा, आप लोग निश्चिंत होकर अभिषेक की व्यवस्था बनाइये।"

वह मंगलदिवस आ गया। मुझे बहुत खुशी थी कि—

"श्रीबाहुबलिजी का अभिषेक देखने को नहीं मिला तो न सही, हम लोग उनके पिताश्री भगवान् आदिनाथ की ८४ फुट ऊँची प्रतिमा का अभिषेक यहाँ देखेंगे।"

आस-पास के गाँवों के कुछ श्रावक-श्राविकाएँ एकत्रित हो गये थे और अच्छे समारोह से अभिषेक संपन्न हुआ था। इतनी विशालकाय प्रतिमा के मस्तक पर पहले पंचामृत अभिषेक किया गया पुनः १०८ कलशों से अभिषेक किया गया किन्तु मूर्ति पूरी तौर से गीली नहीं हुई। फिर भी निराबाध रूप से अभिषेक संपन्न हुआ पुनः पूजा होकर भगवान की जन्मजयंती पर मेरा प्रवचन हुआ।

इस मध्य एक चर्चा बनी थी किन्तु सहज ही शांत हो गई।

लिखित बात प्रमाण होती है—

अभिषेक के समय बोलियाँ की गई थीं। उनमें से एक बोली किसी जैनेतर ने ले ली थी। पता न चल पाने से उसी के नाम छूट गईं पुनः जब उसका नाम पूछा गया, तब वह जैनेतर मालूम पड़ा। लोगों में आपस में चर्चा बन गई। किन्हीं ने कहा-

"चूँकि बोली इनके नाम से छूट चुकी है अतः अभिषेक इनसे ही कराना होगा।"

किन्हीं ने कहा—

"नहीं, यह बोली स्थगित करके फिर से की जाये, यहाँ क्षेत्र पर जैनेतर को अभिषेक करने की मनाही है।"

जैन-जैन ही आपस में उलझने लगे। मेरे पास समस्या लाये, मैंने कहा—

"आगम के अनुसार और अपनी गुरुपरम्परा के अनुसार जैनेतर से अभिषेक नहीं कराना चाहिए। स्वस्थ परम्परा नहीं बिगाड़नी चाहिए।"

इसके बाद प्रमुख श्रावकों ने बताया—

"यहाँ लिखित प्रमाण मौजूद है कि इस क्षेत्र पर दिगम्बर जैन ही अभिषेक पूजा कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं।"

कुछ क्षण पश्चात् उन महानुभाव ने स्वयं कहा—

"ठीक है, मैंने बोली ली है, रुपये भेजूँगा। अभिषेक कोई और—आप लोगों में से ही कर लेवें।"

चर्चा शांत हुई लोगों में प्रसन्नता का वातावरण बना रहा। आनन्द से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

उस चर्चा के प्रसंग में मेरे मन में यह विचार पैदा हुआ कि—

"सभी दिगम्बर जैन तीर्थों की कमेटी और सभी दिगम्बर जैन मंदिरों की कमेटी के विधान में यह नियम अवश्य होना चाहिए कि "यहाँ दिगम्बर जैन ही भगवान की पूजा-अभिषेक कर सकते हैं अन्य कोई नहीं।"

ऐसे ही दान लेने में भी नियम होना चाहिए कि—

"यहाँ दिगम्बर जैनों से ही दान लिया जाता है, अन्य लोगों से नहीं।" अभिषेक आदि की बोलियों के समय भी यह नियम रहना चाहिए कि—

"यहाँ किसी भी कार्यक्रम में, कोई भी बोली दिगम्बर जैन ही ले सकते हैं, अन्य नहीं।"

इसी प्रकार तीर्थों के मंदिरों में यदि यह भी नियम रहे, तो कितना अच्छा हो कि—

"वर्तमान में दिगम्बर जैन समाज में दो पंथ प्रचलित हैं—बीस पंथ और तेरह पंथ। इन दोनों सम्प्रदाय वाले दिगम्बर जैन, यहाँ अपनी-अपनी विधि से अभिषेक और पूजन कर सकते हैं, कोई रोक-टोक नहीं है।"

यह नियम दिगम्बर जैन तीर्थों पर सहज लागू किया जा सकता है, चूँकि तीर्थों पर पूरे भारतवर्ष से दिगम्बर जैन लोग दर्शन करने के लिए आते हैं और अपनी पंथ परम्परा के अनुसार अभिषेक-पूजा करके प्रसन्न होते हैं। दूसरी बात यह है कि-"दोनों पंथ वाले सर्वत्र दान भी तो देते ही हैं।"

हां! गाँव अथवा शहर के दिगम्बर जैन मंदिरों में यह परम्परा लागू करना कठिन है, वहाँ जिस पंथ के जो मंदिर हैं, ठीक हैं।

हस्तिनापुर में इस जम्बूद्वीप स्थल में मैंने यही परम्परा लागू कर दी है। सन् १९७५ में ही संस्थान की मीटिंग में पास करा दिया था कि दोनों सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी परम्परा से अभिषेक-पूजन कर सकते हैं।

यद्यपि मैं स्वयं चारित्र-चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागरजी की परम्परा की कट्टर हूँ और जयधवला के प्रमाण, श्रीपूज्यपाद आचार्यकृत पंचामृत अभिषेक पाठ आदि शास्त्राधारों से भी बीसपंथ के अनुसार ही शिष्यों को आदेश देती हूँ, फिर भी दिगम्बर जैन समाज में चालू हुए पंथभेद को देखकर और संघर्षों में उदारमना होकर ही मैंने यह नियम यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर बना दिया है। यह समन्वयात्मक पद्धति सब तीर्थक्षेत्रों पर अपनाई जाये तो तीर्थों पर बहुत ही शांति मिलेगी। देखो! अनेक कट्टर से कट्टर तेरापंथी भी दक्षिण में भगवान बाहुबलि का पंचामृत अभिषेक कर आते हैं।

मैं यहाँ क्षेत्र पर लगभग २०-२५ दिन रही हूँ। श्रवणबेलगोल जाकर वापस आने वाले अनेक यात्रियों की बसें यहाँ आईं। लोगों ने हमारे संघ के भी दर्शन किये।

उधर ब्र. सुगनचंद आदि भगवान बाहुबलि का महामस्तकाभिषेक देखकर अन्य तीर्थों की भी यात्रा करके वापस आ गये। इसके बाद मैंने भी संघ सहित यहाँ से विहार कर दिया। विहार के समय यहाँ के लोगों ने यहीं पर चातुर्मास करने के लिए अत्यधिक आग्रह किया था किन्तु हमें चूंकि आगे बढ़ना ही था। इच्छा थी कि सनावद, इंदौर होते हुए उदयपुर में आचार्यश्री शिवसागर जी के संघ में पहुँच जावें।

पावागिरि क्षेत्र दर्शन—

यहाँ से विहार कर मैं पावागिरि सिद्धक्षेत्र पर आ गई, इसे ऊन भी कहते हैं। यहाँ पर चार मुनियों का निर्वाण माना गया है। यथा—

पावागिरिवरसिहरे सुवण्णभद्दाइमुणिवरा चउरो।
चेलणाणईतडग्गे णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१३।।

चेलना नदी के किनारे पावागिरि के शिखर से सुवर्णभद्र आदि चार मुनि मोक्ष गये हैं, उनको मेरा नमस्कार होवे।

वि.सं. १९९१ से यह क्षेत्र प्रकाश में आया है। यहाँ एक किंवदन्ती प्रचलित है कि एक बल्लाल राजा ने १०० मंदिर निर्माण कराने की प्रतिज्ञा की थी, जिसमें से ९९ मंदिर बन गये थे, एक कम रह गया था अतः इस गाँव या क्षेत्र को 'ऊन' कहते हैं।

यहाँ पर खनन में जिनप्रतिमाएँ और चरणचिन्ह मिले हैं। क्षेत्र की जैन धर्मशाला के मध्य में एक महावीर

मंदिर बना हुआ है, एक चन्द्रप्रभ मंदिर है। इन दोनों मंदिरों के मध्य में सामने एक मानस्तंभ है।

इनके सामने ही ग्वालेश्वर या शांतिनाथ का मंदिर है। यह मंदिर एक ऊँची टेकड़ी पर बना हुआ है। सुवर्णभद्र आदि मुनियों की निर्वाण-भूमि यहीं मानी जाती है। इस शांतिनाथ मंदिर से उतर कर कुछ दूर पर एक ऊँची टेकरी मिलती है, इसे पंचपहाड़ी कहते हैं। इस पर छह छोटे-छोटे नवीन मंदिर बने हुए हैं। बहुत से पुराने मंदिरों के भग्नावशेष पड़े हुए हैं। यहाँ भगवान बाहुबलि की भी एक प्रतिमा विराजमान है। आचार्य श्री शांतिसागर जी के चरणचिन्ह भी बने हुए हैं, यह क्षेत्र खरगौन जिले में है।

सनावद आगमन —

क्षेत्र दर्शन कर खरगोन होते हुए मैं सनावद के निकट बेड़िया नाम के एक छोटे से गाँव में आ गई। यहाँ मंदिर के दर्शन किये और विश्राम किया। यहाँ आहार के बाद सामायिक करके हम लोग मंदिर में बैठे हुए थे। सनावद से कुछ श्रावक-श्राविकाएं आ गये, दर्शन किये और पास में बैठ गये। उनमें से एक नवयुवक ने पूछा—

"बड़ी माताजी कौन सी हैं?"

मैंने सहज ही आर्यिका पद्मावती की ओर संकेत कर कहा—

"ये हैं।" चूँकि ये उम्र में बड़ी थीं। किन्तु आर्यिका पद्मावती माताजी ने तत्काल ही विनय से मेरी ओर संकेत करके कहा—

"बड़ी माताजी ये ही हैं।"

एक क्षण के लिए वह श्रावक ऊहापोह में पड़ गया पुनः निश्चय करके ही मेरे पास बैठकर प्रार्थना करते हुए बोला—

"माताजी! हम लोग आपके विहार की व्यवस्था समझने के लिए सनावद से आये हैं।"

सनावद में कितने जैन घर हैं? कितने मंदिर हैं? इत्यादि कुछ चर्चायें हुईं, अनन्तर मैंने अपने विहार की रूपरेखा बता दी। उस नवयुवक का नाम था देवेंद्रकुमार शाह। इसने बातचीत के मध्य सनावद के रखबचन्द पांड्या की धर्मपत्नी कमलाबाई का परिचय दिया और बताया कि 'ये महिला समाज में अग्रणी हैं, कुशल कार्यकर्ता हैं और गुरुओं की भक्त है। साथ ही उसने बताया कि सनावद में एक मेरे साथी मोतीचंद सर्राफ हैं, उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है, वे भी अच्छे गुरुभक्त हैं।

उसी रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने एक स्वप्न देखा था कि—

"मेरा छोटा भाई प्रकाशचंद आकर, नमस्कार करके, मेरे चरणों के निकट बैठ गया है।"

मोतीचंद का परिचय सुनते ही मुझे वह स्वप्न याद आ गया। मैंने मन ही मन सोचा-

"हो सकता है, यह मोतीचंद मेरे प्रति समर्पित होकर मेरे भक्त बन जावें।"

वहाँ से विहार हो गया। मैं चैत्र सुदी पूर्णिमा को सनावद आ गई। लोगों ने प्रातःकाल बैंडबाजे के साथ स्वागत किया, जुलूस के साथ लाये, मंदिरों के दर्शन कराते हुए धर्मशाला में जुलूस को सभा के रूप में परिणत कर दिया।

मैं संघस्थ आर्यिकाओं के साथ तख्त पर बैठ गई। सभा में स्त्री-पुरुष अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। मैं कुछ क्षण मौन से बैठी रही, तभी एक नवयुवक ने आकर श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की—

"माताजी! हम लोगों को मंगल आशीर्वाद प्रदान कीजिये।" इसके बाद मैंने मंगल प्रवचन करते हुए मंगल आशीर्वाद दिया। सभा विसर्जित हुई । उसी समय देवेन्द्र कुमार ने मुझे परिचय दिया कि—"जिन्होंने श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की थी, ये ही मोतीचंद हैं।"

मैंने उनकी ओर देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और शुद्धि करने चली गई। समय पर भगवान के दर्शन कर,

हम लोग आहार के लिए निकले। निरंतराय आहार के बाद सामायिक किया।

यहाँ चैत्र मास में भी गर्मी खूब पड़ रही थी। संघस्थ ब्र. सुगनचंद को लू लग गई थी, स्वास्थ्य गड़बड़ हो गया था। आर्यिका जिनमती जी को भी गर्मी से परेशानी हो रही थी। ४-५ दिन यहाँ विश्राम रहा। यहाँ से सिद्धवरकूट दर्शन करने की भावना प्रबल थी किन्तु यहाँ के लोग आग्रह कर रहे थे—

"माताजी! अब आप यहाँ ही ठहरें, गर्मी बहुत है, कुछ दिन बाद सिद्धवरकूट के दर्शन करना। हम लोग आपका चातुर्मास यहीं करायेंगे।"

हमें चातुर्मास के पूर्व आचार्य श्री शिवसागर जी के संघ में उदयपुर पहुँचने की इच्छा थी किन्तु जिनमती को गर्मी सहन न होने से, मैंने आपस में सभी आर्यिकाओं से विचार-विमर्श किया, तब यही रहा कि—

"अब गर्मी में तो यहीं रुका जाय, भक्तिमान लोग हैं, आगे देखा जायेगा।"

लोगों ने कहा—

"माताजी! चातुर्मास के बाद हम लोग आपको मुक्तागिरि क्षेत्र की यात्रा करायेंगे पुनः आपको आचार्य संघ में पहुँचा देंगे।"

यहाँ की भक्ति विशेष देखकर मैंने ब्र. सुगनचंद से कहा—

"ब्रह्मचारी जी! अब इतनी गर्मी में विहार करना मुश्किल है अतः आप जा सकते हैं। चातुर्मास के बाद ही मेरा विहार होगा।"

ब्र. सुगनचंद जी भी मेरा आशीर्वाद और आज्ञा लेकर वहाँ से निकलकर, उदयपुर संघ में चले गये। हम लोग यहीं रह गये। यहाँ मेरे संघ में पाँच साध्वियाँ थीं। कु. शीला ब्रह्मचारिणी तथा गौराबाई ब्रह्मचारिणी थीं।

यहाँ महिला मंडल और नवयुक मंडल सक्रिय थे। श्री रखबचंद पांड्या और उनकी धर्मपत्नी संघ व्यवस्था आदि में आगे थे। साथ ही मंदिर माय सेठानी भी प्रतिदिन चौका करती थीं। श्रीचंद, त्रिलोकचंद, विमलचंद, मोतीचंद आदि हर एक व्यवस्था और भक्ति में एक से एक बढ़कर थे।

मध्यलोक रचना रूपरेखा —

यहाँ मध्यलोक रचना की चर्चा आई। लोगों ने रुचि से यह विवरण सुना और सभी को यह भावना बनी कि—

यह भव्य रचना सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र में ही होनी चाहिए। चूंकि यह क्षेत्र नर्मदा नदी के किनारे है अतः यहाँ यह रचना बहुत ही सुन्दर बनेगी।

श्रवणबेलगोल की यात्रा करके अन्य तीर्थों की यात्रा करते हुए कुछ यात्रीगण इधर सिद्धवरकूट यात्रा के लिए सनावद आये थे। उनसे टिकैतनगर में पिता श्री छोटेलाल जी को पता चला कि—

"आर्यिका ज्ञानमती माताजी इस समय सनावद में ठहरी हुई हैं।" तब उन्होंने अपने हाथ से ६-७ पेज का एक बड़ा सा पत्र लिखा। उसमें उन्होंने लिखा कि—

"हम लोग श्रवणबेलगोल के बाहुबलि भगवान का महामस्तकाभिषेक देखने के लिए एक बस में गये थे। हमारी उत्कट इच्छा थी कि दक्षिण में कहीं न कहीं ज्ञानमती माताजी (मेरी पुत्री) के दर्शन हो जायेंगे। यात्रा में प्रमुख हेतु आपके दर्शनों का ही था। किन्तु अनेक तीर्थों पर पहुँचने पर भी आपका पता हम लोग नहीं लगा पाये। तुम्हारी मां के तीन प्रतिमा के व्रत होने से जगह-जगह कुंये के पानी की बहुत दिक्कत हुई। अनेक जगह दूर-दूर कुंआ मिलने से टाइम-बेटाइम खिचड़ी आदि कुछ खाने को मिला, तो कभी नहीं भी मिला। वे भी तुम्हारे दर्शनों के लिए तड़फती ही रहीं। आखिरकार बस में पराधीन हुए हम सपरिवार पुत्र-पुत्रवधू समेत वापस घर आ गये....।"

इस पत्र में पिता ने अनेक प्रकार के मार्ग के कष्टों को लिखा था और श्रवणबेलगोल में उनकी बस दूर खड़ी हुई थी। वहाँ से कुंये का पानी मीलों पर कहीं मिल पाया था और भगवान बाहुबलि के दर्शन भी जैसे-तैसे ही पैदल चलकर हो पाये थे। उस समय पिताजी को कमर के दर्द आदि होने से पैदल चलना काफी कठिन था। केवल मेरे दर्शन की भावना से ही इन्होंने इस यात्रा में जाना स्वीकार किया था।

अतः उनके हृदय पर जो आघात पहुँचा था, रास्ते में कहीं भी मेरे दर्शन न मिल सकने से जो मानसिक वेदना व अशांति हुई थी, उसे ही उन्होंने कुछ शब्दों में लिखकर प्रकट कर दिया था और अन्त में मेरी सान्त्वना व आशीर्वाद के दो शब्द चाहते थे।

वह पत्र सनावद में मुझे प्राप्त हुआ। मैंने पूरा पढ़ लिया और संकोचवश वैसे ही अपनी चौकी पर डाल दिया। मोतीचन्द ने भी वह पत्र उठाकर पढ़ लिया और उनकी आँखें सजल हो गईं। मैंने कुछ भी लक्ष्य नहीं दिया। कुछ देर बाद मन में सोचने लगी—

"अहो! मोह का माहात्म्य अचिन्त्य है! देखो, ये लोग अभी भी मुझे अपनी पुत्री मान रहे हैं और मोह से व्यथित हो तड़फ रहे हैं। वास्तव में भला कौन किसका पिता है? कौन किसकी माता है? और कौन किसकी पुत्री है?....."

ऐसा सोचकर उस पत्र की और उसके विषय की पूर्ण उपेक्षा कर दी। बाद में सन् १९६८ के प्रतापगढ़ (राज.) के चातुर्मास में जब ये लोग आये, तब मुझे मालूम हुआ कि—

"पिताजी ने जो पत्र लिखा था, उसके उत्तर की प्रतीक्षा में दो शब्द आशीर्वाद की प्रतीक्षा में महीनों पागल जैसे रहे हैं, हर दिन की डाक में मेरा पत्र खोजते रहते थे। बाद में बहुत रोये हैं और बोले कि—

"देखो! ज्ञानमती माताजी कितनी निष्ठुर हैं, मेरे इतने बड़े पत्र का एक शब्द भी उत्तर नहीं दिया। अरे! किसी भी श्रावक से दो शब्द लिखा देतीं, तो क्या था?"

बस, उनके जीवन में यह पहला और अंतिम पत्र था। उसके बाद तो उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा।

इसके बाद जब वे प्रतापगढ़ में मिले और जब कभी मेरे पास आकर बैठते, अपना कुछ सुख-दुःख कहना चाहते या कुछ पूछना चाहते, तभी उनकी एक पुत्री कामिनी, जो साथ में आई थी और जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण थी, मैं उसे मेरे पास छोड़ने के लिए कह देती तो वे हँसकर बोलते-

"माताजी! आप बहुत स्वार्थी हो, कामनी को रखने के सिवाय और कुछ बात ही नहीं करती हो.....।"

पुनः कहते—

"देखो! अभयमती मेरी बिटिया कितनी कमजोर हो गई है। आपका शरीर भी संग्रहणी की बीमारी से कितना गिर गया है..... अब मैं अपनी किसी भी बिटिया को आपके पास नहीं छोडूँगा। आप उसे भी दीक्षा दिला दोगी....।"

इतना कहते, पुनः हँसने लगते और उठकर चले जाते थे।

आज उस पत्र का संस्मरण होते ही मैं सोचने लगती हूँ कि—

"सचमुच में मेरा हृदय परिवार के लोगों के प्रति कितना निर्मम था? वास्तव में जिन्हें घर से निकालकर मोक्षमार्ग में लगा सकी हूँ, उन्हीं के प्रति वात्सल्य हुआ है। अहो! इस मोह को जीते बिना मोक्ष प्राप्ति असंभव है।'

वहाँ सनावद में अकृत्रिम चैत्यालय रचना की रूपरेखा बनती गई, लोगों की रुचि बढ़ती गयी और इन सब कार्यों में मोतीचंदजी तथा रखबचंद्रजी और कमलाबाई आगे हो गये। मोतीचन्द ने एक बालकृष्ण नाम के अपने परिचित पेंटर को बुलाया और मुझसे रचना के एक-दो विषयों को समझाकर उसके चित्र बनवाये। सर्वप्रथम सुमेरुपर्वत का चित्र बनवाया गया। इसमें चारों ओर वन में हरियाली दिखलायी गयी, पास में

फव्वारे दिखाये गये अतः यह चित्र बहुत ही सुन्दर दिखने लगा। आगे जयपुर में 'जिनस्तवनमाला' और 'सामायिक' नाम की पुस्तक के कवर पर यह चित्र छप चुका है। दूसरा चित्र हिमवान् पर्वत के पद्म सरोवर से गिरती हुई 'गंगानदी' का था। इसमें नीचे कुंड में पर्वत पर गंगादेवी के भवन की छत पर, कमलासन पर जटाजूट सहित जिन प्रतिमा थीं, उनके मस्तक पर गंगानदी गिरते हुए दिखायी गई थी। यह चित्र भी लाखों लोगों को दिखाया गया है।

सिद्धवरकूट क्षेत्र दर्शन —

मैंने सिद्धवरकूट के लिए विहार किया। गर्मी में वहाँ कई दिन रही। वहाँ पर एक हजार फुट के घेरे में यह रचना बनाने के लिए मोतीचंद ने अपने साथियों सहित ज्येष्ठ की भयंकर धूप में खुले मैदान में जगह को मापा। इनका उत्साह और दौड़धूप देखकर मेरे मन में यह भाव आता था कि—

"इस रचना को पृथ्वी पर साकार रूप देने के लिए ऐसे उत्साही लोग ही समर्थ हैं।"

क्षेत्र परिचय —

प्राकृत निर्वाण काण्ड में लिखा है—

रेवाणइये तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूटे।
दो चक्की दहकप्पे आहुट्ठयकोडि णिव्वुदे वंदे।।११।।

रेवा नदी के किनारे पश्चिम दिशा की ओर सिद्धवरकूट क्षेत्र है। वहाँ से दो चक्रवर्ती, दस कामदेव और साढ़े तीन करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं, उनको मेरा नमस्कार होवे।

दस कामदेव के नाम वहाँ दीवार पर लिखे हैं, वे ये हैं—

१. सनत्कुमार २. वत्सराज ३. कनकप्रभ ४. मेघप्रभ ५. विजयराज ६. श्रीचंद ७. नलराज ८. बलराज ९. वसुदेव और १०. जीवंधर। यहाँ दस मंदिर हैं। एक बाहुबलि की प्रतिमा लगभग ७ फुट की विराजमान हैं।

इस क्षेत्र के निकट ओंकारेश्वर मंदिर है। उसका आकार प्रायः ॐ जैसा है। यह मान्धाता टापू पर है, जो नर्मदा और कावेरी के मध्य में है। मान्धाता एक पहाड़ी है जो प्रायः एक वर्गमील में है। यह मंदिर आजकल हिंदुओं के अधिकार में है। इस मंदिर का सूक्ष्म अवलोकन करने से लगता है कि वह मूलतः दिगम्बर जैन मंदिर रहा होगा। यहाँ के भग्नावशेष से भी जैन मंदिर का अनुमान लगता है। कुछ स्थापत्य विशेषज्ञों ने तो यहाँ तक अनुमान लगाया है कि ओंकारेश्वर मंदिर, कोल्हापुर का अंबिका मंदिर और अजमेर के ख्वाजा साहब की दरगाह, इन तीनों की रचना शैली में बहुत बड़ी समानता है। इस क्षेत्र के दर्शन करने के लिए पहले नाव से जाते थे। हम सभी आर्यिकायें भी नाव में बैठकर ही क्षेत्र पर पहुँचे थे।

यहां १०००×१००० फुट की जगह मापकर उसका मध्य निकाला गया और उसमें सर्वप्रथम सुमेरुपर्वत का शिलान्यास कराने का विचार बनाया गया।

मैं वापस सनावद आ गई थी। इंदौर के महानुभाव, जो कि इस तीर्थक्षेत्र की कमेटी में प्रमुख थे, वे लोग सनावद आये। पं. नाथूलाल जी ने अनेक प्रश्न किये—

"माताजी! क्या आप यह रचना बनवायेंगी?

मैंने कहा—

"मैं तो मात्र नक्शा बता दूँगी, श्रावक बनवायेंगे।

मैं न तो रुपये-पैसे की याचना करुँगी न, निर्माण कराऊँगी।

इस समूह में बाबूलाल जी पाटोदी, कैलाश चन्द जी चौधरी, सेठ हीरालाल जी कासलीवाल, धन्नालाल जी गोधा, माणिकचन्द जी काला, रतनलाल जी बड़ोदिया आदि महानुभाव उपस्थित थे। इन सभी ने इस

रचना की प्रशंसा की और यहीं बनाना चाहिए, ऐसी भावना व्यक्त की।

मेरे उत्तर से पं. नाथूलाल जी आदि भी प्रसन्न हुए। इन लोगों ने समझ लिया कि ये माताजी रुपये-पैसे की याचना करके निर्माण कार्य नहीं करायेंगी, मात्र ग्रन्थों के आधार से नक्शा बनवा देंगी, काम तो श्रावकों को ही करना-कराना होगा। इसके बाद सनावद के रखबचन्द जी पांड्या आदि ने सक्रिय कदम उठाया, सुमेरुपर्वत का एक नक्शा बनवाया गया।

मैंने कहा—

सोलापुर में म्हसवड़ गाँव की महिला ब्र. कु. कंकूबाई आई थीं। वे इस रचना की रूपरेखा से बहुत प्रभावित थीं। उन्होंने कहा था—"कहीं भी इसका निर्माण हो तो सुमेरुपर्वत मेरी तरफ से बनना चाहिए।"

इस बात को सुनकर विचार-विमर्श करके यहाँ से मोतीचन्द और त्रिलोक चन्द ये दोनों महानुभाव म्हसवड़ गये। वहाँ पर इन लोगों ने कंकूबाई से बातचीत की। उन्होंने भी पचास हजार रुपये की स्वीकृति देकर यह कहा कि—

"शिलान्यास का मुहूर्त निकालो, हम आयेंगे।"

शिलान्यास के मुहूर्त के अवसर पर कु. कंकूबाई आईं। सिद्धवरकूट में सुमेरु का शिलान्यास कार्य सम्पन्न हुआ। लोगों ने कंकूबाई को आदर दिया। कुछ लोग खण्डवा आदि स्थानों पर इन्हें ले गये। कुछ दिन बाद कंकूबाई का पत्र आया कि—

"मुझे उस प्रांत में एक-दो स्थान में जाकर बड़ा दुःख हुआ, वहाँ तो खण्डवा में सोनगढ़ी लोगों से परिचय कराया। मुझे तो उस प्रांत में कार्य करने से संतोष नहीं है।"

पत्र की भाषा मुझे याद नहीं है किन्तु अभिप्राय यही था। वे शिलान्यास के समय दस हजार रुपये लाई थीं, सो रखबचन्द जी पांडया को दे गई थीं। इन्होंने लिखा कि मैंने जो पचास हजार की स्वीकृति दी है, काम शुरू होने पर क्रम-क्रम से रुपये भेज दूँगी।

सोनगढ़ साहित्य बहिष्कार —

वास्तव में यहाँ सनावद में सन् १९६५ में इंदुमती माताजी का संघ सहित चातुर्मास हुआ था। उस समय वहाँ श्रावकों ने सोनगढ़ साहित्य का अपने मंदिर से बहिष्कार कर दिया था। कहते हैं कि यह सोनगढ़ साहित्य के विरोध और बहिष्कार का पहला प्रसंग था अतः यहाँ पर भी सोनगढ़ पार्टी अलग थी और मुनिभक्त समाज अलग था। मुनिभक्तों में सौ. कमलाबाई और महिलाएँ बहुत आगे थीं अतः मुझे इस सोनगढ़ पंथ से न कोई डर था और न कोई परेशानी ही।

इधर कुछ दिनों बाद इंदौर समाज के विशेष आग्रह से मैंने संघ सहित इंदौर के लिए विहार कर दिया।

इंदौर में शिक्षण शिविर —

यहाँ सनावद के नवयुवक मंडल और महिला मंडल ने इंदौर में शिक्षण-शिविर का आयोजन किया। इसमें द्रव्य संग्रह, छहढाला, तत्त्वार्थ सूत्र आदि का शिक्षण दिया गया एवं प्रतिदिन एक घंटा चर्चायें होती थीं। पं. मिश्रीलाल जी आदि चर्चा में भाग लेते थे। कंवरीलाल जी, फूलचन्द जी कासलीवाल आदि ने भी अच्छी रुचि ली थी।

यहाँ मारवाड़ी मंदिर, इतवारिया मंदिर आदि कई मंदिरों में मेरा उपदेश हआ, लोगों में गुरुभक्ति अच्छी थी। अनेक महानुभाव मिलकर यहीं चातुर्मास कराने के लिए श्रीफल चढ़ाने आये। श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की और बताया कि—

छहों गोट के लोग पहली बार एक साथ मिलकर आपके पास प्रार्थना करने आये हैं। इधर सनावद के

लोग चूंकि यहाँ भी बार-बार आते-जाते रहते थे। सौ. कमलाबाई पांड्या तो मेरे पास ही रह रही थीं। ये लोग सनावद में चातुर्मास कराना चाहते थे।

मैंने कहा—

"उदयपुर में आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज संघ सहित ठहरे हुए हैं, उनसे आज्ञा ले आइये, वे जहाँ के लिए कहेंगे, वहीं मैं चातुर्मास करूँगी।"

सनावद के मोतीचन्द, त्रिलोकचन्द, श्रीचन्द आदि कई महानुभाव अतिशीघ्र ही उदयपुर पहुँच गये। आचार्यश्री से निवेदन किया, तभी कुछ ऊहापोह करके आचार्यश्री शिवसागर जी ने संघस्थ ब्र. चांदमलजी-गुरुजी से सनावद चातुर्मास की स्वीकृति के लिए पत्र लिखवा दिया। पत्र लिखने के कुछ ही क्षण बाद इंदौर से कई महानुभाव आचार्यश्री के पास पहुँचे। तब आचार्यश्री ने कहा—

"भाई! अभी-अभी तो मैंने सनावद के लिए स्वीकृति देकर पत्र लिखा दिया है।"

अनेक अनुनय-विनय के बाद इंदौर के लोग वापस आ गये। इधर सनावद के लोगों ने आकर बताया कि वहाँ कोई महानुभाव बैठे हुए थे, आचार्यश्री ने कहा—

"देखो! आर्यिका ज्ञानमती जी इतनी दूर बैठकर भी मेरी आज्ञा मंगाकर चातुर्मास करती हैं, वे हजारों मील दूर थीं, फिर भी मेरी आज्ञा मंगाती थीं।

यद्यपि वे मेरे गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज से दीक्षित हैं, फिर भी मुझे गौरव देती हैं, यह इनकी विशेषता ही है.....।"

इन शब्दों को कहते हुए आचार्यश्री शिवसागर जी को मेरे प्रति कितना गौरव और वात्सल्य था, इससे सनावद के ये लोग अतीव प्रभावित हुए।

इधर इंदौर की सभा में दोनों पक्ष के लोग काफी अधिक उलझ रहे थे। मैंने बहुत ही प्रेम से लोगों को शांत किया। चूँकि इतना अधिक उत्साह होते हुए भी जब इंदौर में चातुर्मास का 'नहीं' हो गया, तब दुःखी मन होने से आवेश में उन लोगों के मुख से कुछ हल्ला-गुल्ला के माहौल में कुछ भी कह देना कोई बड़ी बात नहीं थी, हालांकि उखड़ने वाले, उलझने वाले दो-चार लोग ही थे।

यहां पर सेठ हीरालालजी कासलीवाल-भईया जी भी आये थे। उन्होंने मध्यलोक रचना के बारे में चर्चाएँ की थीं। सेठानी कंचनबाई जी भी आई थीं। उन्होंने अनेक चर्चायें कीं, पुनः वे बोलीं—

"माताजी! यह भव्य रचना आप इंदौर में बनवाइये। मेरे यहां कंचनबाग में बहुत बड़ी जगह है। यहाँ शहर में सभी साधन सुलभ रहेंगे और हजारों-लाखों लोग दर्शन करते रहेंगे।.....।"

किन्तु उस समय मेरे मस्तिष्क में यही बात थी कि—

"यह रचना तीर्थक्षेत्र पर ही होनी चाहिए। चूंकि पवित्रता आदि की रक्षा जैसी तीर्थ पर संभव है, वैसी शहरों में संभव नहीं है" अतः मैंने सेठानी जी की बातों को सुनकर, हँसकर टाल दिया और कहा—

"जहाँ योग होगा वहीं होगा.....।"

यहाँ पर पुराने बुजुर्ग लोगों ने आकर अच्छी भावनाएँ व्यक्त कीं। कहने लगे—

"माताजी! जैन समाज में मैंने बहुत दिनों बाद आप जैसी विदुषी साध्वी को देखा है। आपका प्रवचन प्रभावशाली है। आप जैसी आर्यिकाओं को इंदौर जैसी नगरी-जैनपुरी में चातुर्मास करना आवश्यक है। चलो, इस बार न सही, अगला चातुर्मास तो आप यहीं कीजिये। आपके यहाँ के चातुर्मास से जैनधर्म की अच्छी प्रभावना होगी.....।"

तब मेरे मन में सहसा आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर जी के प्रति यहाँ की घटी घटनायें याद आ गईं कि

जैसा पूर्व में सुना था, फिर भी मैं सोचने लगी—

"इस शहर में, जहाँ कुछ मुनि विरोधी लोग रहे होंगे, वहाँ गुरु भक्तों की भी कमी नहीं है.....मैं देखती हूँ कि प्रायः प्रतिवर्ष यहाँ कोई न कोई मुनिसंघ रहते ही हैं और धर्म प्रभावना के अनेक कार्य भी होते ही रहते हैं।"

सनावद की ओर पुनः विहार —

चातुर्मास का समय निकट आ रहा था अतः सनावद वालों के आग्रह से मैंने सनावद की ओर विहार किया। उस समय इंदौर के कितने ही भक्त पुरुष और महिलायें आँखों में अश्रु भर कर रो रहे थे। विहार के समय जिन-जिन घरों के सामने से मैं निकलती थीं उन-उन घरों के श्रावक-श्राविकाएँ दरवाजे पर मुझे रोककर दूध से चरण धोते थे और आरती करते थे। एक दरवाजे पर पुरुष वर्ग चरण प्रक्षालन करने लगे, महिलाएँ दरवाजे पर खड़ी रहीं। मैंने पूछा—

"ऐसा क्यों?" तब लोगों ने बताया—

"माताजी! इस घर में पुरुष वर्ग मुनिभक्त हैं और महिलाएँ सोनगढ़ी हैं।"

मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ। खैर! आज भी ऐसे घर बहुत हैं, जहाँ सोनगढ़ और मुनिभक्त दोनों विचारधारा के लोग हैं। दिल्ली में भी कई श्रावक मुनिभक्त हैं और उनकी धर्मपत्नी, बहनें, माता आदि सोनगढ़ी हैं, वे हम सभी साधुओं के पास आती भले ही हैं किन्तु नमस्कार और आहारदान की भावना नहीं रखती हैं।

£ ५२ ¤

मैं इंदौर से अपने संघ सहित सनावद आ गई। चातुर्मास स्थापना का मंगल दिवस आ गया। सभा में लोग श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना कर रहे थे, तभी मैंने सेठ अमोलकचंद जी सर्राफ को लक्ष्य करके कहा—

"अमोलक चंद जी! आप अपना बेटा मुझे गोद दे दीजिये।"

अमोलकचंद जी ने भी सहज भाव से कह दिया—

"माताजी! आपका ही बेटा है.....।"

मैंने कहा—'यों तो सभी कह देते हैं, आपका ही बेटा है लेकिन देते कितने लोग हैं...?"

खैर! इन्हें तो मालूम ही था कि जब मोतीचन्द ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा है, तब भला वह कितने दिन घर में रहेगा? मोतीचन्द की मां रूपांबाई मेरे पास बहुत कम बैठती थीं। प्रायः दर्शन करके या उपदेश सुनकर चली जाया करती थीं किन्तु अमोलकचन्द जी प्रायः आते थे और कुछ देर बैठते भी थे।

उस समय हँसी के माहौल में बात समाप्त हो गई। मैंने भी विधिवत् स्वीकृति देकर वहाँ चातुर्मास स्थापना की। यह वर्षायोग स्थापना क्रिया मैंने आषाढ़ शुक्ला चौदस की पूर्वरात्रि में की थी।

यहाँ श्रावकों ने मंदिर से जिनप्रतिमाजी लाकर धर्मशाला में विराजमान की हुई थीं। मेरे संघ के चैत्यालय की प्रतिमाजी भी यहीं विराजमान थीं। प्रातः अभिषेक होता था, अनन्तर मेरा उपदेश होता था। चातुर्मास में शिक्षण शिविर की व्यवस्था बनाई गई थी। रात्रि में बालक-बालिकाएं छहढाला आदि पढ़ते थे। श्यामाबाई एक महिला थीं, वे पढ़ाती थीं। दिन में मैं कुछ विद्यार्थियों को तत्त्वार्थ सूत्र, किन्हीं को पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय आदि पढ़ाती थी।

आलाप पद्धति-भक्तिपल्लवी —

अध्यात्म ग्रन्थों को समझने के लिए नयों का समझना आवश्यक है और आलाप पद्धति ग्रन्थ में नयों

का अच्छा विवेचन है। मैंने प्रथम गुच्छक पुस्तक से इस आलाप पद्धति का हिन्दी अनुवाद कर दिया था, उसको यहाँ मोतीचन्द ने छपवा लिया। उसी प्रकार मैंने पात्रकेसरी स्तोत्र का हिन्दी पद्यानुवाद किया हुआ था। उसे भी 'भक्तिपल्लवी' पुस्तक रूप में छपवा दिया। इसमें मेरे द्वारा रचित त्रिलोक वन्दना, सम्मेदशिखर वन्दना, उषावन्दना और जोड़ दिये गये थे।

शिक्षण शिविर में इन-इन पुस्तकों का भी अध्ययन चलाया गया था। यहाँ चातुर्मास में कुछ न कुछ विधान आदि भी होते रहते थे।

मध्यलोक चैत्यालय निर्माण में विघ्न —

आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज की प्रेरणा से एक ब्रह्मचारी द्वारा लिखा हुआ पत्र प्राप्त हुआ कि—

"आर्यिका ज्ञानमती माताजी! आप संघ सहित यहाँ आचार्यसंघ में आ जावें, यहां महावीर जी अतिशय क्षेत्र में यह रचना बनवानी है।.....।"

इधर इंदौर के श्रीमान भइयासाहब, सेठ हीरालाल जी कासलीवाल आदि ने कहा कि-"माताजी पहले एक लाख रुपये जम्बूद्वीप रचना के लिए बैंक में जमा करवा दें, फिर सुमेरुपर्वत का कार्य हम लोग प्रारंभ करने देंगे।"

लोगों ने मुझे यह सूचना दी। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, चूँकि मेरी यह नीति है कि—"रुपये बैंक में न रखकर निर्माण कार्य कराते जावो, तभी तो दातारों को रुपया देने में उत्साह रहेगा।" दूसरी बात यह कि मैंने पहले ही कह दिया था कि—"रुपये एकत्रित करना मेरा काम नहीं है, मैं तो केवल नक्शा-रूपरेखा बता दूँगी।"

इधर इंदौर वालों की ऐसी सूचना, उधर आचार्यश्री का आदेश। इन दोनों कारणों से वहाँ सिद्धवरकूट में निर्माण कार्य प्रारंभ ही नहीं किया गया। इसी मध्य में निवाई के सेठ हीरालाल जी पाटनी, जो कि आचार्य संघ के प्रमुख भक्त थे, गिरनार यात्रा कराने के बाद से संघपति कहलाते थे। ये महानुभाव और ब्र. सूरजमल जी, दोनों लोग सनावद आये। इस रचना की रूपरेखा सुनी, विचार-विमर्श किया और बार-बार यही कहने लगे—

"माताजी! चातुर्मास के बाद आप विहार करें, संघ में पहुँचें। आचार्यश्री की इच्छानुसार यह रचना श्रीमहावीरजी क्षेत्र पर ही बनवानी है।"

इधर प्रभावनापूर्वक यहाँ का चातुर्मास संपन्न हुआ।

मुक्तागिरि तीर्थ के लिए विहार —

यहाँ सेठानी-मंदिरमाय, रामकुंवर बाई कमलाबाई पांड्या आदि सभी का आग्रह था कि—

"माताजी! यहां से मुक्तागिरि तीर्थ क्षेत्र लगभग ढाई सौ मील है। आप यहीं से यात्रा के लिए विहार करके दर्शन कर लीजिये पुनः राजस्थान प्रान्त में जाने के बाद आपका आना कहाँ संभव है?"

आर्यिका जिनमती जी को चातुर्मास में बहुत दिनों तक मलेरिया ज्वर चलता रहा था, वे कमजोर हो गई थीं अतः इन्होंने यात्रा के लिए मना कर दिया। क्षुल्लिका अभयमती ने भी पहले दर्शन किये हुए थे अतः मैंने इन दोनों को यहीं सनावद रहने का आदेश दिया और संघस्थ आर्यिका पद्मावती जी, आर्यिका आदिमती जी, तथा क्षुल्लिका श्रेयांसमती जी, इन तीनों को साथ में लेकर यात्रा के लिए विहार कर दिया।

संघ की व्यवस्था में मंदिरमाय-सेठानी प्रमुख थीं और पुरुषों में सारी जिम्मेदारी मोतीचंद ने संभाली। कई श्रावक-श्राविका साथ में थे। मगसिर माह की बढ़ती हुई ठंड में हम लोग दोनों टाइम चलते थे। आश्चर्य इस बात का था कि आदिमती जी, जो दक्षिण में बराबर दो वर्ष तक बीमार रही थीं और जिनको बड़ी मुश्किल से डोली में बिठा कर विहार कराकर यहाँ तक लाये थे, वे इस मध्यप्रदेश में जलवायु के बदलने से स्वस्थ हो गईं और मेरे साथ बराबर पैदल चल रही थीं। इस प्रत्यक्ष उदाहरण को देखकर 'जलवायु का शरीर पर

प्रभाव पड़ता है' यह लोगों की बात आखिर माननी ही पड़ी।

रास्ते में मंदिरमाय एक चौका करती थीं, दूसरा कु. शीला करती थीं। मुझे आश्चर्य यह होता था कि इन मंदिरमाय सेठानी का भारी शरीर था, फिर भी उन्हें आलस नहीं था। उठने में किंचित् समय भले ही लगता था, फिर भी उनमें स्फूर्ति थी। दिन भर काम करके भी प्रायः रात्रि में जब मैं सामायिक और पाठ आदि करके लेट जाती, तब कभी नव-दस बजे तक वे बैठी रहतीं, मेरे लेटने के बाद ऊपर से थोड़ी घास ढककर जातीं। उन्हें ऐसा लगता—

"इतनी भयंकर दिसंबर की ठंड में माताजी एक साड़ी में ही कैसे सोती हैं?"

वे ऊपर से घास ढककर जातीं किन्तु जरा सी देर में करवट बदलते ही वह घास गिर जाती। मैं सोचने लगती—

"देखो! ऐसी वृद्धा महिला को वैयावृत्य करने की कितनी भावना है? गुरुओं के प्रति कितनी भक्ति है? वास्तव में ऐसे जीव ही भव्य हैं, संसार से पार होने का ही पुरुषार्थ कर रहे हैं।"

मार्ग में एक वैराग्य घटना —

इस यात्रा में दो बैलगाड़ियाँ थीं। एक आगे चौके के स्थान पर चली जाती थी और दूसरी पीछे रहती थी, जिस पर हम लोगों की घास रहती थी। यह प्रातः मेरे विहार के बाद वहाँ से घास लेकर रवाना होती थी। एक दिन मध्यान्ह में किसी ने पिछली गाड़ी वाले से और उसकी पत्नी से सहज ही कह दिया कि—

आज तुम्हारी पत्नी आगे गाड़ी में जायेंगी, तुम पीछे रहना। एक स्थान पर हम लोग पहुँचे। गाड़ी वाला सायंकाल में सामायिक के समय बाहर खूब खांसी आने से परेशान हो रहा था। मैंने सामायिक पूरी करके मोतीचन्द से कहा—

"इसे अंदर बुला लो और इसके गले में कुछ तेल आदि की मालिश कर दो।"

मोतीचन्द ने उसी समय संकोच छोड़कर उसकी वैयावृत्ति की किन्तु उसे आराम न दिखने से मैंने कहा—

"मोतीचन्द! जल्दी जावो, डाक्टर को बुला लावो।"

वे उधर जल्दी से डाक्टर को लेकर आये, इधर मैंने देखा, वह सांस जोर-जोर से ले रहा है। डाक्टर तो आकर इंजेक्शन लगाने की तैयारी में था। मैंने दूर से देखा कि उसके मुँह से फेन सा आ गया। तत्क्षण ही मैंने णमोकार मंत्र सुनाना शुरू कर दिया, कुछ संबोधा भी। उसी समय उसके प्राण निकल गये। मोतीचन्द डाक्टर से कहते रहे—

"अरे! इसे इंजेक्शन लगावो.....कुछ दवाई देवो।"

डाक्टर ने कहा—

"अब सब कुछ बेकार है, यह बुड्ढा मर गया।"

मोतीचन्द एकदम हक्के-बक्के रह गये। डाक्टर तो चले गये। पास में एक-दो मुसलमान थे। उन्होंने राय दी—

"भाई! आप लोग यात्री हैं, दिन उगते ही इस बुड्ढे का पुलिस केस बन जायेगा अतः आप यहाँ के सरपंच को बुलाकर यह सूचना दे दो।....."

इधर रात्रि के करीब ग्यारह बज रहे थे। मोतीचन्द इन लोगों के बताये अनुसार जंगल में ही काफी दूर तक पास के गांव में गये। सरपंच आदि को बुलाकर लाये पुनः सारी बातें बताई। किसी ट्रक से, आगे गई बैलगाड़ी से गई हुई उसकी पत्नी को बुलाया गया। इन कार्यों में दौड़-धूप में मोतीचन्द रात्रि के दो बजे तक

इधर-उधर घूमते ही रहे।

संघस्थ आर्यिका पद्मावती ने कहा—

"अम्मा! यह नवयुवक लड़का मोतीचन्द, उसे आप रात्रि में श्मशान जैसे जंगलों में कहाँ भेज रही हैं? रोक दो इसे, अर्धरात्रि में बार-बार कहीं मत भेजो.....

वे काफी घबरा रही थीं।" फिर भी मैं मौन रही, रात्रि में वहाँ निर्जन स्थान में बैठी रही। चूँकि पास में मृतक शव पड़ा हुआ था, अतः बाहर के बरामदे में भयंकर सर्दी में हम सभी आर्यिकायें बैठी हुई णमोकार मंत्र जपती रहीं। प्रातः सामायिक करके हम लोगों ने विहार कर दिया। इधर मोतीचन्द ने वहाँ के सरपंच के साथ मिलकर उस महिला के साथ में वहीं शमशान में उसकी दहन क्रिया करवाई।

उस महिला ने भी यह लावो, वह लाओ, कह-कहकर मोतीचन्द को खूब दौड़ाया। उसकी अंत्येष्टि कराकर ये लोग मध्यान्ह में यहाँ हमारे पास आ गये। मैंने चिन्तवन किया-

"अहो! संसार में किसी के जीवन-मरण का कुछ भी भरोसा नहीं है।" यद्यपि वह बुड्ढा दमा की बीमारी से परेशान था, उसकी मृत्यु कोई आश्चर्यजनक नहीं थी, फिर भी यह मेरे सामने मृत्यु का पहला दृश्य था।

उस रात्रि में वह स्थान निर्जन था। कुछ दूर पर एक गाँव था। मोतीचन्द का रात्रि में दस बजे से २-३ बजे तक घूमते रहना, सभी आर्यिकाओं को अखरा। मैंने कहा—

"मोतीचन्द ने यह उक्ति चरितार्थ कर दी कि आधी रात में इन्हें यदि शमशान भूमि में खड़ा कर दिया जाये, तो खड़े होने को तैयार हैं।" मोतीचन्द की यह आज्ञा पालन प्रवृत्ति और निर्भीकता सभी शिष्यों के लिए अनुकरणीय है। वैसे इन्होंने एक बार बताया था कि—बचपन में मैं घर में ऊपर से नीचे अकेले आने में डरता था। उस समय जिम्मेदारी, गुरुभक्ति और महामंत्र के स्मरण से मैं निर्भीक बना रहा था।

परतवाड़ा —

चलते-चलते क्रम से क्षेत्र के निकट एक गाँव परतवाड़ा में पहुँचे, वहाँ श्रावकों में खूब अच्छी भक्ति है। एक-दो दिन विश्राम किया, श्रावकों ने आहार दान दिया, उपदेश सुना, अच्छे प्रभावित हुए पुनः यहाँ से मैंने क्षेत्र दर्शन के लिए विहार कर दिया।

मुक्तागिरि क्षेत्र-दर्शन —

तीर्थक्षेत्र पर पहुँचकर मन्दिर के दर्शन किये और धर्मशाला में ठहर गई। आहार के बाद मध्यान्ह में तीर्थ वन्दना के लिए ऊपर पहाड़ पर चढ़ी। ऊपर मैंने मंदिरों के दर्शन किये, सिद्धगति को प्राप्त मुनियों की वन्दना की और झरने का मनोरम दृश्य देखा। मन प्राकृतिक सुषमा से प्रसन्न हुआ और मैं सोचने लगी—

"भगवन्! ऐसे-ऐसे पर्वतों पर, गिरि-कंदर की गुफाओं में, निर्जन वनों में और नदी के किनारे एकाकी विचरण करते हुए, शुद्धात्मा के ध्यान का अवसर मुझे भी प्राप्त हो। हे नाथ! इस भव में न सही, अगले भव में प्राप्त हो। आत्मा को शुद्ध परमात्मा बनाने का पुरुषार्थ तभी सफल हो सकता है।

क्षेत्र-परिचय —

यहाँ से साढ़े तीन करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं, ऐसा निर्वाण कांड में लिखा है-

अच्चलपुरवरणयरे ईसाणभाए मेढगिरिसिहरे।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं।।१६।।

अचलापुर नगर की ईशान दिशा में स्थित मेढ़ागिरि के शिखर से जो साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उनको मेरा नमस्कार होवे। इसे वर्तमान में मुक्तागिरि या मेढ़ागिरि कहते हैं।

इस क्षेत्र पर धर्मशाला में सीढ़ियाँ चढ़कर दो मंदिर हैं। आदिनाथ मंदिर और महावीर मंदिर।

पर्वत पर पार्श्वनाथ मंदिर आदि से लेकर ५२ जिनमंदिर हैं। ९ नं. का आदिनाथ मंदिर है। इसके पीछे जलप्रपात है, जहाँ १०० फुट ऊपर से जल गिरता है। प्रपात के बायीं ओर गुहामंदिर है, यही मेढ़ागिरि मंदिर कहलाता है। कहते हैं कि इस जलप्रपात के निकट इस गुफा के सम्मुख एक मेढ़ा गिरा था, जिसे एक मुनिराज ने णमोकार मंत्र सुनाया था। उसके प्रभाव से वह मरकर देव बना था, पुनः उसने उस स्थल पर मोतियों की वर्षा की थी। इसी हेतु से इस क्षेत्र के मुक्तागिरि और मेढ़ागिरि ये दो नाम प्रसिद्ध हैं।

कहते हैं कि वर्षा ऋतु आदि में यहाँ का झरना देखने लायक बहुत ही सुन्दर रहता है।

यहाँ क्षेत्र पर ४-५ दिन रहकर वन्दना करके, हम लोग विहार कर वापस परतवाड़ा आ गये। यहाँ से भी विहार कर जिस मार्ग से गये थे, उसी मार्ग से वापस खंडवा होते हुए सनावद आ गये। पूरी सर्दी में यह यात्रा सम्पन्न हुई। हम सभी का स्वास्थ्य ठीक रहा। अब सनावद आने के बाद आचार्य शिवसागर जी के संघ में पहुँचने के लिए विहार का कार्यक्रम बनाया गया।

आचार्य संघ की ओर विहार —

साथ में मंदिरमाय, विमलचन्द की माँ, आदि कई महिलाएँ थीं। मोतीचंद के मामा के सुपुत्र नवीनचन्द जैन नवयुवक व्यवस्था संभालने की जिम्मेदारी लेकर साथ में थे। यहाँ के यशवंत कुमार, जिनके पिताजी उनके व्यवहार से दुखी रहते थे और मेरे पास अनेक बार शिकायत लाते रहते थे, उन्हें (यशवंत कुमार को) मैंने वैराग्य का उपदेश देकर संघ में चलने के लिए मोड़ दिया था, वे भी साथ में थे।

मैं बड़वाह, इंदौर होते हुए रतलाम आई। यहां से बांसवाड़ा आ गई।

शिष्य लाभ —

बांसवाड़ा में मैंने एक दिन उपदेश में कहा —

"यदि प्रत्येक गाँव में एक-एक श्रावक अपनी एक-एक पुत्री मुझे दे दें, तो मैं उन्हें पढ़ाकर विदुषी बना दूँ, जिससे घर-घर में सीता, मनोरमा जैसी नारीरत्न दिखने लगें.....।"

इस उपदेश से प्रभावित होकर पन्नालाल नाम के एक श्रावक ने वहीं सभा में ही अपनी ९-१० वर्षीया पुत्री कनकलता और ११-१२ वर्षीया पुत्री कला को (दोनों को) मेरे पास बिठा दिया और बोले —

"माताजी ! पाँच वर्ष के लिए इन दोनों कन्याओं को मैं आपको देता हूँ।"

सभा में करतल ध्वनि से सभी ने उनका सम्मान किया। मैंने उन पुत्रियों से पूछा-

"बेटी ! तुम माता-पिता को छोड़कर मेरे पास रहोगी?"

वे दोनों बोलीं —

"हाँ, माताजी ! रहेंगे।"

उस समय इन दोनों को उसी रूप में मैंने अपने संघ में ले लिया। यहाँ आम सभा में एक दिन मेरा प्रवचन हो रहा था। लोहारिया का एक बालक उपदेश सुनकर मेरे पास आया और बोला —

"माताजी ! मैं आपके संग में रहूँगा। शादी नहीं करूँगा।"

किंतु उसके माता-पिता जबरदस्ती उस बालक को ले गये। कई दिन बाद इधर आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज ससंघ विहार कर रहे थे। वह बालक उनके संघ में पहुँच गया। वहीं रहकर उसने क्षुल्लक दीक्षा ले ली।

श्री महावीर जी में सन् १९६९ में आचार्य श्री विमलसागर जी का संघ आया था, वहीं आचार्य धर्मसागर जी के संघ में मैं थी। इन क्षुल्लक जी ने आकर मुझसे निवेदन किया —

"माताजी ! मैं आपके पास कुछ दिन रहकर व्याकरण, न्याय और सिद्धान्त ग्रंथ पढ़ना चाहता हूँ।"

मैंने कहा—

"मेरा नियम है कि मैं किसी के शिष्यों को, बिना उनके गुरु की आज्ञा के, अपने संघ में नहीं रखती हूँ।"

वे आचार्य श्री विमलसागर जी की आज्ञा लेने गये, तब महाराज जी ने कहा—

"माताजी! आप इन्हें छोड़कर और किसी को ले जाकर पढ़ा दो।"

बात खत्म हो गई थी। आज उस संघ में वे मुनि बनकर आचार्य भरत सागर जी के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कु. सुशीला —

कलकत्ता के सन् १९६३ के चातुर्मास में मैंने मुनिश्री श्रुतसागर जी की गृहस्थावस्था की पुत्री सुशीला को संस्कारित करके उसे ब्रह्मचर्य व्रत दिया था किन्तु उसके भाइयों के विरोध से वह मेरे पास अभी तक नहीं आ सकी थी। वहाँ आचार्य संघ में कुछ माह से आई थी। वहाँ आर्यिका विशुद्धमती से कुछ अध्ययन कर रही थी। यहाँ निकट आ जाने से वह सुशीला भी संघ से यहाँ मेरे पास आ गई। उसने ऐसा माना कि—

"आज मेरी सच्ची माता मुझे मिल गई है।"

तब से दीक्षा लेने तक वह मेरे पास ही रही। सन् १९७४ में दिल्ली में आर्यिका श्रुतमती बनी थीं। पुनः ये अपने पिता आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज के संघ में रही थीं, अब आर्यिका आदिमती जी के पास हैं।[१]

मेरे संघ की व्यवस्था नवीन चन्द संभाल रहे थे अतः हम लोग वात्सल्य से इन्हें संघपति कह देते थे। मंदिरमाय जैसी सेठानी की गुरुभक्ति की जितनी प्रशंसा की जाये, थोड़ी है। इन्होंने सनावद में मेरे रहने तक बराबर चौका लगाया। घर में अकेले होकर भी सारा काम कर लेती थीं। उनकी उम्र उस समय ६५-७० के लगभग थी। फिर भी मुक्तागिरि की यात्रा में चौका लगाया, पुनः इधर संघ में पहुँचाने तक के लिए मेरे साथ आई थीं। विमलचन्द की मां भी वृद्धा थीं, फिर भी प्रतिदिन वे मेरे साथ पैदल ही चलती थीं।

यहाँ बांसवाड़ा से मैं सलुंबर पहुँची। सलुंबर में सेठ बदामी लाल जी गांधी ने अपने चैत्यालय के निकट एक कमरे में मुझे ठहराया था। सनावद से मोतीचन्द आदि कई एक महानुभाव यहाँ आ गये थे।

यहाँ बदामीलाल जी ने एक दिन मुझसे से कहा—

"माताजी! यहाँ एक सरोवर है, उसके मध्य में मैं भगवान् महावीर का मंदिर बनवाना चाहता हूँ। आप आशीर्वाद दें, जिससे मुझे सफलता मिले। उनकी सारी रूपरेखा समझकर मुझे भी प्रसन्नता हुई और मैंने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—

"धर्म-कार्य में आपको सफलता अवश्य मिलेगी। इस तालाब में मंदिर बनवाकर आप इसे एक तीर्थ रूप बनायेंगे.....।"

आचार्य संघ के दर्शन —

यहाँ से विहार कर मैं संघ सहित करावली नाम के गांव में पहुँची। आचार्य श्री शिवसागर जी संघ सहित वहीं विराजमान थे।

उधर संघ से आर्यिका विशुद्धमती जी आदि, क्षुल्लक संभवसागर जी आदि साधुगण तथा गाँव के श्रावक-श्राविकायें सन्मुख स्वागत के लिए आ गये थे। हम छहों साध्वियाँ अपने शिष्य परिकर के साथ आचार्यश्री के निकट पहुँचे। सर्वप्रथम मंदिर के दर्शन किये पुनः आचार्य श्री के सामने पहुँचकर पाँच वर्ष के बाद आज आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज के दर्शन किये। हम लोगों की आँखों से अश्रु की धारा बह चली। ये आँसू आनन्द के आँसू थे। गुरु-शिष्यों का यह मिलन श्रावक लोग बड़ी उत्कंठा से देख रहे थे।

संघ की महिलायें, मोतीचन्द, यशवंत, कु. शीला, सुशीला, कला और कनक सभी ने आचार्यश्री के

---

१. यह प्रसंग सन् १९८७ में लिखा गया।

दर्शन किये। आचार्यश्री ने सबकी ओर प्रसन्नता से देखा और बोले—

"ज्ञानमती जी खूब संघ बढ़ाकर लाई हैं.....।"

पुनः आचार्य श्री ने सभी को खूब आशीर्वाद दिया। मैंने आचार्यश्री से रत्नत्रय कुशल पूछी। आचार्यश्री ने भी हम सभी से रत्नत्रय कुशल पूछा। इसके बाद हम लोगों ने मुनिश्री श्रुतसागर जी आदि मुनियों के दर्शन किये। जिन्हें पुत्रवत् वात्सल्य दिया था और जिन्हें मुनिदीक्षा लेने के लिए प्रेरणा देते हुए लाखों पुरुषार्थ किये थे, ऐसे मुनिश्री अजितसागर जी के दर्शन किये, अन्य मुनियों के भी दर्शन किये पुनः आर्यिका वीरमती माताजी के पास पहुँची, उनको वंदामि किया, अन्य बड़ी आर्यिकाओं को वंदामि किया।

आर्यिका विशुद्धमती से मिलकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। चूँकि श्रवणबेलगोल, सोलापुर और सनावद में इनके लिखे हुए पत्र मेरे पास बहुत आये थे। उन पत्रों में इन्होंने मेरे प्रति जो भक्ति भावना प्रदर्शित की थी, वह बहुत विशेष ही थी, चूँकि ये अपने गुरु अजितसागर जी की सच्ची माता के रूप में मुझे देखती थीं।

इस समय आर्यिका पद्मावती, आर्यिका जिनमती भी बहुत प्रसन्न थीं। आर्यिका आदिमती, जो कि दो वर्ष लगभग बीमार रह चुकी थीं, अब स्वस्थ होकर आकर मिली थीं। क्षुल्लिका श्रेयांसमती और क्षुल्लिका अभयमती भी प्रसन्न थीं।

आचार्यश्री मेरे इन बाल ब्रह्मचारी मोतीचंद, यशवंत, शीला आदि छह शिष्यों को देख-देखकर बहुत ही गद्गद हो रहे थे।

क्षुल्लक संभवसागर, जो कि ब्र. सुरेशचंद थे, इन्हें मैंने हैदराबाद से आचार्य संघ में भेजा था। आज वे क्षुल्लक संभवसागर जी बने हुए थे। उनके भी हर्ष का पार नहीं था। वे बार-बार यही कहते थे कि—

"मेरी माता चार वर्ष बाद आज मुझे मिली हैं।"

दान की प्रेरणा —

अगले दिन आचार्यश्री का सनावद के चौके में पड़गाहन हो गया। मोतीचंद आदि ने पड़गाहन किया था। नवधाभक्ति करके खूब हर्षोल्लास से आचार्यश्री को आहार दिया। निरंतराय आहार होने के बाद आचार्यश्री को आंगन में तख्त पर बिठाकर आरती की। इसके बाद आचार्यश्री बोले—

"हाँ, भाई! हमें दक्षिणा चाहिए, बोलो क्या दक्षिणा देना है?" तभी मंदिरमाय ने ५००) रुपये दान में बोले पुनः आचार्यश्री ने मोतीचंद से प्रेरणा की। मोतीचंद ने भी २००) रुपये बोल दिये पुनः आचार्यश्री ने हंसते हुए कहा—

"देखो, तुम लोग नियम लेवो, यह त्याग की दक्षिणा मुझे चाहिए।" तब इन लोगों को कुछ न कुछ नियम दिया और मोतीचन्द से बोले—

"तुम्हें तो अब संघ में रहना है, घर जाने का त्याग करो।"

मोतीचंद ने हँसते हुए कहा—

"महाराज जी! अभी तो घर जाना है, फिर मैं पिताजी की आज्ञा लेकर आऊँगा, तब रहूँगा.....।"

बाद में आचार्यश्री ने कहा—

"देखो! इन सात सौ रुपयों से शांतिवीरनगर महावीरजी से 'समाधि-तंत्र' पुस्तकें मंगाकर संघों में वितरित कर देना.....।"

आचार्यश्री की आज्ञा से ऐसा ही किया गया। आचार्यश्री श्रावकों से जितनी सरलता से हँसते हुए "दक्षिणा देना है" ऐसा बोलकर, जो शास्त्रदान-ज्ञानदान करा लेते थे, वह उनका बुद्धिचातुर्य ही था। आज भी हमें उनकी यह पद्धति याद आ जाती है।

वास्तव में उनकी प्रेरणा से ही शांतिवीरनगर-महावीरजी में इतनी विशालकाय भगवान् शांतिनाथ की २५ फुट की मूर्ति विराजमान हुई है। उन्होंने यह बात मुझे स्वयं कही थी कि—

"माताजी! मेरे मन में विशाल खड्गासन प्रतिमा यहाँ महावीर जी में विराजमान कराने का भाव था, तब मैंने डीमापुर की महिला अंगूरीबाई से प्रेरणा की थी और मेरी प्रेरणा से उन्होंने यह मूर्ति यहाँ विराजमान करायी है।"

इसके बाद और अन्य साधु-साध्वियों के आहार सनावद वालों के चौके में हुये। बाद में ये सब सनावद के लोग आचार्यश्री आदि साधुओं का और मेरा आशीर्वाद लेकर वहाँ से रवाना होकर सनावद पहुँच गये।

पाँच वर्ष की यात्रा का उपसंहार—

सन् १९६२ के दिसम्बर माह में मैंने आचार्य श्री का संघ 'नावा' राजस्थान से छोड़ा था। वहाँ से निकलकर पदमपुरा महावीरजी और मथुरा सिद्धक्षेत्र के दर्शन किये पुनः सन् १९६३ में अयोध्या, नौराही-रत्नपुरी, बनारस, चंपापुरी, राजगृही, कुण्डलपुर, पावापुरी, गुणावां दर्शन करते हुए सम्मेदशिखर पहुँची। महान तीर्थराज के दर्शन किये।

अनंतर सन् १९६४ में पुनः कलकत्ता चातुर्मास से सम्मेदशिखर आकर गिरिराज की वंदनाएँ कीं पुनः यहाँ से विहार करके उड़ीसा में खंडगिरि-उदयगिरि की यात्रा की।

सन् १९६५ में श्रवणबेलगोल में विराजमान भगवान बाहुबलि के दर्शन किये। एक वर्ष उनके चरण सान्निध्य में रहने का शुभ अवसर मिला। इसके बाद सन् १९६६ में मूडविद्री, कारकल, वेणूर, हुम्मच पद्मावती, धर्मस्थल, कुदकुंदाद्रि के दर्शन किये पुनः बीजापुर आकर निकटवर्ती क्षेत्र बाबा नगर के दर्शन किये। इसके बाद सोलापुर चातुर्मास के अनंतर विहार कर कुंथलगिरि के दर्शन करके तेर, पैठण, कचनेर आदि अतिशय क्षेत्रों के दर्शन किये और पुनः औरंगाबाद पहुँच गई।

इसके बाद सन् १९६७ में एलोरा के दर्शन करके आगे बढ़कर गजपंथा और मांगीतुंगी के दर्शन किये पुनः बड़वानी, ऊन के दर्शन करके सिद्धवरकूट के दर्शन किये। उसके बाद सनावद से विहार कर राजस्थान में संघ में आ गई।

इन पाँच वर्षों में मैंने १९६३ में कलकत्ता में चातुर्मास किया। १९६४ में हैदराबाद में चातुर्मास किया। १९६५ में श्रवणबेलगोल में चातुर्मास किया। १९६६ में सोलापुर में किया तथा १९६७ में सनावद में चातुर्मास किया था।

मैं संघ में सकुशल सब आर्यिकाओं और क्षुल्लिकाओं को लेकर आ गई। मुझे भी खुशी हुई और संघ में सभी साधु-साध्वियों को भी खुशी हुई।

मेरी स्मृतियाँ

चतुर्थ खण्ड

५३

आचार्य संघ के साथ —

सलूंबर में जैन समाज में हूमड़ जैन, नागदा जैन, नरसिंहपुरा जैन आदि जैन जातियों के परिवार हैं। अच्छी गुरुभक्ति है। यहां पर उस समय सौ से अधिक चौके लगते थे। विशेषता यह थी कि सभी शूद्र जल त्यागियों के थे। लोग अपने-अपने दरवाजे के सामने साधुओं का पड़गाहन करते समय जब जोर-जोर से—

"हे स्वामिन् ! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, अत्र तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ"

कहकर पड़गाहन करते थे, तब चतुर्थ काल जैसा दृश्य प्रतीत होता था। बहुत से जैन-जैनेतर इस समय उपस्थित हो जाते थे और जैन मुनि, आर्यिकाओं की चर्या देखकर प्रभावित होते थे। लोगों के मुख से बरबस यह निकल जाता था कि—

"सच्चे साधु हैं तो ये हैं ! इनकी आहारचर्या कितनी कठिन है !"

दीक्षायें —

प्रतापगढ़ निवासी बंबई के सेठ मोतीलाल जी जौहरी क्षुल्लक सुबुद्धिसागर के रूप में थे। इन्होंने आचार्यश्री से मुनि दीक्षा की याचना की। आचार्यश्री ने स्वीकार करके मुहूर्त निश्चित कर दिया। विशाल मंच पर उनकी मुनिदीक्षा हुई। इधर मेरे पास में क्षुल्लिका श्रेयांसमती जी थीं। इनके भाव आर्यिका दीक्षा लेने के थे। मैंने आचार्यश्री से निवेदन कर इन्हें आर्यिका दीक्षा दिला दी। तब आचार्यश्री ने इनका नाम 'श्रेष्ठमती' रख दिया। चूँकि उस समय संघ में मुनिश्री श्रेयांससागर जी थे, उनकी धर्मपत्नी आर्यिका बनी थीं, उनका नाम श्रेयांसमती था, इसलिए आचार्यश्री ने इनका नाम इस आर्यिकादीक्षा में बदल दिया था।

अध्यापन कार्य —

कु. विमला, आर्यिका संभवमतीजी की शिष्या थी, उसने आकर मुझसे निवेदन किया—"माताजी ! बहुत दिनों से ज्ञान में मैंने आपका नाम सुना था, मैं अब आपसे व्याकरण आदि पढ़ना चाहती हूँ।"

मैंने उसने कहा—"ठीक है। मेरी शिष्या आर्यिका जिनमती जी तुम्हें पढ़ायेंगी।"

जिनमती ने उसे पढ़ाना शुरू कर दिया। कुछ वर्ष बाद यह विमला, आर्यिका शुभमती बन गईं। आजकल आर्यिका जिनमती इन्हीं के साथ हैं।

सलूंबर में आर्यिका सिद्धमती जी आदि कई आर्यिकाओं ने मेरे से निवेदन किया—

"माताजी ! आप हम सब को भी कुछ पढ़ाइये।"

तब मैंने गोम्मटसारजीवकांड ग्रन्थ इन सबको पढ़ाना शुरू किया। पाँच-सात आर्यिकाएँ बैठती थीं और ५-७ ब्रह्मचारिणी भी बैठती थीं। प्रारंभ करके मैंने अपनी शिष्या आर्यिका आदिमतीजी से कहा कि—

"तुम इन सभी को गोम्मटसार पढ़ाओ, तुम्हारा भी विषय पक्का होगा तथा मन स्वस्थ रहने से शरीर भी स्वस्थ रहेगा।"

तब इन्होंने इन सबको गोम्मटसार पढ़ाना शुरू कर दिया। उधर आर्यिका जिनमती जी, आर्यिका श्रेयांसमती जी को जीवंधरचंपू आदि कई विषय पढ़ाती थीं। कु. विमला को व्याकरण, न्याय, साहित्य, गोम्मटसार आदि कई विषय पढ़ाती थीं। दिन भर इनका समय अध्यापन कार्य में ही बीत रहा था। इधर आदिमती जी भी अनेक आर्यिकाओं, ब्रह्मचारिणियों को गोम्मटसार पढ़ाती थीं और कु. सुशीला को व्याकरण, न्याय, धर्म आदि पढ़ाती थीं। कु. कला और कनक को भी कभी मैं पढ़ा देती थी, कभी आर्यिका जिनमती या आदिमती पढ़ाती थीं।

इस प्रकार से अपनी शिष्याओं को पढ़ाने और पढ़ने में दत्तचित्त देखकर मैं बहुत ही प्रसन्न थी। जैसे अपनी संतान के उत्कर्ष को देखकर माता-पिता फूले नहीं समाते हैं, वैसे ही मैं भी शिष्याओं की योग्यता, क्षमता, देख-देखकर हर्षित होती रहती थी।

मेरा स्वास्थ्य कमजोर होने से मैंने अध्यापन का अधिक भार अब नहीं लिया था। दूसरी बात-मेरा अभिप्राय सदैव यह रहा है कि पढ़ाकर ज्ञान अधिक प्रस्फुट होता है अतः अपनी शिष्याओं को सदा ही पढ़ाने की प्रेरणा दिया करती थी।

आ. जिनमती भी स्वयं कहा करती थीं—

"अम्मा! मैंने द्रव्यसंग्रह, गोम्मटसार, प्रमेयकमलमार्तंड आदि पढ़े हैं, याद करके सुना देती थी किन्तु मेरे हृदय में कम उतरते थे। अब जब मैं पढ़ाती हूँ, तब मुझे इनका विषय अच्छी तरह समझ में आता है और अत्यधिक खुशी होती है।"

उन दिनों कुछ लोग ऐसे भी थे कि जो मेरा उत्कर्ष, मेरी शिष्याओं की विशेषतायें, नहीं सहन कर पाते थे, वे प्रायः अकारण ही मेरी झूठी-झूठी निंदा किया करते थे। फिर भी सहनशीलता के निमित्त से मैं उनकी असत्य बातों का प्रायः प्रतीकार नहीं करती थी, जिसका फल मुझे मधुर न प्रतीत होकर कड़वा ही प्रतीत हुआ है, फिर भी सहनशीलता के बिना मोक्ष नहीं होगा, यह निश्चित है।

शिक्षण शिविर में विघ्न—

मैंने सोलापुर, सनावद और इंदौर के समान यहाँ सलूंबर में भी शिक्षण शिविर की रूपरेखा बनाई। कई साधु-साध्वियों को तथा कई एक प्रबुद्ध श्रावकों को यह बहुत अच्छा लगा, किन्तु किन्हीं ने इसे अनुपयोगी बतला दिया अतः जब आचार्यश्री के पास मैं आज्ञा लेने गई, तब आचार्यश्री ने भी इसका कोई उपयोग नहीं समझकर टाल दिया और बोले—"यहाँ संघ के कौन-कौन साधु पढ़ायेंगे?.....।"

मैंने सोचा था—"गाँव-गाँव में शिक्षण शिविर लगाऊंगी।"

मेरी इस भावना पर पानी फिर गया। मैंने संतोष की सांस ली और संघ में चुप बैठकर रहना ही श्रेयस्कर समझा।

एक बार आर्यिका विशुद्धमती ने भी सभा में अपने प्रवचन में कहा था कि—

"सामने वाले से युद्ध के समय समान ही शस्त्र लेने चाहिए, वैसे ही कहानपंथ-निश्चयएकांतपक्ष के खंडन में समान ही कार्य करने चाहिए।" तब कुछ प्रबुद्ध श्रावकों ने आकर कहा—"माताजी! देखो, वे लोग जगह-जगह शिक्षण शिविरों के माध्यम से खूब धर्म-प्रचार कर रहे हैं अतः आप भी शिक्षण शिविर की रूपरेखा बनाइये.....सात-आठ दिन के शिक्षण शिविर में भी बहुत कुछ धर्म-संस्कार बनते हैं.....इत्यादि।"

किन्तु उस समय ना सो, ना ही रहा। आगे भी यह परम्परा नहीं चल पाई। हाँ! सन् १९६९ में जयपुर में मैंने 'जैनज्योतिर्लोक' पर एक शिक्षण शिविर लगाया था, जिसमें बड़े-बड़े विद्वानों ने भी भाग लिया था।

केशरियाजी की यात्रा के भाव—

उदयपुर, भिंडर आदि के अनेक श्रावक-श्राविकाएँ यहाँ आते ही रहते थे। मोतीलाल- जी मींडा आदि अनेक लोगों ने मुझसे प्रार्थना की—

"माताजी! यहाँ से केशरियाजी तीर्थक्षेत्र नजदीक है। हम लोग आप को यात्रा करा देंगे। पास में उदयपुर में भी अनेक मंदिर हैं, आपके दर्शन हो जायेंगे और इस निमित्त से सारा उदयपुर का जैन समाज आपके दर्शन का व आपके उपदेश का लाभ ले लेगा, सो आप एक माह का कार्यक्रम बनाकर चलिये।"

मैंने भी सोचा कि—

पुनः इधर से विहार हो जाने के बाद केशरियाजी तीर्थ के दर्शन नहीं हो सकेंगे अतः मैंने आचार्यश्री शिवसागरजी के पास जाकर प्रार्थना की, तब आचार्य श्री ने कहा— "पांच वर्ष तक यात्रा करके अभी पेट नहीं भरा है क्या?.....बस, अब शांति रखो, कहीं नहीं जाना है.....फिर तुम्हारा स्वास्थ्य भी तो ज्यादा घूमने लायक नहीं है।"

इतना सुनकर मैं चुप हो गई और पुनः यात्रा के लिए सोचा ही नहीं। कुछ दिन बाद यहाँ से विहार करते हुए संघ बांसवाड़ा आ गया।

बांसवाड़ा में आचार्य संघ —

यहाँ गर्मी के दिनों में तेज गर्मी पड़ रही थी अतः मेरा स्वास्थ्य काफी कमजोर रहता था। यहाँ के श्रावक आचार्य संघ का चातुर्मास कराने के लिए बहुत प्रयत्नशील थे। चूँकि संघ में प्रवेश करने के पूर्व मैं यहाँ आ चुकी थी, यहाँ कई एक श्रावक मेरे निकट भक्त बन गये थे, उनमें हीरालाल जी मेहता आदि थे। यहीं के पन्नालाल ने अपनी दो पुत्रियाँ मुझे दी थीं। अनेक श्रावक मेरे पास आ-आकर संघ की अनेक व्यवस्थाओं में परामर्श किया करते थे। चातुर्मास के लिए आचार्यश्री से बार-बार निवेदन कर ही रहे थे, मेरे पास भी आकर निवेदन करते थे कि—

"माताजी! आप भी आचार्यश्री को और सभी साधुओं को यहीं चातुर्मास करने की प्रेरणा दीजिये।"

आचार्यश्री कभी-कभी यहाँ की भक्ति से प्रभावित हो जाते थे। उधर प्रतापगढ़ के भक्त लोग भी चातुर्मास के लिए निवेदन करने हेतु बार-बार आ रहे थे। आचार्यश्री का एक उद्देश्य था कि—

"हमारे संघ को चातुर्मास के बाद जहाँ के लोग श्रीमहावीर जी अतिशय क्षेत्र पहुँचा देंगे, हम वहीं चातुर्मास करेंगे।"

आचार्यश्री ने प्रतापगढ़ वालों के आग्रह से एवं कई एक कारण विशेष से प्रतापगढ़ में चातुर्मास करने का आश्वासन दे दिया।

यहाँ से प्रतापगढ़ की ओर संघ का विहार हो गया। यथासमय प्रतापगढ़ में संघ का मंगल प्रवेश हुआ। वहाँ के श्रावकों में हर्ष की लहर दौड़ गई। इतने बड़े संघ की व्यवस्था में कदाचित् जरा भी कमी होती थी, तो कोई न कोई साध्वियाँ जाकर आचार्यश्री से शिकायत कर देती थीं, तब कई बार आचार्यश्री इन श्रावकों से बोलते—

"भैया! अभी तो बेटी बाप की है, अभी तो मैं स्वतंत्र हूँ, तुम्हारी व्यवस्था में गड़बड़ हुई तो हम अन्यत्र चातुर्मास कर लेंगे।"

आचार्यश्री के मुख से ऐसे वचन सुनकर लोग हँस भी देते थे और घबरा कर व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने में लग जाते थे। यहाँ के श्रावक मुझसे परामर्श लेने आ जाते थे, तब मैं उन्हें उचित व्यवस्था के लिए समझा देती थी।

वास्तव में बड़े-बड़े संघों में सारी व्यवस्था आचार्यश्री के ऊपर ही नहीं रहती है। मैंने देखा था, आचार्यश्री वीरसागर जी के समय में भी बहुत से प्रसंग आर्यिका सुमतिमती माताजी संभाल लेती थीं और श्रावकों को उचित मार्गदर्शन देती रहती थीं। ब्रह्मचारी सूरजमल जी भी बहुत सी व्यवस्था बनवाते रहते थे। इस समय न तो आर्यिका सुमतिमती जी थीं और न ही ब्र. सूरजमल जी संघ में रहते थे, तब आचार्यश्री से छोटी-छोटी शिकायतें करने के बजाए, श्रावकों को उचित मार्गदर्शन दे देना, मैं अपना कर्तव्य समझती थी।

वर्षायोग स्थापना —

सन् १९६८ में आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी के दिन श्रावकों की प्रार्थना से आचार्यश्री शिवसागरजी ने अपने विशाल संघ सहित प्रतापगढ़ में वर्षायोग की स्थापना की। यहाँ बहुत चौके लगते थे, साधु-साध्वियों के

आहार हो जाते थे। कई बार कोई-कोई ब्रह्मचारी को निमंत्रण न आने से, उनके भोजन की व्यवस्था आहार के बाद करानी पड़ती थी। मतलब यह था कि श्रावक लोग पहले दिन सभी व्रती वर्ग को निमंत्रण देना भूल जाते थे। इस पर एक दिन आचार्यश्री चिढ़ गये, उन्होंने मुझे बुलाया और पूछा—

"तुम्हारी शीला ब्रह्मचारिणी के पास कुछ रुपये हैं?"

मैंने कहा—"हाँ, अवश्य होंगे।" महाराज ने कहा—"बुलावो उसे।"

मैंने समझा, किसी को दिलाने की कुछ आवश्यकता होगी। अतः मैंने शीघ्र ही कु. शीला को बुला दिया.....। आचार्यश्री ने शीला से कहा—"देखो, एक हजार रुपये ले आओ और अमुक-अमुक ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी को सौ-सौ रुपये दे दो।"

उन सबको भी बुलाकर मंदिर में एकांत में सभी के हाथ में रुपये दिला दिये और बोले—

"देखो! श्रावक का निमंत्रण न आने पर तुम लोग स्वयं भोजन बनाओ और खाओ, हाँ! बिना निमंत्रण किसी के घर नहीं जाना।"

यह बात एक-दो श्रावकों के कान में पड़ गई, वे लोग मेरे पास दौड़े-दौड़े आये और घबराये हुए बोले—

"यह क्या हुआ?"

मैंने हँसकर उन्हें सांत्वना दी और समझाकर कहा—

"तुम लोग सारे ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों के नाम की सूची बना लो और प्रतिदिन आपस में कुछ लोगों में निर्धारित कर लो कि इन्हें ये-ये लोग निमंत्रण देंगे। बस, व्यवस्था बन जायेगी। अरे भाई! व्यवस्था अच्छी बनाने के लिए ही तो आचार्यश्री ने ऐसा अनुशासन किया है।"

वास्तव में अनेक चौके, अनेक श्रावक और अनेक व्रती वर्ग होने से किसी का निमंत्रण चूक जाना स्वाभाविक सा हो जाता था। उस समय मेरे निकट ही अधिक परिकर था। एक बार सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई वाले आये और गिनकर हँसते हुए बोले-

"माताजी! आपके सानिध्य में मोतीचंद और यशवंत ये दो छात्र हैं। सुशीला, शीला, कला, मनोरमा, गेंदीबाई, ताराबाई ये छह छात्रायें हैं। सबसे बड़ा परिवार आपका ही है।"

तब मैंने कहा—

"देखिये, सेठजी! मैंने आज तक आचार्यश्री के पास किसी भी व्यवस्था के बारे में जरा भी श्रावकों की शिकायत नहीं की है पुनः आप मेरे शिष्यों की गिनती क्यों कर रहे हो?" वे हँसकर चुप हो गये।

क्षुल्लिका अभयमती के दर्शन —

टिकैतनगर में सन् १९६८ में जैनमित्र में पढ़ा गया कि आचार्य शिवसागर के संघ का चातुर्मास प्रतापगढ़ में हो रहा है। वहीं पर आर्यिका ज्ञानमती माताजी संघ सहित आ चुकी हैं। पिता ने माँ मोहिनी जी के आग्रह से प्रतापगढ़ का कार्यक्रम बनाया। साथ में कैलाशचन्द, पुत्रवधू चन्दा, रवीन्द्र कुमार और एक पुत्री कामिनी को लाये थे। यहाँ इनके आते ही संघ में स्थित मोतीचन्द ने इनका स्वागत किया। समाज को उनका परिचय देकर, सेठ मोतीलाल जी जौहरी की कोठी के सामने एक कमरे में इन्हें ठहराया गया। यहाँ आकर इन लोगों ने मेरे और क्षुल्लिका अभयमती के दर्शन किये, आनंद का अनुभव किया क्योंकि पाँच वर्ष बाद माँ-पिता ने मेरा दर्शन किया था। पिताजी प्रतिदिन आहार दान देते थे।

यहाँ पर कलकत्ता से चाँदमल जी बड़जात्या आये हुए थे। उनसे भी चर्चा हुई। मैं सन् १९६३ से ६७ तक पाँच वर्ष यात्रा करने में रही थी। मेरे पृथक् चातुर्मास में मुझे अनेक शिष्य-शिष्यायें मिली थीं। जो सब इस समय यहीं पर थे।

शिष्य-शिष्याओं का परिचय —

कलकत्ता चातुर्मास में कु. सुशीला को ५ वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया था। वह और उसकी माँ बसन्तीबाई दोनों, यहाँ मेरे सानिध्य में थीं। ब्र. कु. शीला, कु. मनोरमा और कु. कला भी थीं। ब्र. गेंदीबाई थीं तथा मोतीचन्द और यशवंत कुमार भी यहीं संघ में थे। ये सभी मेरे पास ही अध्ययन कर रहे थे।

एक बार (माँ) मोहिनी ने मुझसे पूछा — आपने इन सबको कैसे निकाला?

मैंने क्रम-क्रम से सबका इतिहास सुना दिया। सुशीला, कला की हँसमुख और चंचल प्रवृत्ति, शीला की गंभीरता, यशवंत की कार्य-कुशलता और मोतीचन्द की पुत्र भावना से ये लोग बहुत ही प्रसन्न होते थे और इन सबको निकालने में मुझे कितने संघर्ष झेलने पड़े हैं, ऐसा सुनकर पिताजी बहुत ही आश्चर्य करने लगे।

मोतीचन्द तो टिकैतनगर परिवार से इतने प्रसन्न थे कि ऐसा लगता था, मानो हमें कोई निधि ही मिल गई है। ये दोनों माता-पिता की तथा उनके चौके की हर एक व्यवस्था में लगे रहते थे। यहाँ मैं सतत पढ़ने-पढ़ाने में ही लगी रहती थी। कभी-कभी मेरा सभा में उपदेश भी होता रहता था।

आचार्य शिवसागर जी की उदारता —

एक दिन क्षुल्लिका अभयमती की किसी माताजी के साथ कुछ कहा-सुनी हो गई। बात उसी क्षण महाराज जी के पास आ गई। आचार्य महाराज ने दोनों साध्वियों को ७-७ दिन के लिए सब रसों का परित्याग करा दिया। एक दिन माँ मोहिनी आचार्य महाराज के पास आकर बैठ गईं और काफी देर तक बैठी ही रहीं किन्तु कुछ भी बोली नहीं।

दूसरे दिन आचार्य महाराज ने आहार को निकलते समय क्षुल्लिका अभयमती को अपने साथ आने का संकेत कर दिया। वह आचार्यश्री के पीछे-पीछे चली गयी। महाराज जी सीधे माँ मोहिनी के सामने जाकर खड़े हो गये। अभयमती भी वहीं खड़ी हो गईं। माँ-पिता ने बड़ी भक्ति से आचार्य श्री की प्रदक्षिणा देकर उन्हें चौके में ले जाकर नवधाभक्ति की। क्षुल्लिका अभयमती को भी पड़गाहन कर चौके में बिठाया। आचार्यश्री की थाली परोसे जाने के बाद उन्होंने दूसरी थाली परोसने का भी संकेत दिया। माँ को उनके रस परित्याग की बात मालूम थी अतः वे नीरस परोसने लगीं। तभी महाराज ने संकेत कर उस थाली में दूध, घी आदि रस रखवा दिये पुनः महाराज जी का आहार शुरू हो गया। बाद में महाराज जी ने अभयमती को भी दूध, घी, नमक लेने का संकेत दिया। आचार्य महाराज की आज्ञानुसार अभयमती जी ने रस ले लिये। माता-पिता आचार्यश्री की इस उदारता को देखकर बहुत ही आश्चर्यान्वित हुए। मध्यान्ह में आकर माँ मोहिनी ने सारी बातें मुझको सुना दीं और बोलीं —

"देखो ! आचार्यश्री ने गलती पर अनुशासन भी किया और मैं कल मध्यान्ह में देर तक उनके पास बैठी रही थी, शायद इससे मेरे हृदय में इसके त्याग का दुख है, ऐसा जानकर आज स्वयं मेरे चौके में आये और अभयमती को भी लाकर उन्हें रस दिला दिया। सच में गुरु का हृदय कितना करुणार्द्र होता है !"

रवीन्द्र कुमार को व्रत —

मैंने वहीं एक दिन रवीन्द्र कुमार को समझाया कि —

"तुम अब एक वर्ष संघ में रहकर धार्मिक अध्ययन कर लो।"

रवीन्द्र ने कहा — "मैं अभी बी.ए. तक पढ़ूँगा।"

तब मैंने रवीन्द्र को कुछ उपदेश देकर, समझाकर दो वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया और यह भी नियम दे दिया कि-

"जब तुम नया व्यापार शुरू करो या विवाह करो, उसके पूर्व संघ में आकर मुझसे आशीर्वाद लेकर जाना।"

मैंने यह बात माँ को बता दी।

कामिनी के लिए प्रयास —

माँ मोहिनी की कामिनी पुत्री लगभग १३ वर्ष की थी। यह समय-समय पर मेरे पास आकर बैठ जाती और कुछ न कुछ धर्म का अध्ययन करती रहती। मैंने देखा इसकी बुद्धि बहुत ही कुशाग्र है। यह लड़की गणित में भी कुशल है। तभी मैंने उसे संघ में कुछ दिन रहकर धर्म अध्ययन करने की प्रेरणा दी, वह भी तैयार हो गई। अब क्या? मैंने जैसे-तैसे समझा-बुझाकर माँ को राजी कर लिया कि वो कामिनी को ४-६ महीने के लिए यहाँ छोड़ जावें। चूँकि संघ में साड़ी पहनना पड़ेगा अतः कामिनी ने माँ से आग्रह कर पेटीकोट, ब्लाऊज भी बनवा लिये और माँ से एक साड़ी ले ली।

पिताजी प्रायः प्रतिदिन आकर १०-१५ मिनट मेरे पास बैठते थे। वे कभी-कभी घर और दुकानों की कुछ समस्याएँ भी रख देते थे और समाधान अथवा परामर्श की प्रतीक्षा करते रहते थे। मैं ऐसे प्रसंगों पर बिल्कुल मौन रहती थी। तब वे अपने कमरे में आकर मोहिनी जी से कहते—

"देखो! मैंने अमुक-अमुक विषयों पर माताजी से परामर्श चाहा किन्तु वे कुछ भी नहीं बोलती हैं।" माँ कहतीं—

"वे घर संबंधी चर्चाओं में परामर्श नहीं देंगी चूँकि उनके अनुमतित्याग है।"

पिताजी चुप हो जाया करते थे। एक दिन मैंने उनसे कहा—

"इस कामिनी की बुद्धि बहुत अच्छी है, तुम इसे मेरे पास २-४ महीने के लिए छोड़ जावो। कुछ थोड़ा धार्मिक अध्ययन कराकर भेज दूँगी।"

इतना सुनकर पिताजी खूब हँसे और बोले—

"आपने मनोवती को माताजी बना दिया, उसे कितने कष्ट सहन करने पड़ते हैं, सो मैं देख रहा हूँ। अब तुम्हारे पास किसी को भी नहीं छोड़ूँगा।"

मेरा भी कुछ ऐसा स्वभाव ही था कि मेरे पास जब भी पिताजी आकर बैठते, मैं कामिनी के बारे में ही उन्हें समझाने लगती और अति आग्रह करती कि—

"इसे छोड़कर ही जाओ.....।"

पिताजी कभी हँसते रहते, कभी चिढ़ जाते और कभी उठकर चले जाते। अपने स्थान पर जाकर माँ से कहते—

"देखो ना! माताजी कितनी स्वार्थी हैं! मैं चाहे जितनी बातें ही पूछता रहता हूँ, एक का भी जवाब नहीं देती हैं किन्तु अब मैं जैसे ही उनके पास पहुँचता हूं कामिनी बिटिया को अपने पास रखने के लिए वे मुझे समझाना शुरू कर देती हैं.....।"

इतना कहकर वे खूब हँसते और कामिनी से कहते-

"कामिनी बिटिया! तुम माताजी की बातों में नहीं आना। हाँ! देखो ना, तुम्हारी बहन मनोवती को इन्होंने कैसी माताजी बना दिया है?"

तब कामिनी भी खूब हँसती और कहती-

"मैं तो यदि रहूँगी तो दीक्षा थोड़े ही ले लूँगी। मैं तो मात्र कुछ दिन पढ़कर घर आ जाऊँगी।"

एक दिन मैंने कु. कला और मनोरमा का परिचय कराकर पिता से कहा—

बांसवाड़ा के सेठ पन्नालाल की ये दो कन्यायें हैं। एक बार वहाँ उपदेश में मैंने कहा कि यदि भक्तगण एक-एक गाँव से एक-एक कन्या भी हमें देने लग जावें और वे मेरे पास पढ़कर गृहस्थाश्रम में भी रहीं, तो आज गाँव-गाँव में सती मनोरमा और मैना सुन्दरी के आदर्श दिख सकते हैं। इसी बात पर पन्नालाल ने अपनी

दो कन्यायें हमारे पास छोड़ी हैं। ऐसे ही आप भी इस कन्या को हमारे पास मात्र पढ़ने के लिए छोड़ दो, वापस घर ले जाना....." किन्तु पिताजी हँसते ही रहे। उन पर इन शिक्षाओं का कुछ भी असर नहीं हुआ।

जब टिकैतनगर जाने के लिए इन लोगों ने तिथि निश्चित कर ली, सब सामान बंध गया, तब कामिनी ने एक छोटी सी पेटी में अपना सब सामान रख लिया और इधर-उधर हो गयी। पिताजी ने हल्ला-गुल्ला मचाकर उसे ढूंढ लिया और गोद में उठाकर, जाकर ताँगे में बैठ गये। जब सब वहाँ से रवाना होकर स्टेशन पर आ गये, तब उनके जी में जी आया।

पुनः रास्ते में मोहिनी जी से बोले—

"अब तुम्हें कभी भी संघ में नहीं लाऊँगा और न कभी बच्चों को ही।"

माता मोहिनी जी, रवीन्द्र कुमार आदि मेरे वियोग से हुए दुःख को हृदय में समेटे हुए तथा संघ के साधुओं की चर्चा और गुणों की चर्चा करते हुए अपने घर पहुँच गये।

साधुओं की समाधि —

यहाँ मुनिश्री जयसागर जी की समाधि हो गई। वे अन्त में अध्यात्म भावना की रट लगा रहे थे। 'चिन्मयस्वरूपोहं, निर्विकारोऽहं, शुद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, निरंजनोऽहं' इत्यादि भावना को भाते हुए उन्होंने नश्वर शरीर को छोड़ दिया।

जब जयपुर में सन् १९५४ में आचार्यश्री देशभूषण जी के साथ मेरा चातुर्मास हुआ था, तब ये पाटोदी मंदिर में प्रतिदिन दर्शनार्थ आते रहते थे। इन्हें लोग्याजी कहते थे। इन्होंने अपनी पत्नी और पुत्र को छोड़कर, आचार्यश्री वीरसागर जी से दीक्षा ली थी। दीक्षा से पूर्व जयपुर में मेरे निकट बैठकर कहा करते थे—

"माताजी! आपने इतनी छोटी उम्र में दीक्षा ले ली है, मैं भी दीक्षा लेना चाहता हूँ लेकिन मेरा पुत्र छोटा है, वह घर कैसे संभालेगा? यह चिंता है.....।"

तब मेरे निकट बैठी क्षुल्लिका विशालमती जी कह देतीं—

"भाई! दीक्षा लेने वाले किसी का भविष्य नहीं सोचते हैं। सबका भाग्य अपने-अपने साथ है।

वे महानुभाव सुनकर हँस देते और कहते—

"मुझे इन छोटी सी माताजी को देखकर खूब वैराग्य उमड़ता है।"

मैं भी कह देती—

"बाबाजी! आप घर छोड़ो। देखो! बेटा अपने आप योग्य बन जायेगा।"

आखिर वही बात हुई। उन्होंने घर छोड़ा, दीक्षा ली। उनका बेटा योग्य बनकर घर संभालने में कुशल हो गया।

इसके कुछ ही दिन बाद आर्यिका सिद्धमती माताजी ने भी शरीर की क्षीणता और वृद्धावस्था के निमित्त से सल्लेखना ले ली। उनका भी समाधिमरण महामंत्र सुनते-सुनते हो गया। ये दो समाधियाँ यहाँ हुई थीं, जो कि वैराग्य को बढ़ाने वाली थीं।

प्रीतिभोज —

इधर प्रांत में श्रावक धार्मिक आयोजन में प्रायः प्रीतिभोज करते हैं, तो उसमें बहुत बड़ी-बड़ी पूड़ियाँ बनाते हैं। यह इस प्रांत का भोजन हर प्रांत की अपेक्षा विलक्षण था। संघ के लोग उनकी पूड़ियाँ देख-देख हँसते रहते और आकर हम लोगों को सुनाते रहते थे। ये पूड़ियाँ लगभग एक-डेढ़ फुट की गोल रहती थीं। एक तो क्या, आधी पूड़ी से ही लोगों का पेट भर जाता था।

मुनियों के केशलोंच के अवसर पर 'प्रभावना' के नाम से बड़े-बड़े बताशे बांटे जाते थे।

अध्ययन-अध्यापन —

मैं यहाँ कुछ शिष्य-शिष्याओं को न्यायदीपिका, कातंत्रव्याकरण, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन कराती थी। यहाँ पर पं. रतनचन्द जी मुख्तार आये हुए थे। वे धवला आदि के स्वाध्याय में गणित अच्छी समझाते थे। एक बार मैंने उनसे कहा—

"पंडित जी! मुझे तिलोयपण्णत्ति से ज्योतिर्लोक की कुछ गणित आपसे समझना है।"

उन्होंने कुछ अरुचि दिखाई, फिर भी मैं ग्रंथ लेकर बैठ गई और उन्हें दिखाया कि— "धातकी खंड में सूर्य की गलियाँ कहाँ से कहाँ तक हैं?"

उन्होंने उस समय उस विषय को समझाने में असमर्थता प्रगट कर दी, तब मैंने स्वयं के पुरुषार्थ से, भगवान के सामने बैठकर, बार-बार उसी का अध्ययन करना शुरू किया तो उसकी परिधि के माप से उसकी गलियों के माप को भी समझ लिया। मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। इस ज्योतिर्लोक का मैंने सन् १९६९ में जयपुर में शिविर भी लगाया था पुनः 'जैनज्योतिर्लोक' नाम से पुस्तक भी छप चुकी है, उसमें भी मैंने खुलासा कर दिया है।

£५४¤

अतिशय क्षेत्र महावीर जी की ओर विहार —

वर्षायोग समाप्त होने के बाद आचार्यश्री ने संघ सहित महावीर जी की ओर विहार करने का कार्यक्रम निश्चित किया। प्रतापगढ़ की जैन समाज ने यात्रा कराने की सारी जिम्मेदारी संभाली थी। मोतीचंद ने भी अपना एक चौका रास्ते में रखा था। ब्र. शीलाबाई, गेंदीबाई, कला, मनोरमा आदि बाइयाँ मिलकर चौका करती थीं। प्रतिदिन कई-कई साधुओं को पड़गाहन कर, आहार देकर, ये लोग खूब हर्षित होते थे।

ब्र. चांदमल जी का समाधिमरण —

ब्र. चांदमल काफी वृद्ध थे और बहुत ही कमजोर थे। मार्ग में जगह-जगह रुकने से कहीं स्थान अनुकूल मिलता, कहीं प्रतिकूल मिलता, तो वे काफी कष्ट का अनुभव करते थे किन्तु वे इस भाव से इस विहार में भी संघ के साथ रह रहे थे कि—

"मेरी समाधि गुरुओं के निकट में अच्छी विधि से हो जाये।" भवानीमंडी में संघ ठहरा था। मंदिर में ऊपर छत पर चतुर्दशी का बड़ा प्रतिक्रमण हो रहा था। ब्र. चांदमल जी नीचे बैठे हुए थे। उन्होंने प्रातः ही आचार्य श्री से कहा था—

"महाराज जी! आज मेरी नाड़ी रुक-रुक कर चल रही है।" ऐसा सुनकर महाराज जी ने और सभी ने उन्हें हँस लिया—

"वाह जी! ब्रह्मचारी जी! आप तो बोल रहे हैं, बैठे हुए हैं और कह रहे है कि नाड़ी रुक-रुक कर चल रही है.....।"

मध्यान्ह में करीब दो बजे ब्रह्मचारी जी ने मुझे बुलाकर कहा—माताजी! आज आप मेरे पास ही विराजिये, मुझे पाठ सुनाइये, मेरी नाड़ी ठीक नहीं है.....।'

इनता सुनकर मैं उन्हीं के निकट बैठी उन्हें आध्यात्मिक पाठ सुनाती रही, संबोधन भी करती रही। मेरे पास एक आर्यिका जी और बैठी रहीं पुनः जब मुझे उनकी हालत कुछ गंभीर सी मालूम पड़ी, तभी मैंने ऊपर आकर आचार्यश्री को सूचना दी। आचार्यश्री संघ सहित आ गये। ब्रह्मचारी जी की इच्छानुसार उन्हे नग्न दिगम्बर बना दिया और यावज्जीवन चतुर्विध आहार का त्याग देकर सल्लेखना दे दी। कुछ ही देर में उनके

शरीर से आत्मा ने प्रयाण कर दिया। देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ—

वास्तव में उनका आयुर्वेदिक ज्ञान, नाड़ी ज्ञान उनके काम आया जिससे वे सावधान रहे, नहीं तो सभी साधु नित्य की तरह ऊपर प्रतिक्रमण करते ही रहते ओर ये इधर चले गये होते।

उनकी समाधि से श्रावकों को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि यदि अन्त में समाधि सुधारना है तो गुरुओं के संघ में आकर रहना चाहिए। जीवन भर की कमाई को साथ ले जाने के लिए यह सल्लेखनापूर्वक मरण ही समर्थ है। "अहो! सभी ने जीने की कला सिखायी किन्तु 'मरने की कला' सिखाने वाला एक जैन धर्म ही है। इस कला को सीखकर लोग मृत्युंजयी बन जाते हैं, अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेते हैं।"

शिष्य व्यवस्था —

यहाँ भवानीमंडी में एक श्रावक अपनी कन्या को लेकर आये और आचार्यश्री से बोले-

"महाराज जी! इसका विवाह हो चुका है, पतिगृह में इसको शांति नहीं है, अतः यह वहाँ नहीं जायेगी। मैं चाहता हूँ कि यह किन्हीं माता जी के पास रहकर धर्म अध्ययन कर आत्म कल्याण करे, चूँकि मैं पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं हूँ। इस बालिका की इच्छा भी संघ में रहने की है।"

आचार्यश्री ने उसी समय मुझे बुलाया और मुझसे बोले—

"ज्ञानमती माताजी! देखो, इस बालिका को अपने पास रखो, इसे ज्ञान और वैराग्य में योग्य बनाओ।"

पुनः आचार्यश्री उन श्रावक से मेरे बारे में उसी समय कहने लगे—"देखो, मेरे संघ में ये माताजी बहुत योग्य हैं। ये बालिका को भी संभाल लेती हैं, वृद्धा महिलाओं को भी संभालती हैं और युवती महिलाओं को भी वैराग्य की दिशा में मोड़ देती हैं। ये ज्ञान की वृद्धि तो करती ही हैं, खूब पढ़ाती हैं, व्याकरण, न्याय आदि में निष्णात बना देती हैं, साथ ही शिष्याओं में वैराग्य को कूट-कूटकर भर देती हैं अतः इनके पास रहकर आपकी बालिका सर्वगुण सम्पन्न बन जायेगी.....।"

वे श्रावक एक-दो दिन वहाँ ठहरने वाले थे, अतः वह बालिका उस समय मेरे साथ आ गई पुनः कुछ देर बाद भोजन के समय जहां उसके पिता ठहरे थे, वहाँ चली गई। इतनी ही देर में कई आर्यिकाएँ उससे बातें करने लग गईं। कहीं किसी ने बुलाकर अपने पास रहने की प्रेरणा दी, तो किसी दूसरी ने अपने पास रहने की प्रेरणा दी। मैं यह सब दृश्य देख रही थी। किसी ने आकर मुझे कहा भी कि देखो! कई साध्वियाँ उसके पीछे पड़ गई हैं परन्तु मैंने उपेक्षा कर दी पुनः अगले दिन मध्यान्ह में वह बालिका और उसके पिता दोनों मेरे पास आकर बोले—

"माताजी! अभी तो हम जा रहे हैं, इसे भी ले जा रहे हैं, फिर कभी योग होगा, तो इसे लायेंगे.....।"

मैंने पूछा—"क्यों, ऐसी क्या बात हुई?"

बालिका बोली—

"कई एक माताजी मुझे बुला-बुलाकर कहती हैं कि तुम मेरे पास रहो, तुम मेरे पास रहो.....यहाँ तो बहुत ईर्ष्या द्वेष है। इससे तो घर ही भला है।"

मैं एकदम देखती रह गई, कुछ भी नहीं बोली। वे दोनों वहाँ से चले गये। मैंने आचार्यश्री से भी कुछ नहीं कहा। बाद में मैं सोचने लगी—

"अहो! संसार समुद्र से पार होने का मार्ग मिलना कितना कठिन है? देखो, अकारण ही आचार्यश्री की आज्ञा में भी विघ्न डालने वाले कुछ साधु-साध्वी ही बन गये, कितने आश्चर्य की बात है? अरे! किसी को भी मोक्षमार्ग में लगाने के लिए परोपकार भावना ही प्रमुख होती है, यह स्वार्थपरता और शिष्य का लोभ इनमें क्यों आ गया है?"

खैर! मैंने मेरे जीवन में किसी के शिष्य-शिष्याओं को आज तक अपने पास नहीं रखा है और न उन्हें अपने पास रहने के लिए प्रेरणा ही दी है। मैंने सन् १९५६ में मूलाचार में पढ़ा था कि—

"संगृहीतानि चात्मवशीकृतानि च क्षेत्रवास्तुधनधान्यपुस्तकोपकरणच्छात्रादीनि तेषां सर्वेषां नादानं न ग्रहणं आत्मीयकरणविसर्जनं।"[१]

दूसरों के द्वारा संगृहीत—खेत, मकान, धन, धान्य, पुस्तक, उपकरण-पिच्छी, कमंडलु, छात्र-शिष्य आदि को न लेना, न ग्रहण करना अर्थात् उन्हें अपना नहीं बनाना, यह अचौर्य महाव्रत है।

तभी से मैंने यह नियम बना रखा है कि किसी के शिष्य-शिष्याओं ने यदि मेरे पास रहना भी चाहा, तो मैंने उन्हें उनके गुरु के पास रहने की ही शिक्षा दी है।

सन् १९७५ में मैं मुजफ्फरनगर में थी। वहाँ सुपार्श्वसागर जी मुनि ने सल्लेखना ले रखी थी इसलिए उन्होंने मुझे बुलाया था अतः गई थी। वहां पंडित श्यामसुंदरलाल जी फिरोजाबाद वाले आये हुए थे। वे एक दिन मेरे पास आकर निवेदन करते हुए बोले—

"माताजी! ये दो ब्रह्मचारिणियाँ दीक्षा लेना चाहती हैं, इन्हें आप समझा-बुझाकर अपने पास रखिये, तब तो इन्हें संरक्षण मिलेगा, ज्ञान मिलेगा-ये योग्य बन जायेंगी अन्यथा योग्य नहीं बन पायेंगी, जैसा कि मैं कई दिनों से अनुभव कर रहा हूँ.....।"

मैंने कहा—"पंडित जी! मैं उन्हें स्वयं भला अपने पास रहने के लिए कैसे कह सकती हूँ? चूँकि वे यहाँ संघ में हैं.....।"

पंडित जी ने उन दोनों को बुलाकर मेरे पास बिठाकर, समझाया और शिक्षायें दी, पुनः मेरे से आग्रह करने लगे—"आप भी इन्हें योग्य शिक्षा दीजिये।" मैंने कहा—

"देखो, आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहते थे कि महिलाओं का अर्थात् ब्रह्मचारिणी और आर्यिकाओं का संरक्षण आर्यिकाओं के पास ही रहता हैं। जब तक कोई एक अनुभवी आर्यिका को गुर्वानी न बना लो तब तक दीक्षा के लिए वे स्वीकृति ही नहीं देते थे।" मैंने अपनी आ.पद्मावती आदि के कई उदाहरण भी सुनाये। यही बात आचार्यश्री शिवसागर जी ने भी महावीर जी में ब्र. अशरफी बाई को कही थी कि "जब तुम किसी आर्यिका को गुर्वानी मानकर उनके पास रहना निश्चित करोगी और उन्हें आगे करके लावोगी, तभी मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा.....।"

इस प्रकार मैंने उन पंडित जी की प्रेरणा से इन दोनों को समझाया कि-"तुम दोनों किसी न किसी को गुर्वानी बनाकर उनके पास रहोगी, तब तुम्हारे सुख-दुख में वे तुम्हें संभालेगी, उचित परिचर्या भी करेंगी, तुम्हें पढायेंगी.....।" "देखो! इस समय संघ में आर्यिका जिनमती जी, आर्यिका आदिमती जी, आर्यिका भद्रमती जी, आर्यिका संभवमती जी आदि कई आर्यिकायें बड़ी हैं-उनमें से तुम दोनों किन्हीं का आश्रय अवश्य ले लो.....।"

इन दोनों को मेरी वह शिक्षा बुरी लगी। उठकर एक मुनिजी के पास गईं और उन्हें यह सब बता दिया। वे बोले—"कुछ नहीं, उन सबको बकने दो, तुम दो हो और तुम्हारी माता भी साथ में हैं, चिंता मत करो, स्वतंत्र रहो, किसी के अनुशासन में रहने की कोई जरूरत नहीं है।"

खैर! मैं तो कुछ दिनों बाद हस्तिनापुर आ गई। आचार्यश्री धर्मसागर जी से इन दोनों बालिकाओं ने और इनके माता-पिता ने भी दीक्षा ले ली।

कुछ वर्ष बाद ये दोनों बहनें अस्वस्थ हो गईं, तब आर्यिका दीक्षा से च्युत होकर घर चली गईं।

---

१. मूलाचार टीका पृ. १२।

मैं जब मुजफ्फरनगर की वह चर्चा याद करती हूँ तो रोमांच हो आता है।

"अहो! यदि उन दोनों ने किसी को गुर्वानी बना लिया होता, तो शायद उनका स्थितीकरण संभव था, उनकी परिचर्या, वैयावृत्ति संभव थी। उन्हें दीक्षा छोड़ने का अवसर नहीं भी आता।"

खैर! भवानीमंडी में आये हुए वे श्रावक जब चले गये, तब आचार्यश्री को सारी बातें मालूम हुईं। उन्होंने सहसा मुझसे कहा—

"ज्ञानमती जी! उसका संघ में रहना अच्छा था.....वह क्यों चली गई?....."

महाराज जी को भी कुछ खेद अवश्य हुआ। अनंतर वहां से संघ का विहार महावीर जी की ओर हो गया।

चमत्कारजी के दर्शन —

इधर 'सवाई माधोपुर' नाम से एक गाँव है। वहाँ पर चमत्कारजी नाम से एक मंदिर प्रसिद्ध है। वहाँ के दर्शन किये और गाँव में संघ ठहर गया। गाँव में भी कई मंदिर हैं, उनके भी दर्शन किये।

क्षेत्र परिचय —

एक खेत में भूगर्भ से यह भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमाजी किसी जोगी को स्वप्न होने के बाद प्राप्त हुई थीं, तभी से यहां का चमत्कार प्रसिद्ध है अतः इस क्षेत्र का नाम ही चमत्कार जी पड़ गया है। जहाँ से मूर्ति निकली थीं, वहाँ पर एक छतरी का निर्माण किया गया है। मंदिर में वही स्फटिक की भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान है। यहाँ अनेक जैन और जैनेतर मनोकामनाएँ लेकर आते हैं और इच्छा पूरी होने पर कुछ न कुछ निर्माण भी करा चुके हैं, ऐसी प्रसिद्धि है।

मुनिश्री का डोली से विहार —

एक बार मुनिश्री सुबुद्धिसागरजी के पैर में कांटा लग गया था। वह पक गया और बहुत सूज गया। मुनिश्री पैदल नहीं चल सके। एक-दो दिन उनके निमित्त से संघ गांव में रुका रहा पुनः व्यवस्थापकों की आकुलता से आचार्यश्री की आज्ञा से मुनिश्री सुबुद्धिसागरजी ने डोली में बैठकर विहार किया। बाद में फुड़िया फूटकर पीव निकल जाने पर वे मुनिश्री साहस करके पैदल चलने लगे।

अस्वस्थता में मुनि डोली में बैठकर विहार कर सकते हैं, ऐसी शास्त्र में आज्ञा है। अतएव संघ में यह परंपरा रही है। यथा—

युग्यादिगमने शुद्धिं द्विगुणां पथि शुद्धितः।
ज्ञात्वां नृजातं वाचार्यो दद्यात्तद्दोषघातिनी[१]।।४३।।

डोली आदि में बैठकर गमन करने पर आचार्य उस मंद रोगी आदि साधु को, उसकी स्थिति समझकर, उसके दोष को दूर करने वाली मार्गशुद्धि से दूनी शुद्धि (प्रायश्चित्त) देते हैं।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि "यदि मुनि और आर्यिका बीमारी आदि के प्रसंग में डोली में बैठकर विहार करते हैं, तो वे चारित्रहीन नहीं हैं, आगम की आज्ञा के अनुकूल ही हैं।

"संघ में रहने का और संघ के साधुओं की चर्या बारीकी से देखने का मतलब यही है कि कौन-कौन सी चर्यायें आगम के अनुकूल हैं, यह जानकारी मिलती रहे और मोक्षमार्ग निराबाध चलता रहे, चूंकि आज पंचमकाल में हीन संहनन होने से जिनकल्पी मुनि तो हो नहीं सकते हैं और स्थविरकल्पी की चर्या में अनेक समस्याएँ आती हैं। उनका समाधान आगम और गुरु-परम्परा के आलोक में करना चाहिए। ऐसा न करके कोई-कोई एकलविहारी साधु अनर्गलरूप से या तो शिथिल चर्या करके मोक्षमार्ग बिगाड़ देते हैं और या तो खूब खींचतान करके शास्त्र स्वाध्याय विशेष न होने से मोक्षमार्ग को बिगाड़ रहे हैं। जैसे कि एक मुनि चौके में

---

१. प्रायश्चितचूलिका।

पादप्रक्षालन के समय एक महिला के द्वारा चरण स्पर्श कर लेने पर वे चौके से निकल आये और उपवास कर लिया पुनः महिला ने कहा—यहाँ आचार्य श्रीधर्मसागर जी का संघ आया था। उन मुनियों के चरण छूके मैंने प्रक्षालन किया था। बस, इन मुनि ने आचार्य संघ की निंदा करना, उन्हें चारित्रहीन कहना शुरू कर दिया। मैंने देखा कि वे आगम के ज्ञान से पराङ्मुख थे, उनकी चर्या अनर्गल थी, अभी तो वे सोनगढ़ी-कहानपंथी बन गये हैं। इधर संघ विहार करते हुए श्री महावीरजी क्षेत्र पर आ गया। हम लोगों ने अतिशय प्राप्त भगवान महावीर स्वामी के दर्शन किये।

£ ५५ ¤

अतिशय क्षेत्र महावीर जी के दर्शन —

आचार्य संघ यहाँ आकर भगवान् महावीर मंदिर के नीचे कटरा की धर्मशाला में ही ठहरा हुआ था। यहाँ दर्शन करके हम लोगों ने शांतिवीरनगर जाकर, वहाँ मंदिर के दर्शन किये। कमलाबाई आदर्श विद्यालय में जिनमंदिर के दर्शन किये और ब्र. कृष्णाबाई के मुमुक्षु महिलाश्रम के मंदिर जाकर वहाँ भी दर्शन किये।

क्षेत्र-परिचय —

यहाँ का मंदिर चांदनपुर गांव के अति निकट है। इस क्षेत्र का अतिशय इस प्रकार प्रसिद्ध है कि बहुत समय पहले एक गाय एक टीले पर खड़ी हो जाती और उसके स्तनों से दूध झर जाता। ग्वाले ने छिपकर यह सब देखा पुनः ग्वाले ने उस टीले को खोदकर भगवान् महावीर की मूर्ति को प्राप्त कर लिया। भगवान् के प्रगट होने का समाचार चारों ओर फैलते ही हजारों जैन आ गये। तभी जैन श्रावकों ने वहाँ मंदिर निर्माण कराकर जिनप्रतिमा को वेदी में विराजमान करा दिया। भूगर्भ से निकले भगवान् के स्थान पर छतरी बनाकर चरण विराजमान कर दिये गये हैं।

इस क्षेत्र का दर्शन करने के लिए लाखों अजैन आते हैं। इधर के मीना-गूजर लोग इन्हें ही अपना आराध्य देव मानते हैं।

यह स्थान आमेर गद्दी के मूलसंघ आम्नाय के दिगम्बर जैन भट्टारकों का केन्द्र रहा है। आज इस क्षेत्र पर जो कुछ वैभव दिख रहा है, वह सारे भारत के दिगम्बर जैन बंधुओं की श्रद्धा का फल है।

यहाँ क्षेत्र पर यह एक विशाल मंदिर है। दो मंदिर आश्रम में हैं और शांतिवीरनगर में एक विशालकाय २८ फुट ऊँची खड्गासन भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा का ही पंचकल्याणक होने वाला था। यहाँ क्षेत्र पर छह धर्मशालायें हैं। औषधालय आदि कई सेवाभावी संस्थायें हैं।

वहीं पर ब्र. श्रीलालजी काव्यतीर्थ ने एक प्रिंटिंग प्रेस लगाकर कई वर्षों तक अनेक जैनग्रंथों को छपवाया है।

मध्यलोक चैत्यालय की रूपरेखा —

आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज ने एक दिन मुझसे कहा—

"माताजी! जहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के लिए मंच और पंडाल बन रहा है, वहीं पर आपके मध्यलोक चैत्यालय की रचना बनवायेंगे। यहाँ जगह भी विस्तृत है, विस्तार से काम होगा।"

पुनः वे बोले—

"अब मेरी इच्छा कुछ दिन यहीं रहने की है। इसके एक कोने में एक कमरा गुफा के समान होगा जिसमें मैं रहूंगा और दूसरे कोने में मुनिश्री श्रुतसागरजी रहेंगे।....."

पुनः कुछ क्षण बाद उनके मुख से शब्द निकले—

"मेरे आचार्य अवस्था के बारह वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। जैसे बारह बजे तक सूर्य ऊपर चढ़ता है, पुनः ढलता जाता है, ऐसे ही मेरे भी बारह वर्ष तक उन्नति के थे—ऊपर चढ़ते हुए थे, अब ढलते हुए रहेंगे।"

पता नहीं क्यों? आचार्यश्री के मुख से वहाँ क्षेत्र पर ये शब्द कई बार निकले और कई साधुओं के सामने निकले थे।

अथवा यों कहिये- "जैसी होनहार होती है, वैसे ही शब्द कभी-कभी मुख से निकल जाते हैं।"

जब से फाल्गुन शुक्ला छठ से दशमी तक पंचकल्याणक का मुहूर्त निकला था तभी से एक प्रतिष्ठाचार्य ने संघ में एक माताजी के पास सूचना भेजी थी कि यह मुहूर्त प्रमुख के लिए हानिप्रद है लेकिन जैनशास्त्रानुसार होलाष्टक (फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा तक को होलाष्टक कहते हैं) का कोई उल्लेख नहीं है। कहते हैं कि बावनगजा में भी होलाष्टक में प्रतिष्ठा थी, उसी में आचार्य कल्पश्री चन्द्रसागर जी महाराज गये थे और उनकी समाधि हो गई थी। जो भी हो, सन् १९८५ की प्रतिष्ठा में पहले फाल्गुन शुक्ला अष्टमी तक का मुहूर्त था। आचार्यश्री धर्मसागरजी ने कुछ विकल्प (वहम) किया था, तभी उनकी और मुनिश्री श्रुतसागरजी की आज्ञानुसार उसे बढ़ाकर वैशाख में कर दिया गया था। उसके बाद भी मैं आषाढ़ से अगले चैत्र मास तक बहुत बीमार हुई थी। खैर! इस सन् १९८७ की प्रतिष्ठा का मुहूर्त आचार्यश्री विमलसागर जी की आज्ञा से फाल्गुन शुक्ला ७ से ग्यारस (११) तक था। चूँकि ये आचार्य महाराज होलाष्टक नहीं मानते हैं। अन्यत्र भी कुंभोज आदि में फाल्गुन की आष्टान्हिका में प्रतिष्ठायें हुई हैं अतः इस विषय में मुझे विशेष ज्ञान नहीं है, मुहूर्तज्ञ ही जानें।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा —

यहाँ इस समय आचार्य संघ के आने पर भगवान् शांतिनाथ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की जोरदार तैयारियाँ चल रही थीं। प्रतिष्ठा का मुहूर्त फाल्गुन की आष्टान्हिका में था।

झंडारोहण —

माघ शु. १५ के दिन सर्व संघ के सानिध्य में प्रतिष्ठा के लिए झंडारोहण किया गया। ध्वजा ऊपर लहराते ही उसकी नोक किसी गलत दिशा में चली गई अतः मुनिश्री श्रेयांससागर जी आदि दो-चार साधु-साध्वियों ने आपस में कुजबुज करना शुरू की। आर्यिका विशुद्धमतीजी ने भी मुझसे कहा—

"माताजी! कुछ अशुभ दिखता है, उपाय सोचना चाहिए।"

मैंने भी ब्रह्मचारी सूरजमल से कहा—

"बाबाजी! कुछ शांतिविधान करा दीजिये.....।"

किन्तु जो होनहार होती है सो भला कैसे टल सकती है? उसी दिन सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय आचार्यश्री शिवसागर जी और बड़ी आर्यिका श्री वीरमती जी से जरा सी बात में आपस में अशांति हो गई।

दोनों ही संघ में बड़े थे और दोनों में ही उग्रता आ जाने से कोई रोक भी न पाये। कुछ क्षण बाद माहौल शांत हो गया। नित्य की भांति दैवसिक प्रतिक्रमण हुआ। हम सभी अपने-अपने स्थान पर आ गये किन्तु उस अशांति से कई साधु-साध्वियों के मानसपटल पर प्रतिष्ठा के अशुभ का आभास समझकर, विषाद की रेखाएँ खिंच गईं। संघ का वातावरण कुछ उदास सा दिखने लगा।

आचार्यश्री अस्वस्थ —

आचार्यश्री को अष्टमी (फाल्गुन कृ. ८) को बुखार आ गया। एक-दो दिन मध्यान्ह में आचार्यश्री ने मोतीचंद से वैयावृत्ति करवाई, तेल मालिस करवाई, जबकि उससे पहले कभी भी शरीर पर तेल नहीं लगवाया था।

एक बार बोले—

"मोतीचंद! पता नहीं क्यों? मेरे जीवन में मुझे कभी भी ऐसी कमजोरी और ऐसी हाथ-पैरों में दर्द नहीं

हुई है। इन दिनों न जाने कैसा शरीर गिरा-गिरा सा लगता है.....?"

मोतीचंद ने आकर मुझे बताया—"मुझे भी मन में बहुत ही चिंता हो गई। क्या करना? समझ में नहीं आया।"

आचार्यश्री को आहार लेने में भी कंठ में कुछ तकलीफ हो रही थी। साधारण सी कुछ दवा दी गयी होगी। वैद्यों ने मुनिश्री श्रुतसागरजी आदि से एकांत में कुछ शंका व्यक्त कर दी। इधर-उधर की बातें करते हुए कई एक प्रमुख साधु एवं श्रावकों ने आचार्यश्री से पूछा—"महाराज जी! यदि आप इतनी दूर पांडाल में नहीं जा सके, तो दीक्षाएँ कौन देंगे?...।"

आचार्यश्री ने कहा—"नहीं, नहीं, मैं स्वस्थ हो जाऊँगा, मैं चलूँगा।"

दीक्षा हेतु प्रार्थना —

कई दिन पूर्व मैं आचार्यश्री के समक्ष कई शिष्य-शिष्याओं को दीक्षा हेतु प्रार्थना कराने ले गई थी। क्षुल्लिका अभयमती को आर्यिका बनना था। क्षुल्लक संभवसागर मुनि बनना चाहते थे। यशवंत कुमार मुनि बनना चाहते थे, गेंदीबाई भी क्षुल्लिका दीक्षा लेना चाहती थीं। ब्र. अशर्फी बाई, ब्र. विद्याबाई आर्यिका बनना चाहती थीं।

आचार्य श्री ने इन सबको दीक्षा देने के लिए स्वीकृति प्रदान कर दी थी और अतीव वात्सल्य से बार-बार मेरी ओर देखकर खुश हो रहे थे पुनः बोले—

"माताजी! मोतीचंद को भी दीक्षा दिलावो, वह बहुत योग्य है.....।"

मैंने कहा—"महाराज जी! मैंने बहुत प्रेरणा दे दी, किन्तु वे अभी तैयार नहीं हैं।"

पुनः बोले—"दीक्षार्थियों को तैयार करना तुम्हारा काम है और दीक्षा देना मेरा काम है।"

"कौन जानता था कि निकट भविष्य में ही क्या होने वाला है?"

साधुओं में ऊहापोह —

"हम सभी साधुओं में ऊहापोह चल रहा था कि आचार्यश्री कैसे स्वस्थ हों? क्या किया जाये?.....।"

मेरी अपनी धुन थी, कलकत्ता टेलीफोन करके वैद्यराज केशवदेव को बुलाया जाये। चूँकि हैदराबाद में आकर वे मेरा इलाज कर चुके थे और श्रवणबेलगोल में आर्यिका आदिमती, क्षुल्लिका अभयमती का इलाज कर चुके थे। हालांकि मेरी कोई सुनने वाला नहीं था।

वास्तव में वैद्य भाग्य नहीं हैं और न भगवान ही हैं। मेरी छटपटाहट देखकर मोतीचंद बोले—"माताजी! आप मुझे जो भी उपदेश दोद्ध मैं करने को तैयार हूँ।"

तब मैंने मोतीचंद से कहा—"तुम कलकत्ता फोन करो।"

इधर आचार्य श्री की हालत बहुत नाजुक होती जा रही थी। मैंने यह भी नहीं सोचा कि "कब कलकत्ते फोन होगा? कब वैद्य यहाँ पहुँचेंगे? और कब उनकी दवा आचार्यश्री के पेट में जायेगी?....."

इधर फाल्गुन कृष्णा अमावस्या ने अपना प्रभाव दिखाया।

आचार्य शिवसागरजी की समाधि —

मध्यान्ह सामायिक के बाद आचार्यश्री लघुशंका के लिए उठे, मध्य में ही गड़बड़ हो गई, आचार्यश्री ने बहुत ही खेद की मुद्रा बनाकर मौनपूर्वक ही खेद व्यक्त किया, शुद्धि करके आकर कमरे में बैठ गये। आर्यिका विशुद्धमती जी आदि कई साधु-साध्वियाँ उनके सानिध्य में थे। मुझे भी समाचार मिलते ही मैं भी ऊपर आ गई।

कुछ ही क्षण बाद आचार्यश्री ध्यानमुद्रा में बैठ गये और हम सभी साधुवर्ग महामंत्र का उच्चारण करते रहे। आचार्यश्री ने इस नश्वर शरीर को छोड़कर, दिव्य वैक्रियक शरीर प्राप्त कर लिया। इधर एकदम हाहाकर

मच गया। हम लोगों के हृदय पर मानों व्रजपात ही हो गया हो। बिजली सी खबर सारे क्षेत्र में पहुँच गई। जयपुर आदि शहरों में भी फोन से समाचार पहुँचा दिये गये।

उसी दिन सायंकाल करीब ५ बजे शांतिवीर नगर में आचार्यश्री के पार्थिव शरीर की अंतिम संस्कार क्रिया की गयी।

मुनिश्री धर्मसागर संघ —

मुनिश्री धर्मसागर जी सन् १९५८ में ब्यावर से विहार कर अलग चले गये थे। इस प्रतिष्ठा के अवसर पर यहाँ अपने संघ सहित आये हुए थे। वे भी इस समय यहीं संघ में विराजमान थे।

यद्यपि मुनि-आर्यिका आदि साधुओं को शोक नहीं करना चाहिए। हम लोग तो श्रावकों को ऐसे इष्टवियोग-मरण आदि के अवसर पर शिक्षा देते हैं, संबोधित करते हैं, रोने से रोकते हैं और कहते हैं—

''**दुखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।**'' दुख करना, शोक करना, पश्चात्ताप करना, करुण क्रंदन करके रोना, वध करना, ऐसा रोना कि दूसरे भी रो पड़ें, यह सब शोकादि स्वयं करना, दूसरे में उत्पन्न करना अथवा स्वयं और पर दोनों में करना इनसे असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

दूसरी बात यह है कि मृत्यु के आगे किसी की नहीं चलती है। ''**अलंघ्यशक्ति-र्भवितव्यतेयं**'' भवितव्यता यानी होनहार अलंघ्य है—टाले नहीं टलती है।

सब कुछ जानते हुए भी संघ के सभी साधुवर्ग अपने आपको ही मानों भूल गये थे, सभी रो रहे थे। शायद ही एक-दो साधु कोई बचे हों कि जिनकी आंखों से अश्रु न आये हों, तो भी उन सबका ही अन्तःकरण शोक को प्राप्त हो गया था। चूँकि यह अकस्मात् समाधि हो गई थी और प्रतिष्ठा के इस अवसर पर जबकि प्रतिष्ठा प्रारंभ के मात्र ६ दिन शेष रह गये थे।

और भी खास बात यह थी कि—

''आचार्य बनने के समय किसी को ऐसा नहीं लगता था कि ये मुनिराज सभी साधु-साध्वियों के मन पर ऐसा छा जायेंगे, ऐसा वात्सल्य रखेंगे और सभी के गुरु बन जायेंगे।''

महाराज जी अनुशासन में कठोर भी थे और वात्सल्य में कुशल मातृत्व भावना भी रखते थे इसी वजह से पूरे संघ में सभी को हितैषी दिख रहे थे तथा यही कारण था कि उनका अभाव इस समय सभी के लिए दुःखद बन गया।

आचार्य पट्ट की चर्चा —

संघ में योग्य और संघ संचालन में कुशल मुनिश्री श्रुतसागरजी ही थे अतः चतुर्विध संघ में उन्हीं को आचार्य बनाने की बात हुई। इसी मध्य मुनिश्री धर्मसागर जी चार मुनियों के साथ यहाँ पधारे हुए थे। चूँकि आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के शिष्यों में इनका द्वितीय नम्बर था अतः उनके संघ के मुनिवर्ग जो कि श्रीनिर्मलसागर जी, श्री संयमसागर जी, श्रीबोधिसागर जी एवं श्री दयासागर जी थे, उनके माध्यम से यह चर्चा आई कि—

''जिस समय मुनिश्री धर्मसागर जी से छोटे मुनिश्री श्रुतसागर जी को आचार्य पट्ट दिया जायेगा, तो मुनिश्री धर्मसागर जी उसी समय विहार कर जायेंगे।'' अब संघ के मुनियों, आर्यिकाओं, ब्रह्मचारियों और प्रमुख श्रावकों में इस चर्चा ने विशेष रूप ले लिया। दिन-रात ऊहापोह शुरू हो गया। कुछ साधु-साध्वी तटस्थ थे, कोई भी आचार्य बने हमें क्या करना? किन्तु हम जैसे साधु-साध्वी उस विषय में पूर्णतया अपनी सहमति-असहमति में लगे हुए थे।

इस ऊहापोह में सेठ हीरालाल जी पाटनी, निवाई वालों ने बार-बार हम लोगों के स्थान पर आकर

चर्चायें शुरू कर दीं और निर्णय लेने का प्रयास करने लग गये.....।

सभी मुनि-आर्यिकाओं की भी सभा बैठी, उसमें खास-खास ब्रह्मचारी और श्रेष्ठी बैठे.....अन्ततोगत्वा आचार्य पद के लिए मुनिश्री धर्मसागर जी का नाम घोषित हो गया।

उस समय फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को भगवान् के तपकल्याणक के दिन आचार्यपट्ट होकर, नूतन आचार्य से ग्यारह दीक्षाएँ होना निश्चित हो गया।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा प्रारंभ —

इधर शांतिवीरनगर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा शुरू हो गई। भगवान के गर्भ, जन्म कल्याणक सम्पन्न हुए और तप कल्याणक का दिन आ गया।

माता-पिता का आगमन —

टिकैतनगर में कैलाश जी ने दुकान से घर आकर संघ से आया हुआ एक पत्र सुनाया, जिसे मोतीचंद ने लिखा था। उसमें यह समाचार था कि —

"संघ यहाँ महावीर जी क्षेत्र पर विराजमान है, फाल्गुन सुदी में शांतिवीर नगर में भगवान शांतिनाथ की विशालकाय प्रतिमा का पंचकल्याणक महोत्सव होने जा रहा है। इस अवसर पर अनेक दीक्षाओं के मध्य क्षुल्लिक अभयमती जी की आर्यिका दीक्षा अवश्य होगी अतः आप माँ और पिताजी को अंतिम बार उनकी इस दीक्षा के माता-पिता बनने का लाभ न चुकावें, अवश्य जा जावें।

उस समय यद्यपि पिताजी को पीलिया के रोग से काफी कमजोरी चल रही थी, वे प्रवास में जाने के लिए समर्थ नहीं थे फिर भी माँ ने आग्रह किया कि —

"यह अंतिम पुण्य अवसर नहीं चुकाना है। भगवान महावीर स्वामी की कृपा से आपको स्वास्थ लाभ होगा। हिम्मत करो, भगवान, तीर्थ और गुरुओं की शरण में जो होगा, सो ठीक ही होगा.....।"

कैलाशचंद जी ने भी साहस किया। रुग्णावस्था में भी पिता को साथ लेकर माँ की मनोकामना पूर्ण करने के लिए महावीर जी आ गये। वहाँ आकर देखते हैं-बड़ा ही गमगीन वातावरण है। अकस्मात् फाल्गुन कृष्णा अमावस्या की मध्यान्ह में आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज की समाधि हो गई है। सभी साधु-साध्वियों के चेहरे उदास दिख रहे हैं और यहाँ अब आचार्य पट्ट मुनिश्री धर्मसागर जी महाराज को दिया जाये या मुनि श्रुतसागर जी महाराज को.....?"

साधुओं की सभा में यह जटिल समस्या चल रही है। खैर! उन्हें इन बातों से क्या लेना-देना था? वे वहाँ कटरा में ही धर्मशाला में ठहर गये।

माँ ने सभी साधुओं के दर्शन किये किन्तु पिता कहीं नहीं जा सके। वे अपने कमरे से ही दरवाजे में पलंग पर बैठे-बैठे दूर से साधुओं का दर्शन कर लेते थे। वे पीलिया रोग से उस समय काफी परेशान थे। कई बार उन्होंने मेरे दर्शन के लिए सुपुत्र कैलाश से भावना व्यक्त की। कैलाश ने मुझसे प्रार्थना भी की किन्तु मैं कुछ धार्मिक आयोजनों में व्यस्त भी रहा करती थी तथा कुछ संकोचवश वहाँ नहीं गई।

मां मोहिनी की मनोभावना पूर्ण हुई —

इधर फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को भगवान के तपकल्याणक दिवस मुनि श्री धर्मसागर जी को चतुर्विध संघ के समक्ष आचार्य पद प्रदान किया गया और नवीन आचार्य के करकमलों से उसी दिन ग्यारह दीक्षाएँ हुईं। कैलाशचंद जी इतनी भीड़ में भी पिता को सभा में ले आये। उन्होंने क्षुल्लिका अभयमती की आर्यिका दीक्षा में माता-पिता के पद को स्वीकार कर, उनके हाथ से पीताक्षत, सुपारी, नारियल आदि भेंट में प्राप्त किये। इस लाभ से वे बहुत ही प्रसन्न हुए। इस दीक्षा के अवसर पर मेरी प्रेरणा से सनावद के यशवन्त कुमार ने मुनि दीक्षा

ली थी। ब्र. अशर्फीबाई और ब्र. विद्याबाई ने भी आर्यिका दीक्षा ली थी। क्षुल्लिका अभयमती का नाम अभयमती ही रहा। ब्र. अशरफीबाई का नाम आर्यिका गुणमती प्रसिद्ध हुआ और विद्याबाई का नाम आर्यिका विद्यामती रखा गया। इन दीक्षाओं को सम्पन्न कराने में मैंने बड़े उत्साह से भाग लिया था।

इसके बाद प्रतिष्ठा के शेष दो कल्याणक भी सानंद सम्पन्न हुए। प्रतिष्ठा के बाद भीड़ कम हो गई, तब माँ मोहिनी ने वहाँ कुछ दिन और रहकर धर्मलाभ लेने का निर्णय किया।

श्रीमान् छोटेलाल जी को मेरे अंतिम दर्शन —

गृहस्थाश्रम के पिताजी पीलिया से परेशान थे। बार-बार कैलाशचंद से मुझे बुलाने के लिए कहते थे और कैलाशचंद आकर मुझसे प्रार्थना किया करते किन्तु पता नहीं क्यों? मैं टाल दिया करती थी। एक दिन मैं कैलाशचंद के साथ उनके कमरे में गई। पिताजी देखते ही रो पड़े और बोले —

"माताजी! अब हमें इस जीवन में आपके दर्शन नहीं होंगे।"

मैं वहाँ दो मिनट के लिए खड़ी हुई, आशीर्वाद दिया और बोली —

"घबराते क्यों हो.....?"

बाद में मैं जल्दी ही वापस चली आई। पता नहीं, मुझे वहाँ बैठकर पिता को कुछ शब्दों में शिक्षा देने में क्यों संकोच रहा.....?"

पिताजी चाहते थे कि आर्यिका ज्ञानमती जी मेरे पास कुछ देर बैठकर कुछ कहें, बोलें, सुनावें.....किन्तु उनकी इच्छा पूरी नहीं हो पाई.....। दो-चार दिनों में ही घर वापस जाने का कार्यक्रम बन गया।

क्षुल्लिका विशालमती से मिलन —

सन् १९५५ में क्षुल्लिका विशालमती जी से आज्ञा लेकर मैं म्हसवड़ से आचार्यश्री वीरसागर जी के संघ में आ गई थी। क्षुल्लिका विशालमतीजी का मेरे प्रति इतना वात्सल्य था कि उनको शब्दों में कहना शक्य नहीं है। उन्होंने सोचा भी नहीं था, न मैंने ही सोचा था कि —

"हम दोनों का इतनी जल्दी वियोग हो जायेगा।"

किन्तु दो चातुर्मास के बाद ही वियोग हो गया। मैंने आर्यिका दीक्षा लेने का निर्णय बनाया, तभी उन्होंने अच्छी शिक्षायें और प्रेरणा देकर मेरी इच्छानुसार मुझे इधर संघ में भेज दिया था पुनः फरवरी १९५६ में इधर रैनवाल में संघ के दर्शनार्थ और मुझसे मिलने हेतु-सुख-दुख पूछने हेतु आ गई थीं। तभी वे मेरी संतुष्टि देखकर कुछ कडुवे-मीठे अनुभव लेकर ५-७ दिन रहकर चली गई थीं।

खास बात यह हुई थी कि यहाँ संघ में एक वयोवृद्ध सुमतिमती माताजी ने कहा कि-

"ये क्षुल्लिका विशालमती रेल-मोटर पर बैठती हैं, इनके साथ अब तुम आहार नहीं करना।"

मैंने कहा —"ठीक है।"

इधर क्षुल्लिका विशालमती जी पूर्वप्रेम से मेरे साथ आहार को आना चाहती थीं। मैंने टाल दिया किन्तु भय के कारण उनसे वास्तविक स्थिति नहीं बताई कि मुझे यहाँ संघ में मना किया गया है। इसके अतिरिक्त भी वे जिस-जिस चौके में जाती थीं प्रायः संघ के साधु वहाँ से निकल जाते थे इससे भी इन्हें दुःख होता था।

आज मैं समझती हूँ कि उस समय मुझे एकांत में संघ की इस मर्यादा और कठोरता का परिचय दे देना चाहिए था। खैर! इस व्यवहार से वे शायद मेरे प्रति भी उपेक्षित हुईं और चली गईं।

"मेरे जीवन में ऐसे अनेक प्रकार के प्रसंग आये हैं और साधुओं में या श्रावकों में मैंने वास्तविक स्थिति का खुलासा न कर मौन रखा। इससे मेरे प्रति अनेक भ्रांत धारणाएँ लोगों में बनती रहीं और मुझे कष्टों का सामना भी करना पड़ा, ऐसा मैंने स्वयं अनुभव किया है। अब मैं समझती हूँ कि यह "सहनशीलता" न होकर

मेरे में बहुत बड़ी कमी थी, आज भी प्रायः यह कमी मौजूद है।"

उसके बाद पुनः यहाँ पर (महावीर जी) सन् १९६९ में ये क्षुल्लिका विशालमती आई थीं। मैं इन्हें देखते ही उनसे चिपट गई, उन्होंने भी मुझे बड़ा मानकर आर्यिका पद में देखकर 'वंदामि' किया, रत्नत्रय कुशल पूछा। रात्रि में वे मेरे पास ही सोईं, अनेक बातें हम दोनों की आपस में हुईं, उस समय आचार्यपट्ट की समस्या यहाँ उलझी हुई थी अतः मेरा मस्तिष्क विक्षिप्त सा था। प्रातः बिना आहार किये वे कब चली गईं इसका मुझे बहुत ही दुःख हुआ। शायद वे रैनवाल की पुरानी घटना "मेरे साथ कोई आहार नहीं करेगा" ऐसा स्मरण कर ही चली गई होंगी। इसका मुझे बहुत दुःख हुआ फिर भी क्या उपाय था? इसके बाद मेरे जीवन में उनका मिलन या वार्तालाप या पत्रों द्वारा विचारों का आदान-प्रदान कुछ भी नहीं हो सका, अब तो वे स्वर्गस्थ हो चुकी हैं। हां! शायद स्वर्ग में मिलना हो सकता है।

व्याकरण का अध्यापन —

आर्यिका विशुद्धमती जी की काफी दिनों से इच्छा थी, कहा करती थीं कि —

"माताजी! जैनेंद्रप्रक्रिया व्याकरण पढ़ाइये।"

उस समय यहाँ महावीरजी में प्रातः सामायिक के बाद ही व्याकरण पढ़ाने का समय निश्चित किया गया था। उसमें कई आयिकायें बैठती थीं, मोतीचन्द भी बैठते थे।

यह व्याकरण की कक्षा बहुत ही अच्छी चल रही थी किन्तु अकस्मात् आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज की सल्लेखना हो जाने से छूट गई पुनः वहाँ नहीं चल पाई।

आचार्यश्री विमलसागर जी संघ दर्शन —

आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज अपने विशाल संघ सहित यहाँ महावीर जी क्षेत्र पर पधारे। दोनों संघों का अच्छा मिलन हुआ। इस समय यहाँ पचहत्तर साधु-साध्वी मयूरपिच्छिकाधारी हो गये थे। आपस में अच्छा सौहार्द था। मैं आचार्यश्री विमलसागर जी से विशेष निकटता होने से विशेष प्रसन्न थी।

मैंने मोतीचंद से कहा —

"मोतीचंद! देखो, इतने विशाल मुनि-आर्यिकाओं के संघ का एक जगह मिलना कम संभव है अतः तुम एक पूरे साधू समूह का फोटो ले लो पुनः मुनि समूह और आर्यिका समूह के अलग-अलग दो फोटो ले लो।"

चूँकि मोतीचन्द को फोटो खींचने का बहुत ही शौक था अतः मेरी आज्ञा शिरोधार्य कर इन्होंने यह कार्य हाथ में लिया। इसमें इन्हें बहुत ही मेहनत पड़ी। कहीं कोई आर्यिका नहीं आ रही हैं, नाराजगी व्यक्त कर रही हैं। कहीं कोई साधु चिढ़ रहे हैं तो कहीं कोई नहीं आ रहे हैं। कुल मिलाकर समूह में सबको बिठाकर साधुओं का फोटो खींचना कितना कठिन काम है।

मोतीचंद बहुत परेशान हो गये, हिम्मत हारकर बोले —

"माताजी! मेरे वश का नहीं है।"

फिर भी मेरी विशेष प्रेरणा होने से उन्होंने यह सामूहिक फोटो खींचा। उस समय के बाद शायद इन्होंने कैमरा रख दिया, फोटो ही नहीं खींचा है।

मेरा कहना यही था कि —

"यह एक इतिहास बनता है कि अमुक सन, संवत् में अमुक स्थान पर, इतने मुनियों का समुदाय एकत्रित हुआ था। उसमें इतने मुनि और इतनी आर्यिकायें थीं इत्यादि और मेरा इसमें भला क्या स्वार्थ था? मुझे वह उदाहरण भी अच्छी तरह याद था कि जब आचार्य शिरोमणि गुरुणां गुरु चारित्रचक्रवर्ती श्रीशांतिसागरजी महाराज दिल्ली के चाँदनी चौक आदि स्थलों पर अकेले जा-जाकर किसी श्रावक से कहकर अपना फोटो

खिंचवाते थे, तब किसी ने कहा—

"महाराज! आपको फोटो खिंचवाने का शौक क्यों?

तब महाराज जी ने कहा था—"भईया! हमें दिगम्बर मुद्रा में फोटो खिंचवाने का शौक नहीं है, प्रत्युत् इसमें यह रहस्य है कि भविष्य में दिल्ली राजधानी जैसे शहरों में दिगम्बर मुनियों का विहार निराबाध होता रहे, इसके लिए ये फोटो साक्षी रहेंगे कि दिगम्बर मुनि अमुक सन्-संवत् में भी दिल्ली के चांदनी चौक आदि स्थानों में निराबाध विहार करते रहते थे।"

खैर! मोतीचन्द द्वारा खींचे गये वे मुनि और आर्यिका समूह के फोटो आज अनेक मंदिरों में व अनेक मुनिभक्तों के घरों में लगे हुए दिखते हैं।

महावीर जी का वार्षिक मेला —

यहाँ चैत्र सुदी तेरस से लेकर वैशाख बदी पंचमी तक बहुत बड़ा मेला लगता है। भगवान् महावीर स्वामी की रथयात्रा निकलती है। उस दिन हजारों जैन तो आते ही हैं, अजैन लोगों की संख्या अधिक रहती है। उसमें इस इलाके के खास मीणा-गूजर लोग बहुत रहते हैं। ये खूब नाचते-गाते हैं, खूब भक्ति करते रहते हैं।

यहाँ मेला की भीड़ देखी, अनंतर यहाँ से विहार का कार्यक्रम बनाया गया।

महावीर जी से विहार —

अजमेर से बहुत से श्रावक आचार्यश्री को श्रीफल चढ़ाकर अजमेर चातुर्मास के लिए प्रार्थना करने लगे। आचार्यश्री का आश्वासन पाकर अजमेर से भक्तगण ७-८ चौके लेकर आ गये।

आचार्यश्री ने संघ सहित जयपुर के लिए विहार कर दिया। संघ पद्मपुरी तीर्थ के दर्शन कर जयपुर खानिया में पहुँचा। वहाँ आचार्यश्री वीरसागर जी की निषद्या के दर्शन किये, मंदिरों के दर्शन किये और आचार्यश्री वीरसागर जी के चातुर्मास के संस्मरण याद कर गुरु के चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पित किये।

यहाँ पर गर्मी में संघ ठहर गया और अजमेर के श्रावकों को आचार्यश्री ने वापस अजमेर भेज दिया।

संघ विच्छेद —

यहाँ खानिया से मुनिश्री श्रुतसागर जी ने अलग विहार कर दिया। उनके साथ में मुनिश्री अजितसागरजी, मुनिश्री सुबुद्धिसागरजी आदि कई मुनि गये थे और आर्यिका विशुद्धमती जी आदि कई आर्यिकायें भी गई थीं। हालांकि उस समय उनके अलग होने के प्रसंग में बहुत संघर्ष हुए थे।

इसके बाद आचार्य संघ खजांची की नशिया में आकर ठहरा था। यहाँ से मुनिश्री श्रेयांससागर जी, आर्यिका अरहमतीजी, आर्यिका श्रेयांसमती आदि भी अलग विहार कर गये। इधर जयपुर के कई पंडितों ने और श्रावकों ने आकर मुझसे निवेदन किया—

"माताजी! सभी संघ ने मिलकर इन्हें आचार्यश्री शांतिसागर जी का तृतीय पट्टाधीश बनाया है। संघ में प्रमुख-प्रमुख मुनि वर्ग विहार कर अलग हो गये हैं। अब यदि आप भी अलग विहार कर जावेंगी तो संघ में खास साधु रहेंगे ही कौन? अतः आपको संघ में ही रहकर आचार्य परम्परा की मर्यादा संभालनी चाहिए।"

मैं भी यही सोच रही थी कि "अब क्या करना?"

फिर भी आचार्यश्री धर्मसागर जी की आज्ञा न होने से मैंने अपने विहार का विचार बदल दिया।

महाराज जी को प्रसन्नता रही। इधर जयपुर के लोग आचार्य संघ का चातुर्मास यहीं कराना चाहते थे। आचार्यश्री ने बक्शीजी के चौक में पदार्पण किया। यहाँ मंदिर जी में मुनिसंघ ठहरा और धर्मशाला में आर्यिकाएँ ठहर गईं। सबसे बड़ी आर्यिका वीरमती जी भी संघ में ही थीं।

महाराज जी ने श्रावकों से कहा—

"यहाँ गुरुकुल की स्थापना करनी चाहिए, तभी हम चातुर्मास करेंगे।"

लोगों ने मंजूर कर लिया। रुपये इकट्ठे कर गुरुकुल खोला भी गया था किन्तु वह अधिक दिन चल नहीं सका था। यहाँ जयकुमार छाबड़ा अच्छे महानुभाव थे जो कि आचार्यश्री के कहे गये हर कार्यों में रुचि लेते थे और अनेक श्रावक, श्राविकाएँ भक्ति में रत थे।

चातुर्मास यहीं करना निश्चित हो गया। श्रावकों को बहुत ही प्रसन्नता हुई। साथ ही अजमेर के श्रावक कई बार बस लेकर आ चुके थे और यहाँ से विहार कराना चाहते थे अतः उन्हें दुःख हुआ।

एक बार अजमेर से श्रावकगण बस में बैठकर आ रहे थे अकस्मात् बस का एक्सीडेंट हो जाने से कई लोगों को गहरी चोटें आईं, मुनिभक्त महेंद्रकुमार बोहरा को भी हड्डी में चोट आ गई, काफी दिनों तक ये लोग अस्वस्थ रहे, फिर भी इन लोगों ने मुनियों के प्रति उपेक्षा नहीं की है, प्रत्युत् पूर्ववत् ही भक्त बने रहे हैं। आजकल कुछ श्रावक ऐसी घटनाओं से धर्म को ही छोड़ बैठते हैं, उनके लिए ऐसे-ऐसे भक्त ही उदाहरण बन जाते हैं।

वर्षायोग स्थापना —

यहाँ आषाढ़ शुक्ला चौदस के दिन पूर्वरात्रि में वर्षायोग स्थापना की गई।

सांवत्सरिक प्रतिक्रमण —

पहले आचार्यश्री वीरसागर जी सांवत्सरिक प्रतिक्रमण दीपावली के दिन करते थे। आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज भी ऐसे करते आये थे। यहाँ सन् १९६९ में जयपुर में मैंने आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज को अनगारधर्मामृत की पंक्तियाँ दिखाईं और प्रार्थना की कि—

"महाराज जी! यह सांवत्सरिक प्रतिक्रमण शास्त्राधार से आषाढ़ मास की चतुर्दशी को ही होना चाहिए।"

यथा—"आषाढ़ान्त सांवत्सरी।"[१]

आचार्यश्री मुस्कराये और बोले—

"ठीक है" पुनः उन्होंने आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को ही सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया। इससे पूर्व मैंने आर्यिका वीरमती माताजी को ग्रन्थ-प्रमाण दिखाकर पक्ष में ले लिया था। तभी से लेकर सन् १९८६ के चातुर्मास तक आचार्यश्री यह बड़ा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण आषाढ़ में ही करते आये हैं।

युग प्रतिक्रमण —

ऐसे ही अनगार धर्मामृत में लिखा है कि पाँच वर्ष के बाद युग प्रतिक्रमण करना चाहिए। यथा—

"तथा पंचसंवत्सरांते विधेया यौगान्ती प्रतिक्रमणा।"[२]

पाँच वर्ष के अंत में किया जाने वाला 'यौगांत' प्रतिक्रमण है। इसे ही युग प्रतिक्रमण कहते हैं।

यह भावना मैंने सन् १९८५ की प्रतिष्ठा के समय आचार्यश्री धर्मसागर जी से कहलाई थी उन्होंने स्वीकार भी कर लिया था किन्तु अत्यधिक कमजोर हो जाने से वे नहीं आ सके। बाद में सन् १९८७ की प्रतिष्ठा में आचार्यश्री विमलसागर जी ने यहाँ हस्तिनापुर से यह युग प्रतिक्रमण प्रारम्भ कर दिया है।

वर्षायोग स्थापना काल —

ऐसे ही आचार्यश्री वीरसागर जी और आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रिया दिन में ही कर लेते थे। मैंने सुना था कि आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर जी महाराज और आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज रात्रि में ही वर्षायोग प्रतिष्ठापना करते थे। आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज ने भी जयपुर में रात्रि में ही

१-२. अनगारधर्मामृत, मूल० पृ. ५७९।

प्रतिष्ठापन क्रिया की थी। अनगार धर्मामृत शास्त्र में लिखा है—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तिगुरुस्तुतिं।।६६।।
शांतिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।
ऊर्जकृष्ण चतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ।।६६।।[१]

मैंने आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज से कहा—

महाराज जी ने भी कहा कि—

"हाँ, आचार्यकल्प श्री चंद्रसागर जी महाराज भी रात्रि में ही स्थापना करते थे अतः ठीक है।"

ऐसा कहकर उन्होंने जयपुर से ही रात्रि में वर्षायोग स्थापना करना शुरू कर दी। उसी प्रकार दीपावली के दिन अर्थात् कार्तिक वदी चौदश की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन क्रिया करते थे। आर्यिकायें भी स्थापना के दिवस रात्रि में वहीं मंदिर में सायंकाल से ही आ जाती थीं और निष्ठापना के दिन पहले से ही आचार्य संघ के निकट स्थानों में रहकर पिछली रात्रि में आचार्यश्री के सानिध्य में आ जाती थीं।

सन् १९७४ में आचार्यश्री धर्मसागर जी ने दिल्ली में भी चातुर्मास स्थापना लाल मंदिर में रात्रि में ही की थी और समापन क्रिया-दरियागंज के बालाश्रम में पिछली रात्रि में ही सम्पन्न की थी।

प्रकाशचंद को गुरुदर्शन —

जयपुर में सन् १९६९ में प्रकाशचंद अपनी पत्नी ज्ञानादेवी को, बच्चों को, बहन माधुरी और भतीजी मंजू को साथ लेकर संघ के दर्शनार्थ आ गये। सन् १९६३ में मेरे संघ को सम्मेदशिखर पहुँचाने के बाद प्रकाशचंद छह वर्ष बाद संघ के दर्शनार्थ आये थे। यहाँ वे लोग कुछ दिन ठहरे थे।

यहाँ पर मोतीचंद ने मेरे द्वारा रचित "उषावंदना" पुस्तिका दस हजार प्रति छपाने का निर्णय किया और प्रकाशचंद के परिवार से ही व्यवस्था करा ली तथा एक 'जैन ज्योतिर्लोक' पुस्तक भी छपा रहे थे जिसको प्रकाश ने पिताजी के नाम से कर दिया।

प्रकाशचंद ने कहा—मैं घर जाकर रुपये भेज दूँगा।

माधुरी पर संस्कार —

यहाँ पर मेरे पास कु. सुशीला, शीला, कला आदि गोम्मटसार जीवकाण्ड पढ़ रही थीं और कातन्त्र व्याकरण भी पढ़ती थीं। मैंने कु. माधुरी की बुद्धि कुशाग्र देखकर उसे वही गोम्मटसार और व्याकरण पढ़ाना शुरू कर दिया, साथ ही यह भी समझाना शुरू कर दिया कि—

"तुम कुछ दिन यहाँ रहकर धार्मिक अध्ययन कर लो, फिर घर चली जाना।'

एक बार माधुरी और मंजू के मन में भी यह बात जंच गई पुनः वे प्रकाशचंद के जाते समय संघ में नहीं रह सकीं और साथ ही साथ घर चली गईं। उस समय माधुरी की उम्र १०-११ वर्ष की थी। घर पहुँचते ही पिता ने माधुरी को छाती से चिपका लिया और बोले—

"बिटिया! तुम माताजी के पास नहीं रहीं, बहुत अच्छा किया....।

वहाँ संघ में मैं मध्यान्ह १ बजे से ४ बजे तक मुनिश्री दयासागरजी, श्री अभिनंदनसागर जी, श्री संयमसागर जी, श्री बोधिसागरजी, श्री निर्मलसागरजी, श्री महेन्द्रसागर जी, श्री संभवसागर जी और श्री वर्धमानसागर जी को गोम्मटसार जीवकांड, कल्याणमंदिर आदि ग्रंथों का स्वाध्याय कराती थी, इसमें आर्यिकायें भी बैठती थीं तथा मोतीचंद भी बैठते थे। आहार के बाद अपने स्थान पर कुछ आर्यिकाओं को

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय ९।

प्राकृत व्याकरण पढ़ाती। प्रतिदिन प्रातः ७ बजे से ९.३० बजे तक मुनिश्री अभिनन्दनसागरजी, श्री वर्धमानसागर जी आदि को तथा आर्यिका आदिमती जी, अभयमती जी को और मोतीचन्द को तत्त्वार्थ राजवार्तिक और अष्टसहस्री पढ़ाती। मेरी सारी दिनचर्या बहुत ही व्यस्त रहती।"

टिकैतनगर में जब माधुरी ने मेरे पास पढ़ी हुई गोम्मटसार की ३४ गाथाएँ आचार्य सुबलसागरजी को कंठाग्र सुनाई, तो वे हर्षविभोर हो गये और बोले—

"इन माता मोहिनी की कूँख से जन्म लिये सभी संतानों को बुद्धि का क्षयोपशम विरासत में ही मिला है। प्रत्येक पुत्र-पुत्रियों की बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण है.....।" इस प्रकार आचार्य सुबलसागरजी महाराज माधुरी से प्रतिदिन गोम्मटसार की वे ३४ गाथाएँ कंठाग्र सुना करते थे और गद्‌गद हो जाया करते थे।

अष्टसहस्री अनुवाद —

यहाँ मोतीचंद से मैंने बम्बई परीक्षालय की शास्त्री परीक्षा का फार्म भरा दिया था और कलकत्ता की बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद परीक्षालय से न्यायतीर्थ का फार्म भरा दिया था। इन दोनों कोर्स में अष्टसहस्री ग्रंथ था। यह न्याय का उच्चतम ग्रंथ था। इसकी संस्कृत भी बहुत कठिन थी। मोतीचन्द ने कई बार कहा—

"माताजी! इस ग्रंथ को मूल से पढ़कर मैं परीक्षा नहीं दे सकता हूँ।"

मैंने उस ग्रंथराज की हिन्दी करना शुरू कर दिया। प्रारंभ में कुछ ही पृष्ठों का हिन्दी अनुवाद हुआ था। देखकर मोतीचन्द तो प्रसन्न हुए ही, साथ ही पं. भंवरलालजी न्यायमूर्ति, जो कि 'जिनस्तवनमाला' आदि मेरी स्तुतिरचना की पुस्तक को अपनी प्रेस में छाप रहे थे, आते-जाते रहते थे, ये बहुत ही प्रसन्न हुए। यहाँ के संस्कृत विद्यालय के प्राचार्य पं. गुलाबचन्द जैन दर्शनाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए। पं. इन्द्रलालजी शास्त्री भी मेरे पास आते रहते थे।

कुल मिलाकर जयपुर के ७-८ विद्वानों ने आकर मेरा अनुवाद देखा और बार-बार प्रार्थना करने लगे—

"माताजी! इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद आपसे बढ़िया कोई नहीं कर सकता है। अब आप इसे छोड़ना नहीं, इसको पूर्ण करके ही छोड़ना। यह एक महान् कार्य होगा।"

मैं अपने अनुवाद किये हुए हिन्दी के पेजों से इन लोगों को पढ़ाकर, सुविधा से अर्थ हृदयंगम करा देती थी।

सन् १९७० में टोंक चातुर्मास के बाद मैंने टोडारायसिंह गांव में पौष शुक्ला १२ को इस ग्रंथ के अनुवाद को पूरा किया था, उसी समय मैंने इस ग्रंथ के साररूप में चौवन सारांश बनाये थे, जिनको पढ़कर सन् १९७२ में त्रिशला, माधुरी, मालती, रवीन्द्रकुमार मोतीचन्द आदि सभी शिष्यों ने शास्त्री की परीक्षाएँ उतीर्ण की थीं।

इस ग्रंथ के अनुवाद के मध्य मुझे जुकाम, खांसी वर्षों रहा है। डाक्टर, वैद्यों का कहना था कि "माताजी को झुककर लिखना, मस्तिष्क से इतना अधिक काम लेना बंद कर देना चाहिए। तभी जुकाम नियंत्रण में आयेगा।"

किन्तु मैंने किसी की भी न सुनकर इस ग्रंथ का अनुवाद पूरा करके ही चैन ली थी। उसमें कारण यही था कि अष्टसहस्री ग्रंथ के अनुवाद के समय मुझे एक विशेष ही आनंद का अनुभव हो रहा था। सम्यग्दर्शन की निर्मलता के साथ-साथ श्रीजिनेन्द्रदेव के प्रति महान अनुराग बढ़ता ही जाता था जो कि शब्दों में लिखना अशक्य ही है।

जैन ज्योतिर्लोक शिविर —

यहाँ जैन दर्शन विभाग के प्राचार्य पं. गुलाबचंद जैन मेरे निकट आते रहते थे। इन्हें जैन भौगोलिक

विषय से अच्छा प्रेम था। अनेक चर्चायें और शंका समाधान किया करते थे। कई एक विद्वानों की इच्छा से यहाँ मैंने आचार्यश्री की आज्ञा लेकर पन्द्रह दिन का 'जैन ज्योतिर्लोक' पर शिक्षण शिविर का आयोजन किया।

सभी विद्वान् और श्रेष्ठीवर्ग कापी-पेन लेकर बैठते थे। मैं मुख्यतया 'लोक विभाग' नामक ग्रंथ के आधार से इस ज्योतिर्लोक के विषय में शिक्षण देती थी। लोगों को जैन शास्त्राधार से सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि के विमान, गमन आदि का ज्ञान प्राप्त कर बड़ा आनंद आ रहा था। इस विषय को शिविर में मोतीचन्द ने भी अच्छी तरह से समझा था तथा अपनी कापी में लिखा था। शिविर के बाद मैंने उस कापी का संशोधन करके इसे पुस्तक का रूप बना दिया तभी मोतीचन्द ने उसको 'जैन ज्योतिर्लोक' नाम से छपाया था। उसके कवर का चित्र नक्षत्र, तारामंडल और चंद्रमा से सुन्दर बनवाया था। उसका दूसरा संस्करण भी दिल्ली में छप चुका है। यह पुस्तक अत्यधिक लोकप्रिय रही है।

दशलक्षण पर्व —

दशलक्षणपर्व में श्रावकों ने उसी बक्सी के चौक में पांडाल बनवाया, वहीं प्रतिदिन आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया था। पर्व के पूर्व आचार्यश्री ने मुझे बुलाकर कहा—

"माताजी! आप राजवार्तिक पढ़ाती हैं इसलिए दशों दिन आप तत्त्वार्थ सूत्र की एक-एक अध्याय का अर्थ सहित विवेचन करें। मैं एक-एक धर्म पर प्रवचन करूँगा।"

मैंने कहा—"ठीक है, जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही मैं करूँगी।" इस निर्णय से यहाँ के अनेक विद्वान् बहुत ही प्रसन्न हुए और मेरे पास आकर बोले—

"माताजी! हम सभी विद्वान् आपके मुख से तत्त्वार्थसूत्र का प्रवचन सुनना चाहते हैं। चूँकि आप राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों के आधार से अधिकरूप में सिद्धान्त, न्याय और भूगोल, खगोल पर प्रकाश डालेंगी।" उज्जैन के पं. सत्यंधर कुमार जी आदि भी आये हुए थे, वे भी यहाँ पर्व में रुकने को तैयार हो गये।

इधर एक महानुभाव (ब्रह्मचारी जी) ने आकर आचार्यश्री से कहा—"महाराज जी! आप तत्त्वार्थसूत्र पर प्रवचन करें और एक-एक साधु-साध्वियों से एक-एक धर्म पर प्रवचन करावें। ज्ञानमती जी से ही तत्त्वार्थसूत्र पर प्रवचन नहीं कराना है.....।"

आचार्यश्री सरल स्वभावी थे अतः उन महानुभाव की भी बात मान ली। मैंने जरा भी चिंता या ऊहापोह नहीं किया। विद्वान वर्ग को ऐसा निर्णय बदला गया मालूम होते ही वे कई लोग मिलकर मेरे पास आकर निवेदन करने लगे—

"माताजी! हम लोग अन्य किसी मंदिर में आपका तत्त्वार्थ सूत्र पर प्रवचन कराना चाहते हैं.....।"

मैंने उन्हें प्रेम से समझाकर मना कर दिया और कहा—

आप लोग आचार्यश्री के मुख से सूत्र का प्रवचन सुनें। इनका अनुभव ज्ञान मेरी अपेक्षा भी विशेष है, मेरा तो कोरा न्याय और व्याकरण में शाब्दिक ज्ञान है इत्यादि।"

पुनः इन विद्वानों में से शायद ही कोई एक-दो विद्वान किसी दिन आये हों। बल्कि ये लोग यह कहने लगे—

"अकारण ही ईर्ष्यालु लोगों ने हम लोगों के लिए अंतराय का काम कर दिया.....।"

शांतिबाई की दीक्षा —

खानिया में एक कन्या कु. शांतिबाई मुजफ्फरनगर की मेरे पास आई थी। वह ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए थी। मेरे पास रहकर अध्ययन करना चाहती थी। मैंने आचार्यश्री से आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखा।

अध्ययन कराना शुरू कर दिया। इसका क्षयोपशम अच्छा था। धीरे-धीरे उसे वैराग्य की ओर मोड़ दिया। तब वह इसी चातुर्मास में दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गई। आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी। यहाँ की समाज ने उस ब्रह्मचारिणी का अच्छा सम्मान किया, उसकी बिंदोरी—शोभायात्रा भी कई दिन तक निकाली गई। अच्छी प्रभावना हुई। उसकी आर्यिका दीक्षा हुई और नामकरण 'जयमती' किया गया।

ये आर्यिका जयमती कई वर्ष मेरे पास रही हैं, धार्मिक अध्ययन किया है। तपश्चर्या की शक्ति अच्छी थी। ८-८ उपवास करके सीढ़ियाँ चढ़ना, जोर-जोर से बोलना देखकर मैं सोचती—

"इसका पूर्व पुण्य है। मैं तो एक उपवास करके ही सीढ़ियाँ नहीं चढ़ पाती हूँ, बोलने की शक्ति घट जाती है।"

ये आर्यिका सन् १९७१ में मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी के संघ के साथ सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए गई थीं पुनः आ गई थीं। यहाँ सन् १९७४ में उसी संघ के साथ वापस आकर संघ में शामिल हो गई थीं पुनः सन् १९७५ में इधर अलग होकर विहार करने लगीं जो कि हम लोगों को इष्ट नहीं था क्योंकि संघ में अनुशासन में रहने से ही आत्महित होता है।

इधर कहीं विहार के समय मार्ग में बस की टक्कर से एक्सीडेंट हो जाने से वे बहुत घायल हो गई थीं तब इनकी दीक्षा छूट गई थी, मुजफ्फरनगर में इलाज चलता रहा था। बाद में स्वस्थ होने पर पुनः मुनिश्री जयसागर जी से आर्यिका दीक्षा ले ली है।

अभी[१] सन् १९८८ में जनवरी में मैंने सुना कि ये आर्यिका यहाँ हस्तिनापुर में बड़े मंदिर पर आकर ठहरी हुई हैं। इधर न जंबूद्वीप के दर्शन करने आईं और न मेरे पास ही आईं। किसी ने बताया कि चोट आने के बाद उनके मस्तिष्क में कुछ कमी हो गई है। कुछ भी हो—

"ऐसी बीमारी या आपत्ति विशेष में स्थितीकरण, उपगूहन, संरक्षण आदि के लिए ही तो आचार्यों ने साधुओं को-मुनियों को संघ में रहने का आदेश दिया है, एकाकी रहने का सर्वथा विरोध किया है पुनः आर्यिकाओं के लिए तो एकाकी विहार करने की आज्ञा कथमपि नहीं है और जो इस आज्ञा का पालन नहीं करते हैं उनको ऐसे ही प्रसंग प्राप्त होते हैं। ऐसे-ऐसे उदाहरण देखकर मन में बहुत ही दुख होता है किन्तु क्या उपाय है? इस कलिकाल में गुरुजनों के अनुशासन में रहने वाले विरले ही पुण्यशाली जीव हैं, ऐसा समझना चाहिए।

गुरुआज्ञा को उल्लंघन करने का दुष्परिणाम एक मुझे स्मरण में आ जाता है तो रोमांच हो जाता है।

एक बाल विधवा महिला सन् १९५७ में खानिया में आई। वह संघ में रहकर पढ़ना चाहती थी। आचार्यश्री वीरसागर जी ने मुझे बुलाकर कहा—इसे अपने पास रखो और पढ़ाओ तथा अनुशासन में रखो। मैंने प्रेम से उसे छहढाला, तत्त्वार्थसूत्र आदि पढ़ाना शुरू किया। दशलक्षण पर्व में वह दश उपवास करना चाहती थी। मैंने दो उपवास गुरुदेव से दिला दिये।

अगले दिन चर्चा हुई, उसने कहा—मैं व्रत या उपवास में कुल्ला नहीं करूँगी। यह बात संघस्थ वयोवृद्धा आर्यिका श्री सुमतिमती माताजी को मालूम हुई। उन्होंने कहा—

बिना कुल्ला किये न भगवान का अभिषेक-पूजन कर सकती हो, न आहारदान।

वह महिला जिद पर अड़ी रही, बात बढ़ गई। आर्यिका श्री वीरमती माताजी आदि ने, ब्र. सूरजमलजी ने भी समझाया। सभी बोले—

देखो बाई! तुम्हारी छोटी उम्र है, अनुशासन में रहो, आज्ञा पालो, तब तो इहभव व परभव सुधरेगा अन्यथा पुनः डूब जावोगी।

---

१. यह प्रकरण सन् १९८७ में लिखा गया है।

उसने किसी की न मानी, तब बात दोनों आचार्यों तक गई। आचार्यश्री वीरसागर जी और आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी ने भी समझाया। उसे आगम प्रमाण भी दिखाये गये, किन्तु वह महिला दुराग्रह में ही अटल रही। अन्ततोगत्वा आचार्यश्री ने कहा कि—

"इसे संघ से निकाल दो।"

उसे संघ से निकाल दिया गया। कुछ दिन बाद उसने एक तेरहपंथी मुनिराज से क्षुल्लिका दीक्षा ले ली। कुछ दिन बाद एकल विहारी हो गई। उसने दीक्षा छोड़ दी थी, अब साधारण महिला के रूप में रहती है। अभी सन् १९८७ में यहाँ हस्तिनापुर आई थी। बड़े मंदिर पर ठहरी थी। यहाँ आई, मैंने पहचान लिया। वह बहुत दुःखी होकर बोली—

"माताजी, मेरी बहुत बड़ी दुरावस्था है।"

मैंने पूछा-कहाँ रहती हो?

उसने कहा—"जबलपुर।"

मैंने पूछा—"खाने-पीने की व्यवस्था क्या है?"

उसने बताया—"वहीं बच्चों के लिए गोलियाँ बेचकर कुछ पैसे कमाकर, अपना उदर पोषण करती हूँ।"

इत्यादि करुण कथा सुनकर मेरा हृदय करुणा से भर आया और पुरानी स्मृति आकर दुराग्रह का दुष्परिणाम सामने दिखने लगा। मैं कुछ भी नहीं बोल सकी, सोचती ही रह गई।

देवपूजन, दान करने वाले श्रावक-श्राविकाओं के लिए सागारधर्मामृत व सोमदेवसूरि कृत यशस्तिलकचंपू में आचमन—कुल्ला करने के—मुख शुद्धि के प्रमाण हैं।

आप्लुतः संप्लुतस्वान्तः शुचिवासो विभूषितः।
मौनसंयमसंपन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ।।४३८।।
दंतधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ।।४३९।। (यशस्तिलक चंपू)

तात्पर्य यह है कि-स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहने और चित्त को वश में करके मौन तथा संयमपूर्वक जिनेंद्रदेव की पूजा करे। दंतधावन से मुख शुद्ध करके दूसरों को न छूकर जिनेंद्रदेव की पूजा करे।

आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहते थे—

उपवास में भी कुल्ला करके ही पूजन करना चाहिए, मंजन या दातोन नहीं करना चाहिए।

मुनिगण आहार के बाद बैठकर मुख शुद्धि करते हैं। अंतराय के बाद पानी नहीं पीते हैं किन्तु मुखशुद्धि—कुल्ला करते हैं अतः कुल्ला करने से पानी पीने का दोष नहीं आता है।

आचार्य श्री शिवसागर जी, आचार्यश्री धर्मसागर जी, आचार्यश्री महावीर कीर्तिजी, आचार्यश्री विमलसागर जी आदि आचार्यश्री शान्तिसागर जी की परम्परा के साधु-साध्वियों की यही मान्यता है। मेरी तथा आर्यिका सुपार्श्वमती जी एवं आर्यिका विजयमती जी की भी यही मान्यता है।

एक ब्राह्मण वैद्य —

जयपुर में संघ में किसी भी साधु-साध्वी की बीमारी में प्रायः मुझे वैद्यों को बुलाकर औषधि उपचार कराना होता था। एक बार एक साधु की बीमारी से एक जैन वैद्य ने 'कामदुधा' रस दवा बतलाई। मैं प्रारंभ से साधुओं की दवाई के बारे में दवाई का नाम और उसमें क्या-क्या चीजे हैं? कैसे बनी हैं? इत्यादि समझे वगैर किसी को दवा नहीं दिलाती थी अतः कुछ-कुछ दवाइयों के नाम और इसमें क्या-क्या है? इत्यादि का थोड़ा सा ज्ञान मुझे भी था। मैंने उसी क्षण कहा—

"वैद्य जी! इसमें कौड़ी और सीप की भस्म पड़ती है अतः यह दवा जैन साधुओं के काम नहीं आ सकती।"

इतनी सी बात पर बता नहीं क्यों, वे वैद्यजी खूब ही गरम हो गये, तब से मैंने उन वैद्य को बुलाना ही बंद कर दिया। वहाँ जयपुर में एक वैद्य ब्राह्मण थे, उनका नाम था 'रामदयाल जी'। वे बहुत ही सरल स्वभावी थे। प्रायः औषधि का नुसखा लिख देते, संघस्थ ब्रह्मचारी अथवा श्रावक उन दवाइयों को लाकर देख-शोध कर कूट-पीस कर साधु-साध्वियों के आहार में पहुँचा देते थे। उनमें एक विशेषता यह थी, वह यहाँ ज्ञातव्य है—

खानिया में एक बार एक ब्रह्मचारिणी को गर्मी के दिनों में लघुशंका नहीं हुई। दो दिन बाद रात्रि में जब उसका पेट फूल गया, तब छटपटाने लगी और मुझे सूचना मिली, तब मैंने रात्रि में ही जैसे-तैसे प्रयास करके वैद्य रामदयाल को बुलवाया। ये वैद्यजी आये और बोले—

"भक्तामरस्तोत्र का पाठ शुरू करो, सब लोग भक्तामर बोलो।"

मुझे बड़ा अटपटा लगा। मैं मन में सोचने लगी—

"हम लोग पाठ तो इतनी देर से बोल ही रहे थे, इन्हें तो उपचार के लिए बुलाया है।..."

फिर मैंने कहा—"वैद्यजी! कुछ इलाज बताओ, पाठ तो हम लोग सुना ही रहे हैं।

वे बोले—"कुछ नहीं, सबसे बड़ी दवा तो भक्तामर ही है" और वे स्वयं भक्तामर बोलने लगे। उनका उच्चारण बहुत शुद्ध था और उन्हें यह पूरा कंठाग्र था। बाद में उन्होंने उस लड़की को पानी से भरे 'टब' में बैठाया। चूँकि रात्रि में कुछ खाने की दवा दे नहीं सकते थे अतः कुछ पेट पर लेप भी कराया। उस ब्रह्मचारिणी बालिका को लघुशंका हो गई। कुछ शांति आ गई। ऐसे कई बार इनके मुख से भक्तामर सुनकर एक दिन मैंने पूछ ही लिया—

"वैद्य जी! आप तो ब्राह्मण हैं, आपको भक्तामर स्तोत्र के प्रति इतनी श्रद्धा कैसे हुई है?"

उन्होंने कहा—"मुझे विरासत में यह स्तोत्र मिला है। मेरे पिताजी को यह स्तोत्र बहुत ही प्रिय था। इसको पढ़कर मैं किसी भी रोगी को दवा देता हूँ तो उसे अवश्य ही लाभ करती है। इसलिए मेरी औषधि की आज इतनी प्रसिद्धि हो रही है.....।"

इन वैद्य को मैंने सन् १९७६ में खतौली में आर्यिका रत्नमती माताजी के इलाज के लिए भी बुलाया था। अब तो वे स्वर्गस्थ हो चुके हैं।

उनके उस प्रसंग से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई थी। वैसे पहले से ही मैं हर किसी डॉक्टर को, जो कि अपने निकट आते थे, उन्हें शिक्षा दिया करती थी कि—"आप लोग रोगी को 'ॐ नमः' मंत्र दिया करो, चूँकि यह 'लघुमंत्र' सर्वसम्प्रदाय मान्य है और महाशक्तिशाली है। इसके साथ मेरा कहना यह रहा है कि—

"आप डाक्टर-वैद्य आदि रोगी को यह कह दो कि मांस, मछली, अण्डे खाने से या शराब पीने से आपका यह रोग ठीक नहीं हो सकता है, तब वे रोगी अवश्य ही इन वस्तुओं का त्याग करने को तैयार हो जायेंगे।"

मेरी यह शिक्षा दिल्ली में कई जैन डॉक्टरों ने मानी है और यह नियम लिया है कि "मैं औषधि के लिए भी अण्डे अथवा शराब का प्रयोग नहीं बतलाऊँगा.....।"

यहाँ पर अनेक धर्मप्रभावनात्मक कार्यों के साथ चातुर्मास संपन्न हो गया। उसके बाद आचार्यश्री दीवानजी की नशिया में आ गये। कुछ दिनों यहीं पर ठहरे थे।

¤ ५६ ¤

जयपुर से विहार —

एक दिन हम लोग आहार ही कर रहे थे कि सुनने में आया—

"आचार्यश्री आहार के बाद अकेले ही सड़क के मार्ग से विहार करते हुए जा रहे हैं।"

आहार करके हम लोग भी आचार्यश्री के पीछे-पीछे चल पड़े। आगे किसी छोटे से ग्राम में रात्रि विश्राम के लिए आचार्यश्री वहाँ ठहर गये। उस दिन संघ में और शहर में कोलाहल मच गया। बिना पूर्व सूचना के आचार्यश्री का यह विहार जयपुर की जैन-समाज को भी क्षोभदायी प्रतीत हुआ। संघ के साधुओं की व्यवस्था में भी गड़बड़ हो गई। अनेक श्रावक मेरे पास निवेदन करने लगे—

"माताजी! आप आचार्यश्री को समझाइये.....।"

अनेक श्रावक लोग आचार्यश्री के पास भी गिड़गिड़ाने लगे—

"महाराज जी! आप पूर्वसूचना देते तो हम लोग विधिवत् विहार कराते.....।"

बाद में शांत वातावरण में मैंने बहुत ही विनम्रता से आचार्यश्री से निवेदन किया—

"महाराज जी! आप बहुत बड़े संघ के आचार्य हैं, छोटे-बड़े स्वस्थ-अस्वस्थ सभी तरह के साधु-साध्वी संघ में हैं अतः उन सबको संभाल कर आप चलिये तो अच्छा रहेगा, संघ में शांति रहेगी अन्यथा कोई साधु किधर विहार कर देगा और कोई किधर, आप संभाल नहीं पायेंगे। यद्यपि आपकी यह वीरचर्या है फिर भी संघ के साधुओं को तो पूर्व सूचना देना आवश्यक है।"

आचार्यश्री ने मेरी बात स्वीकार की और हँसकर बोले—"ठीक है।"

इसके बाद पुनः आचार्यश्री ने अपने आचार्यत्व काल में कभी भी बिना पूर्वसूचना के विहार नहीं किया।

अनन्तर संघ सांगानेर पहुँच गया, वहाँ कुछ दिन के लिए ठहर गया।

मेरी अस्वस्थता —

वहाँ मुझे एक छोटी सी फुड़िया हो जाने से उठने-बैठने में तकलीफ थी, मैं अस्वस्थ रूप से घास में लेटी हुई थी। एक दिन मोतीचंद ने आकर बताया कि—

टिकैतनगर से तार आया है। पिताजी का स्वर्गवास हो गया है। बीमारी में मैं लेटी हुई थी अतः कुछ शोक का उद्रेक उमड़ आया। उसके कुछ ही क्षण पश्चात् सोचने लगी—

"जिन माता-पिता के प्रति मैं निर्मोही थी। उनके जीवन में उनकी उपेक्षायें की हैं और उनके जाने के बाद अब उनके प्रति मोह क्यों आया? अपनापन क्यों?.....अरे! अनंत-अनंत जन्मों में अनंतों माता-पिता बनाये हैं फिर भला किसके जाने के बाद शोक करना?....."

स्मरण में आया कि—"जो घर का त्याग कर देते हैं, उन्हें घर के किसी भी जन के मरने पर पातक नहीं लगता है किन्तु पिता के मरने पर एक दिन का पातक लग जाता है। ऐसा श्रावकाचार में आया है।

इसके पूर्व जब जयपुर में पिता की बीमारी का समाचार आया था तब मैंने माँ को यह लिखाया था कि—

आप और पुत्र-पुत्रवधुएँ सभी पिता को धर्म की बातें सुनाते रहना। उनका अन्त-समाधिमरण अच्छा करा देना। कोई भी रोना-धोना नहीं करना, मोह से उनका अन्त नहीं बिगाड़ना। धैर्य के साथ समाधिमरण पाठ आदि सुनाना। महामंत्र भी सुनाते रहना।"

इसके अनुसार तथा स्वयं भी विवेकशीला होने से माँ मोहिनी ने सभी को समझाये रखा। समाधिमरण बहुत ही सुन्दर कराया। अनंतर पिता के प्राण निकल जाने के बाद ही लोग रोये थे। पहले सभी ने धैर्य रखा था।

अन्त समय दर्शन की इच्छा —

सन् १९६९ के २५ दिसम्बर को पिता ने मेरे दर्शनों की भावना को लिए हुए तथा महामंत्र का श्रवण करते हुए इस नश्वर शरीर को छोड़कर समाधिमरणपूर्वक अपना परलोक सुधार लिया और स्वर्ग सिधार गये। इनकी समाधि के कुछ ही दिन पूर्व आचार्य सुमतिसागर जी महाराज ससंघ टिकैतनगर आये थे। उन्होंने घर जाकर पिता को सम्बोधित किया। पिताजी ने बड़े प्रेम से संघ के दर्शन किये और माँ ने घर में उनके आहार का लाभ लिया था।

पिताजी के स्वर्गवास के बाद संघ से मोतीचन्द टिकैतनगर गये। समय पाकर उन्होंने माँ से कहा—

"आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने ऐसा कहा है कि अब आप संघ में चलें और अपनी आत्मा का कल्याण करें। अब घर में रहकर क्या करना?.....।"

माँ ने यह बात कैलाशचन्द आदि पुत्रों के सामने रखी। तब सभी पुत्र रो पड़े और बोले—

"अभी-अभी पिता का साया सिर से उठा ही है, भला हम लोग अभी आपके बगैर कैसे रह सकेंगे.....?"

मुनिश्री सन्मतिसागर जी के दर्शन —

पिताजी के स्वर्गवास को १४-१५ दिन ही हुए थे कि टिकैतनगर में मुनि श्री सन्मतिसागर जी महाराज (टोडारायसिंह वाले) अपने संघ सहित पहुँच गये। माँ मोहिनी जी ने बहुत ही धैर्य रखा था और अपने पुत्र, पुत्रवधू तथा पुत्रियों को भी समझाती रहती थीं, घर में रोने-धोने का वातावरण नहीं था अतः माँ ने चौका किया और महाराज जी को आहार दिया। जब संघ वहाँ से विहार करने लगा तब मोहिनी जी चौका लेकर उनके संघ की व्यवस्था बनाकर अपनी बड़ी बहन को साथ लेकर कानपुर तक उन्हें पहुँचाने गईं। तब श्री सन्मतिसागर जी महाराज ने एक बार सभा में माँ मोहिनी की प्रशंसा करते हुए कहा कि—

"किसकी माँ ने ऐसी अजवाइन खाई है जो कि आर्यिका ज्ञानमती माताजी जैसी कन्या को जन्म दे सके.....।"

पुनः महाराज जी मोहिनी जी से कहने लगे—

"माँ जी! आपकी पुत्री आर्यिका ज्ञानमती जी मेरी बहुत ही उपकारिणी माता हैं। मैं जब क्षुल्लक था, तब एक बार संघ से अलग बगरू (जयपुर के पास) चला गया था। तब माताजी वहाँ आईं, वे मुझे संबोधित कर आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के पास वापस अपने साथ ले आईं। तब आचार्यश्री उनसे बहुत ही प्रसन्न हुए थे....। मैंने माताजी के पास प्रतिक्रमण का अर्थ, देववंदना विधि, आलाप पद्धति आदि ग्रन्थ भी पढ़े हैं।" इत्यादि। यह उनकी गुणग्राहकता थी।

टिकैतनगर से मोतीचंद ने यहाँ आकर मुझे बताया कि—

"पिताजी ने अंतिम दिन कहा—मुझे ज्ञानमती माताजी के दर्शन करा दो। ऐसा बार-बार कहने पर माँ ने गाँव की एक श्वेतवस्त्रधारिणी ब्रह्मचारिणी को ले जाकर खड़ा कर दिया और बोलीं, देखो! माताजी आ गई हैं, इनके दर्शन कर लो। पिता ने देखकर कहा—नहीं, ये मेरी माताजी नहीं हैं। पुनः बार-बार आपका स्मरण करते हुए उन्होंने आँखें बंद कर लीं। सभी लोग णमोकार मंत्र सुनाते रहे और उनकी आत्मा शरीर से प्रयाण कर गई। वे अंत में आपका स्मरण करते हुए और महामंत्र सुनते हुए इस लोक से चले गये।"

एक बार माँ मोहिनी ने यह भी बताया कि—पिताजी कई दिन पूर्व माँ से बोले थे कि—"तुम्हें मैंने जो धर्मकार्य से बहुत रोका था वह मेरा एकमात्र मोह ही था, उसे तुम क्षमा कर दो। अब तुम मेरे बाद खूब धर्म करना। चाहो तो माताजी के पास चली जाना और वहीं रहकर अपना जीवन धर्म में लगाना।"

निवाई में प्रभावना —

वहाँ से संघ निवाई आ गया। महावीर जयंती के समय यहाँ एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। एक महानुभाव जैनेतर थे, उन्होंने अपने भाषण में स्त्रीमुक्ति के बारे में प्रतिपादन कर दिया, तभी उनके भाषण के मध्य ही कई साधु आवेश की मुद्रा में होकर कभी मेरी और पुनः कभी आचार्यश्री की ओर देखने लगे। बाद मैं मेरे उपदेश का नम्बर आया। मैंने बहुत ही शांति से उपदेश के मध्य यह विषय लिया और खुलासा किया कि–

"दिगम्बर जैन संप्रदाय में स्त्रियों को हीन संहनन माना है अतः उनके मुक्ति प्राप्ति के योग्य शुक्लध्यान संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि स्त्रीपर्याय में वस्त्र का त्याग कर दिगंबर अवस्था नहीं धारण की जा सकती है। तीसरी बात यह है कि स्त्री और पुरुषों को सर्वथा समान अधिकार नहीं है। स्त्रियाँ गर्भ धारण करने की योग्यता रखती हैं, पुरुष नहीं रखते हैं। इस प्रकार अनेक कारणों से दिगंबर जैन धर्म में स्त्रीमुक्ति का निषेध है।"

मेरे उपदेश सुनकर वे प्रभावित हुए। बाद में वे विद्वान् मेरे पास आकर गलती महसूस करते हुए बोले—

"माताजी! मैंने श्वेतांबर संप्रदाय के ही ग्रन्थ पढ़े हैं, दिगंबर संप्रदाय के ग्रन्थ नहीं पढ़े हैं अतः मुझे कुछ अपने संप्रदाय के ज्ञानवर्धक ग्रंथ दीजिये।" वातावरण शांत रहा। अगर उस समय उन महानुभाव को गुस्से में रोका–टोका जाता, फटकारा जाता, तो पहले तो सभा का ही माहौल बिगड़ जाता। दूसरी बात, हो सकता था कि वे महानुभाव भी तर्क–वितर्क में पड़ जाते। या अपनी बात की ही पुष्टि में लग जाते। मेरी ऐसी भावना रहती है कि—

"सभा में विपरीत प्रतिपादन होने पर शांति से ही उसे समझाने का और गंभीरता से ही अपनी बात को सुनाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे–ऐसे प्रसंगों पर आवेश लाने से हानि की ही संभावना रहती है।"

इस शांतिपूर्ण वातावरण से और उन महानुभाव के जिज्ञासापूर्ण व्यवहार से आचार्य महाराज भी प्रसन्न हो गये और उस सभा की समाप्ति सुखद रही।

अध्यापन कार्य —

यहाँ मैं आचार्यश्री की आज्ञा से गोम्मटसार का अध्ययन कराती थी। उसमें सभी मुनिराज विराजते थे और अनेक आर्यिकायें भी बैठती थीं। आचार्यश्री भी कुछ निकट ही आसन पर विराजते हुए अपना स्वाध्याय करते रहते थे और बहुत खुश होते रहते थे।

यहाँ मैं अपना अष्टसहस्री का अनुवाद कार्य भी प्रातः और रात्रि में किया करती थी। अष्टसहस्री आदि ग्रंथों के अध्ययन में मुनिश्री अभिनंदनसागर जी तो बैठते ही थे। वे एक दिन सभा में बोले—

"आर्यिका ज्ञानमती माताजी कुशल शिल्पी हैं, गढ़गढ़ कर मूर्तियाँ बनाती हैं और आचार्यश्री उनकी प्रतिष्ठा करके—उन्हें दीक्षा देकर मुनि–आर्यिका बनाकर उन्हें पूज्य बना देते हैं।"

इन शब्दों को सुनकर सेठ हीरालालजी ने भी मुनिराज की गुण–ग्राहकता की बहुत ही सराहना की और मुझसे आकर बोले—

"माताजी! आप इन छोटे–छोटे मुनियों को खूब सिद्धांतादि ग्रंथों का अध्ययन कराकर, इन्हें आर्षपरम्परा के अच्छे योग्य साधु बना दो, जिससे इनके द्वारा आर्षपरम्परा की रक्षा होती रहे।"

टोंक में आगमन —

वहाँ से विहार कर संघ टोंक नगर में आ गया। गर्मी में यहीं पर ठहरा। मैं अपने लेखन कार्य में और अध्यापन कार्य में संलग्न रहती थी। संघ एक माह करीब नई टोंक में रहा। यहाँ कुछ वर्षों पूर्व अनेक जिनप्रतिमाएँ निकली थीं, उनके दर्शन किये। इसके बाद संघ पुरानी टोंक में आ गया।। यहाँ भी अच्छी धर्म प्रभावना हुई पुनः आचार्यश्री संघ सहित नई टोंक में नशियाजी में ही आ गये। लोगों के विशेष आग्रह से यहाँ संघ का चातुर्मास होना निश्चित हो गया।

वर्षायोग स्थापना —

आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में आचार्य संघ ने विधिवत् चातुर्मास स्थापना की। यहाँ अच्छी धर्म प्रभावना हो रही थी। यहाँ मुझे जुकाम शुरू हो गया। खुले स्थान में ठंड लग जाने से कुछ ऐसा ही हुआ कि सर्दी-जुकाम से मेरा स्वास्थ्य काफी बिगड़ गया। फिर भी मैंने लिखाई नहीं छोड़ी।

माता मोहिनी जी का आगमन —

यहाँ चातुर्मास में दर्शन करने और आहार देने के लिए टिकैतनगर से माँ मोहिनी जी, कैलाशचंद, उनकी धर्मपत्नी चन्दा, सुभाषचन्द और उनकी धर्मपत्नी सुषमा आदि लोग आये, लगभग एक माह ठहरे। चौका लगाकर प्रतिदिन आहार देते थे। यहाँ मोहिनी जी की छोटी पुत्री कु. त्रिशला थी जो कि लगभग ९ वर्ष की थी। वह मेरे पास आकर बैठ जाती और बोलती —

"माताजी ! कुछ पढ़ा दीजिये।"

मैंने कहा — "मैं गोम्मटसार पढ़ाती हूँ, तू पढ़ेगी?"

वह बोली — "हाँ, मैं आपसे ही पढ़ूँगी, चाहे जो पढ़ा दीजिये।"

मैंने भी कुतूहल में उसे गोम्मटसार कर्मकांड की कुछ गाथायें पढ़ा दीं। उसका उच्चारण शुद्ध था और क्षयोपशम अच्छा था अतः उसने वह गाथाएँ अर्थसहित याद कर मुझे सुना दीं। सुनकर बहुत ही प्रसन्नता हुई। अब यहाँ भी मैं पूर्व स्वभाव के अनुसार माँ मोहिनी जी के पीछे पड़ गई कि —

"आप कुछ वर्ष इस बालिका को मेरे पास छोड़ दें, मैं कुछ धर्म पढ़ाकर इसे तुम्हें वापस कर दूँगी।"

अनेक समझाने-बुझाने के बाद अनेक पुरुषार्थ से मैंने उसे रोक लिया। इसने मोतीचन्दजी, रवीन्द्र जी आदि के साथ ही शास्त्री का कोर्स पढ़ लिया। राजवार्तिक, अष्टसहस्री के सारांश, गोम्मटसार कर्मकांड पढ़कर शास्त्री की परीक्षा दे दी। आचार्यश्री कभी-कभी सायंकाल में प्रतिक्रमण के बाद इन विद्यार्थियों से कर्मकांड की चर्चा करते थे। वे जो भी प्रश्न पूछते, त्रिशला को गाथाएँ कंठाग्र होने से झट से वह उत्तर दे देती। आचार्यश्री बहुत ही प्रसन्न होते थे।

यह कु. त्रिशला सन् १९७० में मेरे पास रही थी। सन् १९७९ तक रही, बाद में घर चली गई। उसके बाद सन् १९८० में उसका विवाह लखनऊ में हो गया है। अभी उसके दो बच्चे हैं। आज भी मैं उसके ज्ञान, अध्ययन और क्षयोपशम को याद करती हूँ तो आश्चर्य हो जाता है कि "वास्तव में इतनी छोटी उम्र में उसने कैसे ये सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, काव्य, अलंकार आदि पढ़े थे।"

एक माह उपवासी की पारणा —

यहाँ आर्यिका पद्मावती माताजी ने एक माह का उपवास किया था। ये मेरे पास रहती थीं। उपवास में भी प्रायः मेरी वैयावृत्ति करती रहती थीं। मैं यदि दिन में पाँच घंटे पढ़ाती थी तो ये बराबर मेरे पास ही बैठी रहती थीं। इन्होंने भाद्रपद के इस एक माह के उपवास मं तीन-चार बार ही गर्म जल लिया था। ऐसा एक माह का उपवास मैंने पहली बार ही देखा था। जब मैं इनसे कहती कि —

"थोड़ा विश्राम किया करो।"

तो ये बोलतीं — "अम्मा ! आपके मुख से दिन भर पढ़ने-पढ़ाने में धर्म सुन-सुन कर मैं अमृत जैसी तृप्ति का अनुभव करती हूँ, मुझे थकान-कमजोरी नहीं लगती हैं।"

उनका मनोबल गजब का था। उनके उपवास निर्विघ्न सम्पन्न हुए। आसोज सुदी दूज को मेरा आहार माता मोहिनी के यहाँ हो गया।

तभी ३१ उपवास के बाद बत्तीसवें दिन माँ मोहिनी जी के पुण्योदय से इनका पड़गाहन भी उन्हीं के यहाँ

हो गया। इस एक माह उपवास के बाद उनकी पारणा कराकर उन लोगों को बड़ा ही आनन्द आया। इस अवसर पर पद्मावती माताजी की पुत्री बाल-ब्रह्मचारिणी कु. स्नेहलता भी आई हुई थीं।

सप्तम प्रतिमा के व्रत —

एक दिन मोहिनी जी ने आचार्यश्री के समक्ष श्रीफल लेकर सप्तम प्रतिमा के व्रत हेतु याचना की। आचार्यश्री ने बड़े प्रेम से उन्हें सप्तम प्रतिमा के व्रत दे दिये। वैसे माँ मोहिनी ने पिता के स्वर्गवास के बाद ही अपने केश काट दिये थे और तब से सफेद साड़ी ही पहनती थीं। अब तो ये ब्रह्मचारिणी हो गईं। यद्यपि मैंने मोहिनी जी से आग्रह किया था कि—

"अब आप घर का मोह छोड़कर संघ में ही रहो।"

किन्तु उन्होंने कहा—"अभी मैं घर जाकर पुत्री कामिनी की शादी करूँगी। अगली बार आकर रहने का प्रोग्राम बना सकती हूँ।"

इस प्रकार आनंद और प्रभावना के वातावरण में यहाँ का चातुर्मास सम्पन हुआ।

£ ५७ ¤

टोडारायसिंह में संघ —

यहाँ से विहार कर क्रम से आचार्यसंघ टोडारायसिंह गाँव में पहुँच गया। यहाँ के लोगों में भक्ति बहुत थी। भयंकर सर्दी के दिनों में भी मैं दिन उगते ही मुनियों को स्वाध्याय कराने आ जाती थी।

मध्यान्ह में यहाँ के एक पार्श्वनाथ मंदिर में मैं जाकर सामायिक करती थी और साथ में आर्यिका पद्मावती जी मेरे लेखन का सामान ले लेती थीं। सामायिक के बाद वहीं भगवान के सामने मैं अनुवाद करती रहती थी। मुझे यह विश्वास था कि भगवान के सानिध्य में बैठने से अर्थ स्वयमेव स्फुटित हो जाता है।

एक दिन टिकैतनगर से प्रकाशचन्द आ गये। मैंने प्रकाशचन्द को बिठाकर कुछ समझाना प्रारंभ किया—

"प्रकाशचन्द! देखो, अनादिकाल से इस संसार में प्राणी जन्म-मरण के दुःख उठा रहा है। जैसे एक महासमुद्र में एक सरसों का दाना डाल दो और सैकड़ों वर्षों के बाद उस समुद्र में ढूँढने जाओ तो भला वह मिलेगा क्या?.....मान लीजिये मिल भी जाये फिर भी उससे भी कठिन मनुष्य पर्याय का पाना है। यह सूक्ति मुझे बचपन से याद है—

"खोजो समुद्र में डाल के राई मिले नहीं।
राई भी मिल जाय पर मनुज जनम नहीं।।"

देखो, प्रकाशचन्द! इस संसार में यह जीव अनादिकाल से पंच परिवर्तन करता चला आ रहा है। मैं एक भव परिवर्तन को ही तुम्हें सुनाऊँ तो तुम काँप उठोगे। किसी जीव ने नरकगति में जाने के लिए कम से कम दस हजार वर्ष की आयु बांध ली और वहाँ चला गया पुनः वहाँ से निकलकर मनुष्य या तिर्यंच होकर पुनः दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार ही यह जघन्य आयु बाँध बाँध कर नरक में जाता रहे। समय कितना सूक्ष्म है जानते हो? पुनः वही जीव कदाचित् दस हजार वर्ष में एक समय बढ़ाकर नरक में जावे। पुनः कभी दो समय बढ़ाकर नरक में जावे, ऐसे ही एक-एक समय के क्रम से वृद्धि करते हुए सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर तक पहुँच जावे। सागर में कितने समय हैं? कितने घंटे हैं? कितने वर्ष हैं? अनुमान नहीं कर सकते हैं। बस सर्वज्ञदेव ने कहा है कि असंख्यात वर्षों का सागर होता है। सागर यानि सागर, जैसे कि समुद्र के किनारे बैठकर कोई सुई की नोक से जल निकालना शुरू कर दे तो जितने वर्षों में वह समुद्र को खाली कर सकता है। उतने ही वर्षों को सागर समझ लीजिये।

ऐसे अनंत संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव ने तिर्यंचगति की जघन्य आयु, एक श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण है, उतनी लेकर जन्मा। पुनः उस जघन्य आयु में भी जितने समय हैं, उतनी बार ही जघन्य आयु ले लेकर तिर्यंचयोनि में जन्मता रहा पुनः एक-एक समय बढ़ाते हुए तिर्यंच की अनंत भव प्राप्त कर लिये। बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट भोगभूमि के तिर्यंच की तीन पल्य के आयु प्राप्त कर ली। ऐसे ही मनुष्य की भी जघन्य आयु श्वांस के अठारहवें भाग प्रमाण है। उसके समयों की गणना तक जघन्य आयु ग्रहण कर एक-एक समय से बढ़ते हुए तीन पल्य तक की उत्कृष्ट आयु लेकर भोगभूमि में जन्मे। ऐसे ही देवगति की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की लेकर जन्मे, पुनः एक-एक समय बढ़ाते हुए नवमें ग्रैवेयक की उत्कृष्ट आयु बाईससागर तक लेकर पहुँचे। इस तरह कहीं एक भवपरिवर्तन होता है। यह नाममात्र से मैंने तुम्हें सुनाया है। इसी प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार परिवर्तनों से बहुत ही कठिन हैं।

कुल मिलाकर मैंने अनेक वैराग्य उपदेश सुना-सुनाकर प्रकाशचन्द का मन कुछ क्षण के लिए तो संवेग भाव से आर्द्र — गीला कर दिया। वे बोले —

"माताजी! वास्तव में यह संसार एक महासमुद्र है.....देखो! यदि मैं निकलकर भी पुनः इसी में फंस गया हूं तो जो है सो है, अब दूसरों को फंसाने के लिए पुरुषार्थ नहीं करूँगा।

अष्टसहस्री अनुवाद पूर्ण —

यहाँ मैंने पौष शु. १२ के दिन अष्टसहस्री का अनुवाद पूर्ण कर लिया। इसमें भावना, नियोग आदि के जो प्रकरण थे मैंने उन्हें छोड़ दिया था। यहाँ से मैने पं. माणिकचन्द जी न्यायाचार्य फिरोजाबाद वालों से और कई एक विद्वानों से पत्र द्वारा सहयोग चाहा और बुलाया कि आप यहाँ आकर इन कठिन विषयों में मुझे कुछ सहयोग दे दें, लेकिन सभी के यही पत्र आये कि यह न्याय का विषय अब हमें उपलब्ध नहीं रहा है, हम लोग अक्षम हैं। तब मैंने भगवान् की प्रतिमा के समक्ष बैठकर उन कठिन विषयों का भी अनुवाद शुरू किया और वहीं बहुत शीघ्र ही पूरा कर दिया, साथ ही चौवन सारांश भी बना दिये।

इधर सनावद से श्री रखबचन्द पांड्या और उनकी पत्नी कमलाबाई आये हुए थे। मोतीचन्द ने इनसे श्रुतस्कंध विधान कराकर मेरे द्वारा अनुवादित अष्टसहस्री की दस कापियों की पूजा कराई।

आचार्यश्री का जयंती समारोह —

मैंने यहाँ एक माह पहले से ही आचार्यश्री की जन्म जयंती समारोह की रूपरेखा बनवा रखी थी। सभी कहते थे कि "आचार्य महाराज अपनी जयंती नहीं मनाने देंगे" किन्तु मैंने आचार्यश्री से आज्ञा ले ली थी। उस पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन रथयात्रा का भी कार्यक्रम बनवा दिया था कि जिससे आचार्यश्री भी जुलूस में चल सकें।

इस दिन रथयात्रा के साथ एक पालकी में मेरे द्वारा अनुवादित सब दसों कापियां और मूल अष्टसहस्री ग्रन्थ को विराजमान किया गया। रथयात्रा के साथ ही साथ पालकी में ग्रन्थ का भी जुलूस निकाला गया। शाम को जब जुलूस वापस आया, मैंने अपनी कापियाँ संभाली, तो बीच की एक मोटी कापी गायब थी। मेरी तो सांस जहाँ की तहां रुक गई, एक क्षण के लिए तो मानों मैं अचेतन सी हो गई। बाद में मैं घबराते हुए मोतीचंद से बोली —

"यह क्या हुआ? मेरी कापी कहाँ गिर गई? या कौन ले गया?....."

मोतीचंद ने मेरी आकुलता देखकर समझाना शुरू किया —

"माताजी! लाखों रुपये का मनुष्य मर जाता है तो भी चिंता नहीं करना चाहिए.....शांति रखो, मैं अभी पता लगाता हूँ।"

उस समय मोतीचंद की शिक्षा तो मुझे बहुत ही कड़वी लगी और मैं झुंझलाने लग गई। खैर! पता लगाने पर एक महानुभाव ने लाकर हँसते हुए मेरी कापी मोतीचंद को दे दी और बोले —

"मैंने तो जुलूस के समाप्त होते ही यह कापी सिर्फ देखने के लिए निकाल ली थी।"

खैर! वे लोग हँसने लग गये। मैंने कहा—

"भाई! जो भी अनुवाद मैंने किया है अब वापस मैं मेरे जीवन में वैसा नहीं लिख सकती हूँ.....। इसलिए लाखों रुपये से भी अधिक मूल्यवान मेरी ये कापियाँ हैं।"

आज मैं सोचती हूँ कि इस सुविधा के युग में उस समय मैं यह नहीं समझ सकी थी कि इनकी फोटो कापी करवा लूँ या टाइप करवा लूँ। आज तो मैंने स्वयं अपने कल्पद्रुम विधान की शीघ्र ही फोटो कापियाँ करा ली थीं और अन्य लेखन कार्यों की शीघ्र ही टाइप कापी करवा लेती हूँ।

खैर! आज भी उस अष्टसहस्री ग्रन्थ की अनुवादित सारी कापियाँ यहां हस्तिनापुर में रत्नत्रय निलय में सुरक्षित रखी हुई हैं।

उस दिन उस अनुवाद वाली कापियों की आरती की गई। आचार्यश्री ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा—

"माताजी! ऐसे-ऐसे महान कार्य आप करती रहें, यही मेरा आशीर्वाद है।"

बाद में मैंने न्यायकुमुदचन्द्र नामक ग्रन्थ के मूल आधारभूत श्लोकों का अनुवाद किया है जो कि 'लघीयस्त्रीय' नाम से अनुवादित अभी अप्रकाशित जम्बूद्वीप स्थल पर रत्नत्रयनिलय के ग्रन्थ भंडार में सुरक्षित रखी है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा —

इसके बाद संघ यहाँ से विहार कर वापस टोंक आ गया। यहाँ माघ में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होनी थी।

फरवरी १९७१ में इस प्रतिष्ठा में टिकैतनगर से छोटी शाह, कैलाशचंद जी और उनके साथ रवीन्द्र कुमार भी आये हुए थे। अब मैंने जैसे-तैसे रवींद्र कुमार को समझाना शुरू किया। कई बार अकेले में बिठा-बिठाकर वैराग्य का उपदेश देने लगी। एक दिन काल परिवर्तन का स्वरूप समझाने लगी। मैंने कहा—

"रवीन्द्र कुमार! देखो, इस मनुष्य पर्याय से ऐसा काम करो, जो सर्वश्रेष्ठ हो। श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

इतश्चिंतामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वांद्रियन्तां विवेकिनः।।

एक हाथ में चिंतामणि रत्न है और एक हाथ में खली का टुकड़ा, बताओ भला विवेकी लोग किसमें आदर करेंगे? अरे! ये पांचों इंद्रियों के विषय-संसार के सुख खली के टुकड़े के समान हैं और यह धर्म दिव्य चिंतामणि रत्न है।

पुनः मैंने कहा—देखो! एक अवसर्पिणी और दूसरा उत्सर्पिणी, ऐसे दो कालों का एक कल्पकाल होता है। एक अवसर्पिणी दस कोड़ा-कोड़ी सागर की एवं एक उत्सर्पिणी दस कोड़ा-कोड़ी सागर की, ऐसे बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल है। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ा-कोड़ी बनता है और सागर-यानि सागर के अगाध—अथाह।

किसी जीव ने अवसर्पिणी के प्रथम समय में जन्म लिया और अपनी आयु पूरी कर मर गया। वही जीव दूसरी अवसर्पिणी के दूसरे समय में जन्म लेवे, तीसरी अवसर्पिणी के तीसरे समय में जन्म लेवे, चौथी अवसर्पिणी के चौथे समय में जन्म लेवे। इस प्रकार से एक अवसर्पिणी में जितने समय हैं उतने ही अवसर्पिणी के समय बराबर एक-एक समय अधिक में जन्म लेते हुए असंख्यात अवसर्पिणी व्यतीत कर दे, ऐसे ही उत्सर्पिणी को जन्म से पूरा करे।

पुनः वही जीव एक अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरे, वही जीव द्वितीय अवसर्पिणी के द्वितीय समय में मरे,

तृतीय अवसर्पिणी के तृतीय समय में मरे, इसी प्रकार के मरण से अवसर्पिणी के समय बराबर अवसर्पिणी समाप्त कर, उत्सर्पिणी में मरण प्रारंभ करके समाप्त करे, तब कहीं एक काल परिवर्तन पूर्ण होता है।

समय की व्याख्या तो बहुत ही सूक्ष्म है। एक आवली में असंख्यात समय होते हैं और आवली तो एक सेकेंड से भी छोटी होती है। उदाहरण के लिए खाने वाले नागरबेल के सौ पानों की एक गड्डी बनावो। एक सुई लेकर उसमें एक दम से छेद कर दो। एक-एक पान को छेदने में जो समय लगा है, वह समय है। यह भी बहुत मोटी व्याख्या है। वास्तव में जिस काल का दूसरा हिस्सा—विभाग हो ही न सके, ऐसे सूक्ष्म काल को समय कहते हैं।

देखो! हमने तुमने, सभी जीवों ने इस संसार में परिभ्रमण करते हुए पता नहीं कितने पंच परिवर्तन समाप्त कर दिये हैं। जन्ममरण के दुःख सहते-सहते अब कहीं जैनधर्म में जन्म लेकर कुछ योग्यता प्राप्त की है कि जिससे गुरुओं का उपदेश ग्रहण कर सकें। गुरु ही ऐसे होते हैं जो हाथ पकड़कर भव्यों को मोक्षमार्ग में लगाते हैं।

इस मनुष्य पर्याय से आप चाहें तो संसार के एहिक सुखों का उपयोग करें उसे समाप्त कर दें और चाहें तो इसी शरीर से मोक्षमार्ग की साधना करके संसार को समाप्त कर दें।

जैसे वृक्ष के नीचे पहुँचकर वृक्ष की छाया से संतुष्ट होने वाला एक व्यक्ति है, दूसरा उसके अमृत फलों को खाकर तृप्त होने वाला व्यक्ति है। यह सांसारिक सुख छाया के समान तुच्छ है और धर्मसाधना से प्राप्त होने वाला सुख, स्वर्ग-मोक्ष का वैभव अमृत फलों के समान है।

इत्यादि प्रकार से अनेक बार समझाने पर रवीन्द्र कुमार के मन में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हो गया पुनः प्रतिष्ठा पूर्ण होने के बाद मेरी शिक्षाओं से प्रभावित हुए रवीन्द्र को मैंने कहा—

"इस बार दो-ढाई महीने के लिए यहाँ रुककर शास्त्री का कोर्स पढ़ लो और बम्बई परीक्षालय की परीक्षा दे लो। बाद में जैसा विचार बने वैसा करना।"

तब रवीन्द्र कुमार ने भी इस बार यहाँ रहने के भाव व्यक्त किये। मुझे बहुत खुशी हुई पुनः किसी प्रसंग में मैं किन्हीं श्रीमान का परिचय दे रही थी तभी ये बोल उठे—

"माताजी! आप कहाँ चाहती हैं कि मैं भी ऐसा ही व्यापारी-उद्योगपति बनूँ, ऐसा ही श्रीमान बनूँ.....?आप तो चाहती हैं कि मैं भी यहां संघ में रहकर घर-घर में भोजन करूँ.....।

मैंने कहा—"रवीन्द्र! मैं तो यह चाहती हूँ कि तुम ऐसे आदर्श और महान् बनो कि ये और इन जैसे अनेक श्रीमान तुम्हारे चरणों में नमस्कार करें.....।"

इतना सुनकर रवीन्द्र कुमार कुछ सोचने लगे—

"आपका चाहना भी ठीक ही है.....संभव है, आपके वचन फलें और ऐसी योग्यता मैं प्राप्त कर सकूँ तो अच्छा ही है।"

बाद में उनके भाई कैलाशचन्द्र को मैंने जैसे-तैसे समझा-बुझाकर घर वापस भेज दिया और रवीन्द्र कुमार को रोक लिया।

सुमेरु की प्राण प्रतिष्ठा —

इधर मॉडल के रूप में या प्रारंभ में निर्विघ्न कार्य की सिद्धि के रूप में मोतीचन्द ने मेरी इच्छानुसार मकराने से एक साढ़े तीन फुट ऊँचा पाषाण का सुमेरु बनवाया था। जिसमें सोलह चैत्यालयों में सोलह जिनप्रतिमाएँ बनवाई गई थीं। उसको यहाँ लाकर पंचकल्याणक के अवसर पर प्रतिष्ठा कराई गई।

पुनः टिकैतनगर के प्रद्युम्नकुमार छोटी शाह ने आकर कहा—

"माताजी! यह सुमेरु मैं अपने गांव टिकैतनगर ले जाऊंगा, अपने मंदिर में विराजमान करूँगा।" मैंने

स्वीकृति दे दी, तब वे मोतीचन्द से बातचीत करके उसे अपने गांव ले गये। मंदिर में विराजमान कर दिया। इसे देखकर दरियाबाद के एक श्रेष्ठी अमृतलाल जी ने भी मोतीचन्द से निवेदन कर दूसरा मेरु और बनवाया। वह आज भी दरियाबाद के मंदिर में विराजमान है।

£५८¤

शास्त्री कोर्स का अध्ययन —

उस समय टोंक में रवीन्द्र कुमार ने मेरे पास शास्त्री कोर्स के तीन खंडों का अध्ययन एक साथ प्रारंभ कर दिया। गोम्मटसार कर्मकांड की लगभग चार सौ गाथाएँ थीं। राजवार्तिक पूर्वार्ध-उत्तरार्ध थे। न्याय में अष्टसहस्री थी। रवीन्द्र कुमार ने हिन्दी से ही इन विषयों को पढ़ना, मनन-चिंतन और अभ्यास करना चालू कर दिया। मोतीचन्द्र का शास्त्री का तृतीय वर्ष का कोर्स चल रहा था।

संघ का विहार टोंक से होकर छोटे-छोटे गांवों में होते हुए लावा नाम के गाँव में पहुंच गया। यहाँ इन सबकी पढ़ाई और प्रश्नोत्तर खूब चलते थे। यहाँ सायंकाल में प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज इन लोगों से गोम्मटसार कर्मकांड के प्रश्न करते थे। किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ बंध से व्युच्छिन्न होती हैं? किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियाँ उदय से व्युच्छिन्न होती हैं? इत्यादि।

इन प्रश्नों के अनुसार मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार आदि उत्तर देते रहते थे। आचार्यश्री बहुत ही प्रसन्न होते थे।

गोम्मटसार कर्मकांड, राजवार्तिक आदि का अध्ययन कई मुनिराज भी कर रहे थे।

संघ यहाँ से विहार कर मालपुरा आ गया। गर्मी के दिनों में यहीं पर कुछ दिन ठहरा।

परीक्षा —

यहीं पर सोलापुर से धार्मिक परीक्षा के प्रश्न-पत्र आ गये। इन सभी छात्र-छात्राओं ने उनके उत्तर लिखे, परीक्षाएँ दीं। मैंने कई वर्ष पूर्व "आचार्य शिवसागर विद्यालय" नाम से संघ में ही धार्मिक परीक्षा देने का स्थान निश्चित कर दिया था। संघ में मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार, कु. शीला, कु. सुशीला, कु. विमला, कु. कला, कु. त्रिशला आदि सभी ने अपने-अपने अध्ययन के अनुसार शास्त्री आदि की परीक्षाएँ दीं। उत्तर कापियाँ सोलापुर भेज दी गईं और समय पर इन सभी के उत्तीर्णता के प्रमाण-पत्र आ गये।

समयसार का स्वाध्याय —

इधर संघ में समयसार आदि ग्रन्थों के स्वाध्याय नहीं चलाये जाते थे। रवीन्द्र कुमार बार-बार आग्रह करते थे कि —

"माताजी! आजकल समयसार को पढ़कर कानजी मत वाले अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं इसलिए आप भी हम लोगों को समयसार का स्वाध्याय कराइये और सही अर्थ समझाइये।"

मैंने इन्हें आश्वासन दिया था कि —

"एक बार तुम अष्टसहस्री के सारांश पढ़ लो, गोम्मटसार कर्मकांड, राजवार्तिक पढ़ लो पुनः समयसार का स्वाध्याय कराऊँगी।"

सो अब पुनः आग्रह विशेष से मैंने यहाँ मालपुरा में समयसार का स्वाध्याय शुरू किया। समयसार के अंतर्गत निश्चय-व्यवहारनयों को समझने के लिए 'आलापपद्धति' नाम की छोटी पुस्तिका है उसे साथ में ही पढ़ाना शुरू कर दिया। इसमें नयों के संक्षेप से अट्ठाइस भेद किये हैं और भी विषय अच्छी तरह समझाए गये हैं।

"मैं समझती हूँ कि अध्यात्म ग्रन्थों के स्वाध्याय के पहले यह आलापपद्धति पुस्तिका हर एक व्यक्ति को अवश्य ही पढ़नी चाहिए। इसके पढ़ लेने से अध्यात्म ग्रन्थों के अर्थ का अनर्थ नहीं हो सकेगा। साथ ही

श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा विरचित समाधि तंत्र और इष्टोपदेश भी अवश्य पढ़ना चाहिए।"

रवीन्द्र कुमार ने मेरी आज्ञा के अनुसार बड़नगर के एक श्रेष्ठी श्रावक ब्र. श्री मिश्रीलाल जी टोंग्या को तत्त्वार्थसूत्र और इष्टोपदेश पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। इससे इनका स्वयं का भी इन विषयों का अच्छा अभ्यास हो गया।

अब सन् १९७१ के चातुर्मास के लिए अजमेर के श्रावकों का विशेष आग्रह चल रहा था। आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी। समय पर संघ अजमेर पहुँच गया।

वर्षायोग स्थापना —

यहाँ आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में सेठ साहब की नशिया में आचार्यश्री ने अपने विशाल संघ सहित वर्षायोग की स्थापना की।

छोटे धड़े की नशिया में प्रातः काल उपदेश होता था। उसमें छगनलाल जी आदि अनेक प्रबुद्ध श्रावक आते थे। पहले मेरा प्रवचन होता था। कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने मेरा उपदेश बंद करा दिया, तब अनेक प्रबुद्ध लोगों को बहुत अखरा, चूंकि उन दिनों मैंने आप्तमीमांसा का अध्यापन जैसा बना रखा था जिसमें कई एक महानुभाव भाग ले रहे थे।

मैं तो प्रातः और मध्याह्न खास करके अध्ययन-अध्यापन में ही लगी रहती थी।

चर्चायें —

एक बार सरसेठ श्री भागचन्द जी सोनी के साथ पं. हुकुमचन्द भारिल्ल अष्टसहस्री के प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव आदि के बारे में कुछ विशेष समझने की जिज्ञासा लेकर आये। मैंने भी उन्हें अच्छी तरह से वह विषय, जैसा हिन्दी में अनुवाद किया था, समझाया। वे लोग इस अष्टसहस्री न्यायग्रन्थ के प्रायः अभाव आदि प्रकरण को समझकर कहने लगे —

"माताजी! यह अष्टसहस्री ग्रन्थ, जिनका आपने अनुवाद किया है, शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिए। इसमें बहुत से रत्न भरे हुए हैं जो कि हिन्दी के छपने में प्रकाश में आयेंगे और अपना भी प्रकाश फैलायेंगे?"

सेठ साहब भागचन्द जी सोनी मेरे समयसार के स्वाध्याय में भी बहुत बार आकर बैठते थे और निश्चय व्यवहारनय के समन्वय को सुनकर बहुत खुश होते थे। कहा करते थे कि —

"यह नयों का समन्वय न समझने से ही आज अपनी दिगम्बर जैन समाज में टुकड़े हो रहे हैं।"

मेरा कहना है कि —

"गुरु-मुख से और गुरु-परम्परा से यदि ग्रन्थ का अध्ययन किया जाता है तो अर्थ का सही बोध होता है अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है।"

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे —

तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी अध्याय में एक सूत्र है "न देवाः" कोई भी व्याकरणाचार्य इसका यही अर्थ करेगा कि "देव नहीं होते हैं" किन्तु ऐसा अर्थ करने से महान अनर्थ हो जायेगा। वहाँ पूर्वापर संबंध जोड़ने से कुछ अन्य ही अर्थ करना होता है। वहाँ इस सूत्र से पूर्व एक सूत्र है — "नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि" पुनः यह सूत्र है " न देवाः" अतः अर्थ है कि — "नारकी और संमूर्छन जन्म वाले जीव नपुंसक ही होते है" और देव नपुंसक नहीं होते हैं।

इसलिए अध्यात्म ग्रन्थ भी यदि कानजी भाई दिगम्बर गुरुओं से पढ़ लेते तो आज अर्थ का अनर्थ होने की संभावना भी नहीं होती और न ही एक नया पंथ कायम होता, प्रत्युत अनादिनिधन आर्षपरम्परा की ही प्रभावना होती।

खैर! "वे ही भव्यात्मा आज पुण्यशाली हैं जिन्होंने गुरुमुख से विद्या प्राप्त की है।"

इस प्रकार यहाँ का यह चातुर्मास चल रहा था।

आर्यिकाओं का समाधिमरण —

भाद्रपद में आर्यिका वासुमती माताजी ने एक माह के उपवास करने की भावना की थी किन्तु दस उपवास में ही उनका स्वास्थ्य एकदम बिगड़ा, तभी आचार्यश्री के सानिध्य में उनकी समाधि हो गई।

आर्यिका शांतिमती माताजी ने पूरे भाद्रपद के सोलहकारण व्रत के एक माह के उपवास किये थे। इनकी भी अंत में समाधि हो गई।

आर्यिका पद्मावती माताजी ने भी टोंक के समान इस बार भी भाद्रपद में सोलह कारण के बत्तीस उपवास किये थे। मात्र बाईस उपवास के बाद एक बार ही उन्होंने आहार के लिए उठकर, जरा सा गर्म जल लिया था। इकतीसवें उपवास के दिन — आसोज वदी एकम को क्षमावाणी के बाद आकर मैंने देखा कि इनका स्वास्थ्य गड़बड़ है। उसी क्षण आचार्य श्री को बुलाया। सारा मुनिसंघ आ गया था। इन्होंने हाथ से मेरी साड़ी पकड़ रखी थी। मैंने विधिवत् संबोधन किया। इन्होंने भी सबसे क्षमा याचना करते हुए नमोऽस्तु किया। देखते-देखते क्षण भर में वे नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्गस्थ हो गईं।

उस समय उनके गृहस्थाश्रम के पति लालचन्द जी म्हसवड़ वाले वहाँ मौजूद थे। इन्होंने २२ उपवास के बाद जल लेते समय उन्हें आहार में जल दिया था।

इनकी समाधि से मुझे कुछ धक्का अवश्य लगा। यह एक ऐसी शिष्या थीं जो छाया के समान सदा मेरे साथ रहती थीं। आहार और निहार के सिवाय किसी समय भी मुझे नहीं छोड़ा था। इनके सामने चाहे जिस साधु, साध्वी या श्रावक, श्राविका ने चाहे जैसी गुप्त बातें कहीं हो, रहस्यमयी परामर्श हुए हों, कभी भी कोई बात बाहर नहीं गई थी। इतनी विश्वस्त शिष्या मुझे क्या किसी को भी मिलना प्रायः कठिन रहता है। मेरे प्रति इनकी इतनी श्रद्धा भक्ति थी कि कभी छोटी-मोटी गलती पर अनुशासन करने पर भी भक्ति में अन्तर नहीं पड़ता था। उपवास करके भी मेरी वैयावृत्ति करके बहुत ही तृप्त होती थीं।

मेरे स्वाध्याय में, अध्यापन में, एकचित्त हो बैठी रहती थीं। इनकी समाधि के बाद एक आर्यिका नेमामती जी थीं। इन्होंने अत्यधिक वृद्धावस्था से सल्लेखना ले रखी थी। विधिवत् इनकी भी सल्लेखना हुई।

इस चातुर्मास में चार आर्यिकाओं की सल्लेखना से शहर के जैनेतर लोगों में चर्चा का विषय बन गया।

वास्तव में उपवास उतने ही करने चाहिए जिससे शरीर एकदम जीर्ण न हो जाये। फिर भी उपवास लेकर भले ही शरीर छूट जावे पर दृढ़ता से नियम पालना, शरीर से निर्मम हो जाना भी सामान्य बात नहीं है।

शरीर तो इस जीव ने अनादिकाल से अनन्त-अनन्त धारण किये हैं किन्तु संयमपूर्वक समाधिमरण एक बार भी नहीं किया है। यही कारण है कि आज तक पुनःपुनः जन्म धारण करना, शरीर धारण करना पड़ रहा है अतः संयम की रक्षा और समाधिपूर्वक मरण होना, वह भी चतुर्विध संघ के सानिध्य में, यह कम पुण्य की बात नहीं है। अनेक जन्म के पुण्य योग से ही ऐसा अवसर मिलता है।

जैन ज्योतिर्लोक पर उपदेश —

सन्मति परिषद् के कार्यकर्ताओं के द्वारा मोनिया इस्लामिया स्कूल के विशाल प्रांगण में मेरा प्रवचन 'जैन ज्योतिर्लोक' के विषय में रखा गया। सर सेठ भागचन्द जी सोनी भी स्वयं इसमें आगे हुये। मोतीचन्द ने बड़े उत्साह से कार्यक्रम संपन्न कराया। वह उपदेश अत्यधिक प्रभावशाली रहा। अनेक गणमान्य महानुभाव, अनेक प्रोफेसर, विद्वान आदि वहाँ पधारे थे, अनेक पत्रकार भी आये थे। मैंने बहुत ही सरल भाषा में जैन ग्रन्थों के आधार से सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, उनकी गलियाँ, उनकी किरणें, उनके आकार, यहाँ से उनकी ऊँचाई, एक मिनट

में चन्द्रमा कितने मील चलता है? कितना बड़ा है, इत्यादि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला। जैन धर्म के अनुसार सूर्य, चन्द्र आदि के बारे में उपदेश सुनकर लोग बहुत प्रसन्न हुए।

जंबूद्वीप निर्माण की चर्चा —

यहाँ अजमेर में सेठ साहब की नशिया में अयोध्या की रचना और पांडुकशिला नाम से भव्य रचना बनी हुई है। जिसको देखने के लिए हजारों जैनेतर लोग दिन भर आते रहते हैं। अब तो वहाँ व्यवस्था के लिए टिकट भी रखा गया है।

सेठ साहब ने कई बार मुझसे इस मध्यलोक के चैत्यालय की चर्चा की। मोतीचन्द का बार-बार यह कहना रहा कि —

"माताजी! आप मात्र जंबूद्वीप रचना के निर्माण को ही लक्ष्य में रखिये, तभी निर्माण कार्य संभव हो सकेगा।"

सेठ साहब ने एक-दो बार कहा —

"माताजी! आप एक बार मेरे यहाँ उस पांडुकशिला आदि रचना को अंदर चलकर तो देखो! क्या-क्या चीजें बनी हुई हैं?"

उनके निवेदन पर एक दिन मैं, कई एक साधु-साध्वियाँ और मोतीचन्द उनके साथ गये। सेठ साहब ने उनके दरवाजे खुलवाये, हम लोगों ने अंदर प्रवेश किया, वहाँ मध्यलोक के तेरहद्वीप तक की रचना बनी हुई है। जंबूद्वीप के बारे में सेठ साहब हर एक विषय को समझा करते थे कि —

कितने फुट में जंबूद्वीप? कितने फुट में सुमेरु? कितने फुट में क्या-क्या लेना है? रुचि से परामर्श भी दिया करते थे। एक दिन उन्होंने मंदिर के ऊपर की छत पर मोतीचन्द से उस विशाल रचना का नक्शा खिंचवाया। उनका कहना था कि —

"माताजी! इस भव्य रचना का एक छोटा ८-१० फुट का मॉडल अवश्य बन जावे जिससे रचना बनवाने में सुविधा रहेगी।"

सेठ साहब इस रचना में इतनी अधिक रुचि लेते थे कि मुझे भी उनकी भावना और प्रेम देखकर प्रसन्नता होती थी।

अष्टसहस्री ग्रन्थ प्रकाशन की प्रेरणा —

सेठ साहब ने जब से प्रागभाव आदि के बारे में चर्चायें सुनी थीं और मेरे द्वारा लिखित-पैंसिल से अनुवादित कापियाँ देखी थीं, तब से बार-बार कहते थे —

"माताजी! यह महान् गन्थ अनुवाद सहित बहुत शीघ्र छपना चाहिए।"

यहाँ पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य भी एक बार आये थे। उन्होंने भी बार-बार कहा —

"मोतीचन्द जी! आप माताजी द्वारा अनुवादित ग्रन्थ-अष्टसहस्री को शीघ्र ही प्रेस में देकर छपावो। इसमें देर मत करो, अनेक विद्वान् इससे लाभ लेंगे।

अष्टसहस्री छपाने का संकल्प —

जब से मेरा अनुवाद कार्य चल रहा था, तभी से जब-जब संघ में सेठ चांदमल जी पांड्या गोहाटी वाले आते, तब-तब वे कहते कि —

"माताजी! आपके द्वारा जिसका अनुवाद किया जा रहा है, सर्वत्र कई विद्वान् मेरे से पूछ चुके हैं कि 'आप उसे कब छपा रहे हैं' अतः इस ग्रन्थ को मैं ही छपाऊँगा।"

मुझे सुनकर प्रसन्नता होती थी। मैं कह देती — "ठीक है, पूरा होने दीजिये।" पूरा होने के बाद यहाँ

अजमेर में भी उन्होंने कई बार कहा—

"माताजी! उस ग्रन्थ की पांडुलिपि प्रेस में दीजिये या मुझे दीजिये।"

मैंने कहा—"अभी मेरी पेंसिल से लिखी कापियाँ ही हैं। इसको प्रेस कापी-पांडुलिपि रूप में लिखने वाला कोई विद्वान् नहीं मिल रहा है।"

उस समय तक टाइप कराने की बात हम लोगों के मस्तिष्क में भी नहीं आई थी और मोतीचन्द पांडुलिपि के लिए विद्वान ढूँढ रहे थे।

माँ मोहिनी का घर से अंतिम प्रस्थान —

सन् १९७१ में अजमेर के इस चातुर्मास में माता मोहिनी अपने बड़े पुत्र कैलाश चंद व उनकी धर्मपत्नी चन्दा को साथ लेकर संघ के दर्शनार्थ आईं। उस समय उनके साथ पुत्री कु. माधुरी भी आई थी। यहाँ माँ मोहिनी अपने परिवार सहित प्रतिदिन कई एक साधुओं का पड़गाहन कर उन्हें आहार देती थीं और अपना जीवन धन्य समझती थीं।

माधुरी को ब्रह्मचर्य व्रत —

इधर मैं अपने स्वभाव से लाचार थी। इसलिए ही मैंने माधुरी को समझाना शुरू कर दिया। जब माधुरी समझ गई और दृढ़ हो गई, तब मैंने उसे चुपचाप मंदिर जी में एकान्त में बुलाकर कहा—

"जाओ किसी को पता न चले, चुपचाप श्रीफल लेकर आ जाओ।"

माधुरी आ गई और मैंने उसे भगवान् के समक्ष ही आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया। माधुरी ने प्रसन्न हो झट से मेरे चरण छुये और अपने स्थान पर चली गयी। उस दिन भाद्रपद शुक्ला दशमी (सुगंध दशमी) थी।

पश्चात् वह कैलाश जी के साथ केशरिया जी की यात्रा करने चली गई। उधर मुनिश्री श्रुतसागर जी के संघ का दर्शन किया। मोहिनी जी पुनः वापस अजमेर आ गईं और कैलाश जी को समझाकर घर भेजते समय यही सान्त्वना दी कि—

"तुम एक महीने बाद आकर मुझे ले जाना, अभी मैं कुछ दिन आर्यिका अभयमती जी के पास रहना चाहती हूँ।"

इस बार अभयमती जी ने अजमेर के पास ही किशनगढ़ में आचार्य ज्ञानसागर जी के संघ सानिध्य में चातुर्मास किया था। वे उनके पास अध्ययन कर रही थीं।

माँ मोहिनी किशनगढ़ जाकर अभयमती जी के पास एक माह करीब रहीं पुनः वापस अजमेर आ गईं।

आर्यिका रत्नमती —

दीपावली के बाद एक दिन मोहिनी जी मेरे पास आकर सहसा बोलीं—

"माताजी! अब मेरी इच्छा घर जाने की नहीं है। कैलाश, प्रकाश, सुभाष तीनों लड़के योग्य हैं, कुशल व्यापारी हैं। माधुरी, त्रिशला अभी छोटी हैं। कुछ दिनों बाद इनकी शादी ये भाई करा देंगे। अब मेरा मन पूर्ण विरक्त हो चुका है। मैं दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करना चाहती हूँ।"

मैं तो कई बार प्रेरणा देती ही रहती थी अतः मैं इतना सुनते ही बहुत प्रसन्न हुई और बोली—

"आपने बहुत अच्छा सोचा है-'जब लों न रोग जरा गहे तब लों झटिति निज हित करो।' इस पंक्ति के अनुसार अभी आपका शरीर भी साथ दे रहा है अतः अब आपको किसी की भी परवाह न करके आत्म साधना में ही लग जाना चाहिए.....। अच्छा, एक बात मैं आज आपको और बता दूँ, मैंने सुगन्ध दशमी के दिन माधुरी को ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया है, अतः उसकी तो शादी का सवाल ही नहीं उठता है।"

इतना सुतने ही मोहिनी जी को आश्चर्य हुआ और बोलीं—

"अभी माधुरी की उम्र १३ वर्ष की होगी। वह ब्रह्मचर्य व्रत क्या समझे....? अभी से व्रत क्यों दे दिया? हाँ! कुछ दिन संघ में रखकर धर्म पढ़ा देतीं, यही अच्छा था....। खैर! अब मैं किसी के मोक्षमार्ग में बाधक क्यों बनूँ? जिसका जो भाग्य होगा, सो होगा। मुझे तो अब आर्यिका दीक्षा लेनी है।"

मैंने उसी समय रवीन्द्र कुमार को बुलाया और माँ के भाव बता दिये। रवीन्द्र का मन एकदम विक्षिप्त हो उठा, वे अपनी माँ से बोले—

"आपका शरीर अब दीक्षा के लायक नहीं है। आपको बहुत ही कमजोरी है। जरा सा बच्चे शोर मचा दें, उतने से तो आपके सिर में दर्द होने लगता है। दीक्षा लेकर एक बार खाना, पैदल चलना, केशलोंच करना.....यह सब आपके वश की बात नहीं है।"

किन्तु मोहिनी जी ने कहा—

"मैंने सब सोचकर ही निर्णय किया है..... अतः अब तो मुझे दीक्षा लेनी ही है।"

मैंने रवीन्द्र की विक्षिप्तता देखी तो उसी समय मोतीचन्द को बुला लिया। रवीन्द्र कुछ कारणवश जरा इधर-उधर हुए कि मैंने मोतीचन्द को सारी स्थिति समझा दी और बाजार से श्रीफल लाने को कहा। वे तो खुशी से उछल पड़े और जल्दी से जाकर श्रीफल लाकर माँ मोहिनी के हाथ में दे दिया। मोहिनी जी उस समय मेरे साथ सेठ साहब की नशिया में पहुँचीं और आचार्यश्री के समक्ष श्रीफल हाथ में लिए हुए बोलीं—

"महाराज जी! मैं आपके कर कमलों से आर्यिका दीक्षा लेना चाहती हूँ।"

ऐसा कहकर आचार्यश्री के समक्ष श्रीफल चढ़ा दिया। महाराज जी प्रसन्न मुद्रा में मेरी ओर देखने लगे। सभी पास में उपस्थित संघ के साधुवर्ग प्रसन्न हो मोहिनी जी की सराहना करने लगे और कहने लगे—

"आपने बहुत अच्छा सोचा है। गृहस्थाश्रम में रहकर सब कुछ कर्तव्य आपने कर लिया है, अब आपके लिए यही मार्ग उत्तम है।"

आचार्य महाराज बोले—

"बाई! तुम्हारा शरीर बहुत कमजोर है। सोच लो, यह जैनी दीक्षा खाँडे की धार है।"

मोहिनी जी ने कहा—

"महाराज जी! संसार में जितने कष्ट सहन करने पड़ते हैं, उनके आगे दीक्षा में क्या कष्ट है? अब तो मैंने निश्चित ही कर लिया है।"

मैंने वहाँ से अतिविश्वस्त एक श्रावक को टिकैतनगर भेज दिया कि जाकर घर वालों को समाचार पहुँचा दो। घर से तीनों पुत्र, पुत्रवधुएँ ब्याहीं हुई चारों पुत्रियाँ, चारों जमाई, माधुरी, त्रिशला और मोहिनी जी के भाई भगवानदास जी ये सभी लोग अजमेर आ गये।

सभी लोग माँ मोहिनी जी को चिपट गये और रोने लग गये। सभी ने इनकी दीक्षा रोकने के लिए बहुत ही प्रयत्न किये। आचार्यश्री से मना किया और मोह में आकर उपद्रव भी करने लगे। आश्चर्य इस बात का हुआ कि रवीन्द्र भी उसी में शामिल हो गये, चूँकि अभी उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत नहीं लिया था, न सदा संघ में रहने का ही उनका निर्णय हुआ था। इन सब प्रसंगों में मोहिनी जी पूर्ण निर्मोहिनी बन गईं और अपने निर्णय से टस से मस नहीं हुईं। अन्ततोगत्वा उनकी दीक्षा का कार्यक्रम बहुत ही उल्लासपूर्ण वातावरण में चला। साथ में कु. विमला तथा ब्र. फूलाबाई की भी दीक्षा हुई थी। मगसिर वदी तीज (दि. ५-११-१९७१) का यह उत्तम अवसर अजमेर समाज में ऐतिहासिक अवसर था।

सेठ साहब की निरभिमानता —

दीक्षा के पूर्व माता मोहिनी ने व्रतिकों को प्रीतिभोज कराया। उसमें कुछ खास लोगों को भी आमंत्रित

किया। सर सेठ भागचन्द जी सोनी को भी बुलाया था। सेठ साहब से पाटे पर बैठने के लिए निवेदन किया किन्तु सेठ साहब पंक्ति में ही बैठ गये और बोले—

"हम सभी धर्म-बंधु समान हैं, सबके साथ ही बैठेंगे।"

उनकी इस सरलता और निरभिमानता को देखकर सभी को बहुत हर्ष हुआ। सेठ साहब प्रायः मध्याह्न में मेरे पास समयसार के स्वाध्याय में बैठते थे। साथ में सेठानी जी और उनकी पुत्रवधू भी बैठती थीं। दीक्षा के प्रसंग में भी सेठजी हर कार्य में सहयोगी बने हुए थे।

प्रथम केशलोंच —

दीक्षा के दिन मोहिनी जी के सिर के बाल बहुत ही छोटे-छोटे थे, लगभग एक महीना ही हुआ था जब उन्होंने केश काटे थे अतः इतने छोटे केशों का लोंच करना-कराना बहुत ही कठिन था। मैं चुटकी से केश निकाल रही थी। सिर लाल-लाल हो रहा था। उनके पुत्र, पुत्रियाँ ही क्या, देखने वाले सभी लोग ऐसा लोंच देख-देखकर अश्रु गिरा रहे थे और मोहिनी जी के साहस तथा वैराग्य की प्रशंसा कर रहे थे।

दीक्षा के अवसर पर अनेक साधुओं ने यह निर्णय लिया कि माता मोहिनी ने अनेक रत्नों को पैदा किया है। सचमुच में ये साक्षात रत्नों की खान हैं अतः इनका नाम रत्नमती सार्थक है। इसी के अनुसार आचार्यश्री ने इनकी आर्यिका दीक्षा में इनका नाम "रत्नमती" घोषित कर दिया।

अपनी जन्मदात्री माता की आर्यिका दीक्षा के अवसर पर आर्यिका अभयमती जी भी किशनगढ़ से अजमेर आ गईं थीं। मुझे तो वैसे ही दीक्षा दिलाने में बहुत ही खुशी होती थी, पुनः इस समय खुशी का क्या कहना? इस समय तो मेरी जन्मदात्री माँ एवं घर से निकलने में भी सहयोग देने वाली सच्ची माँ दीक्षा ले रही थी। इस प्रकार से बहुत ही विशेष प्रभावनापूर्वक यह दीक्षा आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज के करकमलों से सम्पन्न हुई। अजमेर में एक राज. मोइनिया इस्लामिया उ.मा. विद्यालय, स्टेशन रोड के प्रांगण में यह दीक्षा का कार्यक्रम रखा गया था, जहाँ पर अगणित जैन-जैनेतर लोगों ने भाग लिया था।

रवीन्द्र कुमार का घर वापस आना —

माँ की दीक्षा के बाद भाई कैलाशचन्द जी ने सोचा—

"अब यहाँ संघ में रवीन्द्र कुमार जी को छोड़ना कदापि उचित नहीं है। नहीं तो ये भी ब्रह्मचर्य व्रत ले लेंगे। इन्हें तो घर ले जाकर नई दुकान की योजना बनवानी चाहिए जिसमें इनका दिमाग व्यस्त हो जाये और ये माँ के वियोग को भूल जायें.....।"

तभी तीनों भाइयों ने रवीन्द्र को समझा-बुझाकर घर चलने के लिए तैयार कर लिया और मेरे पास आज्ञा लेने आये। यद्यपि मेरी इच्छा नहीं थी और न रवीन्द्र ही मन से जाना चाहते थे किन्तु भाइयों के आग्रह ने उन्हें लाचार कर दिया। तब मुझे भी आज्ञा देनी पड़ी।

इन सभी लोगों ने दो-तीन दिन रहकर अपनी माँ-आर्यिका रत्नमती जी को और सभी साधुओं को आहारदान दिया। एक दिन मैं इनके चौके में पहुँच गई । मेरे साथ आर्यिका अभयमती जी, आर्यिका रत्नमती जी का भी पड़गाहन कर लिया। एक साथ तीनों माताजी को सभी भाइयों ने, बहुओं ने, सभी बेटियों ने और जमाइयों ने आहार देकर अपने जीवन को धन्य माना था। अनन्तर ये लोग अपनी माँ के वियोग की आन्तरिक वेदना को अन्दर में लिये हुये और मेरे स्वभाव की—हर किसी को मोक्षमार्ग में लगाने के भाव की, चर्चा करते हुए रवीन्द्र को साथ लेकर अपने घर चले गये।

घर में भाइयों की प्रेरणा से रवीन्द्र कुमार ने कुछ दिनों बाद नवीन दुकान खोलने का विचार बनाया। पुरानी दुकान के ऊपर ही एक सुन्दर दुकान बनवानी शुरू कर दी।

५९

अजमेर से विहार —

अजमेर में चातुर्मास के बाद कालू के श्रावक आचार्य संघ का विहार कराने के लिए प्रार्थना करने आ चुके थे। आचार्यश्री ने स्वीकृति भी दे दी थी अतः संघ अजमेर से विहार करके पीसांगन नाम के एक छोटे से गाँव में कुछ दिनों के लिए ठहर गया।

इधर मैंने सुना कि आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज अजमेर आने वाले हैं, इधर आकर दिल्ली जायेंगे। मेरी इच्छा अपने आद्यगुरु के दर्शनों की थी तथा एक बात और भी सुनने में आई कि आचार्यश्री महावीर कीर्ति जी महाराज गिरनार क्षेत्र से विहार कर चुके हैं, वे भी इधर ब्यावर-अजमेर होते हुए सम्मेदशिखर जायेंगे। इन युगल गुरुओं के दर्शनों की तीव्र उत्कंठा जाग उठी अतः मैंने आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज से निवेदन किया कि—

"मैं यहीं कुछ दिन रूक जाऊँ, इन आचार्यों के दर्शन करके संघ में आ जाऊँगी।"

आचार्यश्री ने आज्ञा दे दी। इससे पूर्व अजमेर से सम्मेदशिखर यात्रा के लिए मुनिश्री अभिनन्दन सागर जी ने रूपरेखा बनाई थी, तब उसमें मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी प्रमुख थे। आचार्यश्री धर्मसागर जी के पुराने दीक्षित शिष्य दयासागर जी उसमें चले गये थे और भी अनेक मुनि-आर्यिकायें उस यात्रा संघ में चले गये थे। उनमें से दयासागर जी के बारे में आचार्यश्री को बहुत ही दुःख हुआ था। वे यहाँ पीसांगन में मुझसे दो-तीन बार बोले—

"माताजी! मुझे बड़ा आश्चर्य होता है, देखो.....दयासागर चला गया। मुझे कभी भी विश्वास नहीं था.....कि दयासागर भी कभी चला जायेगा.....।"

ऐसा सुनकर मैं कहती थी—"महाराज जी! सम्मेदशिखर यात्रा के लिए ही गये हैं। कोई बात नहीं, ये लोग जल्दी ही वापस आ जायेंगे.....।"

इसके सिवाय मैं मन में अवश्य सोच लेती कि—

"वास्तव में किसी शिष्य पर क्या विश्वास करना?"

मैंने जब आचार्यश्री से यहाँ रहने के लिए प्रार्थना की थी तब मेरी संघस्थ आर्यिकायें-जिनमतीजी, आदिमतीजी, श्रेष्ठमतीजी और रत्नमतीजी तो रहने वाली ही थीं, मुनि श्री संभवसागर एवं वर्धमानसागर भी आचार्यश्री से बोले—

"मैं भी माताजी के पास यहीं रुकना चाहता हूँ। दोनों आचार्यों का दर्शन करके आ जाऊँगा।"

आचार्यश्री अच्छी तरह जानते थे कि ये दोनों मुनि पहले आर्यिका ज्ञानमती के शिष्य रहे हैं पश्चात् इन्हीं की प्रेरणा से दीक्षा लेकर इन्हीं के पास पढ़ते हैं अतः इनके निमित्त से यहाँ रुक रहे हैं। आचार्यश्री ने इन दोनों के लिए भी आज्ञा दे दी।

अब कालू वालों की प्रेरणा से यहाँ से आचार्य संघ का विहार हो गया, मैं कुछ दूर तक जाकर वापस आ गई।

प्रथम शिष्या का वियोग —

आचार्य श्री के विहार के साथ आर्यिका संभवमती और उनकी शिष्या आर्यिका शुभमती भी चली गई थीं।

प्रातः आर्यिका जिनमती मेरे साथ मंदिर आईं, एकांत देखा और मुझे चिपटकर रोने लग गईं-बोलीं—

"अम्मा! आपको छोड़ने का भी मन नहीं हो रहा है और मेरी प्रिय शिष्या आर्यिका शुभमती भी न मेरे बगैर रह सकती है और न मैं ही उसके बिना रह सकती हूँ, यह भी आपको मालूम ही है। मैंने बहुत प्रयास

किया कि वह यहीं मेरे और आपके पास रहे, जिससे न मुझे क्लेश हो न आपको, किन्तु वह अपनी गुर्वानी संभवमती को भी नहीं छोड़ सकती है। मेरे सामने इस समय "एक तरफ कुआं है तो दूसरी तरफ खाई" अम्मा! अब मैं क्या करूँ.....?"

मुझे भी अश्रु आ गये । कुछ क्षण विचार कर मैं मौन रही।

पुनः उनकी इच्छा के अनुकूल आज्ञा देनी ही पड़ी। मैंने बार-बार उनके मस्तक पर हाथ फेरते हुए उन्हें विदा किया-एक बार तो ऐसा लगा—

"कलेजा फट रहा है।"

पुनः ज्ञान और वैराग्य से मन को संभाल कर शांत किया। यद्यपि ऊपर से मैं शांत थी फिर भी अंदर में इस प्रथम शिष्या का प्रथम बार वियोग कचोट रहा था।

निकट की महिलाओं ने कहा—

"वास्तव में जब कोई बहू घर में आती है और माता-पिता से उनके प्यारे बेटे को अलग कर देती है तब माता-पिता को दुःख कैसा होता है? वैसे ही यह शिष्या पढ़ने के लिए आई और ज्ञानमती माताजी से उनकी प्यारी शिष्या को छुड़ाकर ले गई।.....।"

सन् १९५५ में मेरे साथ ये आई थीं, तब से हम दोनों माँ बेटी के समान रह रही थीं। अब सन् १९७१ में इनका वियोग हुआ है। इस प्रकार ये सोलह वर्ष तक मेरे पास रही हैं।

मेरी माता आर्यिका रत्नमती जी कहने लगीं—

"देखो! घर छोड़ते समय ये मेरी बेटी मैना—आर्यिका ज्ञानमती जी कितनी निर्मोही थीं। आज भी हम लोगों के प्रति ये कितनी निर्मम हैं। अब इन्हें क्या हो गया है? ये शिष्या के मोह में कैसी विक्षिप्त हो रही हैं?" मैं भी कभी मन ही मन लज्जा का अनुभव करती थी कि—"देखो! मुझे विवेक से काम लेना चाहिए।

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात् मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात् परचिंता धमाधमा।।

इसके बाद ब्यावर के अनेक श्रावक आकर बार-बार आग्रह करने लगे—

"माताजी! आप ब्यावर पधारें, हम लोग आप के उपदेश का लाभ लेवें। जब आचार्य युगल में से कोई भी अजमेर आयेंगे, आपको हम उनका दर्शन करायेंगे।"

कुछ दिनों बाद हम सभी ने यहाँ से ब्यावर की ओर विहार कर दिया।

ब्यावर में धर्म प्रभावना —

उधर आचार्यश्री धर्मसागर जी संघ सहित कालू गाँव में विराज रहे थे और मैं ब्यावर में सेठ साहब चम्पालाल रामस्वरूप जी की नशिया में ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में ठहर गई। दोनों महाराज जी (मुनि श्री संभवसागर एवं वर्धमानसागर जी) वहाँ मंदिर के नीचे कमरे में ठहर गये।

रत्नमती माताजी की चर्या —

अजमेर से विहार कर रत्नमती माताजी यहाँ ब्यावर तक पैदल आई थीं। इनका स्वास्थ्य ठीक था। उसके अतिरिक्त मनोबल विशेष था। दीक्षा लेते ही दोनों समय संघ के साथ प्राकृत का प्रतिक्रमण करती थीं। अन्य आर्यिकाओं को प्रायः दीक्षा के बाद संस्कृत भक्तियाँ और प्राकृत का प्रतिक्रमण पाठ अनेक बार पढ़ाना पड़ता, तब कहीं वे पढ़ पातीं किन्तु ये स्वयं शुद्ध पढ़ने लगीं। इन्हें किसी से पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ये ही संस्कार इनकी सारी सन्तानों में रहे हैं।

गृहस्थावस्था में ये नित्य ही त्रिकाल सामायिक में "काल अनन्त भ्रम्यो जग में सहिये दुःख भारी।"

यह हिन्दी भाषा की सामायिक करती थीं, मैंने कहा—

"अब आप आचारसार आदि ग्रन्थों में मान्य देववंदना विधि की सामायिक करिये। यही प्रामाणिक है।"

रत्नमती माताजी ने उसी दिन से वही सामायिक करना शुरू कर दिया। इसमें श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित संस्कृत चैत्यभक्ति और श्री कुंदकुंद देव द्वारा रचित प्राकृत पंचगुरु भक्ति का पाठ है। इस प्रकार दोनों समय प्रतिक्रमण और तीनों काल सामायिक विधिवत् करते रहने से इन्हें एक महीने के अंदर ही ये पाठ कंठाग्र हो गये।

रत्नमती माताजी एक बार मुझसे बोलीं—

"माताजी! आपको तो संस्कृत व्याकरण मालूम है। आप सामायिक की भक्तियों का अर्थ समझ लेती हैं किन्तु मुझे तो अर्थ का बोध नहीं हो पाता है अतः आप इनका हिन्दी पद्यानुवाद कर दें तो बहुत ही अच्छा हो।"

मैंने इसके पूर्व ही टोंक में इस देववंदना विधि का हिन्दी पद्यानुवाद किया हुआ था सो इनको दिखाया। ये बहुत ही प्रसन्न हुईं और इसे शीघ्र ही मुद्रित कराने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप वह पुस्तक "सामायिक" नाम से प्रकाशित हो गई। रत्नमती माताजी उस पुस्तक से हिन्दी "सामायिक" पढ़कर चैत्यभक्ति आदि का अर्थ समझकर गद्गद हो जाती थीं।

ब्यावर में प्रातः प्रतिदिन मेरा उपदेश होता था और मध्यान्ह में छहढाला की कक्षा चलती थी, अनन्तर उपदेश होता था। ब्यावर के सभी पुरुष अधिक संख्या में भाग लेते थे। साथ ही सेठ हीरालाल जी स्वयं उपदेश और कक्षाओं में उपस्थित रहते थे। रत्नमती माताजी भी दोनों समय उपदेश में बैठती थीं। मैं तो दिन भर प्रायः राजवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रंथों के अध्यापन में व्यस्त रहती थी। उस समय जैनेन्द्र प्रक्रिया का अध्ययन भी करा रही थी जिसे मुनि वर्धमानसागर, आर्यिका आदिमती जी, ब्र. मोतीचंद, कु.माधुरी, कला आदि पढ़ते थे। यहाँ संघ नशिया में ठहरा हुआ था और चौके शहर में होते थे। सेठ हीरालाल जी रानीवाला, सोहनलाल जी अग्रवाल आदि भक्तों की भक्ति से आर्यिका रत्नमती जी भी प्रतिदिन आहार को इतनी दूर जाया करती थीं। इनकी चर्या पूर्णतया व्यवस्थित रहती थी।

जम्बूद्वीप रचना मॉडल —

अजमेर में कई बार मैंने सेठ साहब भागचन्द जी सोनी से जम्बूद्वीप रचना के बारे में परामर्श किया था। यहाँ भी एक दिन सेठ साहब आये। उनकी विशेष प्रेरणा रही कि एक कमरे में इस जम्बूद्वीप का मॉडल बनवाना चाहिए। ब्यावर के प्रमुख भक्तगण, जिसमें सेठ हीरालाल रानीवाला, धर्मचन्द मोदी आदि ने भी मेरे से आग्रह करके पंचायती नशिया के मंदिर जी के एक कमरे में यह मॉडल बनवाना चाहा। मेरी आज्ञा लेकर मोतीचन्द ने कारीगरों को हर एक चीजों का माप बताया और बैठकर बहुत ही श्रम के साथ सीमेंट से जम्बूद्वीप का भव्य मॉडल तैयार करवाना शुरू कर दिया। यह मॉडल आज भी वहाँ मंदिर के कमरे में बना हुआ है।

अष्टसहस्री ग्रन्थ प्रकाशन योजना —

यहाँ सरस्वती भवन में पं. हीरालाल सिद्धांत शास्त्री रहते थे। उनकी भी अच्छी भक्ति थी। मैंने उन्हें अपने द्वारा अनुवादित अष्टसहस्री दिखाई-पहले तो वे यही कहते रहे—

"माताजी! मैंने ४०-४५ वर्ष पूर्व अष्टसहस्री पढ़ी थी अतः अब मेरा उसके विषय में—न्याय के विषय में बिल्कुल उपयोग नहीं है।"

फिर भी मेरी विशेष प्रेरणा से उन्होंने एक दो बार मेरे पास बैठकर मूलप्रति सामने रखकर हिन्दी अनुवाद पढ़ा, तब वे बहुत खुश हुए और बोले—

"माताजी! एक दरबारीलाल विद्वान क्या, अनेक न्यायाचार्य मिलकर भी इतना बढ़िया हिन्दी अनुवाद

नहीं कर सकते हैं। अनुवाद बहुत अच्छा है, शब्दशः व्याकरण और न्याय के अनुकूल बहुत ही शुद्ध है.....। अब आप अधिक ऊहापोह न कर इसे छपा दीजिये।"

इसके बाद ७-८ दिनों तक उन्होंने अनुवाद के कुछ पेज पढ़े पुनः रख दिये और बोले—

"ज्यादा जाँचने का चक्कर छोड़ो, प्रेस में भिजवाने की सोचो।"

मोतीचन्द से बोले-"आपको इसे जल्दी छपाना चाहिए।"

एक दिन सहसा सेठ हीरालाल जी रानीवाला आये और बोले—

"मोतीचन्द जी! मेरे पुत्र देवेन्द्र कुमार बम्बई से आये थे, वे पाँच हजार रुपये दे गये हैं, आप चाहे जिस काम में लगा दें।"

मैंने कहा—"जो यहाँ जंबूद्वीप का मॉडल बन रहा है, उसी में लगा दो।"

सेठ जी बोले—"नहीं, यहाँ तो काम चल ही रहा है अतः आप संघ के ही किसी काम में लगा दो।"

तब मोतीचंद ने मुझसे कहा—

"माताजी! इन पाँच हजार रुपये से कागज खरीदकर अष्टसहस्री छपने प्रेस में दे दूँ। यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं अजमेर जाकर कोई अच्छी प्रेस देखूँ।"

मैंने कहा—"देखो! चांदमलजी पांड्या हमेशा कहा करते थे कि अन्य कोई दातार नहीं लेना, मैं ही पूरी अष्टसहस्री छपाऊँगा अतः वे कैसे मानेंगे?"

मोतीचंद ने कहा—"इन दिनों सेठ साहब आये नहीं हैं। जब आयेंगे, तब विचार किया जायेगा, तब तक इन रुपयों से मैं कागज तो खरीद कर प्रेस में दे ही दूँ।"

मैंने कहा—"ठीक है।"

बस आज्ञा मिलनी थी कि मोतीचंद अजमेर गये। प्रेस का निर्णय कर कागज खरीद लिया और आकर मेरे पास बैठकर भिन्न-भिन्न टाइप निश्चित कर प्रेस में मैटर दे दिया। पहले अलग-अलग कम्पोज होकर आया। मैंने एक-एक पेज के हिसाब से संस्कृत, हिन्दी, टिप्पण आदि का मैटर व्यवस्थित कर दिया। कुछ फर्मे छपे।

इधर सरस्वती भवन में एक अष्टसहस्री की मूल प्रति बहुत ही प्राचीन हस्तलिखित की प्राप्त हुई। उसे मैंने देखा, वह खूब शुद्ध थी। उसमें कुछ टिप्पण विशेष थे। पहले हस्तलिखित प्रति को पढ़ने का मैंने अभ्यास बनाया। इसमें मात्रायें पीछे पड़ी रहती हैं। मैंने रवीन्द्र कुमार, कु. माधुरी को इसका अभ्यास कराया और उस मूल प्रति से कुछ पाठांतर और टिप्पण लिखाना शुरू कर दिया।

आचार्य संघ का दर्शन नहीं हुआ —

इधर आचार्य देशभूषण जी महाराज अजमेर नहीं आये। वहाँ उनके दर्शन का लाभ मुझे नहीं मिल सका।

प्रत्युत् कुछ ही दिनों में एक दूसरा आकस्मिक समाचार मिला कि-

"आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज का महसाना में समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवास हो गया है।"

इस घटना से मुझे कुछ विक्षिप्तता हुई।

सोलापुर बम्बई की परीक्षा देने वाली संघस्थ छात्रायें कु. माधुरी, त्रिशला, कला आदि अपने शास्त्रीय विषयों की तैयारी कर रही थी।

इधर मुझे रवीन्द्र के लिए चिंता हो रही थी कि—

"यदि रवीन्द्र अधिक दिन घर में रहेंगे, तो गृहस्थाश्रम में फंस जायेंगे।"

इसलिए मैंने कई एक पत्र लिखाये थे कि रवीन्द्र कुमार अब संघ में आ जाएँ। माताजी याद कर रही हैं।"

रवीन्द्र का पत्र —

तभी घर से रवीन्द्र कुमार जी का एक पत्र आया कि—

"मैंने दुकान के ऊपर एक नया कमरा बनवाकर उसमें "उपहार साड़ी और रेडीमेड केन्द्र" नाम से एक नई दुकान खोलने का निर्णय किया है। तदनुरूप दिनाँक १२ अप्रैल १९७२ को उसके उद्घाटन का मुहूर्त है। इस अवसर पर यदि भाई मोतीचन्द जी यहाँ आ जाएँ तो भले ही मैं उनके साथ संघ में आ सकता हूँ अन्यथा मेरा आना कठिन है.....।"

मोतीचन्द जी को उस समय ज्वर आ रहा था, वे चादर ओढ़कर सोये हुए थे। कुछ ही देर बाद मैं मंदिर में आई। वहीं बरामदे में मोतीचंद को मैंने वह पत्र दे दिया। पढ़ते ही उनका बुखार भाग गया। वे उठकर बैठ गये और पसीना पोंछने लगे। बोले—

"माताजी! मैं टिकैतनगर जाऊंगा।"

मैं बोली—"अभी तो तुम्हें चार डिग्री बुखार था। तुम कैसे जा सकोगे?"

मोतीचन्द ने कहा—"नहीं, अब देख लो, मुझे बुखार नहीं है।

मेरे मन में इतनी प्रसन्नता हुई कि जैसे मानो मोतीचंद को अपने घर ही जाना है।"

मोतीचन्द अगले दिन रवाना हुए, टिकैतनगर पहुँचे। मुहूर्त पर नई दुकान का उद्घाटन हुआ। बाद में मोतीचन्द ने रवीन्द्र कुमार को साथ चलने का प्रोग्राम बनाया। इसी प्रसंग में भाई कैलाश चन्द और प्रकाश चन्द आदि ऐसे चिपट गये, बोले—

"रवीन्द्र को हम लोग किसी हालत में भी नहीं भेजेंगे।"

कुल मिलाकर बड़े ही श्रम से रवीन्द्र का प्रोग्राम ब्यावर के लिए बन पाया। मोतीचन्द खुश हुए, साथ में रवीन्द्र को लेकर ब्यावर आ गये। मुझे भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। यहाँ रवीन्द्र कुमार जी कई दिन रहे। प्रतिदिन मेरी यही प्रेरणा चलती रही कि—

"अब तुम आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लेकर ही घर जाना अन्यथा एक दिन विवाह के बंधन में बंध जाओगे। देखो! यह मनुष्य पर्याय आत्महित के लिए मिली है, इसे नश्वर भोगों में लगाकर व्यर्थ मत करो। जिस शरीर से आत्म निधि प्रकट की जा सकती है, उससे इस चंचल लक्ष्मी के कमाने का कार्य क्या मायने रखता है?....."

इत्यादि प्रकार से बहुत सी शिक्षास्पद बातें कहा करती थी। आखिरकार मेरी शिक्षाओं का रवीन्द्र के ऊपर भी प्रभाव पड़ ही गया। रवीन्द्र ने ब्रह्मचर्य व्रत लेने की इच्छा जाहिर की। तत्क्षण ही मैंने कहा—

"मोतीचन्द! तुम इन्हें साथ लेकर नागौर चले जाओ। वहाँ आचार्यश्री धर्मसागर जी से इन्हें व्रत दिलाकर ले आवो।"

ये दोनों नागौर पहुँच गये। रवीन्द्र ने श्रीफल चढ़ाकर आचार्यश्री से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर लिया। संघ के सभी साधुओं को भी बहुत ही प्रसन्नता हुई। नागौर की जैन समाज ने भी रवीन्द्र कुमार का अच्छा सम्मान किया पुनः ये दोनों खुशी-खुशी ब्यावर आ गये। यहाँ पर भी मोतीचन्द ने समाज को सारी बातें बताई पुनः इनके परिचय का छोटा सा फोल्डर तैयार किया, छपवा लिया और समाज में सभा का आयोजन कर इन्हें फूलमालाओं से सम्मानित किया। रत्नमती माताजी ने भी शुभाशीर्वाद दिया कि—

"तुम अपने जीवन में धर्मरूपी धन का खूब संग्रह करो तथा त्याग में आगे बढ़ते हुए एक दिन अपने लक्ष्य को प्राप्त करो।"

मैंने भी यही आशीर्वाद दिया कि—

"इस नश्वर शरीर से ही अविनश्वर सुख प्राप्त किया जा सकता है। अब तुमने वनिता बेड़ी को तो काट दिया है इसलिए घर कारागृह में मत फंसना। अभी तुम्हारी विद्या अध्ययन की उम्र है अतः इसका मूल्यांकन कर घर-दुकान का मोह छोड़कर जल्दी ही संघ में आओ।"

रवीन्द्र ने मेरे शुभाशीर्वाद को, शिक्षाओं को ग्रहण किया। कुछ दिन वहाँ ठहरे। इसी मध्य सोलापुर की परीक्षाएँ आरंभ हो गयीं। संघस्थ बालिकाओं ने प्रश्न-पत्र किये। अनन्तर रवीन्द्र कुमार सभी का आशीर्वाद लेकर वापस घर चले गये।

नई दुकान, नया उत्साह —

चूँकि इन्होंने स्वयं नई दुकान खोली थी, नया उत्साह था। नये जीवन के साथ नई कमाई का, स्वयं की कमाई का पैसा साथ में होना उन्हें आवश्यक महसूस हो रहा था।

मैं भी अब निश्चिंत थी। सोचती थी—

"अब यह कितने दिन घर रहेंगे? कितने दिन दुकान करेंगे? जब ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया है तो मोक्ष मार्ग में तो लग ही गये हैं। एक न एक दिन संघ में रहकर आत्मसाधना को ही अपना लक्ष्य बनायेंगे।"

दिल्ली विहार की चर्चा —

इसी मध्य फलटन के माणिकचन्द गाँधी आये हुए थे। उन्होंने वहाँ जम्बूद्वीप मॉडल बनते हुए देखा, बहुत प्रसन्न हुए और बार-बार मुझसे प्रार्थना करने लगे—

"भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाणोत्सव धूमधाम से मनाए जाने की तैयारी चल रही है। इस निर्वाणोत्सव प्रसंग में यह रचना अभूतपूर्व रहेगी। अखिल भारतीय स्तर पर इसका प्रचार होना चाहिए। आप दिल्ली पधारें तो अच्छा रहेगा।"

सर सेठ भागचन्द जी सोनी की भी यही प्रेरणा थी। सेठ हीरालाल रानी वाला से परामर्श करने में उन्होंने भी इसी बात को पुष्ट किया। दिल्ली के परसादी लाल जी पाटनी का भी विशेष आग्रह रहा। साथ ही महासभा के अध्यक्ष और परमगुरुभक्त चाँदमल जी (गोहाटी) का विशेष आग्रह था कि—

"माताजी! आप दिल्ली पधारें। निर्वाण महोत्सव को सफल करने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी आप जैसे साधु-साध्वियों पर है। यह कार्य भी आपकी पवित्र प्रेरणा से दिल्ली महानगरी में होना चाहिए। दिल्ली भारत की राजधानी होने के साथ ही जैन समाज का भी एक केन्द्र स्थान है।"

टिकैतनगर से प्रकाशचन्द जी आये थे। उन्होंने भी मुझे दिल्ली विहार के लिए प्रेरणा दी। तब मैंने रत्नमती जी से परामर्श कर उनकी अनुमति ली। दोनों मुनि और संघ की आर्यिकाओं से बातचीत कर मोतीचन्द को नागौर आचार्यश्री की आज्ञा लेने भेज दिया। आचार्यश्री की आज्ञा प्राप्त कर मैंने ब्यावर से विहार कर दिया। नसीराबाद में आचार्य कल्प श्रुतसागर जी महाराज के संघ के दर्शन किये।

जम्बूद्वीप मात्र बनवाने का निर्णय —

मोतीचन्द कई बार कहा करते थे—

"माताजी! आप मध्यलोक के तेरह द्वीपों की अकृत्रिम रचना और उनके चार सौ अट्ठावन चैत्यालय के बजाय मात्र जम्बूद्वीप को ही बनवाने की बात सोचिये, तब तो यह संभव हो सकेगा, चूँकि आप खुले मैदान में यह रचना चाहती हैं। कम से कम सौ फुट ऊँचा सुमेरुपर्वत चाहती हैं.....।"

मैंने भी बहुत कुछ सोचकर एक दिन निर्णय कर लिया और कहा—"ठीक है, जम्बूद्वीप निर्माण की ही स्कीम लेवो और इसे खुले मैदान में लगभग दो सौ या ढाई सौ फुट में सम्पन्न करो।"

मोतीचन्द आदि श्रावकों से मैं यही कहा करती थी—"किन्हीं आचार्यों का आश्रय लेकर यह रचना

पृथ्वी पर बनवानी चाहिए। मैं आगे नहीं होना चाहती हूँ।"

किन्तु मोतीचन्द कहा करते थे—

"माताजी! आपके मार्गदर्शन के बगैर यह रचना असंभव है अतः आपको आगे होना ही पड़ेगा। हाँ! जो भी आप कहें, मैं वैसा करने को तैयार हूँ।"

तभी मैंने एक दिन हँसते हुए कहा—

"मोतीचन्द! तुम लिखकर देवो कि इस रचना में तन,मन, धन से कार्य करके उसे पूरा करोगे। मेरे संयम में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आना चाहिए। मैं किसी से पैसे की याचना नहीं करूँगी। तुम्हें यह मंजूर हो, तो मैं आगे होऊँगी।"

मोतीचन्द ने उसी समय एक कागज लेकर, पेन से लिखकर मुझे दे दिया। उसमें ये शब्द थे—

"माताजी! मैं जंबूद्वीप निर्माण में तन, मन, धन से कार्य करते हुए इस रचना को पूर्ण कराऊँगा। आपके संयम में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आने दूँगा। आप किसी से भी पैसे की याचना नहीं करना। मैं यथाशक्ति रुपये लाकर यह रचना बनवाऊँगा। बस, आप हम लोगों को मार्गदर्शन देते रहिये। आपकी प्रमुखता और आशीर्वाद ही मेरे लिए सब कुछ है।"

इसके बाद मैंने दिल्ली की ओर विहार का विचार बनाया।

मुनिश्री श्रुतसागर जी के दर्शन—

एक दिन सुनने में आया कि आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज यहाँ ब्यावर के पास नसीराबाद में आ गये हैं। सन् १९६९ में ये जयपुर खानिया से संघ से अलग हुए थे पुनः अब सन् १९७२ में तीन वर्ष बाद उनके दर्शन का योग आया। मन में बहुत ही खुशी हुई और मैंने, संघस्थ सभी आर्यिकाओं ने और दोनों मुनियों ने यहाँ से विहार कर दिया, नसीराबाद आ गये। यहीं पर आचार्यश्री ज्ञानसागर जी महाराज ठहरे हुए थे। उनके शिष्य मुनिश्री विद्यासागर जी भी उनके पास थे। दोनों संघ के दर्शन कर मन प्रसन्न हुआ।

ब्यावर में ही मेरा निर्णय दिल्ली की ओर विहार करने का बन चुका था। ज्ञानसागर जी महाराज से भी वार्तालाप हुई। एक दिन विशेष रूप से विद्यासागर जी मुनि से मैंने लगभग एक घंटे संस्कृत में वार्तालाप किया। मुनिश्री का संस्कृत व्याकरण का ज्ञान देखकर मन बहुत ही प्रसन्न हुआ।

मैंने समयोचित विषयों पर कुछ प्रश्नोत्तर भी किये—जैसे कि बिना यज्ञोपवीत धारण किये श्रावकों से आहार ले लेना। जाति-व्यवस्था एवं वर्ण-व्यवस्था को नहीं मानना आदि। चूँकि अभी तक हर एक मुनि यज्ञोपवीत देकर ही आहार लेते हैं। आचार्य ज्ञानसागर जी भी जब संघ में थे, बिना जनेऊ वाले श्रावक से कभी आहार नहीं लिया था इत्यादि।

"माताजी! आज के नवयुवकों को कैसे आकर्षित किया जाये? कैसे धर्म में लगाया जाये? मुझे ऐसा ही प्रयास करना है, आदि।"

माधुरी को शुद्ध जल का नियम—

कु. माधुरी ने कहा—"माताजी! आप दिल्ली के लिए विहार कर रही हैं। फिर क्या पता ये संघ कब मिले? अतः मैं शुद्ध जल का नियम लेकर आहार देना चाहती हूँ।"

मेरी आज्ञा प्राप्त कर माधुरी ने सभी साधु-साध्वियों को आहार देकर हर्ष माना और कई दिनों बाद मुनिश्री ने अजमेर की ओर विहार कर दिया। मैंने भी अजमेर के लिए विहार कर दिया।

यहाँ पर कई दिन तक हम लोग रहे। यहाँ मुनिश्री सन्मतिसागर जी महाराज भी अपने संघ सहित ठहरे थे। आर्यिका रत्नमती माताजी उनके पास बैठकर खूब धर्मचर्चायें-गुणस्थान, मार्गणा की चर्चायें किया करती थीं।

गोम्मटसार त्रिलोकसार अनुवाद की प्रेरणा —

एक दिन मैंने मुनिश्री अजितसागर जी, आर्यिका श्री विशुद्धमती जी आदि से निवेदन किया—"मेरी इच्छा है कि गोम्मटसार जीवकांड, कर्मकांड, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार इन पांच ग्रंथों का संस्कृत टीका के आधार से हिन्दी अनुवाद होना चाहिए।"

आर्यिका विशुद्धमती से भी मैंने विशेष रूप से कहा कि—

"आपकी अलौकिक गणित अच्छी है अतः आप इनके अनुवाद कार्यों को करने में समर्थ हैं। अपनी विद्वत्ता का उपयोग जिनवाणी की सेवा में कीजिये।"

मुझे खुशी है कि श्री विशुद्धमती जी ने त्रिलोकसार का स्वाध्याय करते हुए इसका अनुवाद भी कर दिया है। पहले उन्हें इन नीरस भौगोलिक ग्रन्थों से प्रेम नहीं था, पुनःपं. रतनचंद जी मुख्त्यार के साथ स्वाध्याय करके इसका अनुवाद किया, जो छपकर प्रकाशित हो चुका है। बाद में तो इन्होंने 'सिद्धान्तसार दीपक' का अनुवाद किया, वह भी तीन लोक से संबंधित ही ग्रंथ था पुनः अभी तिलोयपण्णत्ति का भी संशोधन-अनुवाद करके प्रकाशन कराया है।

पहले जब सन् १९६७ में मेरे द्वारा लिखित भगवान बाहुबली पुस्तक छपी थी, तब इनका कहना था कि आर्यिकायें उपचार से महाव्रती हैं, इसलिए इनके द्वारा लिखित ग्रंथ प्रमाण कैसे होंगे? जबकि पं. आशाधर, पं. चामुंडराय आदि द्वारा लिखित अनगारधर्मामृत, चारित्रसार आदि प्रमाण की कोटि में हैं। खैर! बाद में तो स्वयं उन्होंने भी ग्रन्थ अनुवाद एवं लेखन कार्य किया है, यह खुशी की बात है।

इधर मैंने अपनी शिष्या आर्यिका आदिमती से गोम्मटसार कर्मकांड का अनुवाद कराया था। वह भी प्रकाशित हो चुका है। इससे पूर्व अपनी शिष्या आर्यिका जिनमती को प्रमेयकमलमार्तंड पढ़ाकर सन् १९७० में उसका अनुवाद कराया था, वह भी छप चुका है।

£ ६० ¤

दिल्ली की ओर विहार —

यहाँ से आचार्य कल्प मुनिश्री श्रुतसागर जी का दर्शन करके हम लोगों ने दिल्ली की ओर विहार करने का प्रोग्राम बनाया। महाराज जी की गृहस्थाश्रम की पुत्री कु. सुशीला और धर्मपत्नी बसंतीबाई मेरे पास ही रहती थीं। आचार्यकल्प ने कहा—

"माताजी! हम तो निमित्तमात्र से पिता हैं। सच्ची माता तो इस कन्या की आप ही हैं, आपके निमित्त से ही इसके हृदय में वैराग्य का अंकुर उगा है। यह आपके पास ही रहेगी आप ही इसका संरक्षण और इस पर अनुशासन करने में कुशल हैं।"

ये मुनिराज जी पहले भी अनेक बार कह चुके थे कि—

"ज्ञानमती माताजी एक अद्भुत पारस हैं। लोक में पारस तो लोहे को सोना ही बनाता है किन्तु ज्ञानमती जी तो अपने आश्रित शिष्य, शिष्या रूपी लोहे को पारस बना देती हैं अर्थात् अपने जैसा बना लेती हैं, यहाँ तक कि आप स्वयं १०५ आर्यिका होकर भी अपने आश्रित शिष्यों को १०८ मुनि भी बना देती हैं।"

मैं समझती हूँ कि यह कथन उनकी उदारता और गुणग्राहकता का ही द्योतक था।

अजमेर से विहार कर मार्ग में अनेक संघर्षों को झेलते हुए मैं आगे बढ़ती गई। मैं संघ सहित उस भयंकर ज्येष्ठ-आषाढ़ की गर्मी में भी आगे बढ़ते हुए दिल्ली के निकट गुड़गांवा नाम के गांव में आ गई। मार्ग में कु. शीला आदि एक चौका करती थीं और कु. माधुरी आदि एक चौका करती थीं। संघ-व्यवस्था की जिम्मेदारी मोतीचन्द ने संभाली हुई थी।

विहार की जिम्मेदारी —

ब्यावर से जयपुर और जयपुर से कोटपुतली होते हुए दिल्ली तक आने के मार्ग में सारी जिम्मेदारी, सारी व्यवस्था मोतीचन्द ने संभाली थी अतः रास्ते में चौके और खर्चे आदि की व्यवस्था में मुझे कभी लक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं रही है।

दीक्षा लेने के बाद सर्वप्रथम मैं आचार्य श्रीवीरसागर जी महाराज की आज्ञा से जयपुर से बगरू, मोजमाबाद और चोरु गई थी। यह सन् १९५७ की बात है तब एक गांव से दूसरे गाँव चली गई थी, कोई व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी फिर भी मेरे साथ ब्र. लादू लाल जी थे, ये बाद में मुनि भव्यसागर बने थे एवं ब्र. चतुरबाई थीं।

दूसरी बार मैंने नावा (राजस्थान) से सम्मेदशिखर यात्रा के लिए विहार किया था, उसमें सारी जिम्मेदारी ब्र. सुगन चन्द ने ली थी। ब्रह्मचारिणी कु. मनोवती भी साथ में थीं, अनेक लोग थे। मार्ग के गाड़ी और चौके आदि की व्यवस्था में मुझे लक्ष्य देने की, चिंता करने की जरूरत ही नहीं पड़ी थी।

इसी प्रकार दीक्षित जीवन के मेरे सर्वत्र विहार में ब्र. सुगनचन्द ब्र. गुलाब चन्द चंडक और उनके बाद मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार प्रमुख रहे हैं जिन्होंने मुझे विहार की व्यवस्था में चिंता नहीं होने दी है अतः मैंने श्रावकों से मार्ग के खर्चे की व्यवस्था व चौके के लिए कहा ही नहीं है। चूंकि ऐसा कहना मुझे इष्ट नहीं रहा है।

गुड़गांवा में आगमन —

मार्ग में गुड़गांवा नाम का एक गांव आया। यहाँ मंदिर था, नीचे हॉल था। लोगों की धर्मभावना बहुत अच्छी थी। हम लोग आहार करके मंदिर में सामायिक कर रहे थे। दिल्ली के मुनिभक्त सेठ जयनारायण जी सपरिवार दर्शनार्थ आये, अपना परिचय दिया, प्रार्थना की —

"माताजी! यह चातुर्मास दिल्ली में आपको मेरे पहाड़ीधीरज पर ही करना है.....। हमारी प्रार्थना स्वीकार कीजिये।"

इससे पूर्व डा. कैलाशचंद जैन, राजाटॉयज भी एक-दो बार आ चुके थे और निवेदन भी कर चुके थे।

पहाड़ीधीरज की सारी व्यवस्था को समझकर मैंने स्वीकृति दे दी। चूँकि मैंने पहले भी सुना था कि आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज पहाड़ी धीरज पर चातुर्मास कर चुके हैं अतः वहाँ शुद्धजल के नियम वाले अनेक भक्त हैं। स्वयं जयनारायण भी शूद्र जल के त्यागी — शुद्ध जल के नियम वाले थे।

वहाँ से विहार कर केंट होते हुए नई दिल्ली राजा बाजार के मंदिर में आई। इससे एक दिन पूर्व ही लाला श्यामलाल जी ठेकेदार दर्शन करने आये थे। इन्हें मैं जानती थी। ये और लाला उल्फतराय जी (दरियागंज वाले) टोंक में आचार्य धर्मसागर जी के संघ के दर्शन करने आये थे। वहाँ कई दिन ठहरे थे, अतः इनका परिचय हो गया था।

यहाँ से जयनारायण ने संघ का भव्यस्वागत करते हुए गाजे-बाजे के साथ पहाड़ीधीरज में प्रवेश कराया। वहाँ दोनों मंदिरों के दर्शन कर हम आर्यिकाएँ बड़ी धर्मशाला में ठहरीं और दोनों मुनियों को मंदिर के ऊपर कमरे में ठहराया गया।

यहाँ आहार करके अगले दिन हम सभी ने जाकर कूचा सेठ के अतिथि भवन में विराजमान आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज के दर्शन किये। सन् १९५७ के बाद आर्यिका दीक्षा लेकर पद विहार करते हुए आज सन् १९७२ में आषाढ़ शुक्ला बारस के दिन मैंने आचार्यश्री के दर्शन किये थे। गुरुदेव के दर्शन कर बहुत ही आनंद हुआ। आचार्यदेव ने भी इतने दिन बाद इतनी उन्नति में मुझे देखकर खूब-खूब आशीर्वाद दिया और प्रसन्नता व्यक्त की। आचार्यश्री से आज्ञा लेकर मैंने पहाड़ीधीरज पर वर्षायोग स्थापना की।

वर्षायोग स्थापना —

यहाँ पहाड़ीधीरज पर आषाढ़ शुक्ला चौदश के सायंकाल में जयनारायण आदि प्रमुख-प्रमुख श्रावक-श्राविकाओं ने धर्मशाला में आकर श्रीफल चढ़ाकर चातुर्मास के लिए प्रार्थना की। मैंने भी स्वीकृति दे दी पुनः सभा में चातुर्मास की उपयोगिता पर मेरा प्रवचन हुआ और मुनिश्री संभवसागर जी ने भी प्रवचन किया।

अनन्तर पूर्वरात्रि में हम सभी साधु-साध्वियों ने वर्षायोग स्थापना की क्रिया संपन्न की। इसके बाद प्रातः ८ बजे से ९ बजे तक प्रतिदिन मेरा प्रवचन होता था और मुनि संभवसागर जी भी प्रवचन करते थे।

यहाँ महिलाओं का अच्छा संगठन था। श्रीमती बोखतबाई अध्यक्ष थीं और परसन्दी बाई मंत्राणी थीं। इन महिलाओं में अच्छी लगन थी। मंदिर में प्रातः पचास से भी अधिक महिलाएँ धुले वस्त्र पहनकर, धुली सामग्री से भगवान् का पूजन करती थीं। दिल्ली शहर में यह पूजन भक्ति देखकर बहुत अच्छा लगता था।

आहार के समय करमचन्द जी आदि श्रावक संघ की व्यवस्था में तत्पर रहते थे। भीड़ में आगे-पीछे होकर साधुओं को बिना छुए, बचाकर चौके तक ले जाने में बहुत से श्रावक लगे रहते थे।

संघ में दो मुनि, चार आर्यिकायें थीं। ब्रह्मचारिणी छुहाराबाई, कु. सुशीला, शीला थीं और मोतीचन्द थे। प्रतिदिन प्रातः मेरा और महाराज जी का प्रवचन होता था। यहाँ पर ७-८ चौके लगते थे। सभी व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। यहीं पर आचार्य विमलसागर जी से दीक्षित एक क्षुल्लिका ज्ञानमती (शुक्लामाता) रहती थीं। वे भी संघ की वैयावृत्ति में बहुत ही रुचि लेती थीं।

अस्वस्थता, गुरु का आशीर्वाद —

सावन में गर्मी अधिक पड़ जाने और रास्ते में पद विहार का अधिक श्रम होने से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया। संग्रहणी का प्रकोप बढ़ गया, आहार बिल्कुल कम हो गया। इससे समाज को कुछ दिनों उपदेश का लाभ कम मिल पाया। इसी प्रसंग पर एक दिन आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज स्वयं मुझको आशीर्वाद देने के लिए वहाँ आ गये और उपदेश में बोले —

ये ज्ञानमती आर्यिका मेरी ही शिष्या हैं, इन्होंने घर छोड़ते समय जो पुरुषार्थ किया है, वह आज पुरुषों के लिए भी असंभव है। इनका स्वास्थ्य अस्वस्थ सुनकर मैं इन्हें शुभाशीर्वाद देने आया हूँ। अभी इन्होंने जो अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद किया है वह एक अभूतपूर्व कार्य किया है। ये जल्दी ही स्वास्थ्य लाभ करें, इनसे समाज को बहुत कुछ मिलने वाला है। इतनी सुयोग्य अपनी शिष्या को देखकर मेरा हृदय गद्गद हो जाता है।"

इत्यादि प्रकार से आचार्यश्री के वचनामृत को सुनकर जनता भावविभोर हो गयी। मेरे प्रति श्रद्धा का स्रोत उमड़ पड़ा। महाराज जी ने रत्नमती माताजी को बहुत-बहुत आशीर्वाद देते हुए कहा कि —

" आपने अपने जीवन में इस सर्वोत्कृष्ट आर्यिका पद को ग्रहण कर एक महान आदर्श उपस्थित किया है। इस वय में भरे-पूरे परिवार, बहू-बेटों के सुख को, घर को छोड़कर कौन दीक्षा लेता है?.....विरले ही पुण्यशाली होते हैं। आपका धर्म-प्रेम तो मुझे उसी समय दिख गया था कि जब मैना के घर से निकलते समय समाज और अपने प्रति के इतने भयंकर विरोध के बावजूद भी आपने सबकी नजर बचाकर, आकर मेरे से इनको दीक्षा देने के लिए स्वीकृति दे दी थी। आपको मेरा यही आशीर्वाद है कि आपकी संयम साधना निर्विघ्न होती रहे और अन्त में समाधि का लाभ हो।"

इस प्रकार गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर रत्नमती माताजी का हृदय गद्गद हो गया। उन्होंने बार-बार गुरुदेव को नमस्कार कर, उनके चरण स्पर्श किये और अपने को धन्य माना।

जम्बूद्वीप योजना —

यहाँ पर जम्बूद्वीप योजना की चर्चा फैल चुकी थी। डॉ. कैलाशचन्द (राजाटॉयज), लाला श्यामलाल

जी ठेकेदार, महावीर प्रसाद जी (पनामा वाले), कर्मचंद जी आदि पुरुष और महिलाओं में परसन्दी बाई आदि सभी सक्रिय रुचि ले रहे थे। मोतीचन्द प्रायः प्रतिदिन इसके लिए जगह की खोज में इधर-उधर लोगों से मिलते रहते थे और यत्र-तत्र जगह भी देखते रहते थे।

डॉ. कैलाशचन्द एक कुशल इंजीनियर के.सी. जैन, सुप. इंजीनियर पी.डब्लू.डी. के परामर्श से मॉडल तैयार करवा रहे थे। धीरे-धीरे मुझे भी स्वास्थ्य लाभ हो रहा था। तब तक महापर्व पर्यूषण आ गया।

दशलक्षण पर्व —

मैंने प्रतिदिन डेढ़-दो घण्टे तत्त्वार्थसूत्र पर प्रवचन किया। जयनारायण जी तथा और भी अनेक भक्तों ने बार-बार कहा —

"इतनी उम्र में हम लोगों ने ४०-४५ विद्वानों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र का प्रवचन सुना है किन्तु जितना रहस्य सरल शब्दों में माताजी ने सुनाया है और जितना इस नीरस को सरस तथा रोचक बना दिया है, वैसा आज तक हम लोगों ने किसी से भी नहीं सुना है।"

उस समय वहाँ प्रवचन में इतनी भीड़ हुई कि लोग अन्दर धर्मशाला में नहीं आ सके अतः कितने ही लोग धर्मशाला के बाहर यत्र-तत्र दुकानों पर बैठकर सुनते रहते थे तथा कितने ही लोग जगह के अभाव में दुःखी हो वापस चले जाते थे। दिल्ली के डॉ. कैलाशचन्द ने उन सभी उपदेशों के कैसेट तैयार कर लिये थे।

आर्यिका दीक्षा —

मैंने यहाँ पहाड़ी धीरज की एक महिला मीनाबाई और शाहदरा की एक महिला मनभरी बाई को यहीं पहाड़ीधीरज पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के करकमलों से आर्यिका और क्षुल्लिका दीक्षा दिलाई थी।

रत्नमती माताजी का उत्साह —

आर्यिका रत्नमती माताजी वृद्धा होकर भी डिप्टीगंज तक चौकों में आहार के लिए जाती थीं और चार-छह दिनों बाद शहर में यहाँ से दो मील दूर आचार्यश्री के दर्शन करने भी जाया करती थीं। इधर निर्वाणोत्सव के प्रसंग में जो भी कार्यक्रम आयोजित किये जाते थे, उनमें भी भाग लेती रहती थीं और मेरा तथा आचार्यश्री का उपदेश सुनकर तो बहुत ही हर्षित होती थीं।

मध्यान्ह में मुनि संभवसागर जी, आर्यिका आदिमती जी, श्रेष्ठमती जी आदि के साथ बैठकर चौबीस ठाणा, सिद्धान्त प्रवेशिका आदि की चर्चायें किया करती थीं। इन्हें चर्चा में बड़ा आनन्द आता था तथा करोलबाग, मॉडल बस्ती आदि के मंदिरों में दर्शन करने भी बहुत बार जाती रहती थीं।

विशेष भक्त का लाभ —

एक दिन हम लोग करोलबाग मंदिर के दर्शन करने गये थे। वहाँ मंदिर से ही एक श्रावक ने मेरा कमंडलु हाथ में ले लिया और पहुँचाने के लिए साथ-साथ चलने लगे। मार्ग में जरा सी बातचीत में उन्होंने अपना परिचय दिया, कैलाशचन्द नाम बताया और मेरे दिल्ली चातुर्मास के उद्देश्य को भी समझ लिया पुनः उसी दिन ये शाम को आये, बोले —

"मैं अब अपने दफ्तर से घर जा रहा हूँ जो भी कार्य मेरे लायक हो, आज्ञा दीजिये।"

मोतीचन्द से भी इन्होंने बातचीत की और परिचय देते हुए कहा, "मेरा नाम कैलाशचंद है, मैं करोलबाग में रहता हूँ और मैं आपके हर कार्य में सहयोग देने को तैयार हूँ।"

बस उसी दिन से ये कैलाशचंद जैन हमारे परमभक्त बन गये और मोतीचन्द के साथ जुड़ गये।

मैंने कहा — "कैलाशचंद जी ! ये मोतीचंद यहाँ पर जंबूद्वीप के लिए जगह ढूँढ़ रहे हैं, इन्हें डी.डी.ए. का सहयोग चाहिए।"

कैलाशचंद दो दिन बाद ही डी.डी.ए. के कुछ प्रमुख आफिसरों को अपने साथ लेकर मेरे पास आये। उनसे इतनी विशाल रचना के लिए जगह के बारे में परामर्श हुआ। उन्होंने यही कहा—

"माताजी! इतनी बड़ी जगह दिल्ली में महरौली के पास ही मिल सकती है। शहर के अंदर संभव नहीं है।"

इसके बाद भी मोतीचन्द के साथ-साथ कैलाशचंद ने दिल्ली में अनेक स्थान देखे और कई माह तक इधर-उधर घूमते रहे हैं।

£ ६१ ¤

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना —

कई बार अनेक श्रावक-लाला श्यामलाल जी, डा. कैलाशचंद जी आदि का कहना रहा कि—

"इतने बड़े निर्माण कार्य के लिए एक संस्थान का निर्माण होना चाहिए।"

अतः दिगम्बर 'जैन त्रिलोक शोध संस्थान' "दिगम्बर जैन इंस्टीट्यूट ऑफ कास्मोग्रेफिक रिसर्च" नाम से एक संस्थान की स्थापना की गई। इसके नाम का एक साइन बोर्ड, जिसमें ताराओं से नाम लिखा गया था, वह तैयार किया गया और विधिवत् कार्तिक कृष्णा अमावस्या-भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष कल्याणक के उत्तम दिवस इस संस्थान की स्थापना कर यह बोर्ड यहीं धर्मशाला में ऊपर सामने लगा दिया गया। इसी दिन 'वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला' नाम से एक ग्रंथमाला की भी स्थापना की गई।

अजमेर में प्रेस में छप रही अष्टसहस्री को लाकर यहाँ पहाड़ीधीरज पर ही सम्राट प्रेस में छपने को दे दिया। मोतीचंद जी सारी व्यवस्था देखते थे। प्रायः अन्तिम प्रूफ मैं देखकर देती थी, तब फर्मा छपता था। यह अष्टसहस्री ग्रंथ ही इस ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प बना है।

मंदिर में विधान —

एक दिन पहाड़ीधीरज के मंदिर में शांतिविधान का कार्यक्रम रखा गया। इतनी भीड़ हुई कि मंदिर ही छोटा लगने लगा। कुछ महिलाओं ने, जो कि पूजन-सामग्री भी साथ में लाई थीं किन्तु मंदिर में जगह नहीं होने से वे नहीं कर सकीं, पुनः सबके आग्रह से दो दिन और शांति विधान कराया गया। यहाँ की महिलाओं में विधान-पूजन के प्रति बहुत भक्ति थी पुनः अष्टान्हिका में यहीं पर सिद्धचक्र विधान हुआ, जिसे मोतीचन्द ने विधिवत् सम्पन्न कराया, अच्छी प्रभावना हुई।

चातुर्मास के बाद विहार —

चातुर्मास के बाद यहाँ से विहार कर मैं संघ सहित कैलाशनगर पहुँची, वहाँ पर भी अच्छी प्रभावना हुई। प्रतिदिन उपदेश से बहुत लोगों ने लाभ लिया। वहाँ से दरियागंज आश्रम आदि में ठहरते हुए नजफगढ़ पहुँची। यहाँ भी अच्छी भक्ति थी।

इस बीच अनेक स्थानों पर विहार और उपदेश होते रहे, धर्म प्रभावना होती रही।

नजफगढ़ में चातुर्मास —

सन् १९७३ का चातुर्मास यहाँ नजफगढ़ दिल्ली में हुआ। यहाँ नजफगढ़ में मंदिर की बहुत बड़ी जगह थी। लोगों की प्रार्थना से यहाँ पर जंबूद्वीप निर्माण का कार्य शुरू किया गया था पुनः कुछ विघ्न-बाधाओं के आ जाने से वहाँ यह कार्य संभव नहीं हो सका।

यहाँ पर मैंने त्रिलोकभास्कर आदि पुस्तकें लिखीं और कातन्त्र व्याकरण का हिन्दी में अनुवाद किया। यहाँ के बाबू उल्फतराय, मुरारीलाल, सागरचंद आदि अनेक श्रावकों और श्राविकाओं ने धर्मलाभ लिया था।

छोटे-मोटे अनेक विधान हुए पुनः 'तीन लोक विधान' बड़े रूप में कराया गया।

"दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान" नाम से संस्थान की स्थापना होते ही तीन लोक को विशेष रूप से आबाल गोपाल समझ सकें, यह आवश्यकता महसूस हुई।

"धर्मध्यान के चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय आदि संस्थानविचय। संस्थानविचय में तीन लोक के संस्थान—आकार का चिंतवन करना। ऊर्ध्वलोक में १६ स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नवअनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं उनके ऊपर सिद्धशिला है। अधोलोक में सात नरक हैं और नीचे निगोदस्थान हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। इनके भी ठीक बीच में 'जंबूद्वीप' है। इत्यादि द्वीप-समुद्रों का विस्तार से चिंतवन करना यह सब संस्थानविचय धर्म-ध्यान है, ऐसा 'ज्ञानार्णव' जैसे महाग्रंथ में लिखा है।

मैंने तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, जंबूद्वीप पण्णत्ति और लोक विभाग आदि ग्रंथों के आधार से यह 'त्रिलोक भास्कर' नाम का ग्रन्थ तैयार किया। बड़े योजन में दो हजार कोश माने हैं अतः आज एक कोश में दो मील की परम्परा चालू होने से एक महायोजन को चार हजार मील से गुणा करके मैंने इस पुस्तक में सर्वत्र योजना की सरल गणित कर दी, जिससे आज के स्वाध्यायप्रेमियों को सरलता हो जावे। यह ग्रंथ एक हजार छपे थे। इसके कवर पर भी तीन लोक की मोटाई को बतलाने वाला, ऐसा तीन लोक का भव्य चित्र छपाया गया था। आज यह ग्रन्थ द्वितीय संस्करण न छप सकने के कारण उपलब्ध नहीं है, मात्र नमूने की एक-दो प्रतियां हैं। इसे अनेक प्रबुद्ध लोगों ने बहुत ही पसंद किया था।

अष्टसहस्री ग्रंथ प्रकाशन में विघ्न —

दिल्ली में सेठ चांदमलजी पांड्या गौहाटी (आसाम) वाले आते ही रहते थे। उनके सामने जब-अष्टसहस्री छप रही है, यह चर्चा आई, तब उन्होंने साफ कह दिया—

"माताजी!— मैं इसे नहीं छपाऊँगा।"

अनंतर उन्होंने संघस्थ एक शिष्या से कह दिया—

"देखो! मैं क्या करूँ? एक विशेष मुनिराज ने मुझे मना कर दिया है, हालांकि मैंने बहुत बार माताजी से कहा था कि यह ग्रंथ मैं ही छपाऊँगा अतः एक लाख रुपये की कोई बात नहीं है किन्तु मैं उन विशेष मुनिराज की आज्ञा कैसे उल्लंघन करूँ?.....।"

मुझे सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ कि—

"अहो! वे मुनिराज मुझे कितना वात्सल्य दिखाते हैं? कितना बहुमान और आदर देते हैं? पुनः उन्होंने ऐसा कार्य कैसे किया? अरे! क्या इन जैसे श्रेष्ठी को रोक देने से इनका रुपया बढ़ जायेगा। हाँ! ज्ञानदान में खर्च करने से अवश्य बढ़ता, न कि घटता। वास्तव में मैंने मेरे इस त्रेपन वर्ष के जीवन में आज तक किसी के कार्य में विघ्न नहीं डाला है, प्रत्युत् कोई पूछने आये कि—

"माताजी! अमुक ने ऐसा धर्मकार्य करने को कहा है, करूँ क्या? तो भले ही वे मेरा विरोध ही क्यों न कर रहे हों किन्तु मैंने उनके कार्य की भी सराहना करके पूछने वालों को प्रेरणा ही दी है कि हाँ, आप उनका कार्य अवश्य कीजिये। धन को धर्म में लगाने से आपका धन बढ़ेगा ही न कि घटेगा। खैर, मैंने यही सोचकर संतोष किया कि इन श्रेष्ठी का योग मेरे ग्रंथ प्रकाशन में नहीं लगना था। चलो, जिनका योग होगा, वे करेंगे।"

इसी बीच ब्यावर के सेठ हीरालाल जी रानीवाला जिन्होंने ब्यावर में पाँच हजार रुपये दिये थे। मोतीचंद ने उसी से कागज खरीदा था। सेठ हीरालाल रानीवाला के सुपुत्र श्री सुरेन्द्र कुमार के संकेत से पुनः मोतीचंद ने उनसे कहा—

"आप अष्टसहस्री का प्रथम भाग पूरा छपा दें। उन्होंने स्वीकृति दे दी और समय पर उनका रुपया भी आ गया। वह ग्रन्थ निराबाध छप गया।

मैंने यह अनुभव किया है कि—"मेरे हर एक बड़े कार्य में किन्हीं न किन्हीं विघ्न संतोषियों द्वारा विघ्न अवश्य आये हैं फिर भी कोई न कोई महानुभाव उस कार्य को पूरा करने के लिए मिलते ही रहे हैं और कार्य भी संघर्षों को झेलकर होते ही रहे हैं।"

मैं नजफगढ़ के चातुर्मास के बाद दिल्ली शहर में कूचासेठ के त्यागी भवन में ठहर गई थी। यहीं से कहीं भी जाना-आना होता रहा था।

मुनिश्री विद्यानंद जी का दिल्ली आगमन —

इधर मुनिश्री विद्यानंद जी दिल्ली आ गये थे। इस समय ये एक अच्छे प्रभावी साधु रहे हैं। हालांकि यहाँ आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज संघ सहित विराज रहे थे। २५सौवें निर्वाणोत्सव को सफल कराने के लिए ये गुरुदेव अग्रणी थे और महाप्रभावी थे। जब यहाँ 'संसदभवन' में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी की अध्यक्षता में एक बैठक हुई थी, तब श्वेताम्बर संप्रदाय के सुशीलमुनि जी आदि वहाँ पहुँचे थे। उस समय अनेक संघर्षों के बावजूद भी आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज सारे दिगम्बर जैन समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए वहां पहुँचे थे। उस समय उन्होंने जो दिगंबरत्व की ध्वजा फहरायी थी और वहाँ जो दिगम्बरत्व का महत्व बढ़ा था, वह शब्दों से परे है लेकिन हमारे दिगम्बर जैन समाज में हमारे ही बंधु इन दिगम्बर गुरुदेव के प्रति उस समय भी टीका-टिप्पणी करने से नहीं चूके थे।

यह महान कार्य सन् १९७२ में ही आचार्यश्री ने दिल्ली में किया था। ये गुरुदेव स्वयं हर एक महान कार्य को करने में महान रहे हैं।

निर्वाणोत्सव की तैयारियां —

यहाँ प्राय: कभी साधुवर्गों में, कभी चारों संप्रदाय के लोगों में, सभायें (मीटिंग) चलती ही रहती थीं। निर्वाणोत्सव को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के लिए देश ही नहीं, विदेश में भी भगवान् महावीर के आदर्श जीवन और अहिंसामयी उपदेश को पहुँचाने के लिए जोरदार तैयारियाँ हो रही थीं।

परमगुरुदेव आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज भी मुझे हर एक कार्य में, मीटिंगों में बुलाते थे। कार्य करने की गतिविधि समझाया करते थे। इधर जब से मुनिश्री विद्यानंद जी आये थे, वे भी मुझे हर एक कार्य में बुलाते थे, परामर्श करते थे।

तीनलोक प्रतीक —

एक दिन मैं मुनिश्री विद्यानंद जी के पास ही बैठी हुई थी। मेरे द्वारा संस्थापित संस्था का नाम 'त्रिलोक शोध संस्थान' है, इस पर चर्चा चल रही थी।

चर्चा में यह विचार बना कि इस महोत्सव में तीन लोक को ही अपना प्रतीक-चिन्ह बनाया जावे। सर्वत्र तीन लोक का आकार बने। यहाँ तक कि डाक-खाने की पेटियाँ आदि भी तीन लोक के आकार की बनें, बड़ा आनंद आ जायेगा।"

मैं भी खुशी से गद्गद हो गई। मैंने कहा—

"इस प्रतीक में तो चारों संप्रदाय में से किसी को भी विवाद नहीं होगा। आपने बहुत अच्छा सोचा है।

यही तीन लोक इस निर्वाणोत्सव में ऐसा सुन्दर प्रतीक बना कि चारों तरफ पुस्तकों में, स्टीकर आदि अनेक प्रचार की सामग्रियों में, यहाँ तक कि लोगों के घरों में ग्रील, रेलिंग आदि में भी यह तीन लोक प्रतीक छा गया।

बस तीन लोक में त्रसनाली और सिद्धशिला की रचना की लाइनें मैं चाहती थी किन्तु कतिपय महानुभावों ने तीनलोक के बीच चक्र और हाथ का निशान बना दिया, जो धर्मचक्र और अभयदान का सूचक

माना गया। फिर भी यह निशान मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने अपनी प्रेरणा से हुए निर्माण आदि स्थलों में आगमोक्त त्रसनाली सहित ही तीनलोक बनवाया है। जैसे कि यहाँ हस्तिनापुर में मुख्य कार्यालय के सामने बना है और धर्मशाला आदि में विंडो की ग्रिल आदि दरवाजों में वैसा ही तीनलोक बनवाया गया है जैसा कि आगमसम्मत है। मैंने कहीं पर भी यह हाथ के चिन्ह वाला तीनलोक नहीं रखा है। मेरा कहना यह रहता है कि—"कार्य ऐसा हो जो कि मनगढ़ंत न हो कि जिससे आगे की पीढ़ी वैसा ही वास्तविक समझ ले।"

खैर! यह एक तीनलोक का प्रतीक और पंचरंगी ध्वज, उस निर्वाणोत्सव में ये दोनों ही चारों संप्रदाय में मान्य रहे हैं और इनका पूरे भारत में खूब प्रचार हुआ है।

चार संप्रदाय कौन? —

१. दिगम्बर संप्रदाय २. श्वेतांबर सम्प्रदाय ३. स्थानकवासी श्वेतांबर संप्रदाय ४. तेरहपंथी श्वेतांबर संप्रदाय।

ये श्वेताम्बर में जो तीन भेद हैं, उनमें से मंदिरमार्गी भगवान् की मूर्ति मानते हैं, उनमें नेत्र लगाये जाते हैं आदि। स्थानकवासी स्थानक बनवाते हैं, ये मूर्ति नहीं मानते हैं, ये ढूँढ़िया कहलाते हैं, इनके साधु मुंह पट्टी लगाते हैं। ऐसे ही इन्हीं में तेरहपंथी संप्रदाय है इनके साधु भी मुँह पट्टी लगाते हैं, ये लोग भी मूर्तिपूजा नहीं मानते हैं। इन दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। मुँह पट्टी में मात्र कुछ अन्तर है।

हमारे यहाँ दिगम्बर में भी पहले एक तारणस्वामी हुए हैं। उन्होंने मंदिर में मूर्ति न रखकर शास्त्र रखाया था। ये मूर्तिपूजा नहीं मानते थे। इनका सम्प्रदाय नहीं चल सका। आज मात्र बुंदेलखंड में इनका जरा-सा ही अस्तित्व दिखता है। सभी जैन इस सम्प्रदाय को जानते भी नहीं हैं।

ऐसे ही दिगम्बरों में तेरहपंथ-बीसपंथ चल गया। इसका भी इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आज से लगभग चार सौ वर्ष[१] पूर्व जयपुर में पंडितों ने तेरह पंथ चला दिया। तभी शास्त्र और गुरु परम्परा के अनुयायी बीस पंथी कहलाने लगे। खैर! यह विषय अलग कहीं चर्चित किया जायेगा। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनियों में आचार्यश्री शांतिसागर जी परम्परा वाले सभी साधु बीसपंथी कहलाते हैं। वास्तव में ये आगमपंथी हैं। कई एक वर्षों से ही कुछ साधु अपने को तेरहपंथी कहने लगे हैं। दिगम्बर मुनियों में तो कोई अन्तर है नहीं, सबकी चर्या और वेष एक ही है, मात्र श्रावकों में भगवान की पूजा में किंचित् अन्तर है, जो कि नगण्य है।

£ ६२ ¤

गांधीनगर दिल्ली में प्रभावना —

यहाँ कूचा सेठ में मुझे ज्वर आ गया, कई दिनों अस्वस्थ रही, पुनः स्वस्थ हुई, तब गांधीनगर वालों की भक्ति से गांधीनगर आ गई। यहाँ पंडित प्रकाशचंद जैन हितैषी, जो कि सन्मति संदेश के संपादक हैं, मेरे पास आकर शास्त्र चर्चायें किया करते थे। इनकी धर्मपत्नी आहार-दान देती थीं। यहां प्रतिदिन एक-एक घर में महिलाओं ने शुद्ध जल का नियम लेना शुरू किया और आहार-दान देना शुरू किया। प्रतिदिन चौकों की संख्या बढ़ती गई और पड़गाहन करने वालों की संख्या तथा भक्ति बढ़ती गई। मैं सोचने लगी—

"लोग कहते हैं दिल्ली में धर्म नहीं है किन्तु यहाँ तो मंदिरों की संख्या बढ़ती जा रही है। पूजा करने वाले बढ़ रहे हैं, आहार देने वाले बढ़ रहे हैं अतः एक बात यह समझ में आती है कि मंदिरों की वृद्धि से पूजक बढ़ते हैं और गुरुओं के आगमन से त्याग में वृद्धि होने से आहार देने वाले बढ़ते हैं। ऐसा अनुभव आता है।"

कूचा सेठ के त्यागी भवन में एक दिन मोतीचंद के पास एक पत्र अलवर से आया, जो कि ब्रह्मचारी श्री

---

१. अर्धकथानक श्री बनारसीदास रचित प्रस्तावना में।

शिवकरण का था। उसमें लिखा था—

"आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज संघ सहित यहाँ ठहरे हुए हैं। दिल्ली निर्वाणोत्सव में प्रभावना के लिए ही यहाँ आये हैं लेकिन मैंने एकांत में परामर्श किया तो ऐसा लगा कि अभी तक दिल्ली के लोग आचार्य संघ को लेने के लिए नहीं आये हैं अतः संघ कुछ दिन यहाँ रहकर वापस राजस्थान में जा सकता है। यहाँ शूद्र जल त्यागी कम होने से चौकों की भी बहुत कमी है। मैं स्वयं अपने हाथ से चौका लगाता हूँ। कई साधुओं को पड़गाता हूँ। चूंकि यहाँ मेरी धर्मपत्नी आदि महिलायें मेरे साथ में नहीं हैं.....।"

पत्र विस्तृत था। मोतीचंद ने पढ़कर सुनाया। इसके बाद भी एक-दो पत्र इसी आशय के प्राप्त हुए, तभी मैंने अपने हाथ से आचार्यश्री के नाम एक विस्तृत पत्र लिखा जिसमें यह विषय प्रमुख था कि—

"आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी महाराज के बारे में मैंने सुना था कि वे जहाँ की समाज उन्हें आने के लिए मना कर दे, वहाँ वे अवश्य पहुँच जाते थे। आप तो उनके क्षुल्लक शिष्य रहे हैं, आपने उनकी सिंहवृत्ति का खूब अनुभव किया है अतः आपको दिल्ली के श्रावकों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आपको तो निर्वाणोत्सव में चार चांद लगाना है, भविष्य का उज्ज्वल इतिहास बनाना है अतः मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप अवश्य पधारें। यहाँ आपके आते ही सारी समाज भक्त बन जायेगी।"

ऐसा पत्र लिखकर मोतीचन्द को देकर और बहुत कुछ उन्हें समझाकर अलवर भेजा था। मोतीचन्द ने वहाँ पहुँचकर आचार्यश्री के पास एकांत में बैठकर मेरा पूरा पत्र सुना दिया था। आचार्यश्री ने मेरा पत्र सुनकर हँसते हुए प्रसन्नता व्यक्त की थी।

इसके बाद मैं लाला श्यामलाल जी, डा. कैलाशचंद जी, महताब सिंह जी जौहरी, पन्नालाल जी तेज प्रेस आदि प्रमुख श्रावकों को बुलाकर, अलवर में जाकर आचार्यश्री को नारियल चढ़ाकर लाने के लिए अथक प्रयास कर रही थी।

यहाँ भी आये दिन संघ को लाने के लिए मीटिंगें होतीं, चर्चायें होतीं किन्तु इतने बड़े संघ को लेने के लिए कई चौके चाहिए। अलवर कौन जाये? बिना चौकों की व्यवस्था किये कौन जाकर नारियल चढ़ावे? यही समस्या लेकर बार-बार डाक्टर कैलाशचंद आदि मेरे पास आते रहते थे।

मेरा कहना था कि—"आप लोग एक बार जाकर नारियल चढ़ाकर प्रार्थना करके आ जाओ। बाद में सब सोचना।"

लेकिन इन सबका यह कहना था कि—"कोरे नारियल चढ़ाने से क्या होगा?"

एक दिन रात्रि में लाल मंदिर में संघ को लाने के लिए मीटिंग हुई। साहू शांतिप्रसाद जी ने भी भाग लिया। सभी ने निर्णय करके पुनः अनिश्चित कर दिया और विचार-विमर्श ही चलता रहा कि—"यहाँ पर इतने बड़े संघ के लिए चौकों की व्यवस्था कैसे क्या होगी?

मैंने गांधीनगर जाकर वहाँ के श्रावकों को जैसे-तैसे तैयार कर लिया और अलवर जाकर नारियल चढ़ाने के लिए आगे कर दिया पुनः लाला श्यामलाल जी, पन्नालालजी आदि को बुलाकर समझाना शुरू कर किया—

"देखो! जब बालक पेट में रहता है तब माँ के स्तन से दूध नहीं आता है पुनः जन्म लेने के बाद अपने आप मां के स्तनों में दूध आ जाता है। वैसे ही अभी तुम्हें सब समस्याएँ दिखती हैं किन्तु आचार्य संघ के आते ही उनके पुण्य प्रभाव से अपने आप अनेक शूद्रजल त्यागी श्रावक तैयार हो जावेंगे। दिल्ली के ही क्या, अन्य गाँवों के भी श्रावक आकर चौका लगायेंगे।

अरे! आज तक कहीं भी आहार दान के न मिलने से मेरा उपवास हुआ हो ऐसा नहीं हुआ है। भाई!

साधुओं का भाग्य भी तो उनके साथ आयेगा ही आयेगा।''

इत्यादि प्रकार से सम्बोधन कर-करके ही मैंने श्रावकों को अलवर जाकर आचार्यश्री को नारियल चढ़ाने की प्रेरणा दी। आखिर मेरा प्रयास सफल हुआ, लोग अलवर पहुँचे। विधिवत् आचार्यश्री के समक्ष श्रीफल चढ़ाकर निवेदन किया। तब मेरे हर्ष का पार नहीं रहा।

टिकैतनगर और दिल्ली में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा —

इसी बीच फरवरी १९७४ में टिकैतनगर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन था। भगवान् बाहुबली की सवा सात फुट ऊँची मूर्ति की प्रतिष्ठा होने वाली थी। रवीन्द्र कुमार पहले से ही अपने घर आये हुए थे। मोतीचन्द आदि के लिए अनेक निमंत्रण आ चुके थे। अतः यहाँ से मोतीचन्द, कु. सुशीला, कु. शीला, कु. कला को भी टिकैतनगर भेज दिया था। इस समय मेरे साथ में कोई भी ब्रह्मचारिणी नहीं थी।

यहाँ दिल्ली में शक्तिनगर में भी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ससंघ वहाँ जाने वाले थे। वहाँ के श्रावक मेरे पास भी आकर प्रार्थना कर चुके थे और आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की भी आज्ञा थी, अतः मैं भी अपने संघ सहित वहाँ पहुँच गई। आर्यिका श्री रत्नमती माताजी भी मेरे साथ पैदल ही चलकर आ गई थीं।

यहाँ हम लोगों को एक श्रावक की कोठी में ठहराया गया था। वहां से शक्तिनगर का मंदिर भी दूर था और जहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का मंडप बना था, वह भी दूर था। जहाँ आचार्यश्री ठहरे थे, वह भी दूर था। फिर भी प्रतिदिन आर्यिका रत्नमती जी मेरे साथ सर्वत्र आती-जाती रहती थीं। यद्यपि उन्हें चलने से पैरों में दर्द हो जाता था, कभी-कभी सूजन भी आ जाती थी लेकिन मनोबल विशेष होने से वे शरीर से निर्मम होकर कष्ट झेलते हुए मेरा साथ निभाती रहती थीं, यही उनमें विशेषता थी।

यहाँ प्रतिष्ठा में अच्छी प्रभावना हुई, सभी साधुओं को प्रसन्नता रही।

हैण्ड पम्प का जल शुद्ध है या नहीं? —

यहाँ कुछ चौकों में हैण्ड पम्प का जल काम में लिया गया। मुझे मालूम हुआ तब मैंने कह दिया कि — ''मैं अपनी संघस्थ आर्यिकाओं को साथ लेकर निकट में स्थित सब्जी मण्डी के मंदिर में चली जाऊँगी, वहाँ ही आहार करूँगी। प्रतिष्ठा के कार्यक्रमों में जितनी बार आ सकूँगी आ जाऊँगी।''

इतना सुनते ही श्री सुन्दरलाल जी जैन बीड़ी वाले, जो कि एक प्रसिद्ध सेठ थे, अच्छे कार्यकर्ता थे, वे आये और बोले —

''माताजी ! हैण्ड पम्प का जल बिल्कुल शुद्ध है, धरती से ताजा-ताजा पानी आता है। इसके लगाने की व्यवस्था आप समझिये। यह कथमपि अशुद्ध नहीं है। जहाँ तक रही 'जीवानी' की बात, तो हम लोगों ने हैण्ड पम्प में 'जीवानी' पहुँचाने के लिए एक दूसरा पाइप जोड़ रखा है अतः कुएं के जल से भी अधिक यह शुद्ध है। देखो ! आजकल कुँए का पानी न निकाला जाने से उसमें कैसे-कैसे लाल-लाल कीड़े पड़ जाते हैं, जिन्हें देखते ही घृणा आती है.....।

इत्यादि प्रकार से बहुत कुछ समझाने के बाद जब मैंने उनकी बात नहीं मानी, तब वे किंचित् गरम भी हुए। मैंने कहा — ''सेठ जी ! हम साधु-साध्वियों पर आपका आग्रह नहीं चलेगा।' तब वे विनम्र हो गये और बोले —

''अच्छा, कुछ भी हो, मैं आपको इस प्रतिष्ठा से पूर्व कथमपि जाने नहीं दूँगा, भले ही एक मील से कुएँ का पानी लाना पड़े। मैं स्वयं पानी लाकर चौका बनवाऊँगा।'

इतना कहकर वे गये और पुनः नजदीक में कुएँ की तलाश करने लगे। तभी निकट में ही किसी वैष्णव मंदिर

में कुँआ मिल गया और सेठ सुन्दरलाल जी ने अपनी कोठी की बाउंड्रीवाल तुड़वाकर नजदीक से कुएं के पानी की व्यवस्था करा दी। बाद में वे फिर मेरे पास आये और अनेक प्रकार से प्रशंसा करते हुए कहने लगे—

"माताजी! जो अपने आप में दृढ़ रहते हैं, कहीं किसी भी स्थान पर क्यों न हो, वे अपने धर्म की, नियम की रक्षा कर ही लेते हैं। मैं विदेश में गया था, मुझे चीनी के बर्तनों में खाना खाने का त्याग था। वहाँ प्रत्येक पात्र चीनी के थे फिर भी मेरे लिए अन्य पात्रों की पृथक् से व्यवस्था बनाई गई और मैंने अपने नियम को निभाने में दृढ़ता ही रखी थी। आज मुझे आपकी चर्या और दृढ़ता का गौरव है।"

इसके बाद मैंने सोचा—"देखो! लोग पहले तो डराते हैं पुनः दृढ़ता देखकर प्रशंसा करने लगते हैं।"

इस विषय में मैं यहाँ स्पष्टीकरण करना उचित समझती हूँ कि—इस प्रांत में कुएं का जल काम में कम लेने से प्रायः वह सड़ जाता है, तमाम कीड़े उसमें पड़ जाते हैं अतः लोगों ने जगह-जगह कुएँ बंद करा दिये हैं। इधर प्रांत में जगह-जगह हैण्ड पम्प लगे हुए हैं अतः मैंने सुना है कि आचार्यश्री नमिसागर मुनिराज, जो कि चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के ही शिष्य थे, उन्होंने भी हैण्डपम्प को शुद्ध समझकर उसका जल आहार में लिया है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने भी आहार में लिया है। आचार्यश्री विद्यानंद जी भी हैण्ड पम्प का जल आहार में लेते हैं।

मैंने स्वयं हस्तिनापुर में हैण्ड पम्प लगते हुए देखा है। यहाँ ३-४ घण्टों में ही हैण्डपम्प लग गया और धरती से शुद्ध पानी निकल आया। यहाँ मोतीचन्द जी ने भी एक हैण्डपम्प में 'जीवानी' डालने का साधन बना रखा था। इस इलाके में मवाना, मेरठ आदि में भी कई मंदिरों में हैण्ड पम्प के जल से मंदिर में भगवान का अभिषेक किया जाता है अतः मेरी समझ में भी यह हैण्ड पम्प का जल अशुद्ध नहीं है। मैंने भी इन दिनों कमण्डलु में यह जल लेना शुरू कर दिया है।

एक बार सन् १९७५ में मेरठ में आचार्यश्री धर्मसागर जी के समक्ष अनेक श्रावकों ने यह विषय रखा था तब आचार्यश्री स्वयं बोले थे कि यह जल शुद्ध है, इसमें कोई दोष नहीं है किन्तु संघ के एक-दो साधु को इष्ट न होने से उन्होंने आहार में खुला नहीं किया था। उनकी आज्ञा से ही मैंने कमण्डलु में लेने के लिए खुला किया था।

इससे पूर्व तो मैं इतनी कड़ी थी कि—

"टिकैतनगर में पिता ने घर में हैण्ड पम्प लगवाया था। वे चाहते थे कि माता मोहिनी जी दो प्रतिमा के व्रतों को धारण करने के बाद वह जल पियें। उन्होंने मेरे पास पत्र लिखकर आज्ञा मांगी थी किन्तु मैंने मना कर दिया था। इस पर पिता ने कई बार माँ पर गुस्सा भी किया था किन्तु वे दृढ़ रही थीं। इधर कई वर्षों से पं. रतनचंद मुख्त्यार आदि सप्तम प्रतिमाधारी भी इसका पानी भोजन में लेते रहे हैं अतः अब तो मैंने अपने संघस्थ ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों के लिए यह जल खुला कर दिया है। चूँकि मैं समझती हूँ कि शुद्धि-अशुद्धि की व्यवस्था देखनी चाहिए, 'लकीर के फकीर' बने रहने में कोई सार नहीं है।

सम्यग्ज्ञान रूपरेखा —

मैं सन् १९७४ में गाँधीनगर में ठहरी हुई थी। इसके पूर्व कई बार मोतीचन्द ने यह भाव व्यक्त किये थे कि—

"माताजी! आपका उपदेशरूप ज्ञानामृत हम जन-जन में पहुँचाये, ऐसी इच्छा है अतः एक 'मासिक पत्रिका' निकालना चाहते हैं।"

यह चर्चा चलती रहती थी कि समाचार पत्रिकाएँ तो बहुत हैं। यह पत्रिका ऐसी हो, जिसमें स्वाध्याय के लिए उपयोगी विषय हो, जैन धर्म को समझाने के विषय हों। हां! समाचार भी निर्विवाद ऐसे संक्षेप में चार-

पांच पेज में दिये जायें तो चलेगा। ऊहापोह चलता रहा। रवीन्द्रकुमार ने 'सम्यग्ज्ञान' नाम का सुझाव दिया। मुझे अच्छा लगा और मैंने यही नामकरण कर दिया।

विषय विभाजन में मैंने सोचा—

"अपने यहाँ शास्त्रों में चार अनुयोग हैं। इन चार में ही सारा जैन वाङ्मय का रहस्य आ जाता है। फिर भी पुराने लोग पुराण चरित ग्रंथों में रुचि रखते थे, साथ ही श्रावकाचारों को भी शास्त्र की गद्दी पर पढ़ते थे किन्तु आजकल के प्रबुद्ध लोग तो कानजी पंथ की हवा चलने से मात्र समयसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि के सिवाय कोई ग्रंथ उठाकर देखना भी नहीं चाहते हैं। प्रायः चार अनुयोगों की तरफ सामान्य लोगों का लक्ष्य नहीं है अतः चार अनुयोगों के चार स्थायी स्तम्भ बनाये जायें पुनः महिलाओं और बालकों के लिए भी सामग्री अवश्य चाहिए।"

इस पर भी सोचकर मैंने 'नारी जगत' और 'बाल जगत' ये दो स्थायी स्तम्भ निश्चित कर दिये।

मोतीचंद का कहना था कि—

"इसमें हम आपके ही लिखे छहों स्तम्भ के लेख रखेंगे।"

वैसी ही रूपरेखा बनाई गई। मैंने 'सम्यग्ज्ञान' प्रथम अंक के लिए उपर्युक्त चिंतन के अनुसार छह लेख तैयार किये और भी कुछ फुटकर सामग्री जैसे कि 'ध्यान दीजिये, 'याद कर लीजिये' आदि भी तैयार की। मोतीचंद ने 'पत्रिका' के नाम आदि को रजिस्टर्ड कराने की जिम्मेवारी कैलाशचंद जैन करोलबाग वालों पर डाली, चूंकि संस्थान के विधान का रजिस्ट्रेशन भी इन्होंने ही कराया था।

इन सब व्यवस्थाओं के हो जाने के बाद मेरे अति निकटस्थ भक्त डा. कैलाशचंद राजा टॉयज आये और कहने लगे—

"मोतीचन्द! तुम कतई पत्रिका निकालने में समर्थ नहीं हो सकोगे। यह बच्चों का खेल नहीं है। बस एक-दो अंक निकालकर फेल हो जावोगे। पत्रिका चलाना तुम्हारे वश की बात नहीं है। बहुत कठिन है.....।" इस प्रकार उन्होंने मानों उत्साहवर्धन करने वाली चुनौती दी।

इस प्रकार से बहुत कुछ बोलने लगे। खैर! मोतीचंद ने साहस नहीं छोड़ा और बोले—

"माताजी के शुभाशीर्वाद से मैं कतई फेल नहीं हो सकता। पत्रिका निकलेगी और चलेगी, समाज में ज्ञानवर्धन की ठोस सामग्री देगी। यह सामाजिक विवादों से बिल्कुल दूर रहेगी।....." अनंतर प्रथम अंक छपाया गया।

'वीरशासन जयंती' श्रावण कृष्णा एकम् की तिथि उस पर डाली गई। चूंकि यह महत्वपूर्ण दिवस है। युग की आदि भी इसी तिथि से होती है और महावीर भगवान की प्रथम देशना भी इसी दिन खिरी थी अतः मैंने यह मंगल दिवस ही इसका प्रारंभ दिवस रखा।

दिल्ली में दिगम्बर जैन नया मंदिर धर्मपुरा में कोई कार्यक्रम था, वहाँ पर आचार्यश्री धर्मसागर जी और मुनिश्री विद्यानंद जी भी पहुँचने वाले थे। मंदिर के कार्यकर्ताओं से स्वीकृति लेकर मोतीचन्द ने इस सम्यग्ज्ञान पत्रिका के विमोचन के लिए आचार्यश्री से आज्ञा लेकर छोटा सा पंप्लेट छपा दिया। इसी मध्य कुछ महानुभाव आये, बोले—

"आपकी पत्रिका का विमोचन वहाँ मंदिर में नहीं हो सकेगा, चूंकि मुनिश्री विद्यानंदजी ने मनाकर दिया है।"

मोतीचन्द चिंतित हुए। मैंने कहा—

"आप तो आचार्यश्री के करकमलों से उनके पास लाल मंदिर स्थान पर ही जाकर विमोचन करा लो। बस! कार्य हो जावेगा, चिंता क्यों करते हो?"

मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार दोनों ही इसके संपादक थे। दोनों ही पत्रिका लेकर लालमंदिर में आचार्य श्री धर्मसागर जी के पास पहुँचे और उनके करकमलों से विमोचन करा लिया। उस समय मुनिश्री ने रोका था किन्तु बाद में वे भी इस पत्रिका की प्रशंसा करते रहे हैं।

खैर! मोतीचन्द ने सोचा—

"यह क्या? 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' इस कहावत के अनुसार पहले ही अमंगल हो गया।"

किन्तु आज वे स्वयं कहा करते हैं—

"माताजी! आपके दीक्षित जीवन के छत्तीस वर्ष में से पूरे बीस वर्ष तो मैंने देखे हैं। आपके प्रत्येक कार्य में प्रायः विघ्न-बाधाएँ अवश्य आती हैं किन्तु आप संघर्षों को झेलते हुए आगे बढ़ती रहती हैं, अतः विघ्न-बाधाएँ आपका कुछ बिगाड़ नहीं पाती हैं। संघर्षों से जूझना ही आपका जीवन रहा है।"

मुझे खुशी है कि आज यह सम्यग्ज्ञान पत्रिका अपने तेरह वर्ष[१] पूर्ण कर चौदहवें वर्ष में चल रही है।

रवीन्द्र कुमार कहा करते हैं—

"माताजी! इन तेरह वर्षों में मैंने करीब पाँच लाख से अधिक पत्रिकाएँ प्रकाशित की है। जिन्हें लगभग पचास लाख लोगों ने तो पढ़ा ही होगा।.....यदि किसी कारण वश पत्रिका दो-चार दिन विलंब से निकलती है तो पाठकों के पत्रों का ढेर लग जाता है। लोग कितनी रुचि से इस पत्रिका की प्रतीक्षा करते रहते हैं सो उनके पत्रों से पता चलता है।"

इस पत्रिका में शुद्ध धार्मिक लेख ही रहते हैं जो कि शास्त्रों से संबंधित होते हैं। मनगढ़ंत कथाओं को और समाज के विवाद के विषयों को इसमें स्थान नहीं दिया जाता है। यही कारण है कि यह पत्रिका प्रत्येक मुनि, आर्यिकाओं और आचार्यों को भी प्रिय लगती है। वे भी इसे रुचि से पढ़ते हैं।

मॉडल रचना —

जम्बूद्वीप का ८×८ फुट का मॉडल बनकर आ चुका था। इसमें देवभवन, चैत्यालय, सुन्दर-सुन्दर डिजाइन के बनवाने थे। मोतीचंद ने कई एक कारीगर-बढ़ई बुलाये, कुछ नमूने भी बनवाये किन्तु मुझे अच्छे नहीं लगे। दिल्ली में मोतीचन्द का विशेष परिचय न होने से सनावद से पेंटर बालकृष्ण को बुलाया, जो मंदिर में चित्रकला तो बनाता ही था बहुत सुन्दर झांकियाँ भी बनाता था अतः उसने आकर इस जम्बूद्वीप मॉडल में यथास्थान देवभवनों की अच्छी-अच्छी छिजाइनें मेरे अभिप्राय के अनुसार कागज पर बनाकर दिखायीं, मुझे संतोष होने से मोतीचन्द ने उसी अपने चित्रकार से लकड़ी के देवभवन, चैत्यालय, तोरणद्वार, गोमुख, कमल आदि बनवा लिये। उसी से उन्होंने सुन्दर रंग भी करवा लिया। तब वह मॉडल इतना सुन्दर बन गया कि दर्शकजनों का मन हरने लगा। वह मॉडल दिल्ली में नमिसागर औषधालय कूचासेठ के ऊपर एक कमरे में रखा गया था। बाद में वह हस्तिनापुर लाया गया। उसे रखने के लिए बड़े मंदिर में एक कमरा बनाकर उसमें रखा गया। सन् १९७५ की प्रतिष्ठा के समय आचार्यश्री धर्मसागर जी और उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंद जी आदि विशाल चतुर्विध संघ के सानिध्य में उस मॉडल के कमरे का अनावरण कर उद्घाटन कराया गया था। अनंतर वही मॉडल जम्बूद्वीप रचना बनने तक यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर प्रवेश करते ही एक कमरे में रखा गया था। जिसे लाखों लोगों ने देखा है।

सन् १९८७ में यह मॉडल सनावद आदि के लोगों की प्रेरणा से सिद्धवरकूट क्षेत्र पर श्रीमती मैनाबाई महेश्वर के सौजन्य से रखा दिया गया है।

सन् ७४ में ही इस भव्य मॉडल को देख-देख कर कई बार मेरे मन में यह भावना जागृत हुई थी कि—

---

१. सन् १९८७ में यह प्रकरण लिखा गया है।

"भगवान् ! किसी न किसी दिन ऐसे भव्य आकर्षक जम्बूद्वीप मॉडल को एक गाड़ी में रखकर सारे भारत में इसका भ्रमण कराया जाये और जन-जन को अपनी निवास स्थली—जन्मभूमि का परिचय कराया जाये। साथ ही भगवान् महावीर के अहिंसामयी उपदेश का जैनेतर लोगों में खूब प्रचार किया जाये।"

मेरी यह भावना सफल हुई जबकि सन् १९८२ में 'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति' नाम से पुनः एक आकर्षक जम्बूद्वीप के मॉडल को बनवाया गया और दिल्ली के लालकिला मैदान से ४ जून १९८२ को भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी के करकमलों से उसके प्रवर्तन का शुभारंभ कराया गया। वह 'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति' सारे भारत में लगभग तीन वर्ष घूमी है पुनः २८ अप्रैल १९८५ को यहाँ हस्तिनापुर में ही उसका समापन हुआ। उसी दिन यहां केन्द्र के तत्कालीन रक्षामंत्री पी.वी. नरसिंहाराव ने उस 'ज्ञानज्योति' की अखंड स्थापना की है जो कि यहाँ जलती हुई दर्शकों को ज्ञान रोशनी दे रही है। वह जम्बूद्वीप मॉडल भी फिलहाल यहां त्रिमूर्ति मंदिर में ही एक तरफ रखा हुआ है।

ग्रन्थों के मुख पृष्ठ के चित्र —

सनावद के पेंटर बालकृष्ण से अष्टसहस्री कवर का भव्य चित्र बनवाया गया, जिसमें सर्वप्रथम आचार्यश्री उमास्वामी जी तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण 'मोक्षमार्गस्यनेतारं" आदि लिख रहे हैं पुनः आचार्यश्री समंतभद्र महामुनि "देवागमनभोयान" को प्रारंभ कर देवागम स्तोत्र लिख रहे हैं। उसके बाद श्री अकलंकदेव सूरि 'अष्टशती' भाष्य लिख रहे हैं। इसके बाद श्री विद्यानंद आचार्य देव 'अष्टसहस्री' लिख रहे हैं। यह कवर चित्र ग्रंथ की विशेषता को प्रकट करने वाला इतना आकर्षक बन गया कि सभी को बहुत ही प्रिय लगा। ऐसे ही "भगवान महावीर कैसे बने?" इस पुस्तक का कवर चित्र बनवाया। इसमें भी भगवान महावीर का बाल्यावस्था में सर्प के साथ क्रीड़ा का चित्र है, पुनः उनके ध्यान का चित्र बनाकर ऊपर कमलासन पर विराजमान भगवान का अर्हंत अवस्था का चित्र है। यह भी अतीव आकर्षक रहा है।

ऐसे ही ऐतिहासिक तीर्थ हस्तिनापुर के कवर का चित्र, बाल विकास के कवर का चित्र आदि अनेक सुन्दर चित्र बनवाये, जिससे 'वीरज्ञानोदय ग्रंथमाला' से प्रकाशित ग्रन्थ और पुस्तकें आबालगोपाल में तो प्रिय बनी ही हैं, प्रबुद्ध जनों ने एवं साधु-साध्वियों ने भी प्रशंसा की है।

कार्य व्यस्तता —

मैं ग्रंथ लेखन के कार्य में लगी रहती थी। श्रावकों के आग्रह से प्रातः एक घंटा उपदेश भी सुना दिया करती थी। दिल्ली में उपदेश के मेरे अनेक टेप कैसेट भी मोतीचंद ने और डा. कैलाशचंद जी ने बनाये थे।

इधर निर्वाणोत्सव के प्रसंग में आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज, उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंदजी आदि के सानिध्य में अनेक परामर्श होते रहते थे। इन सबमें आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज की आज्ञा से मुझे भी बैठना पड़ता था। अनेक बार तेरहपंथी, स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के भी साधु-साध्वियों के साथ परामर्श में, मीटिंगों में मैं भाग लेती रहती थी। प्रायः सभी प्रसंगों में आचार्यश्री और मुनि श्री विद्यानंद जी मुझे बुला लेते थे।

मेरी स्मृतियाँ

पंचम खण्ड

£ ६३ ¤

हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र का दर्शन —

भगवान शान्तिनाथ की जन्मभूमि पावन हस्तिनापुरी के वन्दन की अभिलाषा मन में जागृत हुई। संघ में स्थित आर्यिका आदिमती, श्रेष्ठमती और रत्नमती माताजी से परामर्श करके यात्रा की रूपरेखा बनाई। मुनिश्री संभवसागर जी और वर्धमान सागर जी से भी बातचीत की। उस समय मेरे संघ में आर्यिका यशोमती और संयममती भी थीं। दो मुनि और हम छह आर्यिकाएं वहां से विहार करने को तैयार हुए। इसी बीच मैंने एक दिन दरियागंज के लाला उल्फतराय को बुलाकर क्षेत्र के बारे में जानकारी प्राप्त की और यह भी पूछा—

"वहाँ हस्तिनापुर क्षेत्र पर मैं जंबूद्वीप रचना का निर्माण कराना चाहती हूँ। क्या वहाँ सुलभता से जगह उपलब्ध हो सकेगी?" ये उल्फतराय जी आचार्य धर्मसागर जी के संघ के दर्शनार्थ टोंक में आये थे, इनके साथ लाला श्यामलाल जी ठेकेदार भी थे। तभी से हमें इनका परिचय था तथा वर्तमान में ये इस हस्तिनापुर क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष भी थे अतः मैंने महताबसिंह जी जौहरी के कहने से इन्हें बुलाकर पूछा था।

इन्होंने कहा—"माताजी! आप हस्तिनापुर पधारें, मैं स्वयं वहाँ आऊँगा और आपके मंगल कार्य में जितना हो सकेगा, उतना सहयोग भी करूँगा।"

मैंने फाल्गुन में विहार किया। शाहदरा, जैनावॉच फैक्ट्री, गाजियाबाद, मोदीनगर, मेरठ और मवाना होते हुए हस्तिनापुर पहुँच गई। साथ में ब्रह्मचारिणी छुहाराबाई जी, ब्रह्मचारी मोतीचंद जी, कु. सुशीला, शीला और कला थीं। यहाँ क्षेत्र पर आकर भगवान शांतिनाथ के दर्शन किये। मन गद्‌गद हो गया। क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा देखी, पुनः यहाँ मंदिर से उत्तर की ओर पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी नशिया के दर्शन किये। भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान, इन चार-चार कल्याणकों से पवित्र भूमि की वंदना कर बहुत आनन्द हुआ, किन्तु इन नशियाओं पर 'चरण' नहीं विराजमान थे, प्रत्युत् साथिया बनी हुई थीं। सो बिना चरण के साथिया की वंदना करने में कुछ संतोष नहीं हुआ। मैंने यह बात यहाँ के महामंत्री सुकुमारचंद को कही, तब उन्होंने कहा—

"आगे मीटिंग में विचार कर हम चरण स्थापना करायेंगे।" अस्तु। आचार्य श्री धर्मसागर जी भी यहाँ सन् १९७५ में आये थे, उन्होंने भी प्रेरणा दी किन्तु यहाँ चरण स्थापित नहीं हो सके थे। आचार्यश्री दूसरी बार वंदना करने ही नहीं गये, बोले—

"बिना चरण के किनकी वंदना करना?"

पुनः सन् १९८५ में यहाँ नशिया पर चरण विराजमान किये गये हैं, देखकर आज प्रसन्नता हो रही है।

उस समय फाल्गुन की आष्टाह्निका में मुनिश्री संभवसागर जी ने आठ उपवास किये। भक्ति में गद्‌गद मेरठ के जयचंद जी, जयकुमार जी और मवाना के बूलचंद जी आदि भी यहाँ ८-१० दिन रहकर चौका करके मुनि-आर्यिकाओं को आहारदान देने का और उनकी वैयावृत्ति का लाभ ले रहे थे।

यहीं बड़े मंदिर की मूलवेदी में संघ के भगवान् शांतिनाथ जी की प्रतिमा जी विराजमान की गयी थीं। प्रतिदिन ब्र. सुशीला, शीला आदि उनका पंचामृत अभिषेक करती थीं। सभी लोग प्रेम से देखते थे। इधर से मेरठ, मवाना के श्रावक और यहाँ के प्रमुख ब्रह्मचारी हुकमचंद जी (सलावा वाले) तथा ब्र. सुशीला जी आदि सभी प्रसन्नचित्त थे।

हस्तिनापुर में जंबूद्वीप निर्माण की रूपरेखा —

मेरी चर्चा जंबूद्वीप निर्माण के बारे में चल रही थी। चैत्र कृ. एकम के दिन यहाँ पर मेला होता है। तब

रथयात्रा पीछे पांडुकशिला के पास गई, वहाँ पर उपस्थित जन-समुदाय के मध्य सुकुमारचन्द आदि की प्रेरणा से मोतीचंद ने रेकसीन पर बना हुआ बड़ा सा 'जंबूद्वीप' का नक्शा फैलाकर दिखाया। सभी लोग बहुत प्रभावित हुए। सबने एक स्वर में कहा कि—

"यह अपूर्व रचना यहीं हस्तिनापुर पावन तीर्थ पर ही बननी चाहिए।"

इसी मध्य महामंत्री सुकुमारचंद जी ने मुझे उसी पांडुकशिला के पास में विस्तृत जगह दिखायी। वहाँ बीच में भगवान महावीर के जलमंदिर का शिलान्यास होने वाला था अतः इन लोगों का कहना था कि—

"आप जंबूद्वीप के लिए जगह का चयन पहले कर लें पुनः शिलान्यास कराया जाये।'

किसी समय मैं अध्यक्ष उल्फतराय जी से कुछ परामर्श कर रही थी। तब उन्होंने कहा—

"माताजी! आप अपनी रचना के लिए क्षेत्र की जगह कतई नहीं लेना। कमेटी के अध्यक्ष के नाते नहीं, प्रत्युत् आपके चिर-परिचित भक्त के नाते यह परामर्श दे रहा हूँ। वास्तव में इस कमेटी में पुराने विचारों के साधु-साध्वियों के प्रति आस्थावान् बहुत कम लोग हैं बल्कि आधुनिक विचारों से प्रभावित अधिकतम लोग हैं अतः आप अपनी कमेटी के माध्यम से स्वतंत्र ही जगह खरीद कराकर जंबूद्वीप निर्माण कार्य कराना।"

यह राय उन्होंने कई बार दी अतः मैंने क्षेत्र के पदाधिकारियों की बार-बार प्रेरणा होने पर भी—

"दिल्ली जाकर आगे विचार करके निर्णय करूँगी।"

ऐसा कहकर यहाँ से—हस्तिनापुर से विहार कर दिया। मेरठ ४-५ दिन ठहरी, वहाँ पर भी सदर में ढोलकी मोहल्ले की धर्मशाला में मेरे सानिध्य में कई महानुभाव आकर इस निर्माण संबंधी चर्चाओं को किया करते थे।

मोतीचंद आदि ने आर्चीटेक्ट से निर्णय करके सुमेरु पर्वत का लगभग ढाई लाख का इस्टीमेंट बनाया था और उसमें मैंने ऐसा कहा था कि—

"सुमेरु पर्वत के सोलह चैत्यालयों में से प्रत्येक के यदि पन्द्रह-पन्द्रह हजार के दातार हो जाते हैं, तो सुमेरु पर्वत बन जावेगा।"

इसी बात को लेकर मेरठ के जयकुमार सर्राफ और उनके सुपुत्र मूलचंद ने एक चैत्यालय की स्वीकृति दे दी। सभी को प्रसन्नता हुई। इससे पूर्व सर्वप्रथम मोतीचंद ने पच्चीस हजार का दान दिया था, अतः प्रथम चैत्यालय उनका और द्वितीय चैत्यालय इन जयकुमार जी का निश्चित किया गया था।

दिल्ली के लिए विहार द्रुतगति से —

मेरठ में सहसा समाचार मिला कि—

"आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज ससंघ दिल्ली के निकट आ चुके हैं वे चार-पांच दिन में दिल्ली पहुँचने वाले हैं।"

मैंने निर्णय किया—"अपने को दोनों टाइम चलकर आचार्यश्री के शहर के प्रवेश के समय पहुंच जाना है।"

मेरठ से विहार कर दिया। आर्यिका रत्नमती माताजी को दोनों टाइम चलने से पैरों में जंघा तक बहुत ही दर्द होता। वे जैसे-तैसे उठते-बैठते बड़ी मुश्किल से पैदल चलकर दिल्ली पहुँचीं। उस समय उनके पैरों में सूजन आ गई थी। फिर भी मैं गुरु-भक्ति में ऐसी बेभान थी कि मैंने उनकी कुछ परवाह ही नहीं की। उनके मन में भी दीक्षागुरु के दर्शन की, संघ में मिलने की तीव्र उत्कंठा थी, अतः वे भी खुश थीं।

दिल्ली में पहाड़गंज के निकट मुनि संभवसागर जी और वर्धमान सागर जी तथा हम छहों आर्यिकाएँ आचार्यश्री के दर्शन करने पहुँच गये। सन् १९७१ में मैंने आचार्यश्री का संघ छोड़ा था और अब तीन वर्ष बाद दर्शन करके बहुत ही प्रसन्नता हुई। यहाँ संघ को लालमंदिर में ठहराया गया। 'दिगम्बर जैन अतिथि भवन'

अर्थात् कम्मोजी की धर्मशाला में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ससंघ विराज रहे थे।

जब दोनों संघ के आचार्य और उनके पीछे-पीछे सर्व मुनि-आर्यिकाएँ कूचा सेठ के बड़े मंदिर से आहार को निकलते थे, तब वह दृश्य देखते ही बनता था।

मैं यहाँ नमिसागर औषधालय के ऊपर त्यागी भवन में ठहरी हुई थी। यहीं पर 'जंबूद्वीप मॉडल' बनकर तैयार होकर आ चुका था। मैं निर्वाणोत्सव के लिए उपयोगी पुस्तिकाओं को भी लिखने में लगी थी।

हस्तिनापुर क्षेत्र पर पुनरागमन —

एक दिन 'जैन त्रिलोक शोध संस्थान' के खास-खास सदस्यों को बुलाकर हस्तिनापुर में जंबूद्वीप रचना का निर्माण कार्य कराने हेतु जगह के बारे में विचार किया। लाला श्यामलाल जी, डॉ. कैलाशचंद जी, वैद्य शांतिप्रसाद जी, कैलाशचंद जी (करोलबाग वाले) आदि महानुभावों का एक स्वर से यही कहना रहा कि—

"वहाँ क्षेत्र पर भी क्षेत्र वालों की जगह न लेकर अलग ही कोई जगह खरीदकर जंबूद्वीप बनाना उचित होगा।"

पुनः संस्थान के लोगों की प्रार्थना से मैंने वैशाख मास में हस्तिनापुर विहार करने का विचार बनाया। अस्वस्थ अवस्था में भी आर्यिका श्री रत्नमती जी को आचार्यश्री धर्मसागर जी के संघ में छोड़ा और मैं यशोमती आर्यिका को साथ लेकर विहार करने को तैयार हुई। यद्यपि शाम को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी से आशीर्वाद लेकर आ चुकी थी। फिर भी प्रातःकाल साढ़े पाँच बजे भगवान का दर्शन कर कम्मोजी की धर्मशाला में आई। वहाँ पता चला कि आचार्यश्री शौच के लिए बाहर गये हुए हैं। लगभग एक घंटा भी लग सकता है। मैं कुछ देर ठहरी रही, पुनः श्रावक लोग आकुलता करने लगे और कहने लगे-

"माताजी! गर्मी का दिन है। आगे चलकर आहार करने में आपको तकलीफ होगी अतः अब चलो, आपने शाम को तो गुरुदेव से आशीर्वाद ले ही लिया था।"

मैं उठी और णमोकार मंत्र का जाप कर परोक्ष में ही गुरु को नमस्कार कर बाहर सड़क पर आई कि इसी समय सामने से आते हुए गुरुदेव आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के दर्शन हो गये। मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। आगे बढ़कर गुरुदेव को नमोऽस्तु कर उनके चरण छुए। आचार्य श्री ने भी आशीर्वाद देते हुए मेरे मस्तक पर पिच्छिका रख दी। गुरु का आशीर्वाद पाकर मैं सोचने लगी, ग्रंथों में लिखा है—मार्ग में सामने से यतीश्वर को आते हुए देखकर युद्ध के लिए प्रयाण-करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

आरुरोह रथं पार्थ! गांडीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदनीं मन्ये, निर्ग्रंथो यतिरग्रतः।।

हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जाओ और गांडीव धनुष को धारण कर लो। मैं इस पृथ्वी को जीती हुई ही समझ रहा हूँ, चूँकि सामने निर्ग्रन्थ यति दिख रहे हैं।

इस सूक्ति को याद कर मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मेरा यह हस्तिनापुर का विहार बहुत ही उत्तम है, कार्य की सफलता की सूचना दे रहा है। वह दिन वैशाख शुक्ला पूर्णिमा का था। मैं वहाँ से चलकर शाहदरा, जैनावाच फैक्ट्री, गाजियाबाद, मोदीनगर, मेरठ, मवाना होते हुए ज्येष्ठ कृ. तेरस को हस्तिनापुर आ गई। यहाँ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी को भगवान् शान्तिनाथ का मोक्षकल्याणक होने से निर्वाण-दिवस का छोटा-मोटा मेला लगता है।

जंबूद्वीप निर्माण हेतु स्थल —

मैं यहाँ पर बड़े मंदिर जी के परिसर में ही एक कमरे में ठहरी थी। उस समय मेरे साथ एक आर्यिका थीं, ब्र. छुहाराबाई और ब्र. शीलाबाई ये दो बाइयां थीं, श्री मोतीचंद थे। यहाँ संघ के चैत्यालय की प्रतिमा जी

मंदिर जी में ही विराजमान थीं। मोतीचंद जी, आत्माराम मैनेजर तथा मंदिर के अन्य पदाधिकारीगण और मवाना के लाला बूलचंद जी, लखमीचंद जी आदि का सहयोग लेते हुए जंबूद्वीप के लिए कोई खेत क्रय कराना चाहते थे।

मंदिर से लगभग एक फर्लांग दूर मंदिर के बगीचे से लगे हुए खेतों की तरफ ही मेरी दृष्टि थी, चूंकि इधर से ही नशिया के दर्शन के लिए श्रावक लोग जाते हैं। यहाँ पर श्री महेशचंद, जो कि डिप्टी साहब कहलाते हैं, वे भी इस पुनीत कार्य में सब प्रकार से सहयोग दे रहे थे। उनकी धर्मपत्नी कुसुमलता भी मेरी पास बैठकर इस विषय पर चर्चा किया करती थीं। बल्कि कई बार मेरे साथ इधर बगीचे की तरफ आ जाती थीं। ब्र. सुशीला जी आदि महिलाएँ भी खूब रुचि दिखाती थीं।

इधर एक बुद्धू चमार का खेत था, उसका सौदा चल रहा था। इसके पूर्व मोतीचंद, लाला बूलचंद जी आदि के साथ कई एक खेत और स्थान देख चुके थे। आषाढ़ वदी में प्रायः बुद्धू के खेत का सौदा तय हो गया था, बैनामा होने वाला था कि अकस्मात् उसकी पत्नी ने मना कर दिया।

मुझे दिल्ली विहार के लिए भी आकुलता हो रही थी। चूंकि सन् १९७४ के इस निर्वाणोत्सव के चातुर्मास में मैंने दिल्ली वालों को दिल्ली के चातुर्मास का आश्वासन दे रखा था और दिल्ली में दोनों आचार्य संघ तथा मुनिश्री विद्यानंद जी महाराज भी विराज रहे थे, उन सभी का भी आग्रह दिल्ली चातुर्मास के लिए ही था। इधर मेरा स्वास्थ्य कमजोर था। इस आषाढ़ की गर्मी में दिल्ली पहुँचने के लिए कम से कम पन्द्रह दिन तो मैं चाहती थी।

इस समय श्री बूलचंद जी (मवाना वालों) ने आकर निवेदन किया और पं. हुकमचंद ने भी कहा—

"माताजी! आप यहीं चातुर्मास कर लीजिये।"

जब मैंने सर्वथा अस्वीकृत कर दिया, तब लाला बूलचंद जी बोले—

"माताजी! तब तो आप विहार कीजिये। मैं जगह को खरीदने की जिम्मेदारी लेता हूँ।"

मैंने भी सोचा—"ठीक है।"

प्रथम जंबूद्वीप विधान की रचना —

उसी दिन रात्रि में सामायिक के बाद मैं एक जंबूद्वीप की पूजा बनाने बैठ गई। रात्रि के एक-दो बजे तक पूजा बनाकर अठत्तर चैत्यालयों के अठत्तर अर्घ बनाये पुनः सो गई। प्रातः ४ बजे उठकर सामायिक आदि से निवृत्त होकर पुनः कुछ पूर्णार्घ बनाये और जयमाला बनाई। पूजा पूर्ण कर रही थी कि मोतीचंद ने आकर कहा—

"माताजी! बुद्धू की जगह के पास ही सड़क से लगा हुआ एक छोटा सा खेत दूसरे व्यक्ति का है। उससे मैंने सौदा तय कर लिया है। वह आज ही बैनामा कराने को कह रहा है।

"मैंने प्रसन्नता से स्वीकृति दे दी।"

इसके बाद नौ बजे के समय मैं आहार को महेशचंद जी के यहाँ गई थी, वहीं पर मोतीचंद आहार दे रहे थे। तब श्री सुकुमार चंद जी ने उन्हें बुलाया और कहा—

"मोतीचंद जी! मैंने उस खेत वाले किसान को बयाना में सौ रुपये दे दिये हैं। तुम्हारी जंबूद्वीप रचना के लिए जगह का सौदा पक्का हो गया है।"

सुनकर खुशी हुई, पुनः अगले दिन प्रातः मवाना कचहरी में जाकर मोतीचंद ने बैनामा करा लिया और उसी दिन मैंने निर्णय किया कि—

"कल आषाढ़ शुक्ला तीज, दि. २२-६-७४ को सुदर्शन मेरु का शिलान्यास कराकर मैं विहार करूँगी।"

बैनामा कराने के लिए जाते समय सौ. कुसुमलता जैन ने बहुत ही सद्भावना से १००१ रुपये लाकर मोतीचंद के हाथ में दे दिये थे, पुनः बाद में बोलीं—

"मैंने शुभ-शकुन के लिए यह तुच्छ राशि इस मंगल प्रसंग में भेंट की।'

सुदर्शन मेरु का शिलान्यास —

उसी दिन छोटा सा पंप्लेट छपवाया गया। मेरठ के श्री जयकुमार जैन सर्राफ और उनकी पत्नी तथा पुत्रों ने पूर्ण रूचि ली। इन्हें शिलान्यास के लिए प्राथमिकता दी गई। ये मेरठ से बस भी लाये और मंगल वातावरण में शिलान्यास विधि सम्पन्न हुई। उस समय नींव की दस फुट गहरी खुदाई में नीचे धरती से पानी आ गया था। वहाँ ही चौकी रखाकर मैं खड़ी हो गई। मोतीचंद ने और कु. शीला ने शिलान्यास के मंत्रों को पढ़कर पूर्ण विधि सम्पन्न की। इस समय आचार्य निर्मलसागर के शिष्य मुनि श्री शांतिसागर महाराज भी मौजूद थे।

दिल्ली की ओर विहार —

इसके बाद आहार करते ही मैं विहार करके टाउन में पहुँची और वहाँ से दिल्ली की तरफ प्रस्थान कर दिया। आस-पास के महलका, बड़ौत, सरधना आदि के श्रावकों का आग्रह विशेष होने से मैं इस मार्ग से निकली। दोनों टाइम चलती थीं। किसी गांव में विश्राम और किसी में आहार होता था। सात-आठ किलोमीटर से ज्यादा एक बार में चलना शक्य नहीं था। यह रास्ता दिल्ली तक लगभग नब्बे मील पड़ गया जो कि मुझे बहुत भारी पड़ा और मुझे खून के अतिसार (दस्त) होने लग गये। फिर भी मैं साहस कर आषाढ़ शुक्ला चौदश को प्रातः दिल्ली पहुँच गई और चातुर्मास का उपवास कर लिया।

यद्यपि मैं शास्त्र की आज्ञानुसार श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक भी चलकर-पहुँचकर वर्षायोग स्थापना कर सकती थी किन्तु शरीर के साथ खींचतान करके पुनः बीमार पड़ जाना यह मेरा एक स्वभाव सा बन गया था। अस्तु.....।"

£ ६४ ¤

वहाँ लाल मंदिर में आचार्यश्री धर्म सागरजी ने पूर्व रात्रि में ससंघ चातुर्मास स्थापित किया। साहू शांतिप्रसाद जी ने आचार्यश्री के समक्ष आकर चातुर्मास स्थापना के लिए निवेदन किया और फूलों के गुच्छे चढ़ाये।

सम्यग्ज्ञान पत्रिका का विमोचन —

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन 'वीर शासन जयन्ती' के पावन दिवस पर मेरे द्वारा चार अनुयोगों के लेखों से सुसज्जित 'सम्यग्ज्ञान' नामक मासिक पत्रिका का यहीं लाल- मंदिर में आचार्य श्री धर्मसागर जी के करकमलों से विमोचन हुआ, जो आज चौदहवें वर्ष में प्रवेश करते हुए सारे भारत में ही नहीं, विदेशों में भी सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार कर रहा है।

आचार्यश्री धर्मसागर जी का संघ दरियागंज में —

यहाँ लाल मंदिर में आचार्यश्री ने एक दिन दिल्ली की भीड़ व इस स्थान को लक्ष्य कर कहा—"माताजी! यहाँ खुला स्थान नहीं है।"

मैंने कहा—"महाराज जी! दरियागंज में बाल आश्रम में बहुत बड़ा चौक है, कमरे भी बहुत बड़े-बड़े हैं एवं आहार के समय जाते हुए सड़कें भी बहुत चौड़ी हैं, वह स्थान आपको जंचेगा।"

पुनः दरियागंज वाले लाला उल्फतराय जी को बुलाकर मैंने कहा—

"लाला जी! आचार्यश्री के संघ को दरियागंज ले चलना है।"

वे घबरा गये और तीन-चार बार मुझे समझाने आये कि—

"माताजी! दरियागंज में इतने बड़े संघ की व्यवस्था संभव ही नहीं है, आप कहीं आचार्य महाराज के सामने कह भी नहीं देना।"

फिर भी मैं उन्हें बार-बार बुलाकर समझाती रही। तब उन्होंने कहा—

"वहाँ शुद्ध जल का नियम लेने वाले श्रावक ना के बराबर हैं। वहाँ के बाबू पार्टी के लोग भला कौन शुद्ध जल का नियम लेंगे?"

मैंने कहा—"देखो! आचार्यश्री के प्रभाव से वहाँ बहुत लोग आहार देने वाले हो जावेंगे, आप चिंता मत करो।"

तब राय साहब उल्फतराय ने कहा—

"आप महाराजजी से निवेदन कर दीजिये कि वे अपने साथ सिर्फ दो मुनि को लेकर दरियागंज चलें।"

मैंने कहा—"यह संभव नहीं है! हां आपसे मैंने पहले ही कहा था कि आर्यिकाएँ सब यहीं रहेंगी, मुनिगण सभी वहाँ जायेंगे।"

राय साहब ने मंजूर किया, पुनः दरियागंज में चर्चा करके वहाँ के कतिपय महानुभावों को साथ लेकर आये और आचार्यश्री से निवेदन किया। महाराज जी से पहले ही मैंने प्रार्थना कर दी थी कि—

"आप मुनियों को साथ लेकर ही पधारें। पहले वहाँ पर व्यवस्था ठीक बने, फिर आर्यिकाओं को वहाँ आने की आज्ञा देना।"

आचार्यश्री संघ सहित दरियागंज पधारे, वहाँ पर उन्हें खुला वातावरण और खुला क्षेत्र मिला, तब वे बहुत ही संतुष्ट हुए। धीरे-धीरे वहाँ पर प्रबुद्ध लोगों ने भी आहार देना, चौका लगाना शुरू कर दिया पुनः आचार्यश्री की आज्ञा से उल्फतराय जी ने आर्यिकाओं को भी वहीं बुला लिया। मैं यहाँ त्यागी भवन में ही रही। प्रायः दूसरे-तीसरे दिन दर्शनार्थ चली जाया करती थी। एक दिन वहाँ के सेठ शांति लाल जी कागजी ने निवेदन किया।-

"माताजी! आप भी यहीं आ जाइये, हम लोग प्रातः आधा घण्टे आपका उपदेश सुनना चाहते हैं।"

आचार्यश्री की भाषा मारवाड़ी होने से लोगों को समझने में कभी कुछ कम आता था, अतः लोग मेरी अपेक्षा रखते थे। लोगों ने आचार्यश्री से आज्ञा लेकर प्रतिदिन मेरा उपदेश शुरू कर दिया। पहले मैं बोलती, उसके बाद आचार्यश्री उपदेश देते थे। लोगों में उपदेश सुनने का आकर्षण बढ़ रहा था। तभी एक दिन संघ में आकर एक विघ्न संतोषी व्यक्ति ने कहा—

"महाराज जी! क्या संघ के सब साधु-साध्वियां मूर्ख हैं, एक ज्ञानमती ही ज्ञानवान् हैं? मैं देख रहा हूँ चार-पांच दिन से, बस इनका ही उपदेश हो रहा है।"

आचार्यश्री बहुत ही सरल प्रकृत्ति के व्यक्ति थे, उन्होंने ऐसी बात सुनकर सहज ही कह दिया—

"ठीक है, कल से एक-एक आर्यिका और एक-एक मुनि का नम्बर रहेगा।"

उस समय संघ में मुनि अभिनन्दनसागर जी और आर्यिका जिनमती के सिवाय उपदेश की शैली प्रायः अन्य साधुओं में कम थी, कोई-कोई साधु-साध्वी तो मात्र उपदेश देने के अभ्यास के लिए ही बिठा दिये जाते थे। तब एक श्रावक ने आकर मुझसे कहा,"माताजी! यह क्या हुआ? यहाँ तो अच्छे वक्तव्य के धनी साधुओं को उपदेश के लिए बिठाना चाहिए। कुछ साधु तो ऐसा लगता है कि उपदेश देना सीख रहे हैं अतः सभा में लोगों की उपस्थिति तो घटती जा रही है।"

खैर! मैंने इसमें कोई रंज-गम नहीं किया, चूंकि मैं ऐसे प्रसंगों को सहने में अभ्यस्त थी।

इस घटना के पूर्व ही एक दिन पं. बाबूलाल वक्ता ने शास्त्र पढ़ते हुए आचार्यश्री के समक्ष सभा में

कह दिया—

"बिना समयसार के पढ़े सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता?"

आचार्यश्री ने बीच में ही टोक दिया-

"पंडित जी, ऐसा मत बोलो। सब अनुयोगों के स्वाध्याय से सम्यग्दर्शन हो सकता है। कहाँ लिखा है कि समयसार को पढ़े बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता?"

उस दिन से पं. बाबूलाल वक्ता सावधान होकर ही बोलते थे। उनके यहाँ भी चौका लगता था और वे स्वयं भी संघ के साधुओं को पड़गाहन कर आहारदान देते थे।

यहाँ दशलक्षण पर्व में सुभाष मैदान में बड़ा पांडाल बनाया गया था। प्रातः विद्यानंद जी महाराज प्रवचन करते थे। मध्यान्ह में आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज तत्त्वार्थसूत्र के एक-एक अध्याय का अर्थ सहित विवेचन करते थे और मैं एक-एक धर्म पर प्रतिदिन प्रवचन करती थी।

इस प्रकार दशलक्षण पर्व सानंद व्यतीत हुआ। इन्हीं दिनों यहाँ प्रायःहर सप्ताह ही निर्वाणोत्सव के मनाने के विषय में साधु वर्ग में सभायें होती रहती थीं। श्री विद्यानंद जी मुनिराज कई बार मुझे बुलाकर परामर्श करते थे। एक-दो बार मैंने आहार के उपरांत ऊपर चढ़ने में असमर्थता व्यक्त की तो मुनिश्री स्वयं नीचे आकर कमरे में बैठ गये और परामर्श का विषय शुरू कर दिया। उन दिनों मुनिश्री की सरलता और वात्सल्य भावना का ही यह परिणाम हुआ कि यह महोत्सव बहुत ही सफलता के साथ सम्पन्न हुआ था।

संगीति का आयोजन —

राष्ट्र संत विनोबा भावे की भावना के अनुसार ब्र. जिनेन्द्रप्रसाद वर्णी ने एक पुस्तक लिखी थी जिसका नाम 'समणसुत्तं' रखा गया। इसमें जैनधर्म के मूल-मूल सिद्धान्त आ जायें और इसे जैन धर्म के चारों सम्प्रदाय के साधु मान्य कर लेवें एवं आशीर्वाद दे देवें। इस उद्देश्य से यहाँ दरियागंज में सर्व साधुओं के समुदाय में एवं विद्वानों के समूह में एक गोष्ठी का आयोजन किया था। उसमें मैंने भी भाग लिया था और कई एक सुझाव दिये थे।

भगवान महावीर स्वामी की प्रतिमा —

दिगम्बा जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना निर्माण के लिए क्रय की गई भूमि पर स्थापित होने वाली श्वेत पाषाण की अति मनोज्ञ सवा नौ फुट उत्तुंग मूर्ति जयपुर (मकराना) से यहाँ हस्तिनापुर में २७-८-७४ को आ गई थीं। इस मूर्ति का न्यौछावर श्री संतोष कुमार जी जैन (ज्योति इम्पेक्स) दिल्ली वालों ने प्रदान किया था।

इस मूर्ति को पेटी में बंद ही यहाँ बड़े मंदिर के गुरुकुल में रखा दिया गया था।

जम्बूद्वीप केलेंडर —

भगवान महावीर के इस महामहोत्सव के अवसर पर अत्यन्त सुन्दर सात रंगों में छपाकर 'जम्बूद्वीप कैलेंडर' तैयार कराया गया। यह अपने आप में बहुत ही आकर्षक था।

ग्रन्थ प्रकाशन —

इधर अष्टसहस्री ग्रंथ का प्रथम भाग 'सम्राट प्रेस' पहाड़ीधीरज पर छप रहा था। कुछ अन्य पुस्तकें जैसे 'भगवान् महावीर कैसे बने?' आदि पुस्तकें कूचा सेठ में अन्य प्रेसों में छप रही थीं। मोतीचंद जी प्रातः काल से निकल कर इन दोनों प्रेस में जाते, प्रूफ आदि देखते और कागज, कवर आदि की व्यवस्था करते। शाम को शायद ही किसी दिन आकर भोजन कर पाते थे अन्यथा रात्रि में ही आ पाते थे।

£ ६५ ¤

अष्टसहस्री ग्रन्थ विमोचन —

२७ अक्टूबर १९७४ को अष्टसहस्री ग्रंथ के विमोचन समारोह का निर्णय लिया गया। मेरे पास रहने वाली ब्र. कु. शीला को यहाँ दिल्ली में नवम्बर में आर्यिका दीक्षा आचार्यश्री के करकमलों से दिलाना निश्चित हुआ। तब मैंने रवीन्द्र कुमार, मालती और शीला को बुन्देलखण्ड तथा दक्षिण की यात्रा करने के लिए भेज दिया अतः इन दिनों मोतीचंद अकेले पड़ गये। उधर पहाड़ीधीरज पर अष्टसहस्री छप रही थी। इधर साइकिल मार्केट के एक प्रेस में कुछ और पुस्तकें छप रही थीं। दिन भर दोनों जगह जाना पुनः अष्टसहस्री का कवर छपाकर बाइण्डिंग कराना, आदि कार्यों में मोतीचंद लगे हुए थे।

विमोचन समारोह दरियागंज बालाश्रम के प्रांगण में मनाया गया। आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज, आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज, ये उभय आचार्य अपने-अपने विशाल संघ सहित विराजमान थे। पूज्य विद्यानंद जी मुनि भी विराजमान थे। इनके अतिरिक्त मुनि श्री सुशील कुमार जी (स्थानकवासी श्वे.) तेरापंथी श्वेताम्बर आचार्य तुसलीगणी के शिष्यगण एवं श्वेताम्बरी साध्वी श्री विचक्षणा जी आदि भी यहाँ सभा में उपस्थित थे।

रविवार २७ अक्टूबर १९७४ को मध्यान्ह में विशाल सभा श्री जयसुखलाल जी हाथी की अध्यक्षता में रखी गई। मंगलाचरण पं. हीरालाल जी कौशल ने किया। डा. लालबहादुर जी शास्त्री ने एवं दिल्ली विश्वविद्यालय संस्कृत के विभागाध्यक्ष श्री सत्यव्रत जी शास्त्री ने अष्टसहस्री ग्रन्थ की महत्ता पर प्रकाश डाला। अध्यक्ष महोदय एवं उपराज्यपाल श्री कृष्णचंद का माल्यार्पण से स्वागत किया गया। ग्रंथमाला एवं ग्रंथ के संपादक श्री मोतीचंद ने संपादन की गतिविधि पर प्रकाश डाला। इसके बाद दिल्ली के उपराज्यपाल महामहिम श्री कृष्णचंद आई.सी.एस. ने हर्षपूर्ण वातावरण में अष्टसहस्री ग्रंथ का विमोचन किया, उस समय भगवान महावीर स्वामी के जयकारे से प्रांगण का मंडप गूँज उठा।

विमोचन के पश्चात् मैंने युगल आचार्यश्री के करकमलों में यह ग्रंथ समर्पित किया। साध्वी श्री विचक्षणा जी ने परम वात्सल्य भावना से ओतप्रोत होकर कहा कि —

"आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने ऐसे महान् ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करके नारी जगत् के मस्तक को ऊँचा उठाया है।"

मुनिश्री विद्यानंद जी ने एवं मुनिश्री सुशील कुमार जी ने उस ग्रंथ की उपयोगिता पर जोरदार प्रकाश डालते हुए बतलाया कि —

"न्याय ग्रंथों के पठन-पाठन से दृष्टि में निर्दोषता आती है।"

मैंने भी अपने वक्तव्य में अपनी लघुता व्यक्त करते हुए कहा कि —

"आज मुझे जो कुछ भी तुच्छ ज्ञान है, वह सब आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज, आर्यिका दीक्षागुरु श्री वीरसागर जी महाराज के आशीर्वाद का ही फल है.....।"

अन्य ग्रंथों के विमोचन —

मेरे द्वारा लिखित, उस समय छपाई गई अन्य पुस्तकों का श्री साहू शांति प्रसाद जी ने विमोचन किया — १. भगवान महावीर कैसे बने? २. तीर्थंकर महावीर और उनका धर्मतीर्थ ३. सामायिक ४. जैन ज्योतिर्लोक और ५. न्यायसार, इन पुस्तकों का विमोचन करके आचार्यश्री के करकमलों में समर्पित किया।

पं. बाबूलाल जी जमादार ने कुशलतापूर्वक मंच का संचालन करते हुए संस्थान की गतिविधियों पर

प्रकाश डाला पुनः आचार्य श्री धर्मसागर जी एवं आचार्यश्री देशभूषण जी ने मुझे आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा कि—

"ज्ञान की शोभा चारित्र से है एवं चारित्र की शोभा ज्ञान से है।"

आचार्य श्री देशभूषण जी ने तो गद्‌गद होकर कहा—

"मेरा लगाया हुआ बीज आज वृक्ष तो बन ही गया है, उसमें फल भी आ गये हैं इससे मुझे बहुत खुशी है.....।"

अनन्तर आभार प्रदर्शन एवं कृतज्ञताज्ञापनपूर्वक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

अष्टसहस्त्री ग्रंथ का परिचय —

आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र नाम से एक सूत्रग्रंथ संस्कृत में रचा। इसका मंगलाचरण यह है—

''मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्‌गुणलब्धये।।''

अर्थ —जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्म रूपी पर्वत का भेदन करने वाले हैं और अखिल तत्त्व के ज्ञाता हैं, मैं उनको उनके गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

श्री समंतभद्र स्वामी ने इसी मंगलाचरण पर 'आप्तमीमांसा' नाम से एक स्तोत्र की रचना की, जिसमें ११४ कारिकाओं में सर्वज्ञ को कसौटी पर कसकर सच्चा सिद्ध किया है। श्री भट्टाकलंक देव ने इसी स्तोत्र पर 'अष्टशती' नाम से एक भाष्य ग्रंथ रचा पुनः श्री विद्यानंद महोदय ने आज से बारह सौ वर्ष पूर्व इस आप्तमीमांसा को अष्टशती सहित गूंथकर अष्टसहस्त्री नाम से आठ हजार श्लोक प्रमाण वृहद् न्याय ग्रंथ की रचना की।

इस अष्टसहस्त्री में स्वयं आचार्यदेव ने लिखा है—

श्रोतव्याष्टसहस्त्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्त्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्‌भावः।।

अन्य हजारों शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है? बस एक अष्टसहस्त्री ग्रंथ ही सुनना चाहिए क्योंकि इस ग्रंथ को सुनने से ही स्वसिद्धांत और परसिद्धांत का ज्ञान हो जाता है।

यह अष्टसहस्त्री ग्रंथ जैन परमागम में अद्‌भुत और दुरूह ग्रंथ है। अद्‌भुत तो इसलिए है कि यह एक ही ग्रंथ समस्त वाङ्‌मय को समझाने के लिए आधारभूत है और दुरूह इसलिए है कि यह तार्किक शैली से लिखा गया है। तर्क शास्त्र के आधार पर ही इसे हृदयंगम किया जा सकता है। ग्रंथ की दुरूहता के कारण ही इस अष्टसहस्त्री ग्रंथ को कष्टसहस्त्री कहा जाता है। स्वयं ग्रंथकार ने ही लिखा है—

कष्टसहस्त्री सिद्धा साष्टसहस्त्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्त्री कुमारसेनोक्ति वर्धमानार्था।।

हजारों कष्टों से गर्भित कष्टसहस्त्री स्वरूप यह अष्टसहस्त्री ग्रंथ मेरे हजारों अभीष्टों को पूर्ण करे, मैंने इसे कुमारसेन की उक्ति को स्पष्ट करने के लिए लिखा है।

आप्तमीमांसा का प्रथम श्लोक और हार्द—

देवागम नभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ।।

देवों का आना, आकाश में गमन करना, चंवर छत्र आदि विभूतियों का होना आदि वैभव से भगवन्!

आप महान् नहीं हैं क्योंकि ये सब मायावी पुरुषों में भी देखी जाती हैं। इस प्रकार—

समस्त ग्रंथ में अर्हंत को आप्त और निर्दोष सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी गई हैं तथा अन्य बौद्ध, वैदिक आदि दर्शनों की आलोचना करते हुए उनका खण्डन किया गया है। सर्व अध्याय अथवा सर्वप्रकरण के अंत में सप्तभंगी को घटाकर अनेकांत को स्पष्ट किया है। जैसे कि देखिये—दैव और पुरुषार्थ की एकांत मान्यता को दूर कर सप्तभंगी घटायी है।

अबुद्धिपूर्वक कोई कार्य हो जाये तो समझिये दैव प्रधान है और बुद्धिपूर्वक कोई कार्य सिद्ध हो तो समझिये पुरुषार्थ प्रधान है। इत्यादि अनेक विषयों में सप्तभंगी समझने के लिए इस ग्रंथ का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

अष्टसहस्री के विषय में आचार्यों एवं विद्वानों के उद्गार—

सर्वप्रथम इस ग्रंथ का अनुवाद पूर्ण करने के बाद आचार्यश्री धर्मसागर जी के जन्मजयन्ती समारोह में सन् १९७० में टोडारायसिंह में इसका पालकी में जुलूस निकाला गया था। उस समय आचार्यश्री ने बहुत ही प्रसन्नता व्यक्त करते हुए आशीर्वाद दिया था। आचार्यरत्न देशभूषण जी का आशीर्वाद तो बार-बार यही था कि खूब सरस्वती माता की उपासना में लगे रहो। आचार्यश्री विमलसागर जी ने तब से लेकर आज तक बार-बार इसे पूरा छपवाने की प्रेरणा दी है। आचार्यश्री ज्ञानसागर जी महाराज को जब सन् १९७१ में कु.मालती हिन्दी अनुवाद दिखाने ले गई थीं, तब महाराज जी ने कुछ पेज मुनिश्री विद्यासागर जी से पढ़वाये और प्रसन्न होकर कहा—

"माताजी को कहो कि यह ग्रंथ छपवा दें, हिन्दी अनुवाद बहुत अच्छा हुआ है....।"

पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने कई बार कहा—

"इसे अतिशीघ्र छपवाना चाहिए, जिससे विद्वद्वर्ग लाभ ले सके।"

पंडित हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री (साढ़मल वालों) ने अनेक अनुवादित पृष्ठ सन् १९७१ में ब्यावर में देखे, तब उन्होंने कहा कि—

"मेरा तो लगभग २०-२५ वर्ष से न्यायग्रंथों का अभ्यास छूटा हुआ है अतः मैं पूरा तो नहीं देखूँगा। कुछ पेज देखकर बोले—

"हिन्दी अनुवाद बहुत ही अच्छा हुआ है, माताजी! अब तो आप इसे छपने भिजवा दीजिये। इसमें जितने पेज मैंने देखे एक भी गलती नहीं समझ में आई अतः आप विद्वानों को दिखाने की बात खत्म कर दीजिये.....। एक विद्वान् क्या, अनेक विद्वान् मिलकर भी इतना बढ़िया अनुवाद नहीं कर सकते हैं.....।"

दिल्ली में मैं जब त्यागी भवन सेठ के कूँचा में ठहरी हुई थी। पंडित कैलाशचंद जी सिद्धान्तशास्त्री आये और नमस्कार कर बोले—

"माताजी! आपने जो अष्टसहस्री का अनुवाद किया है, सुना है वह छप रहा है, मैं उसे देखना चाहता हूँ।

मोतीचंद ने उसी समय छपे हुए लगभग १०० पेज उनके हाथ में दिये और मेरी एक हस्तलिखित कापी भी दे दी। पंडित जी ने घंटों बैठकर उन्हें पढ़ा पुनः प्रसन्न होकर बोले—

"माताजी! जब मैंने सुना कि किन्हीं ज्ञानमती नाम की आर्यिका ने अष्टसहस्री का अनुवाद किया है, तब मैंने सोचा-होंगी कोई आर्यिका, लिख दिया होगा कुछ ऊटपटाँग।....लेकिन आज मैं इन छपे हुए पृष्ठों को देखकर अवाक् रह गया हूँ।....आपने कितनी सुन्दर हिन्दी की है। आपका व्याकरण ज्ञान और न्याय ज्ञान बहुत ही ऊँचा है। बहुत दिनों से पंडित दरबारीलाल जी कोठिया से इस ग्रंथ के अनुवाद के लिए कहा जा रहा था.....लेकिन इतना उत्तम अनुवाद शायद ही वे कर पाते.....।"

इस प्रकार अनेक शब्दों में प्रशंसा करते हुए वे लगातार कई दिनों तक वहाँ मेरे निकट आते रहे। मेरे द्वारा

लिखित पेंसिल से अनुवादित मेरी कापियाँ भी देखीं और कई बार बोले—"इसे ज्ञानपीठ से छपा दीजिये।"

किन्तु वीर ज्ञानोदय ग्रंथ का प्रथम पुष्प इसे बनाया था अतः मोतीचंद ने कहा—

"आगे कोई ग्रंथ ज्ञानपीठ में दे सकते हैं, यह नहीं देंगे।"

पं. कैलाशचंद जी कई बार इसे मांगते रहे, कई बार उन्होंने सूचना भी भेजी कि इस ग्रंथ को जल्दी छपवा दो किन्तु कर्मयोग से एक भाग छपने के बाद आज तक दूसरा भाग छपने का योग नहीं आ रहा है।[१]"

इसी तरह वहीं पर एक दिन पंडित दरबारीलाल जी कोठिया भी आये और उन्होंने भी इसे देखकर कहा—

"माताजी! मेरे ऊपर इसके अनुवाद का भार डाला गया था। अभी तक तो मैंने शुरू भी नहीं किया है। मैंने तो अक्षरशः अनुवाद न करके भाव मात्र से कुछ लिखने को सोचा था किन्तु आज आपके द्वारा किये गये अनुवाद को देखकर मुझे बहुत ही संतोष हो रहा है। शायद ही इतना बढ़िया अनुवाद मेरे से होता। यह अनुवाद तो बहुत ही शुद्ध है।

इसके बाद उन्होंने अपना एक लेख भेजा, जिसमें 'मोक्षमार्गस्य' मंगलाचरण श्री उमास्वामीकृत है। इस पर कुछ प्रमाण संकलित थे। मैंने भी श्लोकवार्तिक के कुछ प्रमाण दिखाये, तब पंडित जी ने कहा—

"माताजी! इस लेख में कुछ और बढ़ाकर प्रस्तावना में इसे दिला देना.....।"

श्री कोठियाजी एक बार श्री प्रेमचंद जैन (होटल शाकाहार वालों) के साथ हस्तिनापुर आये थे। उनके समक्ष सभा में मैंने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि—

"पंडित जी सरस्वती के पुत्र हैं.....।"

तब पंडित जी ने अपने वक्तव्य में कहा—

"मैं तो सरस्वती पुत्र हूँ किन्तु माताजी आप तो साक्षात् सरस्वती ही है। आपका न्याय, व्याकरण, जैन भूगोल, अध्यात्म आदि संबंधी सर्वांगीण ज्ञान बहुत ही अच्छा है...।"

इसी प्रकार यहीं त्यागी भवन (दिल्ली) में एक बार अष्टसहस्री छपते समय ही पं. परमेष्ठी दासजी पधारे थे। वे भी इस ग्रंथ के छपे हुए पेजों को पढ़कर प्रशंसा करते रहे। मौका देखकर मैंने कहा—"पंडित जी! मैं एक बात कहूँ, आप स्वीकार करेंगे क्या?"

पंडित जी ने कहा—"कहिये, आप तो गुरु हैं।"

मैंने कहा—"पंडित जी! अब आपके सिर के केश सफेद हो गये हैं अतः अब आप मुनियों की, आर्यिका आदि किसी भी पिच्छीधारी जैन साधु की निंदा न करिये, न लिखिये....।"

उन्होंने हंसते हुए सहज भाव से मेरे पास यह नियम ले लिया। उसके बाद फिर उन्होंने न निंदा की है, न लिखी ही है। वे उसी वर्ष ७-८ महीने बाद स्वर्गस्थ हो गये।

एक बार उदयपुर के प्रोफेसर श्री कमलचंद सोगानी ने कहा—

"माताजी! आपने जैन समाज में क्यों जन्म ले लिया? अरे! इस जैन समाज के अतिरिक्त यदि अन्य किसी समाज में आपका जन्म होता, तो लोग आपको चांदी-सोने के सिक्कों में तोलते। आपने जिस समाज में जन्म लिया, उसमें तो आपका मूल्याकंन करने वाला शायद ही कोई होगा.....।"

मैंने कहा—"प्रोफेसर जी! मैंने अनुवाद करते समय यह कुछ सोचा ही नहीं था कि कोई मूल्यांकन करेगा या नहीं.....। मेरा लक्ष्य मात्र अपने ज्ञान को समीचीन बनाने का और अपनी श्रद्धा को सम्यक् करने का तथा दृढ़ करने का ही था। इसके अनुवाद में मुझे जो आनन्द आता था वह अनिर्वचनीय है और वह आनन्द

---

१. सन् १९८७

ही—प्रीति ही ज्ञान का फल है। मेरा कोई गौरव करे तो क्या लाभ होगा और न करे तो भला क्या हानि होगी?... दूसरी बात, मैंने अपने शिष्यों को इस अष्टसहस्री को पढ़ाते समय यही सोचा था कि इन्हें यह अच्छी तरह समझ में आ जाये-जैसे कि मोतीचन्द ने शास्त्री और न्यायतीर्थ का फार्म भरा था। उन्हें समझाने के लिए ही उस समय अनुवाद किया था।"

अजमेर में सन् १९७१ के चातुर्मास में एक बार सर सेठ भागचंद जी सोनी और उनके साथ पंडित हुकुमचंद जी भारिल्ल आये। पंडित जी ने कहा—

"माताजी! मैं आपसे अष्टसहस्री में आए हुए प्रागभाव आदि के विषय में चर्चा करना चाहता हूँ।....."

अष्टसहस्री में प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों का बहुत ही विशद वर्णन है। जैनाचार्यों ने अभाव को शून्यरूप न मानकर कथंचित्-सद्भाव रूप ही माना है, जैसे कि न जैन—अजैन कहने से वह जैन नहीं हो, तो अजैन से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कोई न कोई तो है ही है। इत्यादि प्रकार से उन पंडित जी से घण्टों चर्चा चलती रही। उन्हें इस ग्रंथ के आधार से इन अभावों को समझकर बहुत ही आनन्द आया था।

यहाँ हस्तिनापुर में एक बार डा. रमेशचंद जैन बिजनौर वाले आये। वे बौद्धदर्शन और जैनदर्शन पर डी. लिट् कर रहे थे। वे बोले—

"माताजी! मुझे अपनी हस्तलिखित कापियाँ दे दीजिये, एक सप्ताह बाद वापस कर दूँगा।"

मैंने कहा—"पंडित जी! वे कापियाँ जब तक छप न जायें, मुझे प्राणों से ज्यादा प्रिय हैं। उन्हें आप यहीं बैठकर भले ही देख लीजिये, मैं बाहर ले जाने के लिए नहीं दे सकती।"

उस समय रमेशचंद जी ने करीब एक सप्ताह रहकर उन कापियों से विषय लिया था और मुझसे भी बहुत कुछ चर्चायें की थीं।

इस अष्टसहस्री की ६ कारिकाओं सहित वह ग्रंथ प्रथम भाग के रूप में १९७४ में छपकर सामने आ गया था किन्तु कुछ ऐसा ही योग रहा कि इन बाद के तेरह वर्ष में अथवा अनुवाद पूर्ण होने के बाद से १८ वर्ष में भी आगे के भागों को छपने का योग नहीं आ रहा है[१], जबकि इस ग्रंथमाला में लगभग ८७ पुष्प छोटे-बड़े मिलकर छप चुके हैं।

£ ६६ ¤

पंचरंगी ध्वज —

एक बार आचार्य श्री धर्मसागर के पास लाल मंदिर के एक कमरे में कुछ लोग पंचरंगी ध्वज का विरोध लेकर आ गये। मैं बैठी सब सुनती रही। आचार्यश्री भी सुन रहे थे। कुछ देर बाद मैंने आचार्यश्री धर्मसागर जी से आज्ञा लेकर समाधान देना और समझाना शुरू किया। मैंने कहा—

"यदि चार सम्प्रदाय मान्य कोई एक वस्तु निर्णीत हुई है तो प्रभावना की दृष्टि से अच्छा ही है, बुरा क्या है?.....दिल्ली में भी दिगम्बर जैन मंदिरों के शिखरों पर कहीं चौकोन-लम्बी सी लाल रंग की ध्वजाएं हैं। ब्र. सूरजमलजी प्रतिष्ठा के अवसर पर पांच रंग की पट्टियों की ध्वजा बनवाकर ध्वजारोहण कराते हैं। इसके अतिरिक्त जम्बूद्वीप पण्णत्ति में भी पंचरंगी ध्वजाओं का वर्णन है। जैसे कि-"अकृत्रिम मंदिरों में मणिमय खम्भों के ऊपर ध्वजासमूह निर्दिष्ट किये गये हैं। ये सिंह, गज, हंस, वृषभ, कमल, मयूर, मकर, चक्र, छत्र और गरुड़ इन दस चिन्हों से चिन्हित रहती हैं। इनमें से एक-एक ध्वजा के मोतियों व मणियों की मालाओं से

---

१. सन् १९८७।

शोभायमान उत्तम पांच वर्ण वाली एक सौ आठ-एक सौ आठ दिव्य परिवार ध्वजाएँ होती हैं—

अट्ठसयं अट्ठसयं एगेगधयाण होंति परिवारा।
वरपंचवण्णदिव्वा मुत्तामणिदामकयसोहा।।[१]

उन लोगों ने प्रसन्न होकर मेरी बात स्वीकार की। तब मैंने कहा—

"इस निर्वाणोत्सव में आप किसी भी विषय में अधिक ऊहापोह या विरोध न कर यदि कार्यों के सम्पन्न करने-कराने में शक्ति लगायेंगे, तो बहुत ही अच्छा रहेगा।"

उन्हें भी यह बात अच्छी लगी।

भगवान् महावीर पुस्तक —

भगवान् महावीर के बारे में एक पुस्तक श्री तुलसीगणी (तेरापंथी-श्वेताम्बरों)ने लिखी। साहू शांतिप्रसाद जी चाहते थे कि यह पुस्तक दिगम्बर और श्वेताम्बर के तीन भेद, ऐसे चारों सम्प्रदायों में मान्य होकर लाखों की तादाद में अनेक भाषाओं में छपे। उसकी टाइप कापी आचार्यश्री धर्मसागर जी के पास आई थी। आचार्यश्री ने वह कापी मुझे दे दी और बोले—

"ज्ञानमती जी! यह पुस्तक दिगम्बर परम्परा के मान्य करने योग्य है या नहीं है? सो देखकर बताओ।"

मैंने लगभग साठ (६०)गलतियाँ निकालकर पेज पर लिखकर आचार्यश्री को दे दिया। साहू शान्तिप्रसाद जी आये, आचार्यश्री ने वह कागज उन्हें दे दिया पुनः वे अन्य लोगों से चर्चा कर कई दिन बाद आये और बोले—

"इन गलतियों के प्रमाण चाहिए।"

आचार्यश्री ने पुनः मुझसे प्रमाण दिखाने को कहा, तब मैंने दो-तीन दिन तक खूब परिश्रम करके अनेक ग्रंथों का मंथन कर प्रमाण निकालकर दिये। वह मेरे द्वारा लिखित कागज भी आचार्यश्री ने साहूजी को दे दिया। उसमें से एक प्रमाण नमूने के तौर पर आप देखिये। जैसे कि उस पुस्तक में भगवान् महावीर के बड़े भाई.....को माना है, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार तीर्थंकर अपनी माता के अकेले ही पुत्र होते हैं। उनके भाई-बहन आदि कोई नहीं होते। जैसे कि लिखा है—

एकप्रसूरप्यसि विश्वमाता, त्वं मानुषी चाप्याधिदेवतासि।
स्त्रैणं दधानापि निरस्तदोषा, चित्रं चरित्रं तव लोकमातः।।

(प्रतिष्ठा तिलक पृ. ४९९)

हे लोकमातः! आप एक प्रसू हैं—एक ही पुत्र को जन्म देने वाली हैं, फिर भी आप विश्व की माता हैं। आप मनुष्यों में नारी हैं, फिर भी देवताओं में भी देवता होने से अधिदेवता हैं। आप स्त्री पर्याय को धारण करते हुए भी स्त्री पर्याय के मायाचारी आदि दोषों से रहित हैं। हे मातः! आपका चारित्र आश्चर्यकारी है।

इसी प्रकार से अनेक प्रमाण मैंने निकाल कर दिये थे। तब साहूजी ने पुनः आचार्यश्री के पास आकर निवेदन किया कि—

"कुछ भी हो, आप इस पुस्तक को मान्य घोषित कर दीजिये, एक दो विषयों का संशोधन कर दीजिये।

किन्तु दो-चार विषय संशोधित करके भी यह पुस्तक दिगम्बर सम्प्रदाय से कोई संबंध नहीं रखती थी।

अतः आचार्यश्री ने उसे मान्यता देने से सर्वथा ही मना कर दिया।

साहूजी मेरे पास भी आये और बार-बार निवेदन करने लगे—

"माताजी! जो भी हो, आप इस पुस्तक को चारों सम्प्रदाय मान्य कराकर छपवाने की आज्ञा दिला दीजिये।"

---

१. जम्बूद्वीपण्णत्ति पृ. ९०।

मैंने कहा—"जो स्थिति थी, सो मैंने आचार्यश्री की आज्ञानुसार उन्हें लिखकर दे दी। अब यह विषय आचार्यश्री का है.....।"

अंततोगत्वा आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज बहुत ही दृढ़ रहे और बोले—

"यदि आप इस पुस्तक को चार सम्प्रदाय मान्य छपा देंगे, तो हम दिगम्बर सम्प्रदाय से इस पुस्तक का बहिष्कार करा देंगे।'

उनके इस कठोर अनुशासन भरे शब्दों से ये लोग चुप हो गये और उसे छापने का साहस नहीं कर सके पुनः मुझसे कई महानुभावों ने निवेदन किया कि—

"माताजी ! आप एक ऐसी पुस्तक भगवान् महावीर स्वामी के बारे में तैयार कर दें, जो सर्वमान्य हो।'

मैंने जितने भी विषय दोनों सम्प्रदाय में टकराव के थे, उन विषयों को गौण करके एक पुस्तक लिखी। जैसे कि भगवान् महावीर का विवाह हुया या नहीं, दोनों विषयों को न लेकर उन्होंने ३० वर्ष की उम्र में दीक्षा ली थी यह लिख दिया आदि। किन्तु आचार्य तुलसीगणी की पुस्तक अमान्य हो जाने से पुनः उस समय कुछ चर्चा नहीं चल पाई। वह तुलसीगणी की पुस्तक और मेरे द्वारा लिखित पुस्तक टाइप कापी रूप में ये दोनों आज भी यहाँ जम्बूद्वीप पुस्तकालय में विद्यमान हैं।

भगवान महावीर कैसे बने? —

मैंने एक पुस्तक लिखी थी 'भगवान् महावीर कैसे बने?" यह सचित्र थी और इसमें संक्षेप में भगवान महावीर के पूर्व के ३४ भव दिखलाये गये थे। यह छपते ही एक सप्ताह में समाप्त हो गई और लोगों की मांग बहुत आने लगी। तब मेरी आज्ञा लेकर मोतीचन्द ने उसी समय पुनः दस हजार प्रतियाँ और छपायी थीं। कुल मिलाकर उस समय भगवान् महावीर संबंधी साहित्य का अच्छा सत्कार हुआ था।

इस बीच में मुझे एक बात याद आ जाती है—

दिगम्बर सम्प्रदाय के दो आचार्य —

इस २५००वें निर्वाण महोत्सव की चारों सम्प्रदाय की समिति में श्वेताम्बर मंदिर मार्गी, स्थानकवासी और तेरहपंथी, ऐसे तीन सम्प्रदाय थे और दिगम्बर का एक ही था अतः उस समिति में आचार्यश्री देशभूषण जी और आचार्य श्री धर्मसागर जी इन दोनों के नाम थे। चर्चा उठी की "आचार्यश्री धर्मसागर जी का नाम हटा दिया जाये।" मेरे पास एक दिन यह चर्चा आई, तब मैंने बहुत ही प्रयास किया, यहाँ तक कह दिया कि—

"यदि आचार्यश्री धर्मसागर जी का नाम हटा दिया गया, तो मैं अनशन कर दूँगी...।"

अंततोगत्वा दोनों ही आचार्यों के नाम रहे थे।

दिल्ली में विशाल दिगम्बर जैन साधु समूह —

सन् १९७४ में १. आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज २. मुनिश्री ऋषभसागर जी ३. मासोपवासी मुनिश्री सुपार्श्वसागरजी ४. मुनिश्री नेमीसागरजी ५. मुनिश्री बोधिसागर जी ६. मुनिश्री संयमसागर जी ७. मुनिश्री दयासागर जी ८. मुनिश्री महेन्द्रसागर जी ९. मुनिश्री अभिनंदनसागर जी १०. मुनिश्री संभवसागरजी ११. मुनिश्री वर्धमानसागर जी १२. मुनिश्री भूपेन्द्रसागर जी १३. मुनिश्री बुद्धिसागरजी १४. मुनिश्री पद्मसागर जी १५. मुनिश्री चारित्रसागरजी १६. मुनिश्री विनयसागरजी १७. मुनिश्री विजयसागर जी १८. (मैं) आर्यिका ज्ञानमती १९. आर्यिका श्री जिनमती जी २०. आर्यिका श्री आदिमती जी २१. आर्यिका श्री संभवमती जी २२. आर्यिका श्री भद्रमती जी २३. आर्यिका श्री कल्याणमती जी २४. आर्यिका श्री श्रेष्ठमती जी २५. आर्यिका श्री गुणमती जी २६. आर्यिका श्री विद्यामती जी २७. आर्यिका श्री जयमती जी २८. आर्यिका श्री सिद्धमती जी २९. आर्यिका श्री विमलमती जी ३०. आर्यिका श्री रत्नमती जी ३१. आर्यिका श्री निर्मलमती जी ३२. आर्यिका

श्री शुभमती जी ३३. आर्यिका श्री यशोमती जी ३४. ऐलक श्री विनयसागर जी ३५. ऐलक श्री कीर्तिसागर जी ३६. क्षुल्लक श्री वीरसागर जी ३७. क्षुल्लक श्री गुणसागर जी ३८. क्षुल्लक श्री भद्रसागर जी ३९. क्षुल्लक श्री सुरलसागर जी ४०. क्षुल्लिका श्री मनोवती जी ।

आचार्य श्री देशभूषण जी संघ चातुर्मास दिल्ली-१९७५ —

१. आचार्य रत्नश्री देशभूषण जी महाराज २. मुनिश्री ज्ञानभूषण जी ३. मुनिश्री सन्मति भूषणजी ४. क्षुल्लक श्री बाहुबलिजी ५. क्षुल्लक श्री जिनभूषणजी ६. क्षुल्लक श्री चन्द्रभूषणजी ७. क्षुल्लक श्री इन्द्रभूषणजी ८. आर्यिका श्री चारित्रमती जी ९. आर्यिका श्री शीलमती जी १०. क्षुल्लिका श्री वीरमती जी ११. क्षुल्लिका श्री कृष्णमती जी १२. क्षुल्लिका श्री अजितमती जी १३. क्षुल्लिका श्री अनन्तमती जी १४. क्षुल्लिका श्री राजमती जी।

मुनिश्री विद्यानंद जी — आर्यिका श्री चन्द्रमती (आ.श्री शांतिसागर जी की शिष्या) अन्य ३ आर्यिका, क्षुल्लिका।

£ ६७ ¤

भगवान महावीर २५००वां निर्वाणमहोत्सव —

जिन पावन महोत्सव की तैयारियाँ कई वर्षों से चल रही थीं, उस उत्सव की मंगलबेला आ गई। दिल्ली में चारों जैन सम्प्रदाय के साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं ने मिलकर महोत्सव सफल बनाया। १३ नवम्बर १९७४ से २० नवम्बर तक कार्यक्रम आयोजित किये गये। इसमें आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के सानिध्य में १०-११-७४ को पहाड़ीधीरज (दिल्ली)से वीरज्योति प्रज्वलित करके ज्योतिपात्र को रथ में विराजमान करके एक विशाल जुलूस निकाला गया जो कि दिगम्बर जैन लाल मंदिर चांदनी चौक पर आकर समाप्त हुआ। यह ज्योति १४ नवम्बर १९७४ तक अखंडरूप से जलती रही।

१३ नवम्बर १९७४, कार्तिक कृ. अमावस्या की उषाबेला में देशभर में सर्व जैन मंदिरों में महान् हर्ष उल्लास के वातावरण में निर्वाणलाडू चढ़ाया गया। दिल्ली के सर्वमंदिरों में भी निर्वाणलाडू चढ़ाया गया। दिगम्बर मुनियों ने इस निर्वाणबेला से पूर्व वर्षायोग निष्ठापन क्रिया करके वर्षायोग समापन कर निर्वाण क्रिया सम्पन्न की।

लालकिला मैदान में बने विशाल पांडाल में १३ नवम्बर को "निर्ग्रंथ परिषद वंदना" नाम से कार्यक्रम मनाया गया। १४ नवम्बर को पांडाल में 'गौतम गणधर स्मृतिदिवस' नाम से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। १५ नवम्बर को सभा में 'श्रमण-संस्कृति परिषद' नाम से सभा हुई। १५ नवम्बर को एक विशाल जुलूस अजमलखां पार्क (करोलबाग) से प्रारंभ होकर मॉडल बस्ती, बाड़ा हिन्दुराव, पहाड़ीधीरज, फतेहपुरी, चांदनी चौक होता हुआ लालकिला मैदान में समाप्त हुआ।

इस जुलूस में श्रीजी का रथ भी निकाला गया जिसके साथ आचार्य शिरोमणि धर्मसागर जी महाराज अपने चतुर्विध संघ सहित, आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज अपने संघ सहित, मुनिश्री विद्यानंद जी महाराज, अन्य अनेक तेरापंथी, स्थानकवासी और श्वेतांबरी साधु-साध्वियाँ सम्मिलित थे। आचार्य धर्मसागर जी ने पहले ही कह दिया था कि —

"भगवान् की रथयात्रा के बिना मैं जुलूस में नहीं जाऊँगा।"

अतः जुलूस के साथ भगवान् की रथयात्रा का निर्णय लिया गया था। इस मीलों लम्बे विशाल जुलूस में मोतीचंद ने रेक्सीन पर बने हुए लगभग छह फुट चौकोर जम्बूद्वीप के रंगीन आकर्षक चित्र को एक टैम्पो

पर रखकर निकाला था। निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में बनने वाली इस जम्बूद्वीप रचना के विषय में लोगों को जानकारी भी मिली और इस चित्र से लोग बहुत ही प्रभावित हुए।

यह जुलूस वापस आते हुए रात्रि हो गई थी। दिगम्बर जैन साधु चूँकि रात्रि में चलते नहीं अतः दिन रहे ही बीच से वापस आ गये थे।

विराट सार्वजनिक सभा —

१७ नवम्बर १९७४ को मध्यान्ह दो बजे से दिल्ली के रामलीला मैदान में विशाल सभा का आयोजन हुआ। यहाँ बड़े-बड़े तीन मंच बनाये गये थे। एक मंच पर दिगम्बर के आचार्यद्वय अपने मुनि समुदाय सहित तथा श्वेताम्बर के तीनों सम्प्रदाय के साधु अपने-अपने साधु संघ सहित विराजे थे। द्वितीय मंच पर भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के लिए आसन था एवं अन्य राजनैतिक व धार्मिक प्रमुख-प्रमुख लोग थे। तीसरे मंच पर दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय की साध्वियाँ विराजी थीं।

प्रमुख साधुओं के नाम दिगम्बर जैन आचार्य धर्मसागर जी, आचार्य देशभूषण जी, श्वेताम्बर आचार्य तुलसी जी, दिगम्बर मुनिश्री विद्यानंद जी, श्वेताम्बर मुनि श्री सुशील कुमार जी, मुनि नथमलजी, मुनि जनकविजयजी, मुनि हेमचंद जी और मुनि राकेश कुमार जी थे। प्रमुख साध्वियों में मैं (आर्यिका ज्ञानमती जी) साध्वी विचक्षणाजी, श्री मृगावती जी, श्रीकनकप्रभाजी, श्री प्रीतिसुधाजी आदि थीं।

इस समारोह में सीमित वक्ताओं ने ही भाषण दिये। इंदिरा जी ने आकर भगवान् महावीर स्वामी के आदर्शों को देश की शान्ति के लिए उपयोगी बतलाया। अन्य साधु वर्ग बोले, दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में मुनिश्री विद्यानंद जी ने अपना वक्तव्य दिया। अनंतर आचार्यश्री धर्मसागर जी ने अंत में आशीर्वादस्वरूप प्रवचन दिया।

इस महोत्सव के समापन के समय जो धर्मचक्र का प्रवर्तन होना था, वह इंदिरा जी के करकमलों से कराया गया पुनः सभा का समापन हुआ। इस विशाल सभा में लाखों जैन-अजैन जनता थी।

इस समारोह के पूर्व विद्यानंदजी ने दिगम्बर सम्प्रदाय के साधुओं में पांच मिनट बोलने में मेरा नाम रखा और मुझे बुलाकर कहा—

"माताजी! आपको पाँच मिनट बोलना है।"

मैंने कहा—"महाराज जी! आप आचार्य श्री धर्मसागर जी का नाम रखिये.....।"

मेरे विशेष निवेदन पर मुनिश्री ने आचार्यश्री का नाम रखाया था।

इस विशाल सभा के अनंतर १८ नवम्बर को 'निर्वाणवादी विचारधारा का योगदान' इस विषय पर गोष्ठी हुई। १९ नवम्बर को 'अनेकान्त विचार' पर सभा हुई पुनः २० नवम्बर को 'विकास योजनाएं' निर्धारित विषय पर सभा हुई।'

इसके अतिरिक्त महिला परिषद, सांस्कृतिक कार्यक्रम, कवि सम्मेलन आदि आयोजन भी सम्पन्न हुए। इस प्रकार यह २५०० वाँ निर्वाण-महोत्सव अच्छे उत्साह के साथ सारे भारत में मनाया गया।

विश्व धर्म सम्मेलन —

एक दिन विश्व धर्म सम्मेलन में मुनिश्री सुशीलकुमार जी ने मेरा प्रवचन रखा था। मैं अपने संघ सहित पहुँची थी। वहाँ साध्वियों के मंच पर दिगम्बर और श्वेताम्बर साध्वियाँ उपस्थित थीं। जब मेरा समय आया, उधर से (मंच से) माइक द्वारा सूचना हुई कि दिगम्बर सम्प्रदाय की प्रमुख आर्यिका ज्ञानमती जी जैनधर्म के महत्व पर प्रकाश डालेंगी।

मैंने सरलता और उदारतावश मेरे पास बैठी हुई एक क्षुल्लिका, जो कि दक्षिण की थीं, उनसे कहा—

'आप दो मिनट मंगलाचरण बोल दो पुनः मैं बोलूंगी।"

बस क्या था, उन्हें माइक मिलना था कि वे मंगलाचरण के श्लोक बोलती ही गईं और बाद में कुछ भी थोड़ा सा बोलीं। कुल मिलाकर उन्होंने मेरा समय समाप्त कर दिया। माइक पुनः अन्य वक्ताओं की ओर चला गया।

जब कार्यक्रम समाप्त हो चुका तब मंच से उतरकर मुनिश्री सुशील जी मुझसे बोले—

"माताजी! आपने यह क्या किया? आपने किसके सामने माइक रख दिया? अरे!... मैं तो इतनी विशाल जनता को आपके दो शब्द सुनाना चाहता था और आपने न जाने कौन सी अपरिचित साध्वी को मौका दे दिया? उन्होंने तो श्लोक ही बोलते-बोलते सारा समय पास कर दिया। मुझे आपकी यह उदारता अच्छी नहीं लगी।"

पुनः विचक्षणाश्री साध्वी ने भी उलाहना देते हुए कहा—

"माताजी! आपका जैनधर्म के महत्व में जो सारगर्भित प्रवचन होता, वह विशेष ही होता, आपको इतनी परोपकार भावना क्यों? अरे! आपने उस १९ नवम्बर की विशाल सभा में भी अपना नाम हटवा दिया था और आज भी अकारण ही उस क्षुल्लिका को मौका देकर मजा किरकिरा कर दिया।"

वास्तव में कई वर्षों से दिल्ली में रहते हुए ये क्षुल्लिका मेरे आमने-सामने आती थीं, निकट में बैठती थीं किन्तु इन्होंने न कभी मुझे नमस्कार किया, न मुझसे एक शब्द बोलीं और न मुझसे दृष्टि ही मिलायी। इनकी यह कषाय क्यों? कब से? और कहाँ से थी? पता नहीं? खैर! मैंने सहजभाव से सोचा कि—

"यह एक श्लोक मंगलाचरण का बोल देंगी और मैं प्रवचन दे दूँगी।"

खैर! उनकी यह धृष्टता ही थी कि सारा समय समाप्त कर मुझे बोलने भी नहीं दिया। इसके बाद भी दिल्ली में रहने तक भी वे मुझसे नहीं बोली थीं। अकारण ही यह ईर्ष्या मैंने जैसी उनमें देखी थी, आज तक किसी भी साधु-साध्वी में नहीं देखी है।

दीक्षा समारोह —

मगसिर कृष्णा १०, तदनुसार दिनांक ८-१२-१९७४ के दिन कतिपय दीक्षार्थियों का दीक्षा समारोह सम्पन्न हुआ। यहाँ दरियागंज में विशाल पंडाल बनाया गया था। सर्वप्रथम कु. सुशीला कलकत्ता (आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी की सुपुत्री) और कु. शीला श्रवणबेलगोल, इन दोनों ब्रह्मचारिणियों ने आर्यिका दीक्षा के लिए आचार्यश्री धर्मसागर जी के समक्ष नारियल चढ़ाकर प्रार्थना की थी। इनके साथ अन्य कई लोगों की मुनि, आर्यिका दीक्षा होने वाली थीं।

साहू शांतिप्रसाद जी इसके २-४ दिन पूर्व आचार्यश्री के पास आये और बोले—

"महाराज जी! आज के जमाने में आपको इतनी छोटी उम्र में दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इन्हें खूब अध्ययन कर लेने के बाद दीक्षा देनी चाहिए।"

आचार्य श्री बोले—"थेई ले लो अर्थात् आप ही दीक्षा ले लीजिये चूंकि आप तो विद्वान् हैं।"

वे बेचारे चुप हो गये। आचार्यश्री का कहना था कि—

"प्रायः जो विद्वान् हैं वे दीक्षा लेते नहीं, आप जैसे जो प्रबुद्ध श्रीमान् हैं वे भी लेते नहीं हैं तो पुनः जो लेते हैं उन्हें देना ही होता है।"

मैंने कहा—"बात यह है कि दीक्षा का संबंध उम्र से या विद्वत्ता से नहीं है, प्रत्युत् वैराग्य से है। जिसे वैराग्य है वही दीक्षा का पात्र है।"

इधर दरियागंज में दीक्षार्थी बालिकाओं की बिनोरी (शोभायात्रा) निकाली जाती थी। लोग धर्म-प्रेम से, उत्साह से हर एक कार्य में भाग ले रहे थे।

स्त्री द्वारा जिनाभिषेक —

दरियागंज के कई एक महानुभावों ने एक दिन कहा—

"पांडाल में इन दीक्षार्थी बालिकाओं से जिनप्रतिमा का अभिषेक नहीं कराना चाहिए।"

किन्तु आचार्यश्री ने दृढ़ता से कहा कि—

"संघस्थ जिनप्रतिमा का ये बलिकाएं, महिलाएँ अभिषेक करेंगी, कोई नहीं रोक सकता, यदि आप लोग विरोध करेंगे तो हम आगे विहार करके जंगल में दीक्षा दे देंगे। हमें प्रभावना की और शहर की आवश्यकता नहीं है।"

तब वे लोग शांत हो गये और प्रभावनापूर्ण वातावरण में विधिवत् सर्व कार्य सम्पन्न हुए।

यहाँ दरियागंज में बालाश्रम के मंदिर में भी संघ की प्रतिमाजी विराजमान थीं। प्रतिदिन संघ के ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी अभिषेक करती थीं। सभी श्रावक वर्ग आकर बहुत ही प्रेम से देखते थे, किसी ने कुछ भी विरोध नहीं किया था।

विशेष साधु-समूह —

इस दीक्षा के अवसर पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज संघ सहित विराजमान थे, आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज संघ सहित विराजमान थे और मुनिश्री विद्यानंद जी महाराज भी विराजमान थे।

ऐलक कीर्तिसागर को मुनिदीक्षा दी गई, नाम कीर्तिसागर ही रखा गया। क्षुल्लक गुणसागर को मुनि दीक्षा दी गई, नाम गुणसागर ही रहा। क्षुल्लक भद्रसागर को मुनि दीक्षा में भी वही नाम रहा। क्षुल्लिका मनोवती को आर्यिका दीक्षा देकर संयममती नाम रखा। ब्रह्मचारिणी भागाबाई को आर्यिका दीक्षा देकर विपुलमती नाम रखा। ब्र. कु. सुशीला और कु. शीला को आर्यिका दीक्षा देकर उनका नाम क्रम से श्रुतमती और शिवमती रखा गया। ब्र. ब्रजभान को क्षुल्लक दीक्षा देकर उनका नाम निर्वाणसागर रखा गया।

ये सब दीक्षाएँ आचार्यश्री धर्मसागर जी ने दी थीं। इनमें से दोनों कुमारिकाओं की दीक्षा मैं करा रही थी चूँकि ये दोनों ब्रह्मचारिणियां मेरे पास रहती थीं। उस मंच पर इन कुमारिकाओं के बड़े-बड़े केशों का लोच मैं कर रही थी, साथ ही अन्य आर्यिकाएं भी कर रही थीं। दीक्षा के समय का यह दृश्य बहुत ही वैराग्यवर्धक एवं रोमांचकारी था। मंच का संचालन शांतिलाल जी कागजी कर रहे थे एवं दीक्षाविधि की व्यवस्था में सहयोग मोतीचंद कर रहे थे। उस समय प्रमुख वक्ता डा. लालबहादुर जी शास्त्री, पं. हीरालाल जी शास्त्री आदि थे।

उपाध्याय आदि पद प्रदान —

इसी मंगल अवसर पर आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने प्रभावी मुनि श्री विद्यानंद जी को विधिवत् उपाध्याय पद प्रदान करते हुए नूतन पिच्छिका दी थी। मुझे भी 'आर्यिकारत्न' तथा 'न्यायप्रभाकर' पद से गौरवान्वित कर वात्सल्य प्रदान करते हुए नूतन पिच्छी एवं शास्त्र दिया था।

२५ दिगम्बर मुनिराज —

इस अवसर पर अर्थात् १३ नवम्बर से लेकर ८ दिसम्बर को निर्वाण दिवस से ठीक २५वें दिवस इस मंच पर इस २५सौवें निर्वाणमहोत्सव के प्रसंग में २५ दिगम्बर मुनि एक साथ विराजमान थे। पहले २२ मुनि थे। इस समय तीन ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ने मुनि दीक्षा ले ली थी अतः इस समय २५ मुनि हो गये थे। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज २. आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ३. उपाध्याय मुनिश्री विद्यानंद जी ४. मुनिश्री वृषभसागर जी ५. मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी ६. मुनिश्रीनेमीसागर जी ७. मुनिश्री बोधिसागर जी ८. मुनिश्री संयमसागर जी ९. मुनिश्री दयासागर जी १०. मुनिश्री महेन्द्रसागर जी ११. मुनिश्री अभिनंदन सागर जी १२. मुनिश्री संभवसागर जी १३. मुनिश्री वर्धमानसागर जी १४. मुनिश्री भूपेन्द्र सागर जी १५. मुनिश्री बुद्धिसागर जी १६. मुनिश्री पद्मसागर जी १७. मुनिश्री चारित्रसागर जी १८. मुनिश्री विनयसागर

जी १९.मुनिश्री विजयसागर जी २०. मुनिश्री ज्ञानभूषण जी २१. मुनिश्री सन्मतिभूषण जी २२. मुनिश्री वर्धमानसागर जी २३. मुनिश्री कीर्तिसागर जी २४. मुनिश्री गुणसागर जी और २५. मुनिश्री भद्रसागर जी।

आचार्यरत्न का विहार —

इस दीक्षा समारोह के बाद इसी मंच से आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज ने दक्षिण की ओर मंगल-विहार कर दिया था। उस समय दिल्ली की जनता ने अश्रुपूरित नेत्रों से आचार्यश्री का विहार कराया था।

कु. माधुरी का आना —

कु. माधुरी को सन् १९७३ में इनके भाई लोग घर ले गये थे, तब से भेज नहीं रहे थे। इस दीक्षा के प्रसंग पर ब्र. सुगनचंद को भेजकर इनको बुलाया था।

आर्यिका चंद्रमती शताब्दी समारोह —

दिगम्बर जैन लालमंदिर में पूज्य १०० वर्षीया आर्यिका चन्द्रमती माताजी का शताब्दी समारोह मनाया गया। ये आर्यिका चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के द्वारा दीक्षा प्राप्त प्रथम शिष्या थीं। आप वृद्धा होते हुए भी अपनी चर्या में सावधान थीं। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज आदि के सानिध्य में यह समारोह मनाया गया।

इस अवसर पर मेरे द्वारा लिखित, मुद्रित हुआ 'त्रिलोक भास्कर' एवं 'बालविकास' पुस्तकों का आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने विमोचन किया। यह त्रिलोक भास्कर संक्षेप में त्रिलोकसार आदि के आधार से लिखित हैं। तीनों लोकों का संक्षेप में वर्णन करने वाला है। बाल विकास बालकों के लिए अत्युपयोगी पाठ्य-पुस्तक है। आज इसकी सर्वत्र पढ़ाई हो रही है।

£ ६८ ¤

हस्तिनापुर में संघ का आगमन —

दिल्ली चातुर्मास और निर्वाणोत्सव के मंगल कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज को ससंघ हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र के दर्शन कराना था। मेरठ के अनेक श्रीमान् बोरी भर नारियल लेकर भक्तिभाव से श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना करने के लिए आ गये। इसी मध्य कुछ चर्चा आ गई कि — "जिनके घर में अन्तर्जातीय — खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार आदि जातियों — में विवाह संबंध हो चुके हैं, ये साधुगण उनके यहाँ आहार नहीं लेंगे।"

इस बात से इन लोगों में कुछ रोष व्याप्त हुआ, मेरे पास चर्चा करने आये। मैंने भी यही कहा कि —

"संघ की यही परम्परा है। आचार्यश्री शांतिसागर जी की परम्परा के कोई भी साधु ऐसे संबंध वालों के यहाँ आहार नहीं लेते हैं।"

अनेक चर्चा करके ऊहापोह के बाद ये मेरठ निवासी नारियल की बोरी लेकर वापस चले गये। जब मैंने देखा कि —

"आचार्यश्री की एवं संघ में सभी साधुओं की इच्छा हस्तिनापुर दर्शन की है। मेरी इच्छा तो इसलिए भी अधिक थी कि मैं यहाँ सुदर्शन मेरु पर्वत का शिलान्यास कराकर गई थी अतः आचार्यश्री का मंगल पदार्पण यहाँ बहुत ही जरूरी था।"

मैंने लाला श्यामलाल जी, डॉ. कैलाशचंद आदि को आगे किया, उन लोगों ने श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की और सुखद वातावरण में आचार्यश्री का ससंघ रविवार १५-१२-१९७४ को मध्यान्ह में हस्तिनापुर की ओर विहार हो गया। २२ दिसम्बर को संघ मेरठ आ गया। यहाँ मेरठ वालों ने भक्ति से रेलवे रोड की दिगम्बर

जैन धर्मशाला में ठहराया और सभी श्रीमान् जो कि नारियल वापस लेकर आ गये थे वे भी आगे आये, भक्ति से सभी ने घर-घर में चौका लगाया और आचार्यश्री के संघ को कई दिनों तक रोका।

मेरा हस्तिनापुर आगमन —

आगे फरवरी १९७५ में यहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने वाली थी अतः मैंने आचार्यश्री से आज्ञा लेकर आर्यिका रत्नमती जी और आर्यिका शिवमतीजी को साथ लेकर शेष अपनी शिष्याओं को संघ में ही छोड़कर मेरठ से हस्तिनापुर के लिए विहार कर दिया।

उधर संघ को मेरठ से सरधना के लोग ले गये चूंकि यहाँ फरवरी में प्रतिष्ठा पर आना था। सरधना में भक्ति विशेष थी। पौष शु. १५ दिनाँक २७ जून १९७५ को आचार्यश्री का ६१वां जन्मदिवस समारोह मनाया गया।

भगवान् महावीर की प्रतिमा विराजमान —

यहाँ बड़े मंदिर वाले भगवान् बाहुबली की एवं जलमंदिर के भगवान् महावीर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २० फरवरी से २४ फरवरी तक निश्चित कर चुके थे। मेरी प्रेरणा से इन लोगों ने सोलापुर के पं. वर्धमान शास्त्री को प्रतिष्ठाचार्य के लिए निश्चित किया।

यह पहले लिखा गया है कि भगवान् महावीर की सवा नौ फुट की खड्गासन जिनप्रतिमा जम्बूद्वीप स्थल पर विराजमान करने के लिए आ चुकी थीं और वह पेटी में बंद बड़े मंदिर के गुरुकुल में रखी हुई थीं।

श्री सुकुमारचंद आदि महानुभावों ने कहा कि—

"माताजी! इन प्रतिमाजी को यहीं गुरुकुल में खड़ी करके प्रतिष्ठित करा देंगे पुनः जब जम्बूद्वीप पर मंदिर बनेगा, तब ले चलकर वहाँ विराजमान कर देंगे।"

मैं सरल थी अतः "ठीक है" ऐसा कह दिया था।

इसी बीच एक दिन मेरे पैर के अंगूठे पर बहुत बड़ी लकड़ी की फड़ गिर जाने से नाखून में काफी चोट आ गई थी। उस दर्द से बुखार आ गया था। मैं चुपचाप सोयी थी। दो-तीन दिन से मोतीचंद-रवीन्द्रकुमार बहुत ही सुस्त थे। सहसा मैंने पूछा—

"क्या बात है? तुम दोनों इतने सुस्त-उदास क्यों हो?"

दोनों एक-दूसरे का मुख देखते रहे और कुछ नहीं बोले। बार-बार पूछने पर साहस कर बोले कि— "मंदिर वालों की एक चिट्ठी आई है।...."

मैंने कहा —"क्या है? लाओ, दिखाओ। इन बातों से मेरे मन पर कोई असर नहीं होता है।"

पत्र लाकर पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा था कि—

"आप की जम्बूद्वीप स्थल की प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं हो सकेगी। जब वहाँ मंदिर बन जायेगा, तब वहीं विराजमान कराकर प्रतिष्ठा कराना।"

मैं उठकर बैठ गई और बोली—

"देखो, मोतीचंद! रवीन्द्र! तुम दोनों मिलकर ऐसा प्रयास करो, जिससे छोटा सा गर्भागार अर्थात् छोटा सा कमरा ८-१० दिन में बन जाये और उसमें प्रतिमाजी खड़ी कर दी जायें। मंदिर बाद में बनता रहेगा। चिंता मत करो। मेरी इच्छा है कि इसी प्रतिष्ठा में आचार्यश्री धर्मसागर जी उस प्रतिमा को सूरिमंत्र दे दें। फिर क्या पता, आचार्यश्री का समागम जम्बूद्वीप स्थल को मिलेगा या नहीं, कौन जाने? अतः प्रतिमाजी की प्रतिष्ठा अभी ही करा लेनी है।"

इसी मध्य पं. वर्धमान शास्त्री का भी एक पत्र आ गया कि—

"बिना मंदिर बने हम आपकी जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करेंगे।" मुझे बहुत ही दुःख हुआ और सोचने लगी—

"देखो, ये विद्वान् लोग कैसे होते हैं? मैंने कितने प्रयास से इनका नाम इसलिए रखाया था कि ये अपने विद्वान् हैं। मैं इन पं. वर्धमान जी को अपना ही, अपने संघ का ही परम मुनिभक्त समझती थी और आज ये इनके यहाँ प्रतिष्ठा के लिए आने को हुए तो उनके कहे अनुसार पत्र लिख दिया.....।" खैर।

मैंने कहा—"तुम लोग चिंता मत करो, पुरुषार्थ करो।"

तभी इन दोनों ने वहीं मंदिर पर काम करने वाले कारीगरों को बुलाकर बात की—

"हमें कारीगर कहाँ से मिल सकते हैं? जो कि ८-१० दिन में एक कमरा बना दें।"

चूँकि इन दोनों का अभी किसी से कोई परिचय तो था नहीं। तब कारीगरों ने कहा—

"बाबूजी! हम लोग आपका काम रात्रि-रात्रि में कर देंगे।'

अब इन दोनों के पास पैसे की समस्या थी। मेरे से बोले—

"माताजी! आप सरलता में किसी से यह नहीं कह देना कि मेरी संस्था में पैसा नहीं है। चूँकि इससे संस्थान की साख जाती रहेगी....।"

मैंने कहा—"ठीक है, तुम दोनों अपने-अपने घर पत्र लिखकर ५-५ हजार रुपये मंगा लो, जब दस हजार की बात है तो कमरा तैयार हो जायेगा।

इन दोनों ने ऐसा ही किया। ५ हजार रुपये सनावद से और ५ हजार रुपये टिकैतनगर से आ गये। मोतीचंद रात्रि में मंदिर से यहाँ खुले खेत में रजाई ओढ़कर आकर उस जनवरी-फरवरी की ठण्ड में बैठते थे और कारीगरों से, मजदूरों से काम कराते थे। वो समय वह था कि जब रात्रि में क्या, दिन में लोग इधर जंगल मानकर आने से डरते थे।

सात-आठ दिन में कमरे की नींव भरकर दीवारें खड़ी हो गईं। अब समय तो था नहीं। ऊपर सीमेंट से छत का लेंटर पड़े, वह १०-१२ दिन बाद खुले, तब कहीं प्रतिमाजी वहाँ विराजमान की जा सकें। यह भी एक समस्या आ गई। एक दिन मध्यान्ह में मंदिर में मानस्तम्भ के पास तख्त पर बैठी हुई थी। मोतीचंद, रवीन्द्रकुमार भी इसी समस्या को लेकर बैठे हुए थे। कई एक महानुभाव मेरठ के भी थे। ऊहापोह चल रहा था। इसी बीच एक महानुभाव बोले—

"अ अ अ अ असंभव है...।"

पुनः कुछ सोचकर एक-दूसरे महानुभाव बोल उठे—

"मोतीचंद! आप ऐसा करो, सीमेंट का लेंटर न डालकर पुराने ढंग से लोहे के गाटर लाकर डाल दो तथा पत्थर बिछा दो, बस छत तैयार हो जायेगी। दो दिन में मंदिर बन जायेगा।"

इतना सुनते ही मोतीचंद और रवीन्द्र खुश हो गये। इसी प्रकार गाटर डालकर पत्थर की शिला से छत बना दी गई और समय पर भगवान की प्रतिमा जी यहाँ इस नूतन निर्मित गर्भागार में क्रेन से खड़ी की गईं जब प्रतिमाजी खड़ी की जा रही थीं, तब उपाध्याय मुनिश्री विद्यानंद जी स्वयं आकर यहां विराज गये और आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज भी संघ सहित आहार के बाद यहीं जंबूद्वीप स्थल पर आकर बैठ गये। उस समय यहाँ पर खुले खेत में कोई व्यवस्था तो थी नहीं, हाँ, कुछ! लकड़ी की फड़ें पड़ी थीं, उन्हें ही डाल दिया गया। उन्हीं पर सब साधु-साध्वियां दिन भर बैठे रहे।

जब मूर्ति की पेटी खोली गई थी, तब श्री विद्यानंद जी महाराज ने तत्क्षण ही कपूर जलवाकर काजल लेकर मूर्ति के गाल पर लगा दिया पुनः पूरी खोलने दिया और बोले—

"माताजी! यह मूर्ति बहुत ही सुन्दर है और बहुत ही चमत्कारिक है। ऐसी मूर्ति मिलना दुर्लभ है।"

उस समय के उन उपध्यायश्री के वचन वास्तव में फल गये। यह भगवान् महावीर स्वामी की मूर्ति मानो

साक्षात् कल्पवृक्ष ही हैं। आज यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर जो लगभग डेढ़ करोड़ का वैभव दिख रहा है-यह विशाल जंबूद्वीप रचना दिख रही है, वह सब इनका ही प्रभाव है।

इस मूर्ति के खड़े होते समय उनके नीचे 'अचलयंत्र' को आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज ने स्थापित किया था।

आश्चर्य की बात यह है कि सन् १९७५ की फरवरी से जिस छोटे से गर्भागार में भगवान महावीर स्वामी विराजमान किये गये थे, वे आज तक वहीं पर खड़े हैं। मैंने भी यह निश्चय कर दिया था कि "ये प्रतिमाजी यहीं पर ही विराजमान रहेंगी।"

दैवयोग से सन् १९८७ में उन प्रभु का कमल मंदिर बनाया गया। यह कमलमंदिर भी सारे भारत में दिगम्बर जैन संप्रदाय में पहला ही होगा। इसको बनाने के लिए आसाम से कारीगर बुलाये गये।

अचलयंत्र स्थापना —

इससे पूर्व बड़े मंदिर पर बाहुबली की प्रतिमाजी खड़ी होते समय उसके नीचे 'अचलयंत्र' मैंने स्थापित किया था और जलमंदिर के भगवान महावीर की प्रतिमा को खड़े करते समय वहाँ भी अचलयंत्र मैंने ही स्थापित किया था।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा —

प्रतिष्ठा के पूर्व जब सहारनपुर के अहाते में पांडाल बनाया जा रहा था, तब वह एक-दो बार आंधी-तूफान से गिर पड़ा। श्री सुकुमार चंद जी मेरे पास आये और समस्या सुनाकर बोले—

"माताजी! जल्दी ही कुछ उपाय कीजिये, जिससे कि ये विघ्न-बाधाएँ दूर हों।"

मैंने भोजपत्र पर एक यंत्र बनाकर उस पर मंत्र पढ़कर, उसे एक डिब्बी में रख दिया और उनसे कह दिया—

"पांडाल में वेदी में जो प्रतिष्ठित प्रतिमाजी रहेंगी, उनके सिंहासन के नीचे यह यंत्र रख दो, प्रतिष्ठा पूर्ण होने तक कोई भी विघ्न नहीं आयेगा।"

हुआ भी वैसा ही, यह प्रतिष्ठा सानन्द सम्पन्न हुई। किसी भी प्रकार की बाहरी विघ्न-बाधाएँ पुनः नहीं आईं।

अंकन्यास विधि —

प्रतिमा की प्रतिष्ठा में केवलज्ञान कल्याणक से पूर्व सर्वत्र प्रतिमाजी के अंग-उपांग में मंत्र लिखे जाते हैं। ये मंत्र केशर से सोने की लेखनी से लिखे जाते हैं। शास्त्रोक्त विधि से मंत्रों को लिखते समय, अंकन्यास करते समय एक विद्वान् ने वहाँ बाहुबली की प्रतिमा के निकट दौड़कर आचार्यश्री धर्मसागर जी का हाथ पकड़कर उन्हें रोका। आचार्यश्री विधिवत् कार्यों में किसी की कब मानने वाले थे? इसी मध्य कुछ हल्ला सा हुआ, मेरे पास आकर एक महानुभाव ने बताया कि—

"माताजी! इस अंकन्यास को केशर से मूर्ति पर लिखने का प्रमाण दिखाइये।"

मैंने उसी क्षण शीतल प्रसाद ब्रह्मचारी का 'प्रतिष्ठापाठ संग्रह' लेकर वह प्रकरण खोलकर दिखा दिया जिसमें लिखा था कि—

"यह मंत्र अंकन्यास विधि, केसर से प्रतिमा के ऊपर सोने की कलम से लिखी जानी चाहिए।"

खैर! तब तक यह विधि पूर्ण हो चुकी थी। आचार्य श्री ने ही सर्वत्र बड़ी प्रतिमाओं को सूरिमंत्र प्रदान किया और पं. वर्धमान शास्त्री ने भी सर्वविधि शास्त्र के अनुसार पूर्ण कीं।

पंचामृत अभिषेक —

जब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पूर्ण हो गई, उसके बाद संघ के ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों ने मिलकर बड़े रूप

में यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान् महावीर स्वामी की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक किया। इस समय उपाध्याय मुनिश्री विद्यानंद जी महाराज भी आ गये और बोले—

'भला इस अभिषेक के समय मुझे क्यों नहीं बुलाया?

इस प्रकार प्रतिष्ठा के बाद वहाँ मंदिर पर, जहाँ एक कमरे में संघ की प्रतिमाजी विराजमान थीं, वहीं पर आकर विद्यानंद जी महाराज बैठ जाते थे और बहुत कुछ परामर्श करते रहते थे।

संघस्थ साधुगण —

सन् १९७५ में यहाँ पर विशाल साधु समुदाय विराजमान था। १. पूज्य आचार्यश्री धर्मसागर जी २. मुनि श्री वृषभसागर जी ३. श्री सुपार्श्वसागर जी ४. श्री बोधिसागर जी ५. श्री संयमसागर जी ६. श्री दयासागर जी ७. श्री महेन्द्रसागर जी ८. श्री अभिनंदनसागर जी ९. श्री संभवसागर जी १०. श्री वर्धमानसागर जी ११. श्री भूपेन्द्रसागर जी १२. श्री बुद्धिसागर जी १३. श्री चारित्रसागर जी १४. श्री विनयसागर जी १५. श्री विजयसागर जी, १६. श्री कीर्तिसागर जी, १७. श्री गुणसागर जी, १८. श्री भद्रसागर जी।

इसी प्रकार तथा उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंद जी महाराज।

आर्यिकाएँ —

१. आर्यिका जिनमती जी २. आर्यिका संभवमती जी ३. आर्यिका आदिमती जी ४. आर्यिका भद्रमती जी ५. आर्यिका कल्याणमती जी ६. आर्यिका श्रेष्ठमती जी ७. आर्यिका गुणमती जी ८. आर्यिका विद्यामती जी ९. आर्यिका सिद्धमती जी १०. आर्यिका जयामती जी ११. आर्यिका विमलमती जी १२. आर्यिका निर्मलमती जी १३. आर्यिका शुभमती जी १४. आर्यिका श्रुतमती जी १५. आर्यिका यशोमती जी १६. आर्यिका संयममती जी १७. आर्यिका विपुलमती जी।

इसी प्रकार १. मैं (आर्यिका ज्ञानमती) २. आ. रत्नमती जी और ३. आ. शिवमती जी। सब मिलकर २० आर्यिकायें थीं।

१. ऐलक वैराग्यसागर जी, २. क्षुल्लक सुरत्नसागर जी और ३. क्षुल्लक निर्वाणसागर जी थे।

इस प्रकार यहाँ १९ मुनि, २० आर्यिकायें और तीन ऐलक-क्षुल्लक मिलकर ४२ साधु-साध्वियाँ उपस्थित थे।

जम्बूद्वीप मॉडल —

इसी मध्य आचार्यश्री और उपाध्यायश्री के तथा चतुर्विध संघ के सानिध्य में यहाँ बनने वाली जम्बूद्वीप रचना का एक भव्य मॉडल, जो कि दिल्ली में तैयार हुआ था बड़े मंदिर के परिसर में एक कमरे में रखा गया था, उसका अनावरण दिल्ली निवासी लाला श्रीचंद जी चावल वालों ने किया। उस समय सुकुमार चंद जी आदि ने अपने-अपने उद्‌गार व्यक्त किये और उपाध्याय श्री तथा आचार्य श्री ने बनने वाले जम्बूद्वीप के लिए बहुत-बहुत आशीर्वाद प्रदान किया और श्रावकों को तन-मन-धन से सहयोग करने के लिए प्रेरणा दी।

£ ६९ ¤

गणधरवलय विधान —

यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान महावीर की प्रतिमा के सामने छोटा सा पांडाल बनवाकर दिल्ली के श्री विपिनचंद जैन ने गणधरवलय विधान कराया। आचार्य संघ के सानिध्य में यह विधान सानन्द सम्पन्न हुआ। इस विधान में श्री सुकुमार चंद मेरठ वालों ने भी भाग लिया। विधान फाल्गुन की अष्टान्हिका में २० मार्च से २८ मार्च १९७५ तक हुआ।

सल्लेखना —

इसके बाद एक दिन मुनिश्री वृषभसागर जी ने मुझसे कहा—

"माताजी! मैं यहीं क्षेत्र पर आचार्यश्री के सानिध्य में सल्लेखना ग्रहण करना चाहता हूँ। आप मुझे सहयोग दीजिये।"

कुछ विचार-विमर्श के बाद मैंने उनके विचारों की सराहना की और आचार्यश्री से निवेदन किया, आचार्यश्री के सम्मुख उन्होंने संस्तर ग्रहण कर लिया। सल्लेखना की घोषणा हो जाने से दिल्ली और आस-पास से प्रतिदिन दर्शनार्थी लोग आने लगे।

उस समय सरधना के श्रावकों ने बहुत ही रुचि और भक्ति से यहाँ की व्यवस्था संभाली।

मुनिश्री वृषभसागर जी ने क्रम-क्रम से आहार छोड़ना शुरू कर दिया। एक दिन मेरे से बोले—

"माताजी! मुझे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण करा दो।"

मैंने कई एक मुनियों को बिठाकर उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुना दिया। उसके बाद उन्होंने २८ मार्च को आहार में केवल जल मात्र लेकर पुनः आचार्य श्री के समक्ष आकर चतुराहार का जीवन भर के लिए त्याग कर दिया। आचार्यश्री ने कहा भी कि "जल धीरे-धीरे छोड़ो।"

किन्तु उन्होंने कहा—"महाराज जी! इस शरीर को मैंने बहुत दिनों तक खिलाया-पिलाया है लेकिन यह आत्मा का साथ देने वाला नहीं है।"

उपवास में महाराज जी ज्ञानामृत भोजन से तृप्त हो रहे थे। साधु वर्ग प्रति घंटे उन्हें स्वाध्याय सुना रहे थे। मैं भी दिन में दो-तीन बार उन्हें कुछ अध्यात्म और वैराग्यप्रद विषय सुनाया करती थी। आठवें दिन श्री सुकुमार चंद ने महाराज की सावधानी देखकर कहा—

"आज तक मैंने ऐसी समाधि नहीं देखी।"

अंत में ७ अप्रैल १९७५ को प्रातः ३ बजकर १० मिनट पर णमोकार मंत्र सुनते हुए शांति से मुनिश्री ने इस नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्ग प्राप्त कर लिया। इस प्रकार २९ मार्च से ७ अप्रैल तक नौ दिन ये पूर्ण निराहार रहे हैं। इनकी अन्त्येष्टि प्रातः ९ बजे हजारों नर-नारियों की उपस्थिति में की गई। उनकी गृहस्थावस्था की धर्मपत्नी ने आज श्वेत वस्त्र धारण कर लिये। इनका पुत्र भी विरक्तचित्त धर्मात्मा था। इन समाधिरत मुनिश्री के दर्शन लगभग पचास हजार नर-नारियों ने हस्तिनापुर आकर किये थे। इसी दिन मध्यान्ह में श्रद्धांजलि सभा का आयोजन रखा गया। उसमें पंडित रतनचंद मुख्त्यार, श्री प्रेमचंद जैनावाच आदि श्रावकों, आर्यिकाओं, मुनियों, ब्रह्मचारियों ने श्रद्धा सुमन अर्पित किये। विद्वानों ने इस पर भी प्रकाश डाला कि यह सल्लेखना 'आत्मघात' नहीं है, प्रत्युत् रत्नत्रय की आराधना है, जीवन भर किये गये धर्म को अपने साथ ले जाने का उपाय है, पंडितमरण है इत्यादि। अंत में ९ बार महामंत्र के जपपूर्वक सभा विसर्जित हुई।

इसके बाद ९ अप्रैल को आचार्यश्री यहाँ हस्तिनापुर से विहार कर १२ अप्रैल को मुजफ्फरनगर पहुँच गये। आचार्यश्री की आज्ञा से मैं यहीं पर रुक गई। आचार्यश्री ने सभा में स्वयं कहा कि—

"माताजी! आपके यहाँ रुके बगैर यह जम्बूद्वीप निर्माण का महान् कार्य संपन्न नहीं हो सकता है।"

यहाँ मेरे पास आर्यिका रत्नमती माताजी और आर्यिका शिवमती ये दो रही हैं।

यहाँ हस्तिनापुर में दिगम्बर जैन बड़े मंदिर पर १५-४-१९७५ को दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की बैठक हुई, जिसमें संस्थान के सदस्यों ने मेरे समक्ष यह महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया—

"दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान" द्वारा हस्तिनापुर में निर्मित मंदिर एवं जम्बूद्वीप की रचना में अभिषेक एवं पूजन दिगम्बर आम्नाय के अनुकूल होगा। इस समय दिगम्बर आम्नाय में तेरह पंथ एवं बीस

पंथ दोनों प्रचलित हैं। दोनों आम्नाय वाले अपनी-अपनी परम्परानुसार अभिषेक एवं पूजन कर सकते हैं।

मंत्री
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

इस बैठक में संस्थान के उपाध्यक्ष सुकुमार चंद जी मेरठ, जयचंद जी मेरठ, लाला बूलचंद जैन मवाना, लखमीचंद जैन मवाना आदि महानुभाव उपस्थित थे। सभी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया था।

इसके बाद वैशाख सुदी तीज—अक्षय तृतीया के दिन यहाँ सुमेरुपर्वत का कार्य प्रारंभ किया गया। नींव को भरने का काम सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इसमें बहुत बड़ा लोहे का जाल कमलाकार बनाकर रखा गया, जिसमें लगभग साठ टन लोहा होगा।

यहाँ सन् १९७५ के चातुर्मास में प्रतिदिन प्रातः प्रवचनसार का स्वाध्याय चलता था, जिसमें ब्र. हुकुमचंद जैन सलावा वाले, ब्र. मुख्त्यारसिंह जैन आदि स्थानीय विद्वान् सम्मिलित होते थे। मध्यान्ह में धवला, जीवंधरचंपू, वृत्तरत्नाकर आदि अनेक ग्रंथों को मैं अपने शिष्य-शिष्याओं को पढ़ाती थी।

दशलक्षण पर्व में प्रातः प्रवचनसार पर व्याख्यान, मध्यान्ह में तत्त्वार्थसूत्र की १-१ अध्याय का अर्थसहित विवेचन एवं एक-एक धर्म पर प्रवचन करती थी। इसी अवसर पर अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासमिति के महामंत्री श्री सुकुमारचंद जी मेरठ ने यहाँ पर ऋषि मण्डल विधान कराया। इस विधान के कराने वाले मोतीचंद और रवीन्द्र कुमार थे। यहां इस दशलक्षणपर्व में भोपाल, ग्वालियर, देहरादून, खतौली, मेरठ, मवाना, दिल्ली, टिकैतनगर आदि के यात्री पधारे थे।

उधर सहारनपुर में आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज अपने संघ सहित चातुर्मास कर रहे थे। उनके संघ से मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी आदि मुनिगण और कई आर्यिकाएं विहार कर मुजफ्फरनगर आ गये थे, वहाँ चातुर्मास कर रहे थे। मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी ने बारह वर्ष की सल्लेखना ले रखी थी। सो काल पूरा होने से उन्होंने यहाँ यम सल्लेखना शुरू कर दी थी। उन्होंने कई बार सूचना भिजवाई कि—

"ज्ञानमती माताजी! यहाँ आवें।"

शास्त्र में भी 'सल्लेखना के अवसर पर साधु ९६ मील तक बाहर जा सकते हैं' ऐसा लिखा है तथा मैंने वर्षा योग स्थापना के समय इस विषय को खोल भी दिया था अतः मैंने दशलक्षण के बाद आसोज में मुजफ्फरनगर के लिए विहार कर दिया। वहाँ पहुँचकर क्षपक मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी एवं संघ के दर्शन किये। महाराज जी ने मुझसे कई बार सल्लेखना के विषय में परामर्श किये। अनन्तर उनकी इच्छा से वहाँ पर 'चारित्र शुद्धि विधान' का आयोजन किया गया। कु. त्रिशला एवं कु. माधुरी ने कमलाकार मण्डल बहुत ही सुन्दर बनाया। विधान संपन्नता के बाद २२ अक्टूबर को रथयात्रा हुई। वहाँ पर मैंने २६-२७ अक्टूबर को अनेक स्त्री-पुरुषों को सामायिक विधि सिखलायी। अनन्तर २९ अक्टूबर को विहार कर मैं हस्तिनापुर वापस आ गई। आर्यिका रत्नमती माताजी सुपार्श्वसागर जी की सल्लेखना देखने के लिए वहीं पर रह गईं।

आचार्यश्री धर्मसागर जी द्वारा दीक्षायें—

सहारनपुर चातुर्मास समाप्त कर आचार्यश्री संघ सहित ११ दिसम्बर को मुजफ्फरनगर पधार गये। सल्लेखनारत मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी दूध और पानी ले रहे थे। यहाँ पर आचार्यश्री के कर-कमलों से ५ फरवरी १९७६ को ४ मुनि दीक्षायें, ६ आर्यिका दीक्षाएं एवं १ क्षुल्लक दीक्षा सम्पन्न हुई।

क्षुल्लक निर्वाणसागर, ब्र. वीरचंद, ब्र. पूनमचंद और ब्र. मल्लप्पा, इन चारों ने मुनिदीक्षा ली। इनके नाम क्रम से निर्वाणसागर, विपुलसागर, पूर्णसागर और मल्लिसागर रखे गये। ऐसे ही ब्र. जीवनीबाई-आर्यिका

चेतनामती हुईं। ब्र. श्रीमती (मल्लप्पा की धर्मपत्नी) आ. समयमती बनीं। कु. शान्ता और कु. सुवर्णा ने आर्यिका होकर नियममती और प्रवचनमती नाम पाया। ब्र. फिरोजीदेवी ने आर्यिका होकर समाधिमती नाम पाया। कु. सुधा आर्यिका बनीं, इसका नाम सुरत्नमती रखा गया। ऐसे ही ब्र. शिवकरण जी ने क्षुल्लक दीक्षा लेकर सिद्धसागर नाम प्राप्त किया।

समाधिमरण —

यहीं ३१ जनवरी को प्रातः ७ बजे ७३ वर्षीय मुनिश्री बोधिसागर जी का आचार्यसंघ के सानिध्य में अकस्मात् समाधिमरण हो गया। इसी तरह दिल्ली में विराजमान बहुत पुरानी शत वर्षीया चन्द्रमती जी का छह फरवरी को समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया।

पुनः २९ फरवरी को मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी की समाधि आचार्य संघ के सानिध्य में सम्पन्न हुई। उस दिन एस.डी.एम. के आदेशानुसार सारे मुजफ्फरनगर की दुकानें दिन में ३ बजे तक बंद रहीं। दाह-संस्कार वहेलना में किया गया।

सिद्धचक्र विधान —

यहाँ हस्तिनापुर में बड़ौत के अनन्तवीर जैन ने ९-३-७६ से १६-३-७६ तक सिद्धचक्र विधान किया। उधर आर्यिका रत्नमती माताजी मुजफ्फरनगर से विहार कर यहाँ हस्तिनापुर मेरे पास वापस आ गईं। इसके बाद मैंने हस्तिनापुर से खतौली की ओर विहार कर दिया। मेरे साथ आर्यिका रत्नमती जी थीं।

दक्षिण के मल्लप्पा श्रावक यहां आये हुए थे। आचार्यश्री के पास उनकी पत्नी और दो पुत्रियाँ दीक्षा ले रही थीं, तब आर्यिका रत्नमती जी ने मल्लप्पा जी को घण्टों खूब समझाया कि तुम भी दीक्षा क्यों नहीं ले लेते हो? तुम भी मुनिदीक्षा लेकर अपना आत्म-कल्याण करो। आर्यिका रत्नमती जी की प्रेरणा से श्रावक मल्लप्पा ने भी दीक्षा की भावना बना ली। तब आचार्यश्री से प्रार्थना करने पर वे भी अतीव प्रसन्न हुए। इन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली, तब इनका नाम 'मल्लिसागर' रखा गया।

£ ७० ¤

यहाँ खतौली में १२ अप्रैल से १६ अप्रैल तक महावीर जयंती के उपलक्ष्य में विशेष आयोजन हुआ। प्रतिदिन हजारों नर-नारियों ने मेरे प्रवचन का लाभ लिया। अनन्तर वहाँ के लाला शीतलचंद जी आढ़ती, लाला धनप्रकाश, नरेन्द्र कुमार सर्राफ आदि ने आग्रह किया कि —

"माताजी! आप गर्मी-गर्मी यहीं विराजें, हम लोग उपदेश आदि का लाभ उठायेंगे।

पुनः ग्रीष्मावकाश के दिनों में मेरी प्रेरणा से मोतीचंद, रवीन्द्रकुमार ने यहाँ शिक्षण शिविर का आयोजन कराया। २ जून १९७६ से १६ जून १९७६ तक यहाँ सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर लगाया गया। इसमें बालकों से लेकर वृद्धों ने, बालिकाओं से लेकर महिलाओं ने फार्म भरे और अध्ययन किया। इसके संयोजक अमरचंद जैन सर्राफ थे। जब श्री शीतलप्रसाद जैन आढ़ती, प्रमाण-पत्र लेने के लिए उठे और उनके सुपुत्र अमरचन्द जैन संयोजक ने उन्हें प्रमाण-पत्र दिया, तब सभी लोगों ने तालियाँ बजाकर उनका स्वागत किया।

इस शिविर में बालविकास, छहढाला, द्रव्यसंग्रह पद्य, समाधितन्त्र पद्य, तत्त्वार्थसूत्र विषय पढ़ाये गये थे।

यहाँ से मैंने शाहपुर, सोरम आदि गांवों में विहार किया पुनः खतौली समाज की अत्यधिक प्रेरणा से यहाँ वापस आ गई और यहीं वर्षायोग स्थापित किया।

इन्द्रध्वज विधान रचना —

यहाँ मैंने श्रावण कृष्णा सप्तमी से 'इन्द्रध्वज विधान' बनाना शुरू किया। आहार के बाद से सायं ६ बजे

तक मैं मौन रहती थी और विधान की पूजाएँ बनाती रहती थी। कदाचित् बाहर से आये यात्रियों के लिए कुछ समय मौन छोड़कर वार्तालाप कर लेती थी। यहाँ मेरी दैनिक चर्या इस प्रकार थी—

प्रातः चार बजे से उठकर अपररात्रिकस्वाध्याय, रात्रिकप्रतिक्रमण और सामायिक करके शौचादि से निवृत्त होकर मैं रवीन्द्र, मालती, माधुरी, त्रिशला, मंजू इन सबको ६ से ७ बजे तक कातन्त्र व्याकरण पढ़ाती, ७ से ८ तक समयसार का स्वाध्याय चलाती, अनन्तर ९ से १० बजे तक प्रवचन करती, उसके बाद आहार के लिए जाती, वहाँ से आकर मौन धारण कर सामायिक आदि करके इन्द्रध्वज विधान की रचना में लग जाती। सायंकाल पुनः ६ बजे मौन छोड़कर प्रतिक्रमण करती, अनन्तर सामायिक के बाद पुनः कभी लिखती, कभी जल्दी विश्राम करती।"

यह इन्द्रध्वज विधान दीपावली की मंगल बेला में मैंने पूर्ण कर लिया। एक कपड़े में मेरे सारे के सारे पेज लपेटे हुए थे। बंधन से गाँठ न लगाकर यूँ ही बस्ता बांध दिया। यहाँ बंदर बहुत थे। एक दिन एक मोटा बंदर आया और वह कमरे से बस्ता लेकर छत पर भाग गया। मैं देखती रह गई। मेरे तो होश-हवाश गुम हो गये—

"अरे भगवन्। यह क्या हुआ? मै पुनः इस जीवन में ऐसी लिखी पूजाओं में से वापस एक पंक्ति भी नहीं लिख सकती हूँ।"

मुझे तो ऐसा लगा कि मेरे प्राण ही निकल रहे हैं। मोतीचंद अपने कमरे से दौड़े और बोले—

"माताजी! शांति रखो, शांति रखो।"

मैं णमोकार मंत्र जपने लग गई।

मोतीचन्द ऊपर छत पर जाकर बंदर को कुछ खाने का लोभ देने लगे, जैसे-तैसे उसने वह बस्ता छोड़ दिया जो कि एक छत पर जा गिरा। पुण्ययोग से न तो बंदर ने उसे फाड़ा, न कागज फाड़े और गिरने पर भी वह बस्ता नहीं खुला, जबकि वेष्टन में गाँठ नहीं लगी हुई थी, फिर भी जैसे का तैसा सुरक्षित मिल गया। मैंने उसे हाथ में लेकर माथे पर चढ़ाया, सिर पर रखा और अपने भाग्य को सराहा।

इसके बाद मोतीचन्द ने उस विधान की चार टाइप कापियाँ करवा लीं। यहाँ इस विधान को प्रथम बार कराने के लिए कई महानुभाव तैयार थे। मोतीचन्द ने मिट्टी के चार सौ अट्ठावन मंदिर बनवाये, उन्हें अवे में पकवाकर रंग कराया, चार सौ अट्ठावन ध्वजाएं बनवायीं एवं उनमें दस प्रकार के चिन्ह लगाने के लिए दस प्रकार के लकड़ी के ठप्पे बनवाये। सारी व्यवस्था विधान की बन चुकी थी। इसी मध्य यहाँ एक ब्र. आनन्दस्वरूप जी थे। उन्होंने एक प्रपंच खड़ा कर दिया कि—

"माताजी ने इन ध्वजाओं के लिए जो बैल आदि के चिन्ह बनवाए हैं, यदि ये ध्वजाएँ मंदिर पर लगेंगी तो पूजा में पशुबलि का दोष लगेगा।"

मैंने यह चर्चा सुनी तो उन्हें बुलाकर धवला, जयधवला, तिलोयपण्णत्ति आदि के प्रमाण दिखाने चाहे कि इन महाग्रंथों में वर्णन है कि समवसरण में और अकृत्रिम मंदिरों की ध्वजाओं में ये दशविध के चिन्ह रहते हैं। वर्तमान में भी तेरहपंथी के सिरमौर विद्वान् पंडित नाथूलाल जी ने स्वयं इस चिन्ह के श्लोक का अर्थ करके भेजा था और लिखा था—

"आजकल कुछ विद्वान् अंशुक की जगह शुक पाठ लेकर तोते का चिन्ह बनवाते हैं इत्यादि। उनका पत्र आज भी रवीन्द्र कुमार के पास फाइल में लगा हआ है किन्तु खेद की बात यह रही कि ब्रह्मचारी जी मेरे पास आये ही नहीं, बाहर ही बाहर प्रपंच उठकर विधान का आयोजन स्थगित हो गया। मुझे कोई विशेष दुख नहीं हुआ। वहाँ से विहार कर मैं हस्तिनापुर आ गई। यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान् महावीर स्वामी के सामने

पांडाल बनाकर यह विधान टाइप कापियों से ही कराया। सर्वप्रथम विधान कराने का श्रेय श्री विपिन चंद जैन पहाड़ी धीरज दिल्ली और लाला उग्रसेन जैन पहाड़गंज दिल्ली वालों ने प्राप्त किया। इस विधान को बनाने के लिए प्रार्थना करने वाले श्री मदनलाल चांदवड़ रामगंजमंडी ने भी इसमें भाग लिया। यह विधान २६ फरवरी से ७ मार्च १९७७ तक सम्पन्न हुआ।

यह मंडल विधान सर्वप्रथम तीर्थक्षेत्र पर कल्पवृक्षस्वरूप भगवान् महावीर की प्रतिमा के सानिध्य में सम्पन्न हुआ, इसकी मुझे अत्यन्त प्रसन्नता रही।

आज कुछ लोग कोई कार्य प्रारंभ करते हैं यदि उसमें प्रारंभ में विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं तो प्रायः हताश हो जाते हैं और कहते हैं-'प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः किन्तु मैंने देखा है कि प्रायः मेरे हर कार्य में विघ्न-बाधाओं की भरमार रही है फिर भी वे सफल हुए, आशातीत सफल हुए हैं। आप इस विधान को ही ले लीजिये, इसके प्रारंभिक आयोजन में कतिपय लोगों ने विघ्न डाल दिया लेकिन आज आप देखें- सन् १९७६ से लेकर १९८७[१] तक सारे भारतवर्ष में हर प्रांत में और हर संघों में यह विधान कितनी बार हो चुका है और कितना जनप्रिय बन चुका है? शायद ही कोई ऐसा दिन जाता हो कि जिसमें यह विधान कहीं न हो रहा हो। आज तो कई जगह धातुओं के चार सौ अट्ठावन जिन मंदिर बनाये जा चुके हैं और चार सौ जिन प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित कराकर लोग विधान करा रहे हैं। अस्तु! इस विषय में यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है।

इसी सन् १९७६ में मैंने हस्तिनापुर में नियमसार का हिन्दी अनुवाद पूर्ण किया। दशलक्षण धर्म के पद्य संस्कृत और हिन्दी में बनाया। 'प्रतिज्ञा' उपन्यास और 'रोहिणी' नाटक लिखा तथा यहाँ खतौली में 'दीपावली पूजन विधि' एवं 'व्रत विधि एवं पूजा' नाम से पुस्तकें लिखी हैं।

खतौली में दशलक्षण पर्व —

यहाँ दशलक्षण पर्व में बड़ा बाजार स्थित ठाकुरद्वारे के प्रांगण में पांडाल बनाया गया था। उसमें प्रतिदिन ८ से ९ बजे तक मेरा एक-एक धर्म पर प्रवचन होता था। मध्यान्ह में तत्त्वार्थसूत्र की एक-एक अध्याय का अर्थ सहित विवेचन होता था। प्रातःकाल के प्रवचन में जैन और जैनेतर बड़ी संख्या में आकर धर्मलाभ लेते थे। यहाँ चातुर्मास स्थापना के दिन नगरपालिका टंकी मैदान में मेरा केशलोंच सम्पन्न हुआ था, जिसे भी अनेकों जैन-जैनेतरों ने देखा। खासकर आर्यिका की चर्या और केशलोंच की कठोर वीरचर्या देखने का जैनेतर लोगों के लिए प्रथम अवसर था।

ललितपुर में १३ जून १९७६ से २० जून १९७६ तक अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद का नैमित्तिक अधिवेशन बहुत बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ था। उस अवसर पर यहाँ से मोतीचन्द और रवीन्द्रकुमार गये हुए थे। वहाँ अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए थे और मदनलाल चांदवड़ ने कहा था कि—

"पूज्य माताजी से मेरी ओर से प्रार्थना कर दीजिये कि वे 'इन्द्रध्वज विधान' बना दें....इत्यादि।"

वहाँ से आकर इन दोनों ने मुझसे प्रार्थना की। मैं उस समय हस्तिनापुर से तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसार आदि इस उद्देश्य से साथ में लेकर खतौली गई थी कि मुझे तीन लोक मंडल विधान बनाना है पुनः मदनलाल की प्रार्थना से मैंने इन्हीं ग्रंथों के आधार से वहां पर इन्द्रध्वज विधान बनाया था पुनः तीन लोक मंडल विधान बनाने का अवसर सन् १९८६ में आया। यह विधान 'सर्वतोभद्र' नाम से बनाया है और इसे ७ फरवरी १९८७ के दिन पूर्ण किया है। खतौली चातुर्मास के बाद मैं हस्तिनापुर वापस आ गई।

---

१. यह प्रकरण सन् १९८७ में लिखा गया है।

£७१¤

फलटण में महत्वपूर्ण सम्मेलन —

फलटण जिला सतारा, महाराष्ट्र में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के सानिध्य में और मुनिश्री सिद्धसेन जी महाराज के सानिध्य में, मुनिश्री सिद्धसेन जी की प्रेरणा विशेष से, २९-१२-१९७६ से ३-१-१९७७ तक एक विशेष भव्य सम्मेलन समारोह रखा गया था। इसमें शास्त्री परिषद का ५४वां अधिवेशन था। दिगम्बर जैन विद्वत् सम्मेलन, दिगम्बर जैन मुनि सम्मेलन, दिगम्बर जैन भट्टारक सम्मेलन और दिगम्बर जैन तीर्थ सम्मेलन के आयोजन रखे गये थे। पहले से ही यह घोषणा हो चुकी थी कि इस आयोजन में दिगम्बर जैन मुनि मार्ग की रक्षा और आर्ष परम्परा की रक्षा हेतु अनेक प्रस्ताव पास किये जायेंगे। जिसमें कानजी पंथ का दृढ़ता से विरोध रहेगा।

इस कार्यक्रम में सफल आयोजक मोहनलाल गुलाबचंद गांधी, मानिकचंद वीरचंद गांधी और आनंद लाल जीवराज दोशी फलटण के थे। पं. बाबूलाल जमादार भी इसमें प्रमुख थे। इस अवसर पर यहाँ से मोतीचन्द और रवीन्द्रकुमार भी गये हुए थे। वहां पर अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये जो अन्यत्र सम्यग्ज्ञान आदि में छप चुके हैं। वहाँ साधु संघ के साथ भट्टारक समुदाय एवं विद्वत् समूह अधिक रूप में उपस्थित थे। वहीं पर अखिल भारतवर्षीय जैन युवा परिषद का गठन किया था। वर्तमान में उसके अध्यक्ष ब्र. रवीन्द्रकुमार जैन (हस्तिनापुर) हैं।

उधर यह अधिवेशन का कार्यक्रम चल रहा था। मैं इधर हस्तिनापुर के शांतिनाथ मंदिर के बाहर धूप में बैठकर लेखन आदि कार्य किया करती थी। तभी मेरठ आदि के कई एक विशिष्ट महानुभाव मेरे पास आये और बौखलाते हुए बोले —

"माताजी! यह जो ललितपुर में प्रस्ताव पास हुआ और अभी जो फलटण में प्रस्ताव पास होंगे, इन सब काँजीपंथ विरोधी कार्यों के प्रति हम लोगों को बहुत ही क्षोभ है। यद्यपि हम लोग अभी तक कानजीपंथ सोनगढ़ विरोधी थे, फिर भी अब हम लोग इस इलाके में गांव-गांव में, घर-घर में सोनगढ़ विद्वानों को छा देंगे। उन्हें बुला-बुलाकर सर्वत्र उनका प्रचार करेंगे-करायेंगे। दिन-दूना-रात-चौगुना उनका विस्तार करते हुए आप लोगों की नाक में दम कर देंगे.....।"

मुझे यह सब सुनकर बहुत ही आश्चर्य हुआ। मैं कुछ हंसी और बोली —

"भाई! कार्यक्रम तो मेरे से बहुत दूर फलटण में हो रहा है और आप लोग यहाँ मेरे पास क्यों नाराजगी व्यक्त कर रहे हैं?"

तभी एक महानुभाव बोले —

"माताजी! यह पं. बाबूलाल जमादार इन सबमें शामिल है और वह आपके संस्थान से जुड़ा हुआ है। दूसरी बात, आपके शिष्य मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार भी तो वहाँ गये हुए हैं।.....तीसरी बात, आप स्वयं उन विचारों से सहमत हैं.....।"

मैंने कहा — "हाँ! यह कहना तो आपका सर्वथा सत्य है क्योंकि मैं कभी भी गुरु परम्परा, आर्ष परम्परा का ही पक्ष लूँगी। चाहे जो भी हो, कानजी पंथी विचारों का पक्ष तो मेरे द्वारा असंभव ही है।"

खैर! मैंने उन्हें आर्ष परम्परा के गुण और कानजीपंथ के दोषों को समय-समय पर बताया भी था, पुनः बताने का प्रयास किया, किन्तु ये लोग बोले —

"आपकी विचारधारा के लोग तीर्थ क्षेत्रों का 'सर्वे' या संरक्षण कुछ करते तो हैं नहीं और वे लोग करते

हैं, खुले हाथ से पैसा देते हैं तो आप उनकी विचारधारा क्यों नहीं अपनाते?"

मैंने कहा—पैसे के या कार्य करने के लोभ में, धर्म की सत्य परम्परा को छोड़कर गलत और एकांत परम्परा नहीं अपनाना चाहिए।"

पूज्यपाद स्वामी की सूक्ति है—

'क्षुद्व्यावृत्त्यै कवलयति कः कालकूटं बुभुक्षुः'

भूख को दूर करने के लिए कोई भी भूखा मनुष्य कालकूट विष नहीं खाता है।

खैर! उन महानुभावों ने बार-बार यही कहा कि—

"आप बाबूलाल जमादार को अपनी संस्था से हटा दें अन्यथा हम आपका, आपके द्वारा स्थापित संस्थान का भी जोरदार विरोध करेंगे।" ऐसे धमकी भरे वचनों से भला मुझ पर क्या असर होने वाला था?

सुदर्शन मेरु निर्माण —

इधर सुदर्शन मेरु पर्वत का निर्माण कार्य चल रहा था। नींव की भराई होकर लगभग नन्दन वन तक ऊँची दीवारें उठ चुकी थीं। दिल्ली, रुड़की आदि के इंजीनियर लोग अवैतनिक सेवा दे रहे थे। डा. ओ.पी. जैन विश्व के विख्यात रुड़की विश्वविद्यालय के ख्याति प्राप्त हैड ऑफ द डिपार्टमेंट सिविल इंजीनियर हैं। उन्होंने इसको बनवाया है। फिर भी एक प्रबुद्ध मुनि ने सुमेरु पर्वत के लिए पता नहीं क्यों, लोगों से कहना शुरू किया—

"वहाँ हस्तिनापुर में आर्यिका ज्ञानमती जी एक बहुत बड़ा कुंआ बनवा रही हैं, क्या आपने देखा नहीं?....."

कई एक लोगों ने मेरे से यह बात बताई। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और विचार करने लगी—

"अहो! आज तक मैंने किसी भी मुनि के द्वारा कराये जाने वाले किसी भी कार्य का विरोध नहीं किया है और वे मुनि तो स्वयं ही ऐसे निर्माण आदि कार्यों के करने-कराने के पक्षधर हैं पुनः ऐसा गलत प्रचार क्यों कर रहे हैं?"

ऊहापोह करने के बाद भी यही समझ में आया कि वे केवल ईर्ष्यावश ही किन्हीं-किन्हीं से ऐसा बोल देते हैं। प्रायः बाहर में तो मौन ही हैं, न यहाँ का प्रचार करते हैं न अप्रचार।

हस्तिनापुर क्षेत्र पर चातुर्मास —

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के पदाधिकारियों की प्रेरणा से मेरा यह १९७६ का चातुर्मास यहीं हस्तिनापुर क्षेत्र पर करने का निर्णय रहा। इस चातुर्मास में प्रातः समयसार, मूलाचार आदि ग्रंथों के स्वाध्याय के साथ-साथ ही मध्यान्ह में मैं, कु. माधुरी आदि को अध्ययन भी कराती थी।

यहाँ पर 'दिगम्बर मुनि' , 'आराधना', 'वर्षायोग', 'धरती के देवता' और 'पंचमेरु विधान' ऐसे पाँच ग्रंथ रचे। इसमें आराधना पुस्तक संस्कृत के ४४४ श्लोकों में रची। यह मूलाचार, आचारसार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों के आधार से मुनि और आर्यिका चर्या को समझने के लिए एक लघु पुस्तिका है।

'वर्षायोग' पुस्तिका को सम्यग्ज्ञान के जुलाई सन् १९७७ में खास अंक बनाकर 'वर्षायोग अंक' नाम से निकाला गया। इस अंक को अनेक साधुओं, भट्टारकों एवं विद्वानों ने बहुत पसंद किया था। इस जुलाई १९७७ में सुमेरु पर्वत का निर्माण ७२ फुट ऊँचाई तक हो रहा था पुनः २५ दिसम्बर को ८१ फुट तक ऊँचा पूरा बन चुका। इसमें जब-जब लेंटर पड़ने का कार्य शुरू हुआ, इस वर्ष प्रायः उस समय ऐसा लगता कि अभी मूसलाधार बारिश आयेगी किन्तु मैं सामने ही भगवान् महावीर के मंदिर के चबूतरे पर बैठ जाती और जाप्य करती रहती। पूरा लेंटर पड़ जाने के बाद प्रायः रात्रि में वर्षा होती, तब इन कार्यकर्ताओं को इतनी प्रसन्नता होती कि फूले नहीं समाते और बोलते—

"माताजी! इस रात्रि में जलवृष्टि ने तो अमृत वर्षा का काम कर दिया, हमारा सुमेरु का लेंटर खूब मजबूत हो गया। खूब अच्छी तराई हो गई है।"

यह था चमत्कार भगवान महावीर स्वामी का और सुमेरु पर्वत का!

मेरे संघ का यह चातुर्मास यहीं हस्तिनापुर बड़े मंदिर पर सम्पन्न हुआ। यहाँ श्रावण में मुझे मलेरिया ज्वर आने लगा। हर तीसरे दिन सर्दी लगकर ज्वर चढ़ता था। इससे मेरे स्वास्थ्य में बहुत कमजोरी आ गई थी, फिर भी यथाशक्य मैं इस शरीर से लेखन कार्य ले रही थी।

प्रशिक्षण शिविर —

१४ मई से १८ मई १९७८ तक भिंडर में आचार्यश्री धर्मसागर जी के सानिध्य में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। इस अवसर पर यहाँ संघ से मोतीचन्द और रवीन्द्रकुमार भी गये हुए थे। वहाँ पर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा का रजत जयंती अधिवेशन हुआ। वहाँ पर सभी श्रेष्ठीवर्ग और विद्वत्वर्ग में यह चर्चा हो रही थी कि "हम लोग विद्वानों के लिए प्रशिक्षण शिविर लगाना चाहते हैं। हमें पूज्य माताजी जी के मार्गदर्शन की आवश्यकता है।"

मोतीचन्द, रवीन्द्र ने कहा—"ठीक है, आप हस्तिनापुर पधारें, माताजी से परामर्श करें, पुनः जैसा होगा, वैसा हम लोग भी सहयोग देंगे।"

ग्रीष्मावकाश में यहाँ हस्तिनापुर में त्रिलोकचंद जी कोठारी और गणेशी लाल जी रानी-वाला आये। उन दोनों ने निवेदन किया—

"माताजी! हम आपके सानिध्य में विद्वानों का प्रशिक्षण शिविर करना चाहते हैं, आप स्वीकृति प्रदान कीजिये।"

मेरी स्वीकृति प्राप्त कर ये लोग बोले—

"माताजी! कुछ खास-खास विषयों का संकलन कर आप विद्वानों को दिशाबोध देने के लिए एक पुस्तक तैयार कर दीजिये, जिससे विद्वानों को उसी माध्यम से प्रशिक्षण दिया जा सके।"

मैंने इसे भी स्वीकृत कर लिया। इधर उस वर्ष भी मेरा चातुर्मास यहीं हस्तिनापुर में हुआ। बरसात में मुझे इस बार भी मलेरिया ज्वर आने लगा, फिर भी मैंने परिश्रम करके लगभग एक माह में 'प्रवचन निर्देशिका' नाम से एक पुस्तक तैयार कर दी। रवीन्द्रकुमार ने इसे मेरठ से छपाया, प्रूफ रीडिंग आदि में और जल्दी छपाने में काफी मेहनत की। इस प्रशिक्षण शिविर का आयोजन ७ अक्टूबर से १६ अक्टूबर १९७८ तक १० दिन के लिए रखा गया। इसमें पं. मोतीलाल जी कोठारी फलटण वालों को कुलपति का भार सौंपने का निर्णय रहा।

इस शिविर के लिए क्षेत्र कमेटी वालों से धर्मशाला मांगी गई। क्षेत्र वालों ने स्वीकृति दे दी। ठीक समय पर एकदम मना कर दिया। इधर हम लोग सोच भी नहीं पा रहे थे कि—

"अब क्या करें? शिविर कहाँ सम्पन्न किया जावे?"

मैंने कहा—"जंबूद्वीप स्थल पर शामियाना एवं छोलदारियाँ लगवाकर यह शिविर कर लो।"

किन्तु किसी ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि यहाँ अक्टूबर में ठंड पड़ने लगती है। श्वेतांबर धर्मशाला के बालाश्रम के महानुभाव आकर निवेदन करने लगे—

"हम आपको जगह और सारी सुविधा देंगे, आप चलिये मेरे स्थान पर शिविर संपन्न कीजिये।"

इधर ३०-४० विद्वान् पधार चुके थे, उनके ठहरने की कोई व्यवस्था नहीं थी। यहाँ मंदिर की छह धर्मशालाओं के लगभग ढाई सौ कमरों में ताले डाल दिये गये थे। इधर के ही कुछ महानुभावों ने कहा—

"हम लोग ताला तोड़कर विद्वानों को ठहरायेंगे। क्षेत्र पर पूरे भारतवर्ष के जैन समाज का पैसा लगता

है.....।" इत्यादि।

मैंने सर्वथा मना कर दिया कि—

"किसी भी प्रकार से अशांति नहीं होनी चाहिए।"

सायंकाल में त्रिलोकचंद जी कोठारी, गणेशीलाल जी रानीवाला पधारे। ऐसी स्थिति देखकर दंग रह गये। मेरे पास आये कुछ विचार-विमर्श के बाद बोले—

"माताजी! अब आप शीघ्र ही बालाश्रम में (श्वेतांबरी धर्मशाला) विद्वानों को ठहराने की स्वीकृति दे दीजिये। अब कुछ भी सोचने का समय नहीं है।"

मैंने कहा—"हम दिगम्बर-दिगम्बर आपस में मतभेद रखकर श्वेतांबर के स्थान पर जावें, यह उचित नहीं प्रतीत होता.....।"

फिर भी लोगों के अतीव आग्रह से और अत्यन्त लाचारीवश हमें स्वीकृति देनी पड़ी। इन लोगों ने उधर ही शिविरार्थियों को ठहराया। अगले दिन प्रातः प्रशिक्षण शिविर का उद्घाटन होकर प्रो. मोतीलाल कोठारी ने मेरे द्वारा लिखित "प्रवचन निर्देशिका" का विमोचन किया। उस पुस्तक से वे बहुत ही प्रभावित हुए और यह निर्णय रहा कि "यह प्रशिक्षण शिविर केवल इस निर्देशिका के माध्यम से ही चलेगा।" इस शिविर में भारत के कोने-कोने से लगभग १५० प्रशिक्षणार्थी आये थे। इसमें कुछ श्रीमंत वर्ग और सभी विद्वान् ही थे। मैंने शिविर के प्रारंभ में ही सभी को नियम में बांध दिया, वे ये थे—

१. प्रशिक्षण शिविर के १० दिनों में धार्मिक चर्चा को छोड़कर और कोई चर्चा न की जाये। विकथा का त्याग किया जाये। 'प्रवचन निर्देशिका' के अध्ययन में ही तत्पर रहा जाये। किसी भी व्यक्तिगत पंथवाद की चर्चा न की जाये।

२. प्रवचन एवं प्रशिक्षण के समय कोई शंका नहीं उठाई जायेगी। शंका को नोट करके रात्रि में शंका-समाधान के समय ही उसका समाधन किया जाये।

३. शिविरपर्यंत पंचाणुव्रत का पालन एवं अष्टमूल गुण का धारण सबके लिए आवश्यक है। आगे भी धारण करें तो श्रेष्ठ है।

४. प्रत्येक कार्यक्रम में समय से ५ मिनट पूर्व सभी प्रशिक्षणार्थियों का उपस्थित होना आवश्यक है।

५. प्रशिक्षण के बाद आर्ष मार्ग का यथोचित आगमोक्त प्रचार करेंगे।

६. कुलपति की आज्ञा के बिना विषय से विषयान्तर में कोई चर्चा नहीं करेगा।

७. तेरहपंथ, बीसपंथ की चर्चा न की जावे।

८. कानजी पंथ, श्वेताम्बर आदि के विषय में भी कोई प्रश्नोत्तर न किये जावें।

इस प्रशिक्षण शिविर में प्रतिदिन प्रातः ५ बजे से महावीराष्टक स्तोत्र की प्रार्थना होती थी जिसमें स्वयं कुलपति जी भी पंक्ति में खड़े होते थे। इस शिविर में प्रायः हर कक्षाएँ मेरे सानिध्य में चलती थीं। मैं भी समय-समय पर प्रशिक्षण देती रहती थी। आर्यिका रत्नमती माताजी भी बड़े उत्साह से इस वृद्धावस्था में भी दोनों टाइम मंदिर से बालाश्रम जाती-आती रहतीं थी। उन्हें भी यह विद्वानों का सम्मेलन बहुत अच्छा लगा था। एक दिन मैंने सामायिक विधि का भी प्रशिक्षण दिया था। पं. बाबूलाल जी जमादार द्वारा मंच-संचालन एवं अनुशासन व्यवस्था बहुत अच्छी रही थी। अंतिम दिन जब प्रमाण-पत्र वितरित किये जाने वाले थे, तब प्रो. मोतीचन्द जी कोठारी स्वयं उठकर खड़े हुए और उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—

"मैं भी माताजी का विद्यार्थी हूँ। मुझे भी प्रमाण-पत्र चाहिए।" जब इन्होंने प्रमाण-पत्र ग्रहण किया, तब इनकी सरलता और निरभिमानता का स्वागत करते हुए सबने तालियाँ बजाकर हर्ष व्यक्त किया। समापन

समारोह में कुलपति महोदय ने सबको खड़े करके निम्न प्रतिज्ञा दिलायी—

"हम देवशास्त्र गुरु की मन, वचन, काय से वंदना करते हुए, मन वचन काय से प्रतिज्ञा करते हैं कि जो हमारी आर्ष परम्परा देवशास्त्र गुरु की चली आ रही है, उसकी तन से, मन से, धन से रक्षा करते हुए देश-समाज-जाति और मानव की सेवा यथाशक्य करते रहेंगे। करते रहेंगे!! करते रहेंगे!!!"

उसी समय अखिल भारतीय दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद और दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान ने मुझे अभिनन्दन पत्र समर्पित कर 'सिद्धान्तवाचस्पति' उपाधि से विभूषित किया।

तब मैंने सोचा कि—"वास्तव में विचार करके देखा जाये तो साधु-साध्वियों का ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ही एक व्यवसाय है, धर्म है, कर्तव्य है। ये उपाधियाँ भला उन्हें क्या महान बनायेंगी? वे तो अपनी चर्या से ही महान बनते हैं।....."

इस शिविर में पधारे पं. मक्खनलाल जी शास्त्री मोरेना, जो कि 'गुरूणां गुरु' थे। पं. बाबूलाल जी आदि ने कहा—

"माताजी! इन पर कंट्रोल कोई भी नहीं कर सकता.....।"

मैंने कहा—"पंडित जी! आप चिंता न करें।"

पुनः मैंने पंडित मक्खनलाल जी को बुलाकर कहा—

"पंडित जी! मैंने शिविर के प्रारंभ में ही अमुक-अमुक नियम दे दिये हैं अतः मर्यादा की रक्षा करना आपका कर्तव्य है अर्थात् किसी का नाम लेकर खुले शब्दों में कानजी पंथ का विरोध नहीं करना।"

पंडित जी ने कहा—" जो आज्ञा आपकी.....।"

इस शिविर के समापन के समय श्री जयचंद जी लोहाड़े (हैदराबाद), श्री निर्मल कुमार जी सेठी (सीतापुर), श्री नीरज जैन (सतना) आदि महानुभाव आये थे। दिगम्बर की छह धर्मशालाएं खाली बंद पड़ी हैं और श्वेताम्बरों के बालाश्रम में शिविर शांतिपूर्ण वातावरण में चल रहा है, सभी को आश्चर्यकारी लगा। खैर! इसकी प्रतिक्रिया सारे भारत में और सारे जैन समाज में हुई। जगह-जगह क्षेत्र कमेटी के पदाधिकारियों की भर्त्सना हुई और दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की प्रशंसा हुई। चूंकि सहनशीलता ही सबसे बड़ा गुण है।

इस शिविर के बाद कार्तिक शु. १५ को यहाँ क्षेत्र पर मेला होता है। हुकुमचंद भारिल्ल आदि विद्वान आये, मेरे कमरे में बैठकर अनेक चर्चायें करते रहे। यद्यपि मेरा स्वास्थ्य कमजोर हो रहा था। आर्यिका रत्नमती जी को भी ज्वर से काफी कमजोरी हो चुकी थी, फिर भी मन मजबूत करके मैंने संघ सहित चातुर्मास के बाद दिल्ली की ओर विहार कर दिया।

दिल्ली आगमन—

इस शिविर के बाद एक दिन एक महानुभाव ने आकर मुझसे कहा कि—

"माताजी! आपने सिद्धान्त संरक्षिणी सभा नाम से यह कौन सी सौत लाकर यहाँ खड़ी कर दी.....।"

उस समय मुझे यह बात कुछ समझ में नहीं आई, बाद में दिल्ली में श्री विजेन्द्र कुमार सर्राफ ने एक दिन यह बतलाया कि—

"दिगम्बर जैन महासभा और अखिल भारतीय दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा में विधवा विवाह, विजातीय विवाह, अन्तर्जातीय विवाह के विरोध में नियम बने हुए हैं। यह दोनों संस्थाएं जाति-पांति, वर्ण-व्यवस्था को मानने वाली संस्थाएं हैं। इनके विरुद्ध यहां पर गठित दिगम्बर जैन परिषद ऐसी संस्था है जिसमें ये विधवा विवाह आदि विषय मान्य है यह संस्था इनका समर्थन करने के लिए और इनका प्रचार करने के

लिए ही बनी है अतः इन लोगों ने इस सिद्धान्त संरक्षिणी सभा को अपनी सौत मानकर, उसके माध्यम से होने वाले शिविर में अपने क्षेत्र की धर्मशालाओं में जगह नहीं दी थी!"

आगे चलकर धीरे-धीरे यह विषय ऊपर उभरता चला आया और आज तो निर्मल कुमार सेठी महासभा के अध्यक्ष हैं इनका और महासमिति आदि के अध्यक्षों का कई वर्षों तक खुलकर विरोध चला है।

£ ७२ ¤

आर्यिका रत्नमती माताजी का स्वास्थ्य अब दिल्ली के हल्ले-गुल्ले को झेलने लायक नहीं था, अतः वे दिल्ली जाना नहीं चाहती थीं किन्तु ऐसी कमजोर अवस्था में उन्हें यहाँ कैसे छोड़ना और कैसे दिल्ली ले जाना? फिर भी उन्हें साथ ही ले गई। इतनी भयंकर सर्दी में १९ दिसम्बर को मैं दिल्ली पहुँच गई। वहाँ प्रतिष्ठा की तारीख का निर्णय लिया।

सुदर्शन मेरु प्रतिष्ठा की घोषणा —

रविवार २९ अप्रैल से ३ मई बृहस्पतिवार १९७९ तक 'श्री सुदर्शन मेरु जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र. में होगा, इस हेतु से प्रतिष्ठा समिति का गठन किया गया। ब्र. सूरजमल को प्रतिष्ठाचार्य रखना, ऐसा निर्णय रहा। यह प्रतिष्ठा अपने आप में एक विशेष ही थी। प्रतिष्ठा की तैयारियां जोर-शोर से हो रही थीं। इसी मध्य पं. बाबूलाल जमादार संस्थान के प्रचारमंत्री एवं मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार ये लोग आसाम, गोहाटी, कलकत्ता आदि गये। प्रतिष्ठा के प्रचार-प्रसार एवं व्यवस्था के लिए और भाक्तिक श्रावकों से तन-मन-धन का सहयोग लेने के लिए।

इधर बहुत ही अच्छे इंजीनियर आदि की सलाह से यहाँ सुदर्शन मेरु के ऊपर बनी पांडुक शिला पर जन्माभिषेक के समय १००८ कलशों द्वारा श्रावक-श्राविकाएं ऊपर चढ़कर अभिषेक कर सकें, इसके लिए आफिस से लेकर इतनी दूर तक सुदर्शन मेरु की पाँडुक शिला तक पाइप की सीढ़ियाँ बनाई गईं। इस प्रतिष्ठा में यह सीढ़ियाँ, इनसे चढ़कर जन्माभिषेक का आनन्द, यह एक अपूर्व आयोजन था। इसी के साथ समापन के समय 'गजरथ महोत्सव' इस उत्तर प्रांत में वह भी प्रथम बार था।

इस प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव के प्रचार का रेडियो से भी प्रसारण हुआ।

इधर सुदर्शन मेरु पर्वत में संगमरमर पत्थर बढ़िया पीले रंग का लगाया जा रहा था और इसमें सोलह वेदियाँ बन रहीं थीं। काम बहुत ही द्रुतगति से चल रहा था।

मैं दरियागंज दिल्ली से चैत्र शुक्ला को विहार कर यहाँ यथासमय आ गई।

मेरा जम्बूद्वीप पर आगमन —

यहाँ पर बड़े मंदिर में मेरी ठहरने की इच्छा नहीं थी, चूंकि उतनी दूर से बार-बार प्रतिष्ठा के समय मेरा व रत्नमती माताजी का आना-जाना संभव नहीं था अतः जिनेन्द्रप्रसाद ठेकेदार आदि ने निर्णय करके यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान् महावीर मंदिर के पास फूस के छप्पर की दो झोपड़ियाँ बनवा दी थीं। मैं दिल्ली से आकर बड़े मंदिर का दर्शन करते हुए सीधे इधर आ गई और इन झोपड़ियों में ठहर गई। उस समय क्षेत्र कमेटी के लोगों ने वहाँ ठहरने का आग्रह भी किया, किन्तु समस्या समझाकर मैं इधर ही आ गई। बाद में प्रतिष्ठा पर श्री उम्मेदमल पांड्या ने मुझे अपने द्वारा निर्माण कराये गये फ्लेट में ठहराया जो कि यहीं जम्बूद्वीप पर आफिस के पास बने हुए थे।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा —

यहाँ वैशाख बदी सप्तमी, दिनाँक १९ अप्रैल को झंडारोहण हुआ। यह मंगल कार्य मुजफ्फरनगर के श्री

भागचंद पाटनी ने सम्पन्न किया। वैशाख कृ. १३ को अंकुरारोपण, वैशाख कृ. १४, दिनाँक २५ अप्रैल को रथयात्रा महोत्सवपूर्वक श्री जी की प्रतिमा को पांडाल की वेदी में विराजमान किया गया। वहाँ पांडाल में ही नवदेवता मंडल विधान एवं जाप्यानुष्ठान प्रारंभ हो गया।

आचार्य कल्प श्रेयांससागर जी महाराज जम्बूद्वीप पर —

वैशाख शु. १, दिनाँक २७ अप्रैल को अहिच्छत्र की यात्रा करके आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर जी महाराज ससंघ इस जम्बूद्वीप स्थल पर पधारे। एक मील पूर्व ही मैं उनके सम्मुख पहुँच गई। उनके मंगल-पदार्पण से हम सबको एक अद्‌भुत ही आनन्द आया। वैशाख शु. २ को जलयात्रा होकर सुदर्शन मेरु के सोलह चैत्यालयों की वेदी शुद्धि हुई।

यहाँ प्रतिष्ठा में सुदर्शन मेरु की सोलह जिन प्रतिमाएं सिद्धों की थीं क्योंकि वहाँ अकृत्रिम जिनालयों में बिना चिन्ह की ही शाश्वत सिद्ध प्रतिमाएँ रहती हैं अतः विधिनायक भगवान् शांतिनाथ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी।

वैशाख शुक्ला ३, अक्षय तृतीया रविवार दिनाँक २९ अप्रैल को मध्यान्ह में उत्तर प्रदेश शासन के विद्युत मंत्री श्री रेवती रमण जी ने इस मेले का उद्‌घाटन किया। रात्रि में पांडाल में इंद्रों की बोलियों का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस प्रतिष्ठा में सौधर्म इन्द्र बनने का सौभाग्य श्री हरकचंद जी पांड्या कलकत्ता वालों को प्राप्त हुआ। इस प्रकार १२ इन्द्र और कुबेर की बोलियाँ सम्पन्न हुईं।

भगवान शांतिनाथ के पिता विश्वसेन और माता ऐरादेवी बनने का सौभाग्य श्री पूषराज जी अग्रवाल जैन कलकत्ता वालों ने प्राप्त किया। गर्भ कल्याणक क्रिया की पूर्व विधि का मंच पर प्रदर्शन किया गया। अनन्तर ३० अप्रैल को प्रातः भगवान् के जन्माभिषेक का विशाल जुलूस निकला। उसके बाद यहाँ जो तारापुर एंड कम्पनी मद्रास के सौजन्य से, उनके इंजीनियर के मार्गदर्शन में, नरेशकुमार बंसल दिल्ली के सद्‌प्रयत्न से पाइप का बहुत सुन्दर पैड बनाया गया था, उसी से चढ़कर हजारों इंद्र-इंद्राणियों ने १००८ कलशों से श्री शांतिनाथ भगवान् का जन्माभिषेक किया।

इस अवसर पर बड़े मंदिर वालों ने माइक से विरोध करना शुरू कर दिया कि जो स्त्रियाँ वहाँ श्रीजी का अभिषेक करेंगी, वो दुर्गति को (नरक को) प्राप्त करेंगी। यहाँ हम लोगों के ऊपर उन लोगों के विरोध का कोई असर नहीं होता था चूँकि हम लोग अपनी आचार्यश्री शांतिसागर जी की परम्परा में दृढ़ थे और ये सभी कार्य जैन आगमानुकूल हैं, इस बात को दृढ़ता से दिखाकर जनता को समाधान भी प्रस्तुत कर देते थे। दूसरी बात सन् १९७५ में श्री सुकुमार चंद मेरठ आदि महानुभावों की उपस्थिति में यह प्रस्ताव इस संस्थान में पास हो चुका था कि "यहाँ जम्बूद्वीप में तेरह पंथ और बीसपंथ दोनों आम्नायों के अनुसार पूजा पद्धति चलेगी" अतः यहाँ अपना कार्यक्रम आगमानुकूल चलता ही रहा।

स्त्रियों द्वारा जिनाभिषेक के प्रमाण —

कुछ लोगों ने शास्त्र के प्रमाण जानना चाहे, तो उसी समय कुछ प्रमाण भी दिखा दिये गये। यथा—

ततः सुरपतिस्त्रियो जिनमुपेत्य शच्यादयः।
सुगंधितनुपूर्वकैर्मृदुकराः समुद्वर्तनम् ।।
प्रचक्रुराभिषेचनं शुभपयोभिरुच्चैर्घटैः।
पयोधरभरैर्निजैरिव समं समावर्जितैः[१]।। ५४।।

शचि आदि इंद्राणियों ने जिनेन्द्रदेव के कोमल शरीर का उद्वर्तन—उबटन करके शुभ जल से परिपूर्ण

१. हरिवंशपुराण, सर्ग ३८।

कलशों द्वारा उनका जन्माभिषेक किया। दूसरा प्रमाण—

अथैकदा सुता सा च सुधीः मदनसुन्दरी।
कृत्वा पंचामृतैः स्नानं जिनानां सुखकोटिदम्[१] ।।

एक बार मैनासुन्दरी ने जिनेन्द्रदेव का करोड़ सुख को देने वाला ऐसा पंचामृत अभिषेक किया।

और भी अनेक प्रमाण आगम में स्त्रियों द्वारा अभिषेक करने के मिलते हैं किन्तु निषेध कहीं भी नहीं मिलता है। आज भी दक्षिण में-महाराष्ट्र में सर्वत्र स्त्रियों द्वारा अभिषेक करने की परम्परा है एवं चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी की आज्ञा से उनकी परम्परा के संघों में भी यह परम्परा चल रही है। उस समय श्री शिखरचंद जैन, रानी मिल, मेरठ वाले भी यहीं जम्बूद्वीप स्थल के बाहर सड़क पर अपना फोल्डिंग हवामहल बनाकर, प्रतिष्ठा की गतिविधियों को संभाल रहे थे।

मंदिर वालों द्वारा माइक पर इस प्रकार की सूचना प्रसारण से सारे भारत से आए हुए जैन लोगों ने तथा इस प्रांत के भी जैन बंधुओं ने इसे अच्छा नहीं माना, प्रत्युत् यही कहा कि—"क्या ये लोग सन् १९८१ के श्रवणबेलगोल के महामस्तकाभिषेक में ऐसी घोषणा करने का अतिसाहस करेंगे? वास्तव में मंदिर वाले बहुत ही संकीर्ण विचारधारा के हैं.....।"

सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात का होता था कि ये लोग मंदिर के परिसर में ही माइक पर खड़े होकर सूचना प्रसारण करते रहते कि—

"विधवा विवाह कीजिये, जिनके पति ने छोड़ दिया है या तलाक दे दिया है, ऐसी महिलाएँ भी पुनर्विवाह करें एवं अंतर्जातीय विवाह करें।"

जब ये लोग जिन प्रतिमा के अभिषेक करने वाली महिलाओं के लिए कहते कि—

"जो महिलाएँ अभिषेक करेंगी, वे नरक में जायेंगी। तब ऐसा विचार आता था कि—

"शायद, इनकी मान्यता से जो महिलाएँ विधवा होकर या परित्यक्ता होकर पुनर्विवाह करेंगी, वे अवश्य ही स्वर्ग जावेंगी।"

वास्तव में कलिकाल की ही यह विडम्बना है। एक महानुभाव ने यहाँ तक कह दिया कि—

"जो बालिकाएँ या महिलाएँ खड्गासन नग्न दिगम्बर जिन प्रतिमा का अभिषेक करती हैं, उनके शीलव्रत में दोष लगता है।"

यह सुनकर यह विचार अवश्य आता है कि—

"जो महिलाएँ तीर्थंकरों को, दिगम्बर मुनियों को आहारदान देती हैं, या नग्न मूर्तियों के अथवा नग्न मुनियों के दर्शन करती हैं ऐसी चंदनबाला, चेलना आदि महिलाएँ भी निर्दोष कैसे रही थीं? उन्हें भी शीलव्रत में दोष लग जाना चाहिए था।"

वास्तव में विचार करके देखा जाये तो जो महिलाएं तीर्थंकर प्रभु की मूर्तियों का अभिषेक करती हैं या नग्न मुनियों का दर्शन करती हैं अथवा दान देती हैं, उनके परिणाम ब्रह्मचर्य से च्युत हो जायें, उनके मन में विकार आ जाये, यह सर्वथा असंभव है।

देखिए, पद्मपुराण में लिखा है कि सती सीता ने महामुनियों के चरण प्रक्षालन किये—

अथोद्वर्त्य चिरं पादौ तयोर्निर्झरवारिणा।
गन्धेन सीतया लिप्तौ चारुणा पुरुभावया।।४४।।

---

१. वृहन्नेमिचंद्रकृत श्रीपालचारित।

आसन्नानां च वल्लीनां कुसुमैर्वनसौरभैः।
लक्ष्मीधरार्पितैः शुक्लैः पूरितान्तरमर्चितौ।।४५।।
ततस्ते करयुग्माब्जमुकुलभ्राजतालिकाः।
चक्रुर्यौगीश्वरीं भक्तया वंदनां विधिकोविदाः।।४६।।
वीणां च सनिधायाङ्के वधूमिव मनोहराम्।
पद्मोऽवादयदत्युद्धं गायन् सुमधुराक्षरम् ।।४७।।

अथानन्तर भक्ति से भरी सीता ने निर्झर के जल से देर तक उन मुनियों के पैर धोकर मनोहर गंध से लिप्त किए तथा जो वन को सुगंधित कर रहे थे एवं लक्ष्मण ने जो तोड़कर दिये थे, ऐसे निकटवर्ती लताओं के फूलों से उनकी खूब पूजा की। तदनन्तर अंजलिरूपी कमल की बेड़ियों से जिनके ललाट शोभायमान थे तथा जो विधि विधान के जानने में निपुण थे, ऐसे उन सबने भक्तिपूर्वक मुनिराज की वंदना की। अत्यन्त उत्तम तथा मधुर अक्षरों में गाते हुए राम ने मनोहर स्त्री के समान वीणा को गोद में रखकर बजाया।

(पद्मपुराण पर्व नं. ३९)

इन पंक्तियों से यह समझना है कि यदि सीता को मुनियों के चरण स्पर्श से दोष लगा होता तो वह अग्नि को जल नहीं बना सकती थी और यदि सीता के द्वारा चरण स्पर्श से मुनियों के शील में दोष लगा होता, तो वे उसी क्षण केवलज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते थे, इत्यादि।

दूसरी बात तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य महिलाओं को ही मिला है। जिन शिशु को प्रथम स्पर्श करने का, गोद में लेने का सौभाग्य भी शची इन्द्राणी को ही मिला है एवं जिनप्रतिमा के अभिषेक का सौभाग्य भी पतिव्रता अथवा ब्रह्मचारिणी महिलाओं को ही मिलता है। आचार्य महावीरकीर्ति जी महाराज कहा करते थे—

त्रिपक्षं शुद्धयते सूती रजसा पंचवासरं।
अन्यासक्ता च या नारी यावज्जीवं न शुद्धयति।।

बच्चे को जन्म देने वाली सूतिका महिला तीन पक्ष—पैंतालिस दिन बाद शुद्ध होती है। रजस्वला स्त्री पांच दिन से शुद्ध होती है और अन्य में आसक्त हुई जो महिला है—जो व्यभिचारिणी महिला है वह जीवन भर शुद्ध नहीं होती है अर्थात् ऐसी महिलाओं को दीक्षा लेने का, अभिषेक-पूजन करने का अथवा आहारदान देने का अधिकार नहीं है।

इस जन्मकल्याणक महोत्सव के बाद श्रीजी का पालना, भगवान् की बालक्रीड़ा, राज्याभिषेक, वैराग्य आदि कार्यक्रम दिखाये गये। भगवान् की दीक्षाविधि के बाद सूरिमंत्र आदि मुख्य क्रियाएँ सम्पन्न हुईं। पूज्य मुनिराज श्री श्रेयांससागर जी द्वारा प्रतिमाओं में सूरिमंत्र प्रदान किया गया। वैशाख शु. ६ को केवलज्ञान कल्याणक उत्सव सम्पन्न हुआ। उसी दिन रात्रि में त्रिलोक शोध संस्थान का प्रथम अधिवेशन हुआ। वैशाख शु. ७ को प्रातः मोक्षकल्याणक विधि के अनन्तर भगवान् को विराजमान करने का कार्यक्रम शुरू हुआ। सभी लोगों को डर लग रहा था कि इतनी बड़ी विशाल प्रतिमाएँ कैसे इन सुमेरु के चैत्यालयों में विराजमान की जावेंगी? परन्तु ये सभी सोलह जिनप्रतिमाएँ इतनी आसानी से यहाँ चैत्यालयों में विराजमान की गईं कि लोग आश्चर्यचकित ही रह गये। उस समय एक-दो प्रतिमा विराजमान कराकर मैं यहाँ सामने फ्लैट के बाहर महामंत्र का जाप करते हुए, तब तक बैठी रही कि जब तक सभी प्रतिमाएँ विराजमान नहीं हो गईं।

अनन्तर मध्यान्ह में गजरथ महोत्सव हुआ, जो कि इस प्रांत का विशेष आकर्षण था। हजारों लोगों ने गजरथ महोत्सव को देखकर अपना जीवन धन्य किया।

इस प्रतिष्ठा की वीडियो फिल्म भी बनाई गई है जो कि समय-समय पर दिखायी जाती है।

जम्बूद्वीप स्थल पर झाँकियाँ —

इस प्रतिष्ठा के अवसर पर जैन-जैनेतर सभी के आकर्षण के लिए १० झाँकियाँ बहुत ही सुन्दर बनवायी गई थीं जो कि आज भी उपलब्ध हैं, लगता है मानों बोल ही रही हैं।

इसी कार्यक्रम में अखिल भारतीय दिगम्बर जैन युवा परिषद का द्वितीय वार्षिकोत्सव अच्छे ढंग से मनाया गया।

इस प्रतिष्ठा में अखिल भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद की भी बैठक सम्पन्न हुई जिसमें ४० विद्वान् पधारे थे।

इसी मंगलमय अवसर पर "आचार्यश्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ" की स्थापना की गई। ब्र. कपिल कोठड़िया ने सूर्यकांत (सुरेश) कोठड़िया नाम के एक बाल ब्रह्मचारी विद्यार्थी को इस विद्यापीठ के प्रथम छात्र के रूप में दिया। सन् १९७८ के प्रशिक्षण शिविर में आये विद्वान् श्री गणेशीलाल जी साहित्याचार्य आगरा वालों को इस विद्यापीठ का प्राचार्य मनोनीत किया गया। आगे श्रावण कृ. १, वीरशासन जयन्ती से विधिवत् यह विद्यापीठ चालू किया गया ।

सिद्धप्रतिमा एवं जिनप्रतिमा —

इस सुदर्शन मेरु प्रतिष्ठा में इसी मेरु में विराजमान सोलह सिद्धप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई है। ऊपर में पांडुक आदि चार शिलाओं के लिए भगवान् शांतिनाथ, भगवान् सीमन्धर, भगवान् सुबाहु और भगवान् वीरसेन स्वामी, ऐसी चार प्रतिमाएँ धातु की प्रतिष्ठित हुई हैं। भगवान् बाहुबली की ६ फुट ऊंची प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई है। भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ की ऐसी तीन प्रतिमाएं खड्गासन लगभग सवा तीन फुट और ३-३फुट की हैं इनकी प्रतिष्ठा हुई है एवं विधिनायक भगवान् शांतिनाथ की जिनप्रतिमा ९ इंच की है जो कि धातु की है, ये प्रतिमाएँ तो यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर विराजमान हैं अन्य और भी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई थी जो कि अन्यत्र से आई थीं, जिन्हें लोग प्रतिष्ठित कराकर अपने-अपने मंदिरों के लिए ले गये हैं।

इस प्रकार इस प्रतिष्ठा को निर्विघ्न सम्पन्न हुई देखकर प्रसन्नता से हृदय विभोर हो गया। पश्चात् मोरीगेट, दिल्ली के समाज के, खासकर शांतिबाई आदि महिला समाज के, आग्रह से मैंने आर्यिका रत्नमती जी की किंचित् भी इच्छा न होते हुए भी उन्हें साथ लेकर इस भयंकर ज्येष्ठ की गर्मी में ही दिल्ली के लिए विहार कर दिया।

£ ७३ ¤

यहाँ मोरीगेट की धर्मशाला में मैंने आर्यिका रत्नमती माताजी एवं आर्यिका शिवमती जी के साथ ८ जुलाई १९७९, आषाढ़ शु. चतुर्दशी को चातुर्मास स्थापित किया। यहाँ प्रातः उपदेश होता था, अच्छी प्रभावना हो रही थी। श्रावण शु. ७ को सब्जी मण्डी दिल्ली में लोगों के आग्रह से निर्वाणलाडू के उत्सव में मेरा प्रवचन हुआ। वहाँ मल्लिसागर जी मुनिराज भी पधारे थे।

इन्द्रध्वज विधान —

इसके बाद यहाँ दशलक्षण पर्व में महिला समाज ने आगे होकर इन्द्रध्वज मण्डल विधान का आयोजन किया, जिसमें बहुत से पुरुष और महिलाओं ने भाग लिया। सम्पूर्ण विधि-विधान को रवीन्द्र कुमार ने कराया। कु. मालती, माधुरी, मंजू आदि इस विधान की पूजाओं को मधुर कंठ से पढ़ती थीं, तब सभी भक्तगण और दर्शकगण भक्ति में विभोर हो जाते थे। यह विधान दिनाँक २७-८-७९ से ८-९-१९७९ तक सम्पन्न हुआ और अच्छी धर्म प्रभावना हुई। इस विधान को देखने के लिए दिल्ली के कोने-कोने से जैन समाज के लोग

आये। चूँकि दिल्ली में यह विधान प्रथम बार था।

हस्तिनापुर में प्रतिमाएँ—

२० जुलाई १९७९ को शुक्रवार की रात्रि में नशियाँ जी प्रथम की तलहटी में नहर की खुदाई करने वालों के द्वारा जैन मूर्तियों के प्राप्त होने का समाचार पाकर जैन समाज में हर्ष की लहर दौड़ गई। ये मूर्तियाँ भगवान शांतिनाथ, अरहनाथ की हैं और एक मूर्ति अम्बिका देवी की है। इसके मस्तक पर भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा है। इन तीनों प्रतिमाओं को बड़े मंदिर वालों ने एक वेदी बनाकर विराजमान कर दिया। अम्बिका देवी की मूर्ति के बारे में मंदिर वाले तेरहपंथियों में ही आपस में मतभेद पड़ गया। तब उन लोगों ने उस अम्बिका देवी की प्रतिमा को मंदिर जी के परिसर में एक कोने के कमरे में रख दिया। उन्हीं में देवी जी के भक्तों का विरोध होता रहा। किन्हीं ने यहाँ तक कह दिया कि—

"या इन अम्बिका देवी जी को महावीर जी भेज दें या जम्बूद्वीप स्थल पर दे दें, ऐसी बंद कोठरी में क्यों रखा है?"

फिर भी आज भी ये प्रतिमा जी उसी कोने की कोठरी में विराजमान हैं। वहीं अम्बिकादेवी के भक्तगण उनकी भक्ति करते हैं, दीपक जलाते हैं और प्रसाद चढ़ाते हैं। एक दिन मैंने देखा कि उन देवी के मस्तक पर स्वर्ण का छत्र लगा हुआ था। वास्तव में शासनदेवी के भक्तों की आज उन तेरहपंथियों में भी कमी नहीं है। वैसे शासन देव-देवी, दिग्पाल, क्षेत्रपाल आदि की पूजा के प्रमाण आगम में हैं। ऐसा जानना चाहिए।

शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर —

इस वर्ष भी आश्विन में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर के आयोजन का निर्णय हो चुका था। मोरीगेट पर स्थान छोटा था, अपने को दरियागंज के बालाश्रम की जगह चाहिए थी। एक दिन मोरीगेट मंदिर में रमेश चंद जैन पी.एस. मोटर वाले दर्शन करने आये, मैंने परिचय पूछा। परिचय देने के बाद उन्होंने कहा—

"कुछ आज्ञा दीजिये।"

मैंने कहा—"ऐसे.....प्रशिक्षण शिविर आयोजन के लिए बालाश्रम का स्थान चाहिए।"

उन्होंने फोन करके ही निर्णय लेकर मुझे सूचित कर दिया और २३ सितम्बर से ३० सितम्बर तक वहाँ दरियागंज आश्रम में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर एवं सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के तत्त्वावधान में यह द्वितीय शिविर भी बहुत अच्छा हुआ। इसमें भी प्रो. मोतीलाल कोठारी को कुलपति मनोनीत किया गया था। विद्वत् परिषद के विद्वान् पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य भी पधारे हुए थे। श्री शीलचंद जी जौहरी ने दीप प्रज्ज्वलित कर इसका उद्घाटन किया। सेठ पन्नालाल जी गंगवाल ने अध्यक्षता ग्रहण की। सात दिन तक प्रत्येक कक्षाओं में सेठ पन्नालाल गंगवाल, प्रेमचंद जी (जैना वाच), शांतिलाल जी कागजी आदि महानुभावों ने समय को ध्यान में रखकर भाग लिया और विद्वानों के शिक्षण-प्रशिक्षण से तथा शंका-समाधान से प्रभावित रहे। दिल्ली में ऐसा शिविर पहली बार ही हुआ था।

इन्द्रध्वज विधान —

इसके बाद डिप्टीगंज में सौ. रत्नमाला की प्रेरणा से ३ अक्टूबर से झंडारोहण होकर १४ अक्टूबर को रथयात्रापूर्वक इन्द्रध्वज महामण्डल विधान सम्पन्न हुआ। इसमें लगभग ९६ स्त्री-पुरुष विधान में सम्मिलित हुए। बहुत ही प्रभावना के साथ विधान सम्पन्न हुआ। रथयात्रा के दिन वर्षा होती रही थी, रथयात्रा के समय रुक गई, तब लोगों ने विधान को अतिशायि चमत्कारिक माना।

पुनः मैं संघ सहित वर्षायोग ग्रहण करने के स्थान (मोरीगेट) पर वापस आ गई। १५-१०-७९ से १७-१०-७९ तक पंचपरमेष्ठी विधान का आयोजन भक्ति में विभोर हो रमेशचंद जैन ने सपरिवार सम्पन्न

किया। इसके बाद मेरे द्वारा दीपावली के दिन चातुर्मास समापन किया गया।

हीरकजयन्ती समारोह —

श्री भारतवर्षीय अनाथरक्षक जैन सोसायटी, जैन बाल आश्रम, दरियागंज, नई दिल्ली ने अपने जीवन के ७५ वर्ष पूरे करके हीरकजयन्ती महोत्सव मनाया। इस अवसर पर मैं यहाँ ठहरी हुई थी। मैंने सोसायटी के कार्यकर्ताओं को मंगल आशीर्वाद दिया। इस अवसर पर अटल बिहारी वाजपेयी (तत्कालीन भाजपा नेता)पधारे थे, उन्हें भी मैंने शुभाशीर्वाद दिया और मोतीचन्द ने मेरे द्वारा लिखित-संस्थान द्वारा प्रकाशित साहित्य उन्हें भेंट किया।

मना करने आये थे, पक्का करके गये —

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन (कम्मोजी) ने मोतीचन्द आदि से चर्चा की थी कि —

दरियागंज, दिल्ली के बालाश्रम के मंदिर में इन्द्रध्वज विधान कराना चाहता हूँ। एक दिन कम्मोजी ने मोरीगेट आकर नमोऽस्तु किया। उनके आते ही मैं झट बोल पड़ी —

"हाँ, मोतीचन्द! इन्हें विधान के सामान की सूची देवो और देखो, मैं अमुक तारीख को वहाँ जाऊँगी।"

इतना सुनते ही कम्मोजी कुछ नहीं बोले, सहर्ष सूची हाथ में ली और मेरे विहार की, विधान की सारी रूपरेखा बनाने लगे। उठते-उठते हँसकर उन्होंने बताया —

"माताजी! मैं तो आज आपके पास विधान करने को मना करने के लिए आया था लेकिन आपके भावों को देखकर मना नहीं कर सका। विधान करने को पक्का करके जा रहा हूँ।"

इतना कहकर वे खूब हँसे, मैं भी हँसने लगी।

वहाँ दरियागंज मैं पहुँच गई, वहाँ का खुला वातावरण आर्यिका रत्नमती जी को बहुत ही पसंद था। २८ अक्टूबर से ४ नवम्बर तक कार्तिक की आष्टान्हिका में यह विधान सम्पन्न हुआ। यहाँ विधान को देखने के लिए एक दिन एक केन्द्रिय मंत्री भी पधारे थे। इस विधान में ४५८ मंदिर और ध्वजाएँ चढ़ाई जाती हैं। कम्मोजी ने सूखे गोले छिलवाकर उसे केशर में रंग कर, उनके ऊपर गोटे की सुन्दर कलगी लगाकर, ऐसे ४५८ से अधिक गोले मण्डल पर चढ़ाये थे। एक दिन 'टेलीविजन' में भी इस विधान का दृश्य आया, जिसे लाखों नर-नारियों ने देखा।

ग्रीनपार्क में प्रभावना —

यहाँ से विहार कर मैं संघ सहित २५ नवम्बर को ग्रीनपार्क, दिल्ली पहुँची। वहाँ पर २९ नवम्बर से ९दिगम्बर तक 'ध्यान साधना शिविर' का आयोजन हुआ। कु. माधुरी ने सबको सामायिक विधि सिखायी और मैंने 'ह्रीं ' का ध्यान सिखाया। इस ध्यान से बहुत से स्त्री-पुरुषों ने लाभ लिया।

महासभा के अध्यक्ष —

यहाँ पर शीतकाल में मैं लगभग ढाई महीने रही। प्रतिदिन प्रातः द्रव्यसंग्रह की कक्षा चलायी जाती थी, पुनः मेरा उपदेश होता था। निर्मल कुमार जी सेठी ने यहाँ मंदिर से कुछ दूर सफदरगंज डेवलपमेंट एरिया में कोठी ली थी। इन्होंने अपने पिताजी को 'राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, में भर्ती किया हुआ था। उनके पिताजी को गुर्दे की बीमारी में 'डायलसिस' पर रखा हुआ था, अतः सेठी जी प्रतिदिन कोठी से यहां आकर भगवान् का दर्शन कर मेरा कुछ प्रवचन भी सुनते और मेरा आशीर्वाद लेकर अपने पिताजी की परिचर्या में पहुँच जाते थे। इन्होंने यहीं मंदिर में महामंत्र का अखण्ड पाठ कराया और पंचपरमेष्ठी विधान किया, तब अपने पिताजी को भी लाये थे।

इन्हीं दिनों सेठी जी ने मेरे निकट बैठकर संस्थान की पुरानी बातें सुनीं, समझीं और आगे की गतिविधियों में रुचि ली थी। मैंने भी इनकी धर्मरुचि और उत्साह को देखकर महासभा के बारे में चर्चा आने पर 'महासभा' के अध्यक्ष बनाने के लिए लोगों को प्रेरणा दी थी पुनः महासभा के अध्यक्ष पद पर इनके

मनोनीत होने के बाद मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई थी। सेठी जी की भी मेरे प्रति भक्ति विशेष है। हर एक कार्यों में ये यहां आकर मेरा आशीर्वाद ग्रहण करते ही हैं।

यहाँ से मोतीचंद जी वर्धा (महाराष्ट्र) में सेठ हीरालाल रानी वाला, उनके पुत्र सुरेन्द्र जी रानी वाला के आग्रह से इन्द्रध्वज विधान कराने पहली बार गये थे। यह विधान २६ नवम्बर से ७ दिसम्बर तक धर्म प्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ था।

श्राविका की सल्लेखना —

एक दिन 'राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान' से एक मेटाडोर इधर मंदिर के सामने से निकल गई पुनः ५ मिनट में ही वापस आ गई। उसमें से एक महिला निकलकर दौड़ी-दौड़ी मंदिर के नीचे हाल में आईं और जल्दी-जल्दी बोलीं—

"माताजी! एक जीव की समाधि करा दीजिये, समाधि करा दीजिये।"

सभी लोग एकटक हो देखने लगे, उसने कहा—

"माताजी! यह मेरी बहन है, इसे जलोदर रोग हो गया था। यहाँ हास्पिटल में भर्ती थी। इसने कई बार डाक्टर से कहा था कि—मेरी सीरियस स्थिति में मुझे यहाँ नहीं मरना है, त्याग से घर में मरना है, सल्लेखना लेकर मरना है अतः एक दिन पहले तुम हमें सूचना दे देना.....। डाक्टर ने आज कह दिया कि अब यह २४ घंटे से अधिक नहीं बचेगी अतः इसने वहीं पर चतुर्विधाहार त्याग कर दिया और बोली है कि घर चलो, समाधि करा दो। लेकिन मैंने सोचा कि यहाँ आपसे अच्छी समाधि भला कौन करा सकता है? अतः मैं यहाँ ले आई हूँ, आइये, आइये उसे आशीर्वाद दीजिये।"

मेरा उपदेश चल रहा था, रोककर मैं उठकर बाहर आई। उन लोगों की इच्छा से और पास में खड़े प्रकाशचंद जौहरी के परामर्श से मैंने उन्हें नीचे उतारकर हॉल में लाने को कहा, वे लोग ले आये। उन महिला को पूर्ण सावधानी थी अतः मैंने उनसे बातचीत करके, सम्बोधन करके विधिवत् चार प्रकार के आहार का त्याग करा दिया तथा शरीर के ऊपर पहने हुए वस्त्र के सिवाय सर्व परिग्रह और आरंभ का भी त्याग करा दिया। उसके साथ में उस महिला के पति, पुत्र थे और शायद सास-श्वसुर भी थे।

यहाँ पर मैंने, संघ की आर्यिकाओं ने, सभी श्रावकों ने, उसे णमोकार मंत्र सुनाना शुरू कर दिया। उसके पति, पुत्र को समझाने के बाद वे लोग वहां आकर रोये नहीं, प्रत्युत् सबने शांति रखी। वह दिन बीता और रात्रि व्यतीत हो गई पुनः दूसरी रात्रि में महामंत्र सुनते-सुनते उसके प्राण निकल गये।

एक श्राविका इस प्रकार से स्वयं हास्पिटल से होश में चतुर्विधाहार त्याग कर गुरु के पास आकर सल्लेखना विधि से मरण करे, इस बात का प्रभाव वहाँ समाज में और दिल्ली में बहुत ही अच्छा रहा। वास्तव में श्री कुंदकुंददेव ने कहा है कि—

"वीरता से भी मरना होता है और कायरता से भी मरना होता है, फिर यदि वीरता से मरने में संसार भ्रमण समाप्त हो सकता है तो पुनः कायरता से क्यों मरना?"

उन्हीं दिनों एक दिन ऐसा सुनने में आया कि आध्यात्मिक महापुरुष कानजी भाई हास्पिटल में गये हैं, उनकी नाक में नली डालकर सांस क्रिया आदि चलाई जा रही थी, वहीं उनका मरण हो गया। भला अध्यात्म ज्ञान के बाद इस प्रकार से मरना उचित है क्या? पुनः जीवन में आध्यात्मिकता ही क्या रही?

इसलिए प्रतिदिन यह भावना भाते रहना चाहिए—

"अब या अरज करूं प्रभु सुनिये मरण समय यह माँगो।
रोग जनित पीड़ा मत होवो अरु कषाय मत जागो।।

यह मुझ मरण समय दुःखदाता इन हर साता कीजे।
जो समाधियुत मरण होय मुझे अरु मिथ्यागद छीजे।।

अथवा — **प्रभुवीर यह विनय है जब प्राण तन से निकलें।**
तुम नाम जपते-जपते यह प्राण तन से निकलें।

इत्यादि। ऐसी भावना करते हुए अन्त में गुरुओं के पास समाधिमरण करना चाहिए।

जिन्होंने मुझे सूचना दी थी, वे गृहस्थावस्था के मेरे पिता की बुआ की पौत्र-वधू थीं। मैं टिकैतनगर से आकर बाराबंकी में इनके घर में ही रही थी, ये आरा की कन्या थीं। धार्मिक विचार इनके बहुत अच्छे थे।

साहू अशोक कुमार जैन —

यहाँ ग्रीनपार्क में साहू अशोक कुमार जैन मेरे दर्शनार्थ आये। मैंने उन्हें उनके पिता साहू शांतिप्रसाद की तरह समाज में आगे आने के लिए प्रेरणा दी। तब उन्होंने कहा—

"माताजी! अभी हमें आने में कुछ वर्षों की देरी है। दूसरी बात यह है कि मेरे ताऊजी श्रेयांसप्रसाद जी मेरे पिता के स्थान में समाज में काफी कार्यरत हैं.....।"

यहाँ पर 'इन्दू जैन' उनकी धर्मपत्नी भी दो बार आईं। कुछ योग-ध्यान आदि के बारे में उन्होंने चर्चायें भी कीं।

यों तो एक बार 'आर.के. पुरम्' आते समय साहू शांतिप्रसाद जी की कोठी पर डाक्टर कैलाशचंद ने मुझे ठहराया था। तब साहू शांतिप्रसाद जी और उनकी पत्नी रमाजी ने घंटों बैठकर मेरे पास चर्चायें की थीं एवं समाज सुधार के बारे में अपने मनोभाव व्यक्त किये थे। इसके बाद निर्वाणोत्सव के प्रसंग में आचार्यश्री के समक्ष अनेक बार मुझसे चर्चा कर चुके थे।

यहाँ ग्रीनपार्क में शायद दो-तीन बार अशोक कुमार जी दर्शनार्थ आये, पुनः उन्होंने यह भी प्रार्थना की कि—

"माताजी! आप मेरी कोठी पर पधार कर अनुग्रह करें।"

"मैंने कहा—"नई दिल्ली-राजाबाजार के मंदिर जाते समय मार्ग में आपकी कोठी पर ठहरना हो सकता है।....."

जम्बूद्वीप का शिलान्यास —

हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप स्थल पर जम्बूद्वीप का प्रथमचरण सुदर्शनमेरु पर्वत बनकर उसकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अब जम्बूद्वीप के हिमवान् आदि पर्वतों का निर्माण कराना था अतः द्वितीय चरण के प्रारंभ में शिलान्यास का मुहूर्त माघ शु. १५, दिनाँक ३१ जनवरी १९८० का निकाला गया। मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार आदि ने प्रयास करके साहू श्रेयांसप्रसाद और साहू अशोक कुमार से इस पुनीत कार्य के लिए निवेदन किया। उनकी स्वीकृति मिल जाने पर शिलान्यास का समारोह अच्छे उत्सव के साथ किया गया।

हस्तिनापुर में ३१ जनवरी को दिन में १२ बजे श्री आनन्द कुमार जैन (एक्सपोर्ट्स इण्डिया) दिल्ली वालों ने इस समारोह की अध्यक्षता की। उस दिन क्षेत्र पर दिल्ली आदि से बसें पहुँचीं, लगभग ५ हजार की भीड़ हो गई।

साहू श्रेयांसप्रसाद जी, साहू अशोक कुमार जी और इंदू जैन ने शिलान्यास कार्य सम्पन्न किया। सुकुमारचंद जैन मेरठ आदि महानुभाव उपस्थित थे। सभी ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। साहू ट्रस्ट की ओर से एक लाख रुपये के दान की घोषणा की गई। रात्रि में यह शिलान्यास कार्यक्रम टेलीविजन पर आया, जिसे लाखों लोगों ने देखा और प्रसन्नता व्यक्त की। आगे इस दान से निषध पर्वत का निर्माण होकर, उस पर्वत

के चैत्यालय में साहू परिवार के नाम से सिद्ध प्रतिमा को विराजमान किया गया है।

साहू श्रेयांसप्रसाद जी ने उस समय अपने वक्तव्य में कहा कि—

पहले हम लोग नजीबाबाद से बैलगाड़ी में बैठकर यहाँ क्षेत्रदर्शन को आते थे। आज तो यह क्षेत्र बहुत तरक्की पर है। आगे इसे जम्बूद्वीप के निर्माण के बाद विश्व में ख्याति प्राप्त होगी, इत्यादि।

£ ७४ ¤

इन्द्रध्वज विधान —

ग्रीनपार्क से विहार कर श्री साहू अशोक कुमार जी के विशेष निवेदन पर उनकी कोठी पर ठहरकर मैं ६ फरवरी १९८० को दिगम्बर जैन मंदिर राजा-बाजार (कनाट प्लेस) आ गई। लाला श्यामलाल जी ठेकेदार आदि के विशेष आग्रह से मैं यहाँ लगभग एक माह तक रही। फाल्गुन की आष्टान्हिका में २३ फरवरी से २ मार्च तक यहाँ ठेकेदार परिवार ने इन्द्रध्वज विधान का आयोजन किया। इसमें भीकूराम जैन संसद सदस्य की धर्मपत्नी आदि महिलाओं ने भी बहुत रुचि से विधान-पूजन को सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की। यहाँ पर भी खूब धर्म प्रभावना हुई।

इसी मध्य टिकैतनगर (लखनऊ) में १० फरवरी से १९ फरवरी तक इन्द्रध्वज विधान का आयोजन हुआ। इसमें भी प्रद्युम्नकुमार शाह के आग्रह से कु. माधुरी ने जाकर विधान कराया और मोतीचन्द ने भी जाकर विधान का महत्व बतलाया। यह विधान भी इस अवध प्रांत में पहली बार था अतः बहुत ही धर्मप्रभावना हुई।

यहाँ राजाबाजार (दिल्ली) में जैन हेप्पी स्कूल में मेरा प्रवचन हुआ। स्कूल के अध्यापक वर्ग और बालकों ने लाभ लिया।

शिक्षण शिविर —

यहाँ से विहार कर मैं संघ सहित पहाड़गंज, नई दिल्ली आ गई। यहाँ पर भी ७ मार्च रविवार से १६ मार्च मंगलवार तक शिक्षण शिविर रखा गया, जिसमें द्रव्यसंग्रह पद्य की कक्षाएँ बहुत ही सुन्दर रहीं। मध्य में पंचपरमेष्ठी विधान हुआ। चैत्र कृ. ९—११ मार्च को भगवान् आदिनाथ की जयन्ती मनायी गयी। मेरे प्रवचन हुए। इन सर्वस्थानों में मेरा लेखन कार्य चलता ही रहता था। मैंने रत्नकरंड पद्यावली, शांतिविधान आदि ग्रंथ बनाये।

महावीर जयंती कार्यक्रम —

चैत्र शु. १—१७ मार्च को पहाड़गंज से चलकर मैं यहाँ कम्मोजी की धर्मशाला में आ गई। दिल्ली में लगभग १ माह तक विशेषकर रविवार के दिन स्थान-स्थान पर महावीर जयन्ती के प्रोग्राम किये जाते हैं। इसी के अंतर्गत २३ मार्च रविवार को प्रातः पहाड़ीधीरज पर "हीरालाल हायर सेकेन्ड्री स्कूल" के प्रांगण में भगवान् महावीर की जयंती का समारोह मनाया गया था। इस कार्यक्रम में मेरा भी प्रवचन हुआ, अच्छी धर्मप्रभावना हुई।

इसी दिन मध्यान्ह में महावीर उद्यान, कैलाशनगर में रथयात्रा का विशाल जुलूस निकाला गया। इस विशाल पांडाल में खचाखच भीड़ में महिला आश्रम की बालिकाओं द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रदर्शित किया गया। इस सभा के मुख्य अतिथि के रूप में पधारे एच.के. एल. भगत व भीकूराम जैन ने भाषण किया। अनेक वक्ताओं के बाद मेरा प्रवचन हुआ। मैंने भगवान् रामचन्द्र के आदर्श और भगवान महावीर के त्याग पर विशेष प्रकाश डाला।

मुख्य रूप से चैत्र शु. १३ दिनाँक २९ मार्च १९८० के दिन भगवान् महावीर जयंती का समारोह विशेष रूप में आयोजित किया जाता है। यहां सुभाष मैदान में पांडाल बनता है। तीन दिन तक प्रातः, मध्यान्ह और रात्रि में अनेक कार्यक्रम सम्पन्न किये जाते हैं। इन समयों में प्रातः और मध्यान्ह मेरे प्रवचन होते थे। यहाँ

पांडाल में जनता की उपस्थिति विशेष रहती थी।

जम्बूद्वीप निर्माण कार्य —

हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर जम्बूद्वीप के अंतर्गत हिमवान आदि पर्वत, गजदंत, भरत क्षेत्र आदि का निर्माण कार्य तेजी से चलाया जा रहा था। विद्यापीठ में विद्यार्थी भी धर्म अध्ययन में प्रगति कर रहे थे। इस विद्यापीठ के निमित्त से समय-समय पर यहाँ हस्तिनापुर में कोई न कोई समारोह मनाये ही जाते थे। अक्षय तृतीया का मेला आया पुनः ज्येष्ठ वदी चौदश को भगवान् शांतिनाथ का निर्वाण महोत्सव मनाया गया। इधर दिल्ली में कई एक जगह महावीर जयंती के कार्यक्रम में मुझे उपदेश के लिए जाना पड़ा।

शांति विधान —

यहाँ दिल्ली में १३ जून से २८ जून तक सोलह दिवसीय विधान हुआ। श्री विजेन्द्र कुमार जैन सर्राफ ने मेरे सानिध्य में ज्येष्ठ शु. १ से ज्येष्ठ शु. १५ तक सोलह दिन के शांति विधान का आयोजन किया। जब शुक्ल पक्ष सोलह दिन का होता है, तब यह विधान विधिवत् किया जाता है। श्री विजेन्द्र कुमार जी ने सपरिवार विधान सम्पन्न किया। इसमें मेरे द्वारा अनुवादित शांतिविधान काव्य छप चुका था। उस पूजा के करने-कराने वालों को बहुत ही आनंद आया। विजेन्द्र कुमार के पुत्रों का उत्साह देखकर लगता था कि दिल्ली के नवयुवकों में कैसी नई चेतना है और धर्म के प्रति कितनी आस्था है? बहुत संतोष होता था।

सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर —

दिनांक २७ मई से ६ जून १९८० तक यहाँ इसी कम्मोजी की धर्मशाला में 'सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया। बालक, बालिकाएँ, महिलाएँ, प्रौढ़ पुरुषवर्ग सबके लिए अलग-अलग कक्षायें थीं। बालविकास, द्रव्यसंग्रह, रत्नकरंड-पद्यावली आदि के शिक्षण दिये गये। आबालगोपाल ने बहुत ही लाभ लिया।

यह अनुभव में आता है कि बालक इन शिविरों में १० दिन तक भी जो पुस्तक रट लेते हैं वह उन्हें हमेशा याद रहती है और उसके संस्कार अमिट हो जाते हैं। इस शिविर में ७०-८० वर्ष के कई एक वृद्ध महानुभावों ने भी पढ़कर परीक्षा दी और प्रमाण-पत्र ग्रहण किया, तब बड़ा आनन्द आया।

सन् १९७८ से १९८० तक के प्रायः सभी शिविरों में मंच संचालन पंडित बाबूलाल जी जमादार करते रहे हैं। इनकी संचालन कुशलता और ओजस्वी भाषण से लोग बहुत प्रभावित होते थे।

आर्यिका रत्नमती जी अस्वस्थ —

यहाँ ज्येष्ठ की भयंकर गर्मी में आर्यिका श्री रत्नमती माताजी को पीलिया हो गया था। यहाँ पर स्थानीय लगभग ९७ की उम्र के वैद्य अतरसेन जैन बहुत ही अनुभवी वैद्य थे। इन्होंने इन माताजी के लिए एक छोटा सा यूनानी नुस्खा बताया था। वही दवा दी जा रही थी। उसी से उन्हें फायदा हुआ। वह नुस्खा यह है—

कासनी के बीज १० ग्राम, सौंफ ५ ग्राम, कालीमिर्च ५ नग, खरबूजे की गिरी २ ग्राम, लौंग नग १, बड़ी इलाइची नग १, मकोय २ ग्राम। इसको पीसकर पानी की आधा गिलास ठंडाई बनाई जावे, उसमें शक्कर मिलाकर दी जावे।

पुनः भीषण गर्मी के निमित्त से उन्हें फिर पीलिया हो गया। कुल मिलाकर इस गर्मी में उन्हें तीन बार पीलिया हुआ। राजेन्द्र प्रसाद जी (कम्मोजी) कई बार परीक्षण कराने के लिए डाक्टरों को ले आते थे।

एक बार डाक्टर ने कह दिया—

"इनके पीलिया बहुत बढ़ चुकी है, कमजोरी भी बहुत है, अब ये दो-चार दिन ही टिक सकती हैं, बचेंगी नहीं।"

एक बार कम्मोजी कोई एक पीलिया झाड़ने वाले को ले आये। मैंने भी लक्ष्य नहीं दिया। उन्हें कुछ मालूम नहीं था। उनसे श्रावक ने कहा—'माताजी! आप पाँच मिनट बैठ जाइये।'

वे बैठ गईं। झाड़ने वाले ने थाली, जल आदि रखकर कुछ पढ़ा। वे बाद में पूछने लगीं—

"ये कौन था, क्या पढ़ रहा था?"

किसी ने कहा—"यह पीलिया झाड़ने के लिए आया था.....।"

तभी माताजी ने मुझे बुलाया और दुःखित हो बोलीं—

"माताजी! आप दुनिया को तो यंत्र-मंत्र देती रहती हैं पुनः मेरी पीलिया झाड़ने के लिए किस मंत्रवादी को बुला लिया?....मैं सम्यग्दृष्टी हूँ। अजैन मंत्रों का प्रयोग नहीं कराऊँगी, मुझे तो आपके मंत्रों पर ही विश्वास है। आप ही मंत्र पढ़कर झाड़ दिया करो।"

"यह थी उनकी श्रद्धा और इतनी अस्वस्थता में भी इतनी विशेष सावधानी!"

उस दिन से प्रायः अपने लेखन आदि कार्यों से समय निकालकर मैं मंत्र पढ़कर उन्हें पीछी से झाड़ देती थी। इसी से उन्हें आत्मसंतोष हो जाता था। उधर आहार में मात्र वह उपर्युक्त ठंडाई और जरा सा अनार का रस ही ले पाती थीं। धीरे-धीरे उन्हें इसी ठंडाई से लाभ हुआ।

यही ठंडाई, सन् १९८५ में मुझे जब पीलिया हो गई थी, तब मेरे लिए जीवन दान देने वाली हुई थी। लीवर की कमजोरी में आज तक मुझे यह ठंडाई आहार में दी जा रही है।

चातुर्मास स्थापना और साहित्य सृजन —

दिल्ली जैन समाज के विशेष आग्रह से यह २६ जून सन् १९८० का चातुर्मास मेरा यहीं अतिथिभवन कूचा बुलाकीबेगम में स्थापित हुआ। इस अवसर पर यहाँ मेरुमंदिर में २० जुलाई से २९ जुलाई तक इन्द्रध्वज विधान का आयोजन किया गया। यहाँ मेरु मंदिर में नंदीश्वर के ५२ चैत्यालयों की भव्य रचना बनी हुई है। दर्शन करके मन हर्षविभोर हो जाता है।

इधर 'भगवान् बाहुबली के सहस्राब्दी महामस्तकाभिषेक' की तैयारियाँ जोरों से चल रही थीं। श्रावकों के आग्रह से समयोचित साहित्य के निर्माण में मेरा समय व्यतीत हो रहा था। भगवान् बाहुबली के विषय में 'योग चक्रेश्वर बाहुबली' नाम से एक पुस्तक लिखी, जो उपन्यास की शैली में थी। 'कामदेव बाहुबली' नाम से एक लघु पुस्तिका लिखी, जो पाँच भाषाओं में कई हजार छपी है। 'बाहुबली नाटक' लिखा और 'भरत-बाहुबली' नाम से एक चित्रकला (कॉमिक्स) लिखी। मेरी 'भगवान बाहुबली' रचना पुरानी थी। उसका रिकार्ड बनवाया गया। इसे भी छपाया गया तथा भगवान् बाहुबली की पूजा की प्रति भी कई हजार छपायी गयी। साथ ही 'बाहुबली स्तोत्र' जो कि मेरी संस्कृत में सर्व प्रारंभिक रचना थी, उसका भी प्रकाशन हुआ।

कई एक लोगों की प्रेरणा से रवीन्द्र कुमार ने संकल्प किया कि—

"इस सहस्राब्दी महोत्सव में मैं पूज्य माताजी की एक लाख पुस्तकें छपाऊँगा।"

अतः उन्होंने पूर्व में लिखे गये और तात्कालिक लिखे गये, ऐसे मेरे साहित्य का एक लाख की संख्या में प्रकाशन कराया पुनः यह 'कॉमिक्स' टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन से लगभग डेढ़ लाख छपी। एक लाख हिन्दी और पचास हजार इंगलिश में छपीं।

दशलक्षण पर्व —

दशलक्षण पर्व में इस अतिथि भवन में ही मेरा विशेष प्रवचन रखा गया। जो मध्यान्ह में कूचा सेठ के बड़े मंदिर में होता था। इस अवसर पर संघस्थ श्रीमती उषा जैन (बम्बई वाली) ने दश उपवास किये। उनका सम्मान किया गया।

इधर समय-समय पर भट्टारक चारुकीर्ति जी महाराज दिल्ली आते थे तो महोत्सव के बारे में चर्चायें होती रहती थीं।

मंगलकलश प्रवर्तन —

इस महामस्तकाभिषेक के अवसर पर दिल्ली में मंगलकलश प्रवर्तन की योजना बनी। श्रवणबेलगोल में स्थापित गोम्मटेश्वर बाहुबली को सन् १९८१ में एक हजार वर्ष पूर्ण होने वाले थे अतः इस उपलक्ष्य में ९ फरवरी से १५ मार्च तक श्रवणबेलगोल में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये गये थे। २२ फरवरी १९८१ रविवार वीर निर्वाण सं. २५०७ को प्रमुख महोत्सव था।

इन्द्रध्वजमंडल विधान —

श्रीपन्नालाल जी सेठी, डीमापुर वालों ने सपरिवार यहाँ मेरे सानिध्य में इन्द्रध्वजमहामंडल विधान किया। ९ अगस्त से १९ अगस्त तक श्रावण मास में यह विधान हुआ। विधानाचार्य का स्थान मोतीचन्द ने संभाला और बहुत ही उत्साह से विधान कराया। इस विधान में दिल्ली के विपिनचंद जैन, विमल किशोर जैन आदि अनेक महानुभावों ने भाग लिया। यहाँ अतिथि भवन के हाल में हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप स्थल से जिन प्रतिमा लाकर विराजमान कर यह विधान बीसपंथ आम्नाय से हुआ था।

इसी अवसर पर श्री विमल किशोर और उनकी धर्मपत्नी दमयंती देवी ने जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान् आदिनाथ का मंदिर बनवाने की भावना व्यक्त की थी।

मंगलकलश उद्घाटन —

२९ सितम्बर सोमवार को भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरागांधी के करकमलों से इस मंगलकलश का उद्घाटन कराया गया। उस समय मेरा भी मंगल आशीर्वाद हुआ। मैंने अपने तीन (३) मिनट के वक्तव्य में कहा—

"जिस प्रकार गुल्लिकायिज्जी नाम की वृद्धा ने भगवान् बाहुबली का अभिषेक कर धर्म प्रभावना की थी, ऐसा लगता है मानों उन गुल्लिकायिज्जी ने ही इन्दिराजी को यहाँ भेजकर इस मंगलकलश का उद्घाटन कराया है।..."

यह जनमंगल महाकलश अनेक स्थलों में घूमकर धर्मप्रभावना करते हुए महामस्तकाभिषेक के अवसर पर श्रवणबेलगोल पहुँचा था।

£ ७५ ¤

जन्मदिवस समारोह —

२३ अक्टूबर १९८० आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) को मेरे जन्म दिवस का समारोह रखा गया। यद्यपि मेरा पूर्ण विरोध था, फिर भी पन्नालाल जी सेठी डीमापुर वालों ने आग्रहपूर्वक यह कार्यक्रम कराया।

इस कार्यक्रम के साथ समयसार प्रशिक्षण शिविर का आयोजन भी रखा गया। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि 'समयसार ग्रन्थराज की वाचना' विद्वद् वर्ग के समक्ष सम्पन्न हो। यह कार्यक्रम २३ अक्टूबर से २ नवम्बर तक रखा गया।

प्रारंभ में जन्मजयंती समारोह दरियागंज में महावीरवाटिका के विशाल पांडाल में मनाया गया। इस ४७वें जन्मजयंती समारोह में केन्द्रीय पेट्रोलियम रसायन मंत्री श्री प्रकाशचंद जी सेठी तथा केन्द्रीय पर्यटन विमानन मंत्री ए.पी. शर्मा ने भाग लिया।

केन्द्रीय मंत्री श्री ए. पी. शर्मा ने वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के ४७वें पुष्प 'दिगम्बर मुनि' पुस्तक का विमोचन किया जो कि मेरे द्वारा लिखित छपायी गयी थी। श्री प्रकाशचंद सेठी ने मंगलदीप प्रज्ज्वलित कर समयसार शिविर का उद्घाटन किया। अनंतर प्रकाशचंद सेठी ने ही ४७वें मंगल जन्म दिवस के उपलक्ष्य में ४७ विद्युत् दीपों को प्रज्ज्वलित किया। इसी के साथ 'भगवान् बाहुबली' नाम से बनवाया गया ९० मिनट के कैसेट को टेपरेकार्डर में लगाकर उसके बटन को दबाकर उसका भी उद्घाटन किया।

इसी मध्य सभी प्रमुख अतिथियों—साहू अशोक कुमार जैन तथा अमरचंद पहाड़िया आदि अनेक महानुभावों ने विनयांजलि समर्पित की। पन्नालाल सेठी डीमापुर ने वृहद् प्रीतिभोज का आयोजन कर लगभग ५००० लोगों को भोजन कराया।

रात्रि में भी सभा का आयोजन किया गया, जिसमें अनेक विद्वानों और श्रीमन्तों ने अपने-अपने उद्गार व्यक्त करते हुए गुरुभक्ति प्रदर्शित की।

मेरे दीक्षित जीवन में सन् १९६६ में ब्र. सुमितबाई शहा ने सोलापुर में मेरे मना करने पर भी आचार्यश्री विमलसागर जी के सानिध्य में मेरा जन्म दिवस कार्यक्रम मनाया था। पुनः यह दूसरी बार दिल्ली में सन् १९८० में मेरा जन्म दिवस मनाया गया है।

समयसार वाचना —

अनन्तर २४ अक्टूबर से डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर को कुलपति बनाकर समयसार वाचना शुरू की गयी। इस अवसर पर पं. कैलाशचंद जी सिद्धान्तशास्त्री भी पधारे थे। उनसे प्रथम ही मंगलाचरण कराया गया।

मैंने शिविर के पूर्व के नियम ग्रहण कराए। प्रोफेसर लक्ष्मीचंद जी, पं. कुंजीलाल जी (गिरडीह), शिवचरण लाल जी (मैनपुरी) आदि विद्वानों ने समयसार गाथाओं का वाचन करके अर्थ प्रस्तुत किया।

प्रतिदिन लगभग डेढ़ घंटा मैं भी समयसार की गाथाओं का वाचन कर विशेष अर्थ बतलाती थी।

इस प्रकार २४ अक्टूबर से समयसार वाचना के अतिरिक्त प्रतिदिन रात्रि में चारित्रपाहुड़ एवं रत्नकरंड पद्यावली पर भी कक्षाएँ चलीं।

इस शिविर में लगभग ८५ लोगों ने भाग लिया।

इस शिविर के मध्य अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद, शास्त्री परिषद, आचार्य वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ, आचार्य शान्तिवीर दिगम्बर जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा, इन चारों की बैठक सम्पन्न हुई। सभी ने सहस्राब्दी महोत्सव में सक्रिय सहयोग देने का निर्णय लिया।

२ नवम्बर १९८० को लाल मंदिर के सरस्वती भवन में इस शिविर का समापन समारोह मनाया गया। श्री रमेशचंद जैन (पी.एस. जैन) ने मेरे द्वारा लिखित-मुद्रित हुई कई पुस्तकों का विमोचन किया। वे थीं— भगवान वृषभदेव, संस्कार, प्रभावना, जीवनदान, उपकार और नियमसार पद्यावली।

राजेन्द्र प्रसाद (कम्मोजी), अमरचंद पहाड़िया आदि को अभिनंदन-पत्र देकर सम्मानित किया गया। इस शिविर में समयसार पर जो कुछ मैंने विशेष मंथन कर विद्वानों को बतलाया था, उसमें से कुछ नमूने देखिये—

समयसार में विशेष ज्ञातव्य —

"यह समयसार ग्रंथ श्री कुंदकुंददेव कृत महान् आध्यात्मिक ग्रंथ है। वर्तमान में इसकी दो संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं—एक श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत 'आत्मख्याति' तथा दूसरी श्री जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति'। पहली टीका में ४१५ गाथायें हैं और दूसरी टीका में ४३९ गाथाएँ हैं। इस समयसार में व्यवहारनय की

उपयोगिता पर जगह-जगह प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ को पढ़ने के अधिकारी भी मुख्य रूप से मुनिगण हैं, गौणरूप से श्रावक, जैसा कि श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है—

''अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति।''

इस ग्रंथ में पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों को ही मुख्य रूप से ग्रहण किया है। सरागसम्यदृष्टियों को तो गौणरूप से ही लिया है।

समयसार में व्यवहारनय की उपयोगिता —

आचार्यश्री कुंदकुंददेव ने सर्वप्रथम गाथा ७ में ही कहा है कि ''व्यवहारनय से ही ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं किन्तु निश्चयनय से न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र ही है, यह आत्मा ज्ञायकमात्र शुद्ध है।''[१]

पुनः कहते हैं—

जिस प्रकार से किसी म्लेच्छ को उसकी भाषा में बोले बिना उसे समझाना शक्य नहीं है, उसी प्रकार से व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश ही अशक्य है।[२]

आगे पुनः गाथा १३वीं में व्यवहार को अभूतार्थ कहकर तत्क्षण ही अगली गाथा में कहते हैं—

''परमभावदर्शी—परम शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले ऐसे महामुनियों के लिए शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला ऐसा शुद्धनय ही ज्ञातव्य है, अनुभव करने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव में स्थित हैं अर्थात् चतुर्थ, पंचम, छठे अथवा सातवें गुणस्थान में स्थित हैं, उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश दिया गया है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द सूरि ने भी कहा है कि जो अंतिम सोलहवें ताव से शुद्ध हुए सुवर्ण के समान परम शुद्ध भाव का अनुभव करते हैं, उनके लिए ही शुद्धनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो एक-दो आदि ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभाव का अनुभव करते हैं, उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल व्यवहारनय से ही चलता है।''[३]

कलश काव्य में भी कहते हैं—

''पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिए यद्यपि यह व्यवहारनय हाथ का अवलम्बन स्वरूप है, फिर भी पर से रहित चित्-चमत्कार मात्र परम अर्थ-शुद्ध आत्मा को अन्तरंग में देखने वालों के लिए वह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है।''[४]

इस कथन से भी स्पष्ट है कि पहली सीढ़ी पर पैर रखने वाले ऐसे चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के लिए व्यवहारनय सहारा है, हाथ का अवलम्बन है।

गाथा २२वीं में यह कहा है कि ''कर्मरूप मैं हूँ अथवा ये मेरे हैं'' ऐसा समझने वाला अज्ञानी है पुनः तत्काल अनेकांत की व्यवस्था करते हुए कहते हैं कि ''यह आत्मा जिनभावों को करता है, उन्हीं का कर्ता होता है यह निश्चयनय का कथन है और व्यवहारनय की अपेक्षा यह पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है।''[५]

---

१. ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।७।।

२. जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।।८।।

३. ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।१२।।

४. व्यवहरणनयः स्याद् यद्यपि प्राक्पदव्यां.....। कलश, ५

५. जं कुणदि भावमादा.....।

आगे चलकर शंका होती है कि "यदि जीव और शरीर एक नहीं है, तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति मिथ्या हो जावेगी? इस पर समाधान यह है कि "व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव और शरीर एक है और निश्चय की अपेक्षा से ही कथमपि एक नहीं है।[१]" तथा तीर्थंकर आदि के शरीर आदि की स्तुति व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती है।

आगे आचार्य देव आठ प्रकार के कर्म और उनके फल आदि को पुद्गलमय कहते हैं पुनः समाधान रूप में गाथा ५१ में कहते हैं—

"रागादि भाव आदि जो भी अध्यवसान परिणाम हैं, वे सब जीव हैं यह व्यवहारनय का उपदेश है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।[२] इसी गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—"व्यवहारनय अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपाद है और तीर्थ प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसका दिखलाना न्याय ही है। व्यवहारनय को माने बिना शरीर से जीव में परमार्थ से भेद होने से त्रस और स्थावर जीवों की व्यवस्था नहीं होगी पुनः कोई भी उन त्रस-स्थावरों को राख के समान मर्दित कर देगा और ऐसा करने पर भी हिंसा नहीं होगी तब उसके कर्मबंध नहीं होगा पुनः राग, द्वेष, मोह से जीव में सर्वथा भेद रहने से मोक्ष के उपाय को ग्रहण करना कैसे हो सकेगा? और तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा।"[३]

उपर्युक्त गाथा में तथा टीका में व्यवहारनय की उपयोगिता विशेष रीति से ध्यान देने योग्य है।

गाथा ५५ से यह बतलाया है कि जीव के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि तथा गुणस्थान आदि कुछ भी नहीं है। पुनः नय विवक्षा खोलते हुए कहते हैं—

"व्यवहारनय की अपेक्षा से वर्ण आदि से लेकर गुणस्थानपर्यंत ये सभी भाव जीव के ही हैं किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से ये कुछ भी नहीं है।"[४]

इस बात को सुनकर कोई शिष्य प्रश्न कर देता है कि हे भगवन् ! शास्त्र में तो जीव के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि नाना भेद माने हैं सो कैसे? तब पुनः आचार्य समाधान करते हैं—"पर्याप्त-अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर आदि जो भी जीव के भेद परमागम में कहे हैं, वे सभी व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं।"

गाथा ८९ और ९० में भी निश्चय और व्यवहार के कार्य को स्पष्ट कर रहे हैं—"निश्चयनय से यह आत्मा अपने आपका ही कर्ता है और अपने आप का ही भोक्ता है किन्तु व्यवहारनय से यह आत्मा अनेक प्रकार से पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उसी प्रकार के पुद्गल कर्मों का भोक्ता भी है।"[५]

निश्चय नय के जानने वाले महामुनियों ने जो यह आत्मा के कर्तापने की बात बतलाई है, उसको जो समझ लेता है, वही भव्यजीव सम्पूर्ण कर्तृत्व को छोड़ सकता है। इस गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि "जो ऐसा समझ लेता है कि यह आत्मा निश्चयनय से अपने भावों का ही कर्ता है और व्यवहारनय

१. ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।।
२. ववहारस्स दरीसण मुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीओ एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।
३. व्यवहारो हि परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि।
तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय एवं। तमंतरेण.....
भवत्येव मोक्षस्याभावः। ।गाथा ४६ की टीका, पृष्ठ ८४।।
४. ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादिया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।
५. ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं।

से कर्मों का कर्ता है, वह जीव सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है पुनः निश्चय चारित्र के साथ अविनाभूत ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ-अशुभ ऐसे सम्पूर्ण कर्मों के कर्तृत्व से छूट जाता है।"

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीव अशुभकर्म के कर्तृत्व से ही छूटने का प्रयत्न करते हैं, इससे आगे के जीवों के शुभ कर्म का कर्तृत्व चल रहा है जो कि दशवें तक चलता रहता है, आगे वह भी छूट जाता है।

आगे कहते हैं, यह आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा से घट, पट, रथ आदि द्रव्यों का कर्ता है, इन्द्रियों का, ज्ञानावरण आदि कर्मों का शरीर आदि नो-कर्मों का और क्रोधादि रूप नाना प्रकार के भाव कर्मों का भी कर्ता है। यह आत्मा पुद्गल कर्म को उपजाता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता और ग्रहण भी करता है, यह सब व्यवहारनय का कथन है।

आगे जीव को कथंचित् अकर्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं—

"बन्ध के करने वाले सामान्य प्रत्यय चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। उनके ही भेद मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवलीपर्यंत तेरह हो जाते हैं। ये गुणस्थान पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं अतः अचेतन हैं। ये ही कर्मों को करते हैं इसलिए आत्मा इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है क्योंकि ये गुणस्थान ही कर्म को करने वाले हैं अतः यह जीव अकर्ता है।"[१]

इन गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य कहते हैं कि ये मिथ्यात्व आदि प्रत्यय और गुणस्थान न एकान्त में जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप हैं किन्तु चूना और हल्दी के मिले हुए रंग के समान हैं अतः ये अशुद्ध निश्चयनय से और अशुद्ध उपादानरूप से चेतन हैं,जीव से संबंधित हैं तथा शुद्ध निश्चयनय से और शुद्ध उपादानरूप से अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं।

कोई प्रश्न करता है कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से किसके हैं? तो आचार्य कहते हैं—सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से तो इनका अस्तित्व ही नहीं है। चूँकि 'सव्वे शुद्धा हु सुद्धणया।" इस नियम के अनुसार तो सभी जीव शुद्ध ही हैं पुनः ये रागादि प्रत्यय कहाँ टिकेंगे?

आगे पुनः इसी कर्तृकर्म अधिकार में कहते हैं—

"जीव में कर्मबद्ध हैं और उस जीव के प्रदेशों में मिले हुए हैं, यह व्यवहारनय का पक्ष है और जीव में कर्म न बंधे हुए और न स्पर्शित ही हैं, यह निश्चयनय का पक्ष है। इस प्रकार से जीव से कर्म बंधे हुए हैं अथवा नहीं बंधे हुए हैं, ये दोनों ही नय पक्ष हैं। जो इन दोनों पक्षों से ऊपर आ चुके हैं, वे ही महामुनि समयसार रूप हैं। जो समयरूप आत्मा का अनुभव करने वाले हैं, वे दोनों ही नयों के कथन को केवल जानते हैं किन्तु इन दोनों में से किसी के पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं।।"[२]

महामस्तकाभिषेक —

रवीन्द्र कुमार ने फरवरी १९८१ का सम्यग्ज्ञान 'भगवान बाहुबली' विशेषांक निकाला।

मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार और मालती ये तीनों एक महीने के लिए श्रवणबेलगोल पहुँचे। यहाँ से ७ फरवरी को निकलकर ९ फरवरी को वहाँ पहुँच गये। वहाँ पर मेले के उद्घाटन से लेकर आखिर तक सारे कार्यक्रमों को अच्छी तरह से देखा है और यहां आकर मुझे सुनाया तथा मार्च के सम्यग्ज्ञान में भी छपवाया।

मैंने यहाँ तमाम पत्र-पत्रिकाओं में इस महामस्तकाभिषेक का प्रचार पढ़ा। २२ फरवरी को रेडियो से भी श्रावकों ने सुनाया एवं भगवान् बाहुबली का अभिषेक टेलीविजन पर भी दिखाया गया। इस सहस्राब्दी

---

१. गाथा ११६ से ११९। २. गाथा १४९, १५०, १५१।

महोत्सव का सारे भारत में ही क्या, विदेशों में भी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जितना प्रचार हुआ है, शायद ही किसी जैनधर्म के प्रचार का इतना बड़ा आयोजन ढाई हजार वर्षों में हुआ होगा।

२१ फरवरी को श्रीमती इंदिरा गांधी ने हेलीकाप्टर से भगवान् के ऊपर पुष्पवृष्टि की, दूरबीन यंत्र से दूर से ही भगवान् के दर्शन किये चूँकि वे पहाड़ पर चढ़ नहीं सकती थीं। विशाल सभा के मध्य भाषण किया। इस भारत की नेता के निमित्त से जैन-जैनेतरों में दिगम्बर जैन मूर्ति भगवान् बाहुबली के प्रति बहुत बड़ा आकर्षण बढ़ा।

भट्टारक श्री चारूकीर्ति महाराज ने दो-तीन वर्ष तक सारे भारत में घूम कर इस महोत्सव को सफल बनाने का अथक प्रयास किया था। भारत की सारी जैन समाज ने ही नहीं, प्रत्युत् सारे दिगम्बर जैन मुनियों-आर्यिकाओं ने भी भक्ति से श्रद्धा व्यक्त की थी और तमाम साधुवर्ग वहाँ पहुँचे थे।

यहाँ २२ फरवरी को जो १००८ कलशों द्वारा भगवान का अभिषेक होना था वे कलश पहले से ही श्रावकों ने आरक्षित कर लिये थे तथा जिन्होंने मंगल कलश प्रवर्तन में बोलियाँ ली थीं उन्हें भी कलश करने का पास दिया गया था।

हम लोगों ने तो वी.डी.ओ. में भगवान् का अभिषेक देखकर ही इतना आनंद प्राप्त किया तो साक्षात् अभिषेक करने वालों और देखने वालों को जो आनन्द आया होगा, वे अनुभव करने वाले ही जान सकते हैं। उन सबको महान् पुण्यबंध करने का यह अवसर मिला था।

विभिन्न कार्यक्रम —

वहाँ २० फरवरी को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का हीरक जयंती महोत्सव मनाया गया। यहाँ विभिन्न संघों में लगभग २० दीक्षाएँ हुईं। यहाँ पर पंचकल्याणक महोत्सव भी किया गया है जिसमें विधिनायक भगवान् नेमिनाथ थे। १४ फरवरी से १९ फरवरी तक यह पंचकल्याणक समारोह सम्पन्न हुआ।

चामुंडराय मंडप में विद्वानों के भाषण और साधु-साध्वियों के प्रवचन भी होते रहते थे। सांस्कृतिक कार्यक्रम-नाटक आदि भी होते रहते थे। १८ फरवरी को महिला सम्मेलन हुआ। १९ फरवरी को सर्वधर्म सम्मेलन हुआ, जिसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर और वैदिक सम्प्रदाय के साधुगण उपस्थित हुए।

२३ फरवरी को अखिल भारतीय दिगम्बर जैन सिद्धांत संरक्षिणी सभा की बैठक हुई और २४ फरवरी को दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का अधिवेशन हुआ। इसमें मेरी पुस्तक 'जैनभारती' का विमोचन हुआ। इसकी विद्यानंद आदि मुनियों ने, विद्वानों ने बहुत ही प्रशंसा की और इसे अनेक भाषाओं में प्रकाशित करने के लिए बार-बार प्रेरणा दी। २५ फरवरी को अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासभा का अधिवेशन हुआ।

यहाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि —

दिगम्बर जैन मुनि, आर्यिकायें, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाएँ तब मिलकर १५१ थे। यह साधु सम्मेलन यहाँ कई दिनों तक चला और कई एक महत्वपूर्ण निर्णय लिए गये। इन साधुओं में प्रमुख आचार्य संघों में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज, आचार्य शिरोमणि श्री विमलसागर जी महाराज, आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज, एलाचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज आदि। पहला प्रस्ताव यह रहा कि —

"यह दिगम्बर जैन मुनि सम्मेलन यह निश्चय करता है कि 'दिगम्बर जैन मुनि परिषद' के नाम से एक परिषद गठित की जाये। इसमें सात प्रमुख आचार्य, सात आर्यिकाएँ, एक ऐलक, एक क्षुल्लक, एक क्षुल्लिका और एक भट्टारक के नाम रखे गये। ऐसी यह १८ साधुओं की परिषद बनायी गयी थी। इसमें मेरा भी नाम रखा गया था। इसमें प्रस्ताव तो सभी महत्वपूर्ण थे, साथ ही सातवाँ प्रस्ताव अत्यधिक महत्वपूर्ण था। प्रस्ताव नं.

७—दिगम्बर जैन मुनि सम्मेलन निश्चय करता है कि पिंडशुद्धि वाले दिगम्बर जैन धर्मानुयायी ही मुनिजनों एवं त्यागियों को आहार दे सकते हैं और दीक्षा ले सकते हैं।"

साथ ही यह भी निर्णय लिया गया था कि जो प्रमुख आचार्य धर्मसागर जी एवं आर्यिका ज्ञानमती जी आदि यहाँ उपस्थिति नहीं हैं, उनसे समर्थन प्राप्त कर ही ये नियम सभी साधु-साध्वी समुदाय में लागू किये जायेंगे।

इस श्रवणबेलगोल में लाखों भक्तगण पहुँचे थे, ऐसा अनुमान लगाया गया।

रवीन्द्र कुमार, मोतीचन्द और मालती वहाँ से ५ मार्च को चलकर ८ मार्च को दिल्ली आ गये।

यात्रियों का समूह —

इस महामस्तकाभिषेक के महीनों पूर्व से ही श्रवणबेलगोल जाने वाली बसों का तांता लगा रहता था। दिल्ली से होकर जाने वाले यात्री यहाँ कम्मोजी की धर्मशाला में आकर मेरा उपदेश सुनते थे और २२ फरवरी के बाद भी वापसी लौटने वाले यात्री इधर दिल्ली, हस्तिनापुर से जाते समय मेरा उपदेश सुनने की कोशिश करते थे।

गजरथ महोत्सव —

यहाँ दिल्ली में एक प्रेमचंद जैन हैं जो लालकिले के सामने सुभाष मैदान में बैठकर पक्षियों के लिए दाना बेचते हैं, उन्होंने एक गजरथ बनवाया पुनः लाल मंदिर में इंद्रध्वज विधान कराकर गजरथ निकालने का निर्णय किया। मुझसे प्रार्थना करके मेरा सानिध्य चाहा अतः ९ मार्च से १६ मार्च तक दिगम्बर जैन लाल मंदिर में इस विधान का आयोजन बहुत ही प्रभावनापूर्ण रहा। विधानाचार्य पं. पंचाराम शास्त्री थे। मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार, मालती और माधुरी ने भी समय-समय पर पूजा पढ़ने एवं उपदेश करने आदि कार्य को करके लोगों को आनंदित किया। १६ तारीख को विशाल गजरथ दिल्ली के प्रमुख बाजारों में होकर निकला। श्रीजी की रथयात्रा का यह आयोजन यहाँ दिल्ली में प्रथम बार था।

इन प्रेमचंद जैन, दाना वालों ने सन् १९८५ की जम्बूद्वीप प्रतिष्ठा के अवसर पर यहाँ जम्बूद्वीप के लिए भी एक रथ बनवाकर भेंट किया। ये दाना बेचने वाले महानुभाव ऐसे ही कई एक रथ बनवाकर भिन्न-भिन्न मंदिरों में भेंट कर चुके हैं।

यह एक दाना बेचने वाले जैन श्रावक की उदारता का उदाहरण बहुत ही अच्छा लगता है।

यहाँ दिल्ली में सन् १९७९-१९८० के दो चातुर्मास हुए। सात स्थान पर मेरे सानिध्य में इंद्रध्वज विधान हुए एवं कई जगह शांति विधान, पंचपरमेष्ठी विधान, ऋषिमंडल विधान आदि हुए। तीन शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर विशाल रूप में एवं कई एक छोटे-छोटे शिविर भी हुए। समय-समय पर प्रवचनों से भी दिल्ली समाज ने धर्मलाभ लिया।

अब मेरा विचार हस्तिनापुर की ओर विहार करने का बन गया।

£ ७६ ¤

मंगल विहार —

यहाँ लालमंदिर से मेरा विहार १६ मार्च १९८१ को हुआ। तब लाल मंदिर की विशालसभा में मंगल आशीर्वाद देकर मैं यहाँ से संघ सहित विहार कर मोरीगेट पहुँची। वहाँ से आष्टान्हिका के बाद २४ मार्च को विहार कर ९ अप्रैल को हस्तिनापुर पहुँच गई। यहाँ पर स्थानीय लोगों ने मंगल स्वागत किया। मैं बड़े मंदिर का दर्शन करते हुए जम्बूद्वीप में आकर धर्मशाला में ठहर गई।

सन् १९७९ की प्रतिष्ठा के बाद यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर दो धर्मशालाओं का निर्माण कार्य हो चुका था

और जम्बूद्वीप के पूर्व तथा उत्तर में दो खेत भी खरीदे जा चुके थे।

१० अप्रैल को संस्थान के अध्यक्ष अमरचन्द जी पहाड़िया कलकत्ता वाले और उम्मेदमल जी पांड्या पधारे। यहाँ पर विद्यापीठ के विद्यार्थियों ने छोटी सी सभा में अध्यक्ष महोदय का सम्मान किया। इस अवसर पर श्री अमरचन्द पहाडिया ने जम्बूद्वीप के लिए १ लाख रुपये के दान की घोषणा की। आगे चलकर उनके इस द्रव्य से नील पर्वत का निर्माण होकर, उसके चैत्यालय में विशाल ढाई फुट की जिनप्रतिमा भी इन्हीं की तरफ से विराजमान की गई है।

यहाँ पर मेरे समक्ष प्रातः, मध्यान्ह-अष्टपाहुड़, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथ के स्वाध्याय प्रारंभ हो गये। समय-समय पर मेरा लेखन कार्य भी चल रहा था।

प्रतिष्ठापना दिवस समारोह एवं शिलान्यास —

वैशाख शु. ७ दिगम्बर १० मई १९८१ को प्रातः ८४ फुट ऊँचे सुदर्शन मेरु पर्वत की पाँडुकशिला पर भगवान् शांतिनाथ का १०८ कलशों से अभिषेक समारोह सम्पन्न हुआ। इस प्रकार सुमेरु पर्वत का यह द्वितीय प्रतिष्ठापना दिवस मनाया गया। इसी मंगल अवसर पर भगवान् आदिनाथ अथवा त्रिमूर्ति मंदिर का शिलान्यास किया गया तथा रत्नत्रय निलय (त्यागी भवन) का शिलान्यास भी कराया गया।

आज यह त्रिमूर्ति मंदिर तैयार हो चुका है। इसमें सन् १९८५ की प्रतिष्ठा होकर भगवान् आदिनाथ, भरत एवं बाहुबली की मूर्तियाँ खड्गासन विराजमान हैं।

रत्नत्रय निलय का भी १५ मई १९८३ में उद्घाटन होकर मैं ससंघ इस वसतिका में आ गई। वर्तमान में यहीं रहते हुए धर्माराधना करते हुए रह रही हूँ।

विचार बिन्दु —

महामस्तकाभिषेक के बाद एक दिन दिल्ली में कम्मोजी की धर्मशाला में कुछ भक्त श्रावक मेरे पास बैठे थे। जम्बूद्वीप रचना के संबंध में चर्चा चल रही थी। मैंने कहा-"जब सन् १९७२ में जम्बूद्वीप का सामान्य मॉडल बना था, तब मेरे मन में सहसा यह भावना जाग्रत हुई कि — इस मॉडल को बढ़िया, सुन्दर, आकर्षक बनाकर सारे भारत में घुमाया जाए तथा इसे भव्य रथ में सजाकर सारे भारत में घुमाकर सर्व जैन-जैनेतर को जम्बूद्वीप से परिचित कराना ही है।" यह भावना मेरे मन में उठती ही रहती थी पुनः निर्वाणोत्सव के प्रसंग में पाँच जगह से पाँच धर्मचक्र चलाये गये। इसके बाद मैंने सोचा था कि कुछ शक्ति और आ जाए, तब मन की योजना को सक्रिय किया जाये। इन दिनों सुमेरु की प्रतिष्ठा के बाद मैं कुछ सोचने की ओर थी कि आज यह 'जनमंगलकलश' का प्रवर्तन हो गया, अब मुझे "जंबूद्वीप भारत भ्रमण, की योजना बनानी है।"

एक महानुभाव बोल उठे —

"अच्छा ही होगा, आप तो ऐसा ही कीजिये। धर्मप्रभावना के साथ-साथ आपकी रचना का कार्य भी तो पूरा करना है.....।"

रवीन्द्र कुमार ने भी रुचि ली और कहा —

"लोगों को तो जो कहना है कहते ही रहेंगे, आप इस महती प्रभावना की योजना को बनाइये।"

उस चर्चा से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। रवीन्द्र ने भी उत्साहित होकर बाद में बैठकर रूपरेखा बनाना शुरू कर दिया।

मैं जब मोतीचन्द के सामने चर्चा करती तब वे कहते —

"माताजी! मैं तो आपकी आज्ञा को सदा पालता रहा हूँ और सदा ही पालन करता रहूँगा। फिर भी मेरी इच्छा तो अपने जंबूद्वीप के कार्य को पूरा करने की है.....।"

उस समय दिल्ली में कई एक भक्तों से मैंने चर्चा की थी, तब उन्होंने भी इस योजना की सराहना की। यहाँ हस्तिनापुर आने पर कई एक श्रीमान् श्रावक आये, उनसे भी मैंने चर्चा की, वे भी बहुत प्रसन्न हुए और कई लोग बोले कि—"माताजी! हम लोग आपकी इस योजना पर विचार करेंगे।"

"मेरा ऐसा स्वभाव है कि बात मन में जंच जाये और जम जाये, तो उसे करना ही करना। जो लोग अपनी विचारधारा से सहमत हों, उनसे सहयोग लेना और जो असहमत हों उन्हें गौण कर देना। वास्तव में मैंने आगम और गुरु परम्परा के अनुकूल ही कार्य सोचे हैं अतः विशेष ऊहापोह न करके उन्हें करने का साहस किया है।"

अब मेरे पास बैठकर जब-तब रवीन्द्रकुमार जंबूद्वीप मॉडल के भारत भ्रमण की रूपरेखा बनाते थे। इधर भोजनशाला (डायनिंग हॉल), धर्मशाला, त्रिमूर्ति मंदिर और रत्नत्रयनिलय के निर्माण कार्यों को मोतीचन्द द्रुतगति से करा रहे थे। वैशाख-ज्येष्ठ की दुपहरी में यहाँ खुले मैदान में घूम-घूम कर निर्माण कार्य कराना, यह सभी के वश की बात नहीं है।

इसी के साथ समय निकालकर मेरे पास बैठकर जम्बूद्वीप सम्बंधी अनेक रचनाओं के निर्माण का फुट-इंच से निर्णय करते रहते थे। जम्बूद्वीप में छह कुलाचल, चार गजदन्त, सोलह वक्षार, चौंतिस विजयार्ध, जम्बूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, गंगा सिन्धु आदि ९० नदियाँ, ३०० लगभग तोरणद्वार आदि कहाँ और कैसे-कैसे बनें? इसी पर मैंने जो लिख रखा था, उसे समझाकर लिखाया करती थी।

जम्बूद्वीप भ्रमण कराने की रूपरेखा —

इन दिनों यह निर्णय हुआ कि—

"संस्थान की एक बैठक बुला ली जाएँ और उसी में सारे विषय निश्चित किएँ जायें।

इधर ८ जुलाई से १८ जुलाई तक यहाँ पर आषाढ़ की अष्टाह्निका में श्री निर्मल कुमार सेठी लखनऊ और श्री पन्नालाल सेठी डीमापुर वालों ने इन्द्रध्वज विधान के भाव व्यक्त किये। इसी विधान के अंतर्गत अनेक बैठकें सम्पन्न हुई और १६ जुलाई (आषाढ़ शु. १४) की रात्रि में सभी के निवेदन पर मैंने संघ सहित यहीं जंबूद्वीप स्थल पर यह पहला चातुर्मास स्थापित किया। इसके पहले यहाँ हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप पर जगह न होने से मैंने बड़े मंदिर पर ही चातुर्मास किये थे। १७ जुलाई को मध्यान्ह में यहाँ महत्वपूर्ण बैठक हुई। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की इस बैठक में जम्बूद्वीप के मॉडल को बनवाकर सारे भारत में भ्रमण कराया जावे, यह बहुत ही हर्ष के साथ निश्चित किया गया। इस समय अनेक श्रीमान और विद्वान् उपस्थित थे। सभी ने एक स्वर से इसे स्वीकृत किया पुनः इसके नामकरण पर खूब ऊहापोह हुआ, अनेक लोगों ने अपने-अपने सुझाव दिये। उन सबमें "जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति" नाम मुझे बहुत ही प्रिय लगा और सभी ने करतल ध्वनि से जयकार के साथ इस नाम का समर्थन किया।

इसके पश्चात् यह निर्णय लिया गया कि—

इस महत्वपूर्ण कार्य के सहयोग हेतु और प्रचार प्रसार हेतु एक 'जम्बूद्वीप सेमिनार' अक्टूबर में यहीं पर आयोजित किया जाए तथा उसमें अनेक विद्वान् आमंत्रित किये जायें। इसके बाद वीरशासन जयंती समारोह और रथयात्रापूर्वक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

अब यह चर्चा चलती रहती थी कि 'सुन्दर आकर्षक जम्बूद्वीप का मॉडल बनवाया जावे।'

इस मीटिंग के पूर्व एक दिन कई एक श्रीमानों ने मेरे पास बैठकर यह निवेदन किया कि—

"माताजी! यह जम्बूद्वीप मॉडल के भ्रमण की योजना शक्य नहीं है। सारे भारत में इसका भ्रमण कराना बहुत ही कठिन है। आपको तो जम्बूद्वीप बनवाना है। हम ३०-४० श्रीमन्तों के नाम लिखकर देते हैं, उनसे

संपर्क करके उन सबसे एक-एक लाख रुपये मिल जायेंगे और यह निर्माण कार्य पूरा किया जायेगा अतः आप इस वृहत् योजना को न उठावें, इसे स्थगित कर दें.....।"

मैंने सब कुछ सुनकर उत्तर दिया—

"मात्र इस जम्बूद्वीप मॉडल भ्रमण से धन एकत्रित कराके जम्बूद्वीप बनवाना ही मेरा उद्देश्य नहीं है, प्रत्युत् सारी भारत के जैन-जैनेतर लोग जम्बूद्वीप को जानें, समझें और भगवान महावीर के अहिंसामयी धर्म को समझें, ग्रहण करें.....। जिनधर्म की प्रभावना विशेष के लिए तथा जन-जन का धन इस रचना में लगकर, जन-जन की आत्मीयता इस जम्बूद्वीप से जुड़े, यह मेरा उद्देश्य है।"

वास्तव में यह भारत भ्रमण द्वारा धर्म प्रभावना की मेरी योजना कई वर्षों से थी लेकिन मैं समय और जनशक्ति की प्रतीक्षा में थी अतः इन श्रीमन्तों के निवेदन को मैंने अस्वीकृत कर दिया। इस योजना में पं. बाबूलाल जी जमादार भी सदा ही उत्साह दिखाते रहते थे, जिससे मुझे बहुत प्रसन्नता होती थी।

अब जम्बूद्वीप मॉडल बनवाने के लिए मोतीचन्द और रवीन्द्र पुरुषार्थ कर रहे थे। दिल्ली के एक कारीगर को यहाँ बुलाकर मुझसे आशीर्वाद दिलाकर, भादों सुदी १४—अनंत चतुर्दशी के मंगलदिवस में इस मॉडल के लिए आदेश दिया गया।

जम्बूद्वीप सेमिनार —

अनेक धार्मिक विद्वान् एवं आधुनिक प्रोफेसर विद्वानों को सेमिनार के लिए शोधपूर्ण लेख तैयार कराने हेतु पत्राचार शुरू किये गये। लेख आना शुरू हो गये और ११ अक्टूबर से १५ अक्टूबर तक 'जम्बूद्वीप सेमिनार' नाम से गोष्ठी का आयोजन किया गया।

११ अक्टूबर रविवार को विशेष सभा का आयोजन किया गया। उस दिन सेमिनार का उद्घाटन हुआ। इस गोष्ठी में पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य को कुलपति के रूप में मनोनीत किया गया।

अभिनंदन ग्रंथ समर्पण —

इस अवसर पर शास्त्री परिषद से प्रकाशित 'पं. बाबूलाल जमादार अभिनन्दन ग्रंथ' का विमोचन हुआ और उन्हें समर्पित किया गया। पं. बाबूलाल के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में कई एक विद्वान् अपने-अपने अभिमत व्यक्त कर रहे थे। उस समय मोतीचन्द को २-३ दिन से ज्वर आ रहा था। ज्वर के प्रकोप से अपने कमरे में लेटे हुए थे किन्तु उनका जी नहीं माना, उतरकर आये और सभा में खड़े होकर पं. बाबूलाल की जम्बूद्वीप के प्रति समर्पित भावना, उनका इस उम्र में युवक के सदृश उत्साह आदि की प्रशंसा करने लगे।

मैंने भी पं. बाबूलाल को बहुत-बहुत आशीर्वाद देते हुए धर्म में स्थिर रहने की प्रेरणा दी।

जन्म दिवस सभा —

१३ अक्टूबर शरदपूर्णिमा को मेरे जन्म दिवस के निमित्त विद्वानों की सभा हुई। पं. पन्नालाल जी आदि विद्वानों ने और श्रीमानों ने अपने-अपने भक्ति सुमन अर्पित किये। उस दिन अनेक विद्वान् और श्रीमान तथा नवयुवक वर्ग गुरुभक्ति में विभोर हो नृत्य करने लगे।

सभी विद्वानों ने एक स्वर से कहा—

'एक मंच पर श्रीमान्, धीमान् और नवयुवकों को एकत्रित करने का यह उत्तम कार्य जो आज पूज्य माताजी ने किया है, वह इतिहास में अमर रहेगा।"

सेमिनार में शंका समाधान —

इस सेमिनार के अंतर्गत अनेक शंका समाधान हुए। जैन भूगोल से संबंधित समाधान प्रायः मुझे ही देने होते थे।

एक जैन विद्वान् ने कहा—

"ये जम्बूद्वीप आदि द्वीप, समुद्र अप्रयोजनीभूत तत्त्व हैं, इनके जानने से सम्यग्दर्शन हो और न जानने से सम्यग्दर्शन न हो, ऐसी कोई बात नहीं है, प्रत्युत् आत्मा आदि जीव-अजीव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन के विषय हैं.....।"

तब मैंने कहा—

"तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र के भाष्य ग्रन्थ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में लिखा है—'द्वीप, समुद्र, नदी, ह्रद आदि विशेषों का प्ररूपण अप्रयोजनीभूत हैं, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे मनुष्यों के आधारभूत स्थलों का निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारी में मनुष्यों और उनके आधारभूत ढाई द्वीप, दो समुद्रों का निरूपण करना स्वयं व्यर्थ नहीं है। यथा—

'इति तदाधारविशेषाः सर्वे निरूपणीया एव[१]।'

आचार्यदेव का यह कहना है कि 'जीवतत्त्व के निरूपण करने में ही तीनलोक, मध्यलोक आदि का वर्णन करना आवश्यक है। जीवतत्त्व का पूर्णतया वर्णन किये बिना शेष अजीव तत्त्वों का भी विशेष रूप से कथन करना नहीं बन सकता है। जैसे कि—

तदप्ररूपेण जीव-तत्त्वं न स्यात् प्ररूपितं।
विशेषेणेति तज्ज्ञान-श्रद्धाने न प्रसिद्ध्यतः।।६।।
तन्निबंधनमक्षुण्णं चारित्रं च तथा क्व नु।
मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक्[२]।।७।।

"यदि तत्त्वार्थसूत्र में उन द्वीप आदि का वर्णन न किया जाये तो जीव तत्त्व का निरूपण करना नहीं समझा जायेगा। ऐसी दशा में उस जीव तत्त्व का ज्ञान और श्रद्धान ये दोनों रत्न कभी भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे पुनः इन दोनों की सिद्धि न होने से उन दो के निमित्त से होने वाला ऐसा चारित्र भी कहाँ रह सकेगा? इस प्रकार रत्नत्रय के न संभवने पर मोक्षमार्ग का उपदेश भला कैसे बन सकेगा?"

इत्यादि प्रकार से समाधान देने पर विद्वानों ने इन श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथ के प्रमाण नोट कर लिये। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने तो बहुत ही आदर व्यक्त किया। पं. नरेन्द्र प्रकाश जी जैन फिरोजाबाद, डॉ. प्रेम सुमन जैन आदि विद्वानों ने जम्बूद्वीप के विषय में विस्तार से समझा और सम्यग्दर्शन का विषय माना।

आर्यिका रत्नमती अभिनंदन ग्रंथ —

कई एक विद्वानों ने यह रूपरेखा बनायी, जिसमें पं. बाबूलाल जी प्रमुख थे कि-

"पूज्य ज्ञानमती माताजी का अभिनंदन ग्रंथ तैयार किया जाये।" मेरे कान में बात पड़ते ही मैंने विद्वानों को कहा—

"इस जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति को सारे भारत में घुमाना और यहाँ जम्बूद्वीप रचना के निर्माण को पूरा करके प्रतिष्ठा कराना, इससे बड़ा और मेरा अभिनंदन क्या होगा?....."

फिर भी विद्वानों के अतीव आग्रह को देखकर मैंने कहा—

"अच्छा, मेरी जन्मदात्री माँ आर्यिका श्रीरत्नमती माताजी यहाँ इस समय मेरे संघ में मौजूद हैं। मेरे कार्यकलापों का, मेरी योग्यता का सारा श्रेय तो इन्हें ही है अतः इनका अभिनंदन कीजिये।"

पं. बाबूलाल जी को यह सुझाव बहुत पसन्द आया, वे झूम उठे, आर्यिका रत्नमती माताजी की भक्ति में.....पुनः उन्होंने उसी क्षण घोषणा कर दी कि आर्यिका रत्नमती अभिनंदन ग्रंथ निकाला जायेगा। उसी प्रसंग

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, खण्ड ५। २. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, खण्ड ५ पृ. ३९९।

में इस ग्रंथ की रूपरेखा बनाई गयी और सम्पादक मण्डल के नाम चयन किये गये। सम्पादक मण्डल— १. डा. पन्नालाल साहित्याचार्य २. पं. कुञ्जीलाल जैन गिरडीह ३. डा. कस्तूरचंद कासलीवाल ४. पं.बाबूलाल जमादार ५. ब्र. सुमतिबेन जी शाह ६. ब्र. विद्युल्लता शाह ७. ब्र. कु.माधुरी शास्त्री ८. अनुपम जैन। इस ग्रंथ की रूपरेखा आर्यिका रत्नमती माताजी से छिपाकर ही रखी गयी क्योंकि वे अपने सम्मान और प्रशंसा की बातों को रोक दिया करती थीं।

यह अभिनन्दन ग्रंथ सन् १९८३ नवम्बर में इन रत्नमती माताजी को समर्पित किया गया है।

सेमिनार में सम्मान —

इस सेमिनार में पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य पं. बाबूलाल जमादार, निर्मल कुमार सेठी, पन्नालाल सेठी, श्री एस.एस. गोयल (दिल्ली), कैलाश चंद जैन इंजीनियर (दिल्ली) आदि कई एक विद्वानों और श्रीमानों को अभिनन्दन पत्र समर्पित किये गये। नए-नए प्रोफेसरों ने, विद्वानों ने एक दिन रात्रि की सभा में 'ज्ञानज्योति' प्रवर्तन के विषय में अपने-अपने अनेक सुझाव प्रस्तुत किये। सभी विद्वानों ने अपने-अपने वक्तव्य में यह कहा कि—

"जब-जब मुझसे जो समय लिया जायेगा, मैं समय दूँगा और ज्ञानज्योति भ्रमण में पूरा सहयोग करूँगा।"

उसी मध्य किन्हीं महानुभाव ने यह प्रश्न रखा कि—

"ज्ञानज्योति भ्रमण में आने वाले द्रव्य का क्या उपयोग होगा?"

तत्क्षण ही प्रा. नरेन्द्रप्रकाश जी ने खड़े होकर समाधान दिया कि—

"जो यह जम्बूद्वीप रचना बन रही है, इसे पूरा किया जायेगा तथा और भी यहाँ स्थल पर जो कार्यविधियाँ हैं उनमें सदुपयोग होगा, फिर भी अधिक राशि बचने पर उससे जन-कल्याण के लिए रूपरेखा बना ली जायेगी।"

यह समाधान सभी को अच्छा लगा और अच्छे वातावरण में यह सेमिनार तथा जन्मदिवस कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हुआ।

इस मध्य दिल्ली से आये हुए श्री राजेन्द्रप्रसाद (कम्मोजी) आदि कई महानुभावों ने दिल्ली की ओर विहार करने के लिए आग्रहपूर्ण शब्दों में प्रार्थना की। मुझे उस समय तो हंसी आ गई और मैंने कथमपि स्वीकार न करके यही उत्तर दिया—"अब मेरा दिल्ली आना कम संभव है।"

फिर भी इन लोगों का यही कहना रहा कि—

"माताजी! आप दिल्ली आइये, आपके सानिध्य में भारत की प्रधानमंत्री इंदिराजी के करकमलों से इस ज्ञानज्योति का प्रवर्तन कराया जावेगा।....."

इन्द्रध्वज विधान —

पुनः २ नवम्बर से १६ नवम्बर १९८१ तक आर्यिका रत्नमती माताजी की जन्मभूमि महमूदाबाद में अच्छे स्तर से इन्द्रध्वज महामण्डल विधान का आयोजन हुआ। इसमें एक-दो दिन के लिए कु. माधुरी को भेजा गया। वहाँ का आबाल-गोपाल, जैनेतर समाज उनके दर्शनों को उमड़ पड़ा। लोग कहने लगे— "मोहिनीदेवी की बिटिया आई है, चलो देख आवें चलो, चलो.....।' वास्तव में उन लोगों को मोहिनी देवी के दीक्षित जीवन में—आर्यिका रत्नमती जी के रूप में दर्शन करने का सौभाग्य नहीं मिल पाया। कतिपय जैन लोग तो आकर दर्शन कर भी गये थे।

७७

दिल्ली की ओर मंगल विहार —

जब सबका एक स्वर से यही कहना हुआ कि—

"माताजी! दिल्ली में आपके सानिध्य में ही प्रधानमंत्री इन्दिरागांधी जी द्वारा ज्ञानज्योति का प्रवर्तन होना चाहिए.....।"

तब मैंने भी जैसे-तैसे विहार का भाव बना लिया। उन दिनों आर्यिका रत्नमती माताजी का स्वास्थ्य काफी कमजोर हो चुका था। वे डोली पर बैठकर चलने में भी डोली का हचका-दचका झेल नहीं पाती थीं, उनकी छाती में दर्द होने लगता था। अब मेरे सामने बहुत बड़ी समस्या थी। माताजी को यहाँ अकेले छोड़ना भी तो कैसे? ऐसी अवस्था में कब समाधि हो जाये, निश्चित नहीं है और ले जाना तो कैसे? उनकी इच्छा भी अब विहार करके दिल्ली जाने की और दिल्ली के हल्ले-गुल्ले में रहने की नहीं थी। फिर भी लगभग एक महीने ऊहापोह के बाद आखिर धर्मप्रभावना के भावों को प्रमुख करके, मैंने विहार का निर्णय कर ही लिया।

मैंने आर्यिका रत्नमती जी को लेकर हस्तिनापुर से १३ फरवरी को दिल्ली की ओर विहार कर दिया। मोदीनगर से बहुत ही ठंड बढ़ गई। फिर भी मैं कहीं न ठहर कर गाजियाबाद आदि होते हुए २७ फरवरी को प्रातः ९ बजे दिल्ली पहुँच गयी। मोरीगेट का मंदिर शहर की सड़कों से अंदर था अतः वहाँ हल्ला-गुल्ला कम समझकर वहीं ठहरने का निर्णय लिया। मोरीगेट की शांतिबाई आदि अनेक पुरुष और महिलाएँ आ गईं, मंगल प्रवेश हुआ, तब दिल्ली में सर्वत्र खुशी की लहर दौड़ गई।

इसके पूर्व ज्ञानज्योति प्रवर्तन के लिए प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी जी को लाने के लिए डा. कैलाशचंद जैन (राजा टॉयज) के माध्यम से पुरुषार्थ चल रहा था। १८ जनवरी सोमवार, माघ वदी ८ को मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार, मालती आदि १७ महानुभावों का एक शिष्टमंडल श्रीमती इंदिरा जी से मिलने गया। उनसे ज्ञानज्योति प्रवर्तन के लिए निवेदन किया और तारीख चाही तथा सभी ने उनके साथ ग्रुप फोटो खिंचवाया। श्रीमती इंदिराजी ने विचार कर निर्णय देने के लिए कहा।

इन्द्रध्वज विधान —

इधर २ मार्च १९८२ से आष्टान्हिक पर्व में यहाँ मोरीगेट की धर्मशाला में इन्द्रध्वज महामण्डल विधान का आयोजन किया गया। यह विधान अच्छे उत्साह से यहाँ दूसरी बार मेरे सानिध्य में हो रहा था।

अभिवन्दन ग्रंथ विमोचन —

आचार्य शिरोमणि श्री धर्मसागर जी महाराज का एक विशाल आकर्षक 'अभिवंदन ग्रंथ' तैयार किया था। इसका विमोचन समारोह कई जगह साधु-साध्वियों के सानिध्य में रखा गया था। सो यहाँ मोरीगेट में मेरे सानिध्य में भी उम्मेदमल जी पांड्या ने यह विमोचन समारोह रखा। श्री राजेन्द्र कुमार जी (कम्मोजी) ने यह ग्रंथ विमोचन करके मुझे समर्पित किया। इस ग्रंथ के बारे में और आचार्यश्री के बारे में संक्षिप्त परिचय देते हुए मैंने आचार्यश्री के गुणों की गरिमा पर प्रकाश डालते हुए उनकी परोक्ष में ही वंदना की।

उधर भिंडर में आचार्य कल्पश्री श्रुतसागर जी महाराज के सानिध्य में २८ फरवरी से २ मार्च तक त्रिदिवसीय विद्वत् गोष्ठी समारोह मनाया गया। उसी में २ मार्च को इस ग्रंथ का विमोचन सम्पन्न होकर आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी के करकमलों में समर्पित किया गया। बाद में पारसोला (उदयपुर) में विराजमान आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज के निकट पहुँचकर मध्यान्ह ११ बजे हाथी के ऊपर सुसज्जित पालकी में ग्रंथ विराजमान करके जुलूस निकाला गया। तब अनेक विद्वान्, श्रीमानों ने मिलकर बड़ी सभा में

आचार्यश्री के करकमलों में यह अभिवंदन ग्रंथ समर्पित किया। उस समय आचार्यश्री की जय-जयकार से सारा पांडाल गूँज उठा। इसके बाद आचार्यश्री ने अपने प्रवचन में कहा—

"अभिनंदन करना श्रावकों का कर्तव्य है। उन्होंने गुरुभक्ति की है, गुरु-भक्ति करने वालों को पुण्य मिलता ही है, परन्तु मेरा क्या अभिनंदन!.....साधु चाहे नरक में जाये, चाहे निगोद में जाये। गुरुभक्ति करने वाला तो सात भव में मुक्ति प्राप्त करेगा परन्तु साधु का तो अभिनंदन से कोई संबंध नहीं, उन्हें तो अपना हित करना चाहिए.....।"

आचार्यश्री देशभूषण जी जयपुर में —

उधर २८ मार्च १९८२ को आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज दक्षिण से विहार करते हुए जयपुर पधारे, चूंकि उनके सानिध्य में वहाँ चूलगिरि पर विशाल जिनबिम्ब की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने वाली थी।

यहां जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन के लिए समय-समय पर मीटिंग होती रहती थीं। 'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन' समिति का भी गठन किया गया। इसमें निर्मलकुमार सेठी को 'अध्यक्ष', मोतीचन्द व रवीन्द्र कुमार को महामंत्री एवं पं. बाबूलाल जी को संचालक मनोनीत किया गया।

महावीर जयंती —

दिल्ली में रहने से यत्र-तत्र कालोनियों में विहार करना पड़ता है रविवार ४ अप्रैल को जनकपुरी में मंदिर की वेदी का शिलान्यास था, मैं वहाँ पहुँची, पांडाल में उपदेश हुआ और शिलान्यास कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। वहाँ से वापस विहार कर पूसा रोड, पहाड़ी धीरज होती हुई मोरीगेट आ गई। यहाँ जगह-जगह महावीर जयंती के कार्यक्रम लगभग १ माह तक मनाये जाते हैं।

शनिवार १७ अप्रैल को लालमंदिर में 'ज्ञानज्योति' कार्यालय का उद्घाटन हुआ। इस समय सागर (म.प्र.) में आचार्य विद्यासागर के सानिध्य में धवला ग्रन्थ की वाचना होने वाली थी। आर्यिका रत्नमती माताजी की आज्ञा से रवीन्द्र कुमार और मालती दोनों इस वाचना में चले गये।

वैशाख सुदी २, रविवार को 'फिक्की आडीटोरियम' में महावीर जयंती का कार्यक्रम खंडेलवाल समिति द्वारा आयोजित किया गया था। इसके लिए पहले से ही विजय कुमार लुहाड़िया आदि मेरे से स्वीकृति ले गये थे। वहाँ के लिए मैंने मोरीगेट से विहार कर राजा बाजार-नई दिल्ली में लाला श्यामलाल जी की कोठी पर आहार लिया और वहाँ फिक्की हॉल में उपदेश करके वापस शाम को मोरीगेट आ गई। इस समय शनिवार की रात्रि में खूब बारिश हुई थी, फिर भी समय पर वर्षा रुक गई थी।

ज्ञानज्योति प्रवर्तन की तैयारियाँ —

इधर बस चेचिस के चारों तरफ अनेक चित्र, जो कि हस्तिनापुर से संबंधित और जंबूद्वीप से संबंधित थे, उन्हें बनवाने के लिए मोतीचन्द ने मारष्ठे (राजस्थान) के सुभाषचंद पेंटर को बुलाया था। इसे मैंने १ मई को १० चित्रों का संक्षिप्त परिचय लिखाया। ये दसों चित्र बहुत सुन्दर बने थे। आज भी ये चित्र 'जंबूद्वीप ज्ञानज्योति' ट्रक से निकालकर त्रिमूर्ति मंदिर में लगा दिये गये हैं। इनके परिचय इस प्रकार हैं—

१. प्रथम चित्र में-राजकुमार श्रेयांस राजमहल में सोए हुए हैं, पिछली रात्रि में 'सुमेरूपर्वत' आदि सात स्वप्न देख रहे हैं।

२. दूसरे चित्र में-तीर्थंकर ऋषभदेव को राजा सोमप्रभ, उनकी पत्नी और भाई श्रेयांसकुमार इक्षुरस का आहार दे रहे हैं। आकाश से देवगण पंचाश्चर्य वृष्टि कर रहे हैं।

३. तीसरे चित्र में-हस्तिनापुर में जन्मे भगवान् शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ की प्रतिमाएँ हैं।

४. चौथे चित्र में-आचार्य शांतिसागर जी महाराज हैं।

५. पांचवें चित्र में-भगवान् ऋषभदेव ब्राह्मी-सुन्दरी को पढ़ा रहे हैं।

६. छठे चित्र में -सात सौ मुनियों के उपसर्ग निवारण का दृश्य है।

७. सातवें चित्र में-द्रौपदी के चीरहरण का दृश्य है।

८. आठवें चित्र में- सुमेरुपर्वत की पांडुकशिला पर भगवान का अभिषेक हो रहा है।

९. नौवें चित्र में- पद्मसरोवर से गंगा-सिन्धु नदी निकल रही है।

१०. दसवें चित्र में- श्रीबाहुबली का ध्यान करते हुए जंबूद्वीप की उपलब्धि हुई, ऐसा बतलाने वाला मेरा चित्र है। इसी प्रकार तीन लोक आदि के छोटे-छोटे अनेक चित्र तथा अनेक सूक्तियाँ भी लिखी हुई थीं। इस ज्योति वाहन पर सबसे ऊपर सामने धातु के सुमेरुपर्वत पर सबसे ऊपर ज्योति जल रही थी।

विघ्न बाधाएँ —

इधर इंदिरा जी ने ज्ञानज्योति प्रवर्तन के लिए मना कर दिया है, ऐसा समाचार मिला, फिर भी मोतीचन्द पुनः प्रयास में लगे हुए थे। इन दिनों मोरीगेट पर एक जैन ज्योतिषाचार्य आते रहते थे। मैंने दसों बार उनसे ज्ञानज्योति प्रवर्तन के लिए मुहूर्त निकालने को कहा। महानुभाव आते, पंचांग लेते और कुछ इधर-उधर की कहकर चले जाते। एक बार भी मुहूर्त नहीं निकाला। वे कहते —

"माताजी! आप इस प्रवर्तन की योजना को छोड़ दो। सफलता नहीं मिलेगी, इंदिरा जी तो आयेंगी नहीं.....अथवा जबरदस्ती निकालना ही है, तो आप कुल २।। महिने निकालकर चुप हो जाइये.....।"

इसी तरह एक प्रसिद्ध साधु ने भी कहलाया कि —

"मेरा निमित्तज्ञान कहता है, मेरी भविष्यवाणी है कि इंदिरा जी नहीं आयेंगी.....।" इत्यादि।

मैं सब सुनती रहती थी और अपने आप में, अपने निर्णय में दृढ़ थी।

एक बार किसी ने कहा —"जे.के. जैन संसद सदस्य हैं, वे इंदिरा जी को ला सकते हैं, उनसे संपर्क किया जाये।"

मैंने वैद्य शांतिप्रसाद जी, जो कि संस्थान के पहले महामंत्री थे तथा वर्तमान में उपाध्यक्ष थे, उन्हें बुलाकर कहा —

"मेरे पास जे.के. जैन को ले आइये।"

इस चर्चा के बाद जे.के. जैन के भाई और उनके अभिन्न मित्र के.सी. जैन वकील आये। मुझसे बहुत सी चर्चा करके सारी रूपरेखा समझकर गये और पुनः इंदिरा जी को लाने के लिए प्रयास चालू हुआ।

इधर नई बस चेचिस मेरठ से पास होकर ११ मई की रात्रि में यहाँ दिल्ली आ गई।

उधर जयपुर में आचार्यश्री देशभूषण जी महाराज के सानिध्य में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी। वहाँ जयपुर शाखा की ज्ञानज्योति प्रवर्तन के संदर्भ में मीटिंग भी थी अतः मोतीचन्द जी और माधुरी १२ मई को जयपुर चले गये। इधर १३ मई, ज्येष्ठ वदी ५ को मध्यान्ह में २ बजे जे.के. जैन के भाई और के.सी. जैन आये। बोले —

"माताजी! इंदिराजी के आने की स्वीकृति मिल गई है। कल करनाल में जे.के. जैन ने उनसे स्वीकृति ले ली है। आप अभी प्रेस मैटर और पोस्टर बनवाकर भेज दो। पोस्टर १२ बजे मिल जाना चाहिए।"

मैंने उसी समय डा. कैलाशचंद जी और कैलाशचंद करोलबाग वालों को बुलाया और उनसे प्रेस मैटर और पोस्टर बनवाकर छपवाने को दिला दिये। यथा समय पोस्टर आ गये। उस समय बहुत ही उत्साह से डा. कैलाशचंद और उनकी धर्मपत्नी शुद्ध लेही बनाकर पोस्टर लेकर जे.के. जैन के पास और उनके बताये स्थानों पर पहुँच-पहुँच कर सड़कों पर हाथ से पोस्टर चिपकाने लगे।

अगले दिन मोतीचन्द आ गये, सारी व्यवस्था संभाल ली। मॉडल वाला मॉडल के काम को पूरा करने में विलम्ब कर रहा था। बार-बार उसके यहाँ जाना पड़ता था। उधर रवीन्द्रकुमार को सागर में टेलीफोन कर दिया कि—

"इंदिरा जी के आने की स्वीकृति मिल चुकी है, आप आ जाइये।" समाचार पाते ही प्रसन्न हुए रवीन्द्र कुमार, मालती और गणेशीलाल रानीवाला यहाँ मोरीगेट पर आ गये। अभी इंदिराजी ने तारीख निश्चित नहीं की थी। कुछ भक्त लोग मेरी हंसी-मखोल बना रहे थे। पं. बाबूलाल जी बोले—

"माताजी! आप मॉडल के रथ में हाथ लगा दो, बस उद्घाटन हो गया। अब देरी नहीं करना है, हम लोग इस ज्योतिरथ को लेकर भ्रमण में निकलें.....।"

मैंने कहा—"शांति रखो, कार्य बढ़िया होगा.....।'

मैं मोतीचंद से परामर्श करने लगी, उनका साहस अच्छा था, दृढ़ थे। बोले—

"माताजी! आप आकुलता न करें, निश्चित रहें, भले ही अभी उद्घाटन न होकर अक्टूबर में हो....परवाह नहीं, किन्तु इंन्दिरा जी से ही प्रवर्तन कराना है।"

इनका अभिप्राय यही था कि "यदि इंदिरा जी से इस रथ का उद्घाटन सम्पन्न होगा, तो जगह-जगह राजनैतिक व्यक्तियों द्वारा स्वागत और सम्मान मिलने से जैन तो क्या, जैनेतर समाज लाखों की संख्या में भगवान् महावीर के उपदेश को, अहिंसा, अनेकांत और अपरिग्रह के सिद्धान्त को समझेंगे, तो जैन धर्म की महान् प्रभावना होगी.....।'

इसलिए ये अड़े हुए थे। २७ मई को सायंकाल में जे.के. जैन ने ५-७ महानुभावों को बुलाया। पं. बाबूलाल जी मुझसे बोले—

"माताजी! आशीर्वाद दो आज कार्य बन जावे, नहीं तो अब हम लोग ऐसे ही इस ज्योति रथ का उद्घाटन करा लेंगे।"

तभी मेरे मुख से सहसा निकल गया—

"पंडित जी! आप लोग आज जावो, सफलता मिलेगी" पुनः मैंने पंडित जी से कहा—"पंडित जी! आज मध्यान्ह में मेरी नव लाख जाप्य पूर्ण हुई है।"

पंडित जी आशीर्वाद लेकर मेरे चरण स्पर्श कर आगे बढ़े। मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार ने भी चरण छुए। जिनेन्द्र प्रसाद ठेकेदार आदि कई महानुभाव साथ गये। डेढ़-दो घंटे बाद जोर-जोर से जय बोलते हुए आम्रफल हाथ में लेकर पंडित जी आदि आ गये और फल चढ़ाकर वंदामि करके बोले—

"माताजी! ४ जून शुक्रवार को 'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति' उद्घाटन के लिए इंदिरा जी की स्वीकृति मिल गई है, अब मंगल आशीर्वाद दीजिये, हम लोग अपने कार्य को निर्विघ्न पूरा कर सकें।"

इसके बाद पंडित जी ने अनेक सभाओं में मेरे इस 'नव लाख' जाप्य का चमत्कार सुनाया है। यद्यपि मैंने किसी अभिप्राय से जाप्य नहीं किये थे, प्रत्युत कई माह से प्रतिदिन ५ हजार जाप्य करके २० दिन में एक लाख पूर्ण कर लेती थी। जाप में कभी महामंत्र और कभी सिद्धचक्र मंत्र का जाप्य किया करती थी।

मैंने आशीर्वाद दिया। आगे के कार्यों के लिए तत्काल मीटिंग होकर पांडाल व्यवस्था आदि के कार्यभार लोगों को सौंपे गये। ज्येष्ठ शु. ५, २७ मई को मोतीचन्द ने पोस्टर का मैटर बनाया, चूँकि समय बहुत कम था और प्रचार विशेष करना था। जैसे-जैसे जे.के. जैन बताते जाते थे, वैसे-वैसे ही ये लोग कार्य करते जाते थे। २८ मई को इंदिराजी की स्वीकृति प्राप्त हुई और २९ मई से पोस्टर छपाने की व्यवस्था बनाने आदि का कार्य विधिवत् शुरू हुआ।

इस मंगल कार्य के होने से आर्यिका रत्नमती माताजी भी बहुत ही प्रसन्न थीं। इधर मोतीचन्द रात-दिन एक करके मॉडल, बस चेचिस की सीटें, कार्यक्रम के लिए पांडाल आदि की व्यवस्था में लगे हुए थे और रवीन्द्र कमरे, आफिस, पत्र-पोस्टर आदि की व्यवस्था संभाल रहे थे। कमेटी के पदाधिकारीगण भी अपने-अपने कार्यों में लगे हुए थे। कार्यक्रम के पांडाल का गेट मेरु के आकार का बनाने का निर्णय हुआ था।

अथक परिश्रम करने पर मॉडल रथ के ऊपर स्थापन करने हेतु धातु का सुमेरु ढाई फुट का २६ मई को बनकर आ गया। एक-एक चीजें तैयार हो रही थीं। इंदिराजी की भेंट के लिए चांदी का सुन्दर सुमेरु बनवाया गया। ज्येष्ठ शु. १२, ३ मई को जम्बूद्वीप मॉडल, जो कि मोरीगेट में शांतिबाई के घर में रखाया गया था, मैं वहाँ जाकर जिनाभिषेक पूजा कराकर उस मॉडल और मेरु की शुद्धि कराकर, उसमें यंत्र स्थापित करवाकर आ गई।

इंदिरा जी का सभा में प्रवेश —

लालकिला मैदान में बनाये गये विशाल पांडाल में ४ जून १९८२ को मध्यान्ह में ३ बजे से ५ बजे तक विशाल सभा का आयोजन हुआ। प्रधानमंत्री ने ४ से ५ बजे तक आने का समय दिया था। ३ बजे से ही पांडाल भर गया। ठीक ४ बजे पांडाल के पास श्रीमती इंदिरा जी की कार पहुँच गई। संस्थान के पदाधिकारियों ने आगे बढ़कर स्वागत किया। जैन हैप्पी स्कूल के बालकों ने बैंड बजाकर स्वागत किया। जे.के. जैन ने पहले ही मंच के पास फूस की एक कुटिया बनवा दी थी, वहीं मैं बैठी हुई थी। सर्वप्रथम इंदिराजी को मेरी कुटिया में लाये। उन्होंने भक्ति से नमस्कार किया और यथोचित आसन पर बैठ गयी। एक-दो फोटो खिंचवाकर जे.के. जैन ने वहाँ से सबको हटा दिया और आप स्वयं भी बाहर चले गये। पूर्व में निर्धारित समय के अनुसार दो मिनट तक मुझसे अकेले में वार्तालाप करना था, फिर भी इंदिराजी ने मुझसे कई बातें पूछीं, मैंने समयोचित उत्तर दिया पुनः उन्होंने देश की कई एक समस्याओं को रखा, मैंने उस विषय में भी समाधान प्रस्तुत किया। वे स्वयं वार्तालाप में इतनी तन्मय हो गयीं कि २ मिनट क्या, १५ मिनट हो गये। उधर सभा में जनता आकुलता करने लग गयी। यहाँ वार्तालाप में मैंने अहिंसा धर्म और भारतीय संस्कृति की सुरक्षा पर जोर दिया था। मेरा कहना था कि —

"धर्म से ही राष्ट्र में शांति हो सकती है और जन-जन में भी शांति हो सकती है। साम्प्रदायिकता के नाम पर हिंसा व अनैतिकता देश के लिए सर्वथा हानिप्रद ही है....इत्यादि।" इंदिरा जी ने आगे हस्तिनापुर आने के लिए भी मनोभाव व्यक्त किये थे।

इस सुखद वार्तालाप के बाद इंदिरा जी मंच पर पधारीं। मैं भी यथोचित आसन पर पहुँच गई। सारी जनता ने इंदिरा जी का हाथ जोड़कर अभिवादन किया और इंदिरा जी ने भी हाथ जोड़कर सबका अभिवादन स्वीकार किया। जे.के. जैन ने मंच का संचालन अपने हाथ में रखा था। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार सर्वप्रथम कु. माधुरी ने मंगलाचरण किया-वह संदर्भित प्रसंग में यह था —

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं।
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।।
त्वयि ज्ञान ज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगवन् ।
अभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः।।

मंगलाचरण के अनन्तर तत्कालीन गृहमंत्री श्री प्रकाशचंद सेठी ने पुष्पहार से इंदिरा जी का स्वागत किया। निर्मलकुमार सेठी ने सम्मान-पत्र पढ़ा। पश्चात् रवीन्द्र कुमार ने संस्थान का परिचय सुनाया। अनन्तर मोतीचन्द ने जम्बूद्वीप ज्ञान ज्योति के प्रारूप एवं उनकी व्यवस्था आदि के बारे में जानकारी दी पुनः मेरा

आशीर्वाद रूप में प्रवचन हुआ। उसमें मैंने युगादि पुरुष भगवान् ऋषभदेव के समय की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कर्मभूमि की व्यवस्था बताई, पुनः जम्बूद्वीप का संक्षिप्त परिचय देकर भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड की इस पवित्र वसुंधरा पर प्रकाश डाला। मैंने कहा—

"यह महर्षियों का क्षेत्र है, यहाँ पर पुण्यशाली तपस्वियों ने अपनी साधना और तपस्या के बल से अपने को तो पवित्र बनाया ही है साथ ही देश में सच्चरित्र का निर्माण करके तमाम जीवों को पवित्र बनाया है और सुख शांति की स्थापना की है। मुझे जैन रामायण की एक सूक्ति याद आती है—

यस्य देशं समाश्रित्य साधवः कुर्वते तपः।
षष्ठमंशं नृपस्तस्य लभते परिपालनात् ।।

जिस देश में रहकर साधुजन तपस्या करते हैं, वहाँ के शासक उनका प्रतिपालन करने से उन साधुओं की तपश्चर्या का छठा भाग पुण्य प्राप्त कर लिया करते हैं अतः मैं स्पष्ट कहूँगी कि साधुओं की तपश्चर्या का पुण्य इंदिरा जी को स्वयं ही मिल रहा है....। वास्तव में यह तो कहना ही पड़ेगा कि इंदिरा जी का बहुत बड़ा सौभाग्य है। मैंने स्वयं देखा है इन दस वर्षों में अनेक धार्मिक आयोजनों में वे अपना समय निकालकर भाग लेती आ रही हैं।....इत्यादि।"

सभा में अनेक पत्रकारों ने मेरे इस वक्तव्य को नोट किया। मैंने यह भी कहा कि—"संसार में अज्ञान के समान कोई अंधकार नहीं है और ज्ञान के समान कोई प्रकाश नहीं है। यह ज्ञानज्योति सारे भारत में भ्रमणकर प्राणियों के अज्ञान अंधकार को दूर करे, ज्ञान का प्रचार करे, उसके साथ ही सारे विश्व में सुख-शांति की स्थापना करे। प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के शुभ हस्तों से ऐसे-ऐसे पुण्य कार्य सदैव होते रहें तथा यह जनतंत्रशासन जनता में धर्मनीतिमय अनुशासन करता रहे, मेरा यही आशीर्वाद है।"

श्रीमती इंदिरा जी ने अपने भाषण में कहा कि—

"जम्बूद्वीप का वर्णन हमारे सभी शास्त्रों में है, जैसे बौद्ध, जैन और वैदिक धर्म में जो-जो वर्णन है, वह केवल भारतवर्ष का ही नहीं है बल्कि उससे बहुत बड़ा है। इससे कोई यह न समझे कि हमारी नीयत दूसरों पर है या हम दूसरों से सब कुछ चाहते हैं। हम अपनी धरती से और अपनी जनता से ही संतुष्ट हैं.....।"

आगे पुनः कहा—

"पूज्य ज्ञानमती माताजी ने जो यह मॉडल बनाया है तथा जो हस्तिनापुर में इसको बनाया जा रहा है, इससे लोग इस जम्बूद्वीप के बारे में ज्यादा से ज्यादा ठीक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे और जहाँ-जहाँ यह ज्ञानज्योति में जायेगी, वहाँ भी इसके द्वारा एक नई धार्मिक भावना जागेगी। मैं आपके सामने आभार ही प्रकट कर सकती हूँ कि ऐसे शुभ अवसर पर आपने मुझे बुलाया कि मैं इसका प्रवर्तन करूँ। यह देखकर मुझे बहुत खुशी है.....।"

पुनः जे.के. जैन के वक्तव्य के अनंतर इंदिराजी जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति रथ पर पहुँचीं। वहाँ श्लोक और मन्त्रोच्चारणपूर्वक उनके करकमलों से विधिपूर्वक उद्घाटन कराया गया। सर्वप्रथम उनके हाथ धुलाकर संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहन ने हाथ में कंकण सूत्र बांधा।

अर्हंतो मंगलं कुर्युः सिद्धाः कुर्युश्च मंगलं।
आचार्याः पाठकाश्चापि साधवो तव मंगलं।।

बोलकर पुष्पांजलि क्षेपण कराई पुनरपि-

ज्योतिर्व्यंतर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा।
जम्बूशाल्मलिचैत्यशाखिषु तथा वक्षाररूप्याद्रिषु।।

इष्वाकारगिरौ च कुंडलनगे द्वीपे च नंदीश्वरे।
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वंतु ते मंगलं।।

पुनः पुष्पांजलि क्षेपण कराकर मॉडल पर स्वास्तिक बनाकर नारियल चढ़वाया। इसके बाद—

' ॐ श्रीमज्जिनशासने भगवतो महतिमहावीरवर्द्धमानतीर्थंकर धर्मतीर्थस्य श्री मूलसंघे मध्यलोके जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखंडे इन्द्रप्रस्थनगरे ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां तिथौ शुक्रवासरे शुभलग्ने मंगलबेलायां आर्यिकारत्नश्रीज्ञानमतीसन्निधौ भारतदेशस्य प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी अस्याः करकमलाभ्यां जम्बूद्वीप-ज्ञानज्योतिः प्रवर्तनं कारयिष्यामहे। श्रीजिनेन्द्रदेवाः जगतां सर्वशांतिं कुर्वंतु, तुष्टिं कुर्वंतु, पुष्टिं कुर्वंतु सर्वजनमनसि सम्यक् ज्ञानज्योतिः प्रद्योतनं कुर्वंतु स्वाहा।

इस प्रशस्ति के बाद इंदिरा जी ने मॉडल की आरती उतारी। अनंतर—

संपूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानां।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्रः।।

यह श्लोक बोलकर झारी से शांतिधारा कराकर पुनः पुष्पांजलि क्षेपण कराकर रथ को बुलाया गया। उस समय भगवान महावीर स्वामी की जय! अहिंसा धर्म की जय! जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति की जय! आर्यिका ज्ञानमती माताजी की जय! आदि जयकारे से सारा सभा मंडप गूंज उठा। बैंडबाजों की मधुर ध्वनि और उच्चध्वनि ने तो दिल्ली के संपूर्ण चांदनी चौक को मुखरित कर दिया। वह मंगलमयी भव्य समारोह और हर्ष का वातावरण आज भी जब स्मरण पथ पर आता है, तब सारा का सारा दृश्य मानों दृष्टि के सामने ही आ जाता है, हृदय गद्गद हो जाता है और शरीर रोमांचित हो उठता है।

दिल्ली से ज्ञानज्योति का जुलूस —

उसी क्षण इंदिराजी तो अपने स्थान पर चली गईं और जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का जुलूस बड़े ही महोत्सव के साथ चाँदनी चौक होता हुआ निकाला गया। पहले से ही निर्मलकुमार जी सेठी आदि महानुभावों ने सौधर्म इन्द्र आदि की बोलियाँ ली थीं। वे इस ज्योतिरथ पर इन्द्र-इन्द्राणी के वेष में बैठे। जमीन भयंकर तप रही थी, फिर भी उत्साह में लालमंदिर से कुछ दूर तक मैं भी जुलूस में साथ रही। यह जुलूस रात्रि में लगभग ९ बजे करोलबाग पहुँचा वहाँ उस दिन की शोभा यात्रा समाप्त हुई पुनः ६ जून को ग्रीनपार्क दिल्ली में बोलियाँ होकर शोभा यात्रा हुई। इसके बाद क्रमशः राजस्थान में तिजारा तीर्थ में प्रथम प्रवेश हुआ।

संचालक पं. बाबूलाल जमादार —

पं. बाबूलालजी जमादार बहुत ही उत्साह से संचालक पद का भार संभाल रहे थे। साथ ही महामंत्री मोतीचन्द जी इधर कार्यालय की व्यवस्था संभालते हुए भी समय-समय पर ज्ञानज्योति प्रवर्तन में भी पहुँचते थे और सारी जिम्मेदारी संभाल रहे थे।

जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति रूपरेखा —

जैनागम में वर्णित भूगोल एवं खगोल के विषय के अध्ययन, अनुसंधान की प्रक्रिया को गतिशील बनाने आदि के उद्देश्य से मेरी प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के तत्त्वावधान में परमपुनीत हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप की रचना बन रही थी। इस महत्वपूर्ण योजना के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन की योजना बनाई गई थी। इस प्रवर्तन में जम्बूद्वीप के मॉडल को एक सुन्दर ट्रक पर रखा गया। यह वाहन २५ फुट लम्बा, ८ फुट चौड़ा एवं १३ फुट ऊँचा था। यह मॉडल विद्युतप्रकाश, झरना और नदियों आदि के प्रवाह से बहुत ही सुन्दर बना था। इसी वाहन पर बोली लेने वाले इन्द्रों के बैठने के लिए एवं गुप्तदान पेटिका रखने के लिए व्यवस्था की गयी थी।

प्रवर्तन समिति के निर्णयानुसार प्रत्येक क्षेत्र में एक महानुभाव संयोजक के रूप में रहे हैं। स्थानीय कार्यक्रमों में मार्गदर्शन एवं केन्द्रीय समिति से संपर्क करके उन्होंने शोभायात्रा आदि कार्यक्रम सफल बनाये हैं। पूर्व निर्धारित समय के अनुसार ज्ञानज्योति जहाँ-जहाँ पहुँचती थी, पहले से ही उत्साही श्रावकगण पलक पावड़ें बिछाकर ज्योति का स्वागत करते थे और सभा के बाद बोली लेकर इन्द्र बनकर वाहन में बैठते थे। तब जुलूस निकलता था।

सौधर्म इन्द्र, ऐशान इन्द्र, सानत्कुमार इन्द्र, माहेन्द्र इंद्र और कुबेर की ऐसी पांच बोलियाँ होती थीं पुनः लोगों की भावना के अनुसार ज्योति की आरती की भी बोली रखी गयी थी। इस ज्योति भ्रमण में नृत्यकार, संगीतकार आदि भी समय-समय पर रहे हैं। संचालक के साथ अन्य विद्वान पं. गणेशीलाल जी प्राचार्य[१] आदि भी रहे हैं। इस कार्यक्रम में वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित साहित्य एवं सम्यग्ज्ञान पत्रिका का भी अच्छा प्रचार हुआ है।

आचार्यों के आशीर्वाद —

इस ज्ञानज्योति को सर्वप्रथम जयपुर में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज का आशीर्वाद मिला पुनः क्रम से लोहारिया में आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज का आशीर्वाद मिला। आचार्यश्री ससंघ इस ज्योति की शोभायात्रा में चलते रहे हैं। ऐसे ही आचार्य श्री विमलसागर जी आदि सभी के आशीर्वाद प्राप्त हुए हैं।

चातुर्मास स्थापना —

११ जून १९८२, आषाढ़ कृ. ४ को निर्मलकुमार जी सेठी, उम्मेदमलपांड्या, पन्नालाल जी-तेजप्रेस, जिनेन्द्र प्रसाद ठेकेदार, सुमतप्रकाश जी आदि महानुभाव आये और प्रार्थना करते हुए बोले —

"माताजी! इन दिनों गर्मी बहुत पड़ रही है, अतः आप यहीं दिल्ली में चातुर्मास कीजिये। हम लोगों की प्रार्थना है कि आप संघ सहित यह चातुर्मास कूचा सेठ — शहर में ही करें।"

लोगों की प्रार्थना स्वीकार कर तथा आर्यिका रत्नमती माताजी से परामर्श कर मैंने स्वीकृति दे दी। लोगों में हर्ष की लहर दौड़ गयी।

मोरीगेट से विहार- वर्षायोग स्थापना —

रविवार ४ जुलाई, आषाढ़ शु. १२ को मोरीगेट से विहार कर मैं यहाँ साइकिल मार्केट स्थित अतिथि भवन में आ गई। यहाँ सभा में मंगल आशीर्वाद दिया। सोमवार ५ जुलाई १९८२, आषाढ़ शु. १४ को रात्रि में आठ बजे से सभा शुरू हुई। अनंतर लोगों की प्रार्थना के बाद मैंने वर्षायोग स्थापना की। यहाँ दिल्ली में सर्व कालोनी आदि स्थानों में हर एक साधु जाते-आते रहते हैं अतः मैंने भी पूरे शहर में आने-जाने की छूट कर ली थी।

रविवार ११ जुलाई को अक्टूबर में जम्बूद्वीप में सेमिनार करने का निर्णय लिया गया।

विभिन्न कार्यक्रम —

२० अगस्त को वेदवाड़ा की दिगम्बर जैन समाज ने आचार्य शांतिसागर जी की पुण्यतिथि मनायी। वहाँ जाकर उपदेश करना हुआ। अच्छी प्रभावना हुई।

यहाँ शहर के बड़े मंदिर में समय-समय पर विशेष रूप से मेरे उपदेश होते रहते थे। ४ अगस्त, श्रावण शु. १५ को मैं ऊपर से सीढ़ी से उतरते समय एक सीढ़ी से गिर पड़ी, पैर में मोच आ गई। उस समय मैंने परवाह नहीं की। बड़े मंदिर में जाकर रक्षाबंधन पर्व पर उपदेश दिया। आते समय मार्ग में ही बैठ गई। जैसे-तैसे आ पाई, पैर में खूब सूजन आ गई थी। यह मोच की दर्द लगभग ४ माह तक चलती रही है।

---

१. ये कुछ वर्षों तक आचार्य वीरसागर विद्यापीठ जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के प्राचार्य रहे हैं।

दशलक्षण पर्व में पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को बुलाया गया था। बड़े मंदिर में पंडित जी तत्त्वार्थ सूत्र पर प्रवचन करते थे और मेरा धर्म पर प्रवचन होता था। इस प्रकार यह पर्यूषण पर्व सानन्द सम्पन्न हुआ।

इन्द्रध्वज विधान —

पहाड़गंज के हेमचंद जी, उग्रसेन जी अपने यहाँ इन्द्रध्वज विधान कराने के लिए मेरा सानिध्य चाहते थे। जून से आग्रह कर रहे थे, अब मैंने उन्हें स्वीकृति दे दी और अतिथि भवन से विहार कर पहाड़गंज आ गई। १० सितम्बर १९८२, आसोज वदी ७ को झंडारोहण कराया गया। रविवार १२ सितम्बर को वार्षिक रथयात्रा बहुत ही अच्छी रही पुनः १३ सितम्बर से विधान प्रारंभ हो गया। शुक्रवार को यहाँ जलयात्रा पूर्वक विधान पूर्ण हुआ।

उधर शाहदरा के लोग पहले से ही इन्द्रध्वज विधान के लिए आग्रह कर रहे थे। वहाँ उसी दिन ही प्रवीण चंद शास्त्री को भेज दिया, उन्होंने झंडारोहण करा दिया।

यहाँ आर्यिका रत्नमती माताजी को २-३ दिन ज्वर आ जाने से एक दिन अकस्मात् स्थिति सीरियस हो गई, वास्तव में अब इनका स्वास्थ्य इधर-उधर विहार कराने का नहीं था। फिर भी शाहदरा के श्रावकों के विशेष आग्रह से कम्मोजी की धर्मशाला में जाकर एक दिन विश्राम कर शाहदरा के लिए विहार कर दिया। वहाँ पर महमूदाबाद के प्रेमचंद जी सपरिवार अपने गांव के अनेक महानुभावों को साथ लेकर, तीस चौबीसी विधान करने आ गये थे। उनकी व्यवस्था भी शाहदरा में कराई गई।

एक साथ दो विधान —

रविवार २६ सितम्बर से जैन धर्मशाला में इन्द्रध्वज मंडल विधान शुरू किया गया। उधर वहीं मंदिर जी में मध्यान्ह में महमूदाबाद वालों द्वारा तीस चौबीसी विधान का आयोजन किया गया। इस प्रकार यहाँ एक साथ दो-दो विधान चल रहे थे। प्रातः १ बजे से २ बजे तक इन्द्रध्वज विधान होता था पुनः २ बजे से ही तीस चौबीसी विधान शुरू हो जाता था, तो सायंकाल तक चलता था। रविवार १० अक्टूबर को रथयात्रा करके विधान का समापन समारोह मनाया गया। अच्छी प्रभावना रही पुनः वहाँ पर शांति विधान आदि कई छोटे-छोटे विधान सम्पन्न हुए।

मंदिर का शिलान्यास —

भोगल में मंदिर का शिलान्यास होना था। वहाँ के जैन महानुभावों के विशेष आग्रह से मैं सोमवार को विहार कर भोगल पहुँची। वहाँ १८ अक्टूबर को प्रातः साढ़े दस बजे तक कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। मेरा मंगल आशीर्वाद हुआ और शिलान्यास हुआ पुनः आहार के अनन्तर मध्यान्ह में ३ बजे उपदेश हुआ। अगले दिन प्रातः विहार कर रास्ते में जे.के. जैन की कोठी पर १५-२० मिनट ठहरी, उसके बाद विहार कर नई दिल्ली राजाबाजार के मंदिर में आ गई। यहाँ मध्यान्ह में २० अक्टूबर को जैन हैप्पी स्कूल में मेरा उपदेश हुआ।

जम्बूद्वीप ज्ञान ज्योति सेमिनार —

२१ अक्टूबर से २ नवम्बर १९८२ तक जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति सेमिनार होना था। उसका उद्घाटन फिक्की आडिटोरियम में रखा गया। जे.के. जैन के सत्प्रयत्न से संसद सदस्य श्री राजीव गांधी ने उद्घाटन किया। वहाँ भी पहले राजीव गांधी जी को मेरे पास लाये, ५-७ मिनट वार्तालाप करके आशीर्वाद देकर सभा में कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। श्री राजीव जी ने अपने वक्तव्य में कहा—

"धर्म को राजनीति से अलग रखना ही आवश्यक है।"

पुनः मैंने अपने वक्तव्य में कहा—

"धर्म को राजनीति से अलग रखा जाये, यह बात ठीक है, पर इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि

राजनीति को धर्मनीति के साथ चलाया जाये, तभी देश में सुख और शांति हो सकती है।....." मैंने इस बात पर भी जोर दिया कि शासन से हिंसा को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए।

राजीव गांधी ने सात दीपक की ज्योति को प्रज्ज्वलित करके सेमिनार का उद्घाटन किया। जम्बूद्वीप सेमिनार स्मारिका का भी श्री गांधी ने विमोचन कर मुझे भेंट की। इस अवसर पर जम्बूद्वीप का मॉडल रजत प्लेट पर बनवाया गया था, वह राजीव जी को भेंट किया गया। सफलतापूर्वक उत्साह के वातावरण में सम्पन्न इस उद्घाटन समारोह के बाद मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति की अध्यक्षता में प्रथम सत्र वहीं पर चलाया गया। इस सेमिनार के उद्घाटन के समाचार सभी राष्ट्रीय दैनिक पत्रों, अंग्रेजी, उर्दू आदि में तथा रेडियो, टेलीविजन आदि पर भी प्रकाशित एवं प्रचारित हुए।

अतिथि भवन में शेष दिन सेमिनार —

उसी दिन सायं मैं वहाँ से विहार कर साइकिल मार्केट की अतिथि भवन धर्मशाला में आ गई। इस सेमिनार में एक जापानी महानुभाव भी पधारे थे। पटियाला विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस.एस. तिलक भी इसमें विशेष थे। इस सेमिनार में आधुनिक विद्वान अधिक थे। अनेक विद्वानों के शोधपूर्ण लेख भी आये थे, जो पढ़े गये। इसमें आर्यिका विशुद्धमती द्वारा भेजा गया भी एक लेख पढ़ा गया।

प्रायः प्रत्येक सत्र के समापन में मैं अनेक शंकाओं का समाधान देते हुए तिलोयपण्णत्ति, श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथों को पढ़ने की प्रेरणा दिया करती थी।

एक बार एक जैन विद्वान ने प्रो. अली की पुस्तक के आधार से इसी उपलब्ध विश्व में पूरे जम्बूद्वीप को घटाने का प्रयास किया, तब मैंने उन्हें श्लोकवार्तिक की पं. माणिकचंद कृत हिन्दी को पढ़ने की प्रेरणा दी और उस ग्रंथ के विशेष अंश भी सुनाये।

२ नवम्बर को मध्यान्ह में ४ बजे इस सेमिनार का समापन कार्यक्रम मनाया गया। आये हुए समस्त विद्वानों को प्रमाण-पत्र, सम्मान-पत्र, सुमेरु का प्रतीक, फोटो एवं साहित्य भेंट किया गया।

इसी मध्य १ नवम्बर को दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का अधिवेशन संपन्न हुआ। ज्ञान ज्योति पूर्वांचल समिति की बैठक हुई एवं अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद की भी बैठक हुई।

जन्म दिवस समारोह —

१ नवम्बर १९८२, शरद पूर्णिमा को मेरा उन्चासवाँ जन्मदिवस मनाया गया। ४९ दीपकों से रात्रि में आरती हुई।

£ ७८ ¤

मंगल विहार —

१८ नवम्बर १९८२, कार्तिक शु. ३ को मैं कम्मोजी की धर्मशाला से विहार कर नवीन शाहदरा आ गई। यहाँ दो दिन रुकने के बाद दिल्ली से विहार कर दिया। पूर्ववत् साहिबाबाद, गाजियाबाद, मोदीनगर, मेरठ होते हुए मवाना आई। वहाँ से २९ नवम्बर १९८२, कार्तिक शुक्ला तेरस को मैं हस्तिनापुर आ गई।

यहाँ पर त्रिलोकसार, श्लोकवार्तिक आदि का स्वाध्याय चालू हो गया। कुछ न कुछ लेखन कार्य भी चल रहा था। इधर त्रिमूर्ति मंदिर, रत्नत्रयनिलय, भोजनशाला आदि के निर्माण कार्य चल रहे थे। जम्बूद्वीप में भी हिमवान् आदि पर्वतों के कार्य द्रुतगति से चलाये जा रहे थे।

जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति भ्रमण —

४ जून १९८२ को दिल्ली को ज्ञानज्योति भ्रमण शुरू हुआ था। कुछ हरियाणा के गाँव घूमकर, तिजारा

क्षेत्र से राजस्थान में प्रवेश कर धर्म-प्रभावना करते हुए दशलक्षण पर्व के निमित्त से, १५ अगस्त १९८२ को ज्ञानज्योति का भ्रमण लगभग १ माह के लिए स्थगित कर दिया गया पुनः १२ सितम्बर से बूँदी गाँव से प्रारंभ हुआ। यह भ्रमण पुनः दीपावली के अवसर पर ९ नवम्बर से १८ नवम्बर तक १० दिन को रोक दिया गया पुनः १९ नवम्बर से डूँगरपुर जिले में प्रवेश हुआ। सर्वत्र धर्म प्रभावना के साथ २० दिसम्बर १९८२ को केशरियानाथ जी तीर्थ क्षेत्र पर राजस्थान का समापन समारोह मनाया गया।

इन्द्रध्वज विधान —

इधर हस्तिनापुर में सरधना के मोहनलाल जी आदि श्रावकों ने यहाँ मेरे सानिध्य में १७ दिसम्बर तक इन्द्रध्वज विधान किया पुनः १७ फरवरी से २७ फरवरी १९८३ तक पवन कुमार मेरठ वालों ने यहीं पर इन्द्रध्वज विधान कराया।

बम्बई में आचार्यश्री विमलसागर जी के सानिध्य में त्रिलोकचंद कोठारी-कोटा वालों ने इन्द्रध्वज विधान का आयोजन विशाल स्तर पर किया। इसी मध्य ९ फरवरी को जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति की मीटिंग में अच्छे उत्साह के साथ 'महाराष्ट्र प्रांतीय जंबूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन समिति' का गठन हुआ, जिसमें साहू श्रेयांस प्रसाद जी आदि संरक्षक बनाये गये।

इधर २८ जनवरी से २८ फरवरी तक बंगाल में कलकत्ता से लेकर ठाकुरगंज (पूर्णिमा) तक अच्छी धर्म प्रभावना के साथ ज्ञानज्योति का भ्रमण सम्पन्न हुआ पुनः मार्च से बिहार प्रांत में भ्रमण की रूपरेखा बनायी गयी। कलकत्ता में १३ फरवरी को ज्ञानज्योति का स्वागत कार्यक्रम बहुत ही अच्छा रहा है।

यहाँ हस्तिनापुर में बड़ौत के निवासी वर्तमान में हस्तिनापुर में रहने वाले अनंतवीर ने १३ मार्च से २४ मार्च तक फाल्गुन की आष्टान्हिका में इन्द्रध्वज विधान कराया।

रत्नमती बालविद्या मंदिर —

टिकैतनगर में[१] प्रकाशचंद जैन ने ११ दिसम्बर १९८२ को मातृभक्ति से प्रेरित होकर अपनी माँ के नाम पर 'रत्नमती बालविद्या मंदिर' नाम से एक विद्यालय की स्थापना की थी, जो कई वर्षों तक उनके अथक प्रयत्न से निराबाध रूप से चलता रहा है। इसमें छोटे-छोटे बालक धर्म के संस्कारों में ढाले जाते थे।

जम्बूद्वीप निबन्ध प्रतियोगिता —

'जम्बूद्वीप निबन्ध प्रतियोगिता' दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा घोषित की गयी। इसमें अनेक निबंध आये और लेखों के अनुसार प्रथम, द्वितीय, तृतीय पुरस्कार दिये गये जिसमें कु. माधुरी (संघस्थ), कु. भावना (गुजरात) इन्हें प्रथम पुरस्कार मिला।

पं. बाबूलाल जी जमादार का सहयोग —

२ मार्च से बिहार में भागलपुर से ज्ञानज्योति का भ्रमण प्रारंभ हुआ। पं. बाबूलाल जमादार ने २३ मार्च तक ज्ञानज्योति प्रवर्तन में संचालन का भार संभाला था। इसमें बीच-बीच में मोतीचन्द जी जाते रहते थे। इसके बाद उनका स्वास्थ्य कमजोर हो जाने से वे इच्छा होते हुए भी नहीं जा पाये। २४ मार्च से रवीन्द्र कुमार ने ज्योति संचालन का भार संभालकर ८-७-१९८३ तक जमशेदपुर टाटा नगर तक धर्म प्रभावना के साथ ज्योति प्रवर्तन कराया।

८ अप्रैल के बाद यह ज्ञानज्योति उड़ीसा, कटक होते हुए महाराष्ट्र के लिए बम्बई रवाना हो गई।

बम्बई में ज्ञानज्योति —

राजस्थान, बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भ्रमण कर महाराष्ट्र के प्रमुख शहर बम्बई में ज्ञानज्योति

---

१. (मेरी आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी की) जन्मभूमि में।

पहुँची। इस समय महानगरी में १७ अप्रैल से २९ अप्रैल १९८३ तक विभिन्न स्थानों में जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का स्वागत किया गया और शोभायात्रा निकाली गयी। १९ अप्रैल को जे.के. जैन (दिल्ली) ने ज्ञानज्योति का बंबई में स्वागत किया।

डायनिंग हॉल का उद्घाटन —

यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर यात्रियों के लिए निःशुल्क भोजन की व्यवस्था की गई थी। उसके लिए एक भोजनशाला का निर्माण हुआ। ६ मार्च १९८३ को जे.के. जैन संसद सदस्य के करकमलों से इस भोजनशाला (डायनिंग हॉल) का उद्घाटन कराया गया। उस समय एक छोटा सा समारोह सम्पन्न हुआ। उस समय जे.के. जैन के अमूल्य सहयोग का उल्लेख करते हुए संस्थान की ओर से उन्हें अभिनंदन-पत्र भेंट किया गया।

आचार्य वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ —

सन् १९७९ में मेरी प्रेरणा से यहाँ मेरे गुरुदेव के नाम को चिरस्थायी रखने के लिए जो 'आचार्य श्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ' खोला गया था, उसमें प्राचार्य गणेशीलाल जी साहित्याचार्य का कुशल नेतृत्व होने से प्रायः रविवार को और विशेष पर्व तिथियों में 'सम्यग्ज्ञान गोष्ठी' होती रहती थी। इसमें विद्यार्थियों ने धार्मिक क्षेत्र में अच्छी प्रगति की। उस समय जून १९८३ का सम्यग्ज्ञान 'विद्यापीठ अंक' निकाला गया, जिसमें विद्यापीठ की प्रगति पर प्रकाश डाला गया।

रत्नत्रयनिलय का उद्घाटन —

यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर साधुओं के लिए हेमचंद जैन (दिल्ली) के सहयोग से 'रत्नत्रयनिलय' नामक वसतिका (त्यागी भवन) का निर्माण हुआ है। रविवार अक्षय- तृतीया, दिनाँक १५ मई १९८३ को इसका उद्घाटन समारोह मनाया गया। ७ बजे भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा को यहाँ लाये, शांति विधान कराया पुनः ९ बजे रथयात्रा हुई। वापसी में यहीं पर हॉल में भगवान् ऋषभदेव का अभिषेक सम्पन्न हुआ। अनंतर उपदेश व आशीर्वाद के बाद श्री उग्रसेन हेमचंद जैन ने ११ बजकर ४५ मिनट पर शिलालेख का अनावरण कर 'रत्नत्रयनिलय' का उद्घाटन किया। रथयात्रा की वापसी में भगवान् की प्रतिमा के साथ मैंने संघ सहित इसमें प्रवेश किया।

प्रशिक्षण शिविर —

दशलक्षण पर्व में जैन मंदिरों में जाकर विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र और दशधर्म पर प्रवचन कर सकें, इस उद्देश्य से प्रशिक्षण शिविर ५ जून से १५ जून तक रखा गया था। सरधना निवासियों के विशेष आग्रह से मैंने सरधना की ओर विहार की स्वीकृति दे दी थी। इधर आर्यिका रत्नमती माताजी का स्वास्थ्य बहुत ही नाजुक चल रहा था। फिर भी मैं साहस कर वैशाख शु. ७ दिनाँक १९ मई १९८३ को सायं ५ बजे विहार कर गणेशपुर पहुँची। वहाँ रात्रि में आर्यिका रत्नमती जी की तबियत बहुत खराब हो गई। फिर भी मैं रात्रि के १२ बजे तक दृढ़ रही और मन में यही सोचती रही कि—

"जो भी हो, या तो मैं इन्हें वापस हस्तिनापुर भेज दूँगी या साथ ही जैसे-तैसे ले जाऊँगी।"

इसके बाद उनके मुख से ऐसे शब्द निकले कि—

"माताजी! अब मेरा शरीर काम नहीं कर रहा है, तुम मेरी समाधि अच्छी तरह से हस्तिनापुर तीर्थ पर करा दो.....।"

इन शब्दों को सुनने के बाद रात्रि २ बजे के बाद मेरे मन में अकस्मात् परिवर्तन आया और मैंने सोचा कि—

"न तो इन्हें लेकर मैं सरधना पहुँच सकती हूँ, चूंकि मार्ग में ही हालत सीरियस हो जायेगी.....और यदि

इन्हें वापस हस्तिनापुर भेज देती हूँ तो भी इनकी वैयावृत्ति कौन करेगा? समाधि कौन बनायेगा?''

पुनः मन में विचार आया—''मैंने प्रभावना तो खूब कर ली है। अब इनकी समाधि अच्छी कराना भी तो मेरा कर्तव्य है.....।'' ऐसा सोचकर मैंने रात्रि ३ बजे वापस आने का निर्णय किया और प्रातः ऐसी ही नाजुक स्थिति में रत्नमती माताजी को डोली में लेकर वहाँ से—गणेशपुर से हस्तिनापुर की ओर विहार कर दिया। यहाँ वापस आकर माताजी का स्वास्थ्य कई दिनों तक काफी अस्वस्थ रहा। उनके मन पर भी असर हुआ कि-

''मेरे निमित्त से सरधना की समाज माताजी के उपदेश आदि से वंचित रह गई।'

खैर! यहाँ आकर मैंने प्रशिक्षण शिविर यहीं कराने का निर्णय लिया। मोतीचंद ने मेरी आज्ञा से जिम्मेदारी संभाली अतः ज्ञानज्योति में नहीं जा सके। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को कुलपति बनाया गया और ४०-५० विद्वानों ने तत्त्वार्थसूत्र तथा दशधर्म पर प्रशिक्षण ग्रहण किया।

रत्नत्रय निलय में शिविर समापन समारोह —

समापन के अवसर पर विद्वद्गण अपने-अपने उद्गार व्यक्त कर रहे थे उसी के मध्य पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने कहा कि—

''यहाँ सुमेरु की वंदना करने से जो आनंद हुआ है, वह अपूर्व है। आज जो भी इस महान् जम्बूद्वीप निर्माण की निंदा करते हैं, मैं माताजी से प्रार्थना करूँगा कि वे निश्चित ही इसके दर्शन कर एक न एक दिन प्रभावित होकर अवश्य ही प्रशंसा करेंगे.....। मैंने माताजी द्वारा लिखित 'मेरी स्मृतियाँ' नाम से कुछ संस्मरण पढ़े। वास्तव में माताजी ने अपने वचन को पूरा निभाया है। उनके घर से निकलते समय उनकी माँ (आर्यिका रत्नमती माताजी) ने जो कहा था कि.....बेटी! आज मैं तुम्हें सहयोग दे रही हूँ, आगे तुम मुझे भी सहयोग देकर घर से निकाल लेना'' सो आज देख रहा हूँ कि माताजी ने आज से १२ वर्ष पूर्व अपनी मां को घर से निकालकर आज उन्हें आर्यिका के महान् पद पर विराजमान किया है। माताजी ने उस समय के वचन को अच्छी तरह निभाया है.....।''

ये संस्मरण कहते-कहते उनका गला भी भर आया और उनकी आँखें सजल हो गईं। उपस्थित सभी विद्वानों के भी नेत्र सजल हो गये, उस समय वहीं बैठी हुई आर्यिका रत्नमती माताजी भी रो पड़ीं। वह दृश्य बहुत ही हृदय द्रावक था।

इन विद्वानों ने भी जम्बूद्वीप की प्रशंसा में और रत्नमती माताजी के गौरव में अच्छे-अच्छे उद्गार व्यक्त किये।

एक साथ दो सिद्धचक्र विधान —

रविवार १७ जुलाई आषाढ़ शु. ८ से अष्टान्हिक पर्व शुरू हो गया। मेरठ के कुछ महानुभाव तथा महमूदाबाद के श्रेयांसकुमार आदि महानुभाव सिद्धचक्र विधान करने के लिए आये। डायनिंग हाल में दो मण्डल बनाये गये। मेरठ वालों ने तेरहपंथ से विधान किया और महमूदाबाद वालों ने बीसपंथ से विधान किया। इन दोनों ने आपस में बहुत ही प्रेमभाव रखा, यह बहुत ही अच्छा उदाहरण बना है।

सुमेरुपर्वत की १०८ वंदना —

२२ जुलाई १९८२, आषाढ़ शु. १३ मंगल त्रयोदशी के दिन मैंने सुमेरु पर्वत की १०८वीं वंदना की, मन बहुत ही प्रसन्न हुआ। लगभग १० महीने में मैंने सुमेरु पर्वत की १०८ वन्दनाएं की हैं पुनः२३ जुलाई आषाढ़ शु. १४ की रात्रि में वर्षायोग स्थापना की। दिल्ली के लोगों ने आकर प्रार्थना करके चातुर्मास स्थापना करायी।

ज्ञानज्योति प्रवर्तन —

उधर ज्ञानज्योति का मोतीचन्द प्रवर्तन करा रहे थे। उन्हें बहुत तेज ज्वर आ जाने से नवलचंद चौधरी

उन्हें सनावद उनके घर पहुँचाकर आये। ज्ञानज्योति से समाचार आया कि मोतीचन्द जी के अस्वस्थ हो जाने से यहाँ कोई भी संचालक नहीं है। इधर रवीन्द्रकुमार को जाने के लिए कहा। उनके पेट में अकस्मात् दर्द उठ जाने से यहाँ के यशवन्तराव और नरेशचन्द विद्यार्थी को भेजा गया। सुनकर खुशी इस बात की हुई कि वहाँ पर कैलाशचंद प्रचारक-सम्यग्ज्ञान और ज्योतिचालक (ड्राइवर) ने सकुशल दो गाँवों का प्रोग्राम संभाल लिया, कुछ-कुछ उपदेश करके शोभायात्रा करा दी। वास्तव में ज्ञानज्योति के साथ रहकर सभी लोग अनुभव ज्ञान प्राप्त कर कुशल हो गये थे।

सनावद में श्रावण शु. २ से इन्द्रध्वज विधान शुरू हुआ। इधर माधुरी, रवीन्द्र को लेने के लिए सनावद से लोग आये। माधुरी को भेजा। वहाँ विधान पूर्णकर रक्षाबंधन के बाद मोतीचन्द जी उधर से ही ज्ञानज्योति में पहुँच गये और सुचारू रूप से व्यवस्था संभाल ली। महाराष्ट्र में ज्ञानज्योति भ्रमण में बहुत ही अच्छी धर्म प्रभावना हुई है।

जम्बूद्वीप दर्शन एवं उपदेश से प्रभावित —

वी.पी. धवन (केन्द्रीय शिक्षण संस्थान, नई दिल्ली), एस.के. मनचन्दा (भारत स्काउट एवं गाइड कमिश्नर, नई दिल्ली), जी. रंगाराव (नेशनल ट्रेनिंग कमिश्नर उ.प्र.) पंचमढ़ी, मनीपुरस्टेट-राजस्थान, उ.प्र., उड़ीसा, झाँसी, बिहार, मणीपुर, जम्बू और कश्मीर केन्द्रीय विद्यालय संगठन, नई दिल्ली आदि १३ राज्यों के स्काउट और गर्ल्स गाइड के लगभग ३०० छात्र-छात्राओं ने यहाँ आकर दर्शन किये एवं मेरे उपदेश से लाभान्वित होकर अच्छे उद्गार व्यक्त किये।

इधर १९८३ में भी दशलक्षण पर्व के अवसर पर ९ से २६ सितम्बर तक प्रोग्राम स्थगित रखा पुनः २७ अक्टूबर से कोल्हापुर जिले में ज्ञानज्योति का भ्रमण अच्छा रहा।

आचार्यों, मुनिसंघों को यहाँ आने की प्रार्थना —

२८ अक्टूबर १९८३ को संस्थान का एक शिष्टमण्डल रवीन्द्र कुमार के साथ सर्वप्रथम निकला। प्रतापगढ़ में आचार्यश्री धर्मसागर जी, डूंगरपुर में आचार्य श्री सन्मतिसागरजी आदि के दर्शन किये, सभायें हुईं। वहाँ इन २० सदस्यों ने रवीन्द्र के साथ संघ में नारियल चढ़ाकर प्रार्थना की कि —

"आप सभी साधु वर्ग हस्तिनापुर पधारकर जम्बूद्वीप के जिनबिम्बों की महान प्रतिष्ठा कराइये।"

आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज ने कहा कि —

"ज्ञानमती माताजी बहुत पुरुषार्थी हैं। इतने विरोध के होते हुए भी वे अडिग रहीं। जम्बूद्वीप निर्माण का कार्य पूरा हुआ है और ज्ञानज्योति भी निर्विघ्न चल रही है, यह बहुत ही प्रसन्नता का विषय है इत्यादि।"

उपाध्याय मुनि अजितसागर जी अपने संघ सहित घाटोल में थे। उन्हें भी नारियल चढ़ाया और प्रार्थना की। पूज्य दयासागर जी, अभिनंदनसागर जी आदि सागवाड़ा में थे, वहाँ भी पहुँचे और श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की। उदयपुर में आर्यिका विशुद्धमती जी को नारियल चढ़ाया।

इस प्रकार ४ दिन के अंदर राजस्थान में विराजमान लगभग १० स्थानों पर १०० से अधिक दिगम्बर साधु-साध्वियों के दर्शन करके, श्रीफल चढ़ाकर उन सबसे यहाँ प्रतिष्ठा पर पधारने हेतु निवेदन किया।

इसी प्रकार औरंगाबाद में वर्षायोग कर रहे आचार्यश्री विमलसागर जी के चरणों में श्रीफल चढ़ाकर मोतीचन्द, निर्मल कुमार सेठी, जे.के. जैन आदि महानुभावों ने हस्तिनापुर पधारने के लिए प्रार्थना की।

इसी मध्य १४ अक्टूबर को ज्ञानज्योति कुम्भोज पहुँची। वहाँ पर विराजमान मुनिश्री समंतभद्र जी महाराज एवं एलाचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज ने ज्ञानज्योति को बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया। जम्बूद्वीप का मॉडल देखा और मुनिश्री समंतभद्र जी ने तो बार-बार कहा कि —

"आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने अथक परिश्रम करके महान् कार्य किया है, उनका समाज पर बहुत बड़ा उपकार है और उनके कार्य भी अप्रतिम हैं.....।"

हस्तिनापुर के इण्टर कालेज में उपदेश —

२ अक्टूबर १९८३ को गांधी जयंती के अवसर पर यहाँ हस्तिनापुर टाउन में गवर्नमेंट इण्टर कालेज में मेरा सारगर्भित प्रवचन हुआ। इस अवसर पर कालेज के प्रिंसिपल, अध्यापकगण एवं विद्यार्थियों ने लाभ लिया। गांधी जी की अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की विचारधारा से ही देश और जन-जन का हित है, ऐसा सभी ने स्वीकार किया।

ज्ञानज्योति कर्नाटक में —

उधर ज्ञानज्योति का भ्रमण ८ नवम्बर से कर्नाटक में शुरू हुआ। मोतीचन्द ने बहुत ही मनोयोग से विशेष उत्साह के साथ ज्योति भ्रमण को संभाला और सर्वत्र अच्छी धर्म प्रभावना की। मोतीचन्द महीने-डेढ़ महीने बाद जब यहाँ आते तब ज्ञानज्योति के प्रवर्तन में आने वाले अच्छे-अच्छे अनुभव सुना-सुनाकर खूब प्रसन्न होते और मेरा मन भी प्रसन्न करते पुनः आगे की रूपरेखा बनाकर, आज्ञा लेकर चले जाते। इधर मैं यही सोचा करती—

"भगवन् ! ज्ञानज्योति के सारे भारत भ्रमण तक मोतीचन्द का उत्साह न घटे, दिन पर दिन बढ़ता ही रहे। जिससे ज्ञानज्योति भ्रमण निर्विघ्न सम्पन्न हो.....।'

क्योंकि इधर सन् १९८१ से ही मोतीचन्द ने भोजन में नमक और मीठे का जम्बूद्वीप प्रतिष्ठा होने तक के लिए त्याग कर दिया था। शुद्ध घी और शुद्ध दूध लेते थे। हाथ का पिसा हुआ आटा आदि शुद्ध भोजन करते थे अतः कहीं-कहीं मध्यान्ह में २-२।। बजे रूखा-सूखा बिना नमक का भोजन मिलता था। कहीं-कहीं अच्छी व्यवस्था भी हो जाती थी फिर भी ये उस कष्ट को कुछ ना समझकर उत्साह से नये-नये गाँव, नये-नये श्रावक, नये-नये राजनैतिक व्यक्तियों को पाकर बहुत ही गद्गद होते थे और आकर कहते थे—

"माताजी ! इस ज्योति भ्रमण के अतिरिक्त समय में लाखों रुपया खर्च करके भी यह आनन्द नहीं मिल सकता है इत्यादि।"

कभी-कभी महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि स्थानों के कार्यक्रम के कुछ टेप कैसेट भेज देते थे, जिन्हें सुनकर यहाँ मैं खुश होती रहती थी चूंकि मुझे मराठी और कन्नड़ भाषा कुछ समझ में आ जाती है। आर्यिका रत्नमती माताजी यद्यपि मराठी और कन्नड़ किंचित् भी नहीं समझती थीं, फिर भी वे टेप कैसेट सुनकर बहुत खुश होती रहती थीं।

इन्द्रध्वज विधान —

रविवार ११ सितम्बर १९८३, भादों सुदी ५ से यहाँ हस्तिनापुर में आनन्द प्रकाश जैन, सोरम वालों ने इन्द्रध्वज विधान शुरू किया। दशलक्षण पर्व में विधान के आयोजन से बहुत ही धर्ममय वातावरण बन गया। इसके बाद ७ नवम्बर से १५ नवम्बर तक जयकुमार जी विनायका भागलपुर वालों ने यहाँ इन्द्रध्वज विधान किया।

£ ७९ ¤

आर्यिका रत्नमती को अभिनंदन ग्रंथ समर्पण —

यहाँ चातुर्मास में मेरे पास बैठकर एक दिन रवीन्द्र कुमार और माधुरी "आर्यिका रत्नमती अभिनंदन ग्रंथ" के फोटो आदि को सुव्यवस्थित कर रहे थे। आर्यिका रत्नमती जी ने देख लिया और उन्हें मालूम हो गया कि—

"मेरा अभिनन्दन ग्रंथ तैयार हो रहा है, मुझे समर्पित करेंगे।...."

तो वे सहज ही मुझे बुलाकर बोलीं—

"माताजी! यह क्या हो रहा है? आप मेरी हंसी क्यों करा रही हो? भला मैंने क्या काम किया है? यह अभिनंदन ग्रंथ आदि सब आपको शोभते हैं। ऐसा करोगी तो मैं सभा में भी नहीं आऊँगी....।"

उनके सभी शब्दों में ऐसा लगा कि—"इन्हें बहुत बड़ा संकोच हो रहा है"।

मैंने थोड़े शब्दों में कहा—

"गृहस्थावस्था का आपका आदर्श जीवन, पुनः ऐसा हरा-भरा परिवार छोड़कर दीक्षा लेना, यह आदर्श सभी महिलाओं के लिए अनुकरणीय है अतः यह अभिनंदन ग्रंथ समर्पण आदि कार्य कोई अनुचित नहीं है.....।"

पुनः वह मंगल तिथि आ गई। इस प्रसिद्ध तीर्थ हस्तिनापुर में कार्तिक शुक्ला १५ को प्रतिवर्ष की तरह इस बार भी मेला था। इस कार्तिक शु.१५, २० नवम्बर १९८३ को यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर विशाल पांडाल बनाया गया। ग्रंथ विमोचन व समर्पण के लिए कांग्रेस (इंदिरा) संसदीय दल के सचिव व संसद सदस्य श्री जे.के. जैन मुख्य रूप से आमंत्रित थे।

इस प्रसंग पर अमरचंद पहाड़िया (कलकत्ता), निर्मल कुमार जी सेठी, गणेशीलाल रानीवाला, लाला श्यामलाल जी ठेकेदार आदि अनेक गणमान्य भक्तगण उपस्थित थे। ग्रंथ के सम्पादक डा. कस्तूरचंद कासलीवाल, पं. बाबूलाल जमादार आदि विद्वान् मौजूद थे। विशाल सभा में मेरी विशेष प्रेरणा से आर्यिका रत्नमती माताजी का परिचय दिया गया। श्री जे.के. जैन का पुष्पहार से स्वागत किया गया। इसके बाद जे.के. जैन ने मेरी आज्ञा लेकर अभिनंदन ग्रंथ का विमोचन किया और पूज्य आर्यिका रत्नमती जी के करकमलों में समर्पित किया। रत्नमती माताजी ने उस समय भावविह्वल मुद्रा में उस ग्रंथ को हाथ में लेकर मुझे दे दिया, पुनः जे.के. जैन आदि सभी को आशीर्वाद दिया। जे.के. जैन ने अपने वक्तव्य में ज्ञानज्योति प्रवर्तन द्वारा होने वाली धर्मप्रभावना का उल्लेख करते हुए आर्यिका रत्नमती जी के आदर्श जीवन पर प्रकाश डाला।

इस सभा में प्रसिद्ध लाला श्यामलाल जी ठेकेदार को रजतपट्ट पर लिखी प्रशस्ति देकर सम्मान किया गया। जे.के. जैन ने पूज्य रत्नमती माताजी को नवीन पिच्छी देकर उनकी पुरानी पिच्छी प्राप्त की। श्री अमरचंद पहाड़िया ने मेरी पिच्छी बदलायी। समारोह का संचालन पं. बाबूलाल जमादार ने किया और संस्थान की गतिविधियों पर रवीन्द्र कुमार ने प्रकाश डाला। अन्य महानुभावों ने भी आर्यिका रत्नमती जी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए अनेक प्रेरणायें प्राप्त कीं। अंत में मेरा आशीर्वादात्मक प्रवचन हुआ, जिसमें मैंने 'दहेज दो तो ऐसा दो' इस विषय पर जोर दिया और बतलाया कि—

"आज से लगभग ७० वर्ष पूर्व सन् १९१४ में महमूदाबाद के श्रेष्ठी लाला सुखपालदास जी के यहाँ एक कन्यारत्न मोहिनी ने जन्म लिया था। लाल सुखपाल दास जी ने अपनी कन्या को विवाह के समय 'पद्मनंदिपंचविंशतिका' नाम का ग्रंथ दिया था। मोहिनी जी ने उसे पढ़कर आजन्म शीलव्रत और अष्टमी, चतुर्दशी पर्व में ब्रह्मचर्य व्रत का नियम लिया था पुनः उन्होंने सन् १९३४ में शरद पूर्णिमा (आसोज शु. १५) २२ अक्टूबर को एक कन्या को जन्म देकर "मैना" नाम रखा था। इन माता मोहिनी ने अपनी कन्या को भी इस ग्रंथ के स्वाध्याय की प्रेरणा दी थी। उस कन्या ने भी उस ग्रंथ को पढ़कर वैराग्य से ओतप्रोत हो १८ वर्ष की वय में दीक्षा ली थी। सो ही मैं आज ज्ञानमती हूँ। इन आर्यिका रत्नमती माताजी के जीवन में जो त्याग, तपस्या और साधना दिख रही है तथा मेरे जीवन में जो ज्ञान का प्रकाश दिख रहा है, उन सबमें उस दहेज के ग्रंथ का ही प्रमुख प्रभाव है। इसलिए सभी भव्य श्रावक-श्राविकाओं! आप लोग भी अपनी कन्या को दहेज में धार्मिक ग्रंथ अवश्य दो।"

इस मेले पर आगत यात्रियों को प्रीतिभोज कराया गया। इस मंगल अवसर पर श्रीरत्नमती माताजी की

प्रशस्ति पढ़ी गई, वह निम्न प्रकार है—

''लोकालोकप्रकाशिकेवलज्ञानज्योतिषा सकलचराचरवस्तुसाक्षात्कारि-महाश्रमणभगवद्-वर्धमानस्य सार्वभौमशासनं वर्धयति। श्री कुंदकुंदाम्नाये नंदिसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे चारित्रचक्रवर्ती श्रीशांतिसागराचार्यवर्यस्तत्पट्टे श्रीवीरसागरमुनीन्द्रस्तत्पट्टाधीशोश्रीशिवसागर-सूरिस्तत्पट्टस्थितः श्री धर्मसागराचार्योऽस्य करकमलात् ''वीराब्दे अष्टानवत्युत्तरचतुर्विंशतिशततमे वर्षे मार्गशीर्षमासे कृष्णपक्षे तृतीयातिथौ अजमेरपत्तने'' दीक्षिता संयतिका आर्यिकारत्नमती माता इह भूतले चिरं जीयात् ।

अधुना वीराब्दे नवोत्तरपंचविंशतिशततमे वर्षे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे पूर्णिमातिथौ अद्यावधि श्रीज्ञानमतीमातुः संघे द्वादशवर्षायोगं व्यतीत्य निर्विघ्नतया संयमं परिपालयन्ती सत्यग्रेऽपि यावज्जीवं निर्बाधं चारित्रे स्थेयात् । इति वर्द्धतां जिनशासनम् ।''

आर्यिका रत्नमती माताजी का संक्षिप्त जीवन —

अवध प्रांत के सीतापुर जिले में महमूदाबाद नाम से एक ग्राम प्रसिद्ध है। वहाँ के लाला सुखपालदास जी अच्छे धर्मात्मा व्यक्ति थे। उनके दो पुत्री और दो पुत्र थे- राजदुलारी, मोहिनी, महिपालदास और भगवानदास। इनकी द्वितीय पुत्री टिकैतनगर के लाला धनकुमार जी के सुपुत्र छोटेलाल जी से विवाही गईं। सन् १९३२ में इनका विवाह हुआ और सन् १९३४ में २२ अक्टूबर को इन्होंने पहली संतान को पुत्री मैना के रूप में जन्म दिया, जो मैं ज्ञानमती हूँ। इसके बाद इनकी सभी संतानों में ८ कन्यायें एवं चार पुत्र और हुए। इनके नाम प्रारंभ से क्रमशः इस प्रकार हैं- (१) मैना (२) शांति (३) कैलाशचंद (४) श्रीमती (५) मनोवती (आर्यिका अभयमती) (६) प्रकाशचन्द्र (७) सुभाषचन्द (८) कुमुदनी (९) रवीन्द्रकुमार (१०) मालती (११) कामनी (१२) माधुरी और (१३) त्रिशला।

इन संतानों में मैना, मनोवती, रवीन्द्रकुमार और माधुरी ये चार बालब्रह्मचारी हैं जो कि आज समाज में सभी से परिचित हैं।

पिता छोटेलाल जी का २५ दिसम्बर सन् १९६९ को घर में ही समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास हुआ था। इसके बाद माता मोहिनी ने अजमेर में सन् १९७१ में मगसिर कृ. ३ को आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिका 'रत्नमती' नाम को पाया था। तब से लेकर १३ वर्ष तक मेरे संघ में रहकर अपनी साधना में तत्पर रही हैं। कुल ३ वर्ष पूर्व[१] १५ जनवरी १९८५ को उन्होंने यहीं हस्तिनापुर में समाधिपूर्वक नश्वर शरीर को छोड़कर देवपद प्राप्त किया है।

यह मुझे गौरव के साथ लिखना होता है कि उनकी सभी संतानें, जो कि गृहस्थाश्रम में हैं, धर्मनिष्ठ हैं, देवपूजा, गुरुपास्ति और स्वाध्याय आदि आवश्यक क्रियाओं को करते हुए, अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, गृहस्थाश्रम का कुशल संचालन कर रहे हैं और सभी वैराग्यप्रिय हैं।

ज्ञानज्योति भ्रमण —

कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु में जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन हो रहा था। इसमें मोतीचन्द जी महामंत्री साथ में रहते हुए उस प्रांत में ज्योति भ्रमण के माध्यम से आम जनता को जम्बूद्वीप का महत्त्व बतलाते हुए जैनधर्म की पताका फहरा रहे थे पुनः१ फरवरी १९८४ से मध्य प्रदेश में ज्योति प्रवर्तन कराने के लिए मोतीचन्द स्वयं उत्साह के साथ कई बार सनावद मीटिंग करके अच्छी प्रभावना से शुभारंभ कराना चाहते थे। मध्य प्रदेशीय प्रवर्तन समिति के गठन में श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल (इंदौर) को अध्यक्ष बनाया गया।

---

१. ये प्रकरण सन् १९८८ में लिखा गया है।

जबलपुर से प्रारंभ करना था, अतः वहाँ के शीलचंद जैन ने अध्यक्ष पद का भार ग्रहण किया।

जबलपुर में १ फरवरी सन् १९८४ को ज्ञानज्योति के शुभारंभ में मध्यप्रदेश के शिक्षामंत्री श्री मोतीलाल जी बोरा, वन मंत्री श्री अजयनारायण मुसरान, राज्य पर्यावरण मंत्री श्री चन्द्रकांत भनोट तथा मध्यप्रदेश कांग्रेस (आई) के महामंत्री श्री ललित श्रीवास्तव एवं सांसद श्री सुभाष यादव उपस्थित थे। इनके साथ केन्द्रीय महामंत्री मोतीचंद जैन, देवकुमार सिंह कासलीवाल इंदौर, कैलाशचंद जी चौधरी इंदौर, इन्दरचंद चौधरी सनावद आदि महानुभाव उपस्थित थे। सभा के बाद शोभायात्रा में लगभग दस हजार स्त्री-पुरुषों ने भाग लिया। इस प्रकार प्रभावना के साथ ज्योति का भ्रमण मध्यप्रदेश में हो रहा था।

इन्द्रध्वज विधान —

हस्तिनापुर में १० मार्च से १९ मार्च १९८४ के अष्टान्हिक पर्व में टिकैतनगर से पधारे प्रद्युम्न कुमार जैन ने इन्द्रध्वज विधान बहुत बड़े उत्साह के साथ कराया। इस विधान में टिकैतनगर एवँ अवध प्रांत से अनेक नर-नारियों ने भाग लिया।

अक्षयतृतीया मेला —

हस्तिनापुर में तीर्थ बनाने का प्रथम श्रेय भगवान् ऋषभदेव को है, जिनकी प्रथम पारणा अक्षय तृतीया के दिन राजा श्रेयाँस ने इक्षुरस का आहार देकर करायी थी। उस समय इस उपलक्ष में ४ मई १९८४ को यहाँ जम्बूद्वीप स्थल में रथयात्रा निकाली गई और छोटे-मोटे रूप में मेला उत्सव मनाया गया।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की तिथि में परिवर्तन —

११ मार्च १९८४ को दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की बैठक में 'जम्बूद्वीप जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना महोत्सव' के लिए एक प्रतिष्ठा समिति का गठन किया गया। इसमें २४ फरवरी से २८ फरवरी १९८५ की तारीख निश्चित की गई। यह तिथि फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी से अष्टमी तक थी। निर्णय के अनुसार आचार्यश्री धर्मसागर जी का आशीर्वाद लेकर तिथि की घोषणा कर दी गई पुनः कई बार आचार्यश्री के निकट जाने पर आचार्यश्री ने कुछ विकल्प करते हुए कहा कि—

"यह जो प्रतिष्ठा की अंतिम तिथि फाल्गुन शु. ८ है, वह होलाष्टक में आ गई हैं। पहले होलाष्टक में प्रतिष्ठा करने पर आचार्य कल्पश्री चन्द्रसागरजी की समाधि हो गई थी पुनः महावीर जी शान्तिवीर नगर में होलाष्टक में प्रतिष्ठा होने के समय पहले ही फाल्गुन कृ. ३० (अमावस) को आचार्यश्री शिवसागर जी की समाधि हो चुकी है, अतः प्रतिष्ठा की तिथि आगे बढ़ा देनी चाहिए। इस विकल्प के बाद आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी से परामर्श कर रवीन्द्र कुमार ने आकर मुझसे सारी बातें बताईं, तब मैंने भी आचार्यश्री की आज्ञानुसार तिथि वैशाख में कर दी।

रवीन्द्र कुमार पुनः ब्रह्मचारी सूरजमल जी के पास गये और वैशाख की तिथि वैशाख शुक्ला ८ से १२, दिनाँक २८ अप्रैल से २ मई की तारीखें ले आये। मैंने इसे ही घोषित कर दिया। यद्यपि पहले मैंने पं. नाथूलाल जी (इंदौर) आदि कई एक जैन ज्योतिषाचार्य विद्वानों से परामर्श किया था, तब उन लोगों ने यही कहा था कि जैन धर्म में होलाष्टक माना ही नहीं है, अतः 'वहम' बेकार है। फिर भी आचार्यश्री के मन में विकल्प होने पर मैंने वह तिथि बदलकर आगे की घोषित कर दी।

सनावद में ज्ञानज्योति —

सनावद मध्यप्रदेश, ब्र. मोतीचंद जैन की जन्मभूमि है। सन् १९६७ में यहाँ के चातुर्मास में मैंने जम्बूद्वीप रचना की रूपरेखा बनायी थी। यहीं से मोतीचन्द मेरे संघ से जुड़े थे और आज तक वे मेरे अनन्य भक्त हैं। वहाँ जन्मभूमि में मोतीचन्द ने कई बार मीटिंग करके त्रिदिवसीय कार्यक्रम आयोजित किया था। इन तीनों दिनों में अखिल

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद का अधिवेशन, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान एवं मध्य प्रदेशीय दिगम्बर जैन महासभा के अधिवेशन हुए। समारोह में निर्मल कुमार जी सेठी, देवकुमार सिंह (इंदौर), श्री बाबूलाल जी पाटोदी आदि महानुभाव उपस्थित थे। डा. लालबहादुर शास्त्री (दिल्ली), पं. बाबूलाल जी जमादार (बड़ौत) आदि विद्वान् उपस्थित थे। प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह एवं रात्रि में सभाएँ हुयीं।

१७ मई को प्रातः ८ बजे सनावद नगर में ज्ञानज्योति का स्वागतपूर्वक मंगल प्रवेश हुआ। स्वागत के समय ज्ञानज्योति के साथ १०१ मोटर साइकिलें झण्डे लिए हुए चल रही थीं। उस समारोह में बोलियों से तथा निर्माण हेतु सनावद में ८० हजार की आय हुई। सभी वक्ताओं ने ज्ञानज्योति से होने वाले धर्म-प्रचार एवं विशेष उपलब्धियों पर प्रकाश डाला।

ज्ञानज्योति प्रायोजित कार्यक्रम —

'ज्ञानज्योति' नाम से प्रायोजित कार्यक्रम ज्ञानज्योति प्रवर्तन से पूर्व ही मोरीगेट (दिल्ली) में जब मैं थी, तभी तैयार कराया गया था। इसका रेडियो से प्रसारण चार सप्ताह तक दिन शुक्रवार को रात्रि ९.४५ पर हुआ। इसमें जो सुमेरु पर्वत और जम्बूद्वीप वंदन के भजन हैं, ज्ञानज्योति के साथ टेपरेकार्डर में जब वे बजते थे, तब बालक क्या बड़े-बूढ़े भी उसे गुन-गुनाने लगते थे। यथा—'मेरु सुदर्शन, करके दर्शन जन्म सफल हो जाये, जो तव महिमा को गाये.....।'

वैसे ही "जम्बूद्वीप महान् !!! जम्बूद्वीप महान् !"

£ ८० ¤

भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा —

यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर के शिलान्यास के समय सन् १९७९ में प्रतिष्ठित भगवान् बाहुबली की मूर्ति को विराजमान करने का ही निर्णय था। इसी समय से मेरे मन में यह बात चल रही थी कि भगवान् आदिनाथ की एक खड्गासन प्रतिमा भी इसी मंदिर में विराजमान की जावे तथा आजू-बाजू में भरत-बाहुबली की प्रतिमा विराजमान करके इसे तीन मूर्ति मंदिर नाम दे दिया जावे। जब मैंने यह मन की बात कही, तब सभी को जंच गई और तभी से चर्चा चली कि भगवान् आदिनाथ की मूर्ति बनाने के लिए आदेश (आर्डर) दिया जावे।

जम्बूद्वीप में सुमेरु पर्वत के सिवाय जिनमंदिरों की ६२ प्रतिमाएँ एवं देवभवन में विराजमान करने के लिए १२३ जिन प्रतिमाएँ यहाँ प्रतिष्ठा के लिए लानी थीं। उनके आदेश के लिए मैं बार-बार कहा करती थी। मगसिर सुदी १०, दिनाँक ७ दिसम्बर १९८१ के दिन मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार ने ७ फुट की भगवान् आदिनाथ की खड्गासन प्रतिमा के लिए भी आदेश दिया। विमलकिशोर दिल्ली वाले, जिन्होंने इस मंदिर का शिलान्यास १० मई १९८१ को किया था, वे बोले —

"यह मंदिर पूरा मैं बनवाऊँगा। भगवान् आदिनाथ की प्रतिमाजी मेरी तरफ से रहें, तो अच्छा है।"

मैंने कहा—"ठीक है।"

इस निमित्त से उस अवसर पर प्रतिमा के आदेश के समय मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार इन्हें भी साथ लेते गये थे। फिर भी भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा का आदेश तो मेरी आज्ञा से मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार ने ही किया था। हाँ, ये इस मूर्ति का न्यौछावर देना चाहते थे, अतः इन्हें भी साथ में ले लिया था। आगे देखिये क्या होता है?

इन्द्रध्वज विधान —

५ जुलाई से १४ जुलाई १९८४ तक इन्द्रध्वज विधान का आयोजन यहाँ हस्तिनापुर में रखा गया। निर्मलकुमार जी सेठी, सुमेरचंद जी पाटनी और मांगीलाल जी हैदराबाद, इन तीनों महानुभावों ने मिलकर

सपरिवार यह विधान कराया। १२ जुलाई गुरुवार, आषाढ़ शु. १४ को मैंने अपने संघ सहित यहाँ वर्षायोग की स्थापना की। इस मध्य अनेक बैठकें होती रहीं और अनेक कार्यक्रम सम्पन्न हुए।

निर्माणकार्य में रुकावट —

सन् १९७९ में जम्बूद्वीप के प्रथम चरण निर्माण में सुदर्शनमेरु पर्वत बनकर तैयार हो चुका था और उसकी प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी पुनः जम्बूद्वीप निर्माण के लिए शिलान्यास हो चुका था, हिमवान्-महाहिमवान् आदि पर्वत बनाये जा रहे थे।

पुनः ४ जून १९८२ को जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन हुआ, जिसका भ्रमण सारे भारत में चल रहा था। यह निर्णय लिया गया था कि १-२ वर्ष ज्ञानजयोति भ्रमण कराकर यहाँ जम्बूद्वीप का निर्माण पूरा करके जम्बूद्वीप की प्रतिष्ठा करानी है। उधर ज्ञानज्योति भ्रमण का कार्य मोतीचन्द जी (महामंत्री)एवं पं. बाबूलाल जी जमादार (संचालक) संभाल रहे थे।

इधर मुझे कभी-कभी यह चिंता हो जाया करती थी कि —

"पहले इन पर्वतों पर विराजमान होने वाली जिन प्रतिमाओं के लिए आदेश होना चाहिए।"

अतः प्रतिदिन मेरे मस्तिष्क में यह विषय आता रहता था। मैं मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार को बार-बार कहा करती थी। ये दोनों भी मेरे पास बैठकर जिन प्रतिमाओं के साइज-माप आदि लिखा करते थे। इनके चैत्यालयों के लिए भी आर्डर देना जरूरी था। उनके प्रमाण आदि निर्धारित करके मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार दोनों मिलकर जयपुर गये और १७ मार्च १९८३ के दिन निकेतन मूर्ति आर्ट वाले जगदीश मूर्तिकार को अट्ठावन (५८)चैत्यालयों के लिए आर्डर देकर आ गये पुनः यहीं हस्तिनापुर में अब्दुल जब्बार (जुम्मा जी) मकराना वाले को १२४ देवभवन बनाने का आर्डर दिया। यह आर्डर १६ नवम्बर १९८३ को किया गया था।

इन दोनों ठेकेदारों के काम की बहुत ही मंदगति थी, जिससे मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार को संतोष नहीं हो रहा था। देवभवनों का काम तो बहुत ही असंतोषप्रद रहा, मुश्किल से एक वर्ष में ४५ के करीब देवभवन बन पाये थे। इन दोनों की आकुलता बढ़ती जाती थी। मैं केवल मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार को माप-प्रमाण आदि लिखा देती थी, बाकी आर्डर वगैरह के काम इन्हीं के थे अतः समय पर ये सब बनकर कैसे मिल पाएंगे? दोनों चिंतित हो जाया करते थे।

इन दोनों ने जुम्मा जी से बहुत प्रयास किया किन्तु सफलता नहीं दिखी, तब उनका ठेका निरस्त करके इन्होंने दूसरा कारीगर बुलाया और १० मई १९८४ के दिन इन देवभवनों को बनाने का उसे ठेका दिया। अब कुछ संतोष हुआ कि हाँ, प्रतिष्ठा तक ये रचनाएँ सम्पन्न हो जावेंगी। इसका नाम मंशाराम (मंच्छाराम) था। इसके काम की द्रुतगति देखकर इसे ही इन दोनों ने छोटे-छोटे तोरणद्वार बनाने के लिए ३०-७-१९८४ को आर्डर दिया पुनः इसे ही जम्बूद्वीप में पत्थर लगाने का काम भी १३-८-१९८४ को दिया पुनः इसे ही २०-८-१९८४ के दिन देव-देवियाँ बनाने के लिए आर्डर दे दिया।

अब जगदीश प्रसाद मूर्तिकार की भी गति देखकर सभी चैत्यालय कब कहाँ आ पावेंगे? यह चिंता बन गई। इधर जंबूद्वीप प्रतिष्ठापना की तैयारियाँ चलने लगीं और सन् १९८५ में करने का निर्णय हो गया। तब यहाँ के जंबूद्वीप के गजदन्त आदि के १० चैत्यालय बनाने का ठेका भी यहीं पर मंशाराम कारीगर को ६ जनवरी १९८५ के दिन गया।

इस मंशाराम कारीगर ने समय पर सारे ही देवभवनों का काम बहुत ही सुन्दर सम्पन्न कर दिया और जगदीश मूर्तिकार से बचे शेष चैत्यालय भी बनाकर तैयार कर दिये।

इन्हीं देवभवन और चैत्यालय में भगवान् विराजमान करने थे अतः अब इधर की चिंता कम हुई थी।

अब तो वे सभी जिन प्रतिमाएँ आ जावें जिनकी प्रतिष्ठा होनी है, यह चिंता हो जाती थी।

इस मंशाराम कारीगर से भी जितने तोरणद्वार और जितने देव-देवियों को बनवाना था, वे पूरे नहीं बन पाये किन्तु जितने बन गये ठीक है, उन्हीं से संतोष हो गया। मैंने कहा—

शेष जो तोरणद्वार बचे हैं और देव-देवियाँ बनना हैं वे सब प्रतिष्ठा के बाद बनते रहेंगे।

इस प्रकार निर्माण कराने में कितनी कठिनाइयाँ आती हैं और फिर जो बिल्कुल नये निर्माण। इसमें गंगा, सिंधु आदि नब्बे नदियाँ निकाली गई हैं। हिमवान् आदि आठ पर्वत बनाये गये हैं। इन सबके निर्माण कराने में जितना ऊहापोह हुआ है, जितना मस्तिष्क लगा है और जितनी कठिनाइयों को पार किया गया है, वह सब लिखना क्या सोच पाना भी संभव नहीं है। मैं यहाँ पर उपस्थित रही हूँ इसलिए जो कुछ अनुभव में आया है तो कहना पड़ता है कि निर्माण कार्य में कितना श्रम करना होता है, कितनी विघ्न-बाधाएँ झेलनी पड़ती हैं?

जब जुम्मा का ठेका निरस्त कर दिया गया, तब किन्हीं लोगों ने बताया कि कुछ महानुभावों ने आपके जम्बूद्वीप के कार्य में विघ्न डालने के अभिप्राय से ही उसको भड़का दिया था कि जिससे समय पर काम न हो सके। इन विघ्न संतोषियों में विशिष्ट महानुभावों के नाम सुनने में आये थे। वास्तव में विघ्न संतोषी कितने ही विघ्न डालना चाहें परन्तु शुभ कार्य सम्पन्न होते ही होते हैं, इन्हें कोई रोक नहीं पाते हैं, मैं कहा करती हूँ कि—

"अहो! जिनके पुत्र कदाचित् शराबी आदि बन जायें, अन्य दुर्व्यसनों में लग जायें तब माता-पिता रो-रोकर पागल हो जाते हैं, कितनों ही के तो दिल पर धक्का लगने से बीमार हो जाते हैं और कितने ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते हैं किन्तु पात्रों को अनुचित कार्य से रोक नहीं पाते हैं। फिर भला यदि कोई अच्छे कार्य कर रहे हों तो उन्हें कौन रोक पायेगा? हाँ, विघ्न-बाधा डालकर अशुभ कर्मों का संचय भले ही कर लें किन्तु कार्यों को रोक पाना संभव नहीं है।"

यहाँ हस्तिनापुर में पहले बड़े मंदिर के कुछ लोगों ने जम्बूद्वीप के लिए जगह क्रय करने से लेकर प्रारंभ करने तक बहुत कुछ सहयोग दिया है। पश्चात् कुछ वैचारिक भेद-जैसे कि तेरहपंथ, बीस पंथ, कांजी पंथ आदि के निमित्त से सहयोग नहीं भी दिया है। इसी तरह कुछ महानुभाव विरोध में भी लगे रहे हैं और अकारण झूठी-झूठी बातें उठाकर बहुत कुछ विरोध किया है।

कई बार मैंने बड़े मंदिर के कार्यकर्ताओं को समझाते हुए प्रेरणा दी है—"भाई! आप लोग बजाए विरोध के यदि सृजनात्मक कार्य करें तो कितना अच्छा होगा....आप लोगों के विरोध कराने से जम्बूद्वीप का कार्य तो रुकेगा नहीं.....।"

आज मुझे गौरव से कहना पड़ता है कि कई एक महानुभावों ने उधर मंदिर में निर्माण कार्य को कराना प्रारंभ कर दिया। उसी में अपनी शक्ति लगाने लगे तो आज वहाँ नंदीश्वर द्वीप का निर्माण हो गया। उसकी प्रतिष्ठा भी हो गई और पुनः समवसरण का निर्माण कार्य भी किया है तथा भगवान् पार्श्वनाथ का विशाल मंदिर भी बनवाया जा रहा है अतः जो निर्माण कार्य के विरोधी थे, वे भी निर्माण कार्य में तन-मन-धन लगाकर बहुत बड़ा पुण्य संचय कर रहे हैं।

यह बड़े मंदिर वालों का उदाहरण हर क्षेत्र वालों को लेना चाहिए और निर्माण कार्य आदि में तन-मन-धन लगाकर पुण्य और यश को सम्पादित करते रहना चाहिए।

पं. बाबूलाल जी जमादार—

१४ मार्च १९८३ को पंडित बाबूलाल जी ज्ञानज्योति से बिहार प्रांत से रवीन्द्र कुमार के जाने के बाद वापस आ गये थे। इसके बाद उनकी पत्नी की बीमारी के निमित्त से वे पुनः ज्ञानज्योति में नहीं जा सके। कई बार रेल का रिजर्वेशन भी करा लिया लेकिन धर्मपत्नी के अस्वस्थ होने से जा नहीं पाये। अंत में १७ मई

१९८४ को सनावद में ज्ञानज्योति स्वागत के विशेष कार्यक्रम में उपस्थित हुए थे। वहाँ भी उनका उत्साह नवयुवकों जैसा ही दिख रहा था।

९ जून १९८४ को रात्रि में उनके घर पर बड़ौत में ही अचानक पंडित जी का स्वर्गवास हो गया।

कुछ समय पूर्व पंडित जी हस्तिनापुर आकर मुझसे बोले थे—

"माताजी! मुझे आपके हाथ की पुरानी पिच्छिका चाहिए, चूँकि आपके द्वारा इस पिच्छी से अनंत जीवों की रक्षा तो होती ही है, साथ ही आप लाखों जाप करती हैं, सो उसका असर इस पिच्छी में बहुत ही आ जाता है।"

मैंने उनकी इच्छानुसार उसी समय नई पिच्छी लेकर उन्हें वह अपनी पुरानी पिच्छी दे दी थी। बड़े आदर से वे उसे अपने सिर पर चढ़ाकर पुनः उसे कपड़े में लपेटकर घर ले गये थे। जिसे अपने शयन कक्ष में ऊपर रख दिया था और प्रतिदिन उसे नमस्कार करते थे।

यह उनकी संयम, संयमी और संयमोपकरण के प्रति भक्ति ही थी।

पंडित जी के स्वर्गवास के १० दिन बाद उनकी पत्नी और पुत्र, पुत्र-वधुएँ सब मिलकर यहाँ जम्बूद्वीप पर आये, रो-रोकर अपना दुःख सुनाया। उनकी पत्नी बहुत रो रही थीं। बोलीं—

"माताजी! नम्बर तो मेरा था, यह क्या हुआ?.....लोग घर में आते हैं, उनमें से कोई-कोई कहने लगते हैं-जाना इन्हें था चले गये, पंडित जी.....।" यह सुनकर मुझे दुःख हुआ कि 'लोगों को ऐसा नहीं कहना चाहिए।' मध्यान्ह में सभा रखी गयी। मैंने वैराग्य और अध्यात्म से मिश्रित उपदेश किया, जिससे इन दुःखी परिवार का दुःख बहुत कुछ हल्का हुआ। मैंने कहा—

"देखो! 'संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः' जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियम से होगा ही होगा और फिर भी एक न एक दिन मरना सभी को है, फिर जो मरण कर चुके, उनके लिए क्या रोना? वे कथमपि वापस तो आयेंगे नहीं, देखो! रोने से असाता कर्म का ही बन्ध होता है। आचार्यश्री उमास्वामी ने कहा है—

'दुखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।'

दुःख करना, शोक करना, पश्चात्ताप करना, रोना, किसी का वध करना और ऐसा रुदन करना—विलाप करना कि जिससे दूसरे भी रो पड़ें। इन सब क्रियाओं को करने-कराने से असातावेदनीय का आस्रव होता है जिससे पुनः अगले भव में रोना पड़ता है और यदि ऐसे प्रसंग में धैर्य धारणकर धर्मध्यान में अपना मन लगाया जाता है तो पुनः ऐसे वियोग के रोने-धोने के दिन ही नहीं आते हैं....।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक जीव के साथ अनादिकालीन इस संसार में सबके संबंध हो चुके हैं। भला इस संसार में कौन किसके माता-पिता नहीं हुए? या पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि नहीं हुए? अतः किस-किस के लिए रोना? अरे! जिनका मरण हुआ वे तो दूसरी गति में जाकर वहीं रम गये, वे तो तुम्हें याद भी नहीं करते होंगे, पुनः तुम लोग उनके लिए रो-रोकर अशुभ कर्म क्यों बांधो?"

इत्यादि उपदेश सुनकर सबको शांति मिली। उनकी पत्नी को मैंने बहुत समझाया कि अब आप कुछ दिन मेरे पास यहीं रहो जिससे परिणामों में शान्ति आयेगी।

उन्होंने कहा—"दो-चार दिन बाद वापस आकर रहूँगी।"

इसके बाद घर जाने पर उनका स्वास्थ्य कमजोर होता गया पुनः १४ जुलाई १९८४ को उनका भी स्वर्गवास हो गया। उनके पुत्रों व पुत्री को एक साथ माता-पिता दोनों का वियोग बहुत ही दुःखद रहा किन्तु होनहार को कौन टाल सकता है?.....और इसी जन्म-मरण के दुःखों का नाम ही तो संसार है!

इन्द्रध्वज विधान—

यहाँ हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर जयकुमार विनायका भागलपुर वालों ने ३० सितम्बर से

९ अक्टूबर तक इन्द्रध्वज विधान किया पुनः विधान की समाप्ति पर १००८ कलशों से भगवान् शांतिनाथ का महाभिषेक हुआ। मेरा ५०वां जन्मदिवस शरद पूर्णिमा के दिन सादगी से मनाया गया। दूध से मेरे चरणों का अभिषेक कर पूजा की। मध्यान्ह में सरधना के वीर बाल सदन के बच्चों द्वारा 'ऋषभदेव का वैराग्य' नाम से एकांकी प्रस्तुत किया गया पुनः मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार, पं. सुधर्मचंद आदि ने विनयांजलि अर्पित की।

आसाम में धर्म प्रभावना —

ज्ञानज्योति का भ्रमण ९ अगस्त से गुजरात में प्रारंभ हुआ पुनः १४ अक्टूबर १९८४ से आसाम में प्रारंभ हुआ। उस समय वहाँ मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार और माधुरी तथा पंडित सुधर्मचंद जैन तिवरी वाले ये सब ज्ञानज्योति में साथ-साथ थे। बहुत अच्छी प्रभावना हो रही थी।

इंदिरा जी के करकमलों से ४ जून १९८२ को जो जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन हुआ था, उस ज्ञानज्योति से ३ वर्ष में सारे भारत में जो धर्म, सहिष्णुता, सौहार्द और अहिंसा का प्रचार हुआ था, वह अजर-अमर रहेगा। ३० अक्टूबर को अंगरक्षकों द्वारा इंदिरा गांधी जी की हत्या के समाचार से हम साधु वर्गों को भी दुःख अवश्य हुआ किन्तु होनहार को कौन टाल सकता है? ऐसा चिन्तन करना ही पड़ा।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि ३१ अक्टूबर १९८२ के दिन जम्बूद्वीप सेमिनार के उद्घाटन में फिक्की ऑडीटोरियम के हॉल में सर्वप्रथम एक कमरे में श्री राजीव गांधी को मैंने कुछ शिक्षाएं दी थीं और जो विशेष आशीर्वाद दिया था, आज ३१ अक्टूबर १९८४ में जब वे भारत के प्रधानमंत्री बने, तब मेरे कई एक भक्तों ने वह आशीर्वाद दिवस याद दिलाया कि वास्तव में उन्हें वह आशीर्वाद फला है।

इंदिरा जी के अंगरक्षकों ने ही इंदिरा जी को मारा, 'अंगरक्षक ही भक्षक बन गये।' यह दुर्घटना अत्यन्त कृतघ्नता को सूचित करते हुए जीवंधर चरित में वर्णित 'काष्ठांगार' मंत्री की याद दिला देने वाली हुई। सत्यंधर महाराज 'काष्ठागांर' नामक मंत्री को राज्यभार संभलवाकर महल में थे कि उसने दुष्टतापूर्वक युद्ध करके सत्यंधर महाराज को मार डाला और राज्य को हड़प लिया। उसी क्षण शमशान भूमि में महारानी विजया ने पुत्र को जन्म दिया, जिसका 'जीवंधर' नाम रखकर सेठ गंधोत्कट ने पाला। कालांतर में जीवंधर ने काष्ठांगार को मार कर अपना राज्य हस्तगत किया।

उसी प्रकार इंदिरा गांधी के अंगरक्षकों द्वारा उनका निधन और उन्हीं के पुत्र राजीव को तत्क्षण प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित होने की घटना जीवंधर चरित्र की याद दिलाती है। दैव की विडम्बना विचित्र है।

'अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं' यह श्री समंतभद्र स्वामी की पंक्ति ऐसे प्रसंग पर अवश्य ही याद आ जाती है तथा अंगरक्षकों द्वारा ऐसी निंद्य प्रवृत्ति देखकर 'कौन किसका है? और किस पर विश्वास करना?" तब पूज्यपादस्वामी का यह श्लोक भी याद आ जाता है —

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः।।

शरीर और आत्मा को एक समझने वाले बहिरात्मा के लिए यह संसार विश्वास के योग्य है और रमणीय, सुन्दर भी दिखता है किन्तु जिनकी अपनी आत्मा में ही एक दृष्टि है — आत्मा में ही एक विश्वास है, ऐसे शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न समझने वाले अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि के लिए संसार में कहाँ पर विश्वास है? अथवा कहाँ पर प्रेम है? अर्थात् सम्यग्दृष्टि को इस संसार में न कहीं विश्वास है और न कहीं प्रेम ही होता है। चूँकि वह समझता है कि कर्मों की गति बड़ी विचित्र है।

£ ८१ ¤

ज्ञानज्योति प्रवर्तन —

३१ अक्टूबर को जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति शिलाँग (मेघालय) में थी। यद्यपि शोभायात्रा आदि कार्यक्रम संभव नहीं थे, फिर भी मंदिरों में सभायें होती रहीं, वी.डी.ओ. फिल्म बनती रही और भक्त लोग बोलियाँ लेकर ज्योति प्रवर्तन में सहयोग प्रदान करते रहे। इस प्रकार आसाम, नागालैंड, मणिपुर और मेघालय में ९ नवम्बर तक ज्ञानज्योति भ्रमण के कार्यक्रम होते रहे। सिलीगुड़ी (दार्जिलिंग) पं. बंगाल में समापन कर १० नवम्बर से २३ नवम्बर तक अवकाश रहा।

पुनः उत्तर प्रदेश में मेरी जन्मभूमि टिकैतनगर (जि. बाराबंकी) से ज्ञानज्योति के शुभारंभ का निर्णय लिया गया। इस प्रसंग में रवीन्द्र कुमार को मैंने कई दिनों पहले से तैयारी के लिए भेज दिया था। रवीन्द्र कुमार ने अथक परिश्रम करके अच्छा प्रोग्राम बनाया। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री नारायण दत्त तिवारी को उ.प्र. ज्ञानज्योति प्रवर्तन के शुभांरभ के लिए आमंत्रित किया था। उनकी स्वीकृति मिल जाने पर पोस्टर आदि छपवाकर अच्छा समारोह मनाने की व्यवस्था कर चुके थे। अकस्मात् मुख्यमंत्री के नहीं आ सकने की सूचना सुनकर रातों रात रवीन्द्र कुमार लखनऊ आये और पुनः पुरुषार्थ कर उनके आने का निर्णय ले गये।

टिकैतनगर में २४ नवम्बर १९८४ को विशाल सभा-मंडप में कार्यक्रम चलाया गया। ठीक ११ बजे श्री नारायणदत्त तिवारी मुख्यमंत्री, उ.प्र. अपने वरिष्ठतम सहयोगी प्रो. वासुदेव सिंह, आबकारी मंत्री के साथ हेलीकाप्टर द्वारा विशेष रूप से बनाये गये हेलीपैड पर उतरे। वहाँ पर अनेक प्रतिष्ठित महानुभावों ने उनका स्वागत किया। ये दोनों मंत्री वहाँ से सीधे समारोह स्थल पर पधारे। वहाँ पर स्वागत, ज्ञानज्योति परिचय आदि के अनन्तर श्री नारायणदत्त तिवारी ने भाषण दिया। उसमें उन्होंने हस्तिनापुर में होने वाले प्रतिष्ठापना समारोह में पूरा सहयोग देने को कहा, तब करतलध्वनि से सभा ने उनके प्रति हर्ष व्यक्त किया। उन्होंने मेरी जन्मभूमि के नाते उस छोटे से ग्राम की बहुत प्रशंसा की और उसे पवित्र भूमि मानकर उसका वंदन किया पुनः श्रीफल चढ़ाकर, आरती करके ज्ञानज्योति प्रवर्तन का शुभारंभ किया। इसके बाद मुख्यमंत्री जी ने कहा—

"मुझे पूज्य ज्ञानमती माताजी के जन्म-स्थान का दर्शन कराइये।"

कैलाशचंद[१] आदि महानुभाव उन्हें उस पुराने घर में ले गये। वहाँ पहुँचकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ अल्पाहार आदि के बाद ये अतिथिगण हेलीकॉप्टर से वापस लखनऊ आ गये। उधर ज्ञानज्योति की शोभायात्रा में अपार जनसमूह ने भाग लिया। इस अवसर पर इस इलाके भर के जैन-जैनेतर लोगों ने 'पूज्य ज्ञानमती माताजी की जय' के नारे से आकाश को गूंजा दिया। वास्तव में एक घर से दो पुत्री और माता जहाँ से निकलकर स्वयं दीक्षित हो, साध्वी के रूप में समाज से प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही हों, जहाँ उन्हीं के भाई-बहनें पुत्र-पुत्रियाँ इस ज्ञानज्योति प्रवर्तन जैसे महान् कार्य में समर्पित रूप से लगे हुए हों, उनकी जन्मभूमि को पावन मानकर श्रद्धा से भला कौन नत नहीं होगा?

इस महान् उत्तर-प्रदेशीय ज्ञानज्योति भ्रमण के शुभारंभ के बाद यहाँ मोतीचन्द आ गये। चूंकि उनके मन में इधर प्रतिष्ठा की तैयारियाँ और निर्माण कार्य को पूरा कराने की चिंता बढ़ती जा रही थी। द्रुतगति से निर्माण कार्य चलाये जा रहे थे।

एक महान् उपलब्धि-स्याद्वाद चन्द्रिका टीका —

मैंने वैशाख कृष्णा द्वितीया, १७ अप्रैल १९८४ को अपनी सन् १९७८ में प्रारंभ की हुई नियमसार की

---

१. ये मेरे (आर्यिका ज्ञानमती माताजी के) छोटे भाई हैं।

संस्कृत टीका को स्वाध्याय में रखा। यह अपूर्ण छूट गई थी। चतुर्थ अध्याय की टीका चल रही थी। इसी का हिन्दी अनुवाद प्रारंभ कर दिया पुनः स्वस्थ चित्त और वातावरण के स्वस्थ होने से मैंने ज्येष्ठ शुक्ला १, २१ मई १९८४ के दिन संस्कृत टीका भी लिखना प्रारंभ कर दी। चतुर्थ अध्याय पूर्णकर श्रुतपंचमी, ४ जून १९८४ को ज्ञानज्योति प्रवर्तन दिवस का छोटा-मोटा समारोह करके श्रुत-शास्त्र की पूजा करके नियमसार के पाँचवे अध्याय की संस्कृत टीका प्रारंभ कर दी। जहाँ छोड़ा था, उसके आगे प्रारंभ किया-उसके अंश यह हैं—

"अथ च—**अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायेभ्यस्तथा च साधुभ्यः**"से प्रारंभ कर मंगल बेला में रत्नत्रय- निलय में बैठकर सामने स्थित सुदर्शनमेरु पर्वत को नमस्कार कर लिखना प्रारंभ किया। उस समय ये पंक्तियाँ आ गईं-

"**अधुनाऽकृत्रिममनादिनिधनं सुदर्शनमेरुं महाशैलेन्द्रं हृदि स्मृत्वा तं परोक्षरूपेण पुनः पुनः नमस्कृत्य, इमं च नयनपथगोचरं कृत्रिमं तस्यैव प्रतिकृतिरूपं सुमेरुपर्वतं तत्रस्थान् त्रिभुवनतिलक-जिनालयान् जिनप्रतिमाश्चापि त्रियोगशुद्धया मुहुर्मुहुर्वंदित्वा दीर्घकालव्यवधानानंतरं स्याद्वाद-चंद्रिकाटीकाया लेखनकार्यं पुनः प्रारभ्यते मया, एतन्निर्विघ्नतया पूर्णतां लभेत ईदृग्भावनया पंचगुरुचरणशरणं गृहीत्वा एवमेव प्रार्थ्यते।**"

अब अकृत्रिम और अनादिनिधन ऐसे सुदर्शनमेरु महागिरिराज को हृदय में स्मरण करके उसको परोक्ष रूप से पुनः पुनः नमस्कार करके, सामने नेत्र से दिख रहे कृत्रिम, जो कि उस अकृत्रिम की प्रतिकृति रूप है, इस सुमेरुपर्वत की , उसमें स्थित त्रिभुवनतिलक नाम के सोलह जिनालयों की और उसमें विराजमान सर्वजिनप्रतिमाओं की मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक बार-बार वंदना करके बहुत काल के व्यवधान के अनन्तर इस 'स्याद्वादचंद्रिका' टीका का लेखन कार्य मेरे द्वारा पुनः प्रारंभ किया जा रहा है, यह निर्विघ्नतया पूर्ण हो, इस भावना से पंचपरमेष्ठी के चरणों की शरण लेकर मेरे द्वारा यही प्रार्थना की जा रही है।"

तात्पर्य यह है कि—वैशाख शु.३, वीर नि.सं. २५०४, ई. सन् १९७८ में मैंने नियमसार की स्याद्वादचंद्रिका टीका संस्कृत में लिखना प्रारंभ की थी। वह सन् १९७९ में फरवरी में छूट गई थी। तब मात्र ७४ गाथा की टीका बन चुकी थी। ७५वीं गाथा की आधी बनी थी। अब ५ वर्ष के लम्बे अंतराल के बाद मैंने ज्येष्ठ शु. १ से पुनः उपर्युक्त पंक्तियों से मंगल भावना करते हुए टीका लिखना शुरू किया।

उन दिनों मैं प्रायः प्रातः काल संस्कृत टीका लिखती थी और मध्यान्ह में उसका हिन्दी अर्थ करती थी। धारावाही लिखते हुए मगसिर कृष्णा सप्तमी, गुरुवार पुष्यनक्षत्र, वीर नि. सं. २५११, दिनाँक १५ नवम्बर १९८४ के दिन प्रातः ७ बजकर ४१ मिनट पर मैंने यह टीका पूर्ण की है।

उस पूर्ति के समय निम्न श्लोक बनाये हैं—

श्री कुंदकुंददेवेभ्यो नमो यैः खलुदर्शिताः।
पंथा नियमसारेण नः सन्नस्तीष्टसिद्धये।।१।।
एकैकपंचयुग्मांके, वीराब्दे सप्तमी तिथौ।
मार्गेऽसिते मया टीका, ज्ञानमत्या प्रपूर्यते।।२।।
यावद्धर्मोऽप्ययं मेरुस्तावत् स्थेयादिहैष हि।
यस्यातिशायिनो भक्त्या पूर्णीजाता कृतिस्त्वरम्।।३।।
यावत् श्रीवीरनाथस्य वर्तेत भुविशासनम् ।
तावद् ग्रंथोऽप्ययं स्थेयात् नंद्याच्च भव्यमानसे।।४।।
ये सिद्धाः समयत्रये नृजगतः सिद्ध्यंति सेत्स्यंति च।
ते सर्वे व्यवहारनिश्चयमयं रत्नत्रयं प्राप्य हि।

टीकान्त्ये मम मंगलं च जगते संघाय कुर्वन्त्वमीः।
दत्वा ज्ञानमतीं जगत्त्रयनुतां स्युर्मेऽचिरात् सिद्धये।।५।।

इस टीकापूर्ति के समय आर्यिका रत्नमती जी मेरे पास ही बैठी हुई थीं। मुझे उस समय इतनी प्रसन्नता हुई कि शब्दों में प्रकट नहीं की जा सकती है क्योंकि जब मैंने ३१ मई को शुरू किया था, तब यही सोचा था कि प्रतिष्ठा के बाद तक पूरी हो सकेगी किन्तु सुदर्शनमेरु की भक्ति के प्रसाद से यह प्रतिष्ठा के पूर्व इतनी जल्दी लगभग ५।। माह में ही पूरी हो गई, अतः आर्यिका रत्नमती जी को भी बहुत ही हर्ष हुआ।

उस दिन मोतीचन्द यहाँ थे, इन्होंने 'सरस्वती वंदना' नाम से कार्यक्रम रखा। मेरे लिखे हुए ग्रंथ को पालकी में विराजमान कर जुलूस निकाला। मवाना सूचना भेज देने से कुछ लोग आ गये थे। जुलूस के बाद शास्त्र की पूजा-आरती करके सभा हुई, जिसमें श्रीकुन्दकुन्ददेव और उनके लिखे गये ग्रंथ नियमसार आदि पर प्रकाश डाला गया। मेरे द्वारा लिखित टीका तथा मेरे प्रति भी भक्ति-अंजलि समर्पित की।

पुनः मैंने इसकी प्रशस्ति लिखना शुरू किया। इसमें मैंने आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा—अपनी गुर्वावली देकर वर्तमान के शासन को भी लिया है। यथा—

अद्यत्वे भारते देशे, गणतंत्राख्यशासनम्।
जैनधर्मस्य वृद्धिस्तु धर्मनिरपेक्षताविधौ।।१७।।
अद्य राष्ट्रपतिर्ज्ञानीजैलसिंहोऽत्र शासकः।
राजीवगांधीनामास्ति प्रधानमंत्री कीर्तिमान् ।।१८।।

पुनः जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का किंचित् इतिहास लिखा है चूँकि उस दिन इस ज्ञानज्योति का टिकैतनगर में मुख्यमंत्री द्वारा उ.प्र. का शुभारंभ हो रहा था। उसी समय मैं यहाँ प्रशस्ति पूर्ण कर रही थी। उसके श्लोक ये हैं—

भारतस्येन्दिरागांधी प्रधानमंत्रिनामभाक्।
सार्धद्वयाब्दपूर्वं यत् प्रावर्तत कराब्जतः।।२९।।
जम्बूद्वीपाकृतेः रूपं ज्ञानज्योतिर्यदाऽभ्रमत्।
सर्वत्र भारते देशे उत्तरप्रांतमाश्रयत् ।।३०।।
टिकैतनगरे तस्य मज्जन्मभुवि स्वागतम्।
महोत्सवैश्चलन्नास्ते प्रसन्नाहं तदा त्विह।।३१।।
मत्पार्श्वेचोपविष्टेयं रत्नमत्यार्यिका प्रसूः।
मार्गे शुक्ले द्वितीयायां प्रशस्तिः रचिता मया।।३२।।

इन श्लोकों का अर्थ यह है—

आजकल इस भारत देश में गणतंत्र शासन चल रहा है। इस समय धर्म निरपेक्ष विधान होने से अर्थात् शासन के संविधान में धर्मनिरपेक्षता होने से जैनधर्म वृद्धिंगत हो रहा है। आज राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह भारत के शासक हैं और कीर्तिशाली राजीव गांधी प्रधानमंत्री हैं। पुनः—

भारत की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने ढाई वर्ष पूर्व जिसका अपने कर-कमलों से प्रवर्तन किया था, वह 'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति' सर्वत्र भारत देश में भ्रमण करते हुए आज उत्तर प्रांत में पहुँची है। आज मेरी जन्मभूमि टिकैतनगर में उसका स्वागत बहुत बड़े महोत्सव के साथ हो रहा है। इस समय मैं यहाँ प्रसन्न भाव से मगसिर शुक्ला २ को प्रशस्ति पूर्ण कर रही हूँ। इस समय मेरे पास में मेरी जन्मदात्री आर्यिका रत्नमती माताजी बैठी हुई हैं अर्थात्—

मगसिर शुक्ला २, दिगम्बर २४ नवम्बर १९८४ को टिकैतनगर में उ.प्र. के मुख्यमंत्री नारायण दत्त

तिवारी के करकमलों से उ.प्र. ज्ञानज्योति प्रवर्तन का शुभारंभ हो रहा था। उधर प्रसन्नचित्त हुई मैं आहार करके आकर बैठी थी। आर्यिका रत्नमती जी मेरे पास बैठी हुई थीं। उसी समय ११ बजकर १५ मिनट पर मैंने यह प्रशस्ति पूर्ण की है।

टीका की विशेषताएँ —

इस संस्कृत टीका में निश्चय-व्यवहार का समन्वय करते हुए मैंने प्रायः सर्वत्र गुणस्थान व्यवस्था पर जो प्रकाश डाला है, वह मेरा मन्तव्य नहीं है, प्रत्युत् समयसार प्रवचनसार की टीका में जो श्री जयसेनाचार्य ने विषय रखा है, मैंने उसी का अनुसरण किया है। जैसे कि निश्चयसम्यक्त्व को वीतराग चारित्र से अविनाभावी निश्चयरत्नत्रय अवस्था में ही घटित किया है, वहीं विचारसरणि पं. आशाधर जी की अनगारधर्मामृत की टीका में भी है।

सन् १९८६ में पं. फूलचंद सिद्धान्तशास्त्री ने मेरी अस्वस्थ अवस्था में इस ग्रंथ को पढ़कर मुझे सुनाया। तब उन्होंने भी इस टीका की बहुत ही प्रशंसा की और कई बार कहा कि — "माताजी! आपने इसमें समयोचित उद्धरण बहुत अच्छे-अच्छे लिए हैं।"

बस उनकी विचारधारा थी निर्विकल्प ध्यान को चतुर्थ गुणस्थान में अंशात्मक मानने की, जो कि अपनी गुरु-परम्परा में मान्य नहीं है। आचार्यश्री शांतिसागर जी ने अपने अंतिम उपदेश (२६ उपवास) में भी यही कहा है कि —

"निर्विकल्प समाधि-ध्यान सातवें गुणस्थान में ही होता है।"

पं. फूलचंद जी ने कई बार यह भी कहा कि —

"आपकी विचारधारा एक पक्ष के शास्त्रों से सम्मत है.....।"

इस टीका को हमारी गुरु-परम्परा में, आर्ष परम्परा में मुनियों ने, आचार्यों ने, विद्वानों ने, आर्यिकाओं ने बहुत ही अच्छा कहा है।

लखनऊ में ज्ञानज्योति —

लखनऊ शहर में ज्ञानज्योति के स्वागत के लिए पुनः मुख्यमंत्री नारायणदत्त तिवारी पधारे, बहुत अच्छा वक्तव्य दिया पुनः इन्होंने ज्ञानज्योति मंच से उ.प्र. तीर्थ क्षेत्रों के विकास के लिए २५ लाख रुपये अनुदान की घोषणा की। अपने दिगम्बर नेताओं में मतैक्य न होने से आज तक वह राशि नहीं ली जा सकी है।

£ ८२ ¤

आर्यिका रत्नमती जी की सल्लेखना —

इस कलिकाल में धर्म के धुर्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य-वर्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने बारह वर्ष की भक्त प्रत्याख्यान नाम की उत्कृष्ट सल्लेखना ग्रहण की थी। उसी के मध्य उन्होंने नेत्रज्योति क्षीण होने से सन् १९५५ में कुंथलगिरि सिद्ध क्षेत्र पर सल्लेखना विधि से पंडित मरण किया था।

उनके पट्टाधीश आचार्य श्रीवीरसागर जी महाराज ने सन् १९५७ में जयपुर खानिया में सल्लेखनापूर्वक पंडित मरण से शरीर छोड़ा था। आचार्यश्री ने यद्यपि भक्त प्रत्याख्यान विधि से क्रम-क्रम से आहार में वस्तुओं का त्याग करते हुए काय और कषायों को कृश किया था फिर भी उन्होंने बाहर में सल्लेखना की घोषणा नहीं की थी। ये गुरुदेव हम जैसे अशक्त साधु-साध्वियों को सरल सल्लेखना विधि बतलाने के लिए ही मानों प्रतिदिन आहार को उठते रहते थे और जरा-जरा सा तक्र आदि लेते रहे थे। इन्हीं गुरुदेव के आदर्श को सामने रखकर मैंने आर्यिका श्री रत्नमती माताजी की सल्लेखना विधि सम्पन्न करायी है।

मगसिर सुदी चतुर्थी, २६ नवम्बर के दिन आहार के बाद उन्हें दौरा सा आया। मैंने महामंत्र का पाठ सुनाते हुए उन्हें सावधान किया और 'आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है' इत्यादि वाक्यों को सुनाती रही। लगभग आधा घंटे बाद उन्हें वमन हो गया। इसके बाद वे स्वस्थ दिखने लगीं। पूर्ववत् सामायिक की, मध्यान्ह के स्वाध्याय में बैठी रहीं। कई जनों ने कहा, "माताजी! आज तो बड़ी (ज्ञानमती) माताजी आपकी सल्लेखना करा रही थीं।" वे मुस्कुरा दीं। इसके पाँच दिन पूर्व से ही इन्हें आहार में अरुचि हो गई थी। रोटी और दलिया हाथ में नहीं लिया था अतः मैंने मेरठ से वैद्य जी को बुलाकर उनसे परामर्श कर औषधि में कुछ परिवर्तन किया।

इसके बाद मैं तो दिन में अपने लेखन कार्य में व्यस्त रहती थी और रात्रि में उनके पास ही सोती थी। ये स्वयं अपने स्वाध्याय, दर्शन, प्रतिक्रमण , आहार, निहार आदि में पूर्ववत् प्रवृत्ति कर रही थीं। फिर भी आहार छूटता जा रहा था, औषधि काम नहीं कर रही थी, कमजोरी बढ़ती जा रही थी। प्रायः आहार से पूर्व या अनंतर बेचैनी हो जाती थी।

६ दिसम्बर मगसिर सुदी १३ को पुनः आहार के पूर्व ही वमन हो गया। अनंतर आहार में जरा सा रस लेकर आ गईं। १३ दिसम्बर से १५ दिसम्बर तक भी प्रकृति गड़बड़ रही। मैंने सोचा, इन्हें आम्लपित्त की बीमारी है, उसी से गड़बड़ हो रहा है, ठीक हो जायेगा लेकिन पौषबदी नवमी, रविवार १६ दिसम्बर को आहार से पहले उनको घबराहट अधिक हुई और मुँह से फेन सा आ गया। सुनकर मेरे मन में आशंका हुई कि शरीर का कुछ भरोसा नहीं है। अब मुझे इन्हें क्षपक समझकर परिचर्या करनी चाहिए। दिल्ली व मेरठ से आये वैद्यों से परामर्श किया।

१६ दिसम्बर को प्रतिष्ठा समिति की मीटिंग थी, अतः कैलाशचंद टिकैतनगर से भी आये थे। वैद्यों ने इन्हीं के सामने कहा कि—"बस, अब ये दो-चार दिन की मेहमान हैं।"

मैंने अगले ही दिन १७ दिसम्बर को एकांत में माताजी के पास बैठकर उनसे क्षमा कराकर विधिवत् सल्लेखना क्रिया चालू कर दी।

मैंने यह अनुभव किया कि माताजी स्वयं सावधान रही हैं। इन्हें संघ परिकर से, मेरे से व शरीर से पूर्ण निर्ममता रही है। परिणामों में अभूतपूर्व शांति एवं चेहरे पर प्रसन्नता रही है। स्वाध्याय और पाठ श्रवण में अतीव प्रेम और उत्कण्ठा थी। हाथ में माला लिए हुए वे स्वयं हर क्षण जाप्य करती रहीं।

आर्यिका श्री रत्नमती माताजी में एक गुण सबसे अधिक विशेष प्रतीत हुआ। वह है "आवश्यक अपरिहाणि।"

ये अपनी आवश्यक क्रियाओं में अंतिम दिन तक सावधान रही हैं। हमेशा ही पिछली रात्रि में सर्वप्रथम महामंत्र का नव बार जाप्य करने के बाद वे "अपररात्रिक" स्वाध्याय का विधिवत् अनुष्ठान करके तत्त्वार्थ सूत्र आदि पढ़ती थीं। उसी के अनुसार उन्हें अंतिम दिन—माघ वदी ९, दिनाँक १५ जनवरी को भी गणधर वलय मंत्र सुनाया गया। अनंतर रात्रिक प्रतिक्रमण सुनाया गया। रात्रियोगनिष्ठापन क्रिया कराते हुए योगभक्ति सुनाई गई पुनः उन्होंने 'तीन कम नव करोड़' मुनियों को नमस्कार करके क्रम से चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागर जी, आचार्य वीरसागर जी महाराज जी, आचार्यश्री शिवसागर महाराज जी को नमस्कार करके अपने दीक्षा गुरु आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज को नमोस्तु किया। सामने लगे हुए आचार्यश्री के फोटो को बार-बार देखा। इसके बाद सामायिक क्रिया में उन्हें विधिवत् चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति का पाठ सुनाया। इसके बाद णमोकार महामंत्र, सिद्धचक्र मंत्र और शांतिमंत्र आदि की जाप्य सुनाई। माताजी बहुत ही उपयोग से सुनती रहीं।

इसके बाद एक बार मेरे से पूछा-"कितने बजे हैं?" मैंने कहा—"सात बजकर दस मिनट हुए हैं।" पश्चात् प्रतिदिन के समान उन्हीं के निकट भगवान् शांतिनाथ जी की प्रतिमा विराजमान कर अभिषेक और बड़ी

शांतिधारा की गयी। वह अंतिम अभिषेक वे बहुत ही रुचि से एकटक देखती रहीं।

कुल मिलाकर चारों काल के स्वाध्याय और तीन काल की सामायिक क्रिया तथा दो काल के प्रतिक्रमण में वे पूर्णतया सावधान थीं।

एक दिन सायंकाल की सामायिक के पूर्व मैं रात्रियोग प्रतिष्ठापन विधि करना भूल गई और "पडिक्कमामि भंत्ते!" उच्चारण कर सामायिक शुरू करने लगी। तभी वे बोल पड़ीं—

"अथ रात्रियोगप्रतिष्ठापनक्रियायां योगभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।"

इतनी अधिक कमजोरी में भी उनकी इतनी अच्छी सावधानी देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गई। वैद्यगण भी इनकी सावधानी और मनोबल को देखकर अतीव आश्चर्य व्यक्त किया करते थे। ऐसे ही एक दिन सामायिक क्रिया में "प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः" पाठ छोड़ देने पर वे इस पाठ को भी बोलने लगीं। प्रायः मध्यान्ह में वे समय पूछा करती थीं कि—"माताजी! कितने बजे हैं?" वे ठीक बारह बजे सामायिक पाठ सुनती थीं। इसलिए वे १२ बजे के पूर्व कई बार समय पूछ लेती थीं।

इस प्रकार इनकी ये "आवश्यक अपरिहाणि भावना" बहुत ही सुन्दर थी। हर किसी में यह भावना इतनी सावधानीपूर्ण हो पाना दुर्लभ है।

आर्यिका रत्नमती माताजी की अस्वस्थता देखकर आशीर्वाद व आदेश के लिए रवीन्द्र कुमार ने आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज के पास पत्र देकर एक श्रावक को भेजा था। उसके द्वारा प्राप्त हुए पत्र को मैंने माताजी को सुनाया। उन्होंने उसे बड़े प्रेम से सुना और बार-बार पिच्छिका लेकर अंजलि जोड़कर परोक्ष रूप में अपने दीक्षा गुरु आचार्यश्री को नमस्कार किया। वह यह था—

"आचार्यश्री धर्मसागर जी का शुभाशीर्वाद।

"माताजी! आपने अजमेर में अपने पुत्र, पुत्रियाँ, घर और कुटुम्ब से मोह छोड़कर शरीर से भी निस्पृह होकर बड़े ही पुरुषार्थ से आर्यिका दीक्षा ली थी। आपने इतने दिनों तक अपनी रत्नत्रय साधना से यह संयमरूपी मंदिर तैयार किया हुआ है। अब आपको इसके ऊपर सल्लेखनारूपी कलशारोहण करना है, अतः पूर्णतया सावधान रहना। अपने जीवन का सार जो संयम है, उसे आपको अन्त तक अपने साथ ले जाना है। यही मेरा शुभाशीर्वाद है।

माघवदी छठ, दिनाँक १२ जनवरी, शनिवार को मैंने माताजी को शुद्धि कराकर शुद्ध साड़ी बदलाई, अनंतर उन्हें आहार के लिए उठाने का प्रयास किया किन्तु कुछ कमजोरी अधिक होने से आहार को नहीं उठाया। अनन्तर दस बजे इन्हें दौरा सा आ गया, श्वास जोर-जोर से चलने लगीं और ऐसा लगा कि अब ये जा रही हैं। हम सभी मंत्र बोल रहे थे, बीच-बीच में मैं सम्बोधन भी कर रही थी "आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, आत्मा की मृत्यु नहीं है, वह अजर-अमर, अविनाशी है, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, निर्विकार, निराकार है, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वरूप है, आत्मा भगवान है, सिद्ध है। इत्यादि।"

पुनः ग्यारह बजे मैंने उन्हें चतुर्विध आहार का त्याग करा दिया। डाक्टर, वैद्यों ने भी कहा कि यह आखिरी सांस है किन्तु त्याग कराते समय मैंने यह स्पष्ट बार-बार कहा—"माताजी! आपके आज चतुर्विध आहार का त्याग है। यदि आप प्रातः स्वस्थ रहीं तो आहार ग्रहण करेंगी, अन्यथा त्याग है।"

सम्बोधन व मंत्र बराबर चालू रहा, बाद में दो बजे बाद इन्हें होश आ गया और सावधानी अच्छी हो गई। तीन बजे मेरठ से दो वैद्य आये। उन्होंने आग्रहपूर्ण शब्दों में कहा—"इन्हें आहार में जल, दूध और रस दिलाना चाहिए अन्यथा कण्ठ सूखेगा।"

मैंने कहा कि—

"आज मैंने इन्हें चतुर्विध आहार त्याग दे दिया है, अतः अब आहार कराने का प्रश्न नहीं उठता, कल दिन उगेगा, तभी आहार होगा। यदि जल से ही प्यास बुझती तो अनादि काल से बुझ गई होती, पता नहीं कितना जल पिया व पिलाया है। अब तो भगवान् का नाम ही अमृत है।"

फिर भी वैद्य जी ने कहा—"अच्छा मैं माताजी से पूछ लूँ?"

वे माताजी से निवेदन करने लगे—

"माताजी! अभी समय है, आप आहार के लिए उठें, जरा सा जल, रस आदि ले लें।

माताजी ने संकेत से मना कर दिया। तब मैंने पूछा—"माताजी! आज आहार नहीं लेना है क्या?"

उन्होंने संकेत से मना किया। पुनः मैंने कहा—

'कल तो आहार लेना है।"

वे बोलीं....."हाँ!" तब मैंने समझ लिया, इनकी सावधानी अच्छी है और नियम से, त्याग से प्रेम है न कि शरीर से। वास्तव में इस समय इनका कण्ठ सूखा हुआ था। रात्रिभर जागरण करती रहीं। उस दिन सायंकाल में सरधना से कुछ भाक्तिक श्रावक आ गये, वे यहीं वसतिका हॉल में थे। सभी णमोकार मंत्र का उच्च स्वर से पाठ बोल रहे थे। मैं बीच-बीच में उन्हें शांति मंत्र को बोलने के लिए कह देती थी। मैंने रात्रि में कई बार पूछा—"माताजी! कौन सा मंत्र चल रहा है?" वे बोलीं....."णमोकार मंत्र।"

पुनः शांति मंत्र के समय पूछा, तो वे बोलीं—"शांति मंत्र।"

रात्रि चार बजे से अपररात्रिक स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और सामायिक क्रियायें सुनाईं। नव बजे पूर्ववत् शुद्धि कराकर आहार कराया। आहार में किंचित् दूध, जल और रस दिया गया, जो बहुत ही कठिनाई से जरा-जरा सा उनके पेट में गया। ऐसे ही सोमवार दिनाँक १४ जनवरी को भी आहार कराया गया।

इन दिनों लगभग २० दिन बराबर रात्रि में भी जागरण चलता रहा था। क्रम-क्रम से हम लोग उनको मंत्र सुनाते रहते थे। विद्यालय के विद्यार्थी भी जगते थे। मध्य में इंदौर के वैद्य धर्मचंद शास्त्री आये। वे भी ५-६ दिन तक माताजी की औषधि आदि और भक्ति, वैयावृत्य करते हुए उनकी सावधानी देखकर बहुत ही प्रभावित हुए।

माघ बदी ९ मंगलवार, दिनांक १५ जनवरी को भी प्रतिदिन के समान सर्व क्रियायें सम्पन्न कराईं। ७.३० बजे भगवान् शांतिनाथ की प्रतिमा का अभिषेक दिखाया गया, गंधोदक लगाया। अनंतर मैंने पूर्ववत् शुद्धि कराकर शुद्ध धोती बदला दी किन्तु आहार को उठाने के पूर्व इन्हं बिठाने में सांस चलने लगी। प्रायः प्रतिदिन कुछ देर सांस का वेग बढ़ता था, पुनः स्वाभाविक हो जाता था लेकिन आज स्वस्थता नहीं दिखी। प्रतिदिन मैं पूछती थी—

"माताजी! आहार को उठाऊँ।" वे.....हाँ" में संकेत दे देती थीं। आज नहीं दिया और मेरा मुख देखने लगीं। मैंने समझ लिया कि आज इनकी इच्छा नहीं है। तब मैंने आहार की चर्चा छोड़कर बराबर मंत्र व सम्बोधन चालू रखा।

उस समय मैं कुछ क्षण णमोकार मंत्र, कुछ क्षण "ॐ सिद्धाय नमः," कुछ क्षण "ॐनमः सिद्धेभ्यः" कुछ क्षण "अरहंत सिद्ध शरणं" आदि मंत्र बोलती थी। सभी श्रावक-श्राविकाएँ मेरे साथ ही मंत्र बोल रहे थे। मैं बीच-बीच में संबोधन वाक्य बोलती रहती थी—

"माताजी! सावधान रहना, आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, यह शरीर पुद्गल है, जीर्ण, शीर्ण होता है, छूटता है। शरीर को मृत्यु है, आत्मा को नहीं। आत्मा भगवान् है, शुद्ध है, सिद्ध है। अनंतज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वरूप है। ज्ञानानंद स्वरूप है, परमानंद स्वरूप है, चिच्चैतन्यस्वरूप है।"

बीच-बीच में मैं भगवान् महावीर की, विदेह क्षेत्र में समवसरण में विद्यमान सीमंधर भगवान् की भी जय बोलकर उनका स्मरण करा रही थी। वे बीच-बीच में आँख खोलकर मेरी ओर देखकर, मेरे संबोधन को सुनने का आश्वासन दे देती थीं।

इस सावधानी से मंत्र और संबोधन सुनते-सुनते उनकी सांस ऊपर तक आ गई अर्थात् नाड़ी छूट गई थी और ऊपर सांस चल रही थी। मैंने उन्हें उठाकर पद्मासन से बिठा दिया। एक बजकर पैंतालिस मिनट पर उनकी आत्मा इस नश्वर शरीर से निकलकर स्वर्ग में दिव्य वैक्रियक शरीर में प्रविष्ट हो गई। इधर बराबर मंत्र चलता रहा। बाद में उन्हें कमरे से बाहर हॉल में आसन पर विराजमान करा दिया। दर्शनार्थियों का तांता लग गया। इससे पूर्व भी दर्शनार्थीगण आ रहे थे, खिड़की से देख रहे थे। अन्दर सीमित लोग ही थे, जो कि मंत्र बोल रहे थे।

इस दिन का वीडिओ भी लिया गया है। इससे पूर्व भी १८ दिसंबर का तथा मध्य में २२ दिसम्बर से २८ दिसम्बर तक माताजी के आहार का, उपदेश श्रवण, पाठ श्रवण का भी वी.डी.ओ. लिया गया।

अपूर्व शांति.....२६ नवम्बर मगसिर वदी चतुर्थी के दिन उन्हें प्रथम दौरा पड़ा था। उसके बाद से इनमें एक अद्‌भुत ही शांति दिख रही थी। इसके पूर्व यदि विद्यार्थी या यात्री जोर-जोर से बोलते हों अथवा यहाँ जम्बूद्वीप निर्माण में कभी रात्रि में ट्रक आदि आ जावे या बार-बार कोई उनके कमरे का दरवाजा खोले-बंद करे, किसी निमित्त से हल्ला-गुल्ला मचे, तो वे घबराने लगती थीं, मना करती थीं और कहती थीं—

"कोलाहल से मेरे सिर में दर्द हो जाती है, घबराहट होती है।

इसी प्रकार ढाई वर्ष पूर्व दिल्ली में भी इन्हें शहर का कोलाहल सहन नहीं हो पाता था किन्तु इस २६ नवम्बर के बाद से इन्होंने कुछ भी नहीं कहा, चाहे जैसा हल्ला-गुल्ला हुआ इन्होंने नहीं रोका, टोका। इनकी इतनी शान्ति देखकर मैंने आपस में संघ में कई बार कहा—"ऐसी शांति इनमें कैसे आ गई? क्यों आ गई है?"

तब मोतीचंद ने कहा—"माताजी! इनकी यह चिरशांति है।"

एक बार रवीन्द्र ने पूछा—

"माताजी! आपको किसी से रागभाव है या नहीं?"

उन्होंने कहा—"नहीं है।"

तब पुनः रवीन्द्र ने मेरी ओर संकेत करके....."इन माताजी से तो है।"

उन्होंने सिर हिलाकर कहा.....नहीं है।"

तब मैंने कहा—"ठीक है, अब आप किसी से भी अनुराग—प्रेम नहीं रखना, वास्तव में जब शरीर से भी आपको अपनापन नहीं है, तो फिर हम लोग तो प्रत्यक्ष में ही भिन्न हैं।"

१ जनवरी को प्रातः ५ बजे इन्होंने कहा भी था कि ....."माताजी! अब यह शरीर काम नहीं करता है.....करे तो भला, ना करे तो भला.....।"

तब मैंने कहा था—

"ठीक ही है, देखो माताजी! आपने तो ७० वर्ष तक इस शरीर से बहुत ही काम ले लिया। बचपन से ही धार्मिक संस्कार रहे थे मंदिर जाना, वैराग्य भावना, बारह भावना आदि के पाठ करना तथा पद्मनंदिपंचविंशतिका का स्वाध्याय करके आत्मा में अच्छे संस्कार डाले थे पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर दान, पूजन, शील और उपवास तथा स्वाध्याय को करती रही हो। तीर्थयात्राएं भी प्रायः सभी कर ली हैं। अपनी पुत्र-पुत्रियों को धर्म की घूँटी पिला-पिलाकर उन्हें अच्छे संस्कारों में ढाला है, अपने तेरह संतानों को पाल-पोसकर योग्य बनाया

पुनः इतने कमजोर जीर्ण-शीर्ण शरीर से भी आर्यिका दीक्षा लेकर पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार का चारित्र तेरह वर्ष तक पाला है, अब तुम्हें इस शरीर से निर्मम होकर सल्लेखना सिद्धि करके दो-तीन भव में तेरहवां गुणस्थान — अर्हंत अवस्था प्राप्त करनी है। इत्यादि।"

१६ दिसम्बर को प्रतिष्ठा समिति की मीटिंग थी। इनके बड़े पुत्र कैलाशचंद आये थे। उसी दिन वैद्यों ने यह कहा था कि — "ये अधिक नहीं चलेंगी.....।"

कैलाश ने भी वैद्यों से पूछा था, तब उन लोगों ने ऐसे ही कह दिया था। इस निमित्त से वे घर जाकर अपने भाइयों को सूचना दे चुके थे। दो-तीन दिन में प्रकाशचंद, सुभाषचंद उनकी धर्मपत्नी व कैलाशचंद उनकी पत्नी चन्दा रानी आदि दर्शनार्थ आ गये। तब माताजी ने मेरे से कहा कि —

"इन लोगों को सूचना क्यों कर दी?"

मैंने कहा.....कैलाश ने जाकर सबको कहा है, फिर भी मैं इन लोगों को यहाँ ठहरने नहीं दूँगी। आये हैं, दर्शन करेंगे, चले जायेंगे.....।"

इसके बाद मैंने देखा, क्रम-क्रम से एक-एक पुत्रियाँ भी आती गई। दर्शन करती, एक-दो दिन वैयावृत्य करतीं, मेरे मना करने से प्रायः निकट में नहीं बैठतीं, कभी बैठ भी जातीं, तो ये लोग कुछ न कुछ पाठ सुनाया करते थे। सुभाषचंद जो इनकी दीक्षा के समय सबसे अधिक विक्षिप्त हुए थे, खूब रोये थे, वे इस समय हंस-हंसकर समाधिमरण आदि पाठ सुनाते और वीरमरण की प्रशंसा करते तथा कहते —

"माताजी! हमें भी ऐसा वीरमरण प्राप्त हो। मरने से डर क्या? मरना तो ऐसी ही सल्लेखना विधि से उत्तम है, जो कि संसार के दुःखों से छुड़ाने वाला हो।"

कुल मिलाकर ये लोग एक महीने के अंतराल में कई बार घर गये और पुनः आते रहे। रत्नमती माताजी ने इन किसी से भी कुछ नहीं पूछा कि तुम कब गये थे? कब आये? इत्यादि उनकी इतनी निमर्मता देखकर मैंने भी पुनः इन लोगों को अधिक नहीं रोका। प्रारंभ में तो मैंने एक-दो बार सबको जाने को कह दिया था और ये लोग भी चले गये थे पुनः मैंने देखा कि ये लोग भी सल्लेखना विधि देखने के लिए और वैयावृत्य का लाभ लेने के लिए ही आ रहे हैं। सब मेरी आज्ञा के अनुकूल वैराग्यप्रद और अध्यात्मिक पाठ सुनाने में ही लगे हैं। जब-जब मैं माताजी से एकांत में कुछ पूछती थी, तो उनके शब्दों में वैराग्य परिणाम, निर्ममता और शांति का ही अनुभव आता था।

जिनभक्ति —

इनके सामने भगवान् बाहुबलि की विशालकाय फोटो लगी हुई थी। प्रायः ये उसी तरफ एक-टक देखा करती थीं। ५ जनवरी को ये उधर एकटक बहुत देर तक देखती रहीं, तब मैंने पूछा —

"माताजी! आप बाहुबलि भगवान् को बहुत देर से देख रही हो, क्या.....उनसे शक्ति मांग रही हो?.....।"

वे हंसने लगीं। उस समय उनकी जिनभक्ति और उनके अन्तर की भावना स्पष्ट दिख रही थी। उन्हें सदा ही यह विश्वास था कि रोग, शोक आदि में भगवान की भक्ति ही मनोबल बढ़ाती है, विघ्नों का नाश करती है और संयम के पालन में शक्ति बढ़ती है। जब-जब पहले भी उन्हें अम्लपित्त का प्रकोप बढ़ता था या नींद नहीं आने से बेचैनी बढ़ती थी तो वे रात्रि में "ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ॐ शान्तिनाथाय नमः। ॐ णमो अरिहंताणं।" आदि मंत्र बोला करती थीं। अन्त तक इनके कान, नेत्र और मस्तिष्क बराबर काम करते रहे हैं। स्मरण शक्ति में अन्तर नहीं आया।

एक दिन पूर्व १४ जनवरी तक आगंतुक यात्रियों में खास-खास भक्तों को देखकर मुस्करा देती थीं,

जिससे वे भक्त लोग गद्‌गद हो जाते थे। शेष समय इनकी मुद्रा गंभीर रहती थी।

१६ दिसम्बर से लेकर १५ जनवरी तक मैंने अनुभव किया कि ये आध्यात्मिक पाठ बहुत ही रुचि से सुनतीं। वास्तव में 'आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है।" ऐसा कहना सरल है। जीवन भर आध्यात्मिकता की रट लगाने वाले भी व्याधि और मृत्यु के समय सब कुछ भूल जाते हैं किन्तु यदि अध्यात्म को साकार रूप से, मूर्तिक रूप से किसी को देखना हो तो साधु संघ में ऐसी-ऐसी सल्लेखना के समय सल्लेखनारत साधु क्षपक को देखना चाहिए। इसलिए तो भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि ने क्षपक को "तीर्थ" संज्ञा दी है।

ते वि कदत्था धण्णा, य हुंति, जे पावकम्ममलहरणे।
ण्हायंति खिवयतित्थे, सव्वादर भत्तिसंजुत्ता।।२०००।।
गिरिणदियादिपदेसा, तित्थाणि तपोधणेहिं जदि उसिदा।
तित्थं कधं ण हुज्जो, तवगुणरासी सयं खवउ।।२००१।।
पुव्वरिसीणं पडिमाओ, वंदमाणस्स होदि जदि पुण्णं।
खवयस्स वंदओ किह, पुण्णं विउलं ण पाविज्ज।।२००२।।

क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि संसार से पार उतारने में निमित्त है। उसमें स्नान करने से पापकर्म रूपी मल दूर होता है अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्ति के साथ उस "महातीर्थ" में स्नान करते हैं वे भी कृतकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं। यदि तपस्वियों के द्वारा सेवित पहाड़, नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप गुणों की राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं हैं? अर्थात् हैं ही हैं। यदि प्राचीन ऋषियों को, प्रतिमाओं की वंदना करने वाले को पुण्य होता है तो क्षपक की वंदना करने वालों को विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा? जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपक की सेवा करता है, उसकी सम्पूर्ण आराधना सफल हो जाती है[१]।

सेवा करके शरीर से काम लेना —

मुझे जब-तब कहा करती थीं—

"माताजी! तुम दिनभर लिखायी-पढ़ाई का बहुत काम करती हो। चौबीस घंटे में एक बार शरीर में तेल मालिश जरूर करा लिया करो। देखो! मैंने अपने शरीर की सेवा करके ही आज तक इससे काम लिया है। तुम भी अपने शरीर की सेवा करती रहोगी, तब इससे ज्यादा काम ले सकोगी.....।"

सन् १९८५ की लंबी बीमारी के बाद डाक्टर, वैद्यों ने भी मुझे शरीर में तेल मालिश के लिए प्रेरणा दी है। पं. फूलचंद जी सिद्धांतशास्त्री ने भी कई बार तेल मालिश के लिए कु. माधुरी को कहा कि—"बहन जी! माताजी के शरीर में मालिश अवश्य करो।" अब मैंने स्वयं अनुभव किया है कि अधिक थकान, घबराहट आदि में तेल या घी की मालिश से शांति अवश्य मिलती है और मैं पुनः शरीर से लेखन आदि कार्य कर लेती हूँ। तब उन आर्यिका रत्नमती माताजी की शिक्षा और प्रेरणा याद अवश्य आ जाती है। वास्तव में शरीर से काम लेना है, तो उसकी सेवा करना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

आर्यिका रत्नमती माताजी की समाधि के मध्य सुकुमारचंद जी आदि दर्शनार्थ आते रहे थे और उनकी शांत मुद्रा की प्रशंसा करते रहे थे। समाधि हो जाने के बाद जब रेडियो से समाचार प्रसारित हुए, तब सारे भारत में उनकी समाधि हो जाने के समाचार फैल गये। जगह-जगह भक्तों ने श्रद्धांजलि सभाएँ कीं। यहाँ पर जे.के. जैन संसद सदस्य (दिल्ली) ने आकर अंत्येष्टि के समय नारियल चढ़ाकर श्रद्धांजलि अर्पित की।

समाधि के बाद एक दिन शिखरचंद जैन, रानी मिल, मेरठ और सुकुमारचंद आदि पधारे तो आर्यिका रत्नमती माताजी की प्रशंसा करते हुए बोले—

---

१. भगवती आराधना पृ. ८७०।

"यह दृश्य संसार में इस युग में एक विशेष ही रहा है कि जहाँ माता[1] क्षपक हो और पुत्री[2] निर्यापकाचार्य हो...., माता का यह गुण बहुत बड़ी गुणग्राहकता का द्योतक है।"

मनोबल की प्रबलता —

मैंने अनुभव किया है कि उनमें शारीरिक शक्ति बहुत कम होते हुए भी मनोबल बहुत ही प्रबल था। उन्होंने तेरह संतानों को जन्म देकर उनका अच्छी तरह लालन-पालन कर, सभी को धर्म के साँचे में ढाला पुनः लगभग ५७ वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर पदविहार, केशलोंच आदि करते हुए अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया । उनकी भावना सदा अक्षय सुख को प्राप्त करने के लिए ही बनी रही। अंत में एक माह की सल्लेखना लेकर महामंत्र का स्मरण, श्रवण करते हुए उन्होंने नश्वर शरीर को छोड़कर देवपद प्राप्त कर लिया।

दीक्षित जीवन —

उनके दीक्षित जीवन को मैंने बारीकी से देखा है। मेरे पास तेरह वर्ष तक रहते हुए उन्होंने घर के — गृहस्थावस्था के सुख-दुख के कोई भी संस्मरण कभी भी याद नहीं किए, न मेरे सामने कभी पूर्व स्मृति की कोई बातें बोलीं और न किसी के सामने ही बोलीं। मैंने उनके अभिनन्दन ग्रंथ में परिचय लिखते समय कई बातें पूछी थीं, तो वे बोलीं —

"मुझे कुछ स्मरण नहीं है।"

ऐसा सुनकर मैं कभी-कभी हंस लेती थी कि —

"आपका पुनर्जन्म हो गया है, ऐसा लगता है।"

वास्तव में यह तेरह वर्ष का दीक्षित जीवन उनका ऐसा व्यतीत हुआ लगता था कि दीक्षा के बाद उनका पुनर्जन्म ही हो गया है। वे अतीत के पुत्र-पुत्र वधुएँ, पुत्रियाँ और दामाद के अच्छे-बुरे (खट्टे-मीठे) सभी अनुभव भूल चुकी थीं या कहिये भुला चुकी थीं। वे कभी भी अपने पति आदि के व्यवहार को, उनके द्वारा धर्म में डालने वाली विघ्न-बाधाओं को भी स्मृति में नहीं लाईं।

बस, उन्हें आवश्यक क्रियाओं में, स्वाध्याय में, धर्म-चर्चा में, धर्मोपदेश सुनने में और धर्म प्रभावना को देखने में ही आनन्द आता था। इन्हीं कार्यों में सतत लगी रहती थीं। हमेशा यही भावना व्यक्त किया करती थीं कि —

"मेरी सल्लेखना हो जावे, मुझे पुनः अब स्त्री पर्याय न मिले।"

उनका सम्यग्दर्शन बहुत ही दृढ़ था, किसी भी लिए गये नियम को पालने में अंत तक पाषाण सदृश कठोर रही हैं और मेरे प्रति उनका मातृत्व स्नेह होते हुए भी सदैव उन्होंने मुझे गुरु के रूप में ही माना था। प्रत्येक चतुर्दशी को अथवा किसी विशेष प्रसंग में मुझसे विधिवत् प्रायश्चित लेती थीं और मेरे वचनों को सदा बहुमान देती रहती थीं।

उनकी समाधि में मेरा उत्साह —

उनकी समाधि कराने में मेरा इतना अधिक उत्साह था कि मैंने १६ दिसम्बर को जैसे ही वैद्य के मुख से सुना कि अब ये दो-चार दिन की मेहमान हैं, अपनी लिखाई का समापन अलमारी में रख दी और उनकी सल्लेखना कराने में तत्पर हो गई। मैंने समाधि कराते समय यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि —

"बाद में इनका अभाव मुझे खटकेगा और वर्षों तक उनकी याद आती ही रहेगी। दिल इतना कमजोर जो जायेगा कि पुनः अब किसी दूसरे की समाधि कराने का साहस ही नहीं हो सकेगा।"

इसमें मुख्य कारण तो मेरी शारीरिक कमजोरी ही है तथा खून का संबंध भी प्रतीत होता है। कई बार ऐसे

---

१. आर्यिका रत्नमती माताजी २. गणिनी ज्ञानमती माताजी।

भाव आते हैं कि—

"माता की समाधि ऐसे त्यागमयी जीवन में अपने हाथ से कराना, उनके लिए तो अच्छा ही था, अपने कर्तव्य का भी पालन करना था किन्तु मोह के उद्रेक से कभी-कभी इष्टवियोगज आर्तध्यान अवश्य हो जाता है। हाँ, ज्ञान और वैराग्य के बल से मैं अपने को संभालती रहती हूँ, यही स्वाध्याय का सार है।"

उनकी छोटी पुत्री मनोवती जो इस समय आर्यिका अभयमती हैं, इन्होंने सन् १९६१ में घर छोड़ा था। सन् १९६४ में हैदराबाद में मैंने इन्हें क्षुल्लिका दीक्षा दी थी। सन् १९६९ में महावीर जी में आर्यिका बनी थीं। ये सन् १९७१ में आर्यिका रत्नमती जी की दीक्षा के समय अजमेर में थीं। बाद में आर्यिका रत्नमती माताजी के बहुत कुछ मना करने के बाद भी बुंदेलखंड की यात्रा के लिए चली गई थीं। दैवयोग से माताजी की समाधि के समय मौजमाबाद के पास 'दूदू' राजस्थान में थीं।

रत्नमती माताजी की समाधि का समाचार सुनकर इन्हें गहरा धक्का लगा। वास्तव में दो-तीन वर्षों से ये इधर आकर उनसे मिलना चाहती थीं और अपनी यात्रा के खट्टे-मीठे अनुभव सुनाना चाहती थीं किन्तु इधर से समाचार गया कि बड़ी प्रतिष्ठा के समय आचार्य संघ के साथ ही आ जाना।

वास्तव में मुझे तो क्या? किसी को भी यह कल्पना भी नहीं थी कि—

"आर्यिका रत्नमती माताजी प्रतिष्ठा के चार माह पूर्व ही चली जायेंगी.....।"

अस्तु, होनहार टाले नहीं टलती है, यही सोचकर शांति धारण करनी पड़ती है, फिर भी अभयमती जी का चित्त आज भी उनका (गृहस्थाश्रम की माँ का)स्मरण कर-करके विक्षिप्त होता रहता है, जैसा कि होना स्वाभाविक है। फिर भी ऐसे-ऐसे प्रसंगों पर तत्त्वज्ञान ही शरण है, अन्य कोई नहीं है।

अनादिकाल से इस जीव ने किनको तो माता-पिता नहीं बनाया और किन-किनको पुत्र-पुत्री के रूप में नहीं पाया है। यह सब संबंध कर्म के निमित्त से शरीर के आश्रित हैं और जब शरीर ही अपना नहीं, तब ये संबंध भी अपने कैसे हो सकते हैं? अतः शुद्धात्मा का चिंतन ही शाश्वत सुख-शांति का उपाय है।

'उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात्, मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात्, परचिंता धमाधमा।।

अपनी आत्मा की चिन्ता करना उत्तम है, मोह की चिन्ता मध्यम है, काम भोगों की चिंता अधम है और पर की चिंता अधम से भी अधम है।

प्रत्येक तत्त्वज्ञानी को इस श्लोक का चिन्तन हमेशा करते रहना चाहिए।

£ ८३ ¤

एक वर्ष तक विधान —

जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का सारे भारत में भ्रमण होने से उसमें बोली लेने वाले यहाँ आकर 'प्रतिष्ठा के समय सुमेरु पर्वत की पांडुक शिला पर भगवान का अभिषेक करेंगे', इसका जोर-शोर से प्रचार हुआ था अतः सर्वकार्य एवं महान् प्रतिष्ठा का कार्य निर्विघ्न संपन्न हो, इस भाव से मैंने यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर विधि-विधान का आयोजन एक वर्ष से अधिक तक चलवाया था। चैत्र शुक्ला १५, १५ अप्रैल १९८४ से विधान शुरू हुआ। सर्वप्रथम माधुरी ने शांति विधान करके ११ दिन तक तीस चौबीसी विधान किया पुनः पंचपरमेष्ठी, नवदेवता, सिद्धचक्र आदि विधान आगे वैशाख शुक्ला १, दिनाँक २१ अप्रैल १९८५ तक चलते रहे हैं और जाप्य भी चलती रही हैं। इसमें विद्यापीठ के विद्यार्थियों का बहुत बड़ा सहयोग रहा है।

रत्नमती माताजी की समाधि के अनन्तर मैंने अपने उपयोग को आर्तध्यान से हटाने के लिए जम्बूद्वीप

पूजा, हस्तिनापुर पूजा, भगवान् आदिनाथ पूजा आदि पूजाएँ बनाईं। प्रतिष्ठा में ज्ञानज्योति के इंद्रों द्वारा अभिषेक के 'कलशपत्रक' आदि बनवाने के कार्य में संलग्न हो गई।

उ.प्र. मुख्यमंत्री का आगमन —

उ.प्र. के मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी के, यहाँ मेरे दर्शनार्थ आने की शाम को सूचना मिली। रात्रि में ही यहीं जम्बूद्वीप के पास खेत में हेलीपैड बनवाया गया। ४ मार्च १९८५, फाल्गुन शुक्ला १२ को मध्यान्ह १२.२५ पर कैलाशचंद टिकैतनगर वाले हेलीकॉप्टर से मुख्यमंत्री जी के साथ आये। मुख्यमंत्री जी यहाँ जम्बूद्वीप आदि के दर्शन कर मेरे पास आये। प्रतिष्ठा को बड़े समारोह से मनाने के लिए चर्चायें की। मेरा आशीर्वाद लिया। लगभग ४ घंटे यहां ठहरे थे। इसके बाद उनके आदेश से १४ अप्रैल १९८५ को उ.प्र. मंत्री प्रो. वासुदेव सिंह मेरठ जिले के अनेक अधिकारी वर्ग को साथ लेकर यहाँ आये। त्रिमूर्ति मंदिर के हॉल में मीटिंग हुई। शासन द्वारा सहयोग पर बारीकी से विचार-विमर्श हुआ। मेरा आशीर्वाद लेकर उन्होंने हर एक कार्यों में अधिकारीवर्ग को लगा दिया।

शान्ति मंत्र जाप्य —

इस प्रतिष्ठा की निर्विघ्न समाप्ति हेतु यह मंत्र भी छपाया गया था जिसे ज्ञान ज्योति में वितरित करते थे, सम्यग्ज्ञान में भी छपा दिया था। हजारों लोगों ने इस शांतिमंत्र को जपा था।

मंत्र—''ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा नमः चतुर्विधसंघस्य सर्वलोकस्य च शान्तिं कुरु कुरु स्वाहा।'

जम्बूद्वीप जिनबिंब प्रतिष्ठापना महोत्सव —

२८ अप्रैल से २ मई, तिथि वैशाख शुक्ला ८ से १२ तक , सन् १९८५ में 'जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति' भ्रमण को पूर्ण कर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन विशाल स्तर पर किया गया। यह महोत्सव वैशाख शुक्ला २, २२ अप्रैल से ही प्रारंभ हुआ था। इसके फोल्डर, पोस्टर, कुमकुम पत्रिका आदि छपाकर सारे भारत में इसका व्यापक प्रचार किया गया था।

इसमें २६ से २८ अप्रैल तक त्रिदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार का भी आयोजन किया गया था।

मुनिसंघ आगमन और झंडारोहण —

सन् १९८३ से ही संघ के मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार, माधुरी और अन्य संस्थान के पदाधिकारी आचार्यश्री धर्मसागरजी के पास जा-जाकर यहाँ पधारने की प्रार्थना करते रहे थे। कु. माधुरी १४ फरवरी को यहाँ से निकलीं, दिल्ली से किशनगढ़ पहुँचीं। अनुनय-विनय के बाद आचार्यश्री एकदम दयार्द्र हो गये और झट से ही उठकर भगवान् के दर्शन कर हस्तिनापुर आने के लिए फुलेरा की ओर विहार कर दिया। १५ फरवरी का यह मंगल दिवस आज भी मुझे याद आ जाता है। आचार्यश्री संघ सहित फुलेरा तक आ गये। वहाँ पर आचार्यश्री के घुटनों ने जवाब दे दिया अतः उनका आना असंभव हो गया पुनः आचार्यश्री की आज्ञा से संघ के कतिपय मुनि और आर्यिकाएँ वहाँ से विहार कर यहां २२ अप्रैल को प्रातः पधारे। गाजे-बाजे के साथ मुनिसंघ का भव्य स्वागत किया गया।

झंडारोहण समारोह —

इसी दिन वैशाख शु. २, २२ अप्रैल को प्रतिष्ठाचार्य ब्र.सूरजमल जी को आचार्य निमंत्रण दिया गया और उन्हें हाथी पर बिठाकर जुलूस से लाया गया। ब्रह्मचारी जी ने चतुर्विध संघ के समक्ष नारियल चढ़ाकर प्रतिष्ठा कराने के लिए आज्ञा मांगी। साधुओं के एवं मेरे मंगल आशीर्वाद प्रवचन हुए। रथयात्रा पूर्वक श्रीजी को पांडाल में लाकर नूतन वेदी में विराजमान किया गया।

अनंतर ४१ फुट ऊँचे ध्वजदंड में बंधे हुए झंडे का मंत्रोच्चारणपूर्वक श्री निर्मलकुमार सेठी ने एवं मुख्य अतिथि उ.प्र. के आबकारी मंत्री प्रो. श्री वासुदेव सिंह ने झंडारोहण किया। भाषण के मध्य प्रो. वासुदेव सिंह ने कहा—

''यहाँ हस्तिनापुर में कार्य का प्रारंभ हुआ है। यह 'अथ' है, 'इति' नहीं करना है। अपने को हर एक कार्य का 'अथ'—शुभारंभ करना रहता है, 'इति'—समापन नहीं।''

सभी के समयोचित भाषण और साधुओं के मंगल आशीर्वाद हुए।

इसी दिन मध्यान्ह में एक बजे 'नवदेवता विधान' प्रारंभ किया गया। सायंकाल ४ बजे अंकुरारोपण विधि सम्पन्न हुई। प्रातः एवं मध्याह्न पांडाल में मुनियों एवं आर्यिकाओं के व रात्रि में विद्वानों के प्रवचन होते रहे।

२६ अप्रैल, वैशाख शु. ६ —

इन्द्राणियों का जुलूस निकला। इस अवसर पर ये महिलाएँ विशेष रूप से छपायी गई केसरिया रंग की जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के बार्डर वाली साड़ियाँ पहने हुए सिर पर कलश लिए बहुत सुंदर दिख रही थीं। इन मंगल कलशों से प्रतिष्ठाचार्य ने जम्बूद्वीप में बनी हुई १८५ (एक सौ पचासी) नूतन वेदियों की शुद्धि की।

अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार —

यह सेमिनार २० नवम्बर १९८३ में ही करने का निर्णय लेकर तारीखें प्रसारित की गई थीं किन्तु ज्ञानज्योति भ्रमण और जम्बूद्वीप निर्माण के कार्यों की अधिकता होने से यह सेमिनार उस समय स्थगित कर दिया गया था और यह निश्चय किया गया था कि प्रतिष्ठा के दो दिन पूर्व से ही ये सेमिनार सम्पन्न किया जाये जिससे कि सेमिनार में पधारे प्रोफेसर एवं विद्वान् भी प्रतिष्ठा को देखने का लाभ ले सकें। इस व्यवस्था के अनुसार उस दिन प्रातः ९ बजे मेरठ विश्वविद्यालय के कुलपति मूर्धन्य भाषाविद् प्रो. रमेश मोहन की अध्यक्षता में उ.प्र. शासन के वरिष्ठ मंत्री प्रो. वासुदेवसिंह ने दीप प्रज्ज्वलित कर सेमिनार का उद्घाटन किया। इस सेमिनार में अंतर्राष्ट्रीय गणित, इतिहास आयोग के प्रतिनिधि प्रो. राधाचरण गुप्ता (रांची), प्रो. योशिमाशा मिचिवाकी गुन्मा विश्वविद्यालय जापान, प्रो. श्रीधर वाजपेयी (डीन-विज्ञान संकाय, रीवर्सस्टेट यूनिवर्सिटी नाइजीरिया) आदि अनेक प्रोफेसर पधारे थे। २६, २७ एवं २८ अप्रैल तक सभी सत्रों में सुचारू रूप से इन विद्वानों ने जैन गणित एवं तीन लोक पर अपने-अपने लेख पढ़े, अनेक चर्चायें हुईं और समय-समय पर उपस्थित होकर मैंने भी विद्वानों की समयोचित शंकाओं का समाधान किया।

२८ अप्रैल, वैशाख शु. ८ —

श्री जे.के. जैन सांसद राज्यसभा की अध्यक्षता में, भारत सरकार के रक्षामंत्री श्री पी.वी. नरसिंहराव ने प्राचीन भारत की गणितीय उपलब्धियों की चर्चा करते हुए सेमिनार समापन की घोषणा की। अनंतर श्री निर्मलकुमार सेठी स्वागताध्यक्ष की अध्यक्षता में प्रो. ए.आर. किदवई, कुलाधिपति विश्वविद्यालय एवं भूतपूर्व राज्यपाल बिहार के मुख्य आतिथ्य में विद्वत् सम्मान समारोह किया गया। श्रीमान किदवई के समापन भाषण के उपरांत मैंने उद्बोधन एवं आशीर्वाद देकर सभा समापन की।

२७ अप्रैल, वैशाख शु. ७ —

प्रतिष्ठाचार्य ने पांडाल में यागमंडल विधान, वास्तुविधान आदि कार्य संपन्न कराये। हस्तिनापुर में मंगल आगमन जिसका हुआ है, ऐसी ज्ञानज्योति के रथ में बैठने वाले इन्द्रों की बोलियाँ हुईं। यह ज्ञानज्योति ४ जून १९८२ को दिल्ली से प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी के करकमलों से प्रवर्तित हुई थी और १०४५ दिनों तक संपूर्ण भारत की यात्रा करके यहाँ प्रवेश करने वाली थी।

२८ अप्रैल, वैशाख शु. ८ —

इस मंगल दिवस, वैशाख शु. ८ को जंबूद्वीप ज्योति रथ के साथ-साथ, भगवान का रथ भी निकाला गया था जो कि भव्य जुलूस के साथ सेंट्रल टाउन से जंबूद्वीप तक आया। यहाँ से कुछ दूर आगे मैं भी ज्ञानज्योति के सामने पहुँची। हृदय हर्ष से आप्लावित हो रहा था। आज मैंने ४ जून १९८२ के बाद पुनः ज्ञानज्योति के दर्शन किये थे और उसकी शोभायात्रा में शामिल हुई थी।

भारत सरकार के केन्द्रीय रक्षामंत्री श्री पी.वी. नरसिंहराव हेलीकाप्टर से उतरकर श्री जे.के. जैन के साथ पहले मेरे स्थान पर आये और मंगल आशीर्वाद लिया। मैंने कुछ चर्चाएँ कीं, पुनः उन्हें कुछ सम्बोधन किया।

अनंतर इन महानुभावों ने ज्ञानज्योति का स्वागत किया। तत्पश्चात् प्रतिष्ठा के विशाल पांडाल में सभा का आयोजन हुआ। अतिथियों के स्वागत और जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति से हुई उपलब्धि आदि के विषय में समयोचित भाषण हुए। श्री नरसिंहराव को रजत का 'सुमेरु' भेंट में दिया गया। इसी प्रकार जे.के. जैन, सांसद को भी रजत का सुमेरु भेंट में दिया गया।

अखण्ड ज्योति स्थापना —

जम्बूद्वीप रचना के ठीक सामने ज्ञानज्योति के लिए एक गोल कमलाकार भवन बनवाया गया था। मंच से ये लोग वहाँ आ गये। यहाँ भवन के ठीक बीच में ज्ञानज्योति को प्रज्ज्वलित कराना था। उमड़ती भीड़ समूह में श्री जे.के. जैन के साथ रक्षामंत्री भी आ गये। मैंने जो प्रशस्ति बनायी थी, कु. माधुरी ने उसे पढ़ा और श्री पी.वी. नरसिंहराव ने एक स्विच दबाया, जिससे ज्योति जल उठी, जो सदा जलती ही रहेगी। उस समय 'जंबूद्वीप ज्ञानज्योति' की जयकार के नारे से सारा आकाशमण्डल गूँज उठा। जो प्रशस्ति पढ़ी गई थी, सो यह है—

''ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं आद्यानामाद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे हस्तिनापुरतीर्थक्षेत्रेऽस्मिन् पंचमकाले शतेन्द्रवंद्यप्रथमतीर्थंकर आदिब्रह्मणो भगवत्ऋषभदेवस्य परम्परायां अंतिमतीर्थंकर-देवाधिदेवभगवन्महावीर स्वामिनः सार्वभौमजिनशासने श्रीमूलसंघे दिगम्बर जैनाचार्य श्रीकुंदकुंदाम्नाये सरस्वतीगच्छे, बलात्कारगणे चारित्रचक्रवर्तिआचार्यवर्यश्रीशांतिसागरमुनीन्द्रपरम्परायां तृतीयपट्टाधीश आचार्यशिरोमणि श्री धर्मसागरमहाराजसंघस्थमुनिआर्यिकादिसानिध्ये आचार्यचूड़ामणि-श्रीवीरसागरमहामुनेः शिष्यार्यिकारत्न श्रीज्ञानमतीमातुः सदुपदेशात् ससंघतत्सानिध्ये च मासोत्तममासे वैशाखमासे शुक्लपक्षेऽष्टम्यां तिथौ सूर्यवासरे इह भारतदेशे गणतंत्रशासने राष्ट्रपतिज्ञानीजैलसिंह प्रधानमंत्रीराजीवगांधीमहापुरुषस्य नेतृत्वकाले जे.के. जैनस्य (संसद सदस्य राज्यसभा) अध्यक्षतायां केन्द्रस्य रक्षामंत्रिणः श्री पी.वी. नरसिंहरावकरकमलाभ्यां ज्ञानज्योतिः प्रज्वाल्य तस्या-खण्डस्थापनां कारयामहे।

इदं ज्ञानज्योतिः सर्वजनाज्ञानांधकारं हरतु, सर्वत्र सदा शश्वत्कालं ज्ञानप्रकाशं वितरतु, देशे राष्ट्रे राज्ये सर्वग्रामे नगरे च शांतिं तुष्टिं पुष्टिं मंगलं च करोतु, इति स्वस्ति भवतु स्वाहा।''

पुनः २८ अप्रैल को ही रात्रि में सौधर्म इन्द्र आदि की बोलियाँ हुईं। श्री त्रिलोकचंद कोठारी (कोटा) और उनकी धर्मपत्नी लाडाबाई ने भगवान ऋषभदेव के पिता-माता बनने का सौभाग्य प्राप्त किया। यहाँ प्रतिष्ठा में विधिनायक मूर्ति भगवान ऋषभदेव की थी। सौधर्म इन्द्र बनने का पुण्ययोग श्रीनिवास जैन, नागौर वालों ने प्राप्त किया। रात्रि ११ बजे से प्रतिष्ठाचार्य ने दिक्कुमारियों द्वारा माता की सेवा के अभिनय कराये।

पुनः माता के १६ स्वप्न, उनका फल पूछना आदि क्रियाएँ दिखायीं। बाद में पिछली रात्रि में गर्भ कल्याणक क्रिया सम्पन्न हुई।

२९ अप्रैल, वैशाख शु. ९ —

२९ अप्रैल को प्रातः भगवान ऋषभदेव का जन्म महोत्सव मनाया गया। उधर त्रिमूर्ति मंदिर में आजू-बाजू वेदियों में भगवान ऋषभदेव एवं भरत की प्रतिमाएँ ६ फुट की खड्गासन खड़ी हो गई थीं। इधर मंच पर इन्द्रादिकों द्वारा नृत्य आदि का कार्यक्रम शुरू हो गया। पश्चात् सौधर्मइन्द्र ने ऐरावत हाथी पर बैठकर भगवान को गोद में लेकर, पांडाल की तीन प्रदक्षिणा लगाई, अनन्तर जुलूस निकला।

यहाँ जंबूद्वीप स्थल के आसपास की विशाल भूमि पर मेले के अवसर पर उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, आसाम, गुजरात, महाराष्ट्र आदि के नगर बसाये गये थे। छोलदारी और टेंटों में लगभग २५ हजार लोगों के ठहरने की व्यवस्था की गयी थी। उन मार्गों से होता हुआ जुलूस दिगम्बर जैन प्राचीन मंदिर के पास से होता

हुआ लगभग १० बजे जंबूद्वीप स्थल पर आ गया। यहाँ सुमेरु पर्वत पर चढ़ने के लिए एक विशेष पैड के रूप में सीढ़ियों का निर्माण उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से कराया गया था। इस ८४ फुट ऊँचे सुमेरु पर हाथों में नारियल सहित कलशों को लेकर चढ़ते हुए इन्द्र-इन्द्राणियों का दृश्य देखते ही बनता था। वहाँ सुमेरु पर्वत पर पांडुकवन में, ईशान दिशा में बनी हुई पांडुक शिला पर जन्मजात तीर्थंकर बालकस्वरूप जिनप्रतिमा का अभिषेक महोत्सव मनाया गया। इस जन्माभिषेक के समय हेलीकाप्टर से भक्त लोगों ने पुष्पवर्षा की थी।

मैंने अस्वस्थ शरीर होते हुए भी उमंग से पर्वत पर चढ़कर भगवान का जन्माभिषेक देखा था पुनः आकर आहार लिया था।

ज्ञानज्योति के इन्द्रों द्वारा अभिषेक —

"ज्ञानज्योति के नगर-नगर में भ्रमण के अवसर पर इन्द्रों की बोलियाँ लेने वाले महानुभावों के पास हस्तिनापुर से 'अभिषेक पास' डाक द्वारा भेजे गये थे। उनके आधार पर समस्त इन्द्रों ने उसी दिन से प्रातः एवं मध्यान्ह अपनी-अपनी व्यवस्था के अनुसार प्रतिष्ठा से पूर्व भेजे गये 'कलशपत्रक' के अनुसार, कलशों को लेकर इस नूतन निर्मित सीढ़ियों से चढ़कर सुमेरु पर विराजमान भगवान का अभिषेक किया था। इस प्रकार अभिषेक करने वालों का इस प्रतिष्ठा में तांता ही लगा हुआ था। इस अभिषेक व्यवस्था को महेन्द्र कुमार जैन रानीवाला (कोटा) ने संभाला था।

अधिवेशन —

इसी दिन मध्यान्ह में पांडाल में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का अधिवेशन किया गया। सभा में मूड़विद्री के भट्टारक चारूकीर्ति जी ने अध्यक्ष पद ग्रहण किया। इस अधिवेशन में संस्थान एवं ज्ञानज्योति के कार्यकर्ताओं को प्रशस्ति-पत्र, स्वर्ण-पदक आदि भट्टारक जी के करकमलों से दिलाये गये एवं सम्मान किया गया।

रात्रि में भगवान का पालना झुलाना आदि कार्यक्रम हुए।

प्रसिद्ध गीतकार रवीन्द्र जैन बम्बई के गीत हुए पुनः जयपुर की 'महिला जागृति संघ' द्वारा 'पुरुदेव नाटक' का मंचन किया गया।

३० अप्रैल, वैशाख शु. १० —

३० अप्रैल को मध्यान्ह में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त जी तिवारी हेलीकॉप्टर द्वारा हस्तिनापुर पधारे। सर्वप्रथम भगवान महावीर स्वामी का दर्शन कर मेरे स्थान पर आये। आशीर्वाद ग्रहण कर मंच पर पहुँचे। उनके साथ संसदीय राज्यमंत्री श्री हुकुमसिंह भी थे। सभा में इन अतिथियों के स्वागत के पश्चात् इन्हें जंबूद्वीप का प्रतीक रजत सुमेरु भेंट किया गया। मुख्यमंत्री जी से प्रतिष्ठाचार्य को रजत प्रशस्ति-पत्र भेंट में दिलाया गया।

पुनः श्री निर्मलकुमार सेठी ने कहा कि —

"इस महोत्सव को सफल बनाने का मुख्य श्रेय ब्र. मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार को है। इन दोनों ने अपना जीवन समर्पण करके संस्थान को सर्वतोमुखी बनाया है अतः मुख्यमंत्री के करकमलों से इन दोनों को रजत प्रशस्ति-पत्र भेंट कराये गये।

ग्रंथ विमोचन —

मुख्यमंत्री ने 'नियमसार प्राभृत' ग्रंथ विमोचन कर मुझे समर्पित किया पुनः मेरे द्वारा अनुवादित एवं ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'मूलाचार' ग्रंथ का विमोचन कर मुनिश्री निर्मलसागर जी एवं समस्त मुनिसंघ को भेंट में दिया। मुख्यमंत्री जी ने समयोचित बहुत अच्छा भाषण किया। अनन्तर भट्टारक चारुकीर्ति जी ने अपने भाषण में मेरी प्रशंसा करते हुए कहा —

"माताजी केवल ज्ञानमती ही नहीं हैं, दर्शनमती हैं, चारित्रमती हैं, रत्नत्रय की प्रतिमूर्ति हैं। इनकी प्रेरणा से ही यह जंबूद्वीप रचना बनी है इत्यादि.....।"

उस समय मैं सोचने लगी—

"आर्यिका पद में तो रत्नत्रय पूर्ण हो नहीं सकता है। भगवन् ! अगले भव में पुरुष पर्याय प्राप्त कर मैं रत्नत्रय को पूर्ण कर, रत्नत्रय की साक्षात् प्रतिमूर्ति बन जाऊँ, यही भावना जीवन भर बनी रहे, बस.....।"

पुनः मैंने अपने प्रवचन में कुछ कन्नड़ की पंक्तियाँ बोलीं, कुछ मराठी में बोला और हिन्दी में प्रवचन एवं आशीर्वाद दिया। इस अवसर पर भारत के प्रत्येक प्रांत से अपार जन-समूह एकत्रित हुआ था। चूंकि जंबूद्वीप ज्ञानज्योति के सारे भारत भ्रमण में सर्वत्र गांव-गांव के लोगों ने इन्द्रों की बोलियां ली थीं एवं हस्तिनापुर में बन रही जंबूद्वीप रचना को देखने के भाव संजोये थे।

उत्तर प्रदेश में यह पहली प्रतिष्ठा थी जिसमें उत्तर, दक्षिण, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, आसाम, बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, हरियाणा आदि सभी प्रांत के नर-नारी भारी संख्या में आये हुए थे। मंच पर कार्यक्रम होने के बाद मुख्यमंत्री जी जंबूद्वीप के सामने आये। वहाँ पर लगाये गये शिलालेख का अनावरण कर उद्घाटन किया पुनः पश्चिम दिशा में बने हुए 'विद्युत भवन' में पहुँचे। वहाँ पर स्विच दबाकर जंबूद्वीप के चारों ओर बने हुए लवणसमुद्र के लाइट फव्वारे का उद्घाटन किया। बटन दबाते ही एक सेकेन्ड में सारे फव्वारे चलने लगे और लाइटें जल उठीं। उस समय का यह दृश्य बहुत ही सुन्दर लगा था। भोजनोपरांत मुख्यमंत्री जी अपने हेलीकाप्टर से रवाना हो गये।

राज्याभिषेक एवं दीक्षाकल्याणक —

इसके बाद मध्यान्ह ३ बजे भगवान ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ पुनः नीलांजना के नृत्य से प्रभु को वैराग्य दिखाकर, लौकांतिक देवों द्वारा स्तुति का दृश्य दिखाया गया। अनन्तर भगवान को पालकी में लेकर दीक्षा के लिए ले जाने का समारोह हुआ। इसके बाद वटवृक्ष के नीचे भगवान की दीक्षा विधि सम्पन्न हुई।

रात्रि में अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासभा का खुला अधिवशेन हुआ। इसके बाद रात्रि में रोहतक के जैन कला केन्द्र युवा परिषद द्वारा 'वैराग्य की ओर' नाम से नृत्य नाटिका प्रस्तुत की गई, जिसे सभा की खचाखच भीड़ के लोगों ने देखा और सराहा।

१ मई, वैशाख शु. ११ —

प्रातः ९ बजे भगवान के आहार का दृश्य दिखाया गया पुनः मध्यान्ह १ से २ तक मंच पर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद का अधिवेशन हुआ। इधर प्रतिष्ठाचार्य गर्भागार के अंदर जिन प्रतिमाओं को सूरिमंत्र मुनिश्री निर्मलसागर जी द्वारा दिला रहे थे। वहां पर उस समय सभी मुनि संघ उपस्थित था। उस समय मैं भी वहाँ जाकर बैठ गई और देखती रही कि प्रतिष्ठाचार्य मंत्रों द्वारा पाषाण की मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा करके भगवान बना रहे हैं, यह मंत्रों की शक्ति और महिमा अचिन्त्य है।

समवसरण की रचना —

यहाँ मंच पर प्रतिष्ठाचार्य ने समवसरण की बारह सभा का दृश्य बनवाया। अंदर गंधकुटी में चारों तरफ मुख करके चार प्रतिमाएँ विराजमान कर दीं एवं चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तंभ खड़े करके उनमें भी प्रतिमाएँ विराजमान कर दीं। बारह सभा में—१. गणधर मुनि वर्ग २. कल्पवासिनी देवियाँ ३. आर्यिका-श्राविका ४. ज्योतिर्वासी देवियाँ ५. व्यंतर देवियाँ ६. भवनवासी देवियाँ ७. भवनवासी देव ८. व्यंतर देव ९. ज्योतिर्वासी देव १०. कल्पवासी देव ११. चक्रवर्ती आदि मनुष्य और १२. तिर्यंचगण।

इस प्रकार बारह सभाओं में लोग बैठ गये। पर्दा खुलते ही सभा से जय-जयकारे के नारे लगने शुरू हो गये। कुछ क्षण बाद भगवान की दिव्यध्वनि को बतलाते हुए सबसे बड़े मुनि श्री निर्मलसागर जी ने मंगलाचरण किया, मुनिश्री वर्धमान सागरजी (दक्षिण वालों) ने प्रवचन किया एवं बाद में मेरा प्रवचन हुआ, जिसमें मैंने समवसरण रचना की महिमा बतलाई।

गणिनीपद से विभूषित —

समवसरण विघटन के पश्चात् मेरी प्रमुख शिष्या आर्यिका जिनमती ने आगे होकर गणिनीपद की क्रियायें करवायीं, पुनः नूतन पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र देकर 'गणिनीपद' से मुझे विभूषित कर उपस्थित सभी आर्यिकाओं ने 'वंदामि' किया और श्रावक-श्राविकाओं ने 'गणिनी आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी की जय' बोलते हुए भक्ति प्रदर्शित की। इसी दिन रात्रि में शास्त्री परिषद का अधिवेशन हुआ।

२ मई, वैशाख शु. १२ —

प्रातः पांडाल में मंच पर कैलाशपर्वत का दृश्य बनाया गया और वहाँ से भगवान को मोक्ष जाने के बाद इन्द्रों द्वारा, खासकर अग्निकुमार द्वारा, मुकुट से अग्नि निकालकर भगवान के शरीर की संस्कारस्वरूप हवन विधि की गयी पुनः निर्वाण कल्याणक की क्रियाएँ की गयीं।

धर्मध्वज स्थापना —

जम्बूद्वीप के ठीक सामने पूर्व में तथा इधर त्रिमूर्ति मंदिर के ठीक सामने उत्तर में ऊँचे ध्वजदण्ड में ध्वजा लगाई गई थी। मंत्रोच्चारणपूर्वक यह धर्मध्वजा चढ़ाई गई। श्री रमेशचंद जैन पी.एस. जैन मोटर्स दिल्ली वालों ने यह धर्मध्वजा फहरायी। उस समय जैन धर्म की जय-जयकार से सारा नभमण्डल गूँज उठा। उमड़ती भीड़ को नियंत्रित करने में जयपुर के कुशल स्वयंसेवकों की मैंने सभा में प्रशंसा की। धर्मध्वज का महत्त्व बतलाया। आज यह धर्मध्वज यहाँ हस्तिनापुर जंबूद्वीप में मेघपटल को छूता हुआ सदा लहराता रहता है और भव्य जीवों को मानों यहाँ बुलाता ही रहता है। यह हमेशा-हमेशा के लिए उच्च गगन में फहराता रहे, कभी झुके नहीं, यह मेरी मंगल कामना है।

जम्बूद्वीप में जिनबिम्ब विराजमान हुए —

मोक्ष कल्याणक के पश्चात् जंबूद्वीप रचना के अंदर वहाँ विराजमान होने वाली जिनप्रतिमाओं को हाथ में लेकर मस्तक पर रखकर उन-उन के दातारगण वहाँ पहुँच गये। पांडाल से लेकर जंबूद्वीप रचना तक महाराष्ट्र के स्वयंसेवक मधुर वाद्य बजा रहे थे। चतुर्विध संघ के मंगल सानिध्य में जिनप्रतिमाएँ विराजमान की जा रही थीं। कहीं मुनिश्री निर्मलसागर जी, कहीं मुनिश्री विपुलसागर जी आदि अपने हाथ से वेदी में अचलयंत्र रखकर जिनप्रतिमाएँ विराजमान करवा रहे थे। कहीं मैं वेदी में यंत्र रखकर, कहीं जिनमती आदि आर्यिकायें वेदी में यंत्र रखकर, जिनप्रतिमाएँ विराजमान करा रही थीं।

रथयात्रा —

जिनबिम्ब स्थापना के अनन्तर रथयात्रा निकाली गयी। इसमें श्रीजी को विराजमान करने के बाद दिल्ली के प्रेमचंद जैन दाने, वालों ने रथ को चलाने का सौभाग्य प्राप्त किया। रथयात्रा समारोह सम्पन्न होने के बाद वापसी में श्रीजी की प्रतिमा को महावीर मंदिर में विराजमान किया गया।

समापन समारोह —

२ मई को मध्यान्ह में मंत्री प्रो. वासुदेव सिंह की अध्यक्षता में समापन समारोह मनाया गया। प्रतिष्ठा समिति के महामंत्री रवीन्द्र कुमार ने समस्त कार्यकर्ताओं को, प्रशासन के समस्त अधिकारियों को तथा समस्त स्वयंसेवक मंडलों को एवं समस्त अन्य सहयोगियों को प्रो. वासुदेव सिंह के करकमलों से जम्बूद्वीप का प्रतीक प्रशस्ति-पत्र एवं रजत पदक दिलाया एवं सभी महानुभावों का आभार व्यक्त किया।

मैंने प्रतिष्ठा समिति के अध्यक्ष मोतीचन्द जैन, कार्याध्यक्ष गणेशीलाल रानीवाला एवं महामंत्री रवीन्द्र कुमार जैन को बहुत-बहुत आशीर्वाद देकर उनके कार्यों की सराहना की एवं सभी कार्यकर्ताओं को मंगल आशीर्वाद दिया।

सम्मान के पश्चात् प्रो. वासुदेवसिंह ने प्रतिष्ठापना महोत्सव के समापन की घोषणा करते हुए कहा—

"महोत्सव संपन्न होने का अर्थ यह नहीं है कि जम्बूद्वीप के कार्यों की 'इति' हो गई। यहाँ की कमेटी द्वारा प्रतिवर्ष यहाँ जंबूद्वीप मेला आयोजित किया जावे। उत्तर प्रदेश सरकार मेले में पूर्ण सहयोग देती रहेगी।"

मैंने पहले ही उनसे अहिंसा दिवस की घोषणा के बारे में चर्चा की थी। उसी के अनुसार उन्होंने उ.प्र. शासन की ओर से वर्ष के ८ दिवस 'अहिंसा दिवस' के नाम से मनाने की घोषणा की।

१. चैत्रवदी नवमी—ऋषभ जयंती २. चैत्र शुक्ला ९—रामनवमी ३. चैत्र शुक्ला १३— महावीर जयंती, ४. वैशाख शु. ३—अक्षयतृतीया, ५. आश्विन शु. १५—शरद पूर्णिमा, ६. दो अक्टूबर—गांधी जयंती, ७. वैशाख शु. पूर्णिमा—बुद्धजयंती, ८. फाल्गुन कृ. १४—शिवरात्रि।

इन आठ दिनों में उत्तर प्रदेश शासन की ओर से सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में मद्य-माँस की दुकानें बंद रहेंगी। इस घोषणा का सभा में भारी करतल ध्वनि से स्वागत किया गया।

ज्ञानज्योति वर्ष घोषणा —

समारोह के महामंत्री रवीन्द्र कुमार ने कहा कि जंबूद्वीप ज्ञानज्योति की यहाँ अखंड स्थापना हुई है। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की घोषणा के अनुसार समस्त भारतवासी २८ अप्रैल १९८५ से २८ अप्रैल १९८६ तक 'ज्ञानज्योति वर्ष' मनायें। इस ज्ञानज्योति वर्ष के कार्यक्रम सभी को यहाँ से सूचित किये जायेंगे। जिनको वर्ष में निम्न दिवसों में विशेष समारोह से मनाने का निर्णय लिया गया था। यथा—(१) ४ जून १९८६ को ज्ञानज्योति प्रवर्तन दिवस समारोह मनाइये। ऐसे ही (२) भादों शुदी २-आचार्य शांतिसागर जी महाराज का सल्लेखना दिवस मनाइये। (३) आश्विन सुदी १५ शरद पूर्णिमा दिवस मनाइये। (४) पौष सुदी १० भगवान शांतिनाथ का केवलज्ञान दिवस मनाइये। (५) वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया दिवस मनाइये। इन पाँच दिनों में विशेष सभा आदि का आयोजन कीजिये।

मंगल आशीर्वाद —

समापन के अवसर पर मैंने अपने आशीर्वादात्मक प्रवचन में कहा—

"११ वर्ष पूर्व मैंने यहाँ जिस बीज को आरोपित किया था, आज वह वृक्ष रूप में फलित हुआ है, जिसे देखकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। भारतवर्ष की समस्त जैन समाज के योगदान से यह कार्य संपन्न हुआ है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। उसके साथ मुझे गौरव है कि मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार जैसे दो शिष्य मुझे मिले, जिनके बल पर आज सारे कार्य सम्पन्न हुए। इन्हीं के साथ दिल्ली के अनेक महानुभाव लाला श्यामलाल जी ठेकेदार एवं गणेशीलाल जी रानी वाला (कोटा) आदि जुड़े हुए हैं। इन सभी भक्तों से मैंने जो भी कार्य कहा, इन लोगों ने संकोच नहीं किया। यदि मैंने अर्धरात्रि में भी इन्हें कार्य सौंपा, तो इन्होंने सहर्ष किया है, तभी आज यह संस्थान चतुर्मुखी प्रगतियों का केन्द्र बना हुआ है। ज्ञानज्योति भ्रमण के द्वारा सारी समाज का जो असीम सहयोग प्राप्त हुआ है, वह अविस्मरणीय रहेगा।"

पुनः मैंने सभी को मंगल आशीर्वाद दिया और कहा—आप सभी के भावों में सदा धर्म की वृद्धि होती रहे, धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य भाव रहे ताकि धर्म, समाज और राष्ट्र एकता के सूत्र में बंध सके।

अनंतर भगवान ऋषभदेव के जयकारे के साथ समापन की घोषणा हुई। बाद में प्रतिष्ठाचार्य ने २२ अप्रैल को जिस ध्वजा का आरोहण कराया था, उस स्थान पर जाकर मंत्रोच्चारणपूर्वक उन्हीं प्रो. वासुदेव सिंह के द्वारा उस ध्वजा का अवरोहण किया पुनः प्रो. वासुदेव ने अपने श्रद्धा सुमन अर्पित किये। इस प्रकार प्रतिष्ठा का महान् कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

२ मई १९८५ के दिन ही मुनि संघ ने विहार कर दिया था। मात्र आर्यिका जिनमती जी और आर्यिका शुभमती जी यहाँ रुक गई थीं।

प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग —

इस प्रतिष्ठापना समारोह में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज, परमपूज्य आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज, आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज, आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज आदि आचार्यों के आशीर्वाद प्राप्त हुए थे। मूडविद्री के भट्टारक चारुकीर्ति जी एवं लातुर के भट्टारकजी ने महोत्सव में पधारकर जम्बूद्वीप के कार्यकर्ताओं को आशीर्वाद दिया था।

प्रतिष्ठाचार्य ब्रह्मचारी सूरजमलजी, सहयोगी प्रतिष्ठाचार्य ब्र. कजोड़मल जी, पं. श्रीलाडलीप्रसाद जी तथा पं. धर्मचंद जी (तिवरी वाले) आदि ने विधिविधान के कार्यों को सुचारू किया एवं कराया।

उत्तर प्रदेश शासन का सहयोग विशेष होने से मुख्यमंत्री तिवारी जी, प्रो. वासुदेव सिंह, खाद्य एवं आपूर्ति मंत्री यहाँ पधारे। साथ ही मेरठ के जिलाधिकारी श्री एल.आर.सिंह, आयुक्त श्री गोस्वामी जी तथा अन्य विभागीय लोगों ने बहुत कुछ सहयोग दिया। केन्द्रीय सरकार के सहयोगी श्री जे.के. जैन एवं रक्षामंत्री श्री पी.वी. नरसिंहराव आये। इन्होंने ज्ञानज्योति की अखंड स्थापना की।

सार्वजनिक निर्माण विभाग के अधीक्षण अभियंता श्री ब्रजभूषण कुमार एवं अधिशासी अभियंता श्री एम.पी. खरे ने शासन के आदेशानुसार ८४ फुट ऊँचे सुमेरु पर चढ़ने के लिए लोहे के पाईप की सीढ़ियों का निर्माण कराया।

सुरक्षा के लिए पुलिस एवं होमगार्ड्स दोनों विभागों का सराहनीय सहयोग रहा है।

धार्मिक संस्थानों के स्वयंसेवकों के भी बहुत कुछ सहयोग रहे हैं। इन सभी कारणों से यह प्रतिष्ठा उत्तर प्रदेश में इस शताब्दी में अभूतपूर्व ही रही है।

इस प्रतिष्ठा की महती विशेषताओं को देखकर कुछ ईर्ष्यालुजनों ने अनेक विघ्न उपस्थित करने चाहे किन्तु इतने महान कार्य में वे सब नगण्य रहे हैं अतः उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है। चूंकि गुलाब के फूल में कांटे तो रहते ही हैं लेकिन फूल की सुगंध में मग्न हुए लोग उनकी परवाह नहीं करते हैं।

£ ८४ ¤

त्रिमूर्ति स्थापना —

प्रतिष्ठा के बाद त्रिमूर्ति मंदिर में मुख्य वेदी में कमल बनवाया गया पुनः तीनों प्रतिमाजी खड़ी करने के लिए कमल रखे गये। २० जून १९८५, आषाढ़ शु. २ गुरुवार को बीचोंबीच के कमल पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति खड़ी की गयी। ११ बजकर ५५ मिनट पर भगवान ऋषभदेव विराजमान हुए, अनंतर दायीं ओर के कमल पर १ बजकर ७ मिनट पर भगवान भरत की मूर्ति खड़ी की गई पुनः तृतीय कमल का काम पूरा न हो सकने से आगे पुनः २२ अगस्त १९८५, द्वितीय श्रावण शु. ७ को प्रातः ७ बजकर ४५ मिनट पर भगवान बाहुबली की मूर्ति खड़ी की गई है। अब तो इस वेदी का तोरण द्वार बनकर आजू-बाजू में सीढ़ियां भी बन चुकी हैं।

इन्द्रध्वज विधान —

२४ जून से ३ जुलाई तक यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में इन्द्रध्वज विधान के तीन मंडल बनाये गये। तीन जगह के लोगों ने विधान किया। अमरचन्द जैन, होमब्रेड मेरठ, प्रद्युम्नकुमार छोटी शाह, टिकैतनगर और सुखानंद जैन, बहराइच तीनों ये प्रमुख विधानकर्ता थे।

इसी मध्य मुझे एक फुड़िया हो गई। पक गई तो बैठने में बहुत दर्द हो गया। तब मैं यहाँ रत्नत्रय निलय में लेटे-लेटे इन्द्रध्वज की पूजन और जयमालाएँ सुनती रहती थी। उपयोग में बहुत ही शांति होती थी। वेदनाजन्य आर्तध्यान से मन हटकर उन पूजा के छंदों में इतना अधिक रम जाता था कि चित्त में शांति आ जाती थी। यह विधान पं. शिखरचंद प्रतिष्ठाचार्य (भिंड वालों) ने कराया था। संगीत की मधुर ध्वनि और

जगह-जगह अर्थ को समझाने की शैली में बहुत ही अच्छा लगता था, किन्तु मैं मंदिर में जाकर बैठ नहीं पाती थी अतः सभी श्रावकों का मन उदास रहता था।

वर्षायोग स्थापना —

१ जुलाई १९८५ आषाढ़ शु. १४ को वर्षायोग स्थापना के समय मैं लेटी रही थी, तब प्रार्थना करने वाले श्रावकों की आँखों में आँसू आ गये थे। लेटे ही लेटे मैंने सारी क्रियायें सम्पन्न की थी।

पुनः अलसी की पुल्टिस से यह फुड़िया आषाढ़ शु. १५ को प्रातः अपने आप फूट गई, जिससे शांति हो गई थी।

जम्बूद्वीप विधान —

भादों कृष्णा दूज, १ अगस्त से मैंने जंबूद्वीप विधान बनाना शुरू किया। कुछ ही पूजाएँ शेष रह गई थीं कि भादों शु. १२ से मुझे ज्वर आना शुरू हो गया। पूजा बनाते समय के संस्कार अस्वस्थता में भी चलते रहते थे।

अस्वस्थता —

इस ज्वर को वैद्यों ने 'वायरस' नाम से बताया। यह ज्वर मुझे एक माह से अधिक समय तक रह गया।

बाद में पथ्य देने के अनंतर 'लीवर' इतना कमजोर हो चुका था कि पन्द्रह दिन तक आहार के तत्क्षण बाद ही उल्टी हो जाती थी। पेट में एक बूंद पानी नहीं टिकता था। इसी बीच कई दिन तक पेट में भयंकर दर्द उठकर अतिसार (दस्त) भी हो गये थे। उसमें 'तारपीन' के तेल को पानी में डालकर पेट पर सेंक लिया करते थे।

कुल मिलाकर हालत सीरियस हो गई। बचने की उम्मीद समाप्त हो चुकी थी। यहाँ बराबर चौबीस घंटे अखंड रूप से णमोकार मंत्र, इन्द्रध्वज की जयमाला, भक्तामरस्तोत्र, शान्तिभक्ति, बारहभावना, शान्तिमंत्र आदि पाठ चल रहे थे।

वैयावृत्ति में आर्यिका शिवमती, ब्र. माधुरी, कु. बीना, मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार प्रमुख थे। वैसे पं. सुधर्मचंद, नरेश कुमार, ब्र. सुभाषचंद, कुमुदनी, ब्र. श्यामाबाई आदि ने भी खूब सेवा की। बहन मालती ने आकर ३-४ महीने रहकर बहुत ही सेवा की। मैं समझती हूँ कि इन सबकी वैयावृत्ति, अनुकूल परिचर्या, अनवरत मंत्र पाठ और स्वाध्याय का सुनाना, इसी से मुझे असाता के तीव्रोदय को झेलने में बहुत बड़ा बल मिला।

यहाँ इंदौर, कटनी, मेरठ और दिल्ली के पाँच वैद्य उपस्थित थे। ऊहापोह चल रहा था किन्तु कोई न तो रोग को समझ पाये थे, न प्रकृति संभाल पा रहे थे।

१९ नवम्बर, कार्तिक शु ८ को सहसा रवीन्द्र ने मोतीचन्द से निर्णय किया कि —

"किसी विशेष डाक्टर को बुलाकर एक बार दिखाकर रोग का निर्णय कर लेना चाहिए।"

मेरठ से डाक्टर अग्रवाल को लाये। उन्होंने पहले देखते ही कह दिया कि — "पीलिया है।" अनंतर मूत्र का परीक्षण करवाया।

मैंने तथा सभी ने यह कहा कि —

"पीलिया नहीं होना चाहिए क्योंकि नाखून पीले नहीं हैं।"

किन्तु डाक्टर ने विधिवत् मूत्र परीक्षण कराकर 'पीलिया' घोषित कर दिया। तब माधुरी ने कहा — "अब आप सभी डाक्टर-वैद्य चुपचाप बैठो, मैं दवाई चलाऊँगी।'

चूँकि इससे तीन वर्ष पूर्व आर्यिका रत्नमती जी को दिल्ली में पीलिया होने पर वैद्य अतरसेन जैन, जो कि ९५ वर्ष की उम्र के थे, उन्होंने उनके लिए एक यूनानी नुस्खा बताया था, जिससे मात्र 'कासनी' के बीज, 'सौंफ' आदि की ठंडाई दिलायी थी। उससे उन्हें खूब लाभ हुआ था पश्चात् अंत तक यही ठंडाई उन्हें दी जाती रही थी।

इतना सुनकर दवाई को सही कहकर भी डाक्टर अग्रवाल ने दृढ़तापूर्वक कहा कि —

"आप इन माताजी को दो दिन के बाद बचा नहीं सकते। इनकी जितनी कमजोर स्थिति हो चुकी है, उससे आप हमें यह केस दे दीजिये। मैं मात्र ऊपर से 'ग्लूकोस' चढ़ाकर इन्हें ठीक कर दूँगा। इनके पेट में औषधि टिकना, मुख से कोई चीज जाकर हजम होना कठिन है। झट उल्टी हो जायेगी।"

डाक्टर के अत्यधिक रूप से कहने पर मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार ने कहा—

"ग्लूकोस चढ़ाने की बात कहना सर्वथा बेकार है। आप कुछ और उपाय बताओ।"

डाक्टर ने बार-बार कहा कि—

"या तो आप इन्हें एक-एक चम्मच गन्ने का रस आधा-आधा घंटे पर देते रहें, तो शायद कुछ लाभ होगा या ग्लूकोस, इसके सिवाय आप इन्हें अब बचा नहीं सकते हैं।"

बहुत कुछ चर्चा होने के बाद रवीन्द्र के मस्तिष्क में एक बात आई कि—

"जब माताजी को एक बार ही देना है और तत्काल ही वमन होकर निकल जाता है। डाक्टर बार-बार देने को कहते हैं और जब मूलाचार में आहार का काल अधिकतम सवा दो घंटे का है, तो उतनी देर तक माताजी को चौके में बिठाया जाये और धीरे-धीरे कुछ दवा और रस एक-एक चम्मच ही क्यों न दिया जाये?"

यह बात डाक्टर को भी जंच गई। तब रवीन्द्र कुमार और मोतीचन्द ने सभी वैद्यों से भी परामर्श लेकर यही निर्णय बनाया। फिर क्या था, अगले दिन ऐसी ही व्यवस्था बनाई।

मुझे पाटे पर लिटाकर पड़गाहन कर चौके में ले गये, बिठाया गया। नवधाभक्ति के बाद रवीन्द्र, मोतीचन्द, माधुरी ने एक स्वर से बड़ा शांतिमंत्र शुरू किया। तीन बार शान्तिमंत्र बोलकर एक छोटी सी कटोरी में जल लेकर मेरी अंजुलि में दिया पुनः तीन बार शांतिमंत्र बोलने के बाद उस छोटी सी कटोरी में जरा सी ठंडाई लेकर अंजुलि में दिया। ऐसे ही तीन-तीन बार शांतिमंत्र बोल-बोलकर धीरे-धीरे वह आधा-पाव ठंडाई मेरे पेट में पहुँचाई और ऐसे ही मंत्र बोल-बोलकर आधा-पाव गन्ने का रस भी मेरे पेट में पहुँचाया गया। इतने से आहार में लगभग ३५ मिनट लगा दिये। बाद में कुल्ला करते समय प्रतिदिन के अनुसार आज भी वमन हो गया किन्तु हर दिन की अपेक्षा कम हुआ, कुछ पेट में रुक गया। तब सभी ने संतोष की सांस ली और ऐसा माना कि—

"अब इस प्रयोग से यह दवा फायदा कर जायेगी।"

यह दिवस कार्तिक शुक्ला एकादशी का था। अब इसी तरह से एक-एक चम्मच रस बढ़ाते हुए एक सप्ताह तक यह क्रम चला। दूसरे दिन पुनः वमन हुआ था किन्तु बहुत जरा सा हुआ था। शायद तीसरे दिन से वमन होना रुक गया और स्वास्थ्य में सुधार होने लगा।

इन डाक्टर अग्रवाल को ७ दिन बाद पुनः बुलाया गया। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे बोले—

"अरे! आप लोगों ने क्या जादू कर दिया? मात्र कासनी के बीज की ठंडाई से आपने माताजी को कैसे बचा लिया? पुनः वे बोले-

"वास्तव में यह माताजी की तपश्चर्या और साधना का ही प्रभाव है कि जिससे इन्हें पुनः जीवन प्राप्त हुआ है।"

यहाँ समझने का महत्वपूर्ण विषय यह है कि—

आजकल श्रावक मुनियों के ग्रंथ मूलाचार आदि को पढ़कर मुनियों के अवगुणों को देखने में, उनकी टीका-टिप्पणी करने में ही उस स्वाध्याय का उपयोग करके शास्त्रों को शस्त्र बना लेते हैं किन्तु यहाँ गुरुमुख से—मेरे द्वारा इन शिष्यों ने मूलाचार को पढ़ा था। दो-तीन बार मैंने इन शिष्यों को मूलाचार पढ़ाया था, स्वाध्याय कराया था। इसमें मुनियों के मूलगुणों में 'एकभक्त' नाम का एक मूलगुण है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु[1]।।३५।।

सूर्योदय और अस्त के काल में से तीन-तीन घड़ी से रहित मध्यकाल के एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना यह 'एकभक्त' नाम का मूलगुण है।

यहाँ मुहूर्त में अड़तालिस मिनट माने जाते हैं अतः तीन मुहूर्त में ४८+४८+४८=१४४ मिनट हुए। एक घंटे में साठ मिनट होने से १४४÷६०=२ घंटे, २४ मिनट होते हैं। मुनियों के आहार का दो घंटे चौबीस मिनट तक अधिकतम काल है।

रवीन्द्र कुमार ने मूलाचार का स्वाध्याय कर उसका सदुपयोग किया और उनका यह स्वाध्याय मेरे जीवनदान में कारण बन गया।

धीरे-धीरे इस ठंडाई से ठंड के दिन में कभी-कभी उल्टी हो जाती थी और अतिसार भी कंट्रोल में नहीं आ रहे थे। कई वैद्य-हकीम आये। इसी ठंडाई में कुछ न कुछ हेर-फेर कराते रहे। अंत में २८ जनवरी १९८६ को मेरठ के शेफुद्दीन[2] हकीम को लाया गया। इन्होंने भी इसी ठंडाई में कुछ हेर-फेर किया और संग्रहणी के लिए जो दवा प्रारंभ में चली थी, उस 'पर्पटी' को देने की सलाह दी। तब से सन् १९८५ से लेकर आज तक वही ठंडाई चल रही है और मेरा स्वास्थ्य प्रायः सामान्य चल रहा है।

यह 'पीलिया' का अंश तथा किंचित् ज्वर का अंश तो मुझे वैशाख तक-अप्रैल १९८६ तक रहा। उसके बाद अब मात्र कमजोरी है। अधिक बोलना, अधिक लिखना, अधिक बैठना और अधिक चलना नहीं होता है। कदाचित् अधिक श्रम हो जाये, तो कई दिन विश्राम करना पड़ता है।

इन्द्रध्वज महामंडल विधान —

इस बीमारी के मध्य में ही १८ अक्टूबर से २७ अक्टूबर १९८५, तिथि आश्विन शु. ५ से पूर्णिमा तक पुनः अमरचंद होमब्रेड मेरठ वालों ने जंबूद्वीप स्थल पर त्रिमूर्ति मंदिर में इन्द्रध्वज विधान का विशाल आयोजन किया। इसमें भी प्रतिष्ठाचार्य पं.श्री शिखरचंद जी भिंड वाले पधारे थे। इस विधान में भी मैं मंदिर में नहीं जा सकी, समापन के समय ज्वर कम होने से रत्नत्रय निलय के हॉल में कुछ देर बैठ गई थी।

स्वर्णजयंती समारोह —

भक्तों ने भक्ति के वश हो इसी बीमारी के मध्य इस वर्ष मेरा स्वर्ण जन्म जयंती महोत्सव करने का विचार बनाया था अतः २७ अक्टूबर रविवार के दिन रथयात्रा महोत्सव किया पुनः सुमेरु पर्वत के समस्त जिनबिम्बों का १००८ कलशों से अभिषेक कराया। अमरचंद मेरठ ने आगंतुक यात्रियों के लिए 'प्रीतिभोज' का आयोजन किया पुनः बनाये गये पांडाल में मेरे ५२वें वर्ष के प्रवेश में स्वर्ण जयंती समारोह का भव्य आयोजन किया। इस मंगल अवसर पर श्री जे.के. जैन (दिल्ली) ने भी पधारकर मेरे प्रति विनयांजलि अर्पण करते हुए जंबूद्वीप प्रतिष्ठा एवं ज्ञानज्योति के कार्य-कलापों का उल्लेख किया। इस अवसर पर टाउन से लेकर नशिया मार्ग तक ५२ गेट बनाये गये थे। ५२ गरीब महिलाओं को मदनलाल जैन, टिकैतनगर वालों ने साड़ियाँ बांटी थीं, समस्त कार्यक्रम पांडाल में सम्पन्न हुए।

मैं इतनी कमजोर हो चुकी थी कि पांडाल में नहीं जा सकी क्योंकि मुझे तो ज्वर ही चल रहा था अतः आगंतुक अतिथि श्री जे.के. जैन, पं. लालबहादुर जैन शास्त्री आदि सभी महानुभाव यहीं 'रत्नत्रयनिलय' में आकर दर्शन कर गये। ज्यादा बोलने की भी शक्ति नहीं थी। आगंतुक यात्रियों को दरवाजे के बाहर से ही दर्शन कराया गया। बेचारे यात्री उदास मन रहे, मेरी अस्वस्थता से किसी को भी कार्यक्रम में आनंद नहीं आया।

---

१. मूलाचार अ. १। २. राष्ट्रपति के इलाज के लिए नियुक्त।

युवा परिषद के अध्यक्ष —

१३ अक्टूबर को यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद की केन्द्रीय कार्यकारिणी की बैठक हुई जिसमें सर्वसम्मति से रवीन्द्रकुमार को अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। सभी मेरे पास आशीर्वाद लेने आये। इससे पूर्व अनेक बार युवा परिषद के अनेक युवकों ने प्रार्थना की थी कि 'माताजी! रवीन्द्र कुमार को युवा परिषद के अध्यक्ष के लिए स्वीकृति दे दो' किन्तु मैंने हमेशा यही कहा था कि जंबूद्वीप के निर्माण व प्रतिष्ठा तक इनके ऊपर कार्यभार बहुत है किन्तु अब मैंने रवीन्द्र कुमार को अध्यक्ष बनाने की स्वीकृति दे दी। युवकों को बहुत प्रसन्नता हुई। रवीन्द्र कुमार को भी मैंने यही आशीर्वाद दिया कि—

"युवा जगत् में धर्म की सर्वतोमुखी प्रगति करो, सृजनात्मक कार्यों में अधिक शक्ति लगाओ, न कि विरोधात्मक कार्यों में। हाँ! धर्म, धर्मात्मा और धर्मायतन की रक्षा के लिए विरोध से डरना भी नहीं चाहिए।"

इसके बाद सभी ने मेरे शीघ्र स्वास्थ्यलाभ की मंगल कामना की।

इन्द्रध्वज विधान —

मेरी अस्वस्थता में ही १७ नवम्बर से २७ नवम्बर १९८५, कार्तिक अष्टान्हिका पर्व में मदनलाल जैन, टिकैतनगर वालों ने यहाँ हस्तिनापुर के त्रिमूर्ति मंदिर में इन्द्रध्वज विधान का आयोजन किया। इन दिनों तो मैं अधिक ही अस्वस्थ थी। मेरे जीवित रह सकने में भी संदेह चल रहा था। मैं बार-बार नियम सल्लेखना ले लेती थी। इन दिनों मैं माधुरी को यह समझाया करती थी कि—"मेरी अधिक अस्वस्थता में मेरे सामने रोना नहीं। देखो! जैसे मैंने आर्यिका रत्नमती जी की बढ़िया समाधि करायी है वैसे ही कराना, धैर्य रखना। ऐसे पाठ सुनाना.....,ऐसी परिचर्या करना आदि।" तब माधुरी भी कहती—"माताजी! मुझे धैर्य है, मैं मोह करके आपके प्रतिकूल नहीं बनूँगी।" इत्यादि रूप से आश्वासन दिया करती थी। इसी मध्य १९ नवम्बर को 'पीलिया' रोग का निर्णय हो जाने से पीलिया की औषधि पहुँचने से आराम होना शुरू हो गया था। मैं इस विधान में भी मंदिर में नहीं जा सकी, यहीं से लेटे-लेटे सारी पूजाएँ सुनती रही थी। ये विधान और इनकी पूजा व जयमालाएँ भी मेरी बीमारी में बहुत बड़ी औषधि का काम कर रही थीं।

श्री कुंदकुंद देव ने कहा भी है—

"जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतं।
जन्मजराव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ।।

जिनेन्द्र भगवान् के वचन परम औषधि रूप हैं, ये विषय सुखों का विरेचन—त्याग कराने वाले अमृतस्वरूप हैं, जन्म, जरारूप व्याधि को नष्ट करने वाले हैं और सर्वदुःखों का भी क्षय करने वाले हैं, ऐसा श्रीकुंदकुंददेव का कहना है।

वास्तव में असाता कर्म को मंद करने के लिए जिनेन्द्र देव की भक्ति, स्तुति और मंत्र से बढ़कर भला और क्या उत्तम उपाय है?

श्री वादिराज महामुनि ने भी तो कहा है—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात् ।
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव! निन्ये त्वयेदम्।।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वांतगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि।।

हे नाथ! स्वर्ग से इस मर्त्यलोक में आपके आने के छह महिने पहले ही भव्यों के पुण्य से यह पृथ्वी स्वर्णमयी हो गई थी अर्थात् इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने रत्नों की, स्वर्ण की वर्षा करके इस पृथ्वी को स्वर्णमयी मना दिया था। इस ध्यानरूपी द्वार से आप मेरे मनरूपी घर में प्रविष्ट हो चुके हैं पुनः यह मेरा शरीर यदि

सुवर्णमय कर दो, तो भला इसमें आश्चर्य ही क्या है? अर्थात् हृदय में आपको विराजमान कर लेने से यह रुग्ण शरीर यदि सुवर्णमय बन जावे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

इन्हीं पवित्र भावनाओं को भाते रहने से मैंने इतने उग्र असाता कर्मोदय को झेल लिया था। इस प्रसंग में मुझे आध्यात्मिक समयसार की गाथायें भी स्मरण में आती रहती थीं। यथा —

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।

मैं अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ और सदा अमूर्तिक हूँ। अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। इसी प्रकार श्री पूज्यपाद स्वामी के श्लोक भी स्मृतिपथ पर आते रहते थे। यथा—

न मे मृत्युः कुतो भीतिः न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले।।

मुझे मृत्यु नहीं है तो भय किससे? मुझे रोग नहीं है तो पीड़ा किससे? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न युवा ही हूँ, ये तो सब पुद्गल की पर्यायें हैं। इसी प्रकार से—

'परमानन्दसंयुक्तं निर्विकारं निरामयं' आदि पंक्तियाँ भी असाता को झेलने में शक्ति प्रदान करती रहती थीं और बाह्य में 'कासनी के बीज की ठंडाई' मात्र पीलिया रोग को नष्ट करने में समर्थ हुई थी, जैसा पहले लिखा जा चुका है।

£ ८५ ¤

लेखन कार्य प्रारंभ —

मुझे जरा-जरा स्वास्थ्य लाभ होने लगा था किन्तु मैं उठकर खड़ी नहीं हो सकती थी अतः चलना तो बहुत दूर की बात थी। मुझे पाटे पर बिठाकर मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार आहार के लिए ले जाते थे और कमरे से बाहर धूप में भी पाटे से ही लाते-ले जाते थे। फिर भी पौष कृ. २, रविवार, २९ दिसम्बर १९८५ के प्रातः काल मैंने लेखन कार्य को हाथ में लिया और आधा घंटे बैठकर लेखन किया। तब मुझे ऐसा लगा कि मानो मुझे आत्मा की 'खुराक' मिल गई। 'लेखन करना' यह मेरा एक व्यसन सा बन गया था और आज भी यही हाल है कि जिस दिन लेखन न हो, ऐसा लगता है कि आज उपवास हो गया अथवा कुछ खो गया है या आज कुछ काम ही नहीं हुआ है।

उस समय सम्यग्ज्ञान के लिए द्रव्यानुयोग के लेख पंचास्तिकाय से बनाये थे और मूलाचार के आधार से छह आवश्यक क्रियाओं के छह लेख बनाये थे।

सम्यग्ज्ञान में बाधा —

सम्यग्ज्ञान के चार अनुयोग और नारी जगत् , बाल जगत् को मैं ही लिखती थी। इस वर्ष प्रतिष्ठा के बाद गर्मी के निमित्त से और कुछ कारण विशेष से मैं सम्यग्ज्ञान के पूरे लेख नहीं तैयार कर पायी थी कि बीच में बीमार पड़ गई अतः सितम्बर अंक तो जैसे-तैसे निकल गया किन्तु अक्टूबर और नवम्बर अंक रुक गये। चारों तरफ से सम्यग्ज्ञान के पाठकों के पत्र आने लगे परन्तु किया क्या जा सकता था? मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार और माधुरी भी मेरी परिचर्या में रात-दिन एक किए हुए थे तथा इन्होंने पहले कभी अनुयोग आदि के लेख बनाये भी नहीं थे।

जब एक दिन इन लोगों ने सम्यग्ज्ञान के रुकने की चर्चा की, तब मुझे चिंता हुई और मैंने कहा—

"देखो! किसी फाइल में 'ऐतिहासिक आर्यिकाओं' के बारे में बहुत सा मैटर है, उसे निकालो और तीन माह का 'विशेषांक' बना दो। इसके बाद मैं आगे के अनुयोगों के लेख बना दूँगी।"

इस कथन के अनुसार सम्यग्ज्ञान का 'अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर' इन तीन माह का "ऐतिहासिक आर्यिकायें" नाम से विशेषांक निकाल दिया गया पुनः आगे जनवरी माह १९८६ में मैंने चारों अनुयोगों के

लेख तैयार किये और नारी जगत् भी तैयार किया तथा कु. माधुरी को पास में बिठाकर 'धन्यकुमार' की कथा देकर 'बालजगत्' बनवाये। तब से पुनः आज तक सम्यग्ज्ञान अबाधगति से निकल रहा है। अब मैंने नारी जगत् भी माधुरी से बनवाना शुरू कर दिया है और ऐसा सोचा है कि—

"आगे[१] पन्द्रहवें वर्ष से चारों अनुयोग और नारी जगत् , बाल जगत् इन छहों स्थायी स्तंभों को इन्हीं शिष्यों से लिखाया जावे। क्षुल्लक मोतीसागर, ब्र. रवीन्द्र कुमार और ब्र. माधुरी ये तीनों मिलकर लेख तैयार करें चूंकि ये तीनों शिष्य मेरी रीति-नीति, मेरी विचारधारा को पूर्णतया आत्मसात् किये हुए हैं।

'इस अस्वस्थता में भी मैं लिखती हूँ' यह सुनकर डाक्टर-वैद्य आश्चर्य करने लगे और मना करने लगे, तब मैंने कहा—

"मेरी दवाई यही है अतः मैं थोड़ा-थोड़ा तो लिखूँगी ही।"

पं. फूलचंद शास्त्री द्वारा स्वाध्याय —

पंडित फूलचंद जी सिद्धान्तशास्त्री उन दिनों यहाँ बड़े मंदिर पर आये हुए थे। यहीं सपत्नीक रह रहे थे। वे कई बार मुझे देखने आये। देर तक बैठते थे और यह भाव व्यक्त करते कि—

"मैं माताजी की क्या वैयावृत्ति करूँ?"

कई बार उन्होंने कुछ स्वाध्याय सुनाने के लिए कहा किन्तु मैं अधिक स्वाध्याय सुनने और चर्चा आदि को झेलने में समर्थ नहीं थी अतः टाल देती थी पुनः कई बार कहने के बाद मैंने रवीन्द्र कुमार से कहा—

"तुम स्वाध्याय के मध्य प्रश्नोत्तर चर्चा विशेष न करो, तब तो पंडित जी से स्वाध्याय कराया जावे।"

रवीन्द्र कुमार ने भी मेरी अस्वस्थता देखकर मंजूर किया और मैंने पंडित जी को स्वीकृति दे दी। पंडित जी २९ जनवरी १९८६ माघ कृ. ४ को आये और "नियमसार प्राभृत" मेरे द्वारा रचित 'स्याद्वादचंद्रिका' टीका वाला प्रारंभ किया। इसमें मोतीचंद और रवीन्द्र कुमार दोनों बैठते थे, मैं तो घास में ही लेटी रहती थी। यद्यपि इस प्रारंभिक दिन मौसम बहुत खराब था, तब भी पंडित जी आ गये थे। वे प्रतिदिन इतनी भयंकर ठंडी में बड़े मंदिर से पैदल ही आते थे। वृद्ध और कमजोर थे, फिर भी परवाह नहीं करते थे। रवीन्द्र ने कई बार कहा—

"पंडित जी! आपके लिए प्रातः मैं रिक्शा भेज दूँ" किन्तु पंडित जी ने स्वीकार नहीं किया और बराबर पैदल ही आते रहे। वे बहुत ही सरलता से शांतिपूर्वक मेरे द्वारा रचित संस्कृत टीका को पढ़ते और अर्थ करते थे। इनके द्वारा स्वाध्याय सुनते हुए मैंने अनुभव किया कि "पंडित जी सरल हैं, गुणग्राही हैं, ईर्ष्यालु नहीं हैं।"

इनकी सद्भावना बहुत अच्छी थी, ये बार-बार माधुरी को समझाया करते थे कि—"ऐसे आहार दो, ऐसे तेल मालिश करो" इत्यादि।

हाँ! ये कट्टर तेरहपंथी हैं और आध्यात्मिक विषयों में मेरी गुरु-परम्परा से किंचित् इनके विचारों में मतभेद हैं। वह यह कि-हम लोग चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मा का अनुभव न मानकर श्रद्धान ज्ञान मानते हैं। अनुभव को निर्विकल्प ध्यान में सातवें से मानते हैं और उसे ही 'शुद्धोपयोग' कहते हैं और पंडित जी चौथे गुणस्थान से ही निर्विकल्प का अंश और शुद्धात्मा का अनुभव मान लेते हैं। इस पर भी ये हठाग्रही, कदाग्रही नहीं हैं बल्कि कई बार कहा कि—इस टीका में माताजी ने एक परम्परा अपनायी है अर्थात् जयसेनाचार्य कृत समयसार टीका आदि का आधार लिया है, यह विषय गलत नहीं है।

खैर! हम लोग दूसरी परम्परा को अर्थात् चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान के अंश को आगमसम्मत न कहकर इसे मुमुक्षु परम्परा या वर्तमान के कतिपय विद्वानों की परम्परा या कानजी परम्परा ही कहते हैं।

कुछ भी हो, पंडित फूलचंद जी ने मेरी टीका की समय-समय पर बहुत ही प्रशंसा की है। बस तेरहपंथ-बीसपंथ के आम्नाय भेद से ही वे विपक्षी दिखते हैं अन्यथा मेरे प्रति उनकी सद्भावना वात्सल्य

---

१. ३० दिसम्बर १९८७ को यह लिखा है।

तथा वैयावृत्ति की भावना सराहनीय रही है।

इस प्रकार पंडित जी ने २१ मई १९८६, वैशाख शु. १२ तक इस ग्रंथ को सुनाकर पूर्ण किया था। यद्यपि रवीन्द्र कुमार की इच्छा थी कि अब पंडित जी कुछ सैद्धान्तिक ग्रंथ का स्वाध्याय चलावें किन्तु पंडित जी के पास दिल्ली से कु. कुंदलता आदि तीन महिलाएँ पढ़ने के लिए आ गई थीं और ये धवला पुस्तकों का शुद्धिकरण भी कर रहे थे अतः इन्होंने अब आने में असमर्थता व्यक्त कर दी। इसके बाद भी यदि जरा भी मेरी अस्वस्थता सुनते तो दर्शन के लिए आ जाते थे।

फरवरी, मार्च में मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा था, तब मैं स्वाध्याय के समय बैठ भी जाती थी, कभी-कभी चर्चायें भी होती थीं। उसमें कुछ-कुछ बोलती भी थी, तब सभी को अच्छा लगता था और पंडित जी भी प्रसन्न होते थे। मोतीचन्द ने कहा—

"पंडित जी! स्वाध्याय सुन-सुनकर माताजी स्वस्थ हो गई हैं।"

कुछ भी हो, विपक्ष दल के विद्वान् इतनी सद्भावना से स्वाध्याय सुनावें, यह उनका बहुत बड़ा गुण ही था।

कुछ दिनों बाद पंथ व्यामोह से, शायद कुछ लोगों के कहने में आकर, इन्होंने जम्बूद्वीप का विरोध भी किया, तब मुझे अत्यन्त आश्चर्य प्रतीत हुआ।

इधर 'सती अंजना' आदि सम्यग्ज्ञान लेखन के साथ-साथ मैंने 'मूलाचार का सार' बनाया और छोटी सी प्रस्तावना बनाकर 'ज्ञानपीठ' में भेजी, चूँकि 'मूलाचार उत्तरार्ध' में उसे छपाना था।

शांति विधान आदि —

९ फरवरी से २४ फरवरी १९८६ माघ शु. १ से १५ तक यह शुक्ल पक्ष सोलह दिन का था अतः मेरे स्वास्थ्य की कामना से यहाँ शांति विधान सोलह दिन के अनुष्ठान रूप से कराया गया पुनः २५ फरवरी को पूर्णाहुति हुई।

फाल्गुन की अष्टान्हिका में श्रीमती शकुंतला देवी-दिल्ली ने यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में विधान किया।

फाल्गुन शु. १ से १५ तक, दिनाँक ११ मार्च से २६ मार्च तक यह शुक्ल पक्ष १६ दिन का होने से शांति विधान कराया गया। सिद्धचक्र विधान और शांति विधान दोनों का हवन २७ मार्च को कराया गया।

बड़ी शांतिधारा —

२६ फरवरी फाल्गुन कृ. २ से २८ मार्च चैत्र कृ. ३ तक भगवान महावीर स्वामी की बड़ी प्रतिमा पर प्रतिदिन मध्यान्ह में दूध से बड़ी शांतिधारा करायी गयी।

इससे पूर्व बार-बार स्वास्थ्य उलट जाता था अतः सभी चिंतित हो जाते थे, तब अनेक लोगों के आग्रह से यहाँ मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार और माधुरी ने यह निर्णय किया था कि—

"माताजी के स्वास्थ्य लाभ के लिए यहाँ एक माह तक मृत्युंजय विधान कराया जावे।" तदनुसार पौष शु. २, १२ जनवरी १९८६ से मृत्युंजय विधान शुरू किया गया था। पहले कुछ दिन संस्कृत की पूजा की गई पुनः आर्यिका अभयमती द्वारा रचित हिन्दी पूजा विधान कराया गया। यह विधान माघ शु. ३, दिनाँक ११ फरवरी तक चलाया गया पुनः सवा लाख जाप्य मंत्र की पूर्णाहुति सम्पन्न हुई।

ज्योतिषाचार्यों के वाक्य —

इस बीमारी के मध्य कई एक ज्योतिषी विद्वान् आते रहे और अनेक प्रकार की बातें बताते रहे। मेरा कोई विशेष लक्ष्य नहीं रहा, चूँकि मैं सदैव श्रावकों को भी ज्योतिषियों के चक्कर से बचने के लिए ही कहा करती हूँ, मेरा कहना है कि—

"जो कुछ होनहार है, होगी ही। पहले से पूछकर चिंता करना व्यर्थ है अथवा कई एक ज्योतिषियों की वाणी असत्य निकल जाती है। पुरुषार्थ के बल पर तो असाता को साता में संक्रमण कराके अशुभ भाग्य को

भी पलटा जा सकता है इत्यादि।"

इसी मध्य एक प्रबुद्ध श्रावक के साथ एक ब्राह्मण ज्योतिषाचार्य आये। इन्होंने मोतीचंद, रवीन्द्र और माधुरी के पास बैठकर बहुत कुछ चर्चायें कीं, ये बोले—

"इन दो माह में माताजी का मृत्यु योग है अतः मैं २०-२५ दिन यहाँ आकर मृत्युंजय महामंत्र का अनुष्ठान करना चाहता हूँ।"

चूँकि ब्राह्मणों के मंत्र हमारे शिष्यों को इष्ट नहीं थे अतः इन लोगों ने टालने की कोशिशें कीं, तब वे कहने लगे—

"भाई! माताजी को तो अपने शरीर से मोह नहीं है, मैं अच्छी तरह समझ रहा हूँ, फिर भी आज विश्व में इन जैसी विदुषी माता की बहुत बड़ी आवश्यकता है, इनका जीवन अपने लिए—स्वयं के लिए नहीं है बल्कि संसार के तमाम प्राणियों के उपकार के लिए है। इनका जीवित रहना बहुत ही उपयोगी है। इसका मूल्यांकन आप लोग नहीं कर पा रहे हैं।....."

कुल मिलाकर अनेक श्रेष्ठीवर्ग, विद्वानों और ज्योतिषियों के आग्रह से मोतीचंद, रवीन्द्र और माधुरी ने आपस में यह निर्णय किया कि—

"अपने जैनधर्म में भी तो मृत्युंजय महामंत्र है, मृत्युंजय विधान भी होगा। माताजी ने एक बार खतौली में किसी श्रावक को मृत्युंजय यंत्र, मंत्र दिया था, तब उन्होंने उसे करके आगे २ वर्ष बाद आकर कहा था कि मेरे बेटे का ग्रह टल गया, उसकी शादी भी कर दी, उसके बालक भी हो गया है।"

इत्यादि संस्मरण याद कर ये तीनों मेरे पास आये और पूछने लगे—

"माताजी! अपने यहां मृत्युँजय विधान है क्या?"

मैंने कहा—

"है, लाइब्रेरी में छोटी पुस्तक है, संस्कृत में एक पूजा और कुछ अर्घ्य हैं—।"

इन लोगों ने निकलवाया और विधिवत् करने का निर्णय लिया। विधान तो एक-एक दिन का होने से अनेक भक्तों ने किया है किन्तु जाप्य का अनुष्ठान मोतीचंद, रवीन्द्र और माधुरी ने किया। अन्य लोगों ने भी जाप्य की थीं। इन्होंने सवालाख जाप्य कीं पुनः अंत में अमरचंद होमब्रेड ने तीन दिन मृत्युंजय विधान करके, ११ फरवरी, माघ शु. ३ को हवन करके पूर्ण किया था।

इसी प्रकार मुझे शांति विधान के विधिवत् १६ दिन के अनुष्ठान पर अधिक श्रद्धा थी, अतः माघ सुदी में और फाल्गुन सुदी में १६-१६ दिन का पक्ष होने से दो बार शांति विधान १६-१६ दिन का कराया गया। मध्य के दिनों में भी सिद्धचक्र आदि विधान होते ही रहे हैं।

मेरठ के हकीमों से परामर्श करके इलाज चल रहा था। फिर भी ४-५ दिन बाद वापस वमन और अतिसार शुरू हो जाने से पुनः-पुनः स्वास्थ्य उलट जाता था। इसके बाद २८ जनवरी को हकीम सेफुद्दीन को लाया गया। ये राष्ट्रपति का इलाज करने वाले बहुत अच्छे हकीम हैं। इनके परामर्श से यद्यपि दवाई पुरानी ही चलायी गई थी, फिर भी हर सप्ताह परामर्श से कुछ न कुछ छोटा-मोटा परिवर्तन किया जाता था, जैसे कि एक 'आलू बुखारा' बढ़ा देना इत्यादि। यह परिवर्तन स्वास्थ्य के लिए हितकर था। ८ फरवरी को पुनः वमन हुआ। उसके बाद नहीं हुआ, तब से प्रकृति सुधार पर आ गई। सभी को संतोष हुआ और सबने मेरा पुनर्जन्म माना।

फाल्गुन में मैं धीरे-धीरे माधुरी आदि के हाथ का सहारा लेकर चलने लगी थी पुनः धीरे-धीरे अपने आप चलना-फिरना शुरू हुआ। उन दिनों सभी शिष्याएँ हंसी करती रहती थीं कि "पहले माताजी ने हम लोगों को चलना—मोक्ष मार्ग में चलना सिखाया है और अब हम लोग माताजी को चलना सिखा रहे हैं।

इंद्रध्वज विधान —

इसी मध्य फरवरी में छोटीशाह के विशेष आग्रह से माधुरी को टिकैतनगर भेजना पड़ा। वहाँ इन्द्रध्वज विधान बहुत ही प्रभावना से सम्पन्न हुआ, लगभग १५० लोग हवन में बैठे थे। उनका विधान सम्पन्न कराकर ७ मार्च को माधुरी यहाँ आ गई।

क्षेत्रपाल की स्थापना—

एक बार आचार्यश्री विमलसागर जी ने कहा कि—

"वहाँ मंदिर में क्षेत्रपाल विराजमान करना चाहिए।" महाराजश्री ने स्वयं क्षेत्रपाल प्रतिष्ठित करके दे दिये। यहाँ पर उन्हें लाकर रत्नत्रयनिलय में, जहाँ जंबूद्वीप की सिद्ध प्रतिमाएँ थीं, वहीं विराजमान कर दिया पुनः मुहूर्त के अनुसार त्रिमूर्ति मंदिर में एक छोटी सी वेदी बनवाकर, मगसिर सुदी ५, दिनाँक १६ दिसम्बर १९८५ को प्रातः मोतीचन्द, रवीन्द्रकुमार और माधुरी ने मिलकर वेदी में क्षेत्रपाल को विराजमान किया। उसी दिन मध्यान्ह में बम्बई के यात्री आए हुए थे, उन्होंने सामान्य मात्र प्रेरणा से मूलवेदी के बनवाने की स्वीकृति दे दी पुनः १७ दिसम्बर को कैलाशचंद जैन (टिकैतनगर) ने क्षेत्रपाल की वेदी के लिए न्यौछावर प्रदान किया। इसके बाद २२ दिसम्बर को दिल्ली के पल्टूमल जैन आये और उन्होंने त्रिमूर्ति मंदिर के हॉल में पत्थर लगाने के लिए स्वयं प्रेरणा पूर्वक कहा। आज वहाँ उन्हीं की ओर से फर्श में पत्थर लग चुका है।

जिनेन्द्र देव के प्रसाद से आज तक मंदिर का उत्थान होता ही जा रहा है। अभी[१] मार्च १९८७ में आजू-बाजू की वेदियों में सुन्दर कमल बनाकर, उन पर भगवान् पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की विशाल प्रतिमा विराजमान की जा चुकी हैं।

मृत्युंजय विधान —

पुनः१४ अप्रैल से १६ मई तक यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर मृत्युंजय विधान कराया गया। १६ मई को हवन विधि सम्पन्न हुई।

£ ८६ ¤

अभयमती का आगमन —

अभयमती ने सन् १९८५ का चातुर्मास धर्मसागर जी के पास किया था। मेरी अस्वस्थता को सुन-सुनकर घबराती थीं। उन्हें ऐसा लगता था कि—

"कहीं ऐसा न हो कि आर्यिका रत्नमती जी के समान मुझे मेरी गुर्वानी ज्ञानमती माताजी के दर्शन न हो सकें.....।"

मेरे दर्शन की भावना से मार्ग के अनेक कष्टों को झेलती हुई क्षुल्लिका शांतिमती जी को साथ लेकर आ रही थीं। असल में संघ में ब्रह्मचारिणी न होने से विहार में कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, सो तो उन जैसे अस्वस्थ साधु-साध्वियों को ही अनुभव में आता है।

ये २८ अप्रैल १९८६, वैशाख कृ. ५ को मवाना से चलकर शाम को ६ बजे जम्बूद्वीप स्थल पर आ गईं। मेरे दर्शन कर रो पड़ीं। सन् १९७१ में मुझे छोड़कर बुंदेलखण्ड की ओर विहार किया था। शारीरिक स्वास्थ्य गड़बड़ होते हुए भी मनोबल से १४ वर्ष तक मध्यप्रदेश में खूब घूमी हैं, यात्राएँ की हैं और मंडलविधान, शिक्षण-शिविर, महिला मंडल, उपदेश आदि के द्वारा खूब धर्मप्रभावना की है तथा परमात्मप्रकाश, समयसार कलश, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आत्मानुशासन आदि ग्रंथों के पद्यानुवाद करके समाज को बहुत कुछ दिया है।

आज गुरु-शिष्य का मिलन देखने जैसा था। उनको रोते हुए देखकर मेरे भी आँखों में आँसू आ गये। उनको उठाया, उनके सिर पर हाथ फेरा और रत्नत्रय की कुशल पूछी। इस अवसर पर आर्यिका रत्नमती को

---

१. सन् १९८७ में यह प्रकरण लिखा गया है।

याद कर उनका हृदय फट रहा था जो स्वाभाविक ही है। आखिर जन्मदात्री माता जो कि आर्यिका हो चुकी थीं, उन्होंने अपनी कन्याओं को प्यार के साथ जो कुछ धर्मामृत पिलाया था और मुझे तथा मनोवती को भी, पिता, परिवार के विरोध के बावजूद भी घर से निकलने में, मोक्षमार्ग में लगने में जो सहयोग दिया था—

"वह उपकार मोक्ष प्राप्त करने तक भुलाया नहीं जा सकेगा।"

आज यह लिखते समय मेरी भी लेखनी काँपने लगी और उनकी स्मृति में दो आँसू टपक पड़े।.....वास्तव में जन्म देने वाली माताएँ तो विश्व में भरी पड़ी हैं, किन्तु अपनी संतान के मोक्षमार्ग में सहायक बनकर पुनः उन्हीं के सानिध्य में रहकर मोक्षमार्ग को स्वयं साधने वाली माता आर्यिका रत्नमती जैसी दूसरी होना दुर्लभ है।

यद्यपि यहाँ रहने तक मैंने आर्यिका अभयमती को आर्यिका रत्नमती जी के वियोग दुःख को भुलाने की बहुत सी शिक्षाएँ दीं लेकिन ऐसा लगता है कि उनके मस्तिष्क में कुछ असर हो गया है, स्वास्थ्य बहुत कमजोर है पुनः ये सरधना में रहीं। सन् १९८७ का चातुर्मास वहीं किया था। गतवर्ष मार्च की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और मोतीचंद की दीक्षा के समय यहाँ आई थीं, पुनः विहार कर सरधना चली गई हैं, उनके पास क्षुल्लिका शांतिमती जी हैं।[१]

आर्यिका रत्नमती जी की समाधि के समय एक माह के अंदर उनके सभी पुत्र-पुत्रवधु और पुत्रियों ने दर्शन कर लिए थे, मात्र ये अभयमती जी ही बची थीं। ये उस समय 'मौजमाबाद' (राजस्थान) में थीं। संसार में संयोग-वियोग, सुख-दुःख आदि कर्मों के उदय से होते रहते हैं। इनको दूर करने के लिए ही, कर्मों को नष्ट करने के लिए ही यह दीक्षा ग्रहण की जाती है, ऐसा सोचकर, ऐसे-ऐसे इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि प्रसंगों में समभाव धारण करना कर्तव्य है अतः प्रतिदिन भगवान से प्रार्थना करते रहना चाहिए।

दुःखे-सुखे वैरिणि बंधुवर्गे, योगे वियोगे भुवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ!।।

अथवा—**संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरंपरा।**
तस्मात् संयोगसंबंधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहं।।

इस जीव ने इस संसार में संयोग के निमित्त से ही दुःखों को प्राप्त किया है अतः अब मैं मन, वचन, काय ये सभी संयोग संबंध का त्याग करता हूँ।

यह भावनाएँ ही संसार के संयोग संबंध से छुड़ाकर शाश्वत सुख को प्राप्त कराने में समर्थ हैं।

जंबूद्वीप विधान अपरनाम महामृत्युंजय विधान —

भादों में ज्वर आ जाने से जंबूद्वीप विधान अपूर्ण छूट गया था। उसकी पूजा के संस्कार ज्वर में भी चलते रहते थे और पूजा के लिए नई-नई पंक्तियाँ भी मस्तिष्क में आती रहती थीं। इतनी लम्बी बीमारी के बाद मई १९८६, वैशाख में मैंने उस विधान को उठाया और शेष पूजाएँ श्रुतपंचमी के दिन पूर्ण कीं। उस समय मेरे मन में यह भाव आया कि "इस विधान को पूर्ण करने के लिए ही शायद मैंने पुनर्जन्म पाया है।" इसी के प्रभाव से मेरी अपमृत्यु टली है। ऐसा सोचकर मैंने इस विधान का अपरनाम 'महामृत्युंजय विधान' रख दिया और प्रशस्ति में इसका उल्लेख कर दिया है।

श्रुतपंचमी के दिन १२ जून १९८६ को यह जंबूद्वीप विधान, धवला पुस्तक और मूलाचार को पालकी में विराजमान कर मोतीचंद आदि ने इसकी शोभायात्रा निकाली पुनः मध्यान्ह में श्रुतस्कंध विधान होकर श्रुतपंचमी समारोह मनाया गया।

श्वेतांबर साधु-साध्वियों की सद्भावना —

अनेक प्रबुद्ध लोग आकर समझाते रहते थे। खासकर श्वेताम्बर संप्रदाय के साधु-साध्वियाँ भी मेरी

---

१. सन् १९८८ में यह प्रकरण लिखा गया है।

बीमारी में देखने के लिए कई बार आते रहे हैं। वे भी ऐसे ही शिक्षा देते रहते। एक बार एक श्वेतांबरी साध्वी ने अपनेपन से वात्सल्य दर्शाते हुए खूब कहा—

"देखो, माताजी! आपके द्वारा संसार में महान् आदर्श कार्य हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। आपका जीवन आपके स्वयं के लिए ही सीमित नहीं है प्रत्युत् तमाम जीवों के उद्धार के लिए है अतः आप हम लोगों की बात मानकर दिन में दो-चार बार औषधि ग्रहण कर स्वस्थ होइये और बाद में प्रायश्चित ले लेना.....।"

मैंने कहा—

दिगम्बर सम्प्रदाय में चर्या कठोर है। हमें समाधि से मरना इष्ट है किन्तु बार-बार दवा आदि लेकर अपने नियम में बाधा लाना इष्ट नहीं है। यह संयम बार-बार नहीं मिलता है शरीर तो इस संसार में अनंत-अनंत बार मिल चुका है.....।"

इन सबके कथन को सुनकर मैं सोचा करती थी—

आचार्य श्री कुंदकुंद देव के वचन हैं—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

आत्मा का हित करना चाहिए, यदि शक्य हो तो पर का हित भी करना चाहिए। इन आत्महित और परहित में आत्महित ही अच्छी तरह करना चाहिए। श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है—

परोपकृतिमुत्सृज्य सोपकारपरो भव।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।

हे भव्य ! तुम परोपकार को छोड़कर अपने उपकार में तत्पर होवो। देखो! लोक में ऐसे मूढ़ बहुत हैं कि जो पर का उपकार करने में लगे रहते हैं और अपनी तरफ लक्ष्य ही नहीं देते हैं।

मैं समझती हूँ कि "यह मेरे कई जन्मों का पुण्य होगा कि ऐसी लंबी ८-१० महीने तक बीमारी होने पर भी मेरे मन में चारित्र के प्रति दृढ़ता बनी रही है और मेरा परिकर—शिष्यवर्ग ने भी मेरी परिचर्या के साथ ही मेरे संयम में बाधा पहुँचाने की बात स्वप्न में भी नहीं सोची।

इन्द्रध्वज विधान एवं प्रशिक्षण शिविर—

ज्येष्ठ शु. १२, १९ जून १९८६ से अमरचंद जैन होमब्रेड वालों ने पुनः यह तृतीय बार इन्द्रध्वज विधान कराया। प्रातः ५.३० बजे से विधान का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। इसी मध्य श्री अमरचंद ने विद्वानों के लिए प्रशिक्षण शिविर का भी आयोजन रखा था। जिसमें नरेन्द्र प्रकाश जैन प्राचार्य फिरोजाबाद वालों को कुलपति बनाया गया और तत्त्वार्थ सूत्र तथा दश धर्म पर प्रशिक्षण चलाया गया। २९ जून, आषाढ़ बदी ८ को यह विधान और शिविर पूर्ण हुआ। इसमें प्रो. श्रेयांसकुमार, प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन आदि ने प्रशिक्षण दिया एवं लगभग ४० विद्वानों ने प्रशिक्षण ग्रहण किया।

इसी मध्य जुलाई १९८६ के 'सम्यग्ज्ञान अंक' में सामायिक विधि शास्त्रोक्त छपा देने से 'सामायिक विधि' एवं ध्यान साधना का भी शिक्षण दिया गया। विधिवत् सामायिक शिक्षण को प्राप्त कर सभी प्रभावित हुए। नरेन्द्र प्रकाश आदि कई एक महानुभावों ने, महिलाओं ने विधिवत् सामायिक करने का महीने में कुछ-कुछ दिनों का नियम लिया।

सरधना में शिविर—

हस्तिनापुर दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की ओर से १४ मई से २१ मई १९८६ तक सरधना में शिक्षण शिविर का आयोजन रखा गया, जिसमें स्वयं मोतीचन्द ने जाकर बालकों को शिक्षण देकर अनेक

बालक-बालिकाओं में ही नहीं बल्कि प्रौढ़ लोगों में भी धर्म शिक्षा के संस्कार डाले और मेरे पास आकर प्रसन्नता व्यक्त की।

जंबूद्वीप की जिनप्रातिमाएँ —

२ मई सन् १९८५ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के निर्वाण कल्याणक दिवस पर जंबूद्वीप में सुमेरु पर्वत के अतिरिक्त ६२ जिनमंदिरों की एवं १२२ देव भवनों की सर्व सिद्ध प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होकर विराजमान की जा चुकी थीं। प्रतिष्ठा से कई माह पूर्व ही यद्यपि रवीन्द्र कुमार आदि ने दिल्ली में किसी कारीगर को यहाँ जिनमंदिर में और देव भवनों में कांच के दरवाजे लगाने के लिए आर्डर किया हुआ था किन्तु वे दरवाजे नहीं लग पाये थे। अतः प्रतिष्ठाचार्य ब्र. सूरजमल से राय लेकर वहाँ से सर्व प्रतिमाओं को यहां रत्नत्रय निलय में एक कमरे में विराजमान करा दिया गया था। चूँकि यहाँ हस्तिनापुर में बंदरों का उपद्रव तो है ही, जैन की अपेक्षा जैनेतर यात्री भी बहुत आते रहते हैं अतः आसादना के भय से यह निर्णय लिया गया था और उधर कांच के दरवाजे लगाने के लिए प्रयास चालू था।

जैसे-जैसे दरवाजे लगते गये, वैसे-वैसे ही मुहूर्त निकालकर वेदी शुद्धि करा-कराकर वहाँ यथास्थान सिद्ध प्रतिमाएँ विराजमान कराते गये।

एक बार वैशाख शु. ३, अक्षय तृतीया (दिनाँक १२ मई) को वेदी शुद्धि कराकर कुछ प्रतिमाएँ मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार ने विराजमान करायीं पुनः दूसरी बार ज्येष्ठ सुदी ५, श्रुतपंचमी दिनाँक १२ जून को प्रातः जिनप्रतिमाएँ विराजमान करायी गयीं। इसके बाद तीसरी बार शेष रहीं सभी प्रतिमाएँ आषाढ़ सुदी १०, १७ जुलाई १९८६ को यथास्थान विराजमान की गईं। जब सब प्रतिमाजी जंबूद्वीप में विराजमान हो गईं, तब मेरे मन में बहुत ही संतोष हुआ।

इससे पूर्व मैं कई बार सोचा करती —

"देखो! 'हाथी निकल गया पूँछ अटक गई' कहावत के अनुसार यहाँ जम्बूद्वीप के जिनमंदिर और देवभवन कितनी कठिनाई के बावजूद भी कितनी जल्दी बनवाये गये थे लेकिन सन् १९८५ में २ मई को प्रतिमाजी वहाँ विराजमान होने के बाद कांच के दरवाजे नहीं लग पाने से उन्हें यहाँ वापस लाया गया। इन ६२+१२२=१८४ एक सौ चौरासी मंदिर व देवभवनों में दरवाजे लगने में एक वर्ष लग गया। कभी-कभी ऐसा ही हो जाया करता है कि बड़े-बड़े काम तो जल्दी हो जाते हैं और छोटे-छोटे काम रुक जाते हैं, बहुत समय ले लेते हैं।

इन्द्रध्वज विधान —

३ जुलाई १९८६, आषाढ़ वदी १२ से दरियाबाद में माधुरी की बड़ी बहन कामिनी ने इन्द्रध्वज विधान कराया। उसमें पूरे समय के लिए माधुरी को जाना पड़ा। ऐसे ही यहाँ हस्तिनापुर में जंबूद्वीप स्थल पर त्रिमूर्ति मंदिर में आनन्दप्रकाश दिल्ली और प्रकाशचंद जैन, सुभाषचंद जैन टिकैतनगर वालों ने दो मण्डल बनवाये और आषाढ़ सुदी ७, १४ जुलाई १९८६ से इन्द्रध्वज विधान शुरू किया। माधुरी के दोनों भाई सपरिवार आये थे। इनके बच्चों के लिए मोतीचंद ने शिक्षणशिविर की व्यवस्था बना दी। जिसमें अनेक बालक-बालिकाओं ने बालविकास आदि के शिक्षण प्राप्त किये, बहुत ही अच्छा वातावरण रहा। इसके मध्य २० जुलाई को मैंने चातुर्मास स्थापना की। २२ जुलाई श्रावण कृ. १, को हवन और रथयात्रा होकर विधान पूर्ण हुआ। इसी चातुर्मास के मध्य भादों वदी ३, २२ अगस्त से भादों वदी १२, १ सितम्बर १९८६ तक श्रीमती जैन-प्रेमचंद जैन ने बहराइच उत्तर प्रदेश में इन्द्रध्वज विधान कराया। उसमें भी यहाँ से मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार, माधुरी आदि गये थे, अच्छी धर्मप्रभावना हुई। वहाँ के स्थानीय लोगों ने तो विशेषरूप से लाभ लिया ही, साथ ही माधुरी आदि के प्रवचनों से बहुत प्रभावित रहे हैं।

मेरी स्मृतियाँ

षष्ठ खण्ड

£ ८७ ¤

कल्पद्रुम विधान —

सन् १९८३ से कई बार मन में यह भाव आया था कि एक 'कल्पद्रुम' विधान बनावें। कुछ रूपरेखा बनायी, डायरी में लिखकर भी रखा। १९८५ की जम्बूद्वीप प्रतिष्ठा के पूर्व एक बार नांदणी के भट्टारक जिनसेन स्वामी भी यहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझसे कहा—"माताजी! जैसे आपने इन्द्रध्वज महाविधान बनाया है, वैसे ही क्या आपने 'कल्पद्रुम' के बारे में कभी सोचा है?"

मैंने कहा—"२-३ वर्षों से कुछ रूपरेखा तो बनायी है, इस प्रतिष्ठा के बाद सोचूँगी।"

अस्वस्थ अवस्था में मैंने माधुरी से एक-दो बार कहा—

"माधुरी! मेरी एक डायरी में कल्पद्रुम विधान की कुछ रूपरेखा बनाकर रखी हुई है। मेरे बाद में तुम एक कल्पद्रुम विधान बनाना।

माधुरी कहने लगती—

"माताजी! अभी तो आप अच्छी हो जायेंगी, तब आप ही बनायेंगी...आपको कल्पद्रुम विधान क्या, अभी बहुत काम करने हैं।"

धीरे-धीरे मैं स्वस्थता का अनुभव कर रही थी अतः कल्पद्रुम विधान की रूपरेखा मस्तिष्क में खींचती रहती थी।

८ जुलाई १९८६, आषाढ़ शु. १ को रात्रि में मेरे मस्तिष्क में जो कुछ रूपरेखा प्रस्फुटित हुई तदनुसार प्रातः उठकर आवश्यक क्रिया से निवृत्त होकर, ९ जुलाई, आषाढ़ शु. २ को प्रातः ५ बजकर ४५ मिनट पर मैंने लेखनी उठाई और रत्नत्रय निलय में सुमेरु के सामने बैठकर 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' लिखकर पूजा बनाना प्रारंभ कर दिया। उस दिन मुझे इतना हर्ष हुआ है कि मैं शब्दों में न कह सकती हूँ और न लिख सकती हूँ। अब मैं धारावाहिक यह विधान बनाने में लग गई। समवसरण का प्रकरण मैं तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण और समवसरण स्तोत्र से समझती रहती थी।

मैं कई बार सोचा करती थी कि—

"जब 'भक्तामर स्तोत्र, के बनाने से श्रीमानतुंगाचार्य के अड़तालिस ताले टूट गये थे और 'एकीभावस्तोत्र' की रचना से श्रीवादिराज मुनिराज के शरीर से कुष्ठ रोग दूर होकर शरीर स्वर्ण के समान हो गया था, तब मैं समवसरण वैभव से सहित चौबीस तीर्थंकरों की भक्ति में विभोर हो पूजा, मंत्र और जयमाला की रचना कर रही हूँ तो क्या मेरे अशुभ कर्म निर्जीर्ण नहीं होंगे? अर्थात् अगर मेरा शरीर स्वस्थ हो जावे, तो भला इसमें आश्चर्य ही क्या है?"

वास्तव में विधान की रचना के समय परिणामों में कितनी एकाग्रता, कितनी तन्मयता आती है और कितना आनन्द उत्पन्न होता है वह अनिर्वचनीय ही है। मुझे शायद सामायिक में भी इतनी एकाग्रता नहीं आती है कि जितनी विधान पूजा आदि की पंक्तियों के बनाते समय आती है।

इस विधान में मैंने २४ पूजाएँ बनायी हैं। इसमें २४ की संख्या १०८ बार आयी है जिसे कि मैंने प्रस्तावना में स्पष्ट किया है।

इस प्रकार आश्विन शुक्ला पूर्णिमा-शरद पूर्णिमा के दिन, दिनाँक १७ अक्टूबर १९८६ को प्रातः छह बजकर १० मिनट पर मैंने यह विधान पूर्ण किया और तत्काल ही भगवान महावीर के दर्शन कर खुशी हुई। इसी दिन मैंने 'तीन लोक विधान' की रचना प्रारंभ कर दी क्योंकि सन् १९७६ में मैं तीन लोक विधान बनाने

का निश्चय कर चुकी थी किन्तु मोतीचन्द रवीन्द्र कुमार की प्रार्थना से उस समय 'इन्द्रध्वज विधान' बनाया था, तब से लेकर भावना भाते हुए इस मंगल दिवस पर उस विधान को शुरू करने का अवसर आया था।

मध्यान्ह में इस कल्पद्रुम विधान के पृष्ठ को काँच में दिखाकर, काँच पर पंचामृत अभिषेक किया गया पुनः मोतीचन्द ने श्रुतस्कंध विधान करके इस 'कल्पद्रुम विधान' ग्रंथ की पूजा की।

जन्मजयंती समारोह —

इसके बाद यद्यपि शरदपूनो को ही मेरा जन्मदिवस था और माधुरी आदि ने दूध से मेरा चरण प्रक्षालन आदि किया था, रात्रि में ५३ दीपकों से आरती भी की थी, फिर भी दिल्ली वालों की राय के अनुसार रविवार कार्तिक कृ. २, १९ अक्टूबर का मेरे जन्म दिवस का विशेष कार्यक्रम रखा गया था। वैसे १७ अक्टूबर से १९ अक्टूबर तक त्रिदिवसीय कार्यक्रम मनाया गया। यहाँ हस्तिनापुर में दिल्ली, मेरठ, मवाना, सरधना, बड़ौत, खतौली आदि स्थानों से अनेक बसें आ गईं। सनावद, टिकैतनगर आदि से भी अनेक भक्तगण आ गये। प्रातः ६ बजे से १० बजे तक पूजन, नशिया के दर्शन आदि किये गये। यहाँ पर रहने वाले अनंतवीर्य जैन ने आगंतुक यात्रियों के लिए प्रीतिभोज का आयोजन किया था। यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर पांडाल बनाया गया था। मध्यान्ह वहाँ पांडाल में श्री इलमचंद एंड पार्टी दिल्ली और अशोक कुमार भोपाल वालों के संगीत हुए पुनः मंच पर मेरे उपस्थित होने के बाद मंगलाचरण पूर्वक विद्वानों के भाषण हुए। अनेक विद्वानों और श्रीमानों ने मेरे प्रति विनयांजलि अर्पण करते हुए मेरे दीर्घ जीवन की कामना की।

मंच पर ५३ विद्युत दीपों को जलाकर राजकुमार जैन दिल्ली ने कार्यक्रम का उद्घाटन किया। हस्तिनापुर की ५३ गरीब महिलाओं को मदन कुमार जैन टिकैतनगर ने साड़ियाँ बांटी पुनः रेनु जैन धर्मपत्नी अरुणकुमार जैन दिल्ली वालों ने भी ५३ साड़ियाँ वितरित कीं। इसी प्रकार मोतीचन्द जैन कासलीवाल दिल्ली ने ५३ महिलाओं को ५३ थालियाँ वितरित कीं।

मुझे प्रदान करने के लिए पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र की बोलियाँ हुईं, जिन्होंने बोलियाँ लीं, उन श्रावकों ने मुझे नूतन पिच्छी देकर मेरी पुरानी पिच्छी प्राप्त कर ली और कमंडलु तथा शास्त्र भी मुझे प्रदान किये। इसके सिवाय चरण प्रक्षालन और आरती की बोली लेने वालों ने चरण प्रक्षालन किये और आरती उतारी। मंच पर मेरा मंगल आशीर्वाद हुआ।

इसके बाद रथयात्रा के लिए बोलियाँ होकर रथयात्रा निकाली गई। इसमें प्रद्युम्न कुमार छोटीशाह टिकैतनगर वालों ने मेरे द्वारा रचित कल्पद्रुम विधान ग्रंथ को लेकर रथ में बैठने का सौभाग्य प्राप्त किया और उन्होंने इस विधान को छपाने के लिए सहयोग देने की स्वीकृति दे दी। रथयात्रा वापस आने के बाद श्रीजी का अभिषेक होकर फूलमाला हुई। इसके बाद कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

शरदपूनो के दिन अन्यत्र भी भक्तगण मेरा जन्मजयंती दिवस मनाते हैं, ऐसी सूचनाएँ आती रही हैं। जैसे कि सन् १९८६ में झालरापाटन में मनाया गया आदि।

सिद्ध और सिद्धि शब्द का महत्व —

मैंने सन् १९५४ में कातंत्र व्याकरण पढ़ते समय पढ़ा था 'सिद्धो वर्ण समाम्नायः' उसमें यह समझा था कि प्रारंभ में 'सिद्ध' शब्द के आ जाने से ही मंगलाचरण हो गया। उसी प्रकार से सन् १९५७ में जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ी, उसमें भी प्रारंभ में सूत्र था 'सिद्धिरनेकांतात्' तब भी यह समझ में आया कि प्रारंभ में 'सिद्धि' शब्द के आ जाने से ही मंगलाचरण हो गया। वास्तव में 'सिद्ध' शब्द अनंत संसार से छूटकर मुक्ति का वाचक है। यह दोनों शब्द हमेशा मंगल, उत्तम और शरणभूत हैं अतः मैंने भी सर्वत्र ग्रंथ रचनाओं के प्रारंभ में 'सिद्ध' या 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है।

सर्वप्रथम बाहुबलि स्तोत्र में—

'सिद्धिप्रदं मुनिगणेन्द्रशतेन्द्रवंद्यं'

ऐसे ही अंत में भी सिद्ध या सिद्धि शब्द को लाने का प्रयास रहा है, जैसे कि इसी स्तोत्र में-अंतिम लाइन है—

'ज्ञानेन शोभितमतिः समुपैति सिद्धिं।'

ऐसे ही इन्द्रध्वज विधान के प्रारंभ में **'सिद्धों की करूँ वंदना.....।**

'सिद्धान् त्रैलोक्यमूर्धस्थान्'। ऐसे ही समाप्ति में—

''सो जन मनवांछित लहें, वरें अंगना सिद्धि।।''

जंबूद्वीप विधान प्रारंभ में —

'सिद्धि के दाता कल्पवृक्ष'

कल्पद्रुम विधान के प्रारंभ में —

'सिद्धों को कर नमस्कार'

मंगलस्तोत्र में—**'सिद्धेः कारणमुत्तमाः जिनवरा'**

प्रशस्ति के अंत में—**'जिससे हो जावे स्वात्मसिद्धि।'**

इसी प्रकार नियमसार की स्याद्वाद चन्द्रिका टीका के प्रारंभ में—

''सिद्धेः साधनमुत्तमं जिनपतेः श्रीपादपद्मद्वयम् ।''

इसी प्रकार अंत में देखिये—

'दत्वा ज्ञानमतीं जगत्त्रयनुतां स्युर्मेऽचिरात् सिद्धये।''

मेरा विश्वास है कि प्रारंभ में 'सिद्ध या सिद्धि' शब्द सिद्धों को शब्द और भावपूर्वक नमस्कार करने वाला है अतः यह प्रारंभ में किये गये ग्रंथों को पूर्ण करने वाला है और अंत में आने वाले 'सिद्ध या सिद्धि' शब्द ग्रंथकर्ता को सिद्धि प्रदान करने वाले हैं। इस सिद्धि शब्द से लोक में समस्त मनोरथों की सफलता और परलोक में परम्परा से मुक्तिपद की प्राप्ति होवेगी, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

दीक्षा के लिए श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना —

मोतीचंद ने माघ शु. १२, २१ फरवरी १९८६ के दिन प्रातः मेरे पास बैठकर हाथ जोड़कर निवेदन किया कि—

"माताजी! अब मैं क्षुल्लक दीक्षा लेना चाहता हूँ, आप मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये।"

मुझे भी संतोष रहा, चूँकि सर्वप्रथम आश्विन शुक्ल पूनो, सन् १९८० में मेरे जन्म दिवस पर इन्होंने मुझसे अपने दीक्षा के भाव व्यक्त किये थे। तब मैंने समझाया था—

"देखो, मोतीचंद! तुमने जम्बूद्वीप के कार्य को पूरा करने का संकल्प लिया था अतः इसे पूरा करके दीक्षा लेवो।"

यद्यपि मेरे जीवन में यह पहला प्रसंग था कि जब मैंने दीक्षा के भाव स्वयं दीक्षार्थी के होने के बाद उन्हें रोका हो प्रत्युत् मेरे पास रहने वालों को मैंने बार-बार प्रेरणा देकर दीक्षा के लिए तैयार किया था अतः मुझे अंतरंग में दुःख भी हुआ था किन्तु इस महान् कार्य के लोभवश मैंने उस समय उन्हें रोका था पुनः वे जब तब दीक्षा के लिए प्रार्थना किया ही करते थे। अनंतर आश्विन शु. पूर्णिमा, सन् १९८१ के दिन भी इन्होंने भावना

व्यक्त की और मेरे नहीं स्वीकृति देने पर सभा में ही दीक्षा न होने तक एक रस का त्याग कर दिया। इससे पूर्व फाल्गुन शु. १५.....सन् १९८१ में ही जंबूद्वीप प्रतिष्ठा के होने तक के लिए नमक और मीठे का त्याग कर दिया था तथा फलों में सेव और संतरा का त्याग कर दिया था।

इसके बाद जंबूद्वीप प्रतिष्ठा पर दीक्षा के लिए पहले से ही बार-बार कह रहे थे, तब मैंने शिष्य के मोहवश ऐसा कहा था कि—

"प्रतिष्ठा के छह महीने बाद दीक्षा लेना।"

क्योंकि जो शिष्य बीस वर्ष तक पास में रहकर अच्छी तरह आज्ञा का पालन करे, समर्पित होकर रहे और जंबूद्वीप निर्माण, ज्ञानज्योति प्रवर्तन और साहित्य प्रकाशन आदि अनेक महान् कार्य कर रहा हो, उसके जाने का निर्णय देने में इष्ट वियोगज आर्तध्यान होना स्वाभाविक ही है। चूंकि अब तक इनका यही कहना था कि मैं क्षुल्लक दीक्षा लेकर संघ में रहूँगा।

मैं चाहती थी कि दीक्षा लेकर ये क्षुल्लक बनकर यहाँ रहकर मेरी सारी जिम्मेवारी संभालें और मेरी यथोचित—पाठ, स्वाध्याय आदि सुनाने रूप वैयावृत्ति करते हुए मेरी समाधि अच्छी करावें, क्योंकि योग्य शिष्य का वियोग पुत्र वियोग से भी अधिक दुःखद होता है।

अतः इस समय मोतीचंद की उपर्युक्त २१ फरवरी १९८६ की प्रार्थना स्वीकार कर मैंने कहा—

"बहुत अच्छा है, मेरी स्वीकृति अब पूर्णरूपेण है, तुम दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करो।"

मेरी स्वीकृति पाकर मोतीचंद भी बहुत प्रसन्न हुए पुनः मैंने कुछ सोचकर कहा—

"मोतीचंद! तुम आचार्यसंघ को यहाँ हस्तिनापुर में ही लाकर मेरे सामने क्षुल्लक दीक्षा लेवो और यहीं पर रुको, मेरी समाधि अच्छी करानी है।"

अस्वस्थता के मध्य मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार और माधुरी इन तीनों ने मेरी जो सेवा की है वह 'वचनातीत' है। वास्तव में संयम में बाधा न पहुँचाकर जितनी तन्मयता से सेवा की है, विरले ही पुत्र अपने हाथों अपनी मां की ऐसी सेवा करते होंगे। आजकल तो प्रायः माता-पिता की लम्बी बीमारी में लोग सेवा के लिए नर्स रख देते हैं। विरले ही शिष्य अपने गुरू की ऐसी लम्बी बीमारी में इतनी अच्छी-उचित परिचर्या करते हैं अतः मेरे मुख से बार-बार यह निकल जाता है कि—

"अब मेरी आयु बहुत नहीं है, शरीर जीर्णशीर्ण हो चुका है, तुम लोग-योग्य शिष्य मेरी समाधि अच्छी करा दो।"

उपर्युक्त मेरे शब्दों को सुनकर मोतीचन्द ने एक-दो दिन विचार किया पुनः बोले—

"माताजी! मैंने आज तक आपकी आज्ञा पालन की है, अब भी आज्ञा उलंघन करने का साहस नहीं है अतः आप जो कहें, सो मंजूर है। बस! इच्छा यही है कि दीक्षा आज ही हो जावे.....।"

मैंने दिल्ली से जिनेन्द्र प्रसाद ठेकेदार और कैलाशचंद को बुलाया। रवीन्द्र कुमार और ये दोनों श्रावक बैठे। परामर्श करके यह कहा कि—

"तुम (रवीन्द्र कुमार) जिनेन्द्र प्रसाद और कैलाशचंद इंदौर जावो, आचार्य विमलसागर जी महाराज से प्रार्थना करो कि वे ज्येष्ठ मास में यहाँ हस्तिनापुर आ जावें और इनका दीक्षा समारोह संपन्न किया जावे।"

मेरी आज्ञानुसार रवीन्द्र कुमार आदि ये तीनों फाल्गुन कृ. ३,२७ फरवरी १९८६ को इंदौर के लिए रवाना हुए और वहाँ पहुँचकर आचार्यश्री के दर्शन कर यहाँ आने के लिए और मोतीचंद की दीक्षा के लिए निवेदन कर उनके मुखारविंद से निकले आदेश को लेकर फाल्गुन कृ. ६, २ मार्च रविवार को यहां आ गये और मुझसे बोले—

"आचार्य श्री ने आपको आशीर्वाद कहा है और बोले हैं कि मेरा चातुर्मास फिरोजाबाद होना निश्चित है अतः इतनी गर्मी में मैं पहले हस्तिनापुर नहीं आ सकूँगा। चातुर्मास के बाद सोनागिरि, जयपुर होते हुए हस्तिनापुर आऊँगा, तभी दीक्षा का कार्यक्रम रखा जावेगा।"

इतनी लम्बी बात सुनकर मोतीचन्द बहुत चिंतित हुए किन्तु.....मेरी आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए मन मसोस कर रह गये। कई बार कह देते थे—

"माताजी! मुझे अब एक-एक दिन निकालना भारी लगता है। अब इतनी उत्कट इच्छा है कि अभी-अभी दीक्षा ले लूँ.....।"

उनके इन शब्दों को सुनकर मैं अपनी पुरानी बात सन् १९५५ की याद करती कि आचार्यश्री शांतिसागर जी की सल्लेखना देखकर मुझे आर्यिका दीक्षा लेनी थी। चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री की आज्ञानुसार मुझे राजस्थान में आकर आचार्य श्री वीरसागर जी से दीक्षा लेनी थी। वहाँ म्हसवड़ चातुर्मास में अकलूज के मियाचंद फड़े ने आकर कई बार कहा—

"माताजी! यहाँ से श्रवणबेलगोल नजदीक है। आर्यिका दीक्षा के बाद पैदल विहार कर उत्तर प्रांत से दक्षिण आकर भगवान के दर्शन करना बहुत कठिन है। मैं आपको मगसिर में दर्शन कराऊँगा तब तक आप जयपुर न जावें किन्तु अत्यधिक आकुलता से मैंने उनकी नहीं मानी थी और भगवान बाहुबलि के दर्शन छोड़कर जयपुर आ गयी थी। आखिर यहाँ भी आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने मेरी उम्र २१ वर्ष की देखकर और बनायी हुई मर्यादा के अनुसार चार महिने लगभग टाल दिया था। मैं मन-मन में तड़फती रही थी कि—

"अहो! भगवान बाहुबली के दर्शन भी छोड़ आई और दीक्षा भी नहीं हो रही है.....।"

पुनः वैशाख वदी २ को मेरी आर्यिका दीक्षा हुई थी। अस्तु! मैंने जैसे-तैसे मोतीचन्द को समझाया और कहा कि—

"मोतीचन्द! तुम इस चातुर्मास में जहाँ-जहाँ की यात्रा करनी है, खूब कर लो।"

यद्यपि मोतीचन्द ने सारी यात्राएँ कर ली थीं। तीन वर्षों से ज्ञान ज्योति प्रवर्तन कराते हुए अनेक प्रांत, नगर और शहरों में घूम चुके थे फिर भी इनके मन में पुनरपि कुछ यात्राओं की उमंग थी, उसके अनुसार रूपरेखा बनायी गयी।

इसके बाद आचार्यश्री के फिरोजाबाद प्रवेश में रवीन्द्र कुमार गये थे। आषाढ़ सुदी ६, १३ जुलाई रविवार को आचार्यश्री विमलसागर जी संघ की वी.डी.ओ. फिल्म बनवायी जो कि मुझे दिखाने के लिए लाये और आकर आचार्यश्री का मंगल आशीर्वाद सुनाया पुनः ११ अगस्त को श्रावण में माधुरी फिरोजाबाद गईं और विहार की तारीख निश्चित करने हेतु प्रार्थना की। आचार्यश्री ने कहा—

"मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार को भेजो!"

वैसे सन् १९८७ में यहाँ हस्तिनापुर आने को कहा, तब बहुत लम्बा लग रहा था, मैं चाहती थी कि आचार्यश्री फिरोजाबाद से सीधे इधर आ जावें और मगसिर या पौष में दीक्षा हो जावे। खैर! सोचने से क्या होता था? जब दीक्षा का योग होगा, तभी तो होगी, ऐसा सोचकर शांति तो रखनी ही पड़ी। अभी तक मोतीचंद कहते रहते थे कि मेरी दीक्षा के बारे में प्रचार मत करो, किसी से कुछ चर्चा मत करो जब मुहूर्त निश्चित हो जाये तभी बाहर चर्चा करनी चाहिए। इस बीच में विधान आदि के निमित्त से मोतीचन्द के इधर-उधर जाने आने के प्रोग्राम बनते रहे।

आचार्यश्री के दर्शन —

भादों वदी १२, १ सितम्बर को मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार और पं. सुधर्मचंद फिरोजाबाद गये। आचार्यश्री के दर्शन किये। आचार्यश्री ने मोतीचन्द से कहा—

"फाल्गुन में दीक्षा का मुहूर्त है।" 'पंचांग देखकर तिथि घोषित करेंगे।"

इसके बाद ये लोग २ सितम्बर को मेरे पास आ गये।

इन्द्रध्वज विधान —

दिल्ली के पल्टूमल जैन 'इंजीनियर' दिल्ली नगर निगम ने यहाँ दशलक्षण में इन्द्रध्वज विधान कराने का निर्णय लिया। वे चाहते थे कि माधुरी, रवीन्द्र कुमार, मोतीचन्द ये तीनों यहीं मेरे विधान में रहें, किन्तु माधुरी का दशलक्षण में अहमदाबाद जाना पहले से ही निश्चित था तथा इधर सौभाग्यमल कटारिया अहमदाबाद से आये थे। उनके आग्रह विशेष से मैं मोतीचन्द को भी भेजना चाहती थी। यद्यपि मोतीचन्द कह रहे थे कि—

"मैं अब एक वर्ष के लिए दशलक्षण में क्या जाऊँ? अब मुझे जाना तो है नहीं, दीक्षा लेना है.....।"

किन्तु फिर भी मेरी आज्ञा नहीं टाल सके अतः जाने के लिए प्रोग्राम बना लिया। यहाँ से भादों शु. २, ६ सितम्बर को सुधर्मचंद तिवरीवाले, मोतीचन्द जैन, कु. माधुरी और ब्र. श्यामाबाई ये चारों लोग लगभग ११ बजे निकलकर दिल्ली गये। दिल्ली से अहमदाबाद के लिए रवाना हो गये।

मोतीचन्द को पिता का वियोग —

उसी दिन इधर लगभग ५ बजे दिल्ली से एक आदमी आया। उसने बताया कि डा. कैलाशचंद जैन राजाटॉयज वालों के यहाँ फोन आया है कि—

"मोतीचन्द के पिता और बहनोई दोनों का स्वर्गवास हो गया है।"

यह दुःखद समाचार सुनते ही रवीन्द्र कुमार ने आकर मुझे बताया और आदमी दिल्ली भेजकर अहमदाबाद टेलीफोन कराया पुनः यहाँ कार्यालय से एक श्रावक अनिल कुमार जैन को भादों सुदी ६, ९ सितम्बर को सनावद भेजा गया। मेरे द्वारा वी.डी.ओ. कैसेट भी दी गयी और सारा सही समाचार मंगाया गया। उधर अहमदाबाद में मोतीचन्द को दिल्ली से टेलीफोन द्वारा पिता के स्वर्गवास का समाचार मिला तो पं. सुधर्मचंद जी उन्हें साथ लेकर सनावद चले आये। पंडित जी तो अहमदाबाद अपने दशलक्षणधर्म के कार्यक्रम में वापस आ गये और मोतीचन्द सनावद रुक गये।

वहाँ इंदौर में पहले ४ सितम्बर को रात्रि १० बजे मोतीचन्द जी के बहनोई महेन्द्र कुमार जैन का स्वर्गवास हो गया था। यह समाचार मोतीचन्द के पिता को दिया भी नहीं गया पुनः ५ सितम्बर १९८६ को पिता अमोलकचंद सर्राफ का स्वर्गवास हो गया। इसके पूर्व ७-८ दिन पहले यहाँ से पं. नरेशचंद सनावद गये हुए थे उन्होंने देखा था कि अमोलकचंद जी स्वयं पूजन की थाली लेकर मंदिर गये थे और पूजन करके धीरे-धीरे वापस आ रहे थे।

इन्द्रध्वज विधान —

दिल्ली के पल्टूमल जैन ने अपने परिवार सहित अनेक धर्मप्रेमी श्रावकों के साथ यहाँ हस्तिनापुर में त्रिमूर्ति मंदिर में इन्द्रध्वज विधान किया। झंडारोहण ५ सितम्बर, भादों सु. १ को हुआ पुनः विधान का हवन होकर १६ सितम्बर १९८६, भादों शु. १३ को रथयात्रा हुई। १०८ कलशों से जिनेन्द्रदेव का अभिषेक हुआ।

इसी दिन राजकुमार जैन दिल्ली, जो कि पल्टूमल के दामाद हैं, इन्होंने बिना प्रेरणा के—स्वरुचि से कमलमंदिर के लिए ५१ हजार रुपये का दान बोला। ये पल्टूमल जैन और राजकुमार दोनों ही इस संस्थान के प्रति आत्मसात् हो गये थे। यहाँ १३ दिनों में बहुत ही अच्छी भावनाएँ व्यक्त कीं और बहुत ही प्रभावित रहे थे।

बुंदेलखंड की यात्रा —

यहाँ से सनावद जाने के लिए रवीन्द्र कुमार और मनोज कुमार (अनंतवीर्य के पुत्र) १९ सितम्बर,

आश्विन कृ. १ को चले गये। ये २० सितम्बर को तेरहवीं के दिन वहाँ पहुँच गये। श्रद्धांजलि सभा में रवीन्द्र ने अपना भाषण देते हुए मेरा संदेश सुनाया और संवेदना प्रगट की। इसके बाद सनावद के लोगों ने बुंदेलखंड यात्रा का प्रोग्राम बना लिया, जिसमें लगभग १७५ यात्री थे। २० सितम्बर को ही ये लोग अतीव आग्रह पूर्वक मोतीचंद और रवीन्द्र कुमार को यात्रा में साथ ले गये। यह यात्रा मात्र ८ दिन की थी। इसमें इन्होंने चंदेरी, देवगढ़, ललितपुर, पपौराजी, अहारजी, खजुराहो, कुण्डलगिरि, नैनागिरि आदि के दर्शन किये।

इसके बाद मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार दोनों हस्तिनापुर आ गये। मोतीचन्द को इस बात का बहुत दुःख रहा कि—

"मेरे पिताजी मेरी दीक्षा नहीं देख सके, चले गये" किन्तु भला काल के आगे किसी की क्या चली है?"

आचार्यश्री का जन्मदिवस —

२५ सितम्बर १९८६, आश्विन कृ. ७ को आचार्यश्री विमलसागर जी की जन्मजयंती फिरोजाबाद में अच्छे समारोह से मनाई गई। उस अवसर पर यहाँ से मैंने पं. सुधर्मचंद और नरेश कुमार को यहां आने की प्रार्थना के लिए भेज दिया। चूँकि मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार यात्रा में थे और माधुरी यहाँ आकर अस्वस्थ हो गई थीं। वहाँ संघ में सभी साधुओं को भी जंबूद्वीप के दर्शन की बहुत ही 'उत्कंठा' हो रही थी।

दीक्षा के लिए श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना —

आश्विन शु. ५, ८ अक्टूबर को मोतीचंद ने यहाँ मेरे समक्ष श्रीफल चढ़ाकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए विधिवत् प्रार्थना की। मैंने भी प्रसन्न मन से स्वीकृति देते हुए कहा—

"मोतीचंद! तुमने इतने महान् जंबूद्वीप निर्माण कार्य को पूरा किया है, अब आत्मकल्याण के लिए दीक्षा ग्रहण करना चाहते हो, मुझे बहुत खुशी है। आचार्य संघ को यहाँ लाकर दीक्षा ग्रहण करो और मनुष्य पर्याय के फलस्वरूप संयमसाधना में कदम बढ़ाओ, यही मेरी शुभकामना है और मंगल आशीर्वाद है।"

इसके बाद आशीर्वाद ग्रहण कर मोतीचन्द दिल्ली गये। वहां से संस्थान के अनेक सदस्यों को लेकर फिरोजाबाद गये। वहाँ १२ अक्टूबर १९८६, आश्विन शु. १०, विजया-दशमी को आचार्यश्री विमलसागर जी के समक्ष श्रीफल चढ़ाकर दीक्षा के लिए प्रार्थना की। आचार्यश्री ने भी स्वीकृति देकर, मुहूर्त निकालकर, फाल्गुन शु. ९, रविवार, ८ मार्च १९८७ का मंगल दिवस क्षुल्लक दीक्षा के लिए बतलाया।

इस प्रतिनिधि मंडल में मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार, जिनेन्द्र प्रसाद ठेकेदार, राजेन्द्र प्रसाद (कम्मोजी), सुरेशचंद गोटे वाले आदि अनेक महानुभाव थे।

इस दिन आचार्यश्री ने यह भी कहा कि—

"अब आज से मोतीचन्द की बिनौरियाँ (शोभायात्राएँ) शुरू करा दो।" उपाध्याय मुनि भरतसागर जी ने कहा—"मोतीचंद की दीक्षा एक आदर्श दीक्षा होगी क्योंकि इन्होंने जंबूद्वीप निर्माण, ज्ञानज्योति प्रवर्तन आदि महान् कार्य किये हैं।"

इसके बाद यहाँ हस्तिनापुर में १९ अक्टूबर को मेरे जन्मदिवस के उपलक्ष्य में संस्थान के कार्यकर्ताओं ने मेले का आयोजन किया।

बद्रीनाथ की यात्रा —

श्रीचंद जैन सनावद वाले, उनकी धर्मपत्नी सरला, मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार और मनोज कुमार ये लोग कार्तिकवदी ३, २० अक्टूबर को यहाँ से प्रस्थान कर हरिद्वार पहुँचे। वहाँ जौहरीलाल जी के यहाँ ठहरे पुनः टैक्सी से श्रीनगर, जोशीमठ होते हुए बद्रीनाथ पहुँचे। वहाँ के तप्तकुंड के जल में स्नान किया पश्चात् मंदिर गये। यद्यपि यह मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है, फिर भी आज उन्हें बद्रीनाथ कहते हैं और दर्शन दूर से ही

कराते हैं। वहाँ बद्रीनाथ में इंदौर के श्रेष्ठी महानुभावों ने कुछ जगह लेकर भगवान ऋषभदेव के चरण स्थापित किए हैं, वहाँ गये किन्तु वहाँ के दरवाजे बंद हो जाने से इन्हें दर्शन नहीं हो सके। कहते हैं वहाँ इतनी बर्फ पड़ती है कि एक-दो तपस्वी वैष्णव साधु, मंदिर के प्रबंधक एवं सरकारी कर्मचारियों के सिवाय वहाँ शीतकाल में कोई नहीं रहते हैं। १६ नवम्बर को दरवाजे बंद हो जाते हैं जो पुनः शीतकाल के बाद खुलते हैं।

वापस में इन लोगों ने श्रीनगर के मंदिर में पूजन किया, वहीं भोजन कर हरिद्वार आये। जौहरीलाल जैन ने इन लोगों का माल्यार्पण आदि से अच्छा सत्कार किया पुनः२५ अक्टूबर को ये लोग हस्तिनापुर आ गये।

कमल मंदिर का शिलान्यास —

कार्तिक वदी ८, २६ अक्टूबर १९८६ का स्वर्णिम दिवस है। यहाँ जंबूद्वीप के लिए जो जगह सन् १९७४ में खरीदी गयी थी, वहां सर्वप्रथम भगवान महावीर की सवा नव फुट ऊँची खड्गासन जिनप्रतिमा विराजमान करने के लिए सन् १९७५ में छोटा सा गर्भागार (कमरा) बनवाया गया था। भगवान महावीर की प्रतिमा साक्षात् कल्पवृक्ष ही हैं, इन्हीं के प्रभाव से आज यहाँ जंगल में मंगल दिख रहा है।

इनके लिए 'कमलमंदिर' का मॉडल सन् १९८५ में ही मैंने बनवाया था किन्तु उस मंदिर के शिलान्यास का महान् श्रेय राजकुमार जैन, दिल्ली वालों ने प्राप्त किया।

२६ अक्टूबर, रविवार को प्रातः पूजन होने के बाद ९ बजकर ४१ मिनट पर ५ फुट गहरे गड्ढे में अचल यंत्र विराजमान करके विधिवत् शिला रखायी गई। राजकुमार और पल्टूमल ने बहुत बड़े उत्साह के साथ शिलान्यास किया था। आज ३१ दिसम्बर को देखिये—इस कमल मंदिर का काम जोरों से चल रहा है। गोलाकार मंदिर बन चुका है अब आसाम से आया कारीगर वासुदेव पाल कमल की पंखुड़ियाँ बना रहा है।

इस मंगल अवसर पर मैं, आर्यिका अभयमती जी, आर्यिका शिवमती जी, क्षुल्लिका शांतिमती जी भी उपस्थित थीं। अमरचंद जैन होमब्रेड, मेरठ वालों ने इस अवसर पर शांति विधान किया।

सम्मेद शिखर यात्रा —

मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार, कु. माधुरी, कुमुदनी, कु. बीना आदि सभी लोग प्रातः १० बजे, कार्तिक वदी १०, २८ अक्टूबर १९८६ को मेरा आशीर्वाद लेकर सम्मेद शिखर की यात्रा के लिए निकले। यहाँ के विद्यार्थी और अध्यापक आदि ने इनको पुष्पहार पहनाकर यात्रा के लिए मंगल कामनाएँ व्यक्त कीं। ये लोग यहाँ से अयोध्या, बनारस आदि होते हुए पावापुरी में भगवान् महावीर के निर्वाण दिवस पर निर्वाण लाडू चढ़ाकर, राजगृही, चंपापुरी, सम्मेदशिखर की वंदना करके कार्तिक शु. ११, १२ नवम्बर को रात्रि में हस्तिनापुर आ गये।

यहाँ १३ नवम्बर को प्रातः यात्रा से आये इन लोगों का सम्मान किया गया।

महमूदाबाद में प्रथम सम्मान —

मोतीचन्द जी कई बार कहा करते थे कि मैंने अभी आर्यिका रत्नमती माताजी की जन्मभूमि नहीं देखी। जब इनकी दीक्षा का मुहूर्त निश्चित हो गया, तब वहाँ के श्रावकों ने आग्रहपूर्वक कार्यक्रम का आयोजन किया। मगसिर शु. १४, दिनाँक १५-१२-८६ को सभा में मोतीचन्द का परिचय देते हुए वहाँ के लोगों ने सम्मान किया पुनः अगले दिन मगसिर शु. पूर्णिमा, दिनाँक १६-१२-८६ को रथयात्रा के साथ ही मोतीचन्द को खुली जीप में बिठाकर अच्छे समारोह से शोभायात्रा निकाली। बहुत ही प्रभावना के साथ वहाँ मोतीचन्द का सम्मान किया गया। आस-पास के श्रावकों ने भी आकर भाग लिया।

इसके पूर्व दीक्षा की तिथि का एक पोस्टर छपा कर दीक्षा के मंगल अवसर का प्रचार सर्वत्र किया जा रहा था।

£८९¤

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के भाव —

मगसिर शु. १४, दिनाँक १५, दिसम्बर १९८६ को प्रातः रवीन्द्र कुमार मेरे पास आये। 'वंदामि' करके बहुत प्रसन्नता से बोले —

"माताजी! मेरे मन में आज एक उत्तम विचार आया है।"

मैंने कहा — "सुनाओ।"

तब रवीन्द्र ने कहा — "माताजी! श्री विमलसागर जी महाराज यहाँ पधार रहे हैं। उनके करकमलों से एक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन कराना चाहिए। मैं सोच रहा हूँ कि संक्षेप में महोत्सव कराया जावे। मैंने संक्षेप में बजट सोचा है। आपको भी सुना दूँ.....।"

मेरा हृदय भी आनन्द से गद्‌गद हो गया। मैंने कहा —

"मेरे मन में भी भाव तो बहुत उठते थे किन्तु कार्य भार कौन संभालेंगे? ऐसे भय से मैं बोल नहीं पाती थी। तुम्हारे मन में बड़े उत्तम विचार आये हैं, बहुत ही खुशी हो रही है। देखो! दो दिन में मोतीचन्द महमूदाबाद से आ जावें, बस निर्णय पक्का करके पहले आचार्यश्री विमलसागर जी से आज्ञा ले आवो, फिर बाहर बात प्रकट करना।"

रवीन्द्र बोले —

"मैंने सोचा है कि त्रिमूर्ति मंदिर में आजू-बाजू की वेदियों में बीच-बीच में भगवान नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की जावें और भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति तो सहस्रफणा हो, तो मजा आ जावे।"

उधर महमूदाबाद से १८ दिसम्बर को मोतीचन्द आ गये। उनको मैंने यह शुभ समाचार सुनाया। वे भी प्रसन्न हुए। तब रवीन्द्र कुमार ने आदमी भेजकर अमीनगर सराय से श्री धनराज जैन ज्योतिषी को बुलाया। फाल्गुन में दीक्षा के समय के आस-पास ही पंचकल्याणक मुहूर्त की चर्चा की।

इसके बाद मैंने कहा —

"अब सबसे पहले आचार्यश्री के पास जाकर आज्ञा लेकर आवो.....।"

पौष वदी ४, दिनाँक १९ दिसम्बर १९८६ को रवीन्द्र कुमार धनराज जैन को साथ लेकर यहां से साढ़े आठ बजे निकले और आचार्यश्री के पास पहुँचकर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने के भाव सुनाये, महाराज जी भी खुश हुए पुनः आचार्य श्री ने फाल्गुन शु. ७ से ११ तक, दिनाँक ६ मार्च से ११ मार्च तक प्रतिष्ठा का मुहूर्त निकाल दिया अर्थात् ६-७ मार्च को गर्भकल्याणक, ८ मार्च को जन्मकल्याणक, ९ मार्च को तपकल्याणक, १० मार्च को ज्ञानकल्याणक और ११ मार्च को मोक्षकल्याणक का मुहूर्त निश्चित किया।

इधर १९ दिसम्बर को गणेशीलाल रानीवाला आ गये थे अतः पौष वदी पंचमी, दिनाँक २१ दिसम्बर रविवार को शीघ्र ही मीटिंग की गयी। इसमें 'भगवान पार्श्वनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव एवं दीक्षा समारोह समिति' का गठन किया गया। इसमें गणेशीलाल रानीवाला, कोटा को अध्यक्ष, मोतीचन्द को कार्याध्यक्ष, रवीन्द्र कुमार को महामंत्री और अमरचंद होमब्रेड, मेरठ को संयोजक बनाया। बड़ौत के नरेशचंद जैन (पद्मावती कोल्ड स्टोर) ने आचार्य संघ को लाने की जिम्मेवारी ली अतः इन्हें माला पहनाकर संघपति नाम से सम्मानित किया गया। साथ ही वीरेन्द्र कुमार, मेरठ और विशालचंद सलावा ने यहाँ पर संघ के आने पर यहाँ रहने तक की व्यवस्था की जिम्मेवारी संभाली अतः उन्हें भी सम्मानित किया गया। इधर पं. शिखरचंद प्रतिष्ठाचार्य को बुलाने के लिए आदमी भेजा गया था अतः पौष वदी ७, दिनाँक २३ दिसम्बर को

पंडित जी आ गये, उन्होंने भी प्रसन्नता व्यक्त की। उन्हें मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार ने तिलक करके श्रीफल भेंट किया और मार्च में प्रतिष्ठा कराने के लिए निवेदन किया। पंडित जी ने सहर्ष स्वीकार किया और बोले—

"मेरा पुण्य योग है जो यहाँ हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर मैं १०० प्रतिष्ठा के बाद यह १०१ वीं (एक सौ एक वीं) प्रतिष्ठा कराऊँगा तथा विधिनायक भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा का योग भी पहला ही है।"

इसके बाद मैंने कहा—

"अब जयपुर जाकर जिनप्रतिमाओं के लिए आदेश देवो।"

मेरी आज्ञा लेकर रवीन्द्र कुमार जयपुर गये। वहाँ पर भगवान पार्श्वनाथ की सहस्रफणा मूर्ति तथा भगवान नेमिनाथ की मूर्ति के लिए सूरजनारायण नाठा को आर्डर दिया और विधिनायक भगवान पार्श्वनाथ की धातु की ९ इंच की मूर्ति ली।

"इस प्रतिष्ठा में सुदर्शनमेरु पर्वत के ऊपर स्वर्ण का कलश चढ़ाना था। यह निर्णय हुआ था कि १-१ लाख के छह दातार अथवा ५०-५० हजार के बारह दातार कर लिए जायें, उनके हाथों से कलशारोहण कराकर सुमेरु पर्वत के निर्माण में सहयोगी इन दातारों की प्रशस्तियां जँबूद्वीप के प्रवेश के निकट लगा दी जावें।"

इसी निमित्त से रवीन्द्र कुमार अहमदाबाद, बम्बई चले गये।

पांडाल के लिए भूमि शुद्धि —

यहां पर बहुत ही द्रुतगति से काम चलाना था अतः पौष वदी ११, दिनाँक २७ दिसम्बर को मोतीचन्द ने पांडाल के लिए भूमि शुद्धि हेतु पूजन किया। मंच निर्माण के लिए वेदी के स्थान पर क्षेत्रपाल की स्थापना कर नव ईंटें रखी गईं। इसी मंगल बेला में एक श्रावक विधिनायक भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा लेकर वहीं मुझे दिखाने आ गये। प्रतिमा को हाथ में लेकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई।

इधर आसाम से 'वासुदेव' कारीगर को मंदिर में कमल बनाने के लिए बुलाया गया।

श्रवणबेलगोल की यात्रा —

मोतीचंद ने अपनी बहन चतुरमणी और भानजी सीमा को बुलाया था। ये दोनों १ जनवरी को आ गये अतः मोतीचन्द ने दक्षिण के तीर्थों की यात्रा का प्रोग्राम बना लिया। मोतीचन्द, चतुरमणी, कु.माधुरी, सीमा और विजयकुमार आदि यात्रा जाने वालों को पुष्पमाला पहनाकर सम्मानित किया गया। पौष सुदी ३, दिनाँक २ जनवरी १९८७ के दिन प्रातः ५ बजकर ४५ मिनट पर ये लोग यहाँ से आशीर्वाद लेकर निकले। सबसे पहले ये लोग गजपंथा पहुँचे। उधर बम्बई से रवीन्द्र कुमार भी गजपंथा पहुँच गये और यात्रा में साथ हो गये। ये सभी आचार्यश्री देशभूषण जी के पास कोथली पहुँचे, उनके दर्शन कर आशीर्वाद लिया। यात्रा करते हुए कुंभोज में मुनि समंतभद्र जी का आशीर्वाद लेकर चर्चायें कीं पुनः श्रवणबेलगोल पहुँचे। वहाँ भट्टारक श्री चारूकीर्ति जी ने दीक्षार्थी मोतीचंद का अच्छा सम्मान किया। श्री धरणेंद्रैय्या और ललितम्मा ने भी इनका खूब सम्मान किया। जगह-जगह इनका सम्मान होता रहा। ये लोग यात्रा करते हुए उधर दक्षिण में 'कन्याकुमारी' तक गये।

माधुरी १९ जनवरी, माघ वदी ४ को ही वापस आ गईं पुनः ये सभी लोग भी माघ वदी ९, २४ जनवरी को यात्रा करके आ गये।

शनिवार माघ वदी ९ को आर्यिका रत्नमती जी की द्वितीय पुण्यतिथि पर श्रद्धांजलि सभा हुई पुनः रविवार को प्रतिष्ठा समिति की मीटिंग हुई। मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार ने यात्रा के संस्मरण लोगों को सुनाये। अनंतर लोगों ने यात्रा की सफलता पर दोनों का माला पहनाकर सम्मान किया।

मेरी यह नीति रही है कि दीक्षा लेने वाले को सारी तीर्थ यात्राएँ पहले ही करा दी जायें, मैंने कई साधु देखे हैं जो कि दीक्षा लेकर कुछ वर्ष भी गुरु के पास संघ में न रहकर यात्रा के निमित्त संघ से अलग हो जाते है और कोई-कोई अपने पद के प्रतिकूल भी याचना वृत्ति करके यात्राएँ करते हैं अतः पहले यात्रा करके दीक्षा लेने पर आकुलता नहीं रहती है। फिर भी कभी पैदल यात्रा करना हो तो मर्यादा के अनुकूल संघ बनाकर, संघपति आदि व्यवस्थापक मिल जाने पर यात्रा करना चाहिए।

तीन लोक व सर्वतोभद्र विधान पूर्ति —

इधर मैं अपने तीनलोक विधान बनाने में मग्न थी। रात्रि में भी नींद न आने से कभी-कभी उठकर बैठ जाती और लिखने लगती। यद्यपि मस्तिष्क में थकान बहुत हो जाती थी। लम्बी बीमारी के बाद काफी कमजोरी थी, फिर भी मैं शरीर को कुछ न गिनकर उससे जबरदस्ती काम ले रही थी।

माघ वदी २, दिनाँक १७ जनवरी को मैं सायंकाल में सामायिक कर रही थी। जाप्य करते-करते बेहोश सी हो गई। मुझे कुछ पता ही नहीं चला, पास में बैठी हुई सौ. हीरामणि, ब्र. राजमती, गीता और कु. बीना आदि महिलाएँ-बालिकाएँ घबरा गईं, मुझे पकड़ लिया और जोर-जोर से णमोकार मंत्र बोलने लगीं। कुछ देर बाद मुझे सावधानी हुई, तब कमजोरी बेहद थी, कुछ समझ में नहीं आया क्या हुआ?

अगले दिन मध्यान्ह में मेरठ से शेफुद्दीन हकीम जी आये, उन्होंने कहा—

"माताजी के शरीर में पानी की बहुत कमी है, इनके आहार में पानी और रस की मात्रा बढ़ा दो। सारी जानकारी के अनुसार जब उन्हें मालूम हुआ कि परसों १६ जनवरी को माताजी ने उपवास किया था, तब तो उन्होंने यहीं हेतु प्रमुख कर दिया.....।"

खैर! धीरे-धीरे स्वास्थ्य सामान्य हुआ। १९ जनवरी को माधुरी आ गईं, वह बोलीं—

" १७ जनवरी को रात्रि के प्रारंभ में मुझे बहुत ही आकुलता हुई थी, मैं रोने लगी। मुझे ऐसा लगा कि जैसे-तैसे उड़कर ही माताजी के पास पहुँच जाऊँ। तभी मैं वहाँ से चल चुकी थी, मद्रास से गाड़ी मिली और बैठकर १९ को यहाँ आ गई हूँ।"

जब यह बात महिलाओं ने सुनी, तब यही कहने लगीं कि—

"बहन जी! यहाँ माताजी के स्वास्थ्य की गड़बड़ी का असर ही वहाँ तुम्हें बैचैन कर रहा था।"

प्रायः इसे ही संस्कार कहते हैं।

इसके बाद मैं तो अपने लेखन कार्य को पूर्ण करने में लगी थी। चिंता थी कि प्रतिष्ठा के पहले ही पूर्ण कर दूँ कहीं किसी व्यवधान से यह विधान अपूर्ण न रह जाये.....अतः लिखने में ही मैं सब कुछ भूली हुई थी।

तीनलोक के तीन विधान —

तीनलोक का विधान बनाते हुए उसमें मैंने तीन विधान कर दिये। पहले विधान में ३२ पूजाओं में ही संक्षेप में तीनलोक के सम्पूर्ण अकृत्रिम जिनमंदिरों के अर्घ्य आ गये हैं। इसे 'त्रैलोक्य विधान' नाम दिया। दूसरा मध्यम विधान कर दिया, इसमें ६४ पूजायें रखी हैं। इसमें भी तीनों लोकों के सर्व अकृत्रिम जिनमंदिर-जिनप्रतिमाओं की ही पूजाएं हैं। यह पहले से विस्तृत है। इसका नाम 'तीन लोक विधान' रखा है। इसका दूसरा नाम 'मनोकामना सिद्धि' विधान है। इन दोनों विधानों को पौष शुक्ला १३, दिनाँक १२ जनवरी १९८७ को प्रातः मंगलबेला में ७ बजकर ३० मिनट पर पूर्ण किया था। आज यहाँ लिखते समय भी पौष शु. १३ ही है। हाँ! सन् १९८८ है।

साथ ही वृहत् विधान एक सौ एक-एक सौ एक पूजाओं का बनाया। इसमें तीनलोक में जितने भी पूज्य महापुरुष हैं, और उनके कल्याणकों से पवित्र तीर्थ हैं इत्यादि सभी की पूजाएँ हैं। कुल मिलाकर मध्यलोक के

मनुष्य लोक में अर्थात् ढाई द्वीप तक अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पाँच परमेष्ठी हैं तथा जिनधर्म, जिनागम भी यहीं ढाई द्वीप में होते हैं। इसी प्रकार कृत्रिम जिनप्रतिमा और जिनमंदिर भी यहीं तक है। हाँ, इन नव देवताओं के अंतर्गत ही अकृत्रिम जिनप्रतिमा और जिनमंदिर अधोलोक, पूरे मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक में सर्वत्र हैं। इन सबकी पूजाएँ इस विधान में हैं। यह बड़ा 'तीनलोक विधान' है, फिर भी मैंने सार्थक नाम रूप से इसे 'सर्वतोभद्र विधान' ऐसा नाम दिया है।

माघ शु. १०, दिनाँक ८ फरवरी १९८७ को मध्यान्ह ग्यारह बजकर पचपन मिनट पर (११.५५) इस विधान को मैंने पूर्ण किया है। यह 'सर्वतः' — सब तरफ से और सब प्रकार से 'भद्र' — कल्याण करने वाला होवे, ऐसी भावना है।

इन सभी विधान पूजन की रचनाओं में मेरा चित्त अत्यधिक तन्मय हो जाता था उस समय का आनन्द एक अपूर्व ही रहता था। वास्तव में उस समय कितना पुण्य बंध होता होगा, यह कल्पना से बाहर है। मुझे ऐसा लगता है कि —

"आचार्यों ने जो भी ग्रंथ लिखे हैं, उसमें स्वयं आत्मा का आनन्द और शुभोपयोग की पराकाष्ठा रहती ही होगी अतः उन्होंने भी स्वयं की विशुद्धि के लिए ही ग्रंथ रचनाएँ की होंगी परहित गौण ही रहा होगा।' मैंने भी जितने ग्रंथ लिखे हैं, पूजाएँ बनायी हैं, अनुवाद किये हैं, उन सबमें केवल अपनी आत्मविशुद्धि, मानसिक अपूर्व शांति और सम्यग्ज्ञान की निर्मलता का ही मुख्य लक्ष्य रहा है। परहित होता है तो अच्छा ही है।

निर्माण कार्य —

यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में दाहिनी वेदी की नींव में पौष शुक्ला त्रयोदशी के दिन मैंने अचल यंत्र रखाया। यहाँ सुन्दर कमल बनाया गया। जिस पर भगवान नेमिनाथ विराजमान किये गये हैं। उनके नीचे सामने शंख का आकार बहुत ही सुन्दर बन गया है पुनः माघ वदी एकम्, दिनाँक १६ जनवरी को बायीं वेदी की नींव में यंत्र रखाया। यहाँ भी भव्य कमल पर सहस्रफणा भगवान पार्श्वनाथ विराजमान किये गये हैं। इसके नीचे भी सामने सर्प बनाया गया है जो कि भगवान पार्श्वनाथ का चिन्ह है, बहुत ही सुन्दर दिख रहा है।

उधर जंबूद्वीप के बाहर लवण समुद्र के गोपुर द्वार के आजू-बाजू में अनावृत यक्ष का भवन और क्षेत्रपाल का मंदिर बनाने का निर्णय होने से माघ वदी सप्तमी, दिनाँक २२ जनवरी १९८७ को वेदी में अचलयंत्र विराजमान कराया। वेदी बन जाने पर ११ मार्च को अनावृत यक्ष वहाँ विराजमान कर दिये गये और उनके गृहचैत्यालय में सिद्ध प्रतिमा विराजमान कर दी गईं। इधर बायीं तरफ चैत्र कृ. एकम्, १६ मार्च को क्षेत्रपाल स्थापित किये गये हैं।

अनावृत यक्ष जम्बूद्वीप का स्वामी है और क्षेत्रपाल सदा जिनधर्म के तथा जिनभक्तों के रक्षक माने गये हैं। ये दोनों ही 'देव' सदा इस क्षेत्र की और धर्म की रक्षा करते रहेंगे।

मोतीचंद के सम्मान —

२८ जनवरी को सरधना के श्रावकों ने मोतीचंद का भव्य सम्मान किया। १ फरवरी, माघ शु. ३, को दिल्ली में मोतीचंद को बग्घी में बिठाकर जुलूस निकाला गया और सभा में स्वागत करके रजतप्रशस्ति भेंट की गई। बसंत पंचमी के दिन लखनऊ में स्वागत करके अभिनंदन-पत्र भेंट किया गया। टिकैतनगर में भी बहुत ही उत्साह से मोतीचंद का स्वागत करके जुलूस निकाला गया। ८ फरवरी को मोतीचंद सनावद गये, वहाँ पर भी सनावद वालों ने अपने यहाँ जन्मे ऐसे मोतीचंद का बहुत ही अच्छा स्वागत सम्मान किया और गौरवान्वित हुए। कोटा में भी इनका भावभीना स्वागत करके सम्मान किया गया।

फाल्गुन वदी ६, दिनाँक १९ फरवरी को मैंने मोतीचन्द को आचार्यश्री धर्मसागर जी के दर्शन करके

आशीर्वाद लेने के लिए भेजा। वहाँ पहुँचकर मोतीचंद ने आहार दिया। आचार्य श्री का स्वास्थ्य बहुत ही गिरता जा रहा था अतः आहार नहीं ले सके, मात्र जल ही लिया। वहाँ भी मोतीचंद की बिन्दोरी (शोभायात्रा) निकाली गई, पुनः मध्यान्ह की सभा में आचार्यश्री ने अच्छा आशीर्वाद दिया बोले —

"तुम्हारे जैसे वीर क्षुल्लक नहीं बनते, मुनि बनो-तुमने धर्मप्रभावना के बहुत कार्य किये हैं, अब आत्म साधना करो।"

वहाँ से आचार्यश्री का आशीर्वाद लेकर आये और उनकी अस्वस्थता के समाचार सुनाये, तब मुझे बहुत ही दुःख हुआ। इतनी दूर होने से अब दर्शन तो हो नहीं सकते थे अतः रवीन्द्र कुमार ने वीडिओ कराकर मुझे आचार्यश्री के दर्शन कराये।

दीक्षा से एक दिन पूर्व यहाँ ७ मार्च को मंच पर दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के कार्यकताओं ने भी मोतीचंद का सम्मान कर रजत प्रशस्ति भेंट की। इसके बाद ८ मार्च को उनकी माँ रूपाबाई का सम्मान करके उन्हें रजत प्रशस्ति भेंट की गई। मनुष्य जीवन में माता के उपकार विशेष रहते हैं। फिर यदि उसने बचपन से धर्मघूंटी पिलाकर बालक को योग्य बनाया हो, तब तो उनके उपकार को स्मरण किये बिना नहीं रहा जा सकता है।

इस दीक्षा के पूर्व मोतीचंद का जगह-जगह जो सम्मान किया गया, वह केवल उनके द्वारा इस जंबूद्वीप निर्माण व ज्ञानज्योति प्रवर्तन के कार्यकलापों के निमित्त से ही किया गया पुनः मोतीचंद ने यही कहा कि — "यह सब माताजी का आशीर्वाद है। आज उन्होंने ही मुझे इस सम्मान के योग्य बनाया है।" यह मोतीचंद की भक्ति थी।

आचार्य श्री विमलसागर जी का मंगल विहार —

आचार्यश्री विमलसागर जी ने मथुरा से हस्तिनापुर की ओर विहार किया। माघ शु. १२,१० फरवरी को विहार कर आचार्य संघ फाल्गुन सुदी दूज, १ मार्च १९८७ को हस्तिनापुर आ गया। आगे जाकर मैंने आचार्यश्री के दर्शन किये, मुझे इतना हर्ष हुआ कि मैं गद्गद हो गई। आचार्यश्री का जम्बूद्वीप के प्रवेशद्वार पर मंगल स्वागत किया गया और मंगल आरती उतारी गई। आचार्यश्री ने संघ सहित जंबूद्वीप में प्रवेश कर सर्वप्रथम भगवान महावीर स्वामी के दर्शन किये। जंबूद्वीप रचना के दर्शन करके तीन लोक मंडल विधान में पधारे।

तीनलोक मंडल विधान —

मैंने शरद पूर्णिमा, अक्टूबर १९८६ से 'तीनलोक मंडल विधान' पूजन की रचना प्रारंभ की थी, जिसे पौष शु. १३ को पूर्ण की थी। मेरी यह नीति रही है कि 'दीक्षार्थी दीक्षा लेने के पूर्व तीर्थयात्रा कर लें, मंडल विधान पूजन कर लें और खूब मुनिसंघ को आहार दान दे लें।' ऐसा ही मैंने आचार्यश्री वीरसागर जी के श्रीमुख से भी सुना था और संघ में देखा भी था। इसी नीति के अनुसार उत्तर में हिमालय से दक्षिण में कन्याकुमारी तक यात्रा सम्पन्न कर लेने के बाद मोतीचंद ने मेरी प्रेरणा से मेरे द्वारा नवनिर्मित तीनलोक मंडल विधान को फाल्गुन वदी ७, दिनाँक २० फरवरी से प्रारंभ कर आज दिन फाल्गुन सुदी २, दिनाँक १ मार्च को पूरा किया था, अभी पूर्णाभिषेक होना था। आचार्यश्री पधारे, तभी मोतीचंद ने श्री जी की प्रतिमा का अभिषेक किया। आचार्यश्री ने गंधोदक लेकर स्वयं मस्तक पर चढ़ाया और अपने करकमलों से सभी को दिया।

त्रिमूर्ति मंदिर में सभा —

तत्पश्चात् आचार्यश्री त्रिमूर्ति मंदिर में पहुँचे, दर्शन किये। जुलूस यहीं मंदिर में सभारूप में परिणत हो गया। स्वागत, प्रवचन, संघपति का सम्मान आदि होने के बाद मैंने आचार्यश्री के चरणों में भक्ति सुमन समर्पित करते हुए निर्विघ्न प्रतिष्ठा सम्पन्न होने की मंगल कामना की, आचार्यश्री ने मंगल आशीर्वाद दिया।

आचार्यसंघ को यहाँ धर्मशाला नंबर दो में ठहराया गया। आचार्यश्री आदि मुनिगण बड़े हॉल में ठहरे। यहाँ संघ में स्वाध्याय और चर्चा को देखने-सुनने के लिए तथा संघ के दर्शनों के लिए भक्तों का तांता लग गया।

£ ९० ¤

मंगल महोत्सव —

फाल्गुन शु. ३, दिनाँक २ मार्च १९८७ को प्रतिष्ठा समिति के प्रमुख लोगों ने पं. शिखरचंद जैन प्रतिष्ठाचार्य को आचार्य निमंत्रण दिया। उसके बाद प्रतिष्ठा के लिए बनाये गये नूतन विशाल 'श्री विमल मंडप' के सामने ध्वजारोहण की क्रियायें प्रारंभ की गईं। आचार्यसंघ वहाँ विराजा था। मेरठ के श्री प्रेमचंद जैन, तेल वालों ने आचार्यश्री का आशीर्वाद लेकर झंडारोहण किया।

फाल्गुन शु. ४, दिनाँक ३ मार्च को मध्यान्ह में रथयात्रा निकाली गई पुनः जिनप्रतिमा को 'श्री विमलमंडप' की वेदी में विराजमान करके विधान-पूजन, जाप्यानुष्ठान आदि क्रियायें प्रारंभ की गयीं। मृत्तिकानयन, अंकुरारोपण होकर पंचपरमेष्ठी विधान प्रारंभ हुआ।

फाल्गुन शु. ५-६, दिनाँक ४-५ मार्च को इसी मंडप में पूजन-विधान आदि हुआ। फाल्गुन शु० ७, दिनाँक ६ मार्च को यागमंडल विधान होकर मध्यान्ह में पांडाल में भगवान चन्द्रप्रभ का निर्वाणलाडू चढ़ाया गया। इसी दिन सनावद के श्रीचंद जैन और उनकी धर्मपत्नी सरला जैन, जो कि भगवान पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन और माता वामादेवी बनने का सौभाग्य प्राप्त कर रहे थे, उनका जुलूस निकाला गया।

एक शुभ संकल्प —

ये श्रीचंद जैन सनावद में मोतीचंद के परममित्र थे। जब मोतीचंद घर से निकलकर मेरे साथ आने को तैयार हो चुके थे, तब इन्होंने हंसी में कहा था—

'जिस दिन आप दीक्षा लेंगे, उस दिन मैं ब्रह्मचर्य व्रत ले लूँगा।" यहां शरद पूर्णिमा १९८६ के दिन यह बात श्रीचंद ने कही और बोले कि—

"माताजी! अब मैं ब्रह्मचर्य व्रत ले लूँगा।"

इसी त्याग भावना से इन्हें भगवान के माता-पिता बनने का अवसर दिया गया।

दीक्षार्थी का सम्मान —

फाल्गुन शु. ८, दिनाँक ७ मार्च १९८७ को मध्यान्ह में आचार्यश्री ने दीक्षार्थी मोतीचंद से गणधरवलय विधान कराया। इसी दिन मध्यान्ह में पांडाल में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के कार्यकर्ताओं ने मोतीचंद का सम्मान किया।

इसी अवसर पर मोतीचंद जी की मां रूपाबाई का सम्मान करके उनके भाई प्रकाशचंद आदि सभी का माल्यार्पण से सम्मान किया गया। १ मार्च से आचार्य श्री ने मोतीचंद को कटोरे में भोजन का पूर्वाभ्यास शुरू करा दिया था। प्रतिदिन मोतीचन्द की बिन्दोरी (शोभायात्रा) लोग निकाल रहे थे।

१ मार्च से लेकर सभी कार्यक्रम आचार्यश्री विमलसागर जी, उपाध्याय मुनिश्री भरतसागर जी आदि सर्व चतुर्विध संघ की उपस्थिति में ही सम्पन्न हो रहे थे। प्रतिदिन प्रातः अभिषेक पूजन, मध्यान्ह में मुनि-आर्यिकाओं के प्रवचन, सायंकाल आरती-भजन और विद्वानों के भाषण आदि कार्यक्रम चल रहे थे।

आचार्यसंघ जब १० बजे आहारचर्या के लिए निकलता था, तब यहाँ का दृश्य देखते ही बनता था।

गर्भकल्याणक-जन्मकल्याणक —

फाल्गुन शु. ८, दिनाँक ७ मार्च को भगवान पार्श्वनाथ की गर्भकल्याणक क्रियाएँ हुईं। यहाँ सौधर्म इन्द्र बनने का सौभाग्य ज्ञानचंद जैन, बम्बई वालों ने प्राप्त किया था पुनः फाल्गुन शु. ९, दिनाँक ८ मार्च रविवार

को प्रातः भगवान का जन्मकल्याणक मनाया गया। विशाल जुलूस निकला, उसमें आचार्यश्री चतुर्विध संघ सहित चल रहे थे। अनंतर ८४ फुट ऊँचे सुमेरुपर्वत पर भगवान पार्श्वनाथ का १००८ कलशों से जन्माभिषेक हुआ। वायुयान द्वारा पुष्पवृष्टि की गई।

दीक्षा समारोह —

भगवान का जन्माभिषेक सम्पन्न होते ही दीक्षार्थी मोतीचंद को बग्घी पर बैठाकर भव्य शोभायात्रा निकाली गई पुनः श्री विमलमंडप में आकर मोतीचन्द ने श्रीफल लेकर आचार्यश्री के समक्ष पुनः हजारों की जनता के बीच में दीक्षा के लिए प्रार्थना की। संस्थान के पदाधिकारी और प्रतिष्ठा समिति के कार्याध्यक्ष के कार्यभार से मुक्त होने के लिए अपना भाषण किया और बोले कि—

"आज यह जो मंगल दिवस मुझे प्राप्त हुआ है, वह सब पूज्य आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी की ही देन है। गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय, बलिहारी गुरुदेव की, जिन गोविन्द दियो बताय।"

इसके बाद मोतीचंद ने अपनी मां से, परिवार के लोगों से क्षमा याचना करके दीक्षा के लिए अनुमति माँगी तथा संस्थान की भावी व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी अपने अभिन्न साथी रवीन्द्र कुमार को सौंपते हुए कुतूहल में अपनी चाबी उन्हें दे दी। यह दृश्य सभा में एक रोमांचकारी दृश्य था। इसके बाद आचार्यश्री ने इन्हें मंगल चौक पर बैठने की आज्ञा दी।

श्री माधवराव सिंधिया का आगमन —

इस मंगल अवसर पर माधवराव सिंधिया रेलमंत्री, श्री जे.के. जैन संसद सदस्य हेलीकॉप्टर से पधारे। सर्वप्रथम वे भगवान् महावीर स्वामी का दर्शन कर रत्नत्रय निलय में आये। यहाँ मेरे दर्शन किये, मैंने भी उन्हें मंगल आशीर्वाद देकर कुछ विशेष शिक्षाएँ प्रदान कीं, जैसा कि मुझे मालूम हुआ कि ये राजघराने के महापुरुष हैं। इनकी सात्त्विक प्रवृत्ति देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुई पुनः ये मुख्य अतिथि सभा में पधारे, सभा के लोगों ने इनका स्वागत किया। इन्होंने आचार्यश्री आदि के दर्शन किये पुनः दीक्षा विधि प्रारंभ हो गई। मैं वहीं एक पाटे पर निकट में बैठ गई। सर्वप्रथम आचार्यश्री ने मोतीचंद के पगड़ी, कोट, कुर्ता आदि उतराये, उनके पाँच स्थान पर केशलोंच किये पुनः लंगोट और चादर पहना कर पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र उपकरण दिये। एक कटोरा दिया, जिसमें ये आहार ग्रहण करेंगे। मस्तक पर क्षुल्लक दीक्षा के योग्य मंत्र संस्कार करते समय उपाध्याय श्री भरतसागर जी मंत्रोच्चारण कर रहे थे। आचार्यश्री ने दीक्षा विधि सम्पन्न कर इनका नाम 'मोतीसागर' घोषित किया। उस समय पांडाल में उपस्थित समुदाय ने 'क्षुल्लक मोतीसागर जी महाराज' की जयकार से जंबूद्वीप को मुखरित कर दिया।

पारमार्थिक ट्रस्ट —

उस समय मोतीचंद के भ्राता प्रकाशचंद ने पच्चीस हजार रुपये का दान घोषित करते हुए जंबूद्वीप के अंतर्गत धार्मिक ट्रस्ट बनाने की भावना प्रकट की।

इसके बाद श्री माधवराव सिंधिया ने अपने भाषण में कहा कि—

"अठारह वर्ष की अवस्था से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर इस जंबूद्वीप जैसे महान् निर्माण कार्य आदि कार्यों को सम्पन्न करके मोतीचंद जी ने जो आज यह दीक्षा ली है, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है....."

श्री जे.के. जैन ने भी अपने भाषण में जंबूद्वीप ज्ञान ज्योति आदि के द्वारा होने वाले महान् उपकार का उल्लेख किया एवं राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा मोहसिना किदवई के संदेशों को पढ़कर सुनाया।

रेलमंत्री जी एवं जे.के. जैन को एक-एक रजतमंगल कलश प्रदान किये गये एवं दोनों महानुभावों को शॉल ओढ़ाकर सम्मान किया गया।

मैंने मेरे आशीर्वाद प्रवचन में सिंधियाजी को क्षत्रियोचित देश और धर्म की रक्षा तथा अहिंसा की रक्षा के लिए प्रेरणा दी और धर्म में लगे रहने का आशीर्वाद दिया।

मैंने कहा—"मैंने सनावद में अमोलकचंद जैसे सागर से मोती को लिया था और आचार्यश्री ने पुनः मोती को सागर से जोड़कर उन्हें क्षुल्लक मोतीसागर बना दिया है।"

उपाध्याय श्री ने कहा था—"दीक्षाएँ तो बहुत होती हैं किन्तु इस ऐतिहासिक तीर्थक्षेत्र पर मोतीचंद की दीक्षा एक ऐतिहासिक दीक्षा है। जिस प्रकार चक्रवर्ती छह खण्ड पर दिग्विजय करके पुनः उस वैभव को छोड़कर दीक्षा लेते हैं, उसी प्रकार से मोतीचंद जी ने सारे भारत में जंबूद्वीप ज्ञान ज्योति को घुमाकर, धर्म की ध्वजा लहरा कर, दिग्विजय करके यह दीक्षा ग्रहण की है।.....।"

पूज्य आचार्यश्री ने भी मंगल आशीर्वाद देते हुए कहा—

"आप लोग कंधे से कंधा मिलाकर सन्मार्ग का प्रचार करें, अहिंसा को दृढ़ करें।"....जिस प्रकार मोतीचंद ने अपने जीवन में चारित्र के ग्रहण का नमूना प्रस्तुत किया है उसी प्रकार आप सभी अपना आत्मबल बढ़ाकर चारित्र में उन्नति करें यही मेरा आशीर्वाद है।

अन्त में रवीन्द्र कुमार ने कहा—"यह संस्थान सारे भारत वर्ष के जैन समाज की है। इसकी चाबी संभालने का दायित्व केवल व्यवस्था रूप में मुझ पर है। अभी माताजी की आज्ञा न मिलने से जब तक मैं दीक्षा नहीं ले रहा हूँ तभी तक इस संस्थान की देख-रेख करता रहूँगा। सारी जैन समाज का सहयोग मेरे साथ है और रहेगा ही.....।"

इसके बाद रेलमंत्री जी हेलीकॉप्टर से दिल्ली को रवाना हो गये।

भगवान् का पालना आदि —

रात्रि में भगवान का पालना झुलाना आदि कार्यक्रम एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम हुए।

९ मार्च को ९ साधु का आहार —

यहाँ माँ रूपाबाई एवं कु. माधुरी ने ९ मार्च, फाल्गुन शु. ९ को आचार्यश्री विमलसागर जी, उपाध्याय श्री भरतसागर जी, मुझे (आर्यिका ज्ञानमती) तथा नव दीक्षित क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी आदि नव साधुओं का पड़गाहन कर एक साथ नौ साधुओं को आहार दान दिया।

भगवान का दीक्षा कल्याणक —

९ मार्च को मध्यान्ह में भगवान पार्श्वनाथ का दीक्षा कल्याणक महोत्सव संपन्न हुआ। आचार्यश्री ने जिनप्रतिमा के मस्तक पर लगे हुए चंदन का औपचारिक विधि से केशलोंच सम्पन्न किया और दीक्षा कल्याणक क्रियाएँ कीं।

संस्थान का अधिवेशन —

रात्रि में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अधिवेशन में संस्थान के मंत्री एवं प्रतिष्ठा समिति के महामंत्री रवीन्द्र कुमार ने सन् १९७४ से लेकर सन् १९८६ तक १२ वर्ष के आय-व्यय की ऑडिट रिपोर्ट प्रस्तुत की। जिसमें लगभग सवा करोड़ रुपये दिगम्बर जैन समाज से प्राप्त होकर, इस जम्बूद्वीप रचना, ग्रंथ प्रकाशन आदि कार्यों में लगाये जा चुके हैं। नव दीक्षित क्षुल्लक मोतीसागर जी ने संस्थान को प्रथम आशीर्वाद देते हुए कहा—जैसे हम सभी लोग अभी तक पूज्य माताजी की आज्ञानुसार कार्य करते आये हैं, ऐसे ही अब आप सभी को कार्य करना है। अपने पद के अनुरूप मैं भी संस्थान को यथायोग्य सहयोग देता रहूँगा।"

केवलज्ञान कल्याणक —

फाल्गुन शु. १०, दिनाँक १० मार्च को भगवान का केवलज्ञान कल्याणक हुआ। आचार्यश्री और

उपाध्यायश्री ने सोने की कलम से सभी प्रतिमाओं में अंकन्यास विधि करके नेत्रोन्मीलन क्रिया की और सूरिमंत्र प्रदान किया। यह इन युगल मुनियों की क्रिया और उत्साह मेरे लिए तो एक अभूतपूर्व था क्योंकि आचार्यश्री विमलसागर जी के सानिध्य में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा देखने का मेरे लिए यह पहला ही अवसर था।

इसी दिन जंबूद्वीप पुस्तकालय का उद्घाटन कराया गया। पांडाल में भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण की रचना में आचार्यश्री प्रथम गणधर थे और उपाध्याय श्री द्वितीय गणधर थे। मुझे भगवान के समवसरण में गणिनी का स्थान प्राप्त हुआ। हम सभी के संक्षिप्त प्रवचन हुए थे। रात्रि में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन युवा परिषद का अधिवेशन सम्पन्न हुआ।

निर्वाण कल्याणक —

फाल्गुन शु. ११, दिनाँक ११ मार्च को प्रातः भगवान के मोक्ष कल्याणक की क्रियाएँ सम्पन्न हुईं।

इधर त्रिमूर्ति मंदिर में आजू-बाजू की वेदी में बहुत ही सुन्दर कमल बनवाये गये थे। उन कमलों पर भगवान नेमिनाथ और सहस्त्रफणा भगवान पार्श्वनाथ की सवा चार फुट ऊँची पद्मासन मूर्तियाँ विराजमान की गई थीं। उनकी प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न हुई।

सुमेरु पर्वत पर कलशारोहण —

इसके बाद लगभग साढ़े ग्यारह बजे आचार्यश्री आदि मुनिगण सुमेरु पर्वत के ऊपर पांडुक वन में पहुँच गये। वहाँ एक नव निर्मित सीढ़ी से चढ़कर अनेक महानुभावों ने सुमेरु के ऊपर चूलिका के समान स्वर्ण कलश चढ़ाये। आचार्यश्री ने प्रथम मंत्रोच्चारण पूर्वक कलश में हाथ लगाकर चढ़वाया। उपाध्याय जी ने भी हाथ लगाया और मैंने भी मंत्रोच्चारण करते हुए हाथ लगाकर कलशारोहण कराया। इस स्वर्ण कलशारोहण का श्रेय ११ महानुभावों ने ५०-५० हजार रुपये की दान राशि बोल कर लिया था। उनमें से शाह कोदरलाल हकमचंद परिवार तलोद आदि महानुभाव हैं। जिनके नाम यहाँ जंबूद्वीप के प्रवेश के निकट शिलालेख में लिखे गये हैं।

इसके बाद प्रतिष्ठा समापन के लिए रथयात्रा निकाली गई। इस प्रकार यह २ मार्च से ११ मार्च तक भगवान पार्श्वनाथ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। सुमेरु पर्वत पर स्वर्ण कलशारोहण कराया गया और मोतीचंद की क्षुल्लक दीक्षा सम्पन्न हुई।

सम्मान एवं आभार प्रदर्शन —

फाल्गुन शु. १२, दिनाँक १२ मार्च को त्रिमूर्ति मंदिर में प्रतिष्ठाचार्य पं. शिखर चंद जी, उनके सहयोगी पं. राजकुमार जैन एवं पं. सुधर्मचंद जैन तिवरी का सम्मान किया गया। मुख्य प्रतिष्ठाचार्य को प्रशस्ति पत्र भेंट किया गया।

युगप्रतिक्रमण एक महान् कार्य —

मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि पंचवर्षीय युगप्रतिक्रमण की परम्परा प्रकाश में लाई जावे। सन् १९८५ की प्रतिष्ठा में भी मेरी इच्छा थी किन्तु आचार्यश्री धर्मसागर जी के नहीं आ पाने से वह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाई थी। इस बार आचार्यश्री विमलसागर जी से निवेदन करने पर उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर इस लुप्त परम्परा को पुनजीर्वित कर दिया। फाल्गुन शुक्ला १४, दिनाँक १४ मार्च १९८७ का यह दिन एक ऐतिहासिक दिवस बन गया। यहां त्रिमूर्ति मंदिर में चतुर्विध संघ सहित आचार्यश्री ने और मैंने अपने संघ सहित बैठकर युगप्रतिक्रमण किया। आचार्यश्री से सभी ने प्रायश्चित माँगा और आचार्यश्री ने प्रायश्चित प्रदान किया पुनः मेरी इच्छानुसार आचार्यश्री ने घोषणा की कि—

"आगे ५-५ वर्ष में इसी तरह युगप्रतिक्रमण किया जावेगा।"

इस महान मंगल अवसर पर मैंने आचार्यश्री को "तीर्थोद्धारक चूड़ामणि" पद से गौरवान्वित किया।

इसी प्रकार उपाध्याय मुनि में उपशम गुण विशेष देखकर उन्हें 'प्रशममूर्ति' पद से विभूषित किया। संघस्थ आर्यिका स्याद्वादमती में अच्छी वक्तृत्व कला देखकर उन्हें 'प्रवचन प्रभाकर' पद से विभूषित किया। इन पदवियों को चतुर्विध संघ के सभी साधु-साध्वियों ने एवं उपस्थित श्रावक-श्राविकाओं ने गद्‌गद हो जयकारे के साथ अनुमोदित किया।

मैंने एक दिन आचार्यश्री को अपने द्वारा रचित कल्पद्रुम विधान, सर्वतोभद्र विधान, तीन लोक विधान की फाइलें दिखायी थीं। आचार्यश्री ने एक रात्रि में ही उन्हें देखकर प्रसन्नता व्यक्त की थी अतः इस समय आचार्यश्री ने मुझे "विधान वाचस्पति" कहकर गौरवान्वित किया।

अनावृत यक्ष एवं क्षेत्रपाल —

चैत्र कृ. १ दिनाँक १६ मार्च को आचार्यश्री के करकमलों द्वारा जंबूद्वीप के प्रवेश द्वार में बाईं ओर बाजू में बनी हुई वेदी में क्षेत्रपाल स्थापित किये गये। इससे पूर्व ११ मार्च को ही इसी द्वार के दायीं ओर बनी हुई वेदी में अनावृत यक्ष के देव भवन में ऊपर में मैंने सिद्धप्रतिमा विराजमान करायी थीं और देव भवन में नीचे के भाग में अनावृत यक्ष की प्रतिमा विराजमान कराई थीं।

इसी चैत्र कृ. १, दिनाँक १६ मार्च को यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर ध्यान केन्द्र के भवन का शिलान्यास आचार्य संघ के सानिध्य में संपन्न हुआ। कई वर्षों से ध्यान केन्द्र स्थापना की भावना मन में चल रही थी। मुझे ह्रीं का ध्यान प्रिय है, इसके लिए 'ह्रीं' की मूर्ति स्थापित करने की इच्छा है।

संघ पूजन —

इसी दिन मध्यान्ह एक बजे त्रिमूर्ति मंदिर में आचार्यसंघ की पूजन की व्यवस्था रखी गई। आचार्यश्री और उपाध्याय श्री के दूध से चरण प्रक्षालन कर आचार्यश्री की पूजा करके आरती की गई पुनः आचार्यश्री आदि के मंगल प्रवचन हुए।

संघ विहार —

चैत्र कृ. २, दिनाँक १७ मार्च १९८७ को सभा में आचार्यश्री की मंगल आरती व मंगल आशीर्वाद के बाद आचार्यसंघ ने मेरठ की ओर मंगल विहार कर दिया।

यहाँ भगवान नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा होने के बाद से प्रतिदिन आचार्यसंघ के समक्ष दूध, दही आदि से पंचामृत अभिषेक होता था। आचार्यश्री को अभिषेक देखने की और गंधोदक लेने की बहुत ही रुचि रही है।

मेरा अनुभव —

आचार्यसंघ के यहाँ रहने पर उनके वात्सल्य को देखकर पुराना संस्मरण सन् १९६६ के सोलापुर का याद आ गया कि जब वहाँ ब्र. सुमतीबाई 'शरद पूर्णिमा' को मेरी जन्मजयन्ती मनाना चाहती थीं, मैं मना कर रही थी। इस पर आचार्यश्री ने बड़े प्रेम से मेरी जन्मजयंती का आयोजन करवाया था और स्वयं आकर सभा में संघ सहित विराजे थे, अंत में बार-बार मंगल आशीर्वाद दिया था।

यहाँ एक दिन ६ मार्च को आहार के लिए उठने के समय अकस्मात् मेरे सीने में जोर की दर्द उठ गई, तब मैं आकर अंदर पाटे पर लेट गई, माधुरी ने घी लगाया, आराम नहीं होने से आचार्यश्री को सूचना दी, वे शीघ्र ही उपाध्याय भरत सागर को लेकर आ गये और करीब १५-२० मिनट तक यहाँ बैठे-बैठे मंत्र सुनाते रहे। उसके बाद दर्द में कुछ कमी होने से मैं आहार को उठ पायी।

आचार्यश्री यहाँ प्रतिष्ठा में प्रतिदिन प्रत्येक कार्यक्रम को अपना समझकर, उसमें रुचि से उपस्थित होकर विराजते थे और मंगल आशीर्वाद देते थे। साथ ही मुझे भी बुलवाते रहते थे। उनके इस व्यवहार से यह नहीं

पता चलता था कि आचार्यश्री मेहमान (अतिथि) हैं। आचार्यश्री के साथ ही उपाध्याय श्री भरतसागर जी तथा और भी अन्य मुनिगण, आर्यिकाश्री नन्दामती जी, आदिमती जी, स्याद्वादमती जी आदि सभी बहुत ही प्रसन्न रहते थे।

ब्र. चित्राबाई का प्रेम और यहाँ के प्रति तथा मेरे प्रति भक्ति अद्भुत ही रही। कोई ऐसी कल्पना भी नहीं कर सके थे कि वे इतनी खुश और इतनी उदार रहेंगी। एक दिन उनके चौके में भी आचार्यश्री, उपाध्यायश्री, मैं (ज्ञानमती), क्षुल्लक मोतीसागर जी आदि अनेक साधु एक साथ आहार के लिए गये थे। आहार के बाद हर्षातिरेक में उन्होंने मेरे ऊपर गुलाब के फूलों की वर्षा की थी।

ब्र. चित्राबाई ने मुझे पिच्छी प्रदान करने के लिए ३५ हजार रुपये की बोली ली थी, यह उनकी विशेष भक्ति और उदारता का ज्वलंत उदाहरण था।

मोतीचंद की दीक्षा में मेरी भावना —

जब सनावद में मैंने सन् १९६७ में मोतीचंद को घर से निकलने की एवं संघ में रहने की प्रेरणा दी थी। तब वे बोले थे —"माताजी! मैं त्याग कुछ भी नहीं करूँगा, इस शर्त पर चलूँगा।"

इसके बाद संघ में आकर मेरे पास अध्ययन कर शास्त्री और न्यायतीर्थ की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। अपने वचन के अनुसार जंबूद्वीप निर्माण कार्य में जुट गये। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान को बनाया और वृद्धिंगत किया। इस संस्थान में मेरी आज्ञा से ये सर्वप्रथम 'कोषाध्यक्ष' रहे हैं, बाद में मंत्री रहे हैं पुनः सन् १९८५ में ज्ञानज्योति प्रवर्तन समिति के महामंत्री रहे हैं। पश्चात् सन् १९८५ की जंबूद्वीप प्रतिष्ठापना समिति के अध्यक्ष पद के भार को संभाला है पुनः इस प्रतिष्ठा में मेरी आज्ञा से 'कार्याध्यक्ष' पद के भार को संभाला है।

जैसे दक्षिण में महामना चामुंडराय ने अपनी माता के नियम को पूर्ण करने के लिए भगवान बाहुबली की मूर्ति स्थापित की थी, ऐसे ही मेरे नियम को पूर्ण करने के लिए मोतीचंद ने सुदर्शन मेरु की प्रतिष्ठा और जंबूद्वीप की रचना का कार्य किया है अतः ये 'अभिनव चामुंडराय' हैं। ये अब क्षुल्लक मोतीसागर बनकर इस संस्थान के 'पीठाधीश' के भार को संभाल रहे हैं।

इस प्रकार एक योग्य शिष्य से जितनी मुझे आशाएँ थीं, वे सब इन्होंने पूरी की हैं, आगे भी मेरे जीवन में मेरी आज्ञा पालन करते रहें और भविष्य में अपनी आत्म साधना के साथ-साथ खूब जैनधर्म की प्रभावना करते रहें, यही मेरी मंगल भावना है।

ईसवी सन् १९८७ के मार्च में यहाँ पर १. आचार्यश्री विमलसागर जी २. उपाध्याय श्री भरतसागर जी ३. मुनिश्री अरहसागर जी ४. मुनिश्री बाहुबली सागर जी ५. मुनिश्री उदयसागर जी ६. मुनिश्री श्रवणसागर जी ७. मुनिश्री निरंजन सागर जी ८. आर्यिका आदिमती जी ९. आर्यिका सूर्यमती जी १०. आर्यिका पार्श्वमती जी ११. आर्यिका नन्दामती जी १२. आर्यिका सुपार्श्वमती जी १३. आर्यिका गोम्मटमती जी १४. आर्यिका स्याद्वादमती जी १५. ऐलक श्री मधुसागर जी १६. ऐलक देवसागर जी १७. ऐलक सुहागसागर जी १८. क्षुल्लक चन्द्रसागर जी १९. क्षुल्लक सन्मतिसागर जी (ज्ञानानंद) २०. क्षुल्लक कामविजयनन्दि जी २१. क्षुल्लक स्याद्वादसागर जी २२. क्षुल्लक सोमप्रभजी २३. क्षुल्लक अकंपनसागर जी २४. क्षुल्लक विष्णुसागर जी २५. क्षुल्लक जितेन्द्र सागर जी २६. क्षुल्लक पवित्रसागर जी २७. क्षुल्लक नवीनसागर जी २८. ऐलक ध्यानसागर जी २९. क्षुल्लिका शीतलमती जी ३०. क्षुल्लिका श्रीमती जी ३१. क्षुल्लिका धैर्यमती जी ३२. क्षुल्लिका मनोवती जी ३३. क्षुल्लिका भरतमती जी ३४. क्षुल्लिका धवलमती जी ये ३४ साधु-साध्वी आचार्यसंघ में थे।

१. आर्यिका कल्याणमती जी आई थीं। २. आर्यिका अभयमती जी आई थीं। ३. इनके साथ क्षुल्लिका

शांतिमती जी थीं।

मेरे पास यहाँ आर्यिका शिवमती जी थीं।

कुल ३४+३+२=३९ साधु-साध्वी थे। क्षुल्लक मोतीसागर जी की दीक्षा के बाद ८ मार्च से ४० साधु-साध्वी हो गये थे। इस जंबूद्वीप स्थल पर यह एक स्वर्णिम अवसर आया था।

£ ९१ ¤

रवीन्द्र कुमार व्रती बने —

सन् १९७२ में रवीन्द्र कुमार ने मेरी आज्ञा से ब्यावर से नागौर जाकर आचार्यश्री धर्मसागर जी से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। अभी १९ मार्च १९८७ को जब सीकर में आचार्यश्री धर्मसागर जी के दर्शनार्थ गये, तब आचार्यश्री से दो प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर व्रती बन गये।

आचार्यश्री धर्मसागर जी का समाधिमरण —

इस समय आचार्यश्री का स्वास्थ्य अत्यधिक कमजोर देखकर रवीन्द्र कुमार ने आकर मेरे पास से आज्ञा ली और मेरी भावना के अनुसार वे २६ मार्च को मेरठ के सुप्रसिद्ध हकीम श्री सेफुद्दीन सेफ (राष्ट्रपति चिकित्सक) को कार से ले गये। कुछ औषधि उपचार की व्यवस्था बनाई, पाँच दिन तक वहीं रुके किन्तु आचार्यश्री को औषधि उपचार से पूर्ण उपेक्षा हो चुकी थी अतः रवीन्द्र कुमार ३१ मार्च को हस्तिनापुर वापस आ गये।

अनंतर पूर्ण सावधानी पूर्वक आचार्यश्री ने २२ अप्रैल १९८७ तिथि बैशाख वदी नवमी को सायं ७ बजकर ३५ मिनट पर इस नश्वर शरीर को छोड़कर देव पद प्राप्त कर लिया। रवीन्द्र कुमार ने २३ अप्रैल को सीकर पहुँचकर आचार्यश्री के अंतिम संस्कार में भाग लिया। वहाँ से २५ अप्रैल को निकलकर हस्तिनापुर आ गये। आचार्यश्री की पहले भी वीडियो फिल्म बनायी थी- अभी भी बनाकर लाये अतः परोक्ष में वीडियो में ही आचार्यश्री का दर्शन कर मैंने उनके गुणों का स्मरण कर श्रद्धांजलि अर्पित की।

आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज —

विक्रम संवत् १९७० में पौष शु. १५ के दिन राजस्थान में बूंदी जिला के अंतर्गत 'गम्भीरा' नाम के गांव में सेठ श्री बख्तावरमल जी की धर्मपत्नी उमराव बाई की कुक्षि से एक बालक का जन्म हुआ था। माता-पिता ने उसका नाम चिरंजीलाल रखा था। ये खंडेलवाल जाति के भूषण छाबड़ा गोत्रीय थे। बचपन से ही आपके माता-पिता का निधन हो जाने से आपके ताऊ की पुत्री 'दाखाबाई' बहन ने आपका लालन-पालन किया था। आपने आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज से द्वितीय प्रतिमा के व्रत लिये थे। अनंतर आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागर जी के संघ में रहकर वि.सं. २००१ में आपने क्षुल्लक दीक्षा ली थी। छह वर्ष बाद गुरु की समाधि हो जाने से आपने आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के पास आकर कार्तिक शुक्ला १४ को विक्रम संवत् २००८ में मुनि दीक्षा ले ली थी।

सन् १९५६ में जब मैं आचार्यश्री वीरसागर जी के संघ में आई थी, तभी से आपका परिचय हुआ था। आप सरल स्वभावी और गंभीर थे। आचार्यश्री की समाधि के बाद गिरनार की यात्रा तक आप आचार्य श्री शिवसागर जी के संघ में रहे थे। पश्चात् सन् १९५८ में आप ब्यावर से अलग विहार कर गये थे। १९६९ में महावीर जी में शांतिवीर नगर में जब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी, तब आप वहाँ पधारे थे। वहाँ अकस्मात् फाल्गुन कृ. अमावस्या को आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज की समाधि हो जाने से अनेक ऊहापोह के उपरांत संघ के ज्येष्ठ मुनि होने से चतुर्विध संघ ने आपको आचार्यपट्ट प्रदान किया था। उसी समय आपके

करकमलों से ग्यारह दीक्षाएँ सम्पन्न हुई थीं।

इसके बाद आप जयपुर आ गये थे। यहाँ से मुनिश्री श्रुतसागर जी कई मुनि आर्यिकाओं के साथ अन्यत्र विहार कर गये थे पुनः मुनिश्री श्रेयांससागर जी भी अलग विहार कर गये थे। तब जयपुर के अनेक प्रबुद्ध लोगों ने मुझसे बार-बार निवेदन किया—

"माताजी! श्री धर्मसागर जी को आचार्य बनाया गया है अब आपको कुछ वर्ष संघ में ही रहकर अध्यापन आदि करके धर्म प्रभावना करनी-करानी चाहिए, तभी तो आचार्य शांतिसागर जी महाराज के परंपरागत पट्ट की शोभा है.....।"

यही सोचकर मैंने आचार्यश्री के संघ में ही रहकर उनकी आज्ञा लेकर सभी मुनियों-आर्यिकाओं को अध्ययन कराना शुरू कर दिया था। इस प्रकार अध्यापन में मेरा समय लगभग ५-६ घंटे व्यतीत हो रहा था। साथ ही मोतीचंद जी आदि भी अध्ययन कर रहे थे। मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार, कु. मालती, कु. त्रिशला आदि को मैं अष्टसहस्री के सारांश, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, राजवार्तिक आदि पढ़ाती थी। मुझे अभी तक स्मृति है कि लावा, मालपुरा आदि गाँवों में सायंकाल प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री कु. त्रिशला (११ वर्षीया) आदि से कर्मकांड के प्रश्न करते और उनसे उत्तर सुनकर गद्गद हो उठते थे।

इसके बाद माता मोहिनी को आर्यिका दीक्षा दिलाकर उन्हें आर्यिका रत्नमती बनाकर आचार्यश्री की आज्ञा लेकर २५सौंवे निर्वाणोत्सव के निमित्त से मैं सन् १९७२ में दिल्ली आ गई थी। सन् १९७४ में आचार्यश्री भी अपने विशाल संघ सहित दिल्ली पधारे। निर्वाणोत्सव में हर एक प्रसंग में मुझसे चर्चा करते रहते थे। उसके अनेक संस्मरण हैं।

इसके अनंतर सन् १९७५ में आचार्यश्री हस्तिनापुर पधारे। विशाल संघ के सानिध्य में यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर भगवान महावीर की प्रतिमा विराजमान की गई। आपने उनके नीचे अचलयंत्र रखकर माघ शु. १२ को सूरिमंत्र दिया था। आज वे प्रतिमा जी साक्षात् कल्पवृक्ष के रूप में मुंह मांगा फल दे रही हैं।

जंबूद्वीप निर्माण, ज्ञान ज्योति प्रवर्तन, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि यहाँ के प्रत्येक कार्य में आपका मंगल आशीर्वाद मिलता रहा है। आप इतनी दूर बैठकर भी हर किसी से मेरे स्वास्थ्य समाचार पूछा करते थे और सभा में मेरे पुरुषार्थ की प्रशंसा भी करते रहते थे, जिसका टेप कैसेट रवीन्द्र कुमार लाये और मुझे सुनाया था। वास्तव में महान् पुरुष ही हम जैसों को महान् बना सकते हैं। आचार्यश्री की गुण ग्राहकता और वात्सल्य असीम था, उसका वर्णन शब्दों से परे है।

चतुर्थ पट्टाधीश आचार्यश्री अजितसागर जी —

इसके बाद मुनिश्री श्रुतसागर जी, जिन्हें आचार्यकल्प कहा जाता था, उनसे अत्यधिक अनुरोध करने पर भी उन्होंने आचार्य पद लेना स्वीकृत नहीं किया। तब चतुर्विध संघ के आग्रह से आचार्यकल्प श्रुतसागर जी ने वैशाख शुक्ला ८, दिनाँक ६ मई को उपाध्याय मुनि श्री अजितसागर के लिए आचार्यपट्ट की घोषणा कर दी। मंगल मुहूर्त में ज्येष्ठ शुक्ला १०,दिनाँक ७ जून को उदयपुर में इन्हें सभा के मध्य आचार्य पद प्रदान किया गया । रवीन्द्र कुमार भी उस उत्सव में सम्मिलित हुए। जब रवीन्द्र ने आकर वहाँ के समाचार सुनाये, उस समय हर्ष से विभोर होकर मेरे मुख से सहसा निकल पड़ा—

"मेरा बेटा चक्रवर्ती बन गया.....।"

यद्यपि यह वाक्य उपयुक्त नहीं था क्योंकि कितने ही वर्षों की पुरानी आर्यिका क्यों न हो, वे एक दिन के दीक्षित मुनि को भी नमस्कार करती हैं किन्तु पूर्व के संस्कार अर्थात् सन् १९५६, ५७, ५८, ५९ और ६० के संस्कार कभी-कभी उभर ही आते हैं कि जब ब्र. राजमल जी मुझे अपनी माता के रूप में मानते थे और

मैंने उन्हें पुत्रवत् वात्सल्य दिया था। वे सन् १९६१ में मुनि अजितसागर जी बन गये, तब से वे मेरे द्वारा भी पूज्य हो गये।

उसी समय पास में बैठे हुए क्षुल्लक मोतीसागर जी बोले—"माताजी! क्या आपके हृदय में श्री अजितसागर जी के प्रति उनसे पढ़ी हुई आर्यिकाओं एवं उनसे दीक्षित आर्यिकाओं जैसी भक्ति है?"

मैंने गंभीर स्वर में कहा—

"मोतीसागर जी! उन जैसी भक्ति भावना न होकर भी उनके प्रति जो भक्ति और वात्सल्य भाव मेरे हृदय में है, सो उन शिष्याओं में होना शक्य नहीं है। देखो! मुनिश्री श्रेयांससागर जी की माता अरहमती आर्यिका हैं, वे उन्हें नमस्कार भी करती हैं उनके हृदय में उन मुनिश्री के प्रति वात्सल्य भक्ति और उन मुनिश्री की शिष्याओं की भक्ति में अन्तर भले ही हो, फिर भी अरहमती जैसा वात्सल्य-प्रेम उन शिष्याओं में होना असंभव है। ऐसे ही मेरी जन्मदात्री मां मोहिनी जी आर्यिका रत्नमती बनकर मुझे बड़ा मानकर नमस्कार तो करती ही थीं, मेरे से प्रायश्चित भी लेती थीं, उनका मेरे प्रति जो वात्सल्य था, भक्ति थी, उसकी अपेक्षा मेरी शिष्याएँ आर्यिका जिनमती जी, आर्यिका आदिमती जी आदि की भक्ति भावना में अंतर है ही है। मुनिश्री अजितसागर जी ने भी ब्र. राजमल की अवस्था में मुझे माँ सदृश ही माना था अतः उनकी शिष्याओं की भक्ति की अपेक्षा भी मेरा वात्सल्य कुछ विलक्षण और असीम है, उन शिष्याओं से इसकी तुलना असंभव है।"

सन् १९५७-५८-५९ में मैंने इन्हें (ब्र. राजमल जी को) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी आदि पढ़ाया था पुनः अत्यधिक प्रेरणा दे-देकर सन् १९६१ में सीकर में मुनि बनने के लिए तैयार किया था। आज भी वे प्रेरणा की घड़ियाँ और वे प्रेरणा के शब्द मुझे याद आते रहते हैं। तब प्रसन्नता होती है कि मेरा प्रेरणारूपी बीज वृक्ष बनकर फलित तो हुआ ही है, उसमें सर्वोत्तम फल आ चुके हैं। यद्यपि योग्य मुनि बनना, उनके पुण्योदय का फल है, मैं तो निमित्त मात्र ही थी, फिर भी सराग अवस्था में कर्तृत्वबुद्धि आ ही जाती है।

सन् १९६२ में मैं सम्मेदशिखर यात्रा के लिए गई थी। पांच वर्ष तक यात्रा के मध्य यदि मुझे कुछ कठिनाइयाँ आतीं, तो वे मुनिश्री संघ में रहते हुए भी चिंता करते थे और आर्यिका विशुद्धमती जी से पत्र लिखाते रहते थे। पाँच वर्ष बाद सन् १९६७ में मैं पुनः आचार्य शिवसागर जी के संघ में आ गई थी। सन् १९६९ में आचार्यश्री की समाधि के बाद मुनिश्री श्रुतसागर जी के साथ मुनिश्री अजितसागर जी महाराज अलग विहार कर गये थे। सन् १९७२ में दिल्ली की ओर विहार करने पर अजमेर में उनके पुनः दर्शन हुए थे। आज उनको आचार्यपट्ट पर पदासीन सुनकर प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है।

आचार्यपट्ट प्रदान के दिन मैंने नवीन आचार्यश्री के प्रति जो श्रद्धा सुमन अर्पित किये थे, रवीन्द्र कुमार ने उन्हें सम्यग्ज्ञान में छपाया भी था, वे ये हैं—

चतुर्थ पट्टाचार्य पूज्य श्री अजितसागर जी महाराज के प्रति उद्गार—

कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र में सन् १९५५ में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने यमसल्लेखना ली थी, तब अपना आचार्यपट्ट अपने प्रथम शिष्य वीरसागर जी महाराज को भेजा था पुनः सन् १९५७ में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज ने आश्विन वदी अमावस्या को नश्वर शरीर छोड़ा, तब उनके प्रथम शिष्य शिवसागर जी मुनिराज आचार्यपट्ट पर आरूढ़ हुए। सन् १९६९ में परमतपस्वी आचार्य शिवसागर जी महाराज की महावीर जी में आकस्मिक समाधि हो गई। अब आचार्य वीरसागर जी के द्वितीय शिष्य मुनि श्री धर्मसागर जी ने आचार्यपट्ट को अलंकृत किया। सन् १९८७ में इनकी समाधि हुई है। इनके बाद इस शांतिसागर परम्परा के चतुर्थ पट्टाधीश उपाध्याय मुनि श्री अजितसागर जी हुए हैं।

सन् १९६१ में ब्र. राजमल जी ने आचार्य श्री शिवसागर जी से मुनि दीक्षा लेकर अजितसागर नाम पाया। ज्ञानाराधना में सतत निरत होने से उपाध्याय पद को विभूषित किया पुनः आप आज इस सर्वश्रेष्ठ आचार्य परम्परा के मणिस्वरूप आचार्य पद पर आरूढ़ हुए हैं। आप १. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी हैं २. मितभाषी हैं ३. सरल स्वभावी हैं ४. आर्ष परम्परा के प्रति पूर्ण दृढ़ हैं और ५. शिष्यों के अनुग्रह में कुशल हैं। इन पाँच विशेष गुणरत्नों से अलंकृत आप चिरकाल तक इस भूतल पर धर्म प्रभावना करते हुए इस दिगम्बर जैन धर्म की परम्परा को युग-युग तक अक्षुण्ण बनावें, इस मंगल कामना के साथ आपको शत-शत नमन।

७ जून १९८८

जंबूद्वीप, हस्तिनापुर **-गणिनी आर्यिका ज्ञानमती**

आचार्यश्री देशभूषणजी की समाधि —

आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज का वियोग दुःख भूला ही नहीं था कि अकस्मात् आचार्यरत्नश्री देशभूषण जी महाराज की समाधि का समाचार प्राप्त हुआ। सुनकर मुख से निकल गया—

"कलिकाल में धर्मप्रभावना के धुर्य आचार्यरत्न कहाँ चले गये? आचार्यश्री ने कर्नाटक प्रांत में जिला बेलगांव के 'कोथली' नाम के छोटे से गांव में सत्यगोंडा पाटिल के घर में माता अक्कादेवी से जन्म लिया था। बचपन में ही माता-पिता का वियोग हो जाने से आप नानी के संरक्षण में पले और बढ़े थे। आपका नाम बालगौड़ा था। इन्होंने आचार्य श्री जयकीर्ति जी के साथ सम्मेदशिखर की यात्रा की, रामटेक पर आचार्यश्री से ऐलक दीक्षा ग्रहण की, तब गुरुदेव ने आपका नाम 'देशभूषण' रखा। यह नाम अन्वर्थ तो क्या कहा जाये? गुरु देशभूषण जी तो विश्व के भूषण बन गये थे पुनः आपने जल्दी ही मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली और कठिन तपश्चर्या के साथ ज्ञानाराधना में विशेष आगे बढ़े।

आचार्य जयकीर्ति जी की समाधि के बाद आपकी योग्यता देखकर आचार्य श्री पायसागर जी की आज्ञा से आपको चतुर्विध संघ ने सन् १९४८ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। आपने सन् १९३६ से १९४७ तक दक्षिण भारत में धर्म का प्रचार किया। सन् १९४७ के उपरांत आपने लगभग सम्पूर्ण भारत की पदयात्रा करके जैनधर्म की महान प्रभावना की।

सन् १९४७ का चातुर्मास बनारस में हुआ था। उसके बाद सूरत, आरा, लखनऊ, बाराबंकी, टिकैतनगर आदि से लेकर सन् १९८६ का चातुर्मास सदलगा में सम्पन्न किया था। बाद में आप कोथली में विराज रहे थे।

ज्येष्ठ शु.१, दिनाँक २८ मई १९८७ को आपका समाधिमरण प्रातः ४ बजे हुआ है, आपके निकट गणधराचार्य श्री कुंथुसागर जी पहुँच गये थे और उन्होंने भी आपकी समाधि में अच्छा सहयोग दिया। आप स्वयं सावधान थे, उठकर महामंत्र का ध्यान करते हुए आपने इस नश्वर शरीर को छोड़ दिया। मुझे २९ मई को समाचार मिला, तब मैंने भक्ति पाठ करके गुरू के श्री चरणों में श्रद्धांजलि समर्पित की। सर्वत्र सारे भारत में ही श्रद्धांजलि सभा के आयोजन हुए हैं।

मैंने सन् १९५२ में घर छोड़ा था, तब बाराबंकी के चातुर्मास में आपके श्री चरणों का आश्रय लिया था पुनः क्षुल्लिका दीक्षा आपसे ग्रहण कर आपके सानिध्य में १९५३ का चातुर्मास टिकैतनगर एवं १९५४ का चातुर्मास जयपुर में किया है, ऐसे दो-ढाई वर्ष आपके श्री चरणों में रहकर मैंने आपके श्री मुख से बहुत कुछ शिक्षाएँ प्राप्त की हैं। आपकी प्रेरणा से एवं आपकी आज्ञा से ही मैंने आचार्य श्री वीरसागर जी से आर्यिका दीक्षा ली थी क्योंकि उस समय तक आपने किसी को आर्यिका दीक्षा नहीं दी थी, इसलिए मुझे आचार्य श्री वीरसागर जी के संघ में भेज दिया था। मैंने आपका असीम वात्सल्य प्राप्त किया है पुनः दिल्ली में १९७२-७३-७४ इन तीन चातुर्मासों में सानिध्य प्राप्त कर आपके वरदहस्त से जम्बूद्वीप रचना के महान निर्माण में संबल मिला है।

आपने अयोध्या तीर्थ का जीर्णोद्धार कर महान् उत्तुंग प्रतिमा विराजमान कराई। जयपुर खानिया में चूलगिरि तीर्थक्षेत्र बना दिया और कोथली में शांतिगिरि तीर्थ बनाकर दक्षिण में एक कीर्तिमान स्थापित कर दिया है। अनेक मंदिर और जिनप्रतिमाओं के निर्माण करा कर आपने सातिशय पुण्य और यश अर्जित किया है।

अनेक ग्रंथ रचनाएँ आपके द्वारा हिन्दी, कन्नड़, मराठी और अंग्रेजी में हुई हैं । इस शताब्दी में जितने ग्रंथों का अनुवाद और स्वतंत्र लेखन आपके करकमलों से हुआ है, दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में उतने लेखन कार्य को किसी ने नहीं किया है। आपके एक-एक ग्रंथ-रत्नाकरशतक, अपराजितशतक, णमोकारग्रंथ आदि मंदिर में आबाल—गोपाल के स्वाध्याय के लिए बहुत उपयोगी हैं।

आपके द्वारा मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका दीक्षा को प्राप्त कर यशस्वी होने वाले अनेक शिष्य-शिष्यायें हैं। जिनमें से आचार्य सुबलसागर जी, आचार्य विद्यानंदजी, आचार्य बाहुबली सागरजी और मैं क्षुल्लिका वीरमती (वर्तमान में आर्यिका ज्ञानमती) आदि हैं।

जनवरी १९८७ में मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार, माधुरी आदि दक्षिण यात्रा के प्रारंभ में आपके दर्शनार्थ पहुँचे। आपने उन्हें वात्सल्य से आप्लावित किया पुनः बार-बार मोतीचंद को यही शिक्षा दी कि—"तुम दीक्षा लेकर हाथ पर हाथ धरकर नहीं बैठ जाना। जैन धर्म की प्रभावना के लिए सतत कार्यशील रहना। देखो! अपने लोगों की अपेक्षा प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने धर्म को कितना बढ़ा रहे हैं फिर अपना जैनधर्म अनादि निधन-सार्वभौम धर्म है, इसकी उन्नति, वृद्धि और प्रभावना में जितना भी काम करोगे, वह कम ही होगा.....।"

गुरु का उपदेश और आशीर्वाद हमारे लिए भी परोक्ष में वह अंतिम ही था। अब भी आपके एक-एक उपदेश कण याद आते रहते हैं। आपकी शिक्षाओं से सदैव मनोबल बढ़ता रहा है और आगे भी बढ़ता रहेगा। आपके द्वारा भारत में हर प्रांत में जितनी धर्म प्रभावना सर्वांगीण रूप में हुई है, शायद ही किन्हीं से वैसी सर्वांगीण हो सकेगी।

भगवान महावीर २५सौवाँ निर्वाण महोत्सव आपकी ही सूझबूझ की देन है। दिल्ली में आप एवं स्थानकवासी श्वेतांबर मुनि श्री सुशील कुमार जी दोनों ने मिलकर ही निर्वाण महोत्सव को राष्ट्रीय स्तर पर मनाने की रूपरेखा बनायी थी। आचार्य श्री इन सभी रूपरेखाओं को मुझे स्वयं सुनाया करते थे।

मंदिर-मूर्तियों के निर्माण की प्रेरणा, स्वयं साहित्य सृजन करना, उपदेश में जन-जन को आकर्षित ही नहीं, मंत्र-मुग्ध कर लेना, सर्वत्र प्रांतों में पदविहार करते हुए आबालगोपाल को दर्शन देकर कृतार्थ करना और उपदेश देकर समीचीन मार्ग बताना, बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठाएँ कराना, अनेक दीक्षाएँ देना आदि सर्वकार्य आपके द्वारा सम्पन्न हुए हैं। आपके श्रीचरणों में मेरी पुनः पुनः विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित है।

शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर —

गुजरात की राजधानी अहमदाबाद में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर द्वारा दिनाँक ३१ मई से ८ जून १९८७, तिथि ज्येष्ठ शु. ४ से ज्येष्ठ शु. ११ तक एक विशाल 'ज्ञानज्योति शिक्षण-प्रशिक्षण' शिविर का आयोजन किया गया। इस शिविर में यहाँ से रवीन्द्र कुमार, माधुरी आदि गये थे और अनेक विद्वान आमंत्रित किये गये थे। शिविर में लगभग १००० विद्यार्थियों ने लाभ लिया। गुजरात में आर्षपरम्परा का इतना विशाल यह पहला शिविर था।

इस शिविर से प्रभावित हुए वहाँ से कई महानुभावों ने अपने पुत्रों को यहाँ विद्यापीठ में अध्ययन के लिए भेजा। उसी शिविर में शिक्षण प्राप्त कर धर्मेन्द्र कुमार ने यहाँ आकर मुझसे आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत लेकर दो प्रतिमा के व्रत लिए हैं और धर्माध्ययन में रत हैं।

£ ९२ ¤

वर्षायोग स्थापना —

आषाढ़ शुक्ला १४, दिनाँक १० जुलाई १९८७ को यहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर मैंने वर्षायोग स्थापना की। इस समय मेरे संघ में आर्यिका शिवमती व क्षुल्लक मोतीसागर जी थे।

इन्द्रध्वज विधान —

श्रावण वदी ५, दिनाँक १५जुलाई १९८७ से महमूदाबाद की हीरामणी जी ने अपने पुत्रों आदि परिवार सहित यहाँ इन्द्रध्वज विधान शुरू किया। साथ ही दिल्ली के कमलचंद जैन ने भी इन्द्रध्वज विधान किया। एक साथ दो मंडल बनाये गये। श्रावण कृ. १४, दिनाँक २४ जुलाई को हवन होकर रथयात्रा हुई। इस विधान के मध्य दोनों पार्टियों ने अच्छा लाभ लिया, मध्यान्ह में छहढाला आदि की कक्षायें चलीं।

इसी मध्य कमलचंद जैन ने कमल मंदिर के लिए ५१ हजार रुपये का दान घोषित किया। महमूदाबाद के कोमलचंद ने भी लगभग १८००० रुपये का दान बोला।

लेखन कार्य —

मैंने इधर गर्मी में समवसरण पर लेख बनाये। सन् १९७६ में 'कल्पतरु स्तोत्र' नाम से संस्कृत में बनायी गई चतुर्विंशति स्तुति का अन्वय-अर्थ किया पुनः श्री पूज्यपाद स्वामी कृत पंचामृत अभिषेक का हिन्दी पद्यानुवाद किया। सकलीकरण, हवन आदि विधि-क्रियाओं के भी संस्कृत श्लोकों का संक्षिप्तीकरण करके भावरूप से पद्यानुवाद किया, मंत्रों को ज्यों का त्यों रखा। यह मंडलविधान 'प्रारंभ विधि एवं हवन विधि' नाम से एक पुस्तक बन गई।

इसके बाद भगवान नेमिनाथ का चरित जो सन् १९८७ के प्रारंभ में लिखना शुरू किया था, वह अपूर्ण ही छोड़ दिया था, उसे पूरा किया पुनः उसके बाद लेखन कार्य में 'मेरी स्मृतियाँ' ही लिख रही हूँ।

संस्थान की भावी व्यवस्था —

सन् १९८६-८७ में स्वास्थ्य लाभ होने के बाद मेरा चिंतन चलता रहता था कि—

मूलाचार में साधु के छह काल माने हैं—१. दीक्षा २. शिक्षा ३. गणपोषण ४. आत्मसंस्कार ५. सल्लेखना और ६. उत्तमार्थ। इनमें से प्रारंभ के तीन कालों की चर्या का वर्णन मूलाचार में है और आगे के तीन कालों की चर्या का वर्णन भगवती आराधना में है। मैंने अठारह वर्ष की उम्र में दीक्षा ले ली थी। दीक्षा लेकर पठन-पाठन करते हुए अनेक ग्रंथों का स्वाध्याय किया था, यह शिक्षा काल मेरा निकल चुका। इसके बाद अनेक बालक-बालिकाओं को, महिलाओं को घर से निकाल कर संग्रह किया, उन्हें धर्मवात्सल्य से पढ़ाया, धर्म में लगाया, यहाँ तक कि अपने से भी उच्च मुनिपद ग्रहण कराया। उन पर अनुग्रह किया, गलती होने पर निग्रह भी किया। मेरे शिष्य मुनि, उपाध्याय और आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इसी प्रकार अनेक महिलाओं व कुमारिकाओं को आर्यिका पद पर पहुँचाया है। जिनके द्वारा मोक्षमार्ग की परम्परा चल रही है और आगे भी चलती रहेगी। यह मेरा गणपोषणकाल भी पूर्ण हो रहा है।

साथ ही मैंने सम्मेदशिखर जी, गिरनारजी, पावापुरी, चंपापुरी, श्रवणबेलगोल, मांगीतुंगी, गजपंथा, कुंथलगिरि, आदि तीर्थों के दर्शन भी कर लिये हैं। आत्मविशुद्धि के लिए अनेक ग्रंथों, पुस्तक-पुस्तिकाओं को लिखा है। इन्द्रध्वज, जम्बूद्वीप, कल्पद्रुम, सिद्धचक्र, तीनलोक, सर्वतोभद्र आदि सुन्दर-सुन्दर विधान पूजन बनायी है पुनः ध्यान में उपलब्ध ऐसी जम्बूद्वीप रचना का निर्माण भी मेरी प्रेरणा से पूरा हो चुका है। अतिशय धर्मप्रभावना करते हुए 'जंबूद्वीप ज्ञानज्योति' का भ्रमण भी सारे भारत में कराया जा चुका है। विद्यापीठ में

विद्यार्थी विद्या अध्ययन कर चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा को वृद्धिंगत कर रहे हैं। 'सम्यग्ज्ञान' मासिक पत्रिका से हजारों, लाखों भव्यजीव प्रतिमाह समीचीन ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं।

अब मुझे इन तीन कालों से आगे बढ़ना है। अब मेरा 'आत्म संस्कार' नाम का चौथा काल चल रहा है। इसमें अपने को सर्व बाह्य प्रपंचों से छुड़ाकर अपनी आत्मा पर मात्र संस्कार ही डालने हैं। आत्मा को अध्यात्म भावना से ही संस्कारित करना है। इसके बाद सल्लेखना और उत्तमार्थ को साधना है।

अतः अब मुझे अपने आपको संस्थान के कार्यों में प्रेरणा देने के भार से भी मुक्त होना है। इन्हीं भावनाओं को दृढ़ करते हुए अनुकूल समय देखकर मैंने संस्थान की मीटिंग बुलाने के लिए कहा, तदनुसार श्रावण शुक्ला सप्तमी, रविवार २ अगस्त १९८७ को यहाँ हस्तिनापुर में संस्थान की बैठक हुई। उसमें मेरी सहमति से 'नई कार्यकारिणी' का गठन हुआ, जिसमें अट्ठावन (५८) नाम रखे गये। इसमें ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन को अध्यक्ष बनाया चूँकि अब ये संस्थान के कार्यकलापों में सर्वाधिक कुशल हैं, सारे कार्यभार संभाल रहे हैं। जिनेन्द्र प्रसाद ठेकेदार जो कि प्रारंभ से इन मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार के अभिन्न साथी रहे हैं। इन्हें कार्याध्यक्ष, ऐसे ही इन दोनों के अभिन्न साथी कैलाशचंद जैन, करोलबाग वालों को कोषाध्यक्ष एवं गणेशीलाल रानीवाला को महामंत्री, कु. माधुरी को मंत्री पद पर घोषित किया गया।

उसी मीटिंग में, जैसा कि मैं संस्थान के बनने से लेकर आज तक संस्थान के कार्यों में प्रेरणा व मार्गदर्शन देती रहती थी इस अपने भार को क्षुल्लक मोतीसागर जी के ऊपर डाला और उन्हें 'पीठाधीश' नाम से सम्बोधित करने की घोषणा कर दी पुनः भविष्य में संस्थान की गतिविधियाँ सुचारू चलती रहें, इसके लिए एक स्थायी समिति का गठन भी कर दिया, जिसमें सात महानुभावों के नाम रखे गये हैं।

उस समय मीटिंग में उपस्थित सभी ने इस भावी व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा की पुनः स्थायी समिति के सदस्यों को गोपनीयता की शपथ दिलायी गई। सबने सर्वसम्मति से निर्णय लिया कि—

"यह घोषणा-पत्र ताम्र-पट्ट पर उत्कीर्ण कराकर पीठाधीश को भेंट किया जावे।"

उसके बाद मेरा आशीर्वाद प्रवचन होकर जयकारे के साथ सभा संपन्न हुई पुनः अगले दिन—

श्रावण शुक्ला अष्टमी, दिनाँक ३ अगस्त १९८७ को प्रातः क्षुल्लक मोतीसागर के पाद प्रक्षालन करके 'स्थायी समिति' के सदस्यों ने उन्हें नूतन वस्त्र-लंगोटी-चादर प्रदान किये। इसके बाद मैंने त्रिमूर्ति मंदिर में उन्हें पीठाधीश पद पर स्थापित करते हुए नवीन पिच्छिका प्रदान की। उन्हें संस्थान के लिए गोपनीयता की शपथ ग्रहण करायी पुनः उपस्थित सभी स्थायी सदस्यों ने अपने-अपने उद्गार व्यक्त किये। पीठाधीश ने भी अपनी लघुता प्रगट करते हुए धर्म और पद के अनुकूल कार्य करने के लिए आश्वस्त किया, पुनरपि मैंने अनेक समयोचित उपदेश के साथ-साथ मंगल आशीर्वाद प्रदान किया।

इस प्रकार इस दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की भावी व्यवस्था बनाकर मानों मैं कृतकृत्य हो गई। मुझे बहुत ही प्रसन्नता एवं अपूर्व शांति का अनुभव हुआ।

जनश्रुतियाँ—

जब मैं अस्वस्थ थी, सन् १९८५ के अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर में सल्लेखना जैसे स्थिति चल रही थी। तब केवल णमोकार मंत्र, शांतिमंत्र और जिनेंद्रस्तुति के पाठ श्रवण के सिवाय मेरा उपयोग किसी तरफ भी नहीं था। तब भी कई एक महानुभाव यह चाहते थे और येन-केन प्रकारेण मेरे पास कदाचित क्वचित कुछ समाचार आ भी जाते थे कि—"भविष्य में इस संस्थान की व्यवस्था कैसी रहेगी?" किन्तु मुझे इसकी रंचमात्र भी चिंता नहीं थी क्योंकि मैं जानती थी कि—

"जिन्होंने संस्था बनायी है और जिन्होंने प्रारंभ में जमीन खरीदने से लेकर जम्बूद्वीप की प्रतिष्ठा तक इन

ग्यारह वर्षों में ही नहीं, इससे पूर्व भी लगभग २० वर्ष तक अथक परिश्रम किया है, गर्मी, सर्दी, वर्षा के साथ-साथ विरोधी लोगों के अनेक वाक्प्रहार झेले हैं, इसके साथ-साथ मेरी रीति-नीति से पूर्णतया ओतप्रोत हैं, ऐसे ये दोनों मेरे औरस पुत्र तुल्य शिष्य-मोतीचंद और रवीन्द्र कुमार साथ ही इनकी लघु बहन कु. माधुरी ये तीनों ही इस संस्थान के भविष्य को बनाने में, इसे संभालने में पूर्णतया समर्थ हैं क्योंकि इन तीनों के हृदय में न तो कोई स्वार्थ हैं न कोई अनर्गल प्रवृत्तियां हैं और न ही मेरे विरुद्ध तथा आर्ष परम्परा से विपरीत धारा से चल सकते हैं अतः इन जैसे कुशल, कर्मठ और संस्थान से आत्मसात् तथा संस्थान के हानि-लाभ में दुःख-सुख का अनुभव करने वाले भला और कौन व्यक्ति हो सकते हैं? हाँ, इनके साथ जो व्याकरण के प्रत्यय 'आगम' के सदृश जुड़े हुए हैं, वे तो इनके साथ जुड़े ही रहेंगे और जो गुरुभक्त होकर भी,जिन्हें संस्थान के भविष्य की मेरे से अधिक चिंता है, ऐसे महानुभाव भी यदि व्याकरण के 'आदेश प्रत्यय' के समान हैं, तो भला उनसे संस्थान के उज्ज्वल भविष्य की क्या आशा की जा सकती है?

ऐसा सोचकर मैं अत्यधिक सीरियस (गंभीर) स्थिति में भी रंचमात्र भी संस्थान के भविष्य के बारे में चिंता नहीं करती थी। फिर भी एक दिन कतिपय महानुभावों की प्रेरणा से मैंने इन्हीं दोनों को प्रमुख कर तीनों शिष्यों का नाम लिख दिया था कि—

"कदाचित् आकस्मिक मेरे न रहने पर ये ही इसके भविष्य को संभालेंगे.....इत्यादि।'

"आज कुछ चर्चायें मेरे पास आती हैं कि क्षुल्लक मोतीसागर को ही 'पीठाधीश' क्यों बनाया? ब्र.रवीन्द्र कुमार को ही अध्यक्ष क्यों बनाया?"

तब मैं यही उत्तर देती हूँ कि—

"यदि इनसे अधिक और योग्य विश्वस्त मुझे आज भी कोई महानुभाव मिल जावें, जो संस्थान के प्रति पूर्णतया समर्पित हों, मेरी रीति-नीति और आज्ञा शिरोधार्य करने वाले हों, सामने आवें, मैं उन्हें इनका स्थान सौंप दूँगी.....।" दूर बैठकर चर्चा मात्र से इतनी बड़ी संस्था नहीं चलायी जा सकती है। दूसरी बात इन दोनों में जो कमी हो, सो बतलायें, मैं उसे दूर कराने का प्रयास करूँगी।

"यदि इन पर अविश्वास है तो भाई! जिन्होंने बीस वर्ष मेरे पास रहकर मेरी पूर्णतया आज्ञा पालन कर इतने बड़े-बड़े निर्माण आदि कार्य किये हैं, यदि वे ही अविश्वस्त हैं तो भला जिन्होंने एक दिन भी यहाँ रहकर एक भी निर्माण कार्य नहीं कराया है और न यहाँ आने में, रहने में सक्षम हैं, उन पर मैं क्या विश्वास करूँ?

इस संस्थान में पैसे का आय-व्यय विवरण ऑडिट होकर छप जाता है, फिर भी जिन्हें संदेह हो, यहाँ कार्यालय में आकर दो-चार दिन ही क्या, महीनों रहकर देख लेवें, संदेह दूर हो सकता है। मात्र घर बैठे चर्चा करने से भला क्या होगा?

"यदि कोई कहे कि-मैंने हजारों रुपये दिये हैं, दिलाये हैं, तो भाई! रुपये तो इस संस्थान में लगभग एक करोड़ चालीस लाख लग चुके हैं, जिन्हें भारतवर्ष की समस्त जैन समाज से ही लाया गया है अतः रुपये देने वालों को ही संस्थान का अध्यक्ष बना दिया जाये ऐसी तो कोई बात नहीं है, प्रत्युत् तन, मन और धन से समर्पित होने वाले निःस्वार्थ सेवा भावी इन क्षुल्लक मोतीसागर और ब्र. रवीन्द्र कुमार जैसे ही व्रतीजन इस संस्थान को संभालने और इसकी गतिविधियों को चलाने में तथा बढ़ाने में समर्थ हैं, ऐसा मुझे अनुभव आ रहा है।

आगम और आदेश प्रत्यय —

ऊपर में जो 'आगम' और 'आदेश' नाम से व्याकरण के प्रत्यय का उदाहरण लिया है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

युजेरसमासेनुर्घुटि।।२७२।।

युज् शब्द को 'नु' का आगम अन्तिम स्वर से परे होता है।[१]

"मित्रवदागमः, अथवा प्रकृतिप्रत्ययोरनुपघाती आगम उच्यते।

शत्रुवदादेशः।"

जो मित्रवत् हो उसे आगम कहते हैं अथवा प्रकृति और प्रत्यय को क्षति न पहुँचाकर आने वाला 'आगम' कहलाता है। 'आदेश' शत्रुवत् होता है, वह किसी को हटाकर उसके स्थान पर होता है।

अतः युज् में नु प्रत्यय का आगम होकर 'युञ्ज्' बन गया किन्तु इससे विपरीत आदेश प्रत्यय दूसरे को हटाकर होता है।

जैसे कि "जस्शसोः शिः"।।२३९।।

नपुंसक लिंग से परे जस् शस् विभक्ति को 'शि' आदेश हो जाता है[२]। यह 'शि' आदेश जस् विभक्ति को हटाकर हुआ है अतः कुल+जस् के आने पर जस् को हटाकर 'शि' होने से 'कुलानि' बना है।

आज बहुत से लोग ऐसे हैं कि जो किसी संघ या संस्था या परिवार में शामिल होकर आगम प्रत्यय के समान मित्रवत् आकर मिल जाते हैं, वहाँ रहने वाले लोगों को बाधा न पहुँचाकर उन्हीं में बन्धुत्व भाव से रहते हैं और एक ऐसे होते हैं जो आकर पहले वालों को हटाकर-निकालकर फेंक देना चाहते हैं। ऐसे लोग ही 'आदेश' प्रत्यय के समान हैं अतः उनसे धर्मनीति की रक्षा संभव नहीं है चूंकि उनमें स्वार्थपरता है, काष्ठांगार के समान वे धर्मनीति के शत्रु हैं। ऐसे लोगों से धर्मनिष्ठ लोगों को सदा सावधान रहना चाहिए। जो ऐसे लोगों के वाग्जाल में आ जाते हैं, वे अपना सर्वस्व खो बैठते हैं। ऐसे लोगों से ही हम लोगों ने अपने मंदिर और तीर्थों को खोया है।

पीठाधीश पद की आवश्यकता —

धर्म की परम्परा अक्षुण्ण रूप से तीर्थंकरों के तीर्थ प्रवर्तन से चलती है, उसी प्रकार से उनके अभाव में धर्म की परम्परा आचार्यपट्ट की परम्परा से चलती है। पूर्वाचार्यों ने तो तीर्थंकर भगवान् को और दिगंबर आचार्यों को 'भट्टारक' शब्द से संबोधित किया है। यथा —

'तदो मूल तंतकत्ता वड्ढमाणभडारओ।

इस प्रकार मूल ग्रंथकर्ता वर्धमान भट्टारक हैं।

''धरसेण भडारएण।''

धरसेन भट्टारक ने.....। ऐसे बहुत से प्रमाण हैं, जो मैंने एक लेख में कुछ संकलित किये हैं, यहाँ दो ही दिये हैं।

इस आचार्य परम्परा के साथ ही कुछ मध्यकालीन युग में धर्म परम्परा को चलाने के लिए भट्टारक परम्परा चल रही है। इसमें भट्टारक वस्त्रधारी हैं। कहीं-कहीं क्षुल्लक को भट्टारक बनाया गया है। आज भी 'नांदणी मठ' जिनसेन भट्टारक क्षुल्लक हैं, वे क्षुल्लक पद की चर्या पालते हुए भी संस्था-मठ विशेष के स्वामी हैं।

आचार्यश्री शांतिसागर जी ने भी क्षुल्लक के लिए 'संस्था' की व्यवस्था संभालने का अधिकार, संस्था को चलाने का अधिकार दिया था।

"आचार्यश्री शांतिसागर जी जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ " पाठ ३४ में बहुत ही सुन्दर प्रकरण आया है। उसे यहां ज्यों का त्यों दिया जा रहा है।

यथा—

---

१. कातन्त्ररूपमाला, पृ. १०६। २. कातन्त्ररूपमाला, पृ. ८४।

शास्त्रशुद्ध व्यापक दृष्टिकोण—

"महाराज जी का अपना दृष्टिकोण हर समस्या को सुलझाने के लिए मूल में व्यापक ही रहता था। योगायोग की घटना है इसी चातुर्मास में[१] कारंजा गुरुकुल आदि संस्थाओं के संस्थापक और अधिकारी ब्र. श्री देवचंद जी दर्शनार्थ ब्यावर पहुँचे। पूज्य आचार्यश्री ने क्षुल्लक दीक्षा के लिए पुनः प्रेरणा दी। ब्रह्मचारी जी का स्वयं विकल्प था ही। वे तो उसी लिए ब्यावर पहुँचे थे। साथ में और एक प्रशस्त विकल्प था कि 'यदि संस्था संचालन होते हुए क्षुल्लक प्रतिमा का दान आचार्यश्री देने को तैयार हों, तो हमारी लेने की तैयारी है।" इस प्रकार अपना हार्दिक आशय ब्रह्मचारी जी ने प्रकट किया। ५-६ दिन उपस्थित पंडितों में काफी बहस हुई। पंडितों का कहना था कि क्षुल्लक प्रतिमा के व्रतधारी संस्था संचालन नहीं कर सकते। आचार्यश्री का कहना था कि पूर्व में मुनिसंघ में ऐसे मुनि भी रहा करते थे जो जिम्मेवारी के साथ छात्रों का प्रबंध करते थे और ज्ञानदानादि देते थे। यह तो क्षुल्लक प्रतिमा के व्रत—गृहस्थी के व्रत (श्रावक के व्रत) हैं। अंत में आचार्य महाराज जी ने शास्त्रों के आधार से अपना निर्णय सिद्ध किया। फलतः ब्र. श्री देवचंद जी ने क्षुल्लक पद के व्रतों को पूर्ण उत्साह के साथ स्वीकार किया। आचार्यश्री ने स्वयं अपनी आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करते हुए दीक्षा के समय "समंतभद्र" इस भव्य नाम से क्षुल्लक जी को नामांकित किया और पूर्व के समंतभद्र आचार्य की तरह आपके द्वारा धर्म की व्यापक प्रभावना हो, इस प्रकार के शुभाशीर्वादों की वर्षा की। कहाँ तो बाल की खाल निकालकर छोटी-छोटी सी बातों की जटिल समस्या बनाने की प्रवृत्ति? और कहाँ आचार्यश्री की प्रहरी के समान सजग दिव्य दूर-दृष्टिता?"

इन सब बातों को देखते हुए मुझे भी ऐसा समझ में आया कि-आज भी प्रत्येक प्रसिद्ध तीर्थ और विशेष संस्थाओं में ऐसे कार्यकुशल मार्गदर्शक क्षुल्लकों की महती आवश्यकता है। वैसे 'भट्टारक शब्द से मुझे भक्ति और प्रेम है—क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में भगवान और दिगम्बराचार्यों के लिए 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसा समझकर वर्तमान में मैंने यहाँ क्षुल्लक के लिए 'पीठाधीश' शब्द चुना और—

"इस दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान' में धर्म की परम्परा को संरक्षण, संवर्धन देने के लिए क्षुल्लक के वेष में 'पीठाधीश' की घोषणा की है अतः यहाँ वर्तमान में क्षुल्लक मोतीसागर जी को पीठाधीश बना दिया है।

आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज ने धार्मिक संस्थाओं में अनेक योग्य महानुभावों को कार्य करने की प्रेरणाएँ दी हैं। समय-समय पर कार्यकर्ताओं के प्रति लोगों के संदेह को न कुछ गिनकर उन्हें कार्य करते रहने को प्रोत्साहित किया है। इसके प्रमाण भी मौजूद हैं—

देखिये—

'आचार्य शांतिसागरजी जन्मशताब्दी स्मृति ग्रंथ" पृ. १६९

कार्यकर्त्याची निवड करण्याचे चातुर्य

-बालचंद देवचंद

परम पूज्य आचार्यश्रीनी सदरहु जीर्णोद्धारक संस्थेची स्थापना केली, संस्थेचा कारभार चोखा चालावा म्हणून प्रामाणिक व सेवा भावी कार्यकर्त्याची निवड करण्याचे अपूर्व चातुर्य महाराजांना होते, दोन वर्षात तीन लाखांचा ध्रुवनिधि जमला, हा सर्व निधि श्री तुलजाराम चतुरचंद शहा. रा. बारामती यांना कोषाध्यक्ष नेमून त्यांचे स्वाधीन केला, मी संस्थेचा मंत्री होतो तेव्हाचा हा प्रसंग।

श्री तुलजाराम शेठ आर्थिक व्यवहारात अत्यंत चोख असत, खाजगी देवघेवीच्या व्याहाराच्या प्रसंगामुले काही मोठ्या महानुभावांनी वैयक्तिक हेव्याने बाबत समाजामध्ये कुजबुज फैलावली, "यांच्याजवड़ गोला

केलेला सामाजिक निधि असून ते वैयक्ति धंधासाठी त्याचा वापर करतात'' असा त्यांचेवर आरोप होता, वस्तुतः संस्येची शिल्लक आपल्या वहिखात्यांत पाच पैशापेक्षा जास्त असू नये व सर्व रक्कम बंकेतच जमा असावी हा त्यांचा पक्का दंडक, एवढेच नव्हे तर दातारांना स्वीकृत दान पाठवून देण्याबाबत वांरवार स्मरणपत्रे देवून त्यांचा लक्डा मागे असावयाचा, पण हा रोखठोक व्यवहारच विरोधकांना बोचला, ही कुजबुज प. पू. महाराजांचे व तसेच श्री सेठ तुलजारामचे कानावर गेली, शेठ जी महाराजांकडे सर्व वहीखाते, बैंक-बुक, रोख शिल्लक धेऊन गेले व उपस्थित समाजासमोर म्हणाले, ''महाराज, हे वहीखाते! सर्व जमा रक्कम ताबडतोब बंकेत जमा झाली की नाही हे बघा! हे बैंक-बुक! माझेवाडे कैव्हाही पांच पैशांपेक्षा जास्त शिल्लक नव्हती, आज ही नाही, हा पांच पैशांचा उबार! आणि हा माझा राजीनामा!''

महाराज हे पाहून सगदित झाले! महाराजांनी सर्व आक्षेपकांना समज देऊन त्यांचे समाधान केले व तुलजाराम शेठला म्हणाले, ''अरे बाबा, तुभया हातून असे काही होणार नाही याचा मला विश्वास आहे, माझा आदेश आहे तू हा राजीनामा परत घे व हा सर्व व्यवहार सांभाल''

महाराजांची आज्ञा अवमानण्याचे धाडस त्यानां झाले नाही, कार्यकर्त्याची पारखकरण्याचे हे चातुर्य! यानंतर आजतागायत हे काम त्यांचैकडे व त्यांचे सुपुत्र माणिकचंद भाईकडे आहे!

इसका हिन्दी भाषान्तर—

कार्यकर्ताओं के चयन करने की चतुरता

-बालचंद देवचंद

परमपूज्य आचार्यश्री ने उन दिनों जीर्णोद्धारक संस्था की स्थापना की थी, संस्था का कार्यभार अच्छी तरह से चलता रहे, इसलिए प्रामाणिक और सेवाभावी कार्यकर्ताओं के चयन करने के बारे में अपूर्व चातुर्य आचार्यश्री में था। दो वर्ष में तीन लाख रुपयों की ध्रुवनिधि हो गई। ये सर्व निधि 'तुलजाराम चतुरचन्द शहा' रा. बारामती वाले, इन्हें कोषाध्यक्ष बनाकर इनके स्वाधीन कर दिया। मैं संस्था का मंत्री था, उस समय का यह प्रसंग है।[१]

श्री तुलजाराम सेठ आर्थिक व्यवहार में अत्यन्त कुशल थे। कुछ लेन-देन व्यवहार के प्रसंग में किन्हीं बड़े महानुभावों ने वैयक्तिक ईर्ष्या के निमित्त से समाज में चर्चा फैला दी कि ''इनके पास एकत्रित हुई जो सामाजिक संपत्ति है, उसे ये वैयक्तिक कारोबार में लगाते हैं'' ऐसा उनके ऊपर आरोप लगाया गया। वास्तव में संस्था की शिलक अपने बही खाते में पांच पैसा से अधिक रहे नहीं तथा सर्व रकम बैंक में जमा रहे, यह उनका पक्का नियम था। इतना ही नहीं, बल्कि दातारों के द्वारा स्वीकृत दान भेजने के लिए बार-बार उन्हें स्मरणपत्र देकर उनके पीछे पड़ जाना परन्तु यह रोक-टोक व्यवहार ही उन विरोधी जनों को अखर गया।

यह कुजबुज- चर्चा परम पूज्य महाराज श्री के और श्री सेठ तुलजाराम के कान तक पहुँच गई। सेठ जी महाराज जी के पास सब बहीखाते, कैशबुक, रोख-रोकड़, शिलक लेकर गये और उपस्थित समाज के समक्ष बोले—''महाराज जी! ये हैं बहीखाते। सर्व जमा रकम तत्क्षण ही बैंक में जमा की गई या नहीं, ये देखो! यह बैंक बुक हैं, मेरे पास कभी भी पाँच पैसे से अधिक शिलक नहीं थी, आज भी नहीं है। यह पाँच पैसे की रकम और यह मेरा त्यागपत्र!'

महाराज जी यह देखकर प्रसन्न हुए पुनः महाराज जी ने सभी आक्षेपक लोगों को प्रमाण देकर उनका समाधान किया और तुलजाराम सेठ से बोले—''अरे बाबा! तेरे हाथ से ऐसा कुछ हो नहीं सकता, ऐसा मुझे विश्वास है, मेरा आदेश है, तू यह त्यागपत्र वापस ले और सर्व व्यवहार-कार्यभार संभाल।''

---

१. आचार्य शांतिसागर शताब्दी स्मृति ग्रंथ से साभार।

महाराजश्री की आज्ञा उल्लंघन करने की धृष्टता उनमें नहीं थी। "कार्यकर्ता के परख करने की यह थी चतुरता!" इसके बाद आज पर्यंत भी यह कार्य उनके द्वारा और उनके सुपुत्र माणिकचंद भाई के द्वारा हो रहा है।

ऐसे ही चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री ने मुनिश्री समंतभद्र जी को एक स्थान कुँभोज तीर्थ में रहने की प्रेरणा दी और विशालमूर्ति निर्माण कराकर, विराजमान करने का आदेश दिया। इन उदाहरणों से मैंने जो भी जम्बूद्वीप निर्माण और ज्ञान ज्योति प्रवर्तन की प्रेरणा दी है और अब विहार करने की शक्ति न होने से यहाँ रह रही हूँ, इन सब बातों में मुझे आचार्यश्री का आदेश और आशीर्वाद परोक्षरूप में है, ऐसा मैं समझती हूँ। उसका उदाहरण देखिये—

"आचार्य शांतिसागर जी जन्मशताब्दी स्मृति ग्रंथ" पृ. ३८।

एक प्रशस्त विकल्प

"वर्षों से एक प्रशस्त संकल्प चित्त में था, जैसे माँ के पेट में बच्चा हो। वह करुणा-कोमल चित्त की उद्‌भट चेतना थी । महाराष्ट्र की जैन जनता प्रायः कास्तकार है। धर्म-विषयक अज्ञान की भी उनमें बहुलता है। आचार्यश्री का समाज के मानस का गहरा अध्ययन तो अनुभूति पर आधारित था ही। "शास्त्र-ज्ञान और तत्त्व विचार" की ओर इनका मुड़ना बहुत ही कठिन है। प्रथमानुयोगी जन मानस के लिए एक भगवान का दर्शन ही अच्छा निमित्त हो सकता है। इसी उद्देश्य को लेकर किसी अच्छे स्थान पर विशालकाय श्री बाहुबली भगवान की विशाल मूर्ति, कम से कम २५ फीट की, खड़ी करने का प्रशस्त विकल्प जहाँ कहीं भी आचार्यश्री पहुँचे थे, प्रगट करते थे, परन्तु सिलसिला बैठा नहीं।"भावावश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते।" होनहार होकर ही रहता है। योगायोग से इसी समय अतिशय क्षेत्र बाहुबली (कुंभोज) में वार्षिकोत्सव होने वाला था। "संभव है सत्य-संकल्प की पूर्ति हो जाये" इसी सदाशय से आचार्यश्री के चरण बाहुबली की ओर यकायक बढ़े। १८ मील का विहार वृद्धावस्था में पूरा करते हुए नांद्रे से महाराजश्री क्षेत्र पर संध्या में पहुँच गये। इस संकल्प के लिए कमेटी और कार्यकर्ताओं की पूर्ण स्वीकृति मिलते ही एक नया अत्यन्त पवित्र आनन्दोल्लास का वातावरण पैदा हुआ। संस्था के मंत्री श्री सेठ बालचंद जी और मुनि श्री समंतभद्र जी से संबोधन करते हुए भरी सभा में आचार्यश्री का निम्न प्रकार समयोचित और समुचित वक्तव्य हुआ। जो आचार्यश्री की पारगामी दृष्टि सम्पन्नता का ही सूचक था।

"तुम ची इच्छा येथे हजारों विद्यार्थ्यानी राहावे शिकावे अशी पवित्र आहे हे मी ओडखतो, हा कल्पवृक्ष उभा करून जातो, भगवंताचे दिव्य अधिष्ठान सर्व घडवून आणील, मिडेल तितका मोठा पाषाण मिलवा व लवकर हे पूर्ण करा", मुनि श्री समंतभद्राक्डे वलून म्हणाले, "तुझी प्रकृति ओढखतो, हे तीर्थक्षेत्र आहे, मुनीनी विहार करावयास पाहिजे असा सर्वसामान्य नियम असला तरी विहार करूनही जे करावयाचे ते येथेच एके ठिकाणी राहून करणे, क्षेत्र आहे, एके ठिकाणी राहाण्यास काहीच हरकत नाही, विकल्प करू नको, काम लवकर पूर्ण करून घे, काम पूर्ण होईल! निश्चित होईल!! हा तुम्हा सर्वाना आशीर्वाद आहे",

इसका हिन्दी भाषांतर —

आपकी आंतरिक पवित्र इच्छा, यहाँ पर हजारों विद्यार्थी धर्माध्ययन करते रहें, इसका मुझे परिचय है। यह कल्पवृक्ष खड़ा करके जा रहा हूँ। भगवान का दिव्य अधिष्ठान सब काम पूरा कराने में समर्थ है। यथासंभव बड़े पाषाण को प्राप्त कर इस कार्य को पूरा कर लीजिये। मुनिश्री समंतभद्र जी की ओर दृष्टि कर संकेत दिया—"आपकी प्रकृति को बराबर जानता हूँ। यह तीर्थभूमि है। मुनियों को विहार करते रहना चाहिए, इस प्रकार सर्व सामान्य नियम है। फिर भी विहार करते हुए जिस प्रयोजन की पूर्ति करनी है, उसे एक स्थान में यहीं पर रहकर कर लो। यह तीर्थक्षेत्र है, एक जगह पर रहने के लिए कोई बाधा नहीं है। विकल्प की कोई

आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार से कार्य शीघ्र पूरा हो सके, पूरा प्रयत्न करना। कार्य अवश्य ही पूरा होगा, सुनिश्चित पूरा होगा। आप सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।"

पूर्णिमा का शुभ-मंगल दिन था। शुभ संकेत के रूप में पचीस हजार रुपयों की स्वीकारता भी तत्काल हुई। काम लाखों का था। यथा काल सब काम पूर्ण हुआ। "पयसा कमलं कमलेन पयः पया कमलेन विभाति सरः।" पानी से कमल, कमल से पानी और दोनों से सरोवर की शोभा बढ़ती है। ठीक इस कहावत के अनुसार भगवान् की मूर्ति से संस्था का अध्यात्म वैभव बढ़ा ही है। अतिशय क्षेत्र की अतिशयता में अच्छी वृद्धि ही हुई। अब तो मूर्ति के प्रांगण में और सिद्ध क्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ बनने से यथार्थ में अतिशयता विशेष आयी है। महाराज जी का आशीर्वाद ऐसे फलित हुआ।"

दशलक्षण पर्व —

इस वर्ष ईसवी सन् १९८७ के महापर्व में रवीन्द्र कुमार तलोद (गुजरात) गये। माधुरी बड़ौदा (गुजरात) गईं। यहाँ से पं. सुधर्मचंद, प्रवीणचंद और नरेशचंद सभी गुजरात वालों की प्रेरणा से उधर ही गये थे। अच्छी धर्म प्रभावना रही। यहाँ हस्तिनापुर में पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर जी ने तत्त्वार्थसूत्र और दशलक्षण धर्म पर प्रवचन किया। मेरा भी संक्षिप्त प्रवचन हुआ।

इन्द्रध्वज विधान —

आश्विन वदी ७, दि. १४ सितम्बर से पुतानचंद जैन फतेहपुर वालों ने सपरिवार आकर यहाँ हस्तिनापुर के त्रिमूर्ति मंदिर में बड़े उत्साह से इन्द्रध्वज विधान कराया। इससे पूर्व श्रावण में भी ये अपनी बड़ी बहन हीरामणी के विधान में आकर १० दिन यहाँ ठहरे थे। आश्विनी शु. १, दिनाँक २४ सितम्बर को पूर्णाहुति के बाद रथयात्रा निकाली गई।

पीठाधीश की जन्मजयंती —

पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर जी का ४८वां जन्मदिवस आश्विन कृ. १४, दिनाँक २१ सितम्बर १९८७ को था। इस अवसर पर उनकी माँ रूपाबाई और बहन किरणबाई यहां मौजूद थीं। छोटा सा कार्यक्रम रखा गया। विद्यापीठ के विद्यार्थियों ने प्रभात फेरी निकाली। नारे लगाने में एक नारा अच्छा लगा—'हर मां का बेटा कैसा हो, मोतीसागर जैसा हो।' मध्यान्ह में सभा हुई, वक्ताओं ने अपने उद्गार व्यक्त किये। मैंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि—

"जन्म जयन्तियां जो मनाते हैं, उनके गुणों की हैं न कि व्यक्ति विशेष की। क्षुल्लक मोतीसागर जी ने गुरु आज्ञा पालन में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।"

माँ रूपाबाई ने लोगों को गिलास बाँटे। रात्रि में आरती, भजन आदि कार्यक्रम हुए। मोतीसागर जी ने कई बार कहा—

"माताजी! आपके सामने यह मेरे जन्म दिवस का आयोजन अच्छा नहीं लगता.....।"

मैंने कहा—"बेटे-बेटियों का माता के सामने गुणगान किया जाये, अच्छा ही है, करने दो.....।"

५४वीं जन्मजयंती —

शरद पूर्णिमा, ७ अक्टूबर १९८७ को मेरा जन्म दिवस आ रहा था किन्तु दिल्ली वालों की नीति के अनुसार रविवार को विशेष आयोजन के साथ मनाने का निर्णय लिया गया। तदनुसार आश्विन शुक्ला १२, दिनाँक ४ अक्टूबर, रविवार को जन्मजयन्ती का कार्यक्रम रखा गया। विद्यार्थियों ने प्रभात फेरी की। क्षुल्लक जी को आगे कर श्रावकगण बाजे के साथ नशियां के दर्शन करने गये। मध्यान्ह में महिलाश्रम दिल्ली की बालिकाओं ने मंच पर एकांकी प्रस्तुत किये। विनयांजलि के बाद दूध से मेरे पादप्रक्षालन किये गये। पिच्छी और शास्त्र प्रदान किये गये।

इस मंगल अवसर पर वार्षिक मेला के रूप में रथयात्रा निकाली गई। मोतीलाल कासलीवाल दिल्ली ने ५०० गिलास बाँटे। मदन लाल टिकैतनगर ने ५४ धोतियाँ बाँटी। ५४ विद्युत् दीप जलवाये गये।

मैंने आशीर्वाद प्रवचन में कहा—

यह शरद पूर्णिमा मेरा सच्चा जन्म दिवस है। इसी दिन सन् १९५२ में मैंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लेकर गृह का त्याग किया था अतः यह मेरा संयम दिवस है। पूर्णिमा की ज्योत्सना के समान मेरा संयम उज्ज्वल बना रहे, मैं यही भगवान से प्रार्थना करती हूँ। आप सभी भक्तों को मेरा यही आशीर्वाद है कि आप लोग धर्म में सदैव तत्पर रहें, इसी से सुख, संतति, संपत्ति की समृद्धि होती है.....।"

इसके बाद ७ अक्टूबर, शरद पूर्णिमा के दिन पुनः रवीन्द्र कुमार, माधुरी आदि ने प्रातः चरणप्रक्षाल, पूजन आदि की। 'स्थायी समिति' के सदस्यों ने पीठाधीश मोतीसागर को रजतप्रशस्ति भेंट की। पीठाधीश ने उसे लेकर अध्यक्ष महोदय रवीन्द्र कुमार को सौंप दिया और बोले—

"इसे आप कार्यालय में रख लीजिये.....।"

रवीन्द्र कुमार ने इस प्रशस्ति को यहीं रत्नत्रय निलय में ऊपर लगा दी। मध्यान्ह में सभा हुई। उपस्थित अनेक लोगों ने विनयांजलि अर्पित की। पुनरपि रात्रि में ५४ दीपकों से आरती की गई।

वास्तव में दिल्ली वालों की सुविधा के लिए रविवार को कार्यक्रम बनाया गया था। मैंने देखा है, दिल्ली में १-१ माह पहले ही रविवार-रविवार को एक-एक स्थान पर लोग 'महावीर जयंती' मनाते रहते हैं पुनः चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को सामूहिक रूप में मनाते हैं।

आचार्यश्री देशभूषण महाराज जी की भी जयंती रविवार को मनाई गई है।

इन्द्रध्वज विधान —

इस जन्मजयंती के उपलक्ष्य में जगाधरी के पुरुषोत्तम दास जैन ने आश्विन शुक्ला १०, शुक्रवार २ अक्टूबर से ही झंडारोहण करके इन्द्रध्वज विधान शुरू कर दिया था। इन्होंने कार्तिक वदी ५, दिनाँक ११ अक्टूबर को पूर्णाहुति कर विधान पूर्ण किया।

उपदेश —

१५ अक्टूबर को यहाँ हस्तिनापुर में आये हुए कैम्प की बालिकाओं को उपदेश सुनाया। बालिकाओं को उपदेश में मैं प्रायः शीलव्रत पर जोर देते हुए सीता, अंजना आदि के उदाहरण सुना देती हूँ। मेरा कहना रहता है कि देखो! रावण ने पर-स्त्रीसेवन पाप नहीं किया, मात्र भावों से ही पाप किया था, फिर भी आज कोई भी अपने पुत्रों का नाम रावण नहीं रखना चाहते हैं ऐसे ही 'सूर्पनखा' ने भी परपुरुष को मात्र भावों से चाहा था, फिर भी कोई माता अपनी पुत्री का 'सूर्पनखा' नाम नहीं रखती हैं। सीता, अंजना तो बड़े प्रेम से रखती हैं अतः शीलव्रत ही सबसे उत्तम रत्न है।

वेदी परिवर्तन —

कार्तिक वदी १३, २० अक्टूबर १९८७ को भगवान महावीर के मंदिर की छोटी वेदियों से जिनप्रतिमाओं को लाकर यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में दायीं वेदी में पीछे अस्थायी अलमारी बनाकर उसमें वेदीशुद्धि कराकर विराजमान करायी गई हैं। चूंकि महावीर मंदिर में निर्माण कार्य चल रहा है। अंदर से गोलाकार बनाकर ऊपर में कमलाकार बनाया जावेगा[१]।

इन्द्रध्वज विधान —

उधर लखनऊ में कैलाशचंद जैन, टिकैतनगर वालों ने इन्द्रध्वज विधान कराया था, उसकी पूर्णाहुति

---

१. यह सन् १९८७ में लिखा गया था, अब कमल मंदिर बन चुका है।

भी, २० अक्टूबर को की गई थी। इस विधान से लखनऊ में बहुत अच्छी धर्मप्रभावना हुई। यहाँ से रवीन्द्र कुमार, माधुरी, पं. सुधर्मचंद जी गये थे। इसके पूर्व आश्विन शुक्ला में टिकैतनगर में रवीन्द्र के चाचा बालचंद जी के सुपुत्र वीरेन्द्र कुमार जैन ने चार सौ अट्ठावन जिनप्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराकर इन्द्रध्वज-विधान महोत्सव पूर्वक संपन्न कराया था। इसके बाद तत्काल ही दरियाबाद में इन्द्रध्वज-विधान हुआ था। चारों तरफ इन्द्रध्वज-विधान सुनकर मन में बहुत ही प्रसन्नता होती। भला जिनेन्द्रदेव के पूजा-विधान द्वारा धर्मप्रभावना होने से किस साधु को प्रसन्नता नहीं होगी? फिर यह तो मेरे द्वारा ही भक्ति से संजोये गये काव्यपदों की रचना है अतः प्रसन्नता होना तो स्वाभाविक है।

निर्वाणलाडू —

कार्तिक कृ. ३०(अमावस्या), दिनाँक २२ अक्टूबर को यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में प्रातः ५.४५ पर निर्वाणलाडू चढ़ाया गया पुनः महावीर मंदिर में ६ बजे लाडू चढ़ाया गया। इस बार क्रम ऐसा रखा गया क्योंकि महावीर मंदिर में निर्माण काम के निमित्त से अंदर बहुत सी बल्लियाँ बंधी हुई थीं। हमेशा तो पहले महावीर मंदिर में लाडू चढ़ेगा पुनः त्रिमूर्ति मंदिर में चढ़ेगा। अनन्तर गोष्ठी एवं उपदेश हुआ। सायंकाल दीपावली मनायी गई। इससे पूर्व श्री गणधरदेव और केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजाएँ की गईं।

जंबूद्वीप मंडल विधान —

कार्तिक शुक्ला ५, दिनाँक २७ अक्टूबर १९८७ को आनन्द प्रकाश जैन-दिल्ली वालों ने यहाँ जम्बूद्वीप-विधान के लिए झंडारोहण किया। इस विधान में मंदिर में मंडल नहीं बनाया गया था। जंबूद्वीप के ठीक सामने पांडाल बनाया गया था। वहाँ पर मंच बनाकर उस पर पूजन करने वाले बैठकर पूजा करते थे। इसमें १००८ अर्घ्य हैं जो कि यथास्थान इस बने हुए जंबूद्वीप पर चढ़ाये जा रहे थे। उसमें बड़ा आनंद आता था। इस प्रकार यथास्थान १००८ अर्घ्य और जयमाला में श्रीफल चढ़ाये जा रहे थे। अनेक श्रावकों ने विधान में भाग लिया। इस अवसर पर आचार्य श्रीसुबाहुसागर जी संघ सहित आये हुए थे, उन्होंने भी विधान देखा और उपदेश दिया।

इस विधान में एक बात उल्लेखनीय है कि कई महीनों से आनन्द प्रकाश ने कहा था कि—"मैं कार्तिक अष्टान्हिका में जंबूद्वीप विधान करूँगा पुनः इस समय दीपावली के पूर्व वे सहसा मना करने के लिए आ गये। मैंने पूछा—"क्यों?" उन्होंने कहा—"माताजी! मैं लगभग एक माह तक अक्टूबर में संघों के दर्शन करने, आहारदान देने गया था, वहाँ मुझे भी ज्वर आ गया था, मेरी धर्मपत्नी भी बीमार हो गई थी अतः अभी बैठने की शक्ति नहीं है।"

मैंने कहा—"चिंता मत करो, विधान में बैठने की शक्ति अपने आप आ जावेगी।"

आनन्द प्रकाश बोले—"ठीक है, आपका आशीर्वाद चाहिए।"

मेरा आशीर्वाद लिया, विधान की सामग्री की लिस्ट ली और सारी व्यवस्था बनाकर चले गये। वास्तव में जिनभक्ति से उन्हें कोई भी कष्ट नहीं हुआ बल्कि खूब उत्साह से दौड़-दौड़कर जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में, कभी ऐरावत क्षेत्र में, कभी विदेह क्षेत्र में, कभी जिनमंदिरों की पूजा के लिए और कभी देवभवनों में अर्घ्य चढ़ाने के लिए जाते रहते थे। मध्यान्ह में १-२ बजे तक पूजा करते थे और आनन्द लेते थे। कार्तिक शु. १४, ४ नवम्बर १९८७ को पूर्णाहुति करके रथयात्रा निकाली गई।

इस अवसर पर वहाँ बड़े मंदिर में क्षेत्र-कमेटी की मीटिंग में साहू अशोक कुमार जी आये हुए थे। वे यहाँ भी आये, साथ ही नरेश चंद जी मादीपुरिया दिल्ली और डालचंद जी जैन, सागर, संसद सदस्य भी थे। सामयिक चर्चायें हुईं। निर्मलकुमार जी सेठी भी इसी मीटिंग के निमित्त से आये हुए थे।

वर्तमान में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में जो मतभेद हो गये हैं, उसके बारे में कई प्रश्न सामने आये। मैंने आगम के अनुसार चलने के लिए इन सभी कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी।

वार्षिक मेला —

कार्तिक शुक्ला १५, दिनाँक ५ नवम्बर १९८७ को वार्षिक मेला था। इधर भी महिलाश्रम दिल्ली की बालिकाओं द्वारा 'नेमिनाथ का वैराग्य' नाटक खेला गया।

यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में श्री सरस्वती देवी और श्री पद्मावती देवी की वेदियाँ बन गई थीं, अतः उन वेदियों में सौ. श्रीमती जैन, बहराइच और कु. माधुरी ने श्री सरस्वती देवी को और श्री पद्मावती देवी को विराजमान किया।

मध्यान्ह में बड़े मंदिर से रथयात्रा निकाली। वह जंबूद्वीप के सामने से होकर नशिया जाती है। उस समय यहाँ जंबूद्वीप के लोग भगवान की आरती करके गुप्तभंडार में भेंट चढ़ाते हैं। मैंने भी उस समय दर्शन के लिए जंबूद्वीप के बाहर जाकर भगवान का दर्शन किया।

उपदेश कार्यक्रम —

यहाँ प्रातः काल मेरे सानिध्य में पीठाधीश मोतीसागर और रवीन्द्र कुमार नियमसार प्राभृत (स्याद्वादचंद्रिका टीका सहित) और लब्धिसार पढ़ते हैं। यहाँ स्वाध्याय का क्रम हमेशा चलता रहता है। आगंतुक यात्री भी इसमें लाभ लेते रहते हैं। इसके अतिरिक्त यात्रियों की बसें यहाँ आती ही रहती हैं। उस निमित्त से मध्यान्ह में भी सभा का कार्यक्रम आयोजित होने से मेरा उपदेश भी होता रहता है। बहुत से यात्री कहने लगते हैं—

"एक-दो वर्ष पूर्व मैं आया था, तब प्रयत्न करने पर भी आप के दर्शन नही हो सके थे, आज अपके दर्शन करके मन प्रसन्न हो रहा है।"

वास्तव में सन् १९८५-८६ में ८-१० माह की लम्बी बीमारी में दर्शन का समय बंधा हुआ था, उस नियत समय से अतिरिक्त हर समय दर्शन देने में असुविधा ही थी अतः आज तक भी लोगों की शिकायतें होती रहती हैं।

अनेक यात्री कहते—

"हम लोगों ने पहली बार दर्शन किये हैं। जम्बूद्वीप का दर्शन कर हमें बहुत ही हर्ष हो रहा है। वास्तव में ऐसे दर्शन दुनियाँ में आज कहीं भी नहीं हैं। यह नूतन रचना जन-जन के आकर्षण, भक्ति और आनन्द का केन्द्र बनी हुई है।"

बहुत से लोग तो यहाँ तक कह देते थे कि—

"मेरा रुपया सवाया होकर फला है। मैंने जो ज्योति-प्रवर्तन में बोलियों के माध्यम से दान दिया था, उसकी सफलता देखकर हृदय गद्‌गद हो रहा है।"

इस प्रकार भाक्तिक गण अपनी-अपनी भावनाएँ व्यक्त किया करते। इस जंबूद्वीप के दर्शन निमित्त से यहाँ जैन की अपेक्षा अजैन लोग बहुत ही आते रहते हैं।

भिंडर में जंबूद्वीप विधान —

कु. माधुरी और कु. आस्था १५ जनवरी को भिंडर से आईं, वहाँ पर आचार्यश्री अजितसागर जी महाराज के सानिध्य में जंबूद्वीप मंडल विधान हो रहा था। आचार्य श्री स्वयं विधान पूजन के मंत्र पढ़ते थे। अच्छी धर्मप्रभावना हो रही थी। वास्तव में जब श्री पूज्यपादस्वामी जैसे महान् आचार्यों ने जिनेन्द्र अभिषेक पाठ आदि रचे हैं, तब आचार्य, मुनि, आर्यिका आदि इन विधान-पूजन को पढ़ें, सुनें और रुचि लेवें तो अच्छा ही है। यह शुभोपयोग का एक प्रकार ही है। चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज भी प्रातः जिनेन्द्रदेव का पंचामृत अभिषेक नित्य प्रति बहुत ही रुचि से देखते थे, मैने स्वयं सन् १९५५ में यह दृश्य कुंथलगिरि में देखा है।

हस्तिनापुर में केशलोंच —

फाल्गुन वदी १, दिनाँक ३ फरवरी को यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर रत्नत्रय निलय के आँगन में मेरा केशलोंच हुआ। यहाँ के बालाश्रम के करीब दो-तीन सौ बालक आये थे। महावीर जी क्षेत्र से कपूरचंद पाटनी आदि आ गये थे। अनेक बालकों के भजन हुए, कई वक्ताओं के प्रवचन हुए। कपूरचंद ने अपने वक्तव्य में कहा—

"कबीर ने नेत्रहीन का 'नयनसुख' नाम आदि देकर कह दिया था कि नाम के अनुरूप व्यक्ति में गुण नहीं दिखते हैं। काश! यदि आज वे होते या स्वर्ग से देखें, तो उन्हें अवश्य ही संतोष हो जाता कि माताजी यथा नाम तथा गुण 'ज्ञानमती' हैं.....।"

मैं केशलोंच करते-करते ही उनका वक्तव्य सुनकर सोच रही थी—"मेरे में तो ज्ञान का जो एक बिंदुमात्र अंश है, वह केवल गुरुदेव की कृपा और सरस्वती माता का ही प्रसाद है अथवा गुरुवर्य श्री वीरसागर जी ने जो मेरा नाम 'ज्ञानमती' रखा था, उसी का फल है। वास्तव में द्वादशांगरूप जिनवाणी तो आज है ही नहीं, उसका आज जितना भी अंश उपलब्ध है, उस अंश का शतांश क्या, करोड़वाँ अंश भी तो मुझमें नहीं है। फिर भी हे भगवान ! मेरे में जो भी ज्ञान की कणिका है, वह मेरे मोक्षमार्ग के लिए दीपक का काम करती रहे, यही मेरी अंतरंग भावना है.....।

केशलोंच के बाद मैंने भी मंगल आशीर्वादात्मक अपना प्रवचन दिया।

फाल्गुन कृष्णा ४, रविवार ७ फरवरी १९८८ को यहाँ तक ये 'मेरी स्मृतियाँ' लिखी गई हैं।

£ ९३ ¤*

कल्पद्रुम विधान —

यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर त्रिमूर्ति मंदिर के सामने कल्पद्रुम विधान मंडल के लिए प्रातः ७.१५ पर झंडारोहण किया गया। यह शुभ तिथि फाल्गुन शुक्ला ८, वीर नि. सं. २५१४ ईस्वी सन् २४ फरवरी १९८८ थी। त्रिमूर्ति मंदिर में सुन्दर गोलाकार मंडल बनाया गया, रंग-बिरंगी रांगोली से इस पर समवसरण की रमणीय रचना बनाई गई और चन्द्रोपक, चंवर, छत्र आदि उपकरणों से मंडल को सजाया गया, मध्य में गंधकुटी के अन्दर चारों दिशा में मुख करके चार जिनप्रतिमाएँ विराजमान की गईं। रवीन्द्रकुमार ने समवसरण में रखने के लिए मानस्तंभ, तोरणद्वार, धर्मचक्र, ध्वजाएँ आदि धातु के बनवाये थे, वे सभी प्रथम बार यथास्थान रखे गये। इनमें चैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष भी थे। इन सबसे यह समवसरण का मंडल जगमगाने लगा।

विधान के यजमान प्रद्युम्नकुमार जैन (छोटीशाह), टिकैतनगर आदि महानुभाव थे। पाँच इन्द्र-इन्द्राणी थे। शेष और भी स्त्री, पुरुष थे। प्रद्युम्नकुमार जैन टिकैतनगर, शांतिप्रसाद जैन टिकैतनगर, शिखरचंद जैन हापुड़, विमलकुमार जैन डालीगंज-लखनऊ, प्रेमचंद जैन महमूदाबाद ये पाँच श्रावक सपत्नीक चक्रवर्ती बनकर इस विधान को करने वाले थे। सकलीकरण, मंडप प्रतिष्ठा, अभिषेक, नित्य-पूजन आदि पूर्वक यहाँ महामंडल विधान प्रारंभ हुआ।

विधानकर्ता यजमान —

आषाढ़ शुक्ला, २ वीर नि. सं. २५१२, (ईस्वी सन् १९८६) के दिन मैंने यह कल्पद्रुम-विधान लिखना शुरू किया था। पुण्ययोग से साढ़े तीन माह पश्चात् आश्विन शुक्ला पूर्णिमा, वीर नि. सं. २५१२ के दिन प्रातः मंगलमय बेला में मैंने इस विधान को पूर्ण किया। विधान रचना के मध्य प्रद्युम्नकुमार जैन टिकैतनगर वालों ने कहा

---

* चैत्रवदी एकम, (११ मार्च सन् १९९०) दिन से यहाँ से लिखना शुरू किया है।

था—"माताजी! इस महाविधान को मैं ही प्रकाशित कराऊँगा—छपवाऊँगा और मैं ही पहले आपके सानिध्य में यहीं जंबूद्वीप स्थल पर कराऊँगा पुनः शरद पूर्णिमा के मेले पर मेरे जन्मदिवस के दिन श्रीजी की रथयात्रा में ये प्रद्युम्नकुमार इस कल्पद्रुम विधान की हस्तलिखित प्रति को हाथ में लेकर रथ में बैठे थे।

अब यह विधान मुद्रित होकर आ चुका था और प्रद्युम्नकुमार की भावना के अनुसार उन्हें पहली बार इसको करने का श्रेय भी मिल गया था।

अद्भुत योग —

इस विधान में तीर्थंकर जिनेन्द्र के समवसरण वैभव की पूजा के साथ-साथ तीर्थंकरों की अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी विभूति की विशेष रीति में उपासना की गई है। इसमें २४२४ अर्घ, ७२ पूर्णार्घ्य, २४ पूजाएँ, २४ अक्षरी मंत्र, मंगलस्तोत्र में २४ काव्य एवं अंतिम जयमाला-चूलिका में २४ काव्य हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इसमें २४ की संख्या १०८ बार आई है।

यद्यपि इस विधान को कराने के लिए पहले माघ में पुनः चैत्र में मुहूर्त निकाले गये थे किन्तु अकस्मात् इस आष्टान्हिक पर्व में ही करने का योग आया। प्रसन्नता तो तब बहुत हुई कि जब विधान प्रांरभ करने के बाद ध्यान गया कि आज २४ फरवरी है और पूजकों की संख्या देखी, तो उस दिन ४८ व्यक्ति पूजन में बैठे थे। मेरे मुख से सहसा निकल पड़ा।

"अहो! इस विधान में २४ की संख्या १०८ बार आई है, मालूम पड़ता है इसलिए बिना विचारे आज २४ तारीख के दिन इसके प्रारंभ का येाग आया है और ४८ व्यक्तियों की संख्या से यह दिख रहा है कि यहाँ भी २४ की संख्या ३ बार आ गई है।

इस २४ के अंक के ३ बार आ जाने से मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई और अद्भुत योग बहुत ही महत्वपूर्ण व अतिशायि प्रतीत हुआ। २४ तीर्थंकरों के श्रीचरणों में बार-बार नमस्कार करके, मैंने अपने इस अप्रतिम महाविधान को साक्षात् 'कल्पतरु' ही समझा।

चतुर्विध दान —

इस विधान की भूमिका में लिखे अनुसार विधानकर्ताओं ने यहाँ पर प्रतिदिन गरीबों को भोजन कराया, उन्हें थाल बाँटे, औषधियाँ वितरित की गईं और धार्मिक पुस्तकें भी बाँटी गईं। (लगातार आठ दिन तक ५०० से अधिक लोगों को भोजन कराया गया और ५५० थाल बाँटे गये।)

शास्त्र में वर्णित है कि "किमिच्छक दान देते हुए चक्रवर्ती के द्वारा जो जिनेन्द्र देव की महापूजा की जाती है, उसे ही 'कल्पद्रुम' पूजा कहते हैं। आज यहाँ पंचमकाल में चक्रवर्ती तो हैं नहीं, फिर भी जैसे तीर्थंकर भगवान की प्रतिमाओं की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय श्रावकगण सौधर्म इन्द्र आदि बनकर भगवान के पंचकल्याणक महोत्सव को मनाते हैं, वैसे ही श्रावक चक्रवर्ती बनकर अपने द्रव्य के अनुसार आहार, औषधि, ज्ञान और अभयदान इन चार प्रकार के दानों को करते हुए यह विधान संपन्न करें, इसलिए इस विधान का नाम 'कल्पद्रुम' यह सार्थक है।

यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर त्रिमूर्ति मंदिर में मेरे सानिध्य में यह विधान प्रथम बार हुआ है। इसी आष्टाह्निक पर्व में यह कल्पद्रुम विधान तेजपुर (आसाम) में भी हुआ था, जिसका समाचार यहाँ आया था।

कल्पद्रुम विधान का विषय —

नन्दीश्वर भक्ति में एक श्लोक आया है—

जिनपतयस्तत्प्रतिमास्तदालयास्तन्निषद्यकास्थानानि।
ते ताश्च ते च तानि च भवंतु भवघातहेतवो भव्यानाम्। ३६।।

जिनेन्द्र देव—तीर्थंकर महापुरुष, उनकी प्रतिमाएँ, उनके मंदिर और उनके निषद्या स्थान—निर्वाण क्षेत्र या पंचकल्याणक क्षेत्र ये चारों ही महान् वंद्य हैं। वे जिनेन्द्रदेव, वे प्रतिमाएँ, वे जिनमंदिर और वे निर्वाण आदि तीर्थस्थल भव्यजीवों के संसार का अंत करने में कारण होवें।

यह श्लोक मुझे अतिशय प्रिय है। इसमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनकी प्रतिमाएँ, जिनके मंदिर व जिनसे स्पर्शित क्षेत्र भी पूज्य हो जाते हैं पुनः वे जिनदेव तीर्थंकर भगवान कितने पूज्य होंगे! संसार में तीर्थंकर भगवान से पूज्य न तो कोई हुआ है और न होगा ही। इसी हेतु से मैंने इस विधान में समवसरण वैभव सहित तीर्थंकर देव की पूजाएँ रची हैं क्योंकि यह कल्पद्रुम विधान भी सब विधानों में शिरोमणि है, इसे वैभव में सर्व प्रधान, सबसे महान चक्रवर्ती ही सम्पन्न करते हैं।

विधान रचना के समय स्वाध्याय और ध्यान—

विधान रचना के समय तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ आदि का बहुत ही सुन्दर स्वाध्याय तो होता ही था, साथ में उपयोग की तन्मयता—एकाग्रता होने से धर्मध्यान भी हो जाता था। मेरा स्वयं का अनुभव है कि लिखते समय—काव्य रचना के समय मन का उपयोग जितना अच्छा हो सकता है, उतना सुन्दर उपयोग अन्य किसी समय भी संभव नहीं हो सकता है।

मैंने दो वर्ष पूर्व इस विधान की जयमालाओं को कु. माधुरी शास्त्री से टेप के कैसेट में भरवा लिया था। सायंकाल सामायिक के बाद कई बार नींद न आने से माधुरी इसके कैसेट को टेपरिकार्डर में लगा देती, जिसे सुनते-सुनते जिनेन्द्र देव के गुणों का स्मरण करते-करते मुझे नींद आ जाती। मेरे स्वास्थ्य-लाभ के लिए पूजन की ये जयमालाएँ बहुत बड़ी औषधि का काम करती रही हैं।

सन् १९८५ में पीलिया की बीमारी के समय भी संघ के मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार तथा माधुरी, बीना और आर्यिका शिवमती आदि ने मेरे पास में इन्द्रध्वज-विधान की जयमालाएँ खूब सुनाई हैं और मुझे भी इन जयमालाओं के सुनने में इतनी शांति मिली है कि जो कलम से लिखी नहीं जा सकती है।

मैं कितने ही अस्वस्थ श्रावक-श्राविकाओं को या मानसिक अशांति से पीड़ित लोगों को यह प्रेरणा दिया करती हूँ कि "आप लोग आधुनिक यंत्रों का, टेपरिकार्डर का उपयोग करें। धार्मिक स्तुतियाँ, इन नूतन विधानों की जयमालाएँ और गुरुओं के उपदेश टेपकैसेट में भराकर उसको सुनें, रात्रि में भी नींद के अभाव में बजाए, नींद के लिए गोलियाँ खाने के, आप यह भगवान की भक्ति की भावना से ओतप्रोत कैसेट को सुनने की आदत डालें। यह सर्वोत्तम औषधि है, आप स्वयं अनुभव करके देखें।

इस विधान में कई एक पंक्तियाँ बहुत ही हृदयस्पर्शी हैं। जैसे—

तीन रत्न के हेतु मैं, नमूं अनंतों बार।
ज्ञानमती की याचना, पूरो नाथ अबार।। (पूजा नं.८)

यथा च—**पाँच कल्याणक पुण्यमय, हुए आप के नाथ।**
बस एकहि कल्याण मुझ, कर दीजे हे नाथ।।२५।। (पूजा नं. २०)

इस विधान के करने वाले, पढ़ने वाले, सुनने वाले भगवान की भक्ति में कितने विभोर हो जाते हैं, यह तो उस समय प्रत्यक्षदर्शी ही अनुभव कर सकते हैं। मैं समझती हूँ इस विधान के करने कराने से जैन वाङ्मय का स्वाध्याय तो होता ही है, साथ ही महान् पुण्य का संचय भी हो जाता है।

अस्तु! इस विधान में जो कुछ भी विशेषताएँ हैं, वे सब जिनेन्द्र देव की भक्ति के प्रसाद से ही हैं, इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है।

श्री मानतुंगाचार्य ने कहा भी है—

मत्वेति नाथ! तव संस्तवनं मयेद-मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु, मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः।।८।।

अर्थात् हे नाथ! अल्प बुद्धि भी जो मैं आपका स्तवन कर रहा हूँ, वह आपके प्रभाव से सज्जन पुरुषों के चित्त को हरण करने वाला होगा, जैसे कि जल-बिन्दु कमल-पत्र पर पड़ने से मोती के समान दिखने लगती है।

भक्तिरस में मुझे बहुत ही आनन्द आता है, तब मैं सोचा करती हूँ—"आचार्य जिनसेन ने महापुराण में जिनेन्द्र देव की भक्ति में विभोर होकर स्वयंभुवे नमस्तुभ्यं" आदि श्लोकों द्वारा एक हजार आठ नामों से जिनेन्द्रदेव का स्तवन किया है। श्री इंद्रनन्दि आचार्य ने प्रतिष्ठा-पाठ आदि पूजा ग्रंथ रचे हैं। श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री गुणभद्राचार्य, श्री अभयनंदिसूरि आदि अनेक आचार्यों ने जिनेन्द्रदेव की अभिषेक विधि-पंचामृत अभिषेक पाठ रचा है। श्री पद्मनन्दि आचार्य ने भी अपने 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' ग्रंथ में जिनेन्द्र देव की पूजा का अष्टक लिखा है।

वास्तव में आज पंचम काल में वीतराग चारित्र तो है नहीं, सराग चर्या वाले सरागसंयमी मुनि ही होते हैं। जब उनके लिए भी जिनेन्द्रदेव की भक्ति आदि सराग क्रियायें प्रधान हैं और जिनेन्द्रदेव की पूजा, उपदेश देना आदि प्रधान है जैसा कि-श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है—

"चरिया य सरागाणां जिणिंद पूजोवदेसो य।" (प्रवचनसार) तब मैं तो आर्यिका ही हूँ। इस अवस्था में तो सराग चर्या और जिनभक्ति आदि क्रियायें ही आत्मा की विशुद्धि और धर्मध्यान में स्थिरता के कारण हैं। ऐसा सोचकर ही मैं सदा जिनभक्ति में लगे रहने की भावना भाया करती हूँ और भक्तों को भी यही प्रेरणा दिया करती हूँ।

मैंने जीवन में कई ऐसे प्रसंग देखे हैं कि कई एक अध्यात्मवादियों ने आत्मा का चिन्तन करते हुए बीमारी आदि संकट के समय जिनेन्द्रदेव की भक्ति का सहारा नहीं लिया है, तो प्रायः चारित्र से भ्रष्ट होकर अंत समय हास्पिटल में मरकर सल्लेखना मरण से वंचित हो गये हैं किन्तु जिन्होंने जिनेन्द्रभक्ति का सहारा लिया है, वे हजारों संकटों से छुटकारा पाकर मनुष्य भव को सफल कर चुके हैं।

योगासन —

फूलचंद योगी, ये जैन हैं, छतरपुर के निवासी हैं, इन्हें सैकड़ों प्रकार के योगासन आते हैं। यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर कई दिनों तक योगासन की इन्होंने कक्षायें चलाईं। विधान में आने वाले श्रावकों ने अच्छी रुचि ली। किस-किस योगासन से कौन-कौन से शारीरिक रोगों में लाभ होता है? इस विषय पर भी ये फूलचंद जैन बताते रहते थे।

सामायिक विधि में योगासन —

जयधवला, आचारसार, मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों में साधुओं के लिए देववंदना का जो वर्णन आता है, वही सामायिक विधि है। उनमें चार प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग करना होता है—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा और वंदनामुद्रा। खड़े होकर कायोत्सर्ग करने में जिनमुद्रा होती है, पद्मासन या अर्धपद्मासन से बैठकर कायोत्सर्ग करने में योगमुद्रा होती है, सामायिक दण्डक, थोस्सामि स्तव के पढ़ते समय हाथों को चिपकाकर जोड़ने से मुक्ताशुक्ति मुद्रा होती है और चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति के पढ़ते समय मुकुलित हाथ जोड़कर जो मुद्रा होती है, उसे ही वंदनामुद्रा कहते हैं।

एक कायोत्सर्ग के करने में कृतिकर्म विधि की जाती है, इसमें बारह आवर्त, चार शिरोनति और दो प्रणाम होते हैं। इनके करते समय भी योगासन हो जाते हैं। जैसे जुड़े हुए हाथों को तीन बार घुमाने से तीन

आवर्त होते हैं, इसमें हाथ की कलाई के आसन हो जाते हैं, मुकुलित अंजलि पर मस्तक को रखकर नमस्कार—शिरोनति करने से गर्दन का आसन हो जाता है। गवासन से या घुटने टेक कर पंचांग नमस्कार करने से कमर, पीठ तथा पेट का व्यायाम हो जाने से कमर, पेट आदि के रोगों में लाभ होता है। योगमुद्रा से कायोत्सर्ग और ध्यान करने में अस्थिबंधन ठीक होता है और कर्मबंधन शिथिल हो जाते हैं। ऐसे ही जिनमुद्रा से कायोत्सर्ग करने में भी शरीर के अवयव दृढ़ होते हैं और कर्मबंधन शिथिल हो जाते हैं।

फूलचंद योगी को जब मैंने विधिवत् सामायिक विधि बताई तब उन्होंने भी इस विधि से योगासन का होना और शारीरिक स्वस्थता का होना सिद्ध किया। यही कारण है, मैं कहा करती हूँ कि—

"मुनि, आर्यिकाएँ, क्षुल्लक और क्षुल्लिकाएँ यदि प्रतिदिन तीनों काल की सामायिक विधिवत् करते रहें तो निसर्गतः योगासन भी हो जाते हैं तथा स्वास्थ्य लाभ के साथ-साथ कर्मबंधन भी झड़ते रहते हैं। आज प्रायः यह कृतिकर्म विधि सामायिक में लुप्त होती जा रही है, फिर भी आगम के आधार से इस विधि का समादर सभी साधुओं को करना चाहिए।" पं. पन्नालाल जी सोनी ने भी आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की आज्ञा से और संघस्थ अन्य भी साधुओं की प्रेरणा से 'क्रिया कलाप' नाम से ग्रंथ छपाया था, उसमें भी सामायिक की यही विधि छपी हुई है। यहाँ वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से भी यह 'सामायिक' नाम से पुस्तक छप चुकी है, इसका हिन्दी पद्यानुवाद भी 'सामायिक पाठ' नाम से छप चुका है। श्रावकों को भी इसी विधि से सामायिक करना चाहिए।

आज का मानव अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित होता जा रहा है। शारीरिक रोगों की अपेक्षा भी मानसिक तनाव अधिक बढ़ता जा रहा है। इस मानसिक अशान्ति को दूर करने के लिए और शारीरिक स्वस्थता को बनाये रखने के लिए योगासन भी बहुत ही उपयोगी है। साथ ही आत्मा की शुद्धि और सिद्धि के लिए, पापबंध से बचकर, पुण्यबंध का संचय करने के लिए सामायिक, देवपूजा, गुरुपासना आदि क्रियायें भी बहुत ही उपयोगी हैं।

दिगम्बर जैन मुनि, आर्यिकायें दिन में एक बार ही आहार लेते हैं, उसी समय जल, दूध, मट्ठा, रस आदि भी लेते हैं पुनः दूसरी बार कुछ भी नहीं ले सकते हैं। कभी अंतराय, कभी उपवास आदि से प्रायः शरीर में वायुप्रकोप (गैस) की बीमारी, घुटनों व कमर आदि में भी दर्द हो जाता है। इन सबके लिए यह योगासन बहुत ही आवश्यक है। यह एक प्रकार से हल्का-फुल्का व्यायाम ही है। श्रावक-श्राविकाओं में तो प्रायः आज शारीरिक कार्य-व्यायाम व पानी भरना, चक्की पीसना आदि नहीं रहा है अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यह योगासन करना ही चाहिए। शीतकाल में रोहतक से एस.के. जैन को भी रवीन्द्र कुमार ने बुलाया था, उन्होंने भी तीन दिन अच्छी तरह से अनेक योगासन यहाँ लोगों को सिखाये थे।

श्री ऋषभ जयंती —

चैत्र शुक्ला नवमी भगवान ऋषभदेव का जन्मदिवस है। यहाँ क्षेत्र पर १०८ कलशों से भगवान का अभिषेक कराते हैं पुनः मध्यान्ह में प्रवचन और गोष्ठी आदि का आयोजन करके संक्षेप में भगवान की जयंती मना लेते हैं। मेरा कहना रहता है कि इस ऋषभजयंती को भी जैन समाज में सर्वत्र विशाल स्तर पर मनाना चाहिए क्योंकि ये भगवान ही तो युग के आदि प्रवर्तक हैं तथा जो लोगों में भ्रांति है कि 'भगवान महावीर ने जैनधर्म को चलाया है' यह भ्रांति भी दूर हो जाती है और 'जैनधर्म अनादि निधन है' यह बात सिद्ध हो जाती है।

उपदेश —

चैत्रवदी १०, रविवार को यहाँ होमगार्ड के लोग आये, उनके लिए मेरा उपदेश हुआ। ऐसे लोगों के बीच उपदेश होने से कुछ न कुछ लोग माँस, मदिरा, अण्डे आदि का त्याग अवश्य कर देते हैं। कुछ लोग महीने में कुछ-कुछ दिनों के लिए माँस-मदिरा का त्याग कर देते हैं। यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर हर महीने प्रायः ऐसे-ऐसे लोगों में उपदेश देना व अभक्ष्य भक्षण से दूर करना यह कार्य होता ही रहता है। इस तरह अजैनों द्वारा मांस,

मदिरा के त्याग से मन में अत्यधिक प्रसन्नता हो जाती है। प्रतिदिन भी अनेक अजैन लोग आते हैं और कुछ न कुछ समस्या सुनाते हैं, तब मैं उनसे माँस, अण्डा व मदिरा का त्याग कराकर उन्हें 'ॐ नमः' यह छोटा सा मंत्र दे देती हूँ जिसके फलस्वरूप अनेक लोग वापस आकर कहते देखे जाते हैं कि—

"माताजी! आपके द्वारा दिये गये मंत्र से एवं आपके आशीर्वाद से मेरा कार्य बन गया है, मुझे स्वास्थ्य लाभ हो गया है, इत्यादि।

मैं सोचा करती हूँ—"वास्तव में मद्य, माँस, मधु का त्याग कर देना, यह सबसे बड़ा धर्मलाभ है। उत्तरपुराण में श्री गुणभद्राचार्य ने 'पुरुरवा' भील को 'धर्मलाभोऽस्तु' आशीर्वाद दिया था पुनः इन तीन मकारों का त्याग करना, यही धर्मलाभ है, ऐसा समझाया था।"

अजैन लोगों से तो ऐसा त्याग कराना कोई आश्चर्यकारी नहीं होता है किन्तु जब किसी जैन को यंत्र-मंत्र देते समय कदाचित् अंडे अथवा मदिरा को त्याग करने को कहना पड़ता है तब बहुत ही आश्चर्य होता है, साथ ही हृदय में एक वेदना सी उठती है। मन में विचार आता है—"अहो! विरासत में इन्हें जैनधर्म—अहिंसा धर्म मिला है, पूर्वजन्म में कई भवों में इन्होंने जो पुण्य संचित किया होगा, जिसके फलस्वरूप उत्तम कुल को प्राप्त किया है, फिर भी यह महाअभक्ष्य के भक्षण का पाप इन्हें आगे किस दुर्गति में ले जायेगा?" खैर, जैन बंधु तो प्रायः ऐसे दुर्व्यसनों को छोड़ ही देते हैं, शायद कोई ही ऐसे अभागे होते हैं कि जो नही छोड़ते हैं।

विक्रम संवत् का नववर्ष—

१८ मार्च १९८८, शुक्रवार, चैत्रशुक्ला १, विक्रम संवत् २०४५ के दिन कांतिलाल मोहोत वाले (सोलापुर महाराष्ट्र) ने शांति विधान किया। महाराष्ट्र में इस विक्रम सं. के प्रथम दिन को 'गुड़ी पाड़वा' कहते हैं और मैसूर प्रांत में इसे 'युगादी अब्बा' कहते हैं।

वैसे इसे वर्ष का प्रथम दिन मानकर विधान आदि धर्म-अनुष्ठान करना अच्छा ही है। जैन समाज को दीपावली के अगले दिन कार्तिक शुक्ला एकम् को वर्ष का प्रथम दिन मानना चाहिए क्योंकि वह विक्रम संवत् से प्राचीन है।

महावीर जयंती—

प्रातः प्रभातफेरी निकाली गई। ७ बजे भगवान महावीर स्वामी का १०८ कलशों से अभिषेक हुआ। मध्यान्ह में सभा का आयोजन रखा गया। यहाँ यात्रियों के आ जाने से उपदेश का कार्यक्रम हो जाता है, फिर भी विशेष धर्मप्रभावना के आयोजन नहीं बन पाते हैं।

यह चैत्र मास तो महापुरुषों को जन्म देने से गौरवान्वित है ही, चैत्र वदी ९ को भगवान ऋषभदेव के जन्म और तप ये दो कल्याणक हुए हैं, इसी नवमी के दिन भगवान के प्रथम पुत्र भरत सम्राट का भी जन्म हुआ था। चैत्र सुदी नवमी रामचन्द्र के जन्म से रामनवमी नाम से जगप्रसिद्ध है। चैत्र सुदी तेरस भगवान महावीर स्वामी की जन्मतिथि है और चैत्र सुदी पूर्णिमा महापुरुष हनुमान की जन्मतिथि है।

आज भारत देश में सर्वत्र दिगम्बर और श्वेताम्बर आदि चारों जैन सम्प्रदायों में महावीर जयंती का महोत्सव अच्छे प्रभावनापूर्ण समारोह से मनाया जाता है, सो ठीक ही है क्योंकि हम और आप सभी भगवान महावीर के शासन में ही रह रहे हैं।

आज बहुत से लोगों का यह कहना है कि जैनधर्म के संस्थापक भगवान महावीर हैं। उन लोगों को समझाने के लिए यदि हम अपने ऋषभदेव आदि चौबीसों तीर्थंकरों की जयंती एवं निर्वाण दिवस न मना सकें तो न सही, कम से कम इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जन्मजयंती समारोह और माघ कृष्ण चतुर्दशी को भगवान ऋषभदेव का निर्वाण महोत्सव अवश्य ही मनावें।

रथयात्रा, सभा, प्रवचन, धार्मिक नाटक आदि के माध्यम से जैन-अजैन को जैनधर्म का, अहिंसा धर्म का बोध कराते हुए अपनी भावी पीढ़ी के कर्णधार नवयुवकों और बालकों में भी धर्म का बीजारोपण करते रहें। ये जयंती आदि के कार्यक्रम इसीलिए तो मनाये जाते हैं।

भिंडर में कल्पद्रुमविधान —

निर्मलकुमार जी सेठी ने आचार्यश्री अजितसागर जी के सानिध्य में अच्छे समारोह के साथ कल्पद्रुमविधान ८ अप्रैल १९८८ से (वैशाख कृ. ६ से) शुरू किया। इस अवसर पर वहाँ आर्यिका विशुद्धमती जी के नेतृत्व में पं. हंसमुखजी के मार्गदर्शन में समवसरण की सुन्दर रचना बनायी गयी थी। यहाँ हस्तिनापुर में गंधकुटी, धर्मचक्र आदि धातु के जो उपकरण कल्पद्रुम विधान के लिए ही बनवाये गये थे, वे ले जाये गये थे।

पहले यह विधान सेठी जी के द्वारा यहीं हस्तिनापुर में चैत्र मास में करने का निर्णय लिया जा चुका था किन्तु कारणवश मैंने उन्हें मना कर दिया था और तब मैंने यहाँ यही कहा था कि सेठी जी यह विधान आचार्यश्री अजितसागर जी के सानिध्य में कर लें, तो अच्छा रहेगा।

सेठी जी के विशेष आग्रह पर यहाँ से कु. माधुरी जी विधान के अवसर पर वहाँ गई थीं और रवीन्द्र कुमार भी गये थे। विशाल समारोह के साथ यह विधान वहाँ सम्पन्न हुआ था। वहाँ का यह विधान तीसरा था क्योंकि प्रथम यह विधान यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर २४ फरवरी से एवं द्वितीय विधान तेजपुर आसाम में भी २४ फरवरी से हो चुका था।

वहाँ विधान के अवसर पर आर्यिकाओं की पूजा की चर्चा आई, पुनः विद्वान् पं. मोतीलाल जी फल्टन आदि के द्वारा यह समाधान प्रस्तुत किया गया कि "जब आर्यिकायें उपचार से महाव्रती हैं और आहार के समय उनकी अष्टद्रव्य से पूजा की जाती है तो पुनः उनकी पूजा में क्या ऊहापोह करना? और इस विधान में उन ब्राह्मी-सुन्दरी से लेकर चंदना के संघ की आर्यिकाओं तक — चौबीसों तीर्थंकरों के समवसरण में स्थित आर्यिकाओं की पूजा है.....।"

अक्षयतृतीया मेला —

यहाँ जंबूद्वीप स्थल से प्रतिवर्ष इस अवसर पर रथयात्रा निकाली जाती है। तदनुसार इस बार भी रथयात्रा निकाली गई। श्वेतांबर लोगों का वर्षी तप के पारणा के निमित्त से बहुत बड़ा मेला भरता है। मेरी प्रारंभ से ही यह इच्छा रही है कि "यह हस्तिनापुर भगवान ऋषभदेव के आहार के निमित्त से तीर्थ बना है अतः यह अक्षयतृतीया पर्व अच्छे स्तर से मनाया जावे किन्तु दिगम्बर जैन अभी इधर रुचि नहीं ले रहे हैं। अस्तु.....छोटे मोटे रूप में इस जंबूद्वीप पर यह मेला मना लिया जाता है, हो सकता है आगे भविष्य में कभी यह पर्व दिगम्बर जैन समाज में भी अच्छे समारोह से मनाया जावे.....।"

वैशाख शु. ७ को सुमेरु प्रतिष्ठापना दिवस, पुनः वैशाख शु. १२ को जम्बूद्वीप प्रतिष्ठापना दिवस संक्षेप में मनाया गया। जिनप्रतिमाओं का अभिषेक करके मध्यान्ह में सभा का आयोजन किया गया एवं रात्रि में आरती की गयी।

£ ९४ ¤

आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी की समाधि —

वैशाख शुक्ला तीज, १९ अप्रैल को लूणवा (राज.) में आचार्यकल्प मुनि श्री श्रुतसागर जी ने अन्न का त्याग कर दिया था पुनः आचार्यकल्प मुनि श्री ने २८ अप्रैल को एकदम चतुर्विध आहार का त्याग कर दिया। ब्र. रवीन्द्र कुमार व माधुरी कई श्रावकों के साथ यहां से लूणवा गये थे। यहाँ पर स्वाध्याय बंद करके तीन

दिनों तक दोनों समय णमोकार मंत्र का पाठ कराया गया था।

ज्येष्ठ वदी ५, शुक्रवार ६ मई १९८८ को प्रातः नौ बजे के बाद पूज्य श्री ने महामंत्र का स्मरण व श्रवण करते हुए इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। यहाँ समाचार मिलने पर हम सभी ने भक्ति पाठ करके श्रद्धांजलि सभा रखी।

ब्र. रवीन्द्र कुमार ने आकर बताया कि आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी की समाधि शांतिपूर्वक बहुत ही अच्छी हुई है।

वास्तव में मनुष्य जीवन में संयम धारण करके अंत में समाधिपूर्वक मरण करना यही मनुष्य पर्याय का फल है। यह समाधिमरण हर किसी के लिए सुलभ नहीं है, बहुत ही दुर्लभ है।

मुनि श्री ने बारह वर्ष की सल्लेखना ले ली थी, उसकी अवधि पूर्ण हो जाने पर तत्काल में उन्होंने अन्नादि चारों आहार का त्याग कर दिया था। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी के मुख से मैंने यह सुना था कि जब तक अपनी आयु का १२ वर्ष मात्र का पूर्ण निर्णय न हो जावे, तब तक बारह वर्ष की सल्लेखना नहीं लेना चाहिए।

महान् ग्रंथ आचारसार में सिद्धांतचक्रवर्ती श्री वीरनंदि आचार्य ने भी यही लिखा है–

ज्योतिः शास्त्रविनूतजातकमतान्नानानिमित्तक्षणात्।
प्रश्नाच्चापचयग्रहावलिबलक्षीणत्वसंप्रेक्षणात् ।।
प्रश्नस्याक्षरलक्षणेक्षणवशात् कालागमात्स्वायुषो।
मानं द्वादशवर्ष-संमितमतो हीनं च निश्चित्य सः[१]।।३।।

तात्पर्य यह है कि ज्योतिषशास्त्र से, जातक में कथित संकेतों से, नाना निमित्त के लक्षणों से, प्रश्न से, ध्वजादि समूह, ग्रहावलि के बल से इत्यादि किसी भी प्रकार से मुमुक्ष–आचार्य अपनी आयु को बारह वर्ष प्रमाण या कम निश्चित करके बारह वर्ष की सल्लेखना को ग्रहण करें, इत्यादि।

वर्तमान में मुनि श्री सुपार्श्वसागर जी ने सन् १९६६ में उदयपुर में आचार्यश्री शिवसागर जी के सानिध्य में ऐसा ही वीरमरण किया था। आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी ने जब सल्लेखना ग्रहण की थी, तब मुनिश्री सुपार्श्वसागर जी अस्वस्थ थे, उन्हें अधिक वर्ष शरीर टिक सकने की उम्मीद नहीं थी किन्तु बाद में अवधि पूरी के समय उनके शरीर में कुछ दिन या वर्ष और चल सकने की योग्यता आ गई थी। मैं समझती हूँ शायद इसलिए गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी ने एवं आचार्यश्री धर्मसागर जी ने १२ वर्ष की सल्लेखना नहीं ली थी, फिर भी उन्होंने शरीर के शिथिल हो जाने पर अन्त में क्रम–क्रम से आहार का त्याग करते हुए विधिवत् प्रत्याख्यान मरण करके बहुत ही सुन्दर समाधिमरण प्राप्त किया था। गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी के समय तो मैं संघ में ही थी और आचार्यश्री धर्मसागर जी के दर्शनार्थ बराबर ब्र. रवीन्द्र कुमार, कु. माधुरी आदि जाते रहते थे अतः सर्व स्थिति से अवगत कराते ही रहे थे।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी ने १२ वर्ष की सल्लेखना ली थी। मध्य में ही अवधि पूरी हुए बिना ही, नेत्र ज्योति कमजोर हो जाने से आचार्यश्री ने कुंथलगिरि में आदर्श और आगमानुसार प्रत्याख्यानमरण नाम के सल्लेखना मरण को स्वीकार करके वीरमरण–पण्डितमरण किया था। मेरी समझ में उनका उदाहरण हर किसी साधु को सहसा नहीं लेना चाहिए, बहुत सोच–विचार कर लेना चाहिए। गुरुओं को भी विशेष ज्ञान से, आयु की सीमा जान लेने के बाद ही, १२ वर्ष की सल्लेखना देनी चाहिए।

आचार्यश्री शांतिसागर जी से एक विवेकी श्रावक ने कई बार सल्लेखना लेने के लिए कहा—तब आचार्यश्री ने यही उत्तर दिया—"बाबा, मुझे आगम का ज्ञान है, मैं सल्लेखना के योग्य अपनी शरीर–स्थिति

---

१. आचारसार अधिकार–१०।

देखकर ही सल्लेखना लूँगा-स्वर्ग में संयम तो है नहीं, वहाँ तो असंयमी जीवन ही है अतः यहाँ जितने दिन संयम की साधना हो रही है, अच्छा ही है।"

मुनि श्री दर्शनसागर का हस्तिनापुर आगमन —

मुनिश्री दर्शनसागर जी सहारनपुर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराकर बड़ौत, खतौली आदि की जैन समाज के आग्रह से १३ मई, ज्येष्ठ शुक्ला १२ को यहाँ हस्तिनापुर में आ गये और दिगम्बर जैन बड़े मंदिर पर ठहर गये। उन्होंने उच्च स्वर से यह घोषणा कर दी कि —

"यहाँ बड़े मंदिर के परिसर में एकान्तवादी कानजीपंथियों का शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर नहीं लगाया जा सकता है।" उन्होंने वहाँ के कार्यकर्ताओं को समझाया भी और कठोर अनुशासन भी किया। मुझे आश्चर्य तो तब हुआ जब कि इस प्रान्त के अधिकांश जैन बंधु मुनिभक्त दिखे और कानजी पंथ के विरोधी दिखे। कहते हैं—"सहारनपुर में कतिपय लोगों के समर्थन से कानजीपंथी विद्वानों द्वारा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई जाने का निर्णय हो चुका था किन्तु झण्डारोहण के दिन ही इन विद्वानों द्वारा धूप खेने का विरोध करने से इन्हें हटाकर प्रतिष्ठाचार्य पं. फतेहसागर को बुलाकर प्रतिष्ठा कराई गई थी।

ये मुनिश्री दर्शनसागर जी इधर जंबूद्वीप पर दर्शन करने हेतु भी आते थे और वे स्वयं और उनके संघ के साधु इधर ब्र. कु. माधुरी व ब्र. श्यामाबाई के चौकों में आहार हेतु भी आ जाया करते थे।

उधर बड़े मंदिर से विहार कर वे चार-पाँच दिन जम्बूद्वीप पर भी ठहरे थे। यद्यपि ये तेरहपंथी परम्परा के साधु थे, फिर भी यहाँ प्रवचन में बीसपंथ, शासनदेवी पद्मावती जी का समर्थन करते रहते थे।

इस प्रांत के श्रावकों के अथक प्रयास से और मुनिश्री की निर्भीक प्रवृत्ति व कठोर अनुशासन से वह कानजीपंथी शिविर यहाँ हस्तिनापुर में नहीं हो सका पुनः यह शिविर उसी समय मवाना ग्राम में लगाया गया।

यह शिविर अतीव विवाद का विषय बना। बड़े मंदिर के परिसर में श्रावकों में झगड़ा होकर पुलिस केस भी बनाये गये। काफी अशांति रही और आपस में खींचतान चलती रही है।

कानजीपंथ चर्चा —

वर्तमान में दिगम्बर जैन समाज में सर्वत्र ही यह कानजीपंथ अतिचर्चित हो चुका है अतः इस विषय में मुझे यहाँ विशेष कुछ नहीं लिखना है। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि—

"हर एक सम्प्रदाय में कोई न कोई लोग अपने को भगवान का अवतार कहने वाले देखे जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि यदि वे अपने सम्प्रदाय के गुरुओं को नीच, नरकगामी आदि न कहें तो अवश्य ही पूजे जाते हैं।" अथवा कोई व्यक्ति गुरुओं को नीच,पाखण्डी आदि कहता रहे किन्तु चर्या में स्वयं उनसे हीन होकर भी स्वयं को भगवान न कहे, तो भी लोग उसकी बात मान सकते हैं।

कानजी भाई ने इससे भी आगे बढ़कर दिगम्बर जैन मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका ऐसे साधुओं को तो द्रव्यलिंगी, पाखण्डी, मिथ्यादृष्टि, नरकगामी आदि शब्दों से अपमानित करके न स्वयं कभी उन्हें नमस्कार किया है न उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहार ही दिया है। उनके अनुयायी भक्तों ने भी यही पद्धति अपनाई है। इसके बावजूद स्वयं कानजी भाई ने चंपाबेन के जातिस्मरण का आधार लेकर अपने को भावी तीर्थंकर घोषित कर दिया और वे स्वयं भी अपने आप में तीर्थंकर भगवान का अनुभव करके खुश होने लगे और तो और उन्होंने चंपाबेन के तलुए चाटने से बेड़ा पार होने का उपदेश भी दे डाला। यह पुस्तक उन्हीं के यहाँ से छपी हुई है। पुस्तक का नाम "धन्य अवतार" है। प्रकाशक—श्री वीतराग सत् -साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), प्रकाशन वि. सं. २०३८। पुस्तक में चंपाबेन के संबंध में कांजी स्वामी द्वारा समय-समय पर प्रकट किये गये अतिशयोक्तिपूर्ण उद्गार छापे हैं, उसमें एक नमूना पृष्ठ ४ का निम्न प्रकार है—

"अरे, इनके (चम्पाबेन के) दर्शन से तो भव के पाप कट जायें, ऐसा यह जीव है। सब लोग इनके तलवे चाटें तब भी कम है, ऐसा तो यह द्रव्य है।"

इतना ही नहीं, उनके भक्तों ने उनके तीर्थंकररूप की प्रतिमा बनवाकर प्रतिष्ठा कर अनेक मंदिरों में विराजमान करा दी है।

दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं एवं भट्टारकों ने भी इस समुदाय को दिगम्बर जैन मत से बहिर्भूत कहा है। पं. मक्खन लाल जी आदि विद्वानों ने अनेक लेख और पुस्तकें भी लिखी हैं। आचार्यश्री विद्यानंद जी ने कई वर्षों पूर्व ही "दिगम्बर जैन साहित्य में विकार" नाम से पुस्तक लिखकर इनके द्वारा प्रकाशित साहित्य को दूषित ठहराया था। वर्तमान में श्री नीरज जैन, सतना वालों ने "सोनगढ़ समीक्षा" नाम से जो पुस्तक लिखी है, वह प्रमाणिक तो है ही, उनकी पोल को अच्छी तरह उद्घाटित कर देती है। मेरा तो यही कहना है कि प्रत्येक जैन भाई-बहनों को हठाग्रह छोड़कर इन पुस्तकों को आद्योपान्त अवश्य पढ़ना चाहिए और अपनी मूल संस्कृति के अनुसार दिगम्बर जैन गुरुओं की, आर्यिकाओं की, भक्ति, पूजा करके उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देकर अपने मानव जीवन को, गार्हस्थ्य जीवन को सफल कर लेना चाहिए।

पंथ का दुराग्रह —

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में लगभग ४०० वर्षों से तेरहपंथ और बीसपंथ नाम से दो सम्प्रदाय चल रहे हैं। यद्यपि जैनागम में इन नामों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, फिर भी श्रावकों में मात्र जिनपूजा पद्धति में ही यह मतभेद है। तेरहपंथी विद्वानों और श्रावकों को मैंने स्वयं देखा है। वे बीसपंथी मंदिर में आकर जिनप्रतिमा का दर्शन करते हैं वहाँ पूजन भी करते हैं। अजमेर, जयपुर, ब्यावर, इंदौर आदि शहरों में व श्रवणबेलगोल आदि तीर्थों पर ये उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।

किन्तु यहाँ शिविर के मध्य में आगत विद्वानों व श्रावकों में से अधिकांशजनों ने जंबूद्वीप स्थल पर आकर त्रिमूर्ति मंदिर व कमल मंदिर में जिनप्रतिमाओं को नमस्कार तक नहीं किया। कदाचित् क्षुल्लक मोतीसागर जी द्वारा इस विषय में प्रश्न करने पर यह उत्तर दिया कि हम लोग शुद्ध तेरहपंथी हैं, केशर चर्चित, पुष्प चढ़े हुए जिनबिम्बों को नमस्कार नहीं करते हैं, धूप अग्नि में नहीं खेते हैं। इत्यादि।

इस इलाके के कट्टर से कट्टर भी तेरहपंथी श्रावक ही इस मत के विरोधी हैं, वे कहते हैं- यह नवीन "शुद्ध तेरहपंथ" कहाँ से पैदा हुआ है? अग्नि में धूप न खेना, पीले चावलों से हवन करना आदि। इस बारे में वे लोग आगम प्रमाण नहीं दे सकते हैं, केवल असन्दर्भित प्रकरणों से ही भोले लोगों को दिग्भ्रमित कर रहे हैं।

खैर, मुझे यहाँ इतना ही कहना है कि वर्तमान शताब्दी के चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज से लेकर आज तक के चार सौ (४००) से भी अधिक साधुओं ने इस कानजीपंथ को गलत कहा है। मात्र एक आचार्य शांतिसागर नाम के साधु हैं जिन्होंने आज से १५ वर्ष पूर्व सन् १९७८ में मेरे सामने इसे मिथ्यात्व की आँधी कहा था, अब वे इस पंथ का समर्थन कर रहे हैं। उनके द्वारा दीक्षित एक क्षुल्लक व एक मुनि भी इस दुराग्रह में लगे हुए हैं जबकि उस मत के विद्वान पंडित, या श्रीमानों ने इन्हें भी आहारदान आज तक नहीं दिया है। ये कानजीपंथी लोग प्रायः हर ग्रामों, शहरों में, अनेक घरों में आपस में भी बैर, कलह करा देते हैं। यहाँ तक कि जगह-जगह कोर्ट केसों में लोग समाज के धन को नष्ट कर रहे हैं, यह सब देखकर यही कहना पड़ता है कि यह हुण्डावसर्पिणी का दोष कलिकाल का ही प्रभाव है।

आज भी जैनबंधु, बहिनें पूर्वाचार्यों के ग्रंथों का यदि क्रम से स्वाध्याय करें, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के ग्रंथों को क्रम से पढ़ें और बन सके तो गुरुमुख से पढ़ें तथा वर्ष में कम से कम

एक माह दिगम्बर गुरुओं, आर्यिकाओं के संघों में जाकर रहें, तो सही मार्गदर्शन प्राप्त कर इस पंचमकाल में भी चतुर्थकाल के सदृश मोक्षमार्गी बनेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

श्री कुंदकुंददेव ने भी पाहुड़ ग्रंथों में पंचमकाल में मुनियों का अस्तित्व सिद्ध किया है।

यथा— **भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।**

तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

इस भरत क्षेत्र में दुषमकाल में भी साधुओं के आत्मा के स्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है, ऐसा जो नहीं मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, इत्यादि। श्री यतिवृषभाचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया है कि इक्कीस हजार वर्ष के पंचमकाल में अंत तक अविच्छिन्न रूप से मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ रहेगा ही रहेगा। अंतिम मुनि "वीरांगज" नाम के होंगे एवं अंतिम आर्यिका सर्वश्री होंगी, इत्यादि।

व्रती व्रतों को छोड़ देते हैं —

यहाँ एक ब्रह्मचारी भी इस शिविर के दिनों आये थे, वे पहले आचार्यकल्प श्रुतसागर जी के संघ में वर्षों रहे थे। सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों का अध्ययन भी उपाध्याय मुनिश्री अजितसागरजी से किया था और आचार्यकल्प से सप्तम प्रतिमा के व्रत भी लिये थे।

उन्होंने कहा—"मैंने सातों प्रतिमायें छोड़ दी हैं क्योंकि मैं अपने को प्रतिमाओं का पात्र नहीं समझता हूँ।

ऐसे एक नहीं अनेक व्यक्ति हम लोगों से चर्चाएँ कर चुके हैं। उनकी तर्कणाबुद्धि और नूतन विचारधारा को देखकर बहुत ही दुःख हो जाता था।

क्षुल्लक श्री मोतीसागर ने उन ब्रह्मचारी से कहा—"भाई! आपके गुरु आचार्यकल्प श्री की समाधि हुई है, क्या आप लोग अपने सम्प्रदाय में उनकी श्रद्धांजलि सभा रख सकते हैं? वे मुनि श्री श्वेताम्बर से दिगम्बर सम्प्रदाय में आकर, आचार्यश्री वीरसागर जी के संघ में रहकर, उनसे ही दीक्षा लेकर मुनि बने। उनकी समाधि बहुत ही सुन्दर हुई है।" इतना सुनकर भी वे ब्रह्मचारी जी मौन ही रहे थे। वास्तव में वर्तमान में इस कानजी पंथ के निमित्त से यह एक विडम्बना ही हो रही है।

£ १५ ¤

समयसार अनुवाद प्रारंभ —

द्वितीय ज्येष्ठ शुक्ला ५, श्रुत पंचमी कहलाता है। दिनाँक १९ जून को जिनवाणी की पूजा कराके हम सभी ने श्रुतपंचमी की क्रिया सम्पन्न की पुनः मैंने समयसार की दोनों टीकाओं का अनुवाद शुरू किया। पहले ईसवी सन् १९७८ में मैंने दिल्ली में यह अनुवाद प्रारंभ किया था, मात्र १७ गाथाओं तक ही हुआ था। बाद में दिल्ली से विहार कर हस्तिनापुर आ गई थी, यहाँ १९७९ की मई में सुमेरु के जिनबिंबों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी। इसके बाद अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें, विधान आदि ग्रंथों के लेखन और प्रकाशन होते रहे थे। अब मैंने पुनः अत्यधिक उपयोगी समझकर इस ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद को हाथ में उठाया, तब १८वीं गाथा से शुरू किया है।

नय समन्वय —

इस ग्रंथ में स्वयं श्री कुन्दकुन्ददेव ने निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को दिखलाकर पुनः दोनों नयों का स्थल-स्थल पर समन्वय किया है। टीकाकारों ने भी स्पष्ट किया है और व्यवहारनय पर जोर दिया है। जैसे "तीर्थ प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय को दिखलाना आवश्यक ह, अन्यथा लोग त्रसादि जीवों को राख के समान मर्दित कर डालेंगे.....।"[१]

१. समयसार गाथा ४६ की टीका में।

श्री जयसेनाचार्य ने तो सर्वत्र ही गुणस्थान व्यवस्था खोली है और महामुनि के निर्विकल्प ध्यान में ही यह समयसार अवस्था आती है।

यथा—''**पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो**[१]।''

श्री जयसेनाचार्य ने तो कई स्थल पर यह भी कहा है कि—इस ग्रंथ में पंचमगुणस्थानवर्ती व्रती श्रावकों से ऊपर वाले महामुनियों के लिए कथन है। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कई जगह ऐसे वाक्य लिए हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में इन्हीं का अनुसरण किया है। जैसे ''यथाख्यात चारित्र के पहले राग अवश्यंभावी है, तब तक कर्म बंध होता ही है।[२] तथा-अप्रतिक्रमण प्रतिक्रमण से आगे जो तृतीय भूमिका है, यहीं पर प्रतिक्रमण छुड़ाया गया है।[३] यह तृतीय अवस्था निर्विकल्प ध्यानी शुद्धोपयोगी मुनि की है, ऐसा समझना।

इस ग्रंथ के अनुवाद में मुझे जो आनंद आया है, वह शब्दों से परे हैं। वास्तव में यह आध्यात्मिक आनन्द अंत तक बना रहे क्योंकि इस अध्यात्म भावना से ही भवभवांतर की परम्परा समाप्त होगी। इसीलिए इस ग्रंथ के अनुवाद में मैंने रुचि ली है।

इन्द्रध्वज विधान —

शांतिलाल जी गंगवाल इंफाल वाले यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर त्रिमूर्ति मंदिर में इन्द्रध्वज विधान करने के लिए आये। उनके साथ में अनेक काकाजी माणिकचंद जी रांची वाले और सूरजमल जी सांगानेर वाले भी सम्मिलित हुए। ज्येष्ठ शु. ३, शुक्रवार, १७ जून १९८८ के दिन प्रातः झंडारोहण हुआ। प्रतिदिन विधान पूजन प्रातः होती थी, उसी के मध्य मेरा प्रवचन हो जाता था, मध्यान्ह में कु. माधुरी सामायिक विधि सिखलातीं एवं ह्रीं का ध्यान करातीं, जिसमें आगंतुक यात्री भी भाग लेते थे पुनः ज्येष्ठ शु. १३, दिनाँक २७ जून १९८८ के दिन पूर्णाहुति के साथ यह विधान सम्पन्न हुआ। इस दिन 'जंबूद्वीप ज्ञानज्योति' का प्रवर्तन सन् १९८२ में हुआ था। उस दिन के उपलक्ष्य में जंबूद्वीप के जिनबिम्बों का अभिषेक पूजन कराया गया।

इस विधान में भाग लेने वाली माणिकचंद गंगवाल की धर्मपत्नी एक दिन कहने लगीं—

''माताजी! ३-४ वर्ष पूर्व मेरे सिर में इतना भयंकर दर्द उठता था कि कभी-कभी मैं बेहोश हो जाती थी, यहाँ तक कि ३-३ दिन होश नहीं आता था। तीन वर्ष पूर्व सम्मेदशिखर में मैंने इसी इन्द्रध्वज विधान को किया, तब से मेरा वह दर्द मिट गया है। यह विधान बहुत ही अतिशयपूर्ण है....इत्यादि।''

मैंने कहा—''वास्तव में जिनेन्द्रदेव की भक्ति में ऐसी ही अद्भुत शक्ति है।''

मेरा स्वयं का अनुभव है, अतीव अस्वस्थता में मैं इस इन्द्रध्वज विधान की जयमालाएँ सुना करती थीं। सन् १९८५-८६ में १० महिने की लम्बी बीमारी में मुझे स्वस्थ करने का श्रेय इन सुन्दर-सुन्दर भक्तिरस से ओत-प्रोत जयमाला-स्तुतियों को ही मिला है।

शिक्षण कक्षाएँ —

यहाँ ग्रीष्मावकाश में आस-पास की और उत्तर प्रदेश, बहराइच, दरियाबाद, टिकैतनगर आदि से कुछ बालक-बालिकाएँ आ गये थे। क्षुल्लक मोतीसागर जी, कु. माधुरी और प्रवीणचंद शास्त्री, नरेश चंद शास्त्री आदि इनको बालविकास, द्रव्यसंग्रह, इष्टोपदेश, तत्त्वार्थसूत्र, मंडलविधान की प्रारंभ विधि में सकलीकरण, हवन विधि आदि पढ़ाते थे। वास्तव में गर्मी की छुट्टियों में बालक-बालिकाओं को ऐसे तीर्थक्षेत्रों पर अथवा मुनि-आर्यिका संघों में भेजना चाहिए। कम से कम वर्ष भर में यदि वे एक माह या पंद्रह दिन भी धर्म का

---

१. गाथा १४२ आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के अभिप्राय से १५२ जयसेनाचार्य के अभिप्राय से। २. गाथा १७१ की टीका । ३. समयसार गाथा ३२६-३२७ की टीका का अंश।

अध्ययन कर लेंगे, तो जीवन भर उनके लिए वह काम आयेगा। चूँकि तीर्थों के और गुरु संघों के संस्कार अमिट हो जाते हैं।

अष्टान्हिका पर्व में इन्द्रध्वज विधान —

लखनऊ से राजकुमार जैन अग्रवाल, सौ. शांति देवी जैन, इनके सुपुत्र सुशील कुमार जैन सपरिवार आये, यहाँ इन्द्रध्वज विधान करने के लिए, साथ में दिल्ली से विजेन्द्र कुमार जैन भी सपरिवार विधान करने हेतु आये। त्रिमूर्ति मंदिर में दो मंडल मांडे गये चूंकि दिल्ली के ये महानुभाव तेरहपंथी हैं और लखनऊ के विधानकर्ता बीसपंथी हैं।

आषाढ़ शुक्ला ७, २१ जुलाई १९८८ के दिन प्रातः ७.३० बजे झंडारोहण कराया गया पुनः सभी भक्त लोग क्षुल्लक मोतीसागर जी महाराज के साथ नशिया के दर्शन करने गये। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि लोग गुरुओं के साथ तीर्थक्षेत्रों की वंदना करके कुछ विशेष ही हर्ष का अनुभव करते हैं।

यहाँ दोनों विधान एक साथ चल रहे थे। कई बार इस जंबूद्वीप स्थल पर तेरहपंथ और बीसपंथ के दो-दो विधान हो चुके हैं। इस प्रकार का परस्पर सौहार्द और समन्वय भला और कहाँ देखने को मिलेगा?..... बहुत ही शांति से विधान की पूजाएँ हो रही थीं। मध्य-मध्य में कहीं दिल्ली आदि से बसों के आ जाने से विधान में आनंद और उपदेश का आनन्द विशेष ही आ जाता था। यह विधान श्रावण कृ. २, ३० जुलाई को पूर्णाहुति पूर्वक संपन्न हुआ, रथयात्रा हुई, अनन्तर ३१ जुलाई को प्रातः १०८ कलशों से महाभिषेक हुआ।

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण —

आचार्यश्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ के विद्यार्थी कमलेश कुमार जैन, मैनपुरी शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण कर यहाँ से निकट शाहपुर ग्राम में विद्यार्थियों को अध्यापन कराने चले गये थे। वे समय-समय पर यहाँ आते रहते थे। आषाढ़ शु. ११, २५ जुलाई १९८८ के दिन प्रातः मुझसे इन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया, प्रसन्नता हुई।

मैंने कहा—मेरी प्रेरणा से गुरुदेव के नाम पर स्थापित इस संस्कृत विद्यापीठ के विद्यार्थी ने आज आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लेकर अपने मनुष्य जीवन को सार्थक किया है। आगे चलकर ये हमारे गुरुदेव का नाम दिग्दिगंतव्यापी बनावें, यही इनके लिए मेरा मंगल आशीर्वाद है।

'असली दहेज' नाटक —

यहाँ ग्रीष्मावकाश में अध्ययन हेतु आई हुई बालिकाओं ने एक छोटा-सा एकांकी तैयार किया। ब्र. माधुरी ने यह नाटक लिखा था। आषाढ़ शु. १४, २८ जुलाई १९८८ के दिन मध्यान्ह में बालिकाओं ने यह नाटक खेला। इसका विषय यह था कि—मेरी जन्मदात्री माँ मोहिनी जी को उनके पिता सुखपालदास जी ने दहेज में 'पद्मनन्दिपंचविंशतिका' नाम का एक शास्त्र दिया था। उसका स्वाध्याय करके माँ मोहिनी जी ने अपने गार्हस्थ्य जीवन को धर्ममय बनाकर, अंत में ५८ वर्ष की उम्र में आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिका रत्नमती जी बन गई थीं। १५जनवरी १९८५ में उनका यहीं जंबूद्वीप स्थल पर समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो चुका है।

उन्होंने अपनी संतानों को दूध के साथ-साथ ही जो धर्म घूँटी पिलाई थी, उसी के फलस्वरूप मैं आर्यिका ज्ञानमती, आर्यिका अभयमती और वर्तमान में नव-दीक्षित आर्यिका चंदनामती, ये तीन पुत्रियाँ उन्हीं की देन हैं।

चातुर्मास स्थापना हेतु प्रार्थना —

आज ही दिल्ली आदि अनेक स्थानों से आये श्रावक-श्राविकाओं ने यह नाटक देखा और पात्रों के साथ-साथ विषय को देखते हुए रोमांचित हो गये। वास्तव में आज दहेज की कुप्रथा से जैन समाज में कितनी

अशांति फैल रही है? कहने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। यदि आज भी प्रबुद्ध माता-पिता अपनी संतानों के विवाह के समय धर्मशास्त्र छपाकर वितरित करें और अपनी पुत्री को विशेषरूप में धर्मशास्त्र के स्वाध्याय की प्रेरणा देकर धर्मग्रंथ देवें, तो समाज में फैली हुई अनेक कुरीतियाँ दूर की जा सकती हैं।

इसी अवसर पर श्रावकों ने मेरे समक्ष श्रीफल चढ़ाकर यहीं हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र पर चातुर्मास करने के लिए प्रार्थना की। जैन साधु-साध्वियाँ चातुर्मास तो करते ही हैं। भक्तों की भावना के अनुसार अनेक शहरों में, गांवों में चातुर्मास करते हैं। अपनी धर्माराधना विशेष के लिए या स्वास्थ्य कमजोर होने के कारण तीर्थ क्षेत्रों पर भी चातुर्मास करते हैं। क्षेत्रों पर भी श्रावकों को ही व्यवस्था करनी होती है अतः श्रावकों की प्रार्थना स्वीकार कर मैंने यहीं जंबूद्वीप स्थल पर चातुर्मास करने का निर्णय घोषित कर दिया पुनः रात्रि में ९ बजे विधिवत् भक्ति पाठ करके वर्षायोग स्थापित कर लिया।

धार्मिक नाटक —

आज जैन समाज में सर्वत्र धर्म-कथाओं के आधार पर अनेक नाटक दिखाये जाते हैं। आज से ३०-४० वर्ष पूर्व समाज में यह प्रथा थी कि या तो नाटक में पुरुष पात्र ही रहते थे, वे ही स्त्री पात्र का अभिनय करते थे या महिलाएँ ही पूरा नाटक खेलती थीं, वे ही पुरुष पात्र बन जाती थीं। आज भी महावीर जी के आश्रम, दिल्ली के बालाश्रम आदि की बालिकाएँ ऐसा ही नाटक करती हैं।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से कहीं-कहीं कुछ विसंगतियाँ आ गई हैं और चलचित्र (सिनेमा, टेलीविजन) को देखकर कुछ प्रबुद्ध महिलाएँ भी अपनी संस्कृति से चलायमान होती जा रही हैं। मैंने १० वर्ष पूर्व सुना—"एक महिला ने अपने ही पुत्र-पुत्रियों को अर्थात् सगे भाई-बहनों को पति-पत्नी का पाठ दे दिया।" मैंने बुलाकर उन्हें समझाया, वे बोलीं—"माताजी! ये बालक-बालिकाएँ अभी क्या समझते हैं, अबोध हैं अतः क्या दोष है....?" मैंने कहा—"बाई! जब ये बड़े होंगे, इस नाटक को याद करेंगे तो अपने पति-पत्नी के रूप में फोटो देखेंगे, तो भला क्या सोचेंगे?.....खैर! वे १०-११ वर्ष के लगभग थे ही अतः बहुत छोटे तो नहीं थे। खैर, वे मेरी बात मान गईं और पति-पत्नी का पाठ दो कन्याओं को ही दे दिया। तब मुझे प्रसन्नता हुई।

यहाँ जंबूद्वीप पर मेरे सानिध्य में होने वाले विद्वानों के प्रशिक्षण शिविर एवं सेमिनारों में मैं सदैव कहा करती हूँ—

नाटक में कौन-कौन से स्वाँग वर्जित हैं—

सूत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छाइट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स।।७।।

(सूत्र पाहुड़-श्री कुन्दकुन्ददेव)

अर्थ—जो मनुष्य सूत्र के अर्थ और पद से रहित हैं, उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। वस्त्रसहित को क्रीड़ा में—खेल में भी पाणिपात्र में भोजन नहीं करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि खेल-खेल में दिगम्बर मुनि का वेष एवं चर्या नहीं करनी चाहिए।

इसी प्रकार क्रीड़ा में या नाटक में दिगम्बर मुनि की दीक्षा नहीं दिखाना चाहिए। आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक और क्षुल्लिका भी नहीं बनाना चाहिए। तीर्थंकर का पाठ कराने में दीक्षा के पूर्व के पाठ कराना चाहिए। बाद में स्टेचू या चित्र को रखकर पर्दे के पीछे से पाठ बोलना चाहिए। दीक्षा लेने का भेष किसी भी हालत में नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह मयूर पंख की पिच्छी सहित मुद्रा पूज्य है, इसे स्वांग—नाटक में भी कभी नहीं करना चाहिए। इसके विषय में ब्रह्मगुलाल की कथा प्रसिद्ध है, वे स्वांग में मुनि बने, फिर वापस घर नहीं गये, मुनि बन गए।

नाटक में भी बालिकाओं और बालकों को एक साथ नहीं रखना चाहिए। पति-पत्नी का पाठ तो कभी भी किसी को नहीं देना चाहिए। भारतीय नारी स्वप्न में भी यदि किसी को पति कहती है, मान लेती है या मन में भी सोच लेती है, तो उसके शील में दूषण माना जाता है। आजकल कोई प्रबुद्ध लोग भी भाई-बहनों को पति-पत्नी का पाठ दे देते हैं। कहते हैं—ये अभी अबोध हैं, क्या समझेंगे? ऐसी स्थिति देखकर बहुत ही दुख होता है।

क्या कोई भी प्रबुद्ध पुरुष अपनी माँ या पुत्री को हंसी-मजाक में भी पत्नी कहकर सम्बोधित कर सकता है? और यदि ऐसा करता है तो क्या लोग उसे सभ्य या शालीन पुरुष कहेंगे? ऐसे ही पर की स्त्री को नाटक में पत्नी मानना या परपुरुष को नाटक में पति मानना सर्वथा गलत है। ऐसे पाठ या तो कोई पति-पत्नी ही निष्णात हों, तो लेवें या पुरुष-पुरुष ही पति-पत्नी का पाठ करें या बालिकाएँ-बालिकाएँ ही पति-पत्नी बनें, जैसी कि पुरानी पद्धति थी।

आज जो फिल्मों में परम्परा है, वैसी ही परम्परा नाटकों में अपनाई जा रही है, यह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है।

पंचकल्याणकों में जो भगवान के माता-पिता बनते हैं। प्रायः देखने में आता है कि पिता तो बुद्धिमान रहते हैं और माता संकोची महिला रहती है, तब कोई-कोई प्रतिष्ठाचार्य माता का पाठ बोलने के लिए कोई बालिका या महिला को बिठा देते हैं। विचार करके देखा जाये, तो वह महिला जब अन्य पुरुष को पतिदेव! या स्वामिन्! कहकर सम्बोधन करती है, तब कितना अटपटा और अशोभन लगता है। प्रतिष्ठाचार्यों को भगवान के माता-पिता में तो यह अनर्गलता या विषमता नहीं करनी चाहिए। ऐसे प्रसंग पर तो किन्हीं पति-पत्नी को ही बुलाना चाहिए।

धार्मिक मंच पर और धार्मिक नाटकों में महिलाओं और बालिकाओं को शीलधर्म की शिक्षा देने के लिए इन उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखना चाहिए।

चातुर्मास में कार्यक्रम —

यहाँ छोटे-मोटे शांतिविधान आदि प्रायः होते ही रहते हैं। विशेष बात यह रही कि श्रावण कृ. ७, ४ अगस्त १९८८ को कु.माधुरी ने भगवान महावीर स्वामी के चरणों में १०८ कमल पुष्प चढ़ाये। मुझे बहुत ही आनन्द आया, मैं बैठी-बैठी मंत्र बोलती रही। वास्तव में पुण्यवानों को ही कमल के पुष्पों से श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा का अवसर मिलता है।

२१ अगस्त, रविवार को संस्थान की ओर से दिल्ली से लगभग ५२ बालक, बालिकाएँ आये। उन्हें प्रातः से सायंकाल तक शिक्षण दिया गया, मेरा आशीर्वादात्मक प्रवचन हुआ। बालकों के लिए ये संस्कार जीवन में बहुत ही उपयोगी हैं।

कल्पद्रुम-विधान —

बड़ौत में दशलक्षण पर्व में दिगम्बर जैन समाज ने बहुत अच्छे रूप में कल्पद्रुम विधान का आयोजन किया था। वे ब्र. रवीन्द्रकुमार और ब्र. माधुरी के लिए पहले ही स्वीकृति ले गये थे अतः इन दोनों को यहाँ से ले गये थे। कु. माधुरी २१ अगस्त को यहाँ स्नान घर में गिर पड़ी थीं, सो उन्हें रीढ़ की हड्डी में चोट आ जाने से दर्द अधिक होने से वह पर्यूषण पर्व प्रारंभ होने के दो दिन बाद गई थीं। वहाँ का विधान बहुत ही प्रभावनापूर्ण रहा।

जंबूद्वीप स्थल पर दशलक्षणपर्व —

यहाँ दशलक्षण पर्व में बाहर से कई एक श्रावक-श्राविकाएँ आ जाते हैं। अहमदाबाद से चंदूभाई जैन,

दिनेशभाई जैन, इनकी मातु श्री मंगूबेन, ब्र. चन्दनबेन आदि यहाँ पर थे और एक महिला ने शक्कर-मेवा का पानी लेकर दस दिन व्रत किये। संस्थान के आवास प्रबंधक सत्यप्रकाश जैन ने पाँच उपवास किये। प्रतिदिन प्रातः पर्व पूजन और समयसार का स्वाध्याय चलता था। मध्यान्ह में सरस्वती की पूजा व तत्त्वार्थसूत्र की पूजा होती थी पुनः क्षुल्लक मोतीसागर जी द्वारा एक-एक अध्याय का अर्थ सहित वाचन होता था, अनन्तर एक-एक धर्म पर मेरा प्रवचन होता था। व्रत करने वालों को श्रीफल देकर फूल माला पहनाकर सम्मानित किया गया।

वास्तव में व्रत करने वालों को सम्मानित करने में, व्रत करने की प्रेरणा अन्य लोगों में भी जागृत हो, यही भावना रहती है और व्रत करने वालों का भी उत्साह वर्धित होता है।

हापुड़ में इन्द्रध्वज विधान —

आश्विन कृ. ५ को हापुड़ में इन्द्रध्वज विधान के लिए झंडारोहण सम्पन्न हुआ। श्री शिखरचंद जैन बहुत ही आग्रहपूर्वक कु. माधुरी को विधान में ले गये। मैंने यह अनुभव किया है कि जो भी एक बार कु. माधुरी के मुख से इन्द्रध्वज आदि विधान की पूजाएँ सुन लेते हैं, वे अपने विधान में उसे अवश्य ले जाना चाहते हैं। कैसे भी संगीतकार हों किन्तु माधुरी के स्वर के आगे उन्हें सब कुछ फीका लगता है.....यह इनके पूर्व पुण्य के साथ ही जिनेन्द्र भक्ति का ही प्रभाव समझ में आता है।

कल्पद्रुम विधान —

आसोज शुक्ला ५, १६ अक्टूबर १९८८ के दिन कल्पद्रुम-विधान के लिए यहाँ जंबूद्वीप के सामने झंडारोहण हुआ। श्रीमान मांगीलाल जी पहाड़े, हैदराबाद सपरिवार आकर यह विधान करा रहे थे। इन्होंने यहाँ खुले मन से और खुले हाथों से जिनपूजा करते हुए चार प्रकार के दान वितरित किये। बात यह है कि इस विधान के समय जब विधानाचार्य बार-बार प्रमुख यजमान को चक्रवर्ती महोदय कहकर पुकारते हैं, तब श्रावक को बहुत ही आनन्द आता है, एक क्षण के लिए वह अपने को चक्रवर्ती ही समझने लगता है, जैसे कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय श्रावक सौधर्म इन्द्र की बोली लेकर अपने को सौधर्म इन्द्र ही समझने लगता है।

मेरे उपदेशों को संकलित करके कु. माधुरी ने 'ज्ञानरश्मि' नाम से एक छोटी सी पुस्तक तैयार की थी। जिसे प्रकाशित कर जैन-अजैन सभी को ज्ञान दान के रूप में बाँटी गई।

आर्ष ग्रंथों में पूजा चार प्रकार की मानी गई है — सदार्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुम और आष्टाह्निक। प्रतिदिन अपने घर से जल, चन्दन आदि अष्टद्रव्य लेकर मंदिर में जाकर जिनपूजा करना सदार्चन या नित्यमह है अथवा जिनमंदिर, जिनप्रतिमा का निर्माण कराना, दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि का दान देना, इसके सिवाय नित्य दान देते हुए जो मुनियों की पूजा की जाती है, वह भी सदार्चन है।

महामुकुटबद्ध राजाओं द्वारा जो जिन-महायज्ञ किया जाता है, वह चतुर्मुख पूजा है। इसे 'सर्वतोभद्र' पूजा भी कहते हैं।

जो चक्रवर्तियों द्वारा किमिच्छक (मुंहमांगा) दान देते हुए समस्त जगत की आशाएँ पूर्ण करके जिनयज्ञ किया जाता है, उसे 'कल्पद्रुम' पूजा कहते हैं।

जो कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ माह में अंतिम आठ दिनों में नन्दीश्वर द्वीप के जिनालयों की पूजा की जाती है, वह 'आष्टान्हिक' पूजा है। इसके सिवाय एक 'इन्द्रध्वज' महायज्ञ भी है, जो इन्द्रों द्वारा किया जाता है।

शरद पूर्णिमा —

आसोज शुक्ला १५, शरद पूर्णिमा, २५ अक्टूबर को मेरा ५४ वाँ जन्म दिवस था। इस उपलक्ष्य में मांगीलाल जी पहाड़े, उनके भाई बाबूलाल जी पहाड़े, इन दोनों की पुत्र-वधुओं ने मिलकर एक छोटा सा

एकांकी नाटक प्रस्तुत किया, जिसमें वीर कुमार जैन टिकैतनगर वाले नवयुवक ने अच्छी भूमिका अदा की। बात यह है कि मेरा सन् १९६४ में हैदराबाद में चातुर्मास हुआ था, तभी से यह पहाड़े परिवार मेरा अनन्य भक्त रहा है अतः वे गुरु-भक्ति में ही यह सब कौतुक किया करते हैं।

इसी अवसर पर बाबूलाल पहाड़े की पुत्रवधु सौ. आशा ने एक लाख, दस हजार की दानराशि घोषित की, यह खासकर ज्ञानदान हेतु—ग्रंथ प्रकाशन हेतु बोली गई थी। इसी में से प्राप्त द्रव्य से समयसार के पूर्वार्ध का अभी प्रकाशन हो चुका है जो कि डेढ़ माह में ही जैन समाज के हाथ में पहुँचने वाला है।[१]

इस विधान के मध्य श्रवणबेलगोल के भट्टारक श्री चारूकीर्ति जी पधारे थे। उन्होंने श्रवणबेलगोल में यह विधान कराने का निर्णय लिया और १६ नवम्बर १९८८ घोषित कर दिया। यहीं से संगीतकार व मण्डल के उपकरण धर्मचक्र, मानस्तंभ आदि ले जाने का निर्णय लिया। वहाँ पर उनके द्वारा कराया गया यह कल्पद्रुम-विधान भी दक्षिण भारत में एक प्रमुख आकर्षण बना था। अनेक बसों से आगत यात्रियों ने मुक्तकंठ से उस विधान की प्रशंसा की थी।

तब तक के प्राप्त समाचार के अनुसार यह श्रवणबेलगोल में होने वाला विधान ८वाँ था। जैसे कि—१. २४ फरवरी १९८८ का जम्बूद्वीप स्थल पर २. २४ फरवरी १९८८ का तेजपुर, आसाम में ३. भिंडर में आचार्य अजितसागर जी के सानिध्य में ४. झुमरीतलैया-बिहार में ५. बड़ौत, उत्तर प्रदेश में ६. गौतमपुरी दिल्ली में, ७. जंबूद्वीप-हस्तिनापुर में ८. श्रवणबेलगोल में।

प्राप्त समाचारों के अनुसार यह जानकारी थी। अन्यत्र भी श्रावक इस महान् कल्पद्रुम विधान को करा रहे होंगे, जिनके द्वारा कभी-कभी यहाँ समाचार नहीं भी आ पाते हैं।

मैंने यह अनुभव किया है कि आज श्रावक अनेक समस्याओं को सुलझाने के लिए जब गुरुओं के पास, यहाँ मेरे पास यंत्र-मंत्र लेने आते हैं, तब जाप्य करने में प्रायः असमर्थता व्यक्त कर देते हैं, ऐसे लोगों के लिए यह विधान के आयोजन अमोघ उपाय सिद्ध होते हैं। १०-१२ दिन सहज ही भक्ति रस से ओत-प्रोत होकर इन विधानों को सम्पन्न करते हैं और तब नियम से वे वांछित कार्य की सिद्धि कर लेते हैं। स्वयं लोग आकर कहते हैं—

"माताजी! मैंने जितना सोचा था, उससे अधिक यह विधान फलीभूत हुआ है.....।"

सचमुच में जो जिनेन्द्र-भक्ति परम्परा से मोक्ष को देने में समर्थ है, उससे लौकिक कार्यों की सिद्धि हो जावे, इसमें भला आश्चर्य ही क्या है?.....

वर्षायोग निष्ठापना —

कार्तिक वदी १४, ८ नवम्बर १९८८ की पिछली रात्रि में हम सभी साधुओं ने वर्षायोग निष्ठापन की क्रिया करके चातुर्मास समापन कर दिया पुनः कार्तिक कृ. अमावस्या के दिन प्रत्यूष बेला में, ९ नवम्बर के प्रभात के पूर्व ही श्रावकों ने यहाँ मंदिर जी में भगवान महावीर की पूजा करके 'निर्वाणलाडू' चढ़ाया।

इस दिन दक्षिण की बस आई हुई थी अतः उपदेश आदि कार्यक्रम सम्पन्न हुए।

दीपावली पूजन —

पुनः सायंकाल में मेरे द्वारा रचित श्री गौतमस्वामी की पूजा और केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा संघस्थ ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी आदि ने सम्पन्न की। यहाँ कार्यालय में भी रवीन्द्र कुमार ने पूजा करके नये रजिस्टरों में 'स्वस्तिक' 'श्री' आदि लिखे। सायंकाल में श्रावकों ने दीपकों को जलाकर जंबूद्वीप व सुमेरु आदि स्थलों को जगमगा दिया।

---

१. २९ मार्च १९९० को यह प्रकरण लिखा गया है।

अगले दिन से अर्थात् कार्तिक शु. एकम् से वर्ष का नया दिन प्रारंभ हो जाता है। वास्तव में जैन सम्वत् तो महावीर निर्वाण सम्वत् ही है। इस पर मैंने एक लेख भी लिखा था—

नूतन-वर्ष अभिनंदन —

आज भारत देश में वीरनिर्वाण संवत्, विक्रम संवत्, शालिवाहन शक और ईसवी सन् प्रचलित हैं। इनके प्रथम दिवस को वर्ष का प्रथम दिन मानकर नववर्ष की मंगल कामनाएँ की जाती हैं। जैन धर्मानुयायी महानुभावों को किस संवत् का कौन सा दिवस नववर्ष का मंगल दिवस मानना चाहिए? इस विषय पर विचार करना चाहिए।

आज ईसवी सन् अत्यधिक प्रचलित है। प्रायः कलेंडर, तिथि-दर्पण और डायरियां भी इसी सन् से छपने लगी हैं। वास्तव में अंग्रेजों ने अपने भारत पर शासन करके अपना ऐसा प्रभाव छोड़ा है कि उसे मिटाना असंभव है। खैर! कोई बात नहीं, १ जनवरी से ईसवी सन् प्रारंभ होता है। अभी सन् १९८८ चल रहा है। इसे भी मान लीजिए, मना लीजिए, कोई बाधा नहीं है।

कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरात में विक्रम संवत् को अधिक महत्व दिया जाता है। मैंने श्रवणबेलगोल में देखा, जो लोग वहीं रहकर भी ऊपर जाकर भगवान का दर्शन नहीं करते थे, वे भी जैन बंधु चैत्रवदी अमावस्या (दक्षिण व गुजरात के अनुसार फाल्गुन कृ. अमावस्या) की रात्रि में ऊपर पहाड़ पर जाकर सोते हैं और प्रातः उठते ही भगवान बाहुबली का दर्शन कर नूतन-वर्ष की मंगल-कामना करते हुए नीचे उतरते हैं। चैत्र शुक्ला एकम् से विक्रम संवत् का नया वर्ष शुरू होता है। आज पंचांग इसी संवत् से चल रहे हैं।

अभी १५-१६ वर्षों से वीरनिर्वाण महोत्सव की चर्चा जैन क्या, जैनेतरों में भी सारे देश में फैल चुकी है। पच्चिससौवां निर्वाण महोत्सव भी एक वर्ष तक जैनों के चारों सम्प्रदायों के महारथियों ने आगे होकर मनाया, जिससे जैन के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के अहिंसा धर्म का प्रचार-प्रसार खूब ही हुआ है। अब तिथि-दर्पण भी "वीरनिर्वाणसंवत्" से निकाले जाने लगे। वैसे पं. नाथूलाल शास्त्री द्वारा संपादित "जैनतिथि दर्पण" बहुत पुराना प्रतीत होता है। यह कब से चालू हुआ है, मुझे मालूम नहीं है, फिर भी यह प्रामाणिक माना जाता है।

आज जैन समाज में ही नहीं, जैनेतर समाज में भी वीरनिर्वाण दिवस (दीपावली के दिन) रात्रि में गणेश पूजा और लक्ष्मी पूजा करके दुकान पर नूतन वसना और नूतन बही आदि बदलने की प्रथा है। इस दिन अनेक प्रबुद्ध जैन अपनी-अपनी दुकान पर यंत्र अथवा जिनवाणी रखकर भगवान महावीर की पूजा, सरस्वती की पूजा आदि करके मंगलाष्टक पढ़कर, नूतन बहियों और वसनों पर स्वस्तिक, श्री आदि बनाकर "श्री महावीराय नमः" आदि मंत्र लिखकर, बही बदलने का मुहूर्त करके संवत् लिख देते हैं।

इस दिन लक्ष्मी-गणेश की पूजा के बारे में सही स्थिति का बोध कराने के लिए मैंने श्री गौतम गणधर की पूजा और केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा, ऐसी दो पूजाएँ बनाई हैं क्योंकि कार्तिक कृ. अमावस्या को प्रातः प्रत्यूष बेला में भगवान महावीर स्वामी ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया था, उसी के उपलक्ष्य में स्वर्ग से इन्द्रों ने असंख्य देव-देवियों ने आकर यहाँ पावापुरी में भगवान का निर्वाणोत्सव मनाया था और पावापुरी में दीपों को जलाकर उत्सव किया था। उसी समय से आज तक प्रतिवर्ष अपने भारत देश में सायंकाल में सर्वत्र दीपक जलाकर "दीपमालिका" या दीपावली दिवस मनाया जाता है। जैसा कि हरिवंशपुराण में कहा भी है—

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्।।२१।।

भगवान महावीर भी निरन्तर सब ओर के भव्य समूह को सम्बोध कर पावानगरी पहुँचे और वहाँ के

"मनोहरोद्यान" नामक वन में विराजमान हो गये।।१५।।

भगवान के निर्वाण कल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।।२१।।

यह हुई दीपावली की बात, पुनः जो उसी दिन रात्रि में नूतन बही पूजन के लक्ष्मी और गणेश की पूजा की प्रथा है, उसमें भी रहस्य है। उसी दिन भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद सायंकाल में श्री गौतम गणधर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था, तत्क्षण ही इन्द्रों ने आकर उनकी गंधकुटी की रचना करके उनके केवलज्ञान की पूजा की थी। 'गणानां ईशः गणेशः, गणधरः' ये पर्यायवाची नाम श्री गौतमस्वामी के ही हैं। सब लोग इस बात को न समझकर गणेश और लक्ष्मी की पूजा करने लगे। वास्तव में गणधर देव की, केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा करनी चाहिए। खास कर जैनों में यही कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा का नूतन वर्ष मानना चाहिए। इसी दिन से तिथि दर्पण व कलेंडर छपाना चाहिए।

युगादि —

वैसे मेरी दृष्टि से "युगादि दिवस" भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसकी तरफ प्रायः जैन धर्मानुयायियों का लक्ष्य नहीं है। यह मंगलमय दिवस है। "श्रावण कृष्णा प्रतिपदा" यह प्रत्येक युग का आदि दिवस है इसलिए इसे "युगादि" कहा है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह काल माने हैं। अवसर्पिणी के सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। ये ही उत्सर्पिणी में उल्टे क्रम से चलते हैं जैसे अतिदुःषमा आदि। इन सब कालों की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है और प्रारंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है।

इस मंगल दिवस को ही भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी अतः आज इसे "वीरशासन जयंती" दिवस के नाम से मनाने की प्रथा है। इस विषय में आप प्रमाण देखिये —

"एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ।।६८।।
वासस्स पढममासे सावणणाममम्मि बहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मिं य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स।।६९।।
सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो।
अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं।।७०।।

यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अंतिम भाग में तेतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम महीने में, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।।६८-६९।।

श्रावण कृष्णा एकम् के दिन रुद्र मुहूर्त के रहते हुए सूर्य का शुभ उदय होने पर अभिजित्, नक्षत्र के प्रथम योग में इस युग का प्रारंभ हुआ, यह स्पष्ट है[१]।।७०।।

धवला प्रथम पुस्तक में लिखा है —

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के दुःषमा-सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर, वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में, प्रतिपदा के दिन प्रातः काल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर तीर्थ अर्थात् भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि खिरने से धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।। ५५,५६।।

---

१. तिलोयपण्णत्ति अध्याय १, पृ. ९।

सावण-बहुण-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए एत्थ जुगाई मुणेयव्वो।।५७।।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन, रुद्र मुहूर्त में, सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग की आदि हुई, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए[१]।।५७।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि "श्रावण कृष्णा प्रतिपदा" युग की आदि है। भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद पाँचवां काल प्रवेश होने में तीन वर्ष, आठ माह, पन्द्रह दिन बाकी रहे थे। तीन वर्ष, कार्तिक शुक्ला के पन्द्रह दिन और मगसिर से आषाढ़ तक आठ माह गिनने चाहिए।

कर्नाटक में लोग चैत्र शु. १ को ही "युगादि अब्बा" कहते हैं किन्तु वह तो विक्रमादित्य राजा से चला है अतः वह "युगादि अब्बा" न होकर श्रावण कृष्णा एकम् ही युगादि पर्व है। दक्षिण में पर्व को "अब्बा" कहते हैं।

इसे यहाँ लिखने का मेरा अभिप्राय यही है कि आप जैन लोग वीरनिर्वाण संवत् से ही "नूतन वर्ष" मनावें तथा श्रावण कृष्णा एकम् को "वीरशासन जयन्ती" और युगादि दिवस-पर्व अवश्य मनावें। यदि जैन ही अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार नहीं करेगा, तो भला और कौन करेंगे? इसलिए वीर निर्वाण के दिन रात्रि में जैन विधि से बही और वसना आदि बदलकर कार्तिक शुक्ला एकम् से "नूतन वर्ष" मानना चाहिए।

सर्वतोभद्र विधान —

कार्तिक शुक्ला ७, १६ नवम्बर १९८८ से आष्टान्हिक पर्व शुरू हो गया। प्रातः ८.४५ बजे सर्वतोभद्र विधान का झंडारोहण कराया गया। वीरेन्द्र कुमार जैन टिकैतनगर से सपरिवार व अनेक श्रावकों सहित आये तथा विजेन्द्र कुमार जैन दिल्ली, सपरिवार आये। इन दोनों के लिए यहाँ त्रिमूर्ति मंदिर में तीन लोक आकार के दो मंडल बनाये गये चूंकि वीरेन्द्र कुमार बीसपंथी आम्नायी हैं एवं विजेन्द्रकुमार तेरहपंथी हैं। विधान का अनुष्ठान प्रारंभ हो गया।

वीरेन्द्र कुमार कु. माधुरी के चाचा के सुपुत्र हैं। ब्र. माधुरी भी विधान में बैठीं।

विधान का विषय —

सन् १९७६ में मैंने खतौली के लिए जब विहार किया था, तब 'तीन लोक मंडल' विधान बनाने की भावना से तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रंथ साथ में ले गई थी किन्तु वहाँ मोतीचंद, रवीन्द्रकुमार के निवेदन से मैंने 'इन्द्रध्वज' विधान की रचना की थी वे ग्रंथ उस विधान रचना में भी काम आये थे। उसके बाद 'तीस चौबीसी' आदि कई विधान बड़े-छोटे रचे गये।

सन् १९८५-८६ की अस्वस्थता के बाद भी मैंने जंबूद्वीप विधान व कल्प्रदुम विधान बनाये। इसके बाद वृहद् तीन लोक विधान बनाना प्रारंभ किया।

इस विधान में तीन लोक के समस्त पूज्य तीर्थंकर महापुरुष, उनकी कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ, उनके पंचकल्याणक स्थान आदि आ गये, यह 'सर्वतोमुखी' है अथवा सर्वतः —सब तरफ से भद्र —कल्याण करने वाला है, इसलिए इसका 'सर्वतोभद्र' यह नाम दिया है। इस विधान में चार प्रकार के देवों के गृहों के सर्व अकृत्रिम जिनमंदिर, जिनप्रतिमाओं की पूजा है। मध्यलोक के ४५८ अकृत्रिम जिनमंदिरों व जिनप्रतिमाओं की पूजा है तथा विदेह के २० तीर्थंकर व ५ भरत, ५ ऐरावत के भूत, भावी, वर्तमान ऐसी तीस चौबीसी की पूजाएँ हैं। एक सौ सत्तर (१७०) कर्मभूमि में होने वाले अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य और चैत्यालयों की पूजाएँ हैं। मेरी समझ से इसमें पूज्य की पूजा संबंधी कुछ भी नहीं छूटा है। अति

---

१. धवला पुस्तक, १ पृ. ६३-६४।

संक्षेप में ही क्यों न हो, सब कुछ आ गया है।

इसमें एक सौ एक पूजाएँ हैं जो कि एक से एक रोचक हैं। कु. माधुरी ने सर्व पूजाएँ पढ़ते हुए विधान स्वयं भी किया और कराया। आज भी वे कहा करती हैं, कि—"माताजी! जितना आनन्द भगवान की इस पूजा में, भक्तिरस में आया है, उतना आनन्द मुझे जीवन में कभी नहीं आया।"

इस विधान में १०८ स्वस्तिक चढ़ाने के लिए लिखा है। ब्र. माधुरी ने धातु की सुन्दर स्वस्तिक मुरादाबाद से बनवाई थीं, बड़े आनन्द और उत्साह से माधुरी ने मंडल के ऊपर प्रत्येक पूजा की जयमाला में स्वस्तिक चढ़ाई थीं। दूसरे मंडल पर विजेन्द्र कुमार ने भी चढ़ाई थीं। उस समय यह मंडल बहुत ही सुन्दर दिख रहे थे, मानों ये स्वस्तिक जगत् का स्वस्ति—कल्याण—भद्र करने की सूचना ही दे रही थीं।

हापुड़ के श्री शिखरचंद व उनकी धर्मपत्नी शकुन्तला भी विधान में बैठे थे। शकुन्तला जी ने आष्टान्हिका के आठ उपवास मीठा शरबत लेकर किये थे। फिर भी पूजा के मध्य भक्तिरस में विभोर वे स्वयं चंवर लेकर नृत्य करती रहती थीं। अन्य सभी भक्तगण स्त्री-पुरुष भक्ति में तन्मय हो नृत्य करते रहते थे।

यह विधान अगहन कृ. ४, रविवार को पूर्णाहुति के साथ सम्पन्न हुआ था। इसके मध्य ही कार्तिक मेला के निमित्त से कार्तिक शु. १४, २२ नवम्बर को वार्षिक रथ-यात्रा निकाली गई थी।

आचार्य सुमतिसागर जी का आगमन —

रविवार, २० नवम्बर, कार्तिक शु. १२ को आचार्य सुमतिसागर जी महाराज हस्तिनापुर पधारे, बड़े मंदिर जी में ठहरे। यहाँ भी दर्शनार्थ आये, त्रिमूर्ति मंदिर में 'एक विधान तेरहपंथ से हो रहा था एवं एक बीसपंथ से' देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उपदेश में बोले—

"मैंने जंबूद्वीप के बारे मे जो भी अफवाहें सुनी थीं, वैसा कुछ भी देखने में नहीं आया, वे सब गलत निकलीं, यहाँ तो बहुत ही अच्छा लगता है.....इत्यादि।'

चतुर्दशी के दिन रथयात्रा के समय भी वे ससंघ यहाँ जंबूद्वीप स्थल से निकलने वाली रथयात्रा के साथ चले थे।

यहाँ ब्र. माधुरी तथा ब्र. श्यामाबाई के चौके में उधर से उस संघ के ४-५ साधु-साध्वी प्रतिदिन यहाँ आहारार्थ आ जाते थे, आचार्य महाराज के भी कई आहार और उपदेश इधर हुए हैं। एक दिन आचार्य सुमतिसागर जी, उनके संघ की गणिनी आर्यिका ज्ञानमती, मैं (गणिनी आर्यिका ज्ञानमती) और क्षुल्लक मोतीसागर आदि यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर एकांत में बैठे और आपस में जैनधर्म के अंतर्गत पंथभेद की खूब चर्चा हुई। निष्कर्ष यह निकला कि—ये सज्जाति के पक्षधर हैं, अंतर्जातीय, विजातीय और विधवा विवाह के विरोधी हैं, ऐसे लोगों के यहाँ आहार ग्रहण करते नहीं हैं। कानजीपंथ के विरोधी हैं किन्तु तेरहपंथ के अत्यधिक आग्रही हैं। फिर भी यहाँ उन्होंने बीसपंथ की जरा भी आलोचना नहीं की। पौष वदी ३, २६ दिसम्बर को ये संघ सहित यहीं आकर सामायिक के लिए बैठे पुनः अभिषेक देखकर मंदिरों के दर्शन करके यहीं से विहार कर दिया। कुल मिलाकर इनका व्यवहार यहाँ सौहार्दपूर्ण ही रहा।

आर्यिका अभयमती का आगमन —

मगशिर वदी ५, १३ दिसम्बर को आर्यिका अभयमती जी, क्षुल्लिका शांतिमती जी के साथ यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर आ गईं। इन्होंने यह सन् १९८८ का चातुर्मास 'बड़ेगांव' किया था, वहाँ से ही आईं हैं। मगशिर शुक्ला ७, को इनका ४७वाँ जन्मदिवस था। ब्र. कु. माधुरी ने दूध से अभयमती माताजी के चरण प्रक्षालन किये पुनः इनकी पूजा की, सायंकाल में ४७ दीपकों से इनकी आरती उतारी। सन् १९६४ में इन्होंने मुझसे क्षुल्लिका दीक्षा ली थी पुनः सन् १९६९ में आचार्य श्रीधर्मसागर जी से आर्यिका दीक्षा ली थी। तब से

लेकर आज तक ये अपनी चर्या को पालते हुए अहर्निश ज्ञानाराधना में लगी रहती हैं। इनका स्वास्थ्य बहुत ही कमजोर चलता है।

समयसार का स्वाध्याय और अनुवाद कार्य —

यहाँ प्रतिदिन प्रातः समयसार का स्वाध्याय चलता था। कभी-कभी क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी, प्रो. मोतीलाल जी, फल्टन आदि के अनुवादित समयसार का भी अवलोकन किया जाता था। प्रतिदिन मेरे द्वारा अनुवादित ताजी-ताजी दोनों टीकाएँ भी पढ़ी जाती थीं, मेरा अनुवाद कार्य भी अपनी गति से चल रहा था। प्रतिदिन प्रायः घंटे, दो घंटे तो अनुवादकार्य के लिए निकालती ही थी। मध्यान्ह में एक घंटा तो आगत यात्री आदिकों व दर्शनार्थियों के लिए रहता था। शेष समय अपनी आवश्यक क्रियाओं में व शरीर सेवा में चला जाता था। जो भी हो, समयसार के अनुवाद करने में मुझे जो आनन्द आता था, वह शब्दों से परे है। निश्चय-व्यवहार नयों को कहाँ-कहाँ घटित करना? आचार्यों के शब्दों में देखकर लिखते हुए परिणामों में बहुत ही निर्मलता आती थी और ऐसा भाव जाग्रत होता था—"भगवन्! ऐसा दिन कब आवेगा कि जब मैं निश्चयनय का अवलंबन लेकर निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करूँगी।" मैं समझती हूँ, मेरी यह भावना इस भव में न सही, अगले भव में अवश्य ही पूरी होगी।

समयसार अनुवाद पूर्ण —

३ जनवरी, पौष वदी ११ को रवीन्द्र कुमार ने मेरठ में हरीश जैन, सुमन प्रिंटर्स को समयसार पूर्वार्ध छापने को दे दिया था। आगे उत्तरार्ध का अनुवाद मैं कर रही थी।

कुन्दकुन्दमणिमाला —

समयसार अनुवाद के मध्य रवीन्द्र कुमार ने अनेक बार निवेदन किया—"माताजी! श्री कुन्दकुन्ददेव के सभी ग्रंथों का आपने स्वाध्याय किया है और कराया है उनके सभी ग्रंथों में से मक्खनस्वरूप कुछ ५०-६० गाथाएँ निकाल दीजिये, जिनका हम खूब प्रचार-प्रसार करेंगे.....।"

समयसार ग्रंथ के अनुवाद के बाद मुझे जो अतिशय प्रिय थीं, ऐसी गाथाएँ संकलित करना शुरू किया। नातिविस्तार और नातिसंक्षेप मैंने मध्यम रूप में १०८ गाथाएँ निकाली पुनः इसका 'कुन्दकुन्दमणि माला' नामकरण दिया। इन गाथाओं का मूल अर्थ और भावार्थ भी किया, जिसे मैंने 'महावीर जयन्ती' के दिन १८ अप्रैल को पूर्ण किया है। यहाँ श्री ऋषभजयंती, श्री महावीर जयन्ती आदि के कार्यक्रम प्रभातफेरी, १०८ कलशों से भगवान का अभिषेक और सभा गोष्ठी पूर्वक सम्पन्न किये जाते हैं। इस बार दोनों जयन्ती के अवसर पर यात्रियों की बसें होने से अभिषेक के लिए बोलियाँ भी हुई थीं।

इस मणिमाला को संघ के आने पर शिक्षण-प्रशिक्षण में रखने की इच्छा से रवीन्द्र कुमार ने इसे सम्यग्ज्ञान मई-जून १९८८ का विशेषांक बनाकर जल्दी छपा दिया था। अब तो पुस्तक[१] भी छपकर आ गई है।

चत्तारिमंगलं —

चत्तारिमंगलं पाठ में कुछ दिनों से विभक्तियाँ लगाकर पाठ बोलने की परम्परा चल गई है। पता लगाने से विदित हुआ कि यह श्वेताम्बरों ने विभक्ति सहित पाठ चलाया है। मैंने सन् १९८३ में ब्र. माधुरी से कुछ साधुओं व विद्वानों के पास इस 'चत्तारिमंगल' के विभक्ति रहित व विभक्ति सहित पाठ के बारे में पत्राचार कराये। अनेक पत्र व अभिमत आये, वे यहाँ फाइल में एकत्रित हैं। एक पत्र क्षुल्लक सिद्धसागर जी (आ. श्री वीरसागर के शिष्य) का मौजमाबाद से २८-४-८३ का लिखा हुआ आया, वह हमें विशेष संतोषप्रद प्रतीत हुआ। उन्होंने लिखा—"अ आ इ उ ए तथा ओ को व्याकरण सूत्र के अनुसार समान भी माना जाता है। 'एदे

---

१. ३० मार्च १९९०।

छ च समाणा' इस प्राकृत सूत्र के अनुसार 'अरहंता मंगलं के स्थान में अरहंत मंगलं, सिद्धा मंगलं के स्थान पर सिद्ध मंगलं तथा साहू मंगलं' के स्थान में 'साहुमंगलं' और 'केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं'' है। 'आ' तथा 'अ' को समान मानकर अरहंत के आ के स्थान में अ पाठ रखा गया है, यह व्याकरण से शुद्ध हुआ। इसी प्रकार 'अरहंत लोगुत्तमा' इत्यादि पाठ भी शुद्ध है। अरहंते सरणं पव्वज्जामि के स्थान में 'अरहंत सरणं पव्वज्जामि' पाठ भी शुद्ध है क्योंकि 'एदे छ च समाणा' इस व्याकरण सूत्र के अनुसार 'ए' तथा 'अ' को समान मानकर 'ए' के स्थान में 'अ' पाठ शुद्ध है। इसलिए जो चत्तारिमंगल पाठ विभक्ति रहित है, प्राचीन काल से चला आ रहा है, वह विभक्ति सहित ही है अतः शुद्ध है। शास्त्रों और यंत्रों में भी विभक्ति रहित ही जो पाठ देखे जाते हैं, वे शुद्ध हैं और लाघवयुक्त हैं। 'केवलिपण्णत्तो धम्मो' यहां 'हेतौ प्रायः सर्वाः' इस व्याकरण सूत्र के अनुसार धर्म केवली के द्वारा प्रणीत है, इसलिए 'सरणं' पव्वज्जामि' मैं उसकी शरण को प्राप्त होता हूँ, ऐसा पाठ पाया जाता है वह भी व्याकरण से शुद्ध है।''

इससे मैंने यही निष्कर्ष निकाला कि प्राचीन पाठ शुद्ध है, उसे ही पढ़ना चाहिए, नये संशोधित पाठ को नहीं लेना चाहिए। पं. पन्नालाल, साहित्याचार्य के पत्र में भी यह वाक्य है कि 'श्वेताम्बरों के यहाँ नया पाठ प्रचलित है, वह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध पाठ है अतः उसे अपना लिया गया है।''

ब्र. सूरजमल प्रतिष्ठाचार्य एवं पं. शिखरचंद प्रतिष्ठाचार्य ने भी प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी है।

प्रो. पं. मोतीलाल कोठारी, फलटन वालों से मेरी दरियागंज दिल्ली में चर्चा हुई थी, उन्होंने भी प्राचीन विभक्ति रहित पाठ को प्रामाणिक माना था। पं. सुमेरुचंद दिवाकर सिवनी वालों से दिल्ली में सन् १९७४ में चर्चा हुई थी, तब उन्होंने भी प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी थी।

सन् १९८५ के ब्यावर के चातुर्मास में मैंने पं. पन्नालाल जी सोनी से इस विषय में चर्चा की थी, तब उन्होंने कहा था कि—

''हमारे यहाँ सरस्वती भवन में बहुत प्राचीन मंत्र में भी विभक्ति रहित प्राचीन पाठ ही है तथा प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में भी प्राचीन पाठ मिलता है। विभक्ति सहित चत्तारिमंगलपाठ शास्त्रों में देखने में नहीं आया है अतः प्राचीन पाठ ही पढ़ना चाहिए। आजकल के विद्वानों द्वारा संशोधित पाठ नहीं अपनाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि मंत्र व्याकरण अलग ही थी, आज उसका ज्ञान हम लोगों को नहीं है अतः मूलमंत्रों में अपने मन से विभक्तियाँ नहीं लगानी चाहिए। इत्यादि।

मेरी अपनी यही विचारधारा है कि मंत्रों में विभक्तियाँ नहीं लगानी चाहिए।

एक त्रयोदशाक्षरी मंत्र है उसमें प्रथमान्त विभक्ति के साथ 'स्वाहा' पल्लव है। एक बार किसी विद्वान ने उस मंत्र में ह्रीं बढ़ा दिया और प्रथमान्त में चतुर्थी विभक्ति लगा दी ''केवली स्वाहा'' के स्थान में केवलिभ्यः स्वाहा कर दिया, पहली बात तो अक्षर बढ़ जाने से यह पंचदश अक्षरी मंत्र हो गया। उस अनुष्ठान में अनेक विघ्न बाधाएँ आईं। मेरे सामने भी चर्चा आई, तब मैंने कहा कि मूल मंत्र आचार्यों द्वारा वर्णित था, ग्रंथ के आधार से था इसमें अक्षर नहीं बढ़ाना चाहिए, अपना व्याकरण नहीं लगाना चाहिए। मंत्र अशुद्ध हो जाने से ही यह हानि हुई है, इत्यादि।

पंचकल्याणक तिथियां —

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में कल्याणकों की तिथियों में कोई-कोई अलग है और उत्तरपुराण ग्रंथ में कुछ अलग है। कई एक विद्वान श्रावक तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के कल्याणक तिथियों के नक्षत्रों के आधार से कई एक तिथियाँ बदलने के लिए तैयार हो गये, मेरे पास पत्र भी भेजे, परामर्श के लिए भी आये, मैंने कई वर्षों तक बहुत कुछ चिन्तन किया किन्तु तिलोयपण्णत्ति व उत्तरपुराण दोनों ग्रंथों में से किसी भी ग्रंथ में एक तिथि के

बारे में भी मैं परिवर्तन के बारे में नहीं सोच सकी, ऐसा अतिसाहस मेरे द्वारा संभव नहीं हो पाया।

कल्पद्रुम विधान में पंचकल्याणक पूजन रचना के समय मेरे मन में यह समस्या पुनः आई कि किस ग्रंथ के आधार से अर्घ्य रचना बनावें? तब मैंने पहले तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ को अति प्राचीन मानकर उसी के आधार से लिखना चाहा किन्तु उसमें गर्भकल्याणक की तिथियाँ नहीं थीं, तो किस ग्रंथ से जोड़ना? समझ में नहीं आया पुनः उत्तरपुराण के आधार से ही मैंने तिथियाँ लेकर पूजन बनाई है। प्रायः वृन्दावन आदि की चौबीसी पूजन में भी ये ही तिथियाँ हैं।

धवला टीका आदि में भी आचार्यों ने जहाँ दो मत आये हैं, वहाँ यही लिखा है कि जब तक केवली, श्रुतकेवली नहीं मिलें, तब तक दोनों को ही प्रमाणिक मानना चाहिए। एक सत्य है, दूसरा असत्य, ऐसा निर्णय नहीं देना चाहिए। ऐसे उद्धरण मैंने 'प्रवचन निर्देशिका' में दिये हैं।

£ ९६ ¤

त्रैलोक्य विधान —

टिकैतनगर से आये प्रकाशचंद ने आषाढ़ वदी १, २० जून १९८९ से त्रैलोक्य विधान शुरू किया। मैंने सर्वतोभद्र विधान, (बड़ा तीन लोक विधान) तीन लोक विधान नाम से मध्यम तीनलोक विधान और त्रैलोक्य विधान नाम से लघु तीन लोक विधान, ऐसे तीन लोक के तीन विधान बनाये थे। सन् १९८७ की फरवरी में मोतीचंद ने दीक्षा लेने से पूर्व मध्यम तीन लोक विधान हस्तलिखित कापी से ही किया था। बड़ा तीन लोक विधान—सर्वतोभद्र विधान को वीरेन्द्र कुमार, ब्र. माधुरी, विजेन्द्र कुमार आदि ने सन् १९८८ में कार्तिक की आष्टान्हिका में किया था। अब प्रकाशचंद जैन यह लघु तीन लोक विधान प्रथमबार ही कर रहे थे। इसे इन्होंने अपना बहुत बड़ा सौभाग्य समझा था। विधान की पूजा पढ़ते समय ये इतने निमग्न हो जाते थे कि भाव विभोर होकर गद्गद वाणी में जिनेन्द्र भक्ति की प्रशंसा करने लगते थे। विधान सम्पन्न कर ग्रीष्मावकाश में आये अपने अकलंक, निकलंक, इन्दु, माला, प्रमिला आदि पुत्र-पुत्रियों को साथ लेकर घर चले गये। वास्तव में माँ मोहिनी ने अपने पुत्र-पुत्रियों पर जो संस्कार डाले थे, उन्हीं के फलस्वरूप आज उनके तीनों गृहस्थाश्रम के पुत्रों ने अपने घर में जिनचैत्यालय बनाये हुए हैं। ये सभी प्रतिदिन अपने चैत्यालय में जिन अभिषेक और पूजा करते ही हैं।

जंबूद्वीप विधान —

ताराचंद जैन (नरपतिया) भरतपुर से आये थे। उन्होंने आषाढ़ सुदी ८, ११ जुलाई १९८९ की आष्टान्हिका में यहाँ जंबूद्वीप विधान करना प्रारंभ किया। विधान सानन्द चल रहा था। आषाढ़ शु. १३, १६ जुलाई के दिन मध्यान्ह में गणेशीलाल जी रानीवाला, जिनेन्द्र प्रसाद जी ठेकेदार, रवीन्द्र कुमार जी आदि मेरे निकट बैठे हुए थे। जंबूद्वीप की प्रगति पर और आगे जंबूद्वीप महोत्सव किया जाये, इस विषय पर चर्चा चल रही थी।

मैंने उचित समय देखकर सहसा घोषित कर दिया—

"ब्र. माधुरी की दीक्षा होगी, श्रावण शु. ११, दिनाँक १३ अगस्त का मुहूर्त है।"

सुनते ही रवीन्द्रकुमार कुछ क्षण के लिए स्तब्ध हो गये पुनः जब देख लिया कि माताजी ने पूर्ण निर्णय ले लिया है, अब संशोधन की कुछ गुंजाइश नहीं है, तब वे बोले—

"ठीक है, जब दीक्षा होनी ही है, तो ठाठ-बाट से बढ़िया ही होगी, हम उत्साह से कार्यक्रम बनायेंगे.....।"

उनके इन शब्दों से मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई और माधुरी की तो प्रसन्नता का कहना ही क्या था.....बात यह थी कि लगभग दो वर्ष पूर्व से माधुरी के भाव दीक्षा लेने के हो रहे थे। मैंने जब-जब रवीन्द्रकुमार से बात की थी, वे मना कर देते थे। मैंने अच्छी तरह समझ लिया कि इसमें मोहनीय कर्म का उदय ही प्रमुख कारण है अतः जब स्वयं माधुरी में दृढ़ता है, मैं दृढ़ हूँ, तो भला ये कब तक रोकते रहेंगे? अतः इनसे पूछने के बजाए अब निर्णय करके सूचना कर दो, जो होगा सो होगा किन्तु माधुरी के पुण्य से उस समय सब अनुकूलता हो गई। रवीन्द्र कुमार आदि ने यही निर्णय किया कि—

"अच्छी प्रभावना से दीक्षा कराई जावे।"

दीक्षा हेतु प्रार्थना —

आषाढ़ शु. १४, दिनाँक १७ जुलाई १९८९ के दिन मध्यान्ह में दिल्ली आदि अनेक स्थानों से आये हुए श्रावक-श्राविकाओं ने सभा में श्रीफल चढ़ाकर मुझसे चातुर्मास स्थापना के लिए प्रार्थना की। इसी सभा में त्रिमूर्ति मंदिर में ४.३० बजे माधुरी ने श्रीफल लेकर मुझसे प्रार्थना की—

"हे माताजी! मुझे संसार समुद्र से पार करने वाली ऐसी आर्यिका दीक्षा प्रदान कीजिये" पुनः समयोचित कुछ अपने उद्‌गार भी सभा में व्यक्त किये।

मैंने कु. माधुरी को दीक्षा के लिए स्वीकृति दी पुनः चातुर्मास यहीं हस्तिनापुर में करने हेतु स्वीकृति दी।

जनता के वैराग्य के साथ-साथ माधुरी के प्रति ममता के भाव प्रबल हो उठे....। रात्रि में मैंने यहाँ पर अपने संघ सहित वर्षायोग स्थापित किया।

माधुरी का सम्मान व शोभायात्रा —

उसी समय हापुड़ से आये शिखरचंद ने माधुरी को साथ ले जाने के लिए प्रार्थना की और बोले कि—"हापुड़ में हम लोग कल ही माधुरी जी का सम्मान करके इनकी शोभा यात्रा निकालेंगे।"

तदनुसार पहला सम्मान यह दीक्षा के पूर्व का हापुड़ से शुरू हो गया।

शांति-विधान आदि —

मेरा यह कहना रहता है कि दीक्षा से पूर्व दीक्षार्थी तीर्थों की यात्राएँ कर लें, विधान पूजन और आहार दान आदि करके दीक्षा लेवें, जिससे दीक्षा लेते ही यात्रा आदि की उत्कंठा न होवे और संघ में स्थिरता से रह सकें। दूसरी बात यह भी है कि रेल, मोटर आदि से यात्राएँ जितनी सरल हैं, उतनी पद विहार से सरल नहीं हैं।

इस नीति के अनुसार माधुरी ने यात्राएँ तो प्रायः पहले ही सब कर ली थीं। ज्ञान- ज्योति भ्रमण के समय बुंदेलखंड के तीर्थ भी कर लिए थे अतः अब उसने २१, २२, २३ जुलाई, श्रवण कृ. ३, ४, ५, के दिन क्रम से पंचकल्याणक विधान, मृत्युंजय विधान और शांतिविधान किये।

सम्मान के कार्यक्रम —

दीक्षा का निर्णय होते ही रवीन्द्र कुमार ने अपने घर, महमूदाबाद आदि परिवारजनों में पत्र डाल दिये थे, सनावद तथा अन्य विशेष भक्त लोगों व कमेटी के लोगों में भी सूचना पहुंचा दी। टिकैतनगर से सुभाषचंद जैन श्रावण वदी ५ को आ गये, इन्होंने माधुरी को टिकैतनगर ले जाने के लिए निवेदन किया। साथ में ब्र.रवीन्द्र कुमार, माधुरी, पं. नरेश चंद आदि को ले गये।

२४ जून को दरियाबाद में उनकी बहन कामिनी जी ने व समाज के लोगों ने माधुरी का स्वागत किया।

२५ जून को टिकैतनगर में सभी जैन समाज के बुजुर्ग लोगों से लेकर आबालगोपाल ने शोभायात्रा निकालकर अच्छा सम्मान किया। जैनेतर लोगों ने भी अपनी गाँव की बिटिया को बड़े प्यार से बिटिया कहकर अश्रुपूर्ण नेत्रों से सम्मान किया और घर के लोग क्या, सारे प्रबुद्ध श्रावक-श्राविकाओं ने रोते हुए विदाई दी।

बात यह है कि माधुरी यद्यपि सन् १९७१ से मुझसे ब्रह्मचर्य व्रत लेकर मेरे संघ में ही रह रही थीं, फिर भी कई बार घर जाती ही रहती थीं। तीस वर्षों से गृहत्याग कर दिया था, फिर भी विधान आदि के निमित्त से गांव के लोग टिकैतनगर ले जाते रहते थे। अब सबको यह निर्णय हो गया कि आर्यिका दीक्षा लेकर यह माधुरी बिटिया नहीं रहेंगी, ये तो हम सबकी क्या, जगत की माताजी बन जायेंगी तो पुनः पद विहार में यहाँ गाँव में पता नहीं कब आयेंगी? पहले तो वहाँ के बुजुर्गों ने दीक्षा से भी रोकने का विशेष आग्रह किया पुनः दृढ़ता देखकर सम्मान आदि करके नाना प्रकार की शुभ-कामनाएँ और शुभ आशीषों की वर्षा करते हुए विदाई दी।

वहाँ से निकलकर २६ जून को प्रातः बहराइच में सम्मान किया गया। इसी दिन शाम को लखनऊ में बहन शांतिदेवी ने सम्मान किया पश्चात् २७ जून को महमूदाबाद में कु. माधुरी के मामा आदि ने तथा वहाँ की समाज ने विशेष शोभायात्रा, स्वागत आदि पूर्वक सम्मान किया पुनः माधुरी रवीन्द्र कुमार के साथ हस्तिनापुर आ गयीं।

टिकैतनगर से आकर माधुरी ने मुझे बताया कि माताजी! टिकैतनगर पहुँचते ही पहले तो गाँव के सभी बुजुर्ग लोग, कैलाश भाई साहब जी के घर पर आकर एकांत में मुझे समझाने लगे कि अभी थोड़े दिन और रुक जाओ, तुम्हारे बिना हम लोगों को पूजा विधान कराने में आनंद नहीं आएगा। बेटी! तुम यहीं ठहरो, हम लोग माताजी के पास जाकर अभी दीक्षा स्थगित कराए देते हैं। कई लोगों ने विधान करने के लिए हामी भर दी और हमसे स्वीकृति माँगने लगे। मैंने कहा—कोई भी कार्य किसी के बिना रुकता नहीं है, आप लोगों के प्रलोभन अब मुझे दीक्षा से रोक नहीं सकते। अब तो आप सब मुझे आशीर्वाद दें ताकि मैं अपनी जन्मभूमि का नाम दिग्दिगन्त में प्रकाशित कर सकूँ। मैंने सोचा, यह सब मोहकर्म का ही खेल है।

दिल्ली में २९ जुलाई को प्रातः आठ बजे लाल मंदिर के प्रांगण में आचार्य सुधर्मसागर के सानिध्य में खचाखच भरी जैन समाज के मध्य स्वागत किया गया पुनः १० बजे से चांदनी चौक, दरीबाकला होते हुए शोभायात्रा निकाली गई। मार्ग में व धर्मशाला में अनेक स्त्री-पुरुषों ने कु. माधुरी की गोद भरी।

३० जुलाई को बड़ौत में गणधराचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज ससंघ के सानिध्य में स्वागत किया गया। आचार्य महाराज आदि साधुओं ने विशेष आशीर्वाद दिया। यहाँ भी भव्य जुलूस निकाला गया और जगह-जगह भक्तों ने गोद भरी।

पुनः सनावद (क्षुल्लक मोतीसागर जी की जन्मभूमि) में विशेष आग्रहवश भेजना ही पड़ा। वहाँ भी १ अगस्त को शोभायात्रा का कार्यक्रम हुआ, अनन्तर सभा हुई। समयाभाव से रवीन्द्र कुमार, माधुरी को लेकर वहाँ से तत्क्षण ही चल पड़े। वहाँ से आते हुए ये लोग सोनागिरि उतरकर आचार्यश्री विमलसागर जी के दर्शन कर उनका आशीर्वाद व ब्र.चित्राबाई की मंगलकामना लेकर वापस हस्तिनापुर आ गये।

इस शोभायात्रा व सम्मान के कार्यक्रम में माधुरी की रुचि न होते हुए भी लोगों के अतीव आग्रह व वात्सल्य से जाना ही पड़ता था, अब वह थकान महसूस कर अन्यत्र जाने के लिए तैयार नहीं हुई तो पुनः अहमदाबाद से आये हुए हीरालालजी आदि अनेक श्रावकों के कार्यक्रम स्थगित करने पड़े।

रिजर्वेशन कराकर भी समयाभाव से लोहारिया आचार्यश्री अजितसागर जी के दर्शनार्थ न जा पाई, जिसका मुझे खेद भी रहा। ९ अगस्त को प्रातः सरधना में, सायंकाल कमलानगर, मेरठ में स्वागत समारोह रखा गया।

परिवार के लोगों का आगमन —

इस बीच माधुरी के भाई-भावज, बहन, बहनोई भतीजे, भानजे आदि आ गये। सनावद से माँ श्री रूपाबाई जी, श्री इन्द्रचन्द चौधरी आदि भी आ गए। ये लोग भी माधुरी को अपनी पुत्री व बहन ही मानते

रहे हैं। सभी भौजाइयों ने मिलकर कु. माधुरी को घेर लिया और शुभशकुन रूप में उसके हाथों में मेंहदी रचाने लगीं, माधुरी को यह सब श्रृंगारिक वातावरण न रुचते हुए भी वर्तमान की परम्परा के अनुसार मौन रखना पड़ा। हां ! मेरी आज्ञानुसार इतना अवश्य रहा कि माधुरी ने सबके अत्यधिक आग्रह व प्यार में भी रंगीन साड़ी नहीं पहनी। बहुतों ने कहा कि 'कुमारिका हैं क्या होता है?" किन्तु माधुरी को स्वयं अरुचि होने से तथा मेरी आज्ञा न होने से वे श्वेत साड़ी में ही रहीं। लोगों ने बग्घी, कार आदि में शोभायात्रा निकाली हैं।

यहाँ हस्तिनापुर टाउन के निवासी अनन्तवीर जैन ने ११ जुलाई को भव्य स्वागत करके शोभायात्रा निकाली। १२ जून को खतौली आदि के अनेक भक्तों ने शोभायात्रा करके गोद भरी।

इधर कु. माधुरी ने १० अगस्त से गणधर वलय विधान व पंचपरमेष्ठी विधान सम्पन्न किया। इधर ब्र. सुभाष जैन बंडा से श्रावण शुक्ला १ से श्रावण शु. १५ तक सोलह दिन शांति विधान कराया गया है।

भोजन परित्याग व करपात्र में आहार का पूर्वाभ्यास —

११ अगस्त को भोजन के पश्चात् मैंने कु. माधुरी को थाली आदि बर्तनों में भोजन करने का शास्त्रोक्त विधि पूर्वक त्याग कराया। १२ अगस्त को हम सभी साधुओं को आहार दान देने के पश्चात् कु. माधुरी को पूर्वाभ्यास के रूप में करपात्र में आहार कराया गया। उस दिन आहार देने और देखने वालों की बहुत भीड़ थी। ब्र. रवीन्द्र कुमार ने स्वयं व्यवस्थित ढंग से आहार कराया। उसके पश्चात् सभी भाई-बहनों ने अश्रुपूरित नेत्रों से गोद भरी।

अनन्तर जब रवीन्द्र कुमार भोजन के लिए बैठे, तो उनके अश्रुओं की कुछ सीमा ही न रही। वे सिसक-सिसक कर खूब रोये, मानो अपनी बहन को ससुराल भेज रहे हों। वे कह रहे थे—अब मैं अकेला बैठकर भोजन कैसे करूँ? जैसे-तैसे सभी बहनों ने समझा-बुझाकर उन्हें थोड़ा-सा भोजन कराया। इस दीक्षा के प्रसंग में रवीन्द्र कुमार कई बार भावविह्वल होकर रो पड़ते थे, तब मैं उन्हें यही समझाती थी कि दीक्षा तो तुम्हें भी एक दिन धारण करनी ही है, संसार में न जाने कितने भाई-बहन बनाए छोड़े गये हैं? तुम घर का त्याग कर संघ में रह रहे हो, भला तुम्हें इतना रोना कैसे शोभेगा? तुम्हें तो घर में रहने वाले मोही भाई-बहनों को रोने से मना करके धैर्य बंधाना चाहिए.....।

दीक्षा से पूर्व शोभायात्रा —

१३ अगस्त १९८९, श्रावण शुक्ला ११, रविवार को प्रातः १० बजे से जंबूद्वीप स्थल से कु. माधुरी की गोद भर कर विशाल रूप में शोभायात्रा निकाली गई। यहाँ से दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर जाकर, वापस आकर, जंबूद्वीप स्थल पर बने विशाल पांडाल में सभा रूप में परिवर्तित हो गई। सबसे अधिक विशेषता यह रही कि रात्रि ३ बजे से मेघकुमार वृष्टि कर रहे थे। प्रातः १० बजे तक खूब बरसते रहे हैं, बाद में कार्यक्रम को सफल संपन्न करने के लिए ही मानों वे शांत हो गये—वर्षा रुक गई थी, जो कि पुनः दिनभर नहीं हुई।

लम्बे-लम्बे केशों का लोंच —

सर्वप्रथम मैंने विशाल सभा में बने मंच पर मंगल भक्तिपाठपूर्वक १२.१५ बजे कु. माधुरी के सिर के लम्बे-लम्बे केशों का लोच करना प्रारंभ कर दिया। मंच पर कु. माधुरी के परिवार के ७०-८० लोग, भाई-बहन, उनके पुत्र-पुत्री आदि बैठे हुए थे। मैंने पहले ही इन सबसे कह दिया था कि "जो कोई भाई-बहन या बालक-बालिकाएँ सभा में रोयेंगे, हम उसे वहाँ से हटा देंगे, सभा में नहीं बैठने देंगे" अतः मेरी आज्ञानुसार ये सभी लोग धैर्यपूर्वक वहाँ केशलोंच देख रहे थे। कोई-कोई रोते भी तो पीछे ही पीछे आंसू पोंछ लेते थे। परिवारजनों की ममता तो जो थी, सो थी अन्य श्रावकों-श्राविकाओं का रोना देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा था। निर्मल कुमार सेठी की माँ बहुत ही रो रही थीं, तो उधर सनावद के इन्दरचन्द चौधरी के अश्रु ही नहीं बंद हो रहे थे।

मैं, आर्यिका अभयमती और शिवमती भी केशलोंच कर रहे थे, कभी-कभी स्वयं माधुरी भी अपने हाथों से अपने लम्बे-लम्बे केश उखाड़कर अपने वैराग्य भाव का , शरीर से निर्ममता का परिचय दे रही थी।

राखी बांधना —

केशलोंच के बाद माधुरी के भाई-भतीजे राखी लेकर खड़े हो गये, माधुरी ने उनकी कलाई में भाई-बहन के प्यार की राखी बाँधी। पं. विमल कुमार सोंरया ने मंगलाचरण करके माधुरी की प्रशंसा की पुनः डा. श्रेयांस कुमार ने अपने वक्तव्य में माधुरी के चार भाई एवं आठ बहनों का परिचय दिया।

जिनेन्द्रदेव का अभिषेक-

केशलोंच का कार्यक्रम २.१५ बजे लगभग पूर्ण हो गया। तब चंदारानी, ज्ञानादेवी, सुषमा, श्रीमती आदि सौभाग्यवती महिलाओं ने माधुरी को मंगल स्नान कराकर दीक्षा के समय की आठ गज की साड़ी पहनाई पुनः माधुरी ने मंच पर आकर सिंहासन पर विराजमान श्री जिनेन्द्रदेव का पंचामृत अभिषेक किया।

माधुरी द्वारा दीक्षा हेतु प्रार्थना —

हम सभी को गंधोदक देकर कु. माधुरी ने सभा में खड़े होकर मंगलाचरण करके अपने परिवार के भाई-बहन आदि से दीक्षा की स्वीकृति मांगते हुए सबसे क्षमायाचना की और सबके प्रति क्षमाभाव व्यक्त किये पुनः मुझसे प्रार्थना की—

"हे माताजी! चतुर्गति के दुःखों से छुटकारा पाने हेतु आप मुझे जैनेश्वरी—आर्यिका दीक्षा देकर मेरे जीवन को सफल कीजिये" पुनः माधुरी के बड़े भ्राता कैलाशचंद जी ने खड़े होकर अपने सभी परिवार की ओर से माधुरी से क्षमा मांगी और दीक्षा की अनुमोदना की। श्री इन्दरचंद चौधरी, श्री निर्मल कुमार सेठी आदि ने भी खड़े होकर माधुरी के वैराग्य की प्रशंसा की।

दीक्षा के संस्कार —

मैंने कु. माधुरी की प्रार्थना सुनकर सबसे पहले उनके परिवारजनों से पूछा—

"कु. माधुरी आर्यिका दीक्षा माँग रही है, देऊँ क्या? आप सभी की स्वीकृति है क्या?"

तब सभी पारिवारिक जनों ने अश्रुपूरित नेत्रों से स्वीकृति दी पुनः मैंने पांडाल में उपस्थित समस्त दिगम्बर जैन समाज से पूछा—

"कु. माधुरी का आप लोगों को लगभग सन् १९७१ से १८ वर्षों से परिचय है। ये आज आर्यिका दीक्षा लेने के लिए आई हैं। यह दीक्षा खांडे की धार के समान अत्यन्त कठोर है, मैं दीक्षा देऊँ क्या?" इतना सुनकर सारी जैन समाज ने मुक्त कंठ से जय जयकारा बोलते हुए तालियों की गड़गड़ाहट से स्वीकृति दी और बोले भी—

"इन्हें दीक्षा दीजिये, हम सभी की स्वीकृति है.....।"

तब मैंने कु. माधुरी से यह संकल्प कराया कि—

"तुम्हें चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज (दक्षिण) व उनके पट्टाधीश मेरे दीक्षा गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज, उनकी शिष्या मुझ गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माताजी की परम्परा के अनुसार चलना होगा। लोकानुरंजन व ख्याति, लाभ, पूजा आदि के लिए भी गुरु परम्परा का उल्लंघन नहीं करना होगा।"

माधुरी ने कहा—"हे माताजी! मुझे आपकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार है।" इस लोकोपचार के बाद मैंने तीन बजे के समय माधुरी को सौभाग्यवती महिलाओं द्वारा पूरे गये मंगलचौक पर बिठाया और मैंने दीक्षा की क्रिया प्रारंभ कर दी।

इसी मध्य पं. सुधर्मचंद एवं रवीन्द्र कुमार ने दीक्षार्थी के लिए पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र दान देने के लिए बोलियाँ शुरू कीं। पिच्छी प्रदान करने की बोली इन्दरचन्द कैलाशचंद जैन चौधरी, सनावद वालों ने ली।

कमंडलु की बोली कमल चंद जैन खारीबावली दिल्ली वालों ने ली। शास्त्रदान की बोली पूनमचंद गजराज गंगवाल झरिया वालों ने ली। दीक्षा के बाद आरती के लिए बोली दिलीप चंद सुरेशचंद कोटड़िया ने ली एवं केशों के विसर्जन की बोली बंबई के ज्ञानचंद मुन्नालाल जैन ने ली। बोली लेने वाले श्रावकों ने पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र मुझे दिये।

पुनः मैंने माधुरी के मस्तक पर आर्यिका दीक्षा के संस्कार करके मंत्र बोलते हुए नवदीक्षिता को पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र यह संयम का उपकरण, शौच उपकरण और ज्ञान का उपकरण प्रदान किया पुनः 'चंदनामती' नामकरण करके सभा में घोषित कर दिया। तब समस्त जैन समाज ने उच्च स्वर से तीन बार 'आर्यिका चंदनामती' की जय बोलते हुए सारे जंबूद्वीप स्थल को गुंजा दिया। अनन्तर आरती की बोली लेने वालों ने नवदीक्षिता आर्यिका चंदनामती की आरती उतारी।

दीक्षार्थी को व्रत देते समय उनकी अंगुली में पीले चावल भरकर उस पर हल्दी, सुपाड़ी, लौंग, श्रीफल रख देते हैं पुनः जब गुरु अट्ठाईस मूलगुण दे देते हैं, तब उस हाथ के श्रीफल आदि को प्रमुख दीक्षादायक—दीक्षा दिलाने वाले दंपती के अंचल में दिला दिया जाता है। वर्तमान में उन्हें दीक्षार्थी के माता-पिता के नाम से सम्बोधित किया जाता है। कु. माधुरी की दीक्षा में यह मंगल वस्तु प्राप्त करके माता-पिता बनने का सौभाग्य उन्हीं के बड़े भाई कैलाशचंद व चन्दारानी ने प्राप्त किया था।

इस अवसर पर आर्यिका अभयमती जी (कु. माधुरी की बड़ी बहन) ने मंगल प्रवचन में अपना आशीर्वाद प्रदान किया। अन्य वक्ताओं ने भी अपने-अपने उद्गार व्यक्त किये। सनावद के श्रीमान इन्दरचंद चौधरी ने रुंधे कंठ से अपने वक्तव्य में कहा—"आज बहन माधुरीजी दीक्षा लेकर चंदनामती बन गईं हैं। वे हम सभी के द्वारा पूज्य हो गई हैं, इनके आदेशों पर आर्ष परम्परा की रक्षा के लिए हम सब कृतसंकल्प रहेंगे तथा धर्म की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने खून का कतरा-कतरा देने को भी तैयार रहेंगे।"

उनके इन वचनों को सभा में करतल ध्वनि से समर्थन मिला था।

जनता की उमंग —

ब्र. रवीन्द्र कुमार ने लगभग ३००० दर्शनार्थियों के लिए पांडाल बनवाया था किन्तु जनता लगभग १५-२० हजार थी। जंबूद्वीप स्थल पर चारों तरफ भीड़ ही भीड़ नजर आ रही थी। लोगों के मुख से यही निकला था कि-पांडाल छोटा पड़ गया। सबसे अच्छा तो यह रहा कि मेघराज रात्रि तीन बजे से बरस रहे थे, दिन में भी १० बजे तक बरसते रहे थे। पुनः शोभायात्रा से लेकर दीक्षा का कार्यक्रम सम्पन्न होने तक वे शांतमुद्रा से मानो कार्यक्रम ही देख रहे थे—पुनः वर्षा नहीं हुई, इस विषय को तमाम भक्त लोगों ने चमत्कार ही माना था। इस दिन प्रीतिभोज का आयोजन सेठ श्रीनिवास, कंवरीलाल बड़जात्या मद्रास वालों ने किया था।

१४ अगस्त को कार्यक्रम —

दीक्षा के अगले दिन १४ अगस्त, श्रावण शु. १२ को प्रातः त्रिमूर्ति मंदिर में एक सभा का आयोजन किया गया। आगंतुक मेहमान तथा कुछ यात्रीगण भी थे। लोगों ने सभा में आर्यिका चंदनामती के उपदेश की मांग, की तब मैंने हंसकर कहा—"भाई! कल का उपवास था, आज रोटी खिलाये बगैर भूखे पेट ही चंदनामती से आप उपदेश चाहते हैं, देखो न! श्रावक कितने स्वार्थी होते हैं.....।" सब हंस पड़े। फिर भी उन सबकी अपेक्षा देखकर मैंने चंदनामती को आज्ञा दी, वे १०-१५ मिनट तक बोलीं, भक्तलोग बहुत ही प्रसन्न हो गये।

रवीन्द्र कुमार ने पं. जमुनाप्रसाद जी, कटनी, पं. बाबूलाल जैन, महमूदाबाद, श्रीमान साहेबलाल जैन, टिकैतनगर का पुष्पमाला से स्वागत किया। मैंने अपने प्रवचन में उपस्थित श्रावकों को आर्ष परम्परा की रक्षा एवं सज्जाति की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प रहने का आदेश दिया। सभी ने इसे शिरोधार्य करते हुए शुभ भावना

व्यक्त की। कई लोगों ने यह नियम लिया कि "शास्त्र की गद्दी पर मुनि निंदा नहीं होने देंगे इत्यादि.....।"

इसी बीच में मेरे द्वारा लिखित छपकर आये हुए "ज्ञानामृत' ग्रंथ का श्री विमलचंद जैन, सनावद ने विमोचन किया। यह ग्रंथ सभी के स्वाध्यायोपयोगी है, इसमें 'समयसार का सार' आदि अनेक विषयों का अच्छा संकलन है।

आहारचर्या —

१० बजे के समय मैं आहार के लिए निकली, वृत्ति-परिसंख्यान लेने से कैलाशचंद, प्रकाशचंद, सुभाषचंद जैन टिकैतनगर वालों के चौके में नियम मिल जाने से मेरा पड़गाहन हो गया। साथ ही नवदीक्षिता चंदनामती माताजी का भी मेरे साथ ही पड़गाहन हो गया था। तमाम भक्तों ने नवदीक्षिता को आहार देकर अपना जीवन धन्य माना। क्षुल्लक मोतीसागर जी व ब्र. रवीन्द्र कुमार ने आहार के समय अच्छी व्यवस्था बनाई। सभी साधु-साध्वियों के निरंतराय आहार होने से सबको प्रसन्नता रही। कुल मिलाकर पूरा समारोह आशातीत सफलता के साथ सम्पन्न हुआ।

मेरा अनुभव —

परिवार के लोगों के सिवाय अन्य श्रावकों ने, निर्मलकुमार जी सेठी की माँ ने बार-बार यही कहा— "माताजी! माधुरी बहुत कमजोर है, यह ऐसी कठोर चर्या कैसे झेलेंगी?....."

मैंने कहा—"शारीरिक बल की अपेक्षा भी मनोबल विशेष ही महत्व रखता है। देखो न! जब मैंने सन् १९५५ में घर छोड़ा था, तब मेरा शरीर ऐसा था कि २-४ मील चलने से ही बुखार आ जाता था और एक दिन अन्तराय हो जाने से दूसरे दिन आँख खोलकर बैठना, खड़े होना कठिन हो जाता था लेकिन मनोबल अच्छा था। यही कारण है कि आज तक मैंने इस जीर्ण-शीर्ण-कमजोर शरीर से भी दशों हजार किलोमीटर की पदयात्रा करके श्री सम्मेदशिखर, श्रवण-बेलगोल, माँगीतुंगी, सिद्धवरकूट आदि तीर्थ यात्राएँ की हैं। शिष्य-शिष्याओं को अध्ययन आदि कराकर, लगभग २४ वर्षों से लगातार लेखन कार्य करते हुए लगभग डेढ़ सौ ग्रंथ छोटे-छोटे अनुवादित किये व लिखे हैं। यह सब कार्य मुख्य रूप से मनोबल से ही संभव हुआ है। शरीर तो हमेशा विश्राम ही चाहता है, हाँ! जब वह बिल्कुल काम करने को तैयार नहीं होता है, तब चुपचाप णमोकार का स्मरण करते हुए सो जाती हूँ।

मेरा अनुभव है कि कु. माधुरी का भी मनोबल अच्छा है अतः उन्होंने शरीर की कमजोरी को नगण्य समझकर यह कठोर चर्या ग्रहण की है.....। भाई! मैंने जबरदस्ती यह दीक्षा नहीं दी है प्रत्युत् इनके विशेष आग्रह से ही दीक्षा का निर्णय लिया गया था। अब तो इनके लिए मेरा यही मंगल आशीर्वाद है कि—

इनका मनोबल दिन दूना-रात चौगुना वृद्धिंगत होता रहे और अपनी चर्या में, संयम साधना में यह अपने जीवन को धन्य मानते हुए अपने कृतसंकल्प में दृढ़ बनी रहें। आप लोग भी इनके प्रति यह भावना भायें कि इनका संयम निराबाध पलता रहे इत्यादि।"

मैं देख रही हूँ आज भी चंदनामती प्रसन्न हैं, दीक्षा लेकर अपने जीवन को सफल अनुभव कर रही हैं। कई बार इनके मुख से यह निकल जाता है—"अहो! यदि मैंने आर्यिका रत्नमती माताजी के सामने दीक्षा ले ली होती, तो उन्हें कितनी प्रसन्नता हुई होती?...."

संक्षिप्त जीवन परिचय —

अवध प्रांत के बाराबंकी जिले में टिकैतनगर गाँव है। वहाँ के श्रेष्ठी लाला छोटेलाल के घर में माता मोहिनी जी ने सन् १९५८ में ज्येष्ठ कृ. अमावस्या के दिन एक कन्या को जन्म दिया। इसका नाम माधुरी रखा गया। यह मोहिनी जी की तेरह संतानों में से बारहवीं थी। सन् १९६९ में यह बालिका अपने भाई प्रकाशचंद

के साथ जयपुर में आचार्य धर्मसागर के संघ में रहते हुए मेरे दर्शनार्थ आई। तब मैंने इसे गोम्मटसार जीवकांड की ३८ गाथाएँ याद कराई थीं, और इसे अपने पास में रहने के लिए बहुत समझाया किन्तु ११ वर्षीया यह बालिका उस समय न रुक सकी, भाई के साथ घर चली गइ। पुनः सन् १९७१ में अजमेर के चातुर्मास में अपनी माँ के साथ आई, तब मैंने इसकी भावना के अनुसार जिनमंदिर में ले जाकर सुगंध दशमी के दिन इसे आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत दे दिया। बाद में नवम्बर में माँ मोहिनी की आर्यिका दीक्षा के समय उन्हें यह बात बतला दी थी। परिवार के मोह, ममता से टक्कर लेते हुए इस बालिका ने दो प्रतिमा के व्रत लेकर सप्तम प्रतिमा के व्रत लिए, पुनः सन् १९८७ में गृह का त्याग कर दिया। अब १३ अगस्त १९८९ के दिन आर्यिका दीक्षा लेकर 'चंदनामती' बन गई हैं। इन्होंने मेरे पास ही व्याकरण, न्याय, धर्म, सिद्धान्त, कोष, अलंकार आदि पढ़कर 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि प्राप्त की थी। ये सदा ज्ञानाराधना में मग्न रहते हुए मेरे गुरु की परम्परा को अक्षुण्ण बनावें, यही मेरा हार्दिक शुभाशीर्वाद है।

व्रत प्रतिमा ग्रहण —

कु. माधुरी की दीक्षा के दिन श्री शिखरचंद जैन और उनकी धर्मपत्नी शकुन्तला ने मुझे दो प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये थे। ये सात्विक दम्पति यहाँ के हर एक धर्मकार्य में रुचि से भाग लेते रहते हैं और महिने में १-२ बार आकर आहारदान देते रहते हैं।

कार्तिक कृ. एकम् को मेरी जन्मजयंती के उपलक्ष्य में शिखरचंद व उनकी पत्नी शकुन्तला ने मुझसे सप्तम प्रतिमा के व्रत लिये।

अगले चातुर्मास के लिए प्रार्थना —

आगे सन् १९९० के मेरे चातुर्मास के लिए टिकैतनगर, सनावद, दिल्ली, बड़ौत, हापुड़ व मेरठ आदि के श्रावकों ने अभी से श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की। इन लोगों में से प्रत्येक गाँव के लोगों का अभिप्राय यही था कि नवदीक्षिता आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी का पहला चातुर्मास हमारे यहाँ होवे। इससे पूर्व इनकी दीक्षा का निर्णय होते ही पहले बड़ौत वालों ने आकर मेरे पास श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना की थी कि "माताजी! कु. माधुरी की दीक्षा के बाद इनके सहित आपका अगला चातुर्मास बड़ौत में ही होना चाहिए।

तब मैंने हँसकर कहा था—"अभी यह चातुर्मास तो पूरा होने दो, अभी तो यहाँ यह सन् १९८९ का चातुर्मास प्रारंभ ही हुआ है, आगे के लिए एक वर्ष बाकी है।"

टिकैतनगर, सनावद तथा दिल्ली वालों का तो यही कहना था कि—

"जो भी हो, अगर आप १-१, २-२ किलोमीटर भी चलेंगी, तो भी हम लोग साथ में रहेंगे और आपको संघ सहित ले चलेंगे.....इत्यादि।"

मैं समझती हूँ, यह इन श्रावकों की गुरुभक्ति ही थी तथा कु. माधुरी के पुण्य का भी प्रतीक थी।

अद्भुत स्वप्न —

माधुरी की दीक्षा के तीन दिन पूर्व मोक्ष सप्तमी—श्रावण शुक्ला सप्तमी की पिछली रात्रि में—श्रावण शु. अष्टमी के प्रभात के पूर्व मैंने एक स्वप्न देखा कि "विदेह क्षेत्र से श्रीगणधर देव या चारणऋद्धि महामुनि आकाशमार्ग से यहाँ आये हैं, उनके साथ आचार्य धर्मसागर जी महाराज भी हैं। इन्होंने उच्चासन पर विराजे हुए मुझसे दीक्षा की सारी विधि सम्पन्न कराई है पुनः ये जाने लगे, तब मैंने उनके चरण पकड़कर आग्रह किया—

भगवन्! अब यहीं भरतक्षेत्र में विराजिये, किन्तु वे जाने ही लगे, तब मैंने निवेदन किया—भगवन्! यह महाग्रंथ आप मुझे दे दीजिये.....। उन्होंने वह ग्रंथ मुझे दे दिया है, तभी मैंने रवीन्द्र कुमार से कहकर एक डेढ़ फुट का बड़ा सा सिंहासन मंगवाकर उसमें ग्रंथराज को विराजमान करा दिया और मैं बोली कि—"अब मैं

प्रतिदिन इस ग्रंथ की पूजा कराऊँगी...इत्यादि।"

प्रातः ४.३० (साढ़े चार) बजे जब आँख खुली स्वप्न ज्यों की त्यों याद था। मैंने आवश्यक क्रियाओं के बाद कु. माधुरी को यह स्वप्न सुनाया, वह बहुत प्रसन्न हुई, बोली—कुछ भी हो माताजी! यह स्वप्न आप डायरी में जरूर लिखो! मैंने लिख लिया था।

आज मेरी स्मृतियाँ लिखते समय आर्यिका चंदनामती ने अतीव आग्रह से मेरे द्वारा यह स्वप्न का विषय लिखाया है।

आर्यिका द्वारा आर्यिका दीक्षा —

सन् १९५७ में खानिया (जयपुर) में आचार्यश्री महावीर कीर्ति जी के सामने एक बार यह चर्चा आई कि "आर्यिकाओं द्वारा आर्यिका दीक्षा की परम्परा चलनी चाहिए।" चर्चा में प्रमुख थे, ब्र. चांदमल जी नागौर वाले। उस समय हम लोगों ने प्रथमानुयोग के ग्रंथों का इसी दृष्टि से अवलोकन किया। तब पढ़ने में यही आया कि 'ब्राह्मी-सुन्दरी', चन्दना आदि प्रमुख आर्यिकाओं ने तो समवसरण में दीक्षा ली है। बाद में अन्य महिलाओं ने उन गणिनी आर्यिका से ही दीक्षा ली है।

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् ।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः[१]।।१७५।।

भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिकाओं के बीच में गणिनी—स्वामिनी के पद को प्राप्त हुई थी। वह आर्यिका ब्राह्मी सर्व देवों के द्वारा पूजित हुई थी।

"भगवान ऋषभदेव के समवसरण में श्री जयकुमार के दीक्षित हो जाने पर सुलोचना ने भी गणिनी ब्राह्मी आर्यिका के पास आर्यिका दीक्षा ले ली।[२]"

पद्मपुराण में लिखा है—"भरत के मुनि बन जाने पर माता कैकेयी ने भी विरक्त होकर तीन सौ स्त्रियों के साथ 'पृथ्विीमती' आर्यिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा ले ली[३]।"

"महासती सीता ने भी सर्वभूषण केवली के समसरण में जाकर पृथ्वीमती आर्यिका के पास में आर्यिका दीक्षा ले ली[४]।"

मैंने सन् १९६४ में आचार्यश्री शिवसागर जी से आज्ञा मँगाकर, कु. मनोवती को क्षुल्लिका दीक्षा दी थी।

आज प्रसन्नता की बात है कि गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती, गणिनी आर्यिका विजयमती, गणिनी आर्यिका विशुद्धमती आदि भी कई आर्यिकाएं, क्षुल्लिका, आर्यिकादि दीक्षाएँ दे चुकी हैं। अब तो यह आर्यिका द्वारा आर्यिका दीक्षा मार्ग प्रशस्त हो गया है। सो अच्छी बात है। आर्यिका से दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में माँ, बेटी जैसा अप्रतिम-सहज वात्सल्य बना रहता है। ऐसी अनुभव की बात है।

भाद्रपद में दशलक्षण पर्व —

मोदीनगर से सुशील कुमार जैन एवं उनकी पत्नी सुशीला जैन ने (मवाना वाले) यहाँ दशलक्षण पर्व में इन्द्रध्वज विधान कराया। मोदीनगर के सूरजभान जैन, दिल्ली के जयकुमार जैन, धर्मपत्नी सरला जैन, हापुड़ के शिखरचंद जैन, शकुन्तला जी आदि इस विधान में सम्मिलित हुए थे। प्रातः अभिषेक, पर्वपूजा के बाद विधान पूजा होती थी। मध्यान्ह में 'सरस्वती पूजा' 'तत्त्वार्थसूत्र पूजा', एक-एक अध्याय का अर्थ सहित वाचन व एक-एक धर्म पर प्रवचन करते थे। मैं भी अंत में थोड़ा सा धर्म पर विवेचन करके एक-एक धर्म के मंत्र बुलवाती थी। रात्रि में कु. आस्था, कु. बीना, रमेशचंद आदि एक-एक धर्म पर प्रवचन करते थे। शकुन्तला जी ने बादाम का पानी लेकर दस दिन के व्रत किये थे। फिर भी ये उत्साह से पूजन में नृत्य आदि

---

१. आदिपुराण पर्व २४। २. आदिपुराण, पर्व४७। ३. पद्मपुराण, पर्व ८६। ४. पद्मपुराण, पर्व १०५।

किया करती थीं। यहाँ इन्द्रध्वज विधान के निमित्त से अच्छी प्रभावना होती रहती है।

शरद पूर्णिमा एवं क्षुल्लिका दीक्षा —

यद्यपि शरद पूर्णिमा (आसोज शु. १५) , १४ अक्टूबर १९८९ को थी किन्तु दिल्ली के लोगों के आग्रहवश यह मेरा जन्मदिवस कार्यक्रम १५ अक्टूबर, कार्तिक कृ. १ रविवार के दिन मनाना निश्चित किया गया अतः १३, १४ और १५ अक्टूबर तक तीन दिन का कार्यक्रम बनाया गया।

इधर संघस्थ ब्र. श्यामाबाई ने ८ दिन पूर्व दीक्षा के लिए नारियल चढ़ाकर प्रार्थना की थी अतः १५ अक्टूबर को ही इन्हें क्षुल्लिका दीक्षा देने का भी निर्णय लिया गया। दिनाँक १३, १४ अक्टूबर को पंचपरमेष्ठी विधान एवं गणधरवलय विधान सम्पन्न हुए।

१५ अक्टूबर को प्रातः ७ बजे प्रतिवर्ष की तरह मेले के उपलक्ष्य में रथयात्रा निकाली गई। इसी मध्य दीक्षार्थी ब्र. श्यामाबाई की शोभायात्रा भी हुई। टिकैतनगर से उनके पुत्र-पुत्रवधुएँ तथा बाराबंकी आदि से उनकी पुत्रियाँ, जमाई आदि परिवार के लोग आ गये थे। दिल्ली, बड़ौत, मेरठ, सरधना, हैदराबाद आदि से अनेक भक्तगण आ गये थे।

मध्यान्ह १२.३० (साढ़े बारह) बजे मैं संघसहित पांडाल में पहुँच गई।

इस समारोह के मुख्य अतिथि सांसद श्री रामचन्द्र विकल एवं भूतपूर्व संसद सदस्य श्री रामगोपाल रेड्डी थे। सभा के अध्यक्ष श्री त्रिलोकचंद कोठारी, कोटा थे। मेरे ५६वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य में मुख्य अतिथियों के स्वागत आदि के पश्चात् भी रामचंद्र विकल ने ५६ विद्युत बल्बों को जलाया। आर्यिका अभयमती जी, आर्यिका चंदनामती, क्षुल्लक मोतीसागर ने मेरा परिचय देते हुए विनयांजलि अर्पित की। प्रतिष्ठाचार्य शिखरचंद, श्री निर्मलकुमार सेठी आदि ने विनयांजलि समर्पित की। पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र ये नूतन उपकरण मुझे प्रदान किए गये। श्रीरामचन्द्र विकल ने भी जैन साध्वी की चर्या को समझकर अपने भक्ति के उद्गार व्यक्त किये तथा श्री रामगोपाल रेड्डी ने भी अपना संक्षिप्त भाषण प्रस्तुत किया।

इसके बाद दीक्षा का कार्यक्रम शुरू हुआ। ब्र. श्यामाबाई का केशलोंच पहले ही रत्नत्रय निलय में कर दिया गया था। मंगल स्नान के बाद मंच पर विराजमान जिनेन्द्रदेव का इन्होंने अभिषेक किया अनन्तर दीक्षा के लिए प्रार्थना की। तब अपने परिवारजनों से क्षमा याचना करके स्वीकृति ली। मैंने भी उनके परिवारजन व जैन समाज से स्वीकृति लेकर इन्हें सौभाग्यवती महिलाओं द्वारा पूरे गये मंगल चौक पर बिठाया एवं इनके मस्तक पर दीक्षा के संस्कार शुरू किये। इसी बीच आदिकुमार जैन, गणेशपुर, अनन्तवीर जैन हस्तिनापुर और लवप्रकाश जैन, बाराबंकी वालों ने दीक्षार्थी को देने के लिए जो पिच्छी, कमंडलु व शास्त्र की बोली ली थी, उन्होंने मुझे वे उपकरण दे दिये। मैंने मंत्रोच्चारण पूर्वक दीक्षा के मध्य इन्हें ये संयम, शौच, ज्ञान के उपकरण प्रदान करके इनका नाम क्षुल्लिका 'श्रद्धामती' रखा।

बात यह है कि सर्वप्रथम दीक्षा के समय पिच्छी, कमण्डलु व शास्त्र दीक्षागुरु ही शिष्य को देते हैं। आगे पिच्छी बदलाने के समय बोली लेने वाले श्रावक भी अपने हाथ से पिच्छी आदि दे देते हैं। चूँकि उनके पास पहले से तो पिच्छी आदि उपकरण है ही हैं अतः श्रावक नई पिच्छी देकर पुरानी ले लेते हैं किन्तु दीक्षा के समय तो मस्तक पर संस्कार और पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र का दान श्रावक नहीं कर सकते हैं, यह गुरु का ही काम है।

बाद में मैंने सभी को मंगल आशीर्वाद प्रदान किया। इसके बाद सभा का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस दिन आगत समाज के लिए मांगीलाल पहाड़े, हैदराबाद वालों ने प्रीतिभोज का आयोजन किया था। ये मांगीलाल जी पहाड़े, जब से मेरा सन् १९६४ में हैदराबाद चातुर्मास हुआ था, तभी से अनन्य भक्त हैं। हमेशा हर कार्यक्रमों में रुचिपूर्वक तन, मन, धन से भाग लेते रहते हैं।

ब्र. श्यामाबाई —

ये ब्र. श्यामाबाई सन् १९८५ से मेरे संघ में रह रही हैं। ये आरा के श्री राजेन्द्रचंद और उनकी पत्नी चन्दा की सुपुत्री थीं और टिकैतनगर के सेठ पुत्तीलाल के पुत्र नन्हूमल जैन से ब्याही गई थीं। इन्होंने गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए तीन पुत्र, तीन पुत्रियों को जन्म देकर उनके ब्याह आदि से निवृत्त होकर, दीक्षा लेकर अपने मनुष्य जीवन को सफल किया है।

गुरुदेव की शिक्षा —

गुरुदेव आचार्य वीरसागर जी महाराज कहा करते थे कि कोई भी शिष्य दीक्षा लेना चाहे, तो कम से कम छह महीने उसे संघ में रखकर, उसके स्वभाव आदि का अवश्य अनुभव कर लो, तब दीक्षा देवो। शिष्य-संग्रह में जल्दी नहीं करनी चाहिए.....।" गुरुदेव की यह दीर्घदर्शिता अच्छी ही थी। यही कारण था कि उनके शिष्य-शिष्याएँ संघ से निकलकर गये हों, ऐसे उदाहरण कम थे और संघ से जाकर गुरु की निन्दा, अवहेलना आदि करें, ऐसे उदाहरण तो एक भी नहीं हुए हैं।"

मैंने भी गुरुदेव की शिक्षा को अपने हृदय पटल पर अंकित कर लिया था। जिन्हें भी घर से निकालकर दीक्षा दिलाई है, उन्हें कम से कम छह महीने अपने पास में अवश्य रखा है। कई एक शिष्याएँ ऐसी आईं, उन्होंने कहा—"माताजी! आप हमें दीक्षा दे दीजिए, तभी हम संघ में रहेंगे, नहीं तो नहीं.....। मैंने उपर्युक्त प्रकार की गुरुदेव की आज्ञा के बिना उन्हें दीक्षा की स्वीकृति नहीं दी थी।

ये ब्र. श्यामाबाई तो मेरे संघ में पाँच वर्ष से रह रही थीं। इनके स्वभाव को व प्रकृति को मैं अच्छी तरह समझ चुकी थी और ये भी संघ के अनुशासन आदि से परिचित हो चुकी थीं अतः लगभग ६३ वर्ष की उम्र होते हुए भी इनका वैराग्य, धर्मप्रेम व सरलता आदि को देखकर इन्हें क्षुल्लिका दीक्षा दे दी है।

प्रतिष्ठाचार्यों की संगोष्ठी —

मेरी प्रेरणा से यहाँ त्रिदिवसीय प्रतिष्ठाचार्यों की संगोष्ठी रखी गई। १५ अक्टूबर १९८९ को श्री निर्मलकुमार सेठी ने दीप प्रज्वलित कर इसका उद्घाटन किया। गोष्ठी में प्रतिष्ठाचार्य पं. फतहसागर जी उदयपुर, पं. श्री शिखरचंद जैन भिंड, पं. हंसमुखजी डागरिया, धरियावद पं. अमरचंद जी शाहपुर, पं. प्रदीपकुमार कुसुम्बा महाराष्ट्र आदि ने भाग लिया।

प्रतिदिन प्रातः व मध्यान्ह २-२ घण्टे से अधिक समय तक चर्चाएँ चलती थीं। इस गोष्ठी में आर्यिका चंदनामती, क्षुल्लक मोतीसागर, ब्र. रवीन्द्र कुमार, ब्र. कमलेश कुमार भी उपस्थित रहते थे।

मेरा खासकर यह कहना रहा कि—"पाषाण को भगवान बनाने के लिए प्रतिष्ठाचार्यों की बहुत बड़ी जिम्मेदारी रहती है अतः प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित जितने भी प्रतिष्ठा पाठ हैं, उनमें से ही किसी एक को लेकर प्रतिष्ठा विधि करानी चाहिए। पं. हंसमुख ने अपनी सूची दिखाई, जिससे ज्ञात हुआ कि चौबीस प्रतिष्ठा पाठ ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, जिनमें कई एक प्रकाशित भी हैं। मैंने बार-बार यही कहा कि "आज जो चर्चा सुनने में आ रही है कि अनेक प्रतिष्ठापाठों के आधार से एक नया प्रतिष्ठापाठ तैयार किया जाये, उसके आधार से प्रतिष्ठा कराई जाये, सो मुझे नहीं जंचता है क्योंकि संकलन में हो सकता है कि कोई खास मंत्र छूट भी जाये....। दूसरी बात यह है कि किन्हीं भी प्रतिष्ठापाठ के रचयिता ने अधूरा प्रतिष्ठापाठ बनाया हो, ऐसा हम कैसे कह सकते हैं? 'नेमिचंद्र प्रतिष्ठातिलक' ग्रंथ अपने आप में सर्वांगीण है—पूर्ण है, उन्हीं ग्रंथों को पढ़कर, पढ़ाकर प्रतिष्ठाचार्य तैयार होना चाहिए।

यह मेरा कथन उपस्थित सभी विद्वानों को जंचा और सभी ने यह निर्णय लिया कि 'नया प्रतिष्ठापाठ ग्रंथ' न बनाया जावे और प्राचीन ग्रंथों के आधार से ही विधि सम्पन्न की जावे। उस समय इन उपस्थित

विद्वानों में शांतिपूर्ण चर्चा होकर निम्नलिखित सात निर्णय एकमत से लिये गये थे—

१. प्रतिष्ठाचार्य को संस्कृत, व्याकरण, सिद्धान्त, शिल्प एवं ज्योतिष का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

२. प्राचीन आचार्यों के द्वारा रचित प्रतिष्ठा पाठों के आधार पर क्रियाकांड की विधि कराना चाहिए। किसी भी नवीन प्रतिष्ठा पाठ के संकलन प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है।

३. वर्तमान में समाज में तेरहपंथ व बीसपंथ के रूप में दो धाराएँ प्रचलित हैं। उनको ध्यान में रखते हुए विधि-विधान के कार्यक्रम को सम्पन्न कराया जाये किन्तु प्राचीन प्रतिष्ठा पाठों के आधार पर किसी भी विधि को अपूर्ण नहीं रखी जाये।

४. प्रतिष्ठा के लिए दो प्रतिष्ठाचार्य हों, तो अधिक श्रेष्ठ है। एक प्रतिष्ठाचार्य पंचकल्याणक की बहिरंग क्रियाओं को मंच पर सम्पन्न कराये तथा दूसरा प्रतिष्ठाचार्य अंतरंग की क्रियायें, मंत्रोच्चारण, यज्ञ, विधान, संस्कार विधि आदि सम्पन्न कराये, तो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा अच्छी होगी। इसके लिए दो-तीन सहायक पंडित भी रखे जावें।

५. वर्ष में एक बार भारत के सभी प्रतिष्ठाचार्यों का सम्मेलन हो, तो परस्पर में ज्ञान का आदान-प्रदान होगा और मैत्रीभाव बना रहेगा।

६. जाति-कुल की शुद्धि को ध्यान में रखते हुए प्रतिष्ठाचार्यों, माता-पिता एवं इंद्रों की नियुक्ति की जाये। अंतर्जातीय, विजातीय एवं विधवा विवाह के दोषों से मुक्त होना आवश्यक है।

७. प्रतिष्ठा एवं विधान आदि में दीप जलाना, अग्नि में धूप से हवन कराना आगमानुकूल ही होना चाहिए।

इसके बाद बहुत ही सौहार्दपूर्ण वातावरण में गोष्ठी का समापन हुआ।

जंबूद्वीप महामहोत्सव की घोषणा —

इसी बीच विद्वानों के द्वारा महामहोत्सव के लिए तिथियाँ निश्चित की गईं। वैशाख शु. ३ को झंडारोहण का कार्यक्रम तथा वैशाख शुक्ला ९ से १३, दिनाँक ३ मई से ७ मई १९९० तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का निर्णय हुआ पुनः ये तिथियाँ सम्यग्ज्ञान में प्रकाशित करा दी गईं।

वर्षायोग समापन —

कार्तिक कृ. अमावस्या के दिन प्रभात से पूर्व ही रात्रि में शास्त्र विधि के अनुसार वर्षायोग समापन की क्रिया सम्पन्न की। बाद में भगवान महावीर के मंदिर में निर्वाणलाडू चढ़ाया गया। सायंकाल में प्रतिवर्ष की तरह गणधर देव पूजा, केवलज्ञान महालक्ष्मी पूजा कराई गई। जंबूद्वीप में रहने वाले श्रावकों ने दीपकों को जलाकर जंबूद्वीप, सुमेरु पर्वत आदि को जगमगा दिया।

यद्यपि शास्त्र की आज्ञा है कि कार्तिक कृ. १४ की पिछली रात्रि में वर्षायोग समाप्त हो जाता है, फिर भी विहार करने की आज्ञा कार्तिक शु. ५ को ही है। इसी दृष्टि से मैंने हस्तिनापुर टाउन से कार्तिक शु. ५, दिनाँक ३ नवम्बर को विहार किया है।

£ ९७ ¤

मंगल विहार —

कई वर्षों से सरधना, बड़ौत आदि के श्रावक मेरे विहार के लिए बहुत ही आग्रह कर रहे थे। सन् १९८७ में गर्मी में एक बार मैंने बड़ौत समाज के आग्रह पर अर्ध स्वीकृति भी दे दी थी पुनः गर्मी की वजह से स्वास्थ्य अनुकूल न देखकर मैंने मना कर दिया था। तत्काल में १५ अक्टूबर ८९ के दिन मंच पर ही बड़ौत के भक्तगण श्रीफल चढ़ाकर प्रार्थना कर चुके थे और मैंने स्वीकृति भी दे दी थी। तदनुसार कार्तिक

शुक्ला १, वीर नि. सं. २५१६ दिनाँक ३० अक्टूबर १९८९ को लगभग ३ बजे मैंने संघ सहित यहाँ जंबूद्वीप से विहार कर दिया। उस दिन यहीं टाउन में श्री अनंतवीर जैन की कोठी पर चैत्यालय के दर्शन किये और वहीं ठहर गई। २ नवम्बर को इन्होंने मेरे सानिध्य में अपने यहाँ शांति विधान किया पुनः कार्तिक शु. ५, दिनाँक ३ नवम्बर को वहाँ से विहार कर मार्ग में लगभग ३ किलोमीटर दूर गणेशपुर में विश्राम किया। प्रातः वहाँ से विहार कर मवाना के पास ही गोशाला में चौके की व्यवस्था थी वहीं आहार कर करीब मध्यान्ह ४ बजे मवाना पहुँच गई। वहाँ पर मेरठ से विहार कर आचार्य कल्याणसागर जी मुनि पधार चुके थे। मंदिर जी में ही दोनों का मिलन हुआ। छोटी-मोटी सभा बन गई। आचार्य कल्याण सागर की प्रेरणा से मैंने कुछ प्रवचन किया पुनः कल्याणसागर जी महाराज ने भी अपने वक्तव्य में कहा—"मैं हस्तिनापुर माताजी से कुछ चर्चा करके कुछ ज्ञान ग्रहण करने के लिए जा रहा हूँ किन्तु माताजी तो बड़ौत के लिए जा रही हैं.....।"

मैंने महाराज जी से अलग से बैठकर कुछ सामयिक चर्चाएँ कीं। रात्रि मवाना ही विश्राम था। प्रातः श्री कल्याणसागर जी महाराज हस्तिनापुर की ओर विहार करने वाले थे। वे लगभग ७ बजे यहाँ धर्मशाला में स्वयं आ गये और मेरे से लगभग १ घंटे कुछ चर्चाएँ कीं। उस समय वहाँ क्षुल्लक मोतीसागर, आर्यिका चंदनामती भी उपस्थित रहीं। इस एकांत की चर्चा में मैंने मुनिश्री से यही निवेदन किया कि—

"आगम के अनुकूल चलते हुए आप णमोकार मंत्र का प्रचार-प्रसार करेंगे, तो हम सभी साधु-साध्वियों का पूरा-पूरा समर्थन आपको मिलेगा.....इत्यादि।"

६ नवम्बर को मध्यान्ह में विहार करके मैंने नई फैक्ट्री पर रात्रि में विश्राम किया। वहाँ से प्रातः विहार कर छोटे मवाना पहुँची, वहाँ आहार हुआ। इस प्रकार मैं एक-एक टाइम में ३, ३.५० या ४ किलोमीटर अर्थात् दिन में ७ या ८ किलोमीटर चलते हुए भगवानपुरा, लावड़, दौराला, बेगमाबाद होते हुए ११ नवम्बर को सायंकाल में सरधना गाँव के बाहर ही श्रेयांसकुमार की पावरलूम फैक्ट्री पर ठहर गई। प्रातः वहाँ से विहार कर कार्तिक शु. १४, दिनाँक १२ नवम्बर को सरधना शहर में मंगल प्रवेश हुआ। यहाँ के श्रावकों का अच्छा उत्साह था। जुलूस के साथ-साथ रास्ते में १०-१२ मकानों के सामने पाद प्रक्षालन एवं आरती करते हुए मंदिर जी पहुँच गये, वहाँ जुलूस सभा के रूप में परिवर्तित हो गया। क्षुल्लक मोतीसागर व आर्यिका चंदनामती ने समयोचित प्रवचन किये। मैंने भी अपने आशीर्वादात्मक प्रवचन में कहा कि—

"सरधना में मेरा आगमन उधार रूप था। एक बार मैं १९८३ में सरधना के लिए विहार कर मात्र ३.५० किलोमीटर गणेशपुर आई थी। वहाँ आर्यिका रत्नमती जी का स्वास्थ्य अत्यधिक बिगड़ जाने से उनकी विहार की स्थिति न देखकर, वापस हस्तिनापुर चली गई थी पुनः सन् १९८५ में उनकी समाधि के बाद गर्मी के दिनों में मैं स्वयं अस्वस्थ हो गई थी। यही कारण था कि विहार नहीं हो पाया था। अब मैं सरधना आकर यहाँ के समाज का आग्रह पूरा कर चुकी हूँ.....।"इत्यादि।

लश्कर गंज में कार्यक्रम —

स्व. कैलाशचंद जैन खद्दर वालों के सुपुत्र पवन कुमार विनोद कुमार जैन ने अपने स्कूल का वार्षिक उत्सव रखा था। उसमें नेहरू शताब्दी, आर्यिका संघ स्वागत आदि कार्यक्रम भी जोड़ दिये थे। उनके आग्रह से १४ नवम्बर को मैं ससंघ लश्करगंज पहुँची। मंदिर के दर्शन कर आहार के बाद स्कूल के कार्यक्रम में बैठी। अनंतर आशीर्वाद प्रवचन देकर उसी दिन वापस शहर में आ गई। कार्यक्रम में विनोद कुमार की सुपुत्री ने मेरे प्रति भक्ति-गीत प्रस्तुत करते हुए नृत्य करके सभा का अच्छा अनुरंजन किया था।

१५ नवम्बर, मगसिर वदी ३ को प्रातः से ही मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया। जुकाम के प्रकोप के साथ ही अतिसार शुरू हो गये। १६ तारीख को मेरठ से हकीम शेफुद्दीन को बुलाया गया। इन्होंने कहा—"माताजी का

स्वास्थ्य अब चलने लायक नहीं है। आप लोगों ने इन्हें चलाकर अन्याय किया है, अब लीवर पर सूजन आ गई है-इत्यादि।"

३-४ दिन अतिसार चलते रहे पुनः एक दिन वमन भी हो गया। संघ के सब लोग घबरा गये कि "कहीं पहले सन् १९८५ जैसी ही स्थिति न हो जावे" पुनः चंदनामती ने वही पुरानी औषधि-कासनी के बीज की ठंडाई आदि शुरू कर दी। ४-५ दिन में स्वास्थ्य में कुछ सुधार दिखा, तब बड़ौत वालों के आग्रह के अनुसार पुनः बड़ौत के लिए विहार करने का भाव बनाया गया।

बड़ौत में तीन लोक मंडल विधान मगसिर वदी १४, दिनाँक २७ नवम्बर को झंडारोहण होकर पौष वदी २, दिनाँक १४ दिसम्बर तक पूर्ण होना था। इसी विधान में पहुँचने हेतु बड़ौत के श्रावकों ने मेरा विहार कराया था। मार्ग में व्यवस्था संभालने हेतु राजकुमार व अनिल जैन थे। इन्होंने एक किलोमीटर भी अधिक चलने का आग्रह नहीं किया प्रत्युत् जितना-जितना चलना मेरे अनुकूल हुआ, उतने-उतने पर ही स्थान, कुएँ आदि का निरीक्षण करते रहे और धीरे-धीरे साथ चलते रहे।

ये बड़ौत के भक्तगण तो जब प्रार्थना करने आये थे, तब ऐसा बोले थे कि "माताजी! दो-दो किलोमीटर चलेंगी तो भी हम व्यवस्था बनायेंगे।" मैंने कहा था—चौके हेतु कुँआ की व्यवस्था कैसे होगी?" तब ये बोले थे कि "जहाँ आप ठहरेंगे, हम लोग वहीं कुँआ खोद देंगे।" तब हम सभी हंस पड़े थे। मार्ग में इन लोगों की व्यवस्था संतोषप्रद रही थी, फिर भी मेरा शरीर अब काम नहीं कर रहा था। यहाँ प्रतिदिन आर्यिका चंदनामती, क्षुल्लक मोतीसागर के उपदेश हो रहे थे, मैं भी कभी-कभी प्रवचन करती थी।

मैं यहाँ सरधना में शरीर की इस स्थिति को देखकर सोचने लगी—गिरनार की यात्रा में संघ के साथ मैं प्रतिदिन प्रायः १५-१७ मील अर्थात् २४-२५ किलोमीटर चलती थी। सन् १९६२-६३ में सम्मेदशिखर की यात्रा के समय भी प्रायः २०-२५ किलोमीटर सहज ही हो जाता था और सन् १९६३ के शिखरजी से कलकत्ता विहार के समय तो ३२-३२ किलोमीटर चली हूँ। आज शरीर की कमजोरी से ४-५ मील (७-८ किलोमीटर) में ही अस्वस्थ हो गई।

वास्तव में अस्वस्थता से, उम्र से, मौसम से और प्रान्त से बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। आज भी बम्बई, महाराष्ट्र व कर्नाटक में मौसम इतना ठंडा नहीं है। जब वर्तमान में अपने ही जीवन में कहाँ ३२ किलोमीटर की चलाई और कहाँ ८ किलोमीटर में ही अस्वस्थता? कहाँ इतनी ठंडी और कहाँ अन्य प्रांत में आज भी गर्मी? इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि—"चतुर्थकाल में उत्तम संहनन होने से और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता होने से परीषहों, उपसर्गों की सहनशीलता आ जाती थी और मुक्ति सुलभ थी। आज विषमता होने से मुक्तिमार्ग बहुत ही कठिन हो रहा है.....। अस्तु हे भगवान ! मेरे ३८ वर्ष के संयमी जीवन में रोगादि के संकट आने पर भी जैसी मेरी दृढ़ता बनी रही है, आगे भी बनी रहे और अंत में सल्लेखनापूर्वक मरण हो, जिससे कि मैं अपनी संयमनिधि के साथ ही शरीर छोड़कर जीवनभर भावित भावना के अनुसार पुनः तीसरे भव में पूर्ण संयम को प्राप्त कर आत्मसिद्धि कर लेऊँ।" ऐसी भावना मन में अनेक बार आती ही रहती है।

सरधना में अस्वस्थ होने पर मैंने यह सोचा था कि—"अब एक-दो माह यहीं विश्राम कर आगे हस्तिनापुर में महामहोत्सव होने से वापस हस्तिनापुर की ओर विहार कर जाऊँगी" किन्तु बड़ौत की जैन समाज की भक्ति को देखकर संघ के सभी लोगों ने यही कहा कि-"माताजी ! आप को हम लोग पैदल विहार नहीं करने देंगे क्योंकि शास्त्र में तो मुनियों को भी अस्वस्थता में डोली में बैठकर विहार करने का विधान है तथा आपने स्वयं संघ के मुनियों व आर्यिकाओं को डोली में बैठकर विहार करते देखा है अतः अब बड़ौत

के लिए यदि विहार हुआ था, तो एक बार बड़ौत ही चलो.....।"

मैंने भी संघ में गिरनार यात्रा में आर्यिका सुमतिमती जी, आर्यिका पार्श्वमती को डोली से विहार करते देखा था पुनः संघ में भी सन् १९६८ में श्री महावीर जी जाते समय मुनि श्री सुबुद्धिसागर जी का पैर पक जाने से डोली से विहार कराया गया था। सन् १९७६ में आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर जी हस्तिनापुर आ रहे थे, तब कमर की दर्द के निमित्त से वे भी डोली में बैठकर आये थे। इत्यादि उदाहरण स्मरणकर मैंने आगे का विहार कर लिया। यद्यपि अब तक कभी डोली में नहीं बैठी थी अतः एक बार तो बहुत ही अखरा, फिर जैसे-तैसे मन मसोसकर डोली से विहार की स्वीकृति दे दी।

बड़ौत की ओर विहार —

मगसिर वदी १०, दिनाँक २२ नवम्बर को मैं सरधना से विहार कर सरूरपुर के स्कूल में ठहरी। वहाँ सड़क से अंदर लगभग एक किलोमीटर दूर पर 'ढार' नाम का एक गाँव है। वहाँ के श्रावक-स्त्री पुरुष व छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ स्कूल में आ गये, प्रातः गाँव में चलकर आहारचर्या करने के लिए बहुत निवेदन किया किन्तु मैंने यह आना-जाना स्वीकार नहीं किया। महिलाएँ रात्रि में वैयावृत्ति करके चली गईं पुनः प्रातः सभी लोग आ गये। इन श्रावकों की भक्ति विशेष देखकर मैंने सोचा — "आज भी छोटे-छोटे गाँवों में श्रावक गुरुओं के लिए तरसते रहते हैंद्ध इन जैसों को संघ के ले जाने का व भक्ति करने का योग कम ही मिल पाया है" पुनः इन लोगों को क्षुल्लक जी ने व चंदनामती ने उपदेश सुनाया।

यहाँ से 'हर्री' होते हुए बरनावा पहुँची। वहाँ खूब बारिश हुई पुनः मध्यान्ह में वर्षा रुकते ही बिनोली की तरफ विहार कर दिया। वहाँ ज्ञानसागर जी महाराज मिले। अगले दिन आहार कर अंगदपुर के मंदिर में विश्राम किया। यहाँ की गंदी गलियाँ देखकर गाँवों की दयनीय स्थिति पर आश्चर्य के साथ बहुत ही दुःख हुआ।

बड़ौत शहर में प्रवेश —

अंगदपुर से विहार कर मगसिर वदी १३, दिनाँक २६ नवंबर को मध्यान्ह लगभग ३ बजे बड़ौत के अतिथिभवन में पहुँच गई। यहाँ गणधराचार्य श्री कुंथुसागर जी महाराज यहाँ ठहरे हुए थे। इनका चातुर्मास यहीं हुआ था। अतिथिभवन के प्रांगण में सभा हुई। आचार्य महाराज बोले — "यदि माताजी न आती, तो मैं लेने के लिए पहुँच जाता आदि.....।" दोनों संघों का मिलन अच्छा रहा।

यहाँ मैं ससंघ 'गेस्ट हाउस' में ठहर गई। प्रातः २७ नवम्बर को वृहत् तीन लोक विधान का झंडारोहण हुआ। 'दिगम्बर जैन कालेज ए फिल्ड' में विशाल पांडाल बनाकर तीन लोक के आकार का ही यह मण्डल विधान बनाया गया था। २८ नवम्बर, मगसिर वदी अमावस्या से ही यह विधान प्रारंभ हो गया था। एक-दो दिन मुझे मार्ग की थकान विशेष रही पुनः धीरे-धीरे स्वास्थ्य सामान्य हुआ। मैं प्रायः विधान के पांडाल में प्रातः९ बजे जाती थी। कई बार मेरे १०-१५ मिनट प्रवचन हुए थे। सभी लोग आर्यिका चंदनामती से पूजन बुलवाने के लिए आतुर रहते हैं क्योंकि पहले ब्रह्मचारिणी अवस्था में वे यहाँ इन्द्रध्वज विधान व कल्पद्रुम विधान में पूजन पढ़ चुकी थीं अतः लोग प्रतिदिन इनके मुख से पूजन सुनना चाहते थे। लोगों के आग्रह से चंदनामती प्रायः एक घण्टा बोलती थीं। इस विधान में पेज अधिक होने से सभी पूजन जल्दी-जल्दी करानी पड़ती थी।

अष्टसहस्री ग्रंथ का स्वाध्याय —

मगसिर शु. २, दिनाँक ३० नवम्बर को मैं अतिथिभवन में सभी साधुओं की सभा में बैठी थी। उपाध्याय जी ने प्रश्नोत्तर शुरू किये। अनन्तर चर्चा के मध्य यह बात आई कि "माताजी यहाँ ठहरेंगी अतः इनसे कुछ अध्ययन-स्वाध्याय आदि किया जावे।" आचार्य संघ का विहार यद्यपि १४ दिसम्बर के विधान के

अनन्तर १५ दिसम्बर को ही होने वाला था किन्तु अध्ययन के निमित्त से विहार भी स्थगित कर दिया गया पुनः निर्णय यह रहा कि "अष्टसहस्री ग्रंथ का स्वाध्याय चलाया जावे।"

मेरे घुटने में दर्द होने से ऊपर सीढ़ी चढ़कर जाना कठिन होने से पूरे संघ ने यहीं गेस्ट हाउस में आने का निर्णय बना लिया।

मगसिर सुदी ३, दिनाँक १ दिसम्बर को प्रातः आचार्य सहित मुनिगण व आर्यिकाएँ गेस्टहाउस में पधार गये। यहाँ संघ के चैत्यालय में जिनेन्द्रदेव का पंचामृत अभिषेक हुआ। पुनः अष्टसहस्री ग्रन्थ का स्वाध्याय शुरू हो गया। उपाध्याय जी आदि अनेक मुनियों को बहुत ही आनन्द आया, बीच-बीच में चर्चायें-शंका-समाधान भी होते रहे। सभी के आग्रह विशेष से मध्यान्ह में ३ बजे से ४.३० बजे तक भी ऊपर अतिथिभवन में अष्टसहस्री का ही स्वाध्याय रखा गया।

५ दिसम्बर को ही मेरे सिर में दर्द शुरू हो गया। तब ६ दिसम्बर से मध्यान्ह का स्वाध्याय बंद करना पड़ा पुनः मगसिर शु. ११, दिनाँक ९ दिसम्बर को तो इतना स्वास्थ्य बिगड़ा कि प्रातः का भी स्वाध्याय बंद करना पड़ा। ११,१२ दिसम्बर को तो बहुत ही गड़बड़ रही, रात्रि में पेट में दर्द होकर अतिसार शुरू हो गये। संघस्थ चंदनामती , क्षुल्लक मोतीसागर आदि चिंतित हो गये। रवीन्द्रकुमार भी हस्तिनापुर से आ गये। मेरठ से हकीम शेफ जी को बुलाया गया.....।

आचार्य सुमतिसागर जी का ससंघ आगमन —

१२ दिसम्बर को आचार्य सुमतिसागर जी महाराज अपने संघ सहित बड़ौत शहर में आ गये। १३ दिसम्बर को विधान पूर्ण होकर १४ दिसम्बर को प्रातः हवन हुआ। मध्यान्ह में रथयात्रा में वहाँ उपस्थित तीनों संघ साथ-साथ चले, बहुत ही अच्छा लगा। थकान हो जाने से मैं रथयात्रा के बीच से ही वापस आ गई। कुल मिलाकर यह वृहत् विधान का आयोजन अच्छी सफलता से सानन्द सम्पन्न हुआ पुनः १५ दिसम्बर को बड़ौत से तीन बसें हस्तिनापुर यात्रा के लिए गईं। प्रायः इस प्रांत में यह परम्परा देखी जाती है कि विधान के बाद लोग हस्तिनापुर की यात्रा अवश्य करते हैं।

शिक्षिण शिविर —

यहाँ लोगों के आग्रह से १७ दिसम्बर से ७-८ दिन के लिए एक छोटा सा शिक्षण शिविर रखा गया, जिसमें कुन्दकुन्द मणिमाला, सामायिक विधि व ध्यान की कक्षाएँ चलाई गईं। दिन में चंदनामती जी कक्षाएँ चलाती थीं एवं रात्रि में क्षुल्लक मोतीसागर जी पढ़ाते थे। प्रातः कक्षा के बाद मैं भी ५-१० मिनट कुछ प्रवचन कर देती थी किन्तु मौसम की अति ठण्डी व वर्षा आदि के निमित्त से शिविर में विशेष आनन्द नहीं आया।

अष्टसहस्री का स्वाध्याय बंद करने के बाद भी लगभग १५ दिन तक मेरे सिर की नसों में दर्द होता रहा, तब मैं सोचने लगी —

"चाकसू-निवाई, जयपुर, टोंक आदि गांवों में सन् १९६९, ७०, ७१ में मैंने ५-६ घण्टे राजवार्तिक, मूल से अष्टसहस्री, जैनेन्द्रप्रक्रिया, गद्यचिंतामणि, यशस्तिलकचंपू आदि विषयों का अध्ययन कराया है और साथ ही प्रातः से लेकर रात्रि १०-११ बजे तक विश्राम न लेकर अध्यापन से समय निकालकर २-३ घंटे तक अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद भी करती थी। अपर-रात्रि से लेकर सोने तक अपनी दैनिक चर्या-आवश्यक क्रियायें भी करती थी। प्रायः रात्रि में ४-५ घंटे ही निद्रा लेती थी, तब भी मेरे सिर की नसों में ऐसा दर्द कभी नहीं होता था और अब ५६ वर्ष की उम्र में ही इतनी जल्दी स्वास्थ्य बिगड़ जाता है कि सिर में दर्द होकर घबराहट भी हो जाती है। कभी-कभी तो आँख खोलकर, उठकर बैठना भी कठिन हो जाता है।

इस स्थिति में बार-बार रवीन्द्र कुमार भी यही कहने लगे कि —

"माताजी! ४-५ वर्षों से आप आधा घण्टे भी अध्ययन नहीं कराती थीं पुनः डेढ़-डेढ़ घंटे दो बार और फिर इतना क्लिष्ट अष्टसहस्री ग्रंथ? भला आपका मस्तिष्क अब इतना श्रम कैसे झेल सकता था?....."

ठण्डी विशेष से विहार स्थगित —

मोदीनगर से सुशील कुमार, सूरजभान आदि अनेक महानुभाव कई बार यहाँ आकर अति आग्रह करके मोदीनगर में इन्द्रध्वज विधान मेरे सानिध्य में करने का निर्णय ले गये थे। १८ जनवरी १९९० से वहाँ के विधान का विचार बनाया गया था अतः मैंने बड़ौत से २७ दिसम्बर को विहार करने के लिए कहा था।

इधर २३ दिसम्बर को रात्रि भर वर्षा होती रही, खूब ठण्ड हो गई। तब २४ तारीख को प्रातः नरेशचंद आदि अनेक श्रावक आये, उन लोगों ने अति आग्रह व सत्याग्रह करके मेरे २७ तारीख के विहार का प्रोग्राम स्थगित कराया। तब मैंने २ जनवरी तक रुकने के लिए कह दिया। रविवार के दिन युवा क्रान्तिदल के बालकों ने बहुत ही उत्साह से कौशल भवन के हॉल में जिनगुणसंपत्ति विधान किया।

बड़ौत से विहार —

मौसम अनुकूल देखकर गणधराचार्यश्री कुंथुसागर जी के, सर्वमुनियों और आर्यिकाओं के सौहार्दपूर्ण वातावरण में हमने अपने संघ सहित पौष सु. ९, दिनाँक ५ जनवरी १९९० के दिन मध्यान्ह के ३ बजे यहाँ से विहार कर नरेशचंद जैन के आग्रह से उनके कोल्डस्टोर पर ठहरी। ६ जनवरी को वहाँ से विहार कर कच्चे मार्ग से पोयस गांव में पहुँची, यहाँ जैन मंदिर था, तथा ४-५ घर भी जैनियों के थे।

यहां ब्र.रवीन्द्र कुमार, अनुपम जैन, जापान के दो अतिथियों के साथ आये। ये जापान के जोबू विश्वविद्यालय के गणित के प्राध्यापक प्रो. योशीमाशा मिचिवाकी एवं उनकी पुत्री कु. मुत्सुको मिचिवाकी थे। ये पहले सन् १९८५ के अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में जंबूद्वीप पर आ चुके थे।

अमीनगर सराय प्रवेश —

यहाँ से विहार कर ७ जनवरी को कच्चे रास्ते से चलते हुए सायंकाल अमीनगर सराय पहुँच गई। यहाँ के धनराज जैन ४-५ वर्षों से जंबूद्वीप के सभी कार्यक्रमों के मुहूर्त निकालते हैं, ये अच्छे गुरुभक्त हैं और मेरे भी अनन्य भक्तों में हैं। यहाँ ७ दिन ठहरने का रहा। यहाँ ८ जनवरी के दिन धनराज ने कन्या पाठशाला में प्रवचन कराया। क्षुल्लक मोतीसागर ने, आर्यिका चंदनामती ने अच्छा प्रवचन किया पुनः मैंने आशीर्वाद देते हुए अपना प्रवचन सुनाया। पुनः १० जनवरी के दिन अध्यापिका ब्रजकुमारी की प्रेरणा से वहाँ के इण्टर कालेज में हम लोगों के प्रवचन हुये। यहाँ बहुत से विद्यार्थियों ने अहिंसा प्रधान उपदेश श्रवणकर अपने जीवन को प्रशस्त बनाया। ११ जनवरी, पौष शु. १५ के दिन यहाँ सभा में स्व. आचार्य श्रीधर्मसागर जी महाराज का जन्म-दिवस मनाया गया।

केशलोंच समारोह —

१२ जनवरी, माघ कृ. १ के दिन मैंने उपवास करके अपने केशलोंच का निर्णय किया था। यहाँ कन्या पाठशाला की बालिकाओं और बैंड-बाजों के साथ मुझे संघ सहित मंदिर के निकट बनाये गये पंडाल में ले गये। वहीं मैने लगभग २ बजे अपना केशलोंच शुरू कर दिया। कन्याओं ने स्वागतगीत, श्री मोतीराम जैन ने भक्ति भजन आदि प्रस्तुत किये। ब्र. रवीन्द्र कुमार , क्षुल्लक मोतीसागर और चंदनामती ने प्रवचन किये। पुनः केशलोंच के बाद मैंने भी प्रवचन करके शुभाशीर्वाद प्रदान किया। इस दिन बड़ौत के व आसपास के श्रावक लोग आ गये थे।

१३ जनवरी के दिन मध्यान्ह में मंदिरजी में शांति विधान हुआ। अनेक श्रावक, श्राविकाओं ने विधान किया। लोगों को बहुत ही आनन्द आया। यहाँ की भक्तसमाज चाहती थी कि — "माताजी अभी कम से कम एक माह यहाँ ठहरें" किन्तु मोदीनगर में इन्द्रध्वज का निश्चय हो चुका था और यह मेरा विहार भी मोदीनगर के लिए ही हुआ था अतः ठहरने का प्रोग्राम नहीं बन पाया।

दिल्ली के लिए आग्रह-

१३ जनवरी को दिल्ली से जिनेन्द्रप्रसाद जी ठेकेदार, कैलाशचंद करोलबाग, राजेन्द्रप्रसाद जी (कम्मोजी), मोतीचंद कासलीवाल आदि भक्त श्रावकगण आये थे। इन लोगों ने दिल्ली विहार करने के लिए अथक प्रयास किया किन्तु मैंने स्वीकृति नहीं दी।

अमीनगर सराय में लाभ—

यहाँ सराय में प्रतिदिन प्रातः उपदेश होता था। २५ से अधिक महिलाओं ने व कई एक पुरुषों ने भी पाँच अणुव्रत ग्रहण किये, परिग्रह का परिमाण लिखकर व्रत लिया। कई एक महिलाओं ने रोहिणी आदि व्रत ग्रहण किये, अच्छी धर्मप्रभावना रही। आर्षपरम्परा से भटक रही अनेक श्राविकाओं ने धूपखेना आदि आगमोक्त समझकर दुराग्रह छोड़कर आर्षग्रंथों के स्वाध्याय का संकल्प किया। प्रतिदिन व केशलोंच के दिन भी यहाँ आगंतुक दर्शनार्थियों के भोजन की व्यवस्था धनराज जैन ने की थी, वे बहुत ही उत्साही रहे थे।

मोदीनगर की ओर विहार —

१४ जनवरी, माघ वदी ३ को मध्यान्ह में मैंने अमीनगर सराय से विहार कर दिया और शाम को बालेनी गांव में पहुँच गई। यहाँ एक श्रावक का घर है, यह अच्छा बड़ा परिवार है। ये लोग यहाँ जिनेन्द्रदेव के दर्शन से सदा ही वंचित रहते हैं। मैंने इन्हें गृहचैत्यालय बनाने के लिए बहुत प्रेरणा दी किन्तु ये लोग राजी नहीं हुए। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ।

गृह चैत्यालय —

वास्तव में दक्षिण में आज भी घर-घर में जिन-चैत्यालय है। उत्तर प्रान्त में भी जयपुर राजस्थान में लगभग डेढ़ सौ गृह चैत्यालय होंगे, (आरा-बिहार) में भी अनेक गृह चैत्यालय हैं।

शास्त्रों में तो गृहचैत्यालय के लिए प्रमाण मिलते ही हैं। यथा— मथुरा में राजा शत्रुघ्न को श्री सुरमन्यु महामुनि उपदेश देते हुए कहते हैं—हे राजन्!

स्थाप्यंतां जिनबिंबानि, पूजितानि गृहे गृहे।
अभिषेकाः प्रवर्त्यंतां, विधिना पाल्यंतां प्रजाः[१]।।७३।।

घर-घर में जिनप्रतिमाएँ स्थापित की जावें, उनकी पूजाएँ हों, अभिषेक हो और विधिपूर्वक आप लोग प्रजा का पालन करें।.....राजन्! जिस घर में अंगुष्ठ प्रमाण भी जिनप्रतिमा विराजमान रहेंगी, उस घर में मारी आदि रोगों का प्रकोप नहीं हो सकेगा। जैसे कि सर्पिणी गरुड़ के सामने नहीं आ पाती है।

हैदराबाद चातुर्मास में मेरी प्रेरणा से श्रीनन्दलाल जैन ने अपने घर में चैत्यालय बनाया था। वहाँ श्रावकों के घर मंदिरों से दूर-दूर होने से अनेक परिवार प्रतिदिन जिनदर्शन से वंचित रहते थे अतः एक चैत्यालय के हो जाने से कई परिवार नित्य दर्शन का लाभ लेने लगे थे। सनावद चातुर्मास में मेरी प्रेरणा से ऋषभदास जैन कमलाबाई ने, विमलचंद जैन ने एवं श्रीचंद जैन ने अपने-अपने घर में जिनप्रतिमाएँ विराजमान करके चैत्यालय बनाये थे। ये खास कर विधिवत् अभिषेक-पूजा करने के भाव से ही बनाए थे क्योंकि मंदिरों में पंथवाद से थोड़ी पराधीनता रहती है।

इधर दिल्ली में कमलचंद जैन हाथरस वालों ने और जिनेन्द्रप्रसाद जैन ठेकेदार ने वृद्धावस्था में पिता को भगवान के दर्शन होते रहें, इस भावना से गृह-चैत्यालय बनाये हैं। ऐसे ही हस्तिनापुर टाउन में भी अनन्तवीर जैन ने मेरी प्रेरणा से ही जिनचैत्यालय बना लिया है क्योंकि मंदिर जी एक किलोमीटर दूर होने से वे भी सपरिवार यहां दर्शन करने नहीं आ पाते थे।

---

१. पद्मपुराण, पर्व ९२।

£ १८ ¤

मोदीनगर में प्रवेश —

मध्यान्ह यहाँ से विहार कर धौलड़ी, निवाड़ी होते हुए १७ जनवरी, माघ वदी ६ को अपरान्ह में मोदीनगर पहुँच गई। यहाँ डेढ़ किलोमीटर पूर्व से ही श्रावकों ने बैंड बाजे के साथ जुलूस बना लिया। टेंट हाउस वालों ने प्रथम स्वागत करके आरती की। मध्य में अनेक दुकानों के सामने भक्तजन चरण प्रक्षालन कर आरती करते रहे थे। मैं दिल्ली से मोदीनगर व हस्तिनापुर से दिल्ली, जाते-आते में ११-१२ बार मोदीनगर आ चुकी थी किन्तु आज मोदीनगर की जैन समाज की उपस्थिति देखकर प्रसन्नता हुई। यहाँ विधान के लिए उत्साह बहुत अच्छा था। इसमें प्रमुख रूप से समाज को जोड़ने वाले सुशील कुमार जैन, मवाना वाले ही थे।

इन्द्रध्वज विधान —

इन्द्रध्वज विधान की रचना हुए १४ वर्ष हो चुके हैं। आज तक विधान रचयित्री (मेरे सानिध्य में) विधान कराने की लोगों की भावना होते हुए मैं इतना लम्बा विहार कर कहीं नहीं पहुंची थीं। हाँ! दिल्ली व हस्तिनापुर में मेरे सानिध्य में पच्चीसों विधान हो चुके हैं। मोदीनगर वालों को ही यह अवसर मिला था, जिसे वे अपना अहोभाग्य मान रहे थे। माघ वदी ४, १५ जनवरी १९९० को प्रातः रवीन्द्र कुमार ने आकर पं. प्रवीणचंद शास्त्री के द्वारा यहाँ विधान के लिए झंडारोहण करा दिया था।

माघ वदी ७, दिनाँक १८ जनवरी १९९० के दिन प्रातःकाल विधान शुरू हो गया। इस विधान में अनेक श्रावक, श्राविका बैठे थे, मुख्य इन्द्र सुशील कुमार जैन, मवाना वाले थे। प्रतिदिन विधान की पूजाएँ बहुत ही आनन्दपूर्वक संगीत लहरी के साथ चल रही थीं। मोदीनगर में सड़क पर बहुत दूर तक माइक लगाये गये थे, जिनके द्वारा मंदिर जी में चल रहे विधान की पूजाओं का आनन्द सड़क चलते जैन-जैनेतर लोग भी ले रहे थे। उस समय सारा शहर ही मानों धर्ममय बन गया था।

प्रतिदिन प्रातः ९ बजे मेरा प्रवचन होता था। रात्रि में विद्वानों के व क्षुल्लक मोतीसागर जी के प्रवचन होते थे।

आर्यिका रत्नमती जी की पुण्यतिथि —

सन् १९८५ में माघ वदी ९ के दिन आर्यिका श्री रत्नमती माताजी ने समाधिमरण प्राप्त किया था। उनकी ५ वीं पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में यहाँ रात्रि में सभा रखी गई। विद्वानों ने उनके गुणों का स्मरण करते हुए अपने-अपने उद्‌गार व्यक्त किये और उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की।

पुनः कुन्दकुन्ददेव की द्विसहस्राब्दी के उपलक्ष्य में गोष्ठी का आयोजन हुआ। बाहर से आगत विद्वान प्रो. टीकमचंद, दिल्ली, प्रो. श्रेयांस कुमार, बड़ौत आदि ने तथा रवीन्द्र कुमार जैन ने कुन्दकुन्ददेव की कृतियों पर, समयसार ग्रंथ की टीकाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला।

एक दिन उपदेश में व्रतों पर प्रकाश डालने के बाद अनेक महिलाओं ने रोहिणी व्रत, णमोकार व्रत आदि व्रत ग्रहण किये।

कन्या इण्टर कालेज में उपदेश —

२५ जनवरी को 'पी. वी.ए. एस. कन्या इण्टर कालेज' में प्रवचन का कार्यक्रम रखा गया। क्षुल्लक मोतीसागर, आर्यिका चंदनामती के प्रवचन के बाद मेरा प्रवचन हुआ। कन्याएँ तो प्रसन्न हुईं ही, वहाँ की अध्यापिकाएँ व कालेज की संचालिका भी अति आनंदित हुईं।

वहां से वापस आते समय सुशीलकुमार आदि ने गलियों से रास्ता निकाला। तब मार्ग से २५-३० गृहों

के आगे भक्तों ने दूध से पादप्रक्षालन व आरती की। जगह-जगह लोगों ने सबको प्रसाद भी बांटे। भक्तों को तो आनन्द आ गया किन्तु मैं खूब थक गई।

खैर! कभी-कभी भक्तों की प्रसन्नता में अपनी थकान व शारीरिक कष्ट भी हल्का ही हो जाता है।

महामहोत्सव की मीटिंग —

२६ जनवरी को जंबूद्वीप महामहोत्सव की मीटिंग हुई। दिल्ली, बड़ौत, मेरठ, अमीनगरसराय, मोदीनगर आदि के श्रावकों की अच्छी उपस्थिति रही, उत्साहपूर्ण वातावरण में सबको कार्य सौंपे गये। दिल्ली वालों ने यहाँ भी मुझसे दिल्ली विहार के लिए बहुत ही आग्रह किया किन्तु मेरा स्वास्थ्य अब अधिक विहार के लायक नहीं था अतः मैंने मना कर दिया।

२७ जनवरी को पूर्णाहुतिपूर्वक हवन हुआ। रात्रि में वर्षा होने की उम्मीद थी, प्रातः बादल घिरे रहते हुए भी वर्षा नहीं हुई, हवन निर्विघ्न सम्पन्न हुआ, सबको खुशी हुई।

रथयात्रा महोत्सव —

२८ जनवरी, माघ वदी २, को रथयात्रा निकाली गई। यह इनकी वार्षिक रथयात्रा थी, यह विधान के समापन के साथ जुड़ गई अतः और भी विशेषता आ गई। इस इन्द्रध्वज विधान की अपने आप में कुछ विलक्षण ही विशेषता देखी गई है। कितने विधानकर्ताओं ने आकर कहा है कि—

"माताजी! मेरे लिए यह विधान आशा से अधिक फलित हुआ है।" मेरठ के प्रेमचंद जैन (तेल वाले) कई बार यह वाक्य दोहराया करते हैं। १८ अप्रैल १९८८ को पं. धन्नालाल लश्कर वालों का पत्र आया था कि मैंने यह इन्द्रध्वज विधान ११ बार कराया है, उसके बाद तो उनकी संख्या और भी बढ़ी होगी। ये विद्वान कानजीपंथी कहलाते हैं। मैंने यह देखा है कि बीसपंथी, तेरहपंथी और कानजीपंथी सभी विद्वानों ने इस विधान को कराया है और पूजन की पंक्तियों की व जयमाला में आये विषयों की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी करते हैं। अनेक प्रशंसा भरे पत्र विद्वानों व श्रावकों के यहाँ आते रहते हैं। मैं सोचा करती हूँ—"इसमें मेरी वाक्य रचना कारण नहीं है प्रत्युत् जिनेंद्र भगवान की व उनके अकृत्रिम जिनबिंबों की भक्ति ही ऐसी अतिशयकारिणी है कि जिससे भक्तगण अनुरंजित—प्रभावित हुए बगैर नहीं रह पाते हैं।

मेरठ की ओर विहार —

यहाँ मोदी परिवार से कई शिक्षण संस्थाएँ चल रही हैं। कोटा से रानीवाला महेंद्र कुमार जैन की धर्मपत्नी प्रेमलता ने अपने पीहर में जाकर श्रीमती गायत्री देवी से 'कन्या इंटर कालेज' में मेरे प्रवचन कराने की प्रेरणा दी, ये महिलाएँ निवेदन के लिए आईं। मेरे पास अब समय नहीं था, फिर भी २९ जनवरी के मध्यान्ह विहार के बाद ही मैंने वहाँ कालेज में उपदेश का प्रोग्राम रख दिया। जैन मंदिर मोदीनगर से मध्यान्ह १२.३० बजे मेरठ की तरफ विहार करते हुए रास्ते में आधा घंटे वहाँ रुककर कन्याओं को उपदेश सुनाया व वहाँ से आगे विहार कर गई।

कल्पद्रुम विधान का निर्णय —

हस्तिनापुर में कई बार प्रेमचंद जैन व उनके पुत्र मुकेश कुमार जैन ने आकर यह निवेदन किया कि "माताजी! चाहे आप एक-एक किलोमीटर चलें, हम आपके सानिध्य में मेरठ के कमला नगर मंदिर में कल्पद्रुम विधान कराना चाहते हैं।"

मैं हंस कर टाल देती थी और संघ के सभी लोग यह कह देते थे कि "न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी" किन्तु ये लोग निराश नहीं होते थे प्रयास करते ही रहते थे। जब मैं सरधना आ चुकी थी, तब मेरठ से श्री अमरचंद व अरविन्द कुमार (होम ब्रेड वाले) आये थे। उनके विशेष आग्रह से मेरे मुख से निकल गया

था कि बड़ौत से निकलकर मेरठ होते हुए भी हस्तिनापुर जाया जा सकता है। तभी से ये दोनों परिवार के लोग सभी जगह आते रहे थे और मेरठ के लिए निवेदन करते रहे थे। अमीनगर सराय में मैंने प्रेमचंद जैन को कल्पद्रम विधान के लिए निर्णय दे दिया था अतः मोदीनगर से अमरचंद जैन और प्रेमचंद जैन ने आकर व्यवस्था संभाली थी। ये सपरिवार मेरे संघ के साथ पैदल चले थे।

मोदीनगर से विहार करके हम लोग परतापुर में ब्रेड फैक्ट्री पर आ गये। यहीं दो दिन आहार हुए थे। ३० जनवरी को सुरेन्द्र कुमार जी आये, उनके आग्रह से हम लोग माला फ्लोर मिल के मंदिर के दर्शन करने गये। मंदिर की रचना बहुत ही सुन्दर लगी। प्रदक्षिणा में अष्ट पहलू कमल बना है, वह बहुत ही अच्छा लगा।

कमला नगर-मेरठ में मंगल प्रवेश —

परतापुर से विहार कर रिठानी में बने नये मंदिर को देखते हुए ३१ जनवरी माघ शु. ५ को ४ बजे जुलूस के साथ कमलानगर के मंदिर में पहुँच गई। यहाँ पहुँचकर मंगल प्रवचन दिया पुनः एक नई कोठी में संघ को ठहराया गया क्योंकि यहाँ मंदिर में साधुओं के ठहरने के लिए व्यवस्था नहीं थी। २ दिन बाद अरविन्द कुमार के विशेष आग्रह से उनकी कोठी पर १० दिन ठहरी हूँ। प्रेमचंद जैन ने कई बार संघ के साधुओं से कहा कि—देखो तो! नौ मन तेल भी हो गया और राधा जी भी नाच गईं, मेरे यहाँ मेरठ में पूज्य माताजी आ गई हैं....।

कल्पद्रुम विधान प्रारंभ —

माघ शु. ६, १ फरवरी १९९० को प्रातः ९.१५ बजे कल्पद्रुम विधान के लिए श्री सुकुमार चंद जैन ने झंडारोहण किया। इस अवसर पर श्री कल्याणसागर जी महाराज भी ससंघ पधारे थे। सभी साधुओं के कल्पद्रुम विधान की महिमा पर प्रवचन हुए। बात यह है कि यह विधान चक्रवर्ती ही चतुर्थ काल में किमिच्छक दान देते हुए करते थे अतः आज भी स्थापना निक्षेप से चक्रवर्ती बनकर श्रावक यह विधान करते हैं। यहाँ श्री प्रेमचंद जी चक्रवर्ती बनकर खुले मन से यह विधान करा रहे थे। घटयात्रा, अंकुरारोपण क्रिया सम्पन्न हुई। २ फरवरी से विधान की पूजन प्रारंभ हो गईं। ७० से अधिक श्रावक-श्राविकाएँ विधान में समवसरण के चारों ओर बैठे हुए थे। मंदिर के पास विशाल पांडाल बनाकर यह विधान किया जा रहा था।

विधान की पूजन के समय श्री सुकुमार चंद जैन आदि अनेक भक्तगण आ जाते थे और खूब रुचि से पूजन पढ़ते थे। श्री रतनलाल जैन आदि ३-४ श्रावक तो प्रतिदिन ३-४ घंटे बराबर पूजन पढ़ते थे। संगीत की लहरी के साथ पूजन का आनन्द बाहर शहर में दूर-दूर तक लगाये गये माइक के द्वारा जैन-जैनेतर सभी लोग ले रहे थे।

प्रतिदिन ९ बजे से मेरा प्रवचन होता था। कभी जिनभक्ति, कभी गुरुभक्ति आदि पर प्रकाश डालती थी। एक दिन मैंने जैन महाभारत पर प्रकाश डालते हुए कहा कि—

द्रौपदी मात्र अर्जुन की पत्नी थी न कि पांचों पांडवों की। वास्तव में सती और पंचभर्तारी का परस्पर में पूर्ण विरोध है इत्यादि। मध्यान्ह में एक जैन महिला ने आकर कहा कि—"हम लोगों को आज मालूम हुआ कि द्रौपदी पंचभर्तारी नहीं थी, हम लोगों को अटपटा तो यह विषय लगता था, अब पता चला कि यह मात्र कल्पना है, निराधार है, सती का अपवाद है।" मैं सोचने लगी—"वास्तव में आज प्रथमानुयोग का स्वाध्याय नगण्य हो गया है और इधर टेलीविजन पर रामायण व महाभारत दिखाये जा रहे हैं, जिन्हें जैनेतर क्या जैन समाज भी बहुत ही रुचि से देखती है। खेद है कि जैन महाभारत, जैन रामायण, टी.वी. पर दिखाने के लिए जैन समाज कोई प्रयास करने के लिए नहीं सोच पाता है। यह विधर्मियों का प्रभाव देखकर कलिकाल को ही

दोष देकर संतोष करना पड़ता है।

विधान का विषय —

इस विधान में भगवान के समवसरण का वैभव विशेष लिया गया है पुनः भगवान् के पंचकल्याणक, उनके माता-पिता, तीर्थंकर के पुण्यमय वर्ण, आदि की भी पूजा है। ब्राह्मी-सुन्दरी आदि महाआर्यिकाओं की पूजा है। अंत में भगवान के १००८ नामों की पूजा है।

पूजा पढ़ते हुए गद्गद होकर एक दिन सुकुमार चंद बोले—"माताजी! हस्तिनापुर में समवसरण के पूरा बन जाने पर मैं वहाँ यह विधान अवश्य कराऊँगा।"

मैंने सोचा-"विधान तो जब करायेंगे तब सही, पुण्य बंध तो इन्होंने कर ही लिया है।"

चतुर्विधदान —

श्री प्रेमचंद ने प्रतिदिन १००-२०० आदि गरीब लोगों को भोजन कराया। किसी दिन वस्त्र, किसी दिन थाल आदि बांटे। प्रतिदिन औषधि वितरित की और ज्ञानरश्मि पुस्तक छपवाकर बांटी। विधान के बाद प्रेमचंद ने संकल्प किया कि मैं प्रतिमाह विधान समापन की ११ तारीख को गरीबों को भोजन कराऊँगा। ११ फरवरी को पूर्णाहुतिपूर्वक हवन सम्पन्न हुआ।

रथयात्रा —

१२ फरवरी, फाल्गुन वदी ३ को रथयात्रा हुई। इस दिन मौसम ठंडा होने से मैं भी पूरी रथयात्रा तक साथ में चली। महावीर भवन में मध्यान्ह की सामायिक की पुनः रथ के साथ ही वापस आ रही थी कि हरीश चंद जैन (सुमन प्रिन्टर्स) के अतीव आग्रह से प्रेस में गई जो कि रास्ते में ही था। उनकी पत्नी तथा प्रेस कर्मचारियों ने बड़े भाव-विभोर होकर मेरी अगवानी की तथा प्रेस में प्रकाशित अन्य अनेक ग्रंथ दिखाये। रथयात्रा वापस आने के बाद महिलाओं ने पांडाल में खूब नृत्य किया और गुलाल उड़ाई, सभी लोग भक्तिरस में आनन्द विभोर हो रहे थे। रथयात्रा के बाद हम लोग अपने-अपने स्थान पर आ गये पुनः खूब वर्षा हुई। शायद मेघ कुमार निर्विघ्न विधान की समाप्ति में खुशी होकर ही मानों रत्नों की वर्षा कर रहे हैं। प्रेमचंद जैन की धर्मपत्नी सब्जी देवी ने ऐसे शब्द बार-बार कहे।

अगले दिन विधान में भाग लेने वाले सभी लोग दो बसों में बैठकर हस्तिनापुर में सुमेरु की वंदना और तीर्थ की वंदना करने के लिए गए। वहाँ भी प्रेमचंद ने कर्मचारियों को वस्त्र आदि बांटे। इस प्रकार अच्छी प्रभावना के साथ यह विधान सम्पन्न हुआ।

मेरठ आगमन पर यह अत्यन्त आनन्ददायक विषय रहा कि अष्टसहस्री ग्रंथ भाग तृतीय भी सुमन प्रिन्टर्स वालों ने मेरे वहाँ रहते हुए ही पूरा कर दिया तथा ग्रंथ के अंतिम प्रूफ मेरठ-मवाना के रास्ते में मुझे दिये। उनका दिन-रात का परिश्रम सफल रहा तथा ग्रंथ बहुत जल्दी पूर्ण हुआ।

जिनचैत्यालय स्थापना —

हरीश जैन सुमन प्रिन्टर्स ने मेरी प्रेरणा से घर में चैत्यालय बनाने का निश्चय किया। जंबूद्वीप-हस्तिनापुर से श्री मल्लिनाथ भगवान की जिनप्रतिमा लाई गई। कमलेश चंद शास्त्री ने ११ फरवरी को उनके घर जाकर वेदी शुद्धि कराई पुनः १२ फरवरी, फाल्गुन कृ. ३ को प्रातः ८ बजे के बाद हरीश जैन आकर आर्यिका चंदनामती को व क्षुल्लक मोतीसागर को ले गये। इन्होंने वहाँ जाकर विधिवत् मुहूर्त कर जिनप्रतिमा विराजमान करा दीं। उन सबको बहुत ही प्रसन्नता हुई। होना भी चाहिए क्योंकि तीन लोक के नाथ भगवान को घर में विराजमान करने का सौभाग्य बड़े पुण्य से प्राप्त होता है।

हरीश जैन ने सन् १९८७ से लेकर अब तक वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के सर्वतोभद्रविधान आदि ७-८

विधान, जंबूद्वीप पूजाञ्जलि, अष्टसहस्री भाग-१,२,३, समयसार पूर्वार्ध, मेरी स्मृतियाँ, सती अंजना आदि अनेक कथा पुस्तकें और बालविकास के पुनः संस्करण आदि अनेक ग्रंथ छापे हैं। अभी आचार्य वीरसागर स्मृतिग्रंथ आदि कई ग्रंथ छप रहे हैं। हरीश जी स्वयं बहुत ही रुचि से मुद्रण की व्यवस्था संभालते हैं। वे स्वयं तो कमलानगर मंदिर में दर्शन करने आते थे लेकिन इनकी पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि परिवार के लोग वंचित रहते थे, जबसे चैत्यालय स्थापित किया है, कहते हैं, तब से आस-पास के कई जैन परिवार प्रतिदिन दर्शन करने आते हैं। यह प्रसन्नता की बात है।

णमोकार मंत्र सम्मेलन में उपदेश —

आचार्य श्री कल्याणसागर जी की प्रेरणा से जैन बोर्डिंग में णमोकार मंत्र का सम्मेलन रखा गया था। यहाँ णमोकार मंत्र की प्रदर्शनी भी लगाई गई थी। यद्यपि १० फरवरी को मेरा उपवास था, फिर भी मुनिश्री के विशेष आग्रह से मैं भी वहाँ पहुँची थी। मुनिश्री सुशील कुमार जी (स्थानकवासी साधु) आदि अनेक वक्ताओं के भाषण हुए पुनः मैंने अपने प्रवचन में महामंत्र के ३५ अक्षरों, ६४ वर्णों में पूरा द्वादशांग समाहित है इत्यादि विश्लेषण करते हुए यह भी बताया कि —

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत् पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

इस श्लोक के अनुसार अपवित्र या पवित्र किसी भी स्थिति में नमस्कार मंत्र का ध्यानकर-मन में चिंतन का उपदेश है। मासिक धर्म की अशुद्धि में भी महिलाएँ मन-मन में मंत्र जप सकती हैं। ओष्ठ, जिव्हा आदि हिलाकर मुख से बोल नहीं सकती हैं।

अग्नि बहुत अच्छी है, भोजन पकाती है इत्यादि, किन्तु उसे कोई सिर पर या जेब में नहीं रख लेते हैं। डाक्टर रोगी का ऑपरेशन करते हुए अपने मुख पर वस्त्र ढकता है, ऑपरेशन करके तीन बार साबुन से हाथ धोता है, उसे रोगी से ग्लानि नहीं है, फिर भी रोगों के कीटाणुओं से अपने को बचाता अवश्य है। वैसे ही णमोकार मंत्र बहुत अच्छा है किन्तु इसका सदुपयोग करने से ही अच्छा है। इसके दुरुपयोग से — अविनय से सुभौम चक्रवर्ती नरक चला गया है अतः मैं यही कहती हूँ कि मुनिश्री णमोकार मंत्र के प्रसार-प्रचार के साथ आगम की मर्यादा को अवश्य ध्यान में रखें.....।" इत्यादि।

मुनिश्री से मवाना में चर्चा के समय भी मैंने उनसे यही निवेदन किया था कि — "आप जैन आगम के अनुसार अस्पृश्य का स्पर्श न करें, मर्यादा में रहें, तभी आर्षपरम्परा के साधुओं का समर्थन मिल सकेगा।"

प्रवचन सभा समापन के बाद हम लोगों ने णमोकार मंत्र के अनेक चित्रों की प्रदर्शनी भी देखी पुनः कमलानगर वापस आ गई।

इस तरह १४ दिन मेरठ में रहते हुए कई बार श्री सुकुमारचंद जैन मेरे पास आये और सम सामयिक चर्चाएँ भी हुईं।

वर्तमान शताब्दी के दिगम्बर जैनाचार्य संघ

चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी —

इस शताब्दी में चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज हुए हैं। इनके दीक्षा गुरु आचार्य देवेन्द्र कीर्ति मुनिराज थे। इनके पट्ट शिष्य आचार्य वीरसागर जी हुए हैं। इनके पट्ट शिष्य आचार्य शिवसागर जी एवं इनके पट्टाचार्य श्री धर्मसागर जी हुए हैं। वर्तमान में इनके पट्टाचार्य श्री अजितसागर जी[१] विद्यमान हैं।

इस परम्परा में मुनियों की नवधाभक्ति में पहले पड़गाहन-प्रदक्षिणा, पुनः उच्चासन देकर पाद प्रक्षालन

१. यह प्रकरण सन् १९८९ में लिखा गया है।

पुनः अष्टद्रव्य से पूजा होती है। फिर आहार दिया जाता है। इस परम्परा में ऐसे ही आर्यिकाओं की भी आहार के समय पड़गाहन प्रदक्षिणा, पाद प्रक्षालन व अष्टद्रव्य से पूजा सहित नवधा भक्ति की जाती है।

क्षुल्लकों के गेरुआ चादर व कौपीन (लंगोटी) रहती है। क्षुल्लिकाओं के पास एक साड़ी, एक चादर व धातु का कमंडलु रहता है। दोनों के पास मयूर पंखों की ही पिच्छिका होती है। आहार के समय क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं का पड़गाहन (प्रदक्षिणा बिना) पाद प्रक्षालन व अर्घ्य चढ़ाकर पूजा करके नवधाभक्ति के बाद थाली में आहार कराया जाता है। कोई-कोई अभी आज भी आचार्य श्री शांतिसागर जी से दीक्षित क्षुल्लिका अजितमती जी[१] विद्यमान हैं। इनकी चर्या ऐसी ही है। कदाचित् वहीं से कटोरा पात्र लेकर भी आहार करते हैं।

इसी परम्परा में आचार्यश्री शांतिसागर जी के प्रथम पट्टाधीश आचार्यश्री वीरसागर जी की शिष्या मैं-गणिनी आर्यिका ज्ञानमती और गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमती जी अपने-अपने आर्यिका संघ सहित विद्यमान हैं। आर्यिका जिनमती, आर्यिका आदिमती, आर्यिका विशुद्धमती जी[२] आदि धर्म प्रभावनारत हैं।

इस परम्परा में सज्जाति को विशेष महत्व दिया गया है जिसमें अंतर्जातीय, विजातीय और विधवा विवाह वर्जित है, ऐसे विवाह सहित श्रावकों को अभिषेक-पूजन, विधान व आहारदान का अधिकार नहीं दिया जाता है। आगम के अनुसार श्रावकों द्वारा पूजा में फल-फूल आदि से पूजा, जिसे वर्तमान में बीस पंथ कहते हैं, इसका समर्थन प्राप्त है। स्त्रियों द्वारा जिनेन्द्रदेव का अभिषेक भी चालू है और कानजी पंथ का विरोध है।

आचार्यश्री शान्तिसागरजी के एक शिष्य आचार्य पायसागर जी हुए हैं, उनके शिष्य आचार्य श्री जयकीर्ति जी हुए हैं। इनके शिष्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज हुए हैं। इस परम्परा में भी सारी बातें वहीं हैं। मात्र क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ रेल, मोटर की सवारी करते रहे हैं।

आचार्यश्री शांतिसागर जी के शिष्यों में यह बंधन था। अपवादरूप विशेष बीमारी आदि के कारण से उनकी शिष्या क्षुल्लिका अजितमती जी भी रेल, मोटर में नहीं बैठती हैं किन्तु व्यक्तिगत कार से उन्हें श्रावक एक गाँव से दूसरे गाँव आदि ले जाते हैं।

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री के एक शिष्य आचार्यकल्पश्री चन्द्रसागर जी महाराज हुए हैं। इन्होंने क्षुल्लकों को श्वेत वस्त्र दिया और ग्यारह प्रतिमाओं की सूचक ग्यारह धागे की जनेऊ भी दी है तथा क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं को पात्र लेकर सात घर से भिक्षा लाकर भोजन करने की पद्धति भी डाली थी किन्तु उनकी यह भिक्षावृत्ति परम्परा तो आगे नहीं चल पाई है। आचार्यश्री सुधर्मसागर जी चारित्रचक्रवर्ती के ही शिष्य थे, वे भी इसी परम्परा के समर्थक थे। आचार्य कल्पश्री चन्द्रसागर जी के शिष्य क्षुल्लक श्री भद्रसागरजी थे जो कि गुरु की समाधि के बाद आचार्य श्री वीरसागर जी के संघ में ही आ गये थे। मुनि बनने पर इनका नाम धर्मसागर जी रखा गया था। ये ही इस परम्परा के तृतीय पट्टाधीश हुए हैं। इन्होंने क्षुल्लकों के गेरुये वस्त्र की परम्परा ही रखी है। इस परम्परा के साधु-साध्वी जनेऊधारी श्रावकों के हाथ से ही आहार लेते हैं।

आचार्यश्री वीरसागर जी के शिष्य एक क्षुल्लक जी थे, वे संघ से पृथक् होकर दक्षिण चले गये। वहाँ अंकलीकर श्री आदिसागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ले ली, आचार्यश्री महावीर कीर्ति जी के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। यद्यपि दक्षिण में क्षुल्लकों को गेरुवे वस्त्र देने की ही परम्परा रही है। फिर भी आचार्यकल्प चन्द्रसागर जी और आचार्य श्री सुधर्मसागर जी की परम्परा के अनुसार इन्होंने अपने क्षुल्लक शिष्यों को ग्यारह धागे की यज्ञोपवीत दिया, श्वेत कोपीन व चादर दिया। ये आचार्यश्री बिना जनेऊ वालों से आहार तो लेते ही नहीं थे, उन्हें कमंडलु तक नहीं उठाने देते थे। आज इनकी परम्परा में मुख्य आचार्यश्री विमलसागरजी, आचार्य श्री सन्मतिसागर जी, आचार्य कुन्थुसागर जी आदि संघ सहित विराजमान हैं और गणिनी आर्यिका विजयमती जी

१-२. यह प्रकरण सन् १९८९ में लिखा गया है।

भी धर्मप्रभावना कर रही हैं।

इस परम्परा में भी सज्जाति का विशेष महत्व है, आगमपंथ का समर्थन है तथा कानजीपंथ का विरोध है। मात्र क्षुल्लकों के गेरुवे वस्त्र और श्वेत वस्त्र के अन्तर के सिवाय चारित्र-चक्रवर्ती की और महावीर कीर्ति जी की परम्परा में और कोई खास अन्तर नहीं है।

इन दोनों परम्पराओं में क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं को आहार के समय अर्घ्य चढ़ाया जाता है। आचार्य श्री वीरसागर जी की परम्परा में तो इनका पाद प्रक्षालन भी किया जाता है और नवधाभक्ति मानी जाती है।

इन दोनों परम्पराओं में संघ में ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी जिन प्रतिमा अवश्य रखते हैं चूंकि दिगम्बर जैन समाज में तेरहपंथ-बीसपंथ के भेद में संघस्थव्रती श्रावक-श्राविकाएँ कहीं विसंवाद न कराकर, अपने चैत्यालय की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक, हरे फल-फूलों से पूजन आदि करते रहते हैं।

आचार्यश्री शांतिसागर छाणी —

आचार्यश्री शांतिसागर नाम के एक आचार्य और हुए हैं, ये अपने गांव के नाम 'छाणी' से जाने जाते थे। ब्यावर में सन् १९३३ में में शांतिसागर आचार्यों का एक साथ चातुर्मास हुआ था। ये श्रावकों को तेरहपंथ का उपदेश देते थे। हरे फल व फूल चढ़ाने का, पंचामृत अभिषेक का व स्त्रियों द्वारा जिनाभिषेक का समर्थन नहीं करते थे। बाद में आचार्य सूर्यसागर जी, मुनिश्री विमलसागर जी आदि भी इसी परम्परा के समर्थक हुए हैं। आचार्यश्री विमलसागर जी से दीक्षित श्री सुमतिसागर जी आचार्य और निर्मलसागर जी आचार्य हैं। ये आचार्य भी तेरहपंथ विचारधारा के पोषक हैं।

सज्जाति के समर्थक होने से ये आचार्य भी अंतर्जातीय, विजातीय और विधवा विवाह के समर्थक नहीं हैं। ऐसे संबंध वालों से आहार भी नहीं लेते हैं और कानजीपंथ के भी विरोधी हैं।

इनकी परम्परा में आर्यिकाओं का पड़गाहन, पाद प्रक्षालन होता है। पूजा अष्टद्रव्य से पृथक्-पृथक् न होकर सब मिलाकर अर्घ्य चढ़ाया जाता है। क्षुल्लकों को इनके यहाँ भी श्वेत वस्त्र देते हैं, अन्तर यही है कि ये जनेऊ नहीं देते हैं। क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के आहार के समय पाद प्रक्षालन एवं अर्घ्य की परम्परा इनके यहाँ नहीं है। ये साधुवर्ग बिना जनेऊ वालों से भी आहार ले लेते हैं।

इन्हीं की परम्परा में आचार्य श्री निर्मलसागर जी के शिष्य मुनिश्री शांतिसागर जी (अलवर वाले) हैं। ये भी आचार्य कहलाते हैं। कुछ वर्षों से ये कानजी पंथ के समर्थक हो गये हैं और इन्होंने एक क्षुल्लक कुलभूषण तथा एक मुनि चंद्रसागर जी को दीक्षा दी है। ये भी कानजी पंथ का समर्थन करने लगे हैं जबकि उन पंथ वालों ने आज तक भी इन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहार नहीं दिया है।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के अनन्तर उपाध्याय श्री विद्यानंद जी और श्री बाहुबली मुनिजी आचार्य बने हैं। पहले श्री विद्यानंद मुनिश्री ने 'दिगम्बर जैन साहित्य में विकार' नाम से कानजी पंथ के साहित्य के विरोध में अच्छी पुस्तक लिखी थी। इन आचार्य देशभूषण जी की परम्परा में भी क्षुल्लकों को गेरुवे वस्त्र देते हैं तथा आहार के लिए कटोरा एक पात्र देते हैं।

आचार्यश्री वीरसागर जी के प्रथम शिष्य आचार्य श्री शिवसागर जी से श्री ज्ञानसागर जी ने मुनि दीक्षा ली थी। आज उनके शिष्य आचार्य श्री विद्यासागर जी प्रसिद्ध हैं। मुनिश्री ज्ञानसागर जी ने भी अपने क्षुल्लकों को श्वेतवस्त्र दिये थे और जनेऊ नहीं दी थी। उसी परम्परा के अनुसार आचार्य विद्यासागर जी भी क्षुल्लक-ऐलक को श्वेतवस्त्र देते हैं। अभी दो वर्ष पूर्व इन्होंने आर्यिका दीक्षायें दी हैं। उनके यहाँ यह बिल्कुल नई बात हुई है कि आर्यिकाओं के आहार के समय पाद-प्रक्षालन, पूजा एवं अर्घ्य की परम्परा ही नहीं है। क्षुल्लकों को भी अर्घ्य नहीं चढ़ाया जाता है।

आर्यिकाओं की नवधाभक्ति नहीं कराना, वर्तमान में सभी पुराने संघों में यह चर्चा का विषय बना हुआ है। जबकि मूलाचार आदि ग्रंथों के अनुसार आर्यिकाओं की चर्या मुनिवत् मानी गई है। दीक्षाविधि भी उनकी मुनि की दीक्षा विधि से ही की जाती है। प्रायश्चित्त ग्रंथ के अनुसार मुनि और आर्यिकाओं का प्रायश्चित्त भी समान है। क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं का उनसे आधा है इत्यादि।

इनके संघ के ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों में पूजा पद्धति में तेरहपंथ की ही परम्परा देखी जाती है।

इस प्रकार वर्तमान के १००-१५० वर्षों के मुनिसंघों में जो मोटा-मोटी भेद देखने में आया है, मैंने उसे अति संक्षिप्त में यहाँ लिया है। विशेष जिज्ञासुओं को संघों में रहकर ही समझना चाहिए।

मुनिश्री कल्याणसागर जी, आचार्य सन्मति सागर जी (तेरहपंथी) के शिष्य हैं। इनकी परम्परा में भी क्षुल्लक श्वेतवस्त्र वाले हैं। ये सज्जाति को कुछ नहीं गिनते हैं। शास्त्रों में अस्पृश्य चांडाल आदि लोग, रजस्वला स्त्री, मांस अंडे, हड्डी, विष्ठा आदि का स्पर्श हो जाने से दंड स्नान की आज्ञा है किन्तु ये सभी के मस्तक पर पीछी रख देते हैं और सभी जाति के लोग इनके चरण छू लेते हैं। इस विषय पर सभी दिगम्बर जैन साधु वर्ग के साथ इनका मतभेद है। सुनने में आया है कि इनके दीक्षा गुरु भी इस बारे में सहमत नहीं थे। वर्तमान में ये णमोकार मंत्र के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

मेरठ से विहार —

फाल्गुन वदी ५, दिनाँक १४ फरवरी को मैंने संघ सहित कमलानगर से मध्यान्ह दो बजे विहार कर दिया और प्रेमपुरी में अमरचंद जैन होमब्रेड की कोठी पर आ गई। अमरचंद जी ने यहाँ कोठी पर शांति विधान का आयोजन किया हुआ था अतः मैंने आकर विधान में आशीर्वाद दिया। रात्रि विश्राम करके प्रातः आहार के बाद यहाँ से भी विहार कर दिया और तोपखाना आ गई। यहाँ निर्मल कुमार जैन की कोठी पर ठहरी। जब से मैंने मोदीनगर से विहार किया था, तब से लेकर यहाँ तक, श्री अमरचंद व अरविन्द जैन ने फैक्ट्री के सब काम छोड़ दिये थे। दिन भर संघ की भक्ति में, आहारदान आदि में अपना समय लगा रहे थे। प्रेमचंद जैन भी विधान व गुरुभक्ति में लगे हुए थे। प्रातः यहाँ मंदिर में प्रवचन किया। यहाँ श्री अशोक कुमार जैन ने त्रिलोकसार आदि ग्रंथ के आधार से बनाये गये कई एक चित्र और चार्ट दिखाये, मन प्रसन्न हुआ। मैंने इन्हें अष्टमूलगुण का चित्र यहाँ महोत्सव में लाने के लिए और इन बने हुए चित्रों को भी लाने के लिए प्रेरणा दी।

यहाँ रात्रि में कर्नाटक के एक श्रावक, जो कि अमेरिका में रहते हैं, ये साहू प्रमोद कुमार के साथ आये, इन्होंने क्षुल्लक जी से विदेश में जैनधर्म प्रचार के लिए खूब चर्चायें कीं।

यहाँ से १६ तारीख को विहारकर श्री अरुण जैन मेयर की भावना से मैं इलेक्ट्रा विद्यापीठ पहुँची, वहाँ बच्चों को कुछ धर्मोपदेश सुनाकर शुभाशीर्वाद दिया। मेयर जी ने मुझे विद्यार्थियों के अध्ययन कक्ष आदि सुविधापूर्ण स्थल व मनोरंजन स्थल भी दिखाये। तत्पश्चात् यहाँ से विहार कर मैं संघ सहित इलेक्ट्रा नर्सरी में आ गई। यहाँ रात्रि विश्राम हुआ, प्रातः आहार के बाद यहाँ से भी विहार कर छोटे मवाना में बी.टी.सी. कन्या कालेज में ठहरी। प्रातः आहार के बाद यहाँ से भी विहार कर दिया व १८ फरवरी को बड़े मवाना आ गई। यहाँ वर्षा खूब हुई थी किन्तु कुछ देर वर्षा रुकते ही हम लोगों ने विहार कर दिया था जबकि खूब ठंड पड़ रही थी।

मवाना में विधान —

यहाँ मवाना में २० फरवरी को लखमीचंद जैन ने संघ के चैत्यालय को घर में ले जाकर अपने घर शांतिविधान किया। श्रीपाल जैन ने भी पंचपरमेष्ठी विधान किया। भगवान को विराजमान करने से साधु भी इनके यहाँ पहुँचे और इन लोगों को मंगल आशीर्वाद दिया। २१ फरवरी को जयभगवान जैन ने अपने घर पर शांति विधान किया और गुरुओं का आशीर्वाद प्राप्त किया।

यहाँ से २१ फरवरी को विहार कर हम लोग हस्तिनापुर टाउन में राकेश जैन, मवाना वालों की कोठी पर ठहर गये।

हस्तिनापुर जंबूद्वीप स्थल पर मंगल प्रवेश —

प्रातः अभिषेक देखकर ९ बजे के बाद यहाँ से विहार कर दिया। जंबूद्वीप के अध्यक्ष महोदय रवीन्द्र कुमार जैन व मेरठ से आये अमरचंद जैन, अरविन्द जैन, प्रेमचंद जैन आदि ने स्वागत किया तथा बैंड बाजे व जुलूस के साथ वहाँ से विहार कराया। बड़े मंदिर के गुरुकुल के सभी बच्चे भी साथ-साथ चल रहे थे। मार्ग में श्री अनन्तवीर के घर पर स्थित चैत्यालय के दर्शन किये। वहाँ उन्होंने दूध से मेरे पादप्रक्षालन कर आरती की। बच्चों को नाश्ता कराया।

वहाँ से चलकर हम सभी बड़े मंदिर का दर्शन करके ११ बजे के बाद जंबूद्वीप स्थल पर आ गये। यहाँ गेट पर स्वागत, आरती के बाद अंदर प्रवेश कर हम लोगों ने कल्पवृक्ष भगवान महावीर स्वामी के दर्शन किये पुनः त्रिमूर्ति मंदिर में आकर दर्शन करके दो मिनट श्रावकों को मंगल आशीर्वाद दिया, बाद में आहार के लिए उठ गई।

इस प्रकार मेरा यह कार्तिक सुदी १ से लेकर फाल्गुन सुदी १२ तक का प्रवास मंगलमयी रहा है। यहां से निकलने के बाद से सर्वत्र स्थानों पर हस्तिनापुर से आने-जाने वाले अनेक यात्रियों ने आ-आकर दर्शन किये हैं और उपदेश भी सुने हैं। सर्वत्र जहाँ-जहाँ पहुँचना हुआ है, लोगों ने भक्ति करके, उपदेश सुनकर व व्रत, मंत्र आदि ग्रहण कर संघ से लाभ लिया है। यहाँ से विहार में मेरे साथ आर्यिका चंदनामती जी, पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर जी व क्षुल्लिका श्रद्धामती जी रही हैं तथा ब्र. कमलेश कुमार, ब्र. कु. आस्था व ब्र. कु. बीना भी संघ में थीं। ये सभी साधु सकुशल यहाँ आकर जंबूद्वीप के दर्शन कर प्रसन्न हुए। सर्वत्र बड़ौत, मेरठ आदि में मेरे संघ को रोकने के लिए लोगों ने बहुत प्रयास किये थे किन्तु यहाँ वैशाख में महामहोत्सव होने वाला है इसलिए ब्र. रवीन्द्र कुमार आदि के विशेष आग्रह से हमें वापस जंबूद्वीप स्थल पर आना हुआ है अन्यथा वह चातुर्मास कहीं भी हो सकता था।

£ ९९ ¤

जंबूद्वीप महामहोत्सव की तैयारियाँ—

यहाँ जंबूद्वीप के जिनमंदिरों का दर्शन करके मन में बहुत खुशी हुई। प्रातः फाल्गुन वदी १३, दिनाँक २३ फरवरी को सिद्धान्तसार दीपक का स्वाध्याय प्रारंभ कर दिया। यहाँ क्षेत्र पर हम लोगों की दिनचर्या सुचारू चलती रहती है। 'ह्रीं' में चौबीस तीर्थंकर विराजमान कराकर उसकी प्रतिष्ठा करानी है अतः यहाँ पर वासुदेव से नमूने के लिए मिट्टी का ह्रीं बनवाया गया।

इधर कमलमंदिर में अंदर पूरा संगमरमर पत्थर लग चुका था। बाहर कमल की बड़ी-बड़ी कलियों में पत्थर लग रहा है। सुमेरु पर्वत के भीतर भूमि में पत्थर लग रहा है। सुमेरु के अंदर की दीवालों की पुताई हो रही है। यहाँ जैनेतर लोग सुमेरु के अंदर दीवालों में अपने-अपने नाम खोद कर गंदा कर देते हैं, सो बहुत ही दुःख होता है। वास्तव में यह नैतिकता के विरुद्ध है, जहाँ जो मर्यादा है, उसकी सुरक्षा रखते हुए ही दर्शनार्थियों को दर्शन करना चाहिए।

आष्टान्हिक पर्व में विधान —

फाल्गुन शु. ७ को चन्द्रप्रभ भगवान का निर्वाण लाडू चढ़ाया गया। ४ मार्च से आष्टान्हिका पर्व शुरू है। हापुड़ से शिखरचंद जैन व दिल्ली से जिनेन्द्रप्रसाद जैन सपरिवार आ गये, जिनेन्द्र प्रसाद जी की बहन

सरलाजी भी आईं। फाल्गुन शु. ८, दिनाँक ४ मार्च १९९० को प्रातः १०-१६ पर झण्डारोहण हुआ पुनः अंकुरारोपण सकलीकरण आदि क्रियायें हुईं।

महोत्सव की मीटिंग —

४ मार्च को मध्यान्ह में प्रतिष्ठा समिति की मीटिंग रखी गई थी। दिल्ली, बड़ौत, अमीनगरसराय, मेरठ, मोदीनगर आदि से उत्साही कार्यकर्ता आ गये। लोगों को कार्यभार दिये गये थे, सो सभी ने खूब उत्साह दिखाया।

फाल्गुन शु. ११ के दिन भगवान नेमिनाथ व सहस्रफणा चिंतामणि भगवान पार्श्वनाथ का प्रतिष्ठापना दिवस होने से दोनों भगवान की पूजाएँ कराईं। प्रतिदिन तीस चौबीसी विधान की पूजा की जा रही थी।

ह्रीं व ४५८ मंदिर के आर्डर —

मुरादाबाद से कारीगर बुलाये गये थे। रवीन्द्र कुमार ने फाल्गुन शु. १३, ९ मार्च को इन्हें धातु की ५ फुट ऊँची 'ह्रीं' का आर्डर दिया और धातु के ५ मेरु के तथा शेष ३७८ मंदिरों के भी आर्डर दिये, खुशी हुई।

विधानपूर्ति —

फाल्गुन शु. १५, दिनाँक ११ मार्च के दिन विधान की पूर्णाहुति की गई। इस विधान में तीस चौबीसी की पूजाएँ हैं और ७२० अर्घ्य हैं। जंबूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत है। ऐसे ही धातकी खण्ड में दो भरत, दो ऐरावत हैं और पुष्करार्ध द्वीप में भी दो भरत, दो ऐरावत हैं। इन पाँचों भरत व पाँचों ऐरावत क्षेत्रों में षट्काल परिवर्तन होता है। प्रत्येक चतुर्थकाल में इनमें चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। ऐसे भूत-वर्तमान और भावी तीन-तीन चौबीसी में तीस चौबीसी हो जाती हैं। इनके नामों की छपी एक छोटी सी पुस्तक मुझे दक्षिण में मिली थी। उधर कई एक महिलाएँ तीस चौबीसी के सात सौ बीस उपवास भी करती हैं। मेरे संघ में आर्यिका पद्मावती जी ने भी ये सात सौ बीस उपवास किये थे।

इस विधान की ३-४ जयमालाएँ कु. माधुरी ने टेप में भर दी थीं, सो मैं अभी तक रात्रि में सोते समय सुनती रहती हूँ। भगवान की माता के १६ स्वप्न और उनके फल, जन्मकल्याणक महोत्सव, आठ प्रातिहार्य आदि का इसमें सुन्दर वर्णन है।

आज दिन में भी बूँदाबाँदी हुई, मौसम ठण्डा रहा। अजमेर से आई बस में स्वरूपचंद कासलीवाल, हेमचंद बड़जात्या आदि पुराने भक्त श्रावक आये, आहार दिया और उपदेश सुना। कुछ सामयिक चर्चायें हुईं। राजस्थान के पुराने भक्त आ जाते हैं, तो उनके प्रति एक अपनापन-सा लगने लगता है।

चैत्रवदी एकम् को मेरा सोलहकारण का प्रथम उपवास था। चैत्रवदी दूज को मवाना से श्रीपाल जैन अपने यहाँ सिद्धचक्र विधान पूर्ण करके यहाँ आये, त्रिमूर्ति मंदिर में दूध से बड़ी शांतिधारा की, बहुत ही आनन्द आया पुनः आगे वैशाख में यहाँ इन्द्रध्वज विधान का निर्णय करके गये हैं। यह इन्द्रध्वज विधान हर एक समस्याओं को सुलझाने के लिए अमोघ उपाय है।

जिनप्रतिमाओं के लिए आदेश —

चैत्र वदी ९, दिनाँक २१ मार्च को भगवान ऋषभदेव की जयन्ति थी। चक्रवर्ती भरत का जन्म भी इसी तिथि को हुआ था। यहाँ भरत भगवान की भी प्रतिमा विराजमान है अतः १०८ कलशों से भगवान ऋषभदेव के अभिषेक के साथ ही भरतेश प्रभु का भी अभिषेक कराया गया।

रवीन्द्र कुमार इसी दिन दिल्ली होकर जयपुर गये। वहाँ ह्रीं की चौबीस तीर्थंकरों की मूर्ति के, इन्द्रध्वज मंदिर के मध्यलोक के चार सौ अट्ठावन जिनमंदिरों की ४५८ जिनप्रतिमाओं के एवं यहाँ प्रतिष्ठा में विधिनायक भगवान महावीर की ९ इंची प्रतिमा के आर्डर करके आये हैं।

इन जिनप्रतिमा सहित ४५८ जिनमंदिरों का न्यौछावर ११११ रुपये रखा गया है। वास्तव में आज भी जैन समाज में जिनप्रतिमा विराजमान करने का एवं जिनमंदिर बनवाने का बहुत ही चाव है। होना भी चाहिए, शास्त्र में लिखा है कि—

"तीनों कालों और तीनों लोकों में व्रत, ज्ञान, तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्यकर्म संचित होते हैं, वे भावपूर्वक एक प्रतिमा के बनवाने से उत्पन्न हुए पुण्य की बराबरी नहीं कर सकते हैं।"[१]

गले में दर्द आदि से अस्वस्थता —

२१ मार्च से कुछ मौसम की ठण्डी आदि कारणों से मुझे ज्वर आ गया। धीरे-धीरे गले व तालू में बहुत दर्द हो गया। कई दिनों तक रात्रि में खूब सूखी खांसी आई। कमजोरी अधिक हो गई। २४ मार्च को मेरठ से हकीम सेफुद्दीन को बुलाया गया। इन्होंने जुकाम, खांसी के लिए काढ़ा लिख दिया। प्रतिदिन प्रातः १०० डिग्री बुखार हो जाता था। तालु का दर्द बढ़ता गया, समझ में नहीं आया कि क्या कारण है?

तब यहाँ से सूचना पहुँचते ही अमरचंद होमब्रेड, डा. ए.पी. अग्रवाल (आनन्द प्रकाश अग्रवाल) को लेकर आ गये।

बात यह है कि डाक्टर की कोई दवा तो साधुओं के काम आती नहीं है। फिर भी रोग के निर्णय के लिए डाक्टरों को बुलाया जाता है। सन् १९८५ में मेरठ, इंदौर, दिल्ली आदि के पाँच वैद्य यहाँ आये हुए थे, मेरी अतीव मरणासन्न स्थिति में वमन रोकने का इलाज सोच रहे थे और कोई सार नहीं निकल रहा था, उस समय मोतीचन्द, रवीन्द्र कुमार की प्रेरणा से अमरचंद जी इन्हीं डाक्टर को लाये थे और इन्होंने पीलिया रोग का निर्णय दे दिया था, तब अतरसेन जैन वैद्य, दिल्ली वालों का छोटा सा नुस्का कासनी के बीज की ठंडाई का, जो कि ब्र. माधुरी के पास था, उसी से मैं स्वस्थ होकर बैठी हूँ।

तभी से मेरे संघ के साधुओं को इन डाक्टर के प्रति बहुत ही हार्दिक प्रेम है। इस समय भी इन्होंने निर्णय दिया कि जुकाम, खांसी के सिवाय माताजी को कोई बीमारी नहीं है। फिर भी दो-चार दिन तक गले में दर्द घटने के बजाए बढ़ती गई। तब यहाँ के मनोज कुमार जैन ने गले के स्पेशलिस्ट डाक्टर भाटिया को बुलाया, उसने देखकर निर्णय दिया कि "हिलते हुए दांतों की वजह से तालु में बड़ा सा छाला हो गया है।" जब उनका कोई उपचार नहीं सुना गया, तब उन्होंने कहा—"दही से कुल्ले कराओ।" बाद में हकीम सेफुद्दीन को पुनः बुलाया गया, उन्होंने भी यही तकलीफ बता कर काढ़ा लिख दिया और कुल्ले के लिए कोई पत्ती दे गये। ये हकीम जी भी फरवरी १९८६ से मेरा उपचार कर रहे हैं बल्कि अब तो ये जंबूद्वीप के तो क्या, हमारे संघ के प्रमुख चिकित्सक बन चुके हैं। इन्होंने कभी यहाँ आने की फीस नहीं ली है। जबकि ये जल्दी कहीं जाते नहीं हैं। फिर भी यहाँ तो सूचना पाते ही गुरुभक्ति से आ जाते हैं। जब तालु में छाला का निर्णय हो गया, तब उपचार भी सही हो गया।

आचार्य पद की चर्चा —

चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की परंपरा के चतुर्थ पट्टाधीश आचार्यश्री अजितसागर जी महाराज लगभग छह महीने से अस्वस्थ चल रहे हैं। क्षयरोग हो गया है। जनवरी १९९० में रवीन्द्र कुमार उनके दर्शन करके आहार का और प्रवचन का वीडिओ कराकर लाये थे। १० फरवरी को रवीन्द्र ने मुझे भी यह वीडियो दिखाया। आचार्यश्री को हड्डी का ढांचा सा देखकर बहुत ही दुःख हुआ। छह महीने के अंतर्गत कई बार रवीन्द्र कुमार जी दर्शन करके आये हैं। संघ से आर्यिका जिनमती, ब्र. सूरजमल जी, कु. कला आदि के पत्रों से स्वास्थ्य के समाचार मिलते रहते हैं।

---

१. पद्मपुराण, पर्व ३२, श्लोक १७४-१७५।

इस संदर्भ में अनेक बार मेरे पास यह चर्चा आती ही रहती है कि "इन आचार्यश्री के बाद इस पाँचवे आचार्यपट्ट के योग्य कौन है?" मैंने अपना यही निर्णय दिया है कि—

"इस परंपरा में पांचवे पट्टाचार्य के योग्य आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर जी महाराज हैं। चूँकि ये वर्तमान में इस परम्परा में मुनिदीक्षा में प्रौढ़ हैं। चारित्र में, तपश्चरण में भी प्रौढ़ हैं तथा उम्र में, ज्ञान में व परम्परा के संरक्षण में भी प्रौढ़ हैं.....।

चारित्र चक्रवर्ती गुरुणां गुरुः आचार्यश्री शांतिसागर जी ने भी उपर्युक्त गुणों में प्रौढ़, वयोवृद्ध आचार्यकल्प श्री वीरसागर जी को ही अपना आचार्य पट्ट भेजा था। सन् १९६९ में महावीर जी में भी दीक्षा में बड़े और गंभीरता आदि गुणों में प्रौढ़, ऐसे धर्मसागर जी महाराज को तृतीय पट्टाधीश बनाया गया था और उनके आचार्यत्व में परम्परा का गौरव बढ़ा ही था।

संघ परम्परा के अनेक दिगम्बर मुनि, जैसे कि उपाध्याय श्री अभिनन्दनसागर जी आदि ने भी श्रेयांससागर जी के लिए ही निर्णय दिया है। संघ के अनुभवी सबसे पुराने ब्र. सूरजमल जी प्रतिष्ठाचार्य भी अपनी सूझ-बूझ से हमेशा उचित ही निर्णय देते आये हैं। ये ब्रह्मचारी जी गुरुदेव आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के गणधर और सुपुत्र तथा बायें हाथ कहे जाते थे। अभी इन्होंने मुनि श्री श्रेयांससागर जी महाराज के लिए ही भावी आचार्यपट्ट का निर्णय दिया है। उनकी सूचना के अनुसार मैंने भी यही अपना निर्णय उन्हें भेज दिया है।

मैं तो जिनेन्द्रदेव से प्रतिदिन यही प्रार्थना किया करती हूँ—

"भगवन् ! आचार्यश्री अजितसागर जी महाराज स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करें और चिरकाल तक दीर्घायु होकर धर्मप्रभावना करते रहें। इनके बाद भी चिरकाल तक निर्दोष आचार्य परम्परा चलती रही। यही मेरी भावना है.....।"

रवीन्द्र कुमार यहाँ से २९ मार्च को आचार्य कल्प श्रेयांससागर जी के दर्शनार्थ व आचार्यश्री अजितसागर जी के दर्शनार्थ गये थे पुनः एक अप्रैल को यहाँ आकर उन्होंने बताया कि "बहुतेक मुनिगण व आर्यिकायें तथा प्रमुख ब्रह्मचारीगण सभी लोग भावी आचार्य के लिए आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर जी का ही निर्णय कर चुके हैं।" उचित निर्णय सुनकर प्रसन्नता हुई।

व्रत साधना —

इन दिनों मेरा सोलह कारण व्रत चल रहा है। (चैत्र माह १९९० में) यद्यपि व्रतों में एक उपवास एक पारणा करना होता है। मेरी शक्ति न होने से मात्र व्रतों की भावना भाने के लिए ही अथवा साधुपद में प्रतिदिन एकाशन है ही है, इस हेतु से भी मैं माह के प्रथम दिन जैसे चैत्र वदी एकम् को उपवास करके, एक दिन आहार में दो रस और दूसरे दिन (उपवास के दिन) नीरस आहार लेकर पुनः अंत में जैसे वैशाख वदी एकम् को उपवास करके आदि-अंत की प्रतिपदा को उपवास करके यह व्रत करती हूँ। ये सोलहकारण पर्व वर्ष में तीन बार— भाद्रपद, माघ और चैत्र में आते हैं।

मेरा स्वास्थ्य कमजोर रहने से उपवास के लिए संघस्थ चंदनामती आदि बहुत ही रोका करती हैं।

सन् १९५६ में चातुर्मास में मैंने गुरुदेव आचार्यश्री वीरसागर जी से कर्मदहन व्रत उपवास करने के लिए माँगा था। तब गुरुदेव बोले थे—"ज्ञानमती ! मैंने तुम्हारा जो नाम रखा है, उसी के अनुसार ज्ञान की आराधना में लगी रहो, तुम्हारा शरीर कमजोर है, तुम उपवास आदि में मत पड़ो।" फिर भी मैंने बार-बार प्रार्थना की— "महाराज जी ! मैं महीने के एक उपवास का अभ्यास करना चाहती हूँ" पुनः अति अनुनय-विनय करके मैंने गुरुदेव से छोटा सा व्रत ज्ञान-पचीसी लिया तथा उसमें ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के पच्चीस उपवास किये थे।

पुनः सन् १९५८ में गिरनार क्षेत्र पर मैंने आचार्य श्री शिवसागर जी से कर्मदहन व्रत लिया था, जिसमें एक सौ अड़तालिस कर्मप्रकृतियों के नाश करने वाले सिद्ध परमेष्ठी की एक-एक जाप्य थीं। आचार्य महाराज ने मेरे लिए "एक माह में एक व्रत नहीं भी हो, तो भी चलेगा" ऐसी विशेष छूट कर दी थी।

इस व्रत को पूर्ण करके मैंने चक्रवाल व्रत लिया था। यह व्रत प्रतिमाह उस महीने के नक्षत्र के दिन ही आता है। लगभग तीन वर्ष में इसे पूर्ण किया पुनः मैंने पंचमेरु के अस्सी (८०) उपवास किये। इस व्रत में पाँच मेरु के ४-४ वनों के २० बेला भी किये जाते हैं। किन्तु मैंने मात्र ८० उपवास किये थे। विधिवत् व्रत न करके (एक भी बेला न करके) किया था। ऐसे ही नंदीश्वरद्वीप के ५२ चैत्यालयों के ५२ उपवास किये थे। इसमें ४ अंजनगिरि के ४ बेले थे। मैंने बेले के लिए एक उपवास व द्वितीय उपवास में सेव आदि फल का रस ले लिया था। यह व्रत सन् १९८२ में पूरा करके मैंने तीन चौबीसी के ७२ उपवास किये हैं। इस व्रत में सन् १९८५-८६ में अधिक बीमारी होने से महीने में एक नहीं हो सका। मैंने व्रत लेते समय आचार्य श्री शिवसागर जी की आज्ञानुसार महीने में एक अवश्य हो ऐसा बंधन नहीं रखा था। सन् १९७६ में बृहत्पल्यव्रत किया था, इसमें महीने में कई व्रत आ जाते थे अतः उपवास की शक्ति न होने से मट्ठा लेकर यह व्रत किया था।

इसी प्रकार भाद्रपद में भी मैंने पहले रत्नत्रय व्रत लिया था, इसमें सर्वप्रथम श्रवणबेलगोल में मैंने भाद्रपद में तीन उपवास किये थे। मेरी जन्मभूमि-टिकैतनगर में प्रति भादों में अनेक स्त्री, पुरुष, बालक बालिकाएँ बेला-तेला किया करते थे। मैं खूब ललचाती रहती थी किन्तु शारीरिक कमजोरी से एक उपवास से अधिक कभी सोच ही नहीं पाती थी।

दीक्षा के बाद खानिया चातुर्मास में गुरुदेव श्री वीरसागर जी के चरण सानिध्य में मनोबल बढ़ाकर-साहस करके मैंने भादों में बेला (दो उपवास) किये थे, तब निराबाध हो जाने से कई बार तेला (तीन उपवास) करने की इच्छा हुई थी।

श्रवणबेलगोल में मौसम अनुकूल देखकर मैंने साहस कर लिया किन्तु तीसरे उपवास में घबराहट बहुत बढ़ गई, तब संघस्थ शिष्यायें कहने लगीं—"अम्मा! आप को शरीर के साथ इतना अन्याय नहीं करना चाहिए। आपका संग्रहणी व्याधि से ग्रसित शरीर है....इत्यादि।"

पुनः मैंने यह रत्नत्रय व्रत वर्ष में भादों, माघ, चैत्र में तीन वर्ष तक किया है। इसमें तेरस-पूर्णिमा को आहार एवं चतुर्दशी का उपवास करके किया है।

इसके बाद सन् १९६८ में पंचमेरुव्रत लिया। इसे भी मात्र भादों में पंचमी और नवमी के उपवास व मध्य के तीन दिन आहार करके पांच वर्ष तक यह व्रत सम्पन्न किया है। पुनः सन् १९७३ में सुगंधदशमी व्रत लेकर, दस वर्ष तक इस दिन उपवास करके यह व्रत पूर्ण किया है।

तत्पश्चात् हस्तिनापुर में सन् १९८२ में यह सोलहकारण व्रत लिया था। अभी यही व्रत चल रहा है।

बात यह है कि मुझे प्रारंभ से ही व्रत-उपवास करने की खूब रुचि थी किन्तु शक्ति न होने से व्रतों के ग्रंथ 'हरिवंशपुराण' 'मराठी व्रतकथा संग्रह' आदि पढ़-पढ़कर संतोष किया करती थी और भावना भाया करती थी। आज भी अनेक साधु-साध्वी क्या श्रावक-श्राविका भी ऐसे हैं, जो आठ-आठ, दस-दस उपवास करके भी स्वस्थ रहते हैं। सिद्धान्त के अनुसार उनके स्थिर नामकर्म का उदय ही समझना चाहिए और पूर्व पुण्य भी समझना चाहिए कि जो वे अपनी शक्ति को तत्पश्चरण में लगाते हैं।

फिर भी ऐसा सोचकर ही संतोष कर लेती हूँ कि—"इस पंचमकाल में ऐसे हीन संहनन के शरीर को प्राप्त कर बचपन से ही मैं संयम साधना में लग गई हूँ। त्रैलोक्य पूज्य ऐसे ब्रह्मचर्य को आजन्म ग्रहण करके स्त्री पर्याय में सर्वोत्कृष्ट ऐसी आर्यिका दीक्षा को प्राप्त कर चुकी हूँ। सम्यग्दर्शन से शुद्ध अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

भावना को भाती रहती हूँ। तब ही तीव्र रुचि के होते हुए, जितने भी नाममात्र उपवास आदि कर लिये हैं, उनकी भावना ही आगे तपश्चरण की शक्ति प्रदान करेगी क्योंकि मैंने सदा तपस्वी साधुओं की तो प्रशंसा की ही है, तपश्चरण करने वाले श्रावक, श्राविकाओं की भी खूब सराहना की है। उनके साहस को भी बढ़ाया है। यह सब विशेष पूर्वपुण्य के उदय से ही प्राप्त हुआ है। अब अपनी आत्मा को शक्ति रूप से या निश्चयनय से परमात्मा-भगवान आत्मा सिद्ध स्वरूप समझकर उसको पूर्णशुद्ध करने के उपाय में लगी हुई हूँ।

इसलिए मेरे लिए यह पंचमकाल भी और हीन संहनन भी, मोक्षप्राप्ति का साधन होने से उत्तम ही हैं। शास्त्र की एक गाथा याद आती रहती है कि "अस्थिर शरीर से स्थिर पद, मलिन शरीर से निर्मल आत्मा और कर्मसहित देह से कर्मरहित सिद्ध पद यदि प्राप्त किया जा सकता है, तो इस नश्वर, मलिन, सकर्मा शरीर से वही उपाय करना चाहिए.....।"

रसपरित्याग में अनुभव —

मेरे से उपवास प्रायः नहीं हो पाते थे अतः त्याग भावना से प्रेरित हो मैं रस त्याग और अन्न त्याग बहुत किया करती थी। आहार में कभी एकमात्र गेहूँ अन्न लेती थी, तो कई वर्षों तक मात्र चावल ही एक अन्न लिया था। बड़े संघ में इस त्याग से कई बार पानी से रोटी या भात खाकर आना पड़ता था किन्तु यह बात मैं किसी को कहती नहीं थी। अभी भी मैं मात्र दो अन्न ही लेती हूँ।

रस त्याग में दीक्षा के बाद मीठा तो बहुत ही कम लिया है। सन् १९५७ में गुरुदेव आचार्य श्री वीरसागर जी की समाधि के बाद उनकी स्मृति में जीवन भर के लिए गुड़, शक्कर का त्याग कर दिया था। दही और तेल भी छोड़ दिया था। आचार्य महावीर कीर्ति जी महाराज ने कई बार कहा था कि — "त्याग की वस्तु को बीमारी में व पथ्य में खुला रखना चाहिए।"

पुनः सम्मेदशिखर में सन् १९६३ से मैंने नमक नहीं लिया था। इससे पूर्व भी मैं प्रायः वर्ष में ४-६ महीने का नमक त्याग कर ही दिया करती थी। फल और सब्जी में भी १०-१२ वर्ष तक मात्र मैं सेव, अनार और केला व सब्जी में परवल और कच्चा केला ही लेती थी। १० वर्ष से प्रायः घी का त्याग ही चल रहा है, कभी महीने, दो महीने में एक बार लेती हूँ।

सन् १९८५-८६ की लम्बी बीमारी में डाक्टरों, वैद्यों व हकीम ने यही कहा कि "माताजी ने घी, नमक, मीठा आदि त्याग करके तथा नीरस भोजन व अर्धपेट भोजन करके अपने शरीर के साथ बहुत अन्याय किया है।.....अब इनके शरीर में नमक, शक्कर, कैल्शियम आदि तत्वों की बहुत ही कमी हो गई है, इत्यादि.....।"

यह सब सुनकर हमारी डायरी से त्याग की विधि को पढ़कर हमारे शिष्य-शिष्याओं ने हमें आहार में नमक लेने को बाध्य कर दिया। बोले — "माताजी! आपने बीमारी के समय औषधि व पथ्य में नमक खुला रखा हुआ है, सो भला इससे अधिक बीमारी और क्या आयेगी?....."

आज भी मैं जब कभी नमक छोड़ देती हूँ तो प्रायः नजला आदि रोग कुपित हो जाते हैं अतः हकीम जी की प्रेरणा और शिष्यों के आग्रह विशेष से मुझे नमक लेना पड़ रहा है।

अब मैं सोचा करती हूँ — "अनगार धर्मामृत आदि ग्रंथों में लिखा है कि शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप — शक्ति के अनुसार ही त्याग और तपश्चरण करना चाहिए किन्तु 'सर्वशक्त्या वैयावृत्यं' साधु आदि की वैयावृत्ति करने में सर्वशक्ति लगा देनी चाहिए" अतः इसी वाक्य के अनुसार अपने शिष्य-शिष्याओं को मैं अधिक रस परित्याग, अधिक उपवास आदि नहीं देती हूँ और यही कहा करती हूँ कि "तुम लोगों ने परिग्रह आदि छोड़ा है, यही बहुत बड़ा त्याग है और फिर चौबीस घण्टों में मात्र एक बार आहार, वह भी निरन्तराय मिल गया तो ठीक

है अतः अच्छी तरह से स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए ही रसादि छोड़ना चाहिए तथा जीवन भर के लिए तो मैं अब अपने शिष्यों को कोई भी रस या अन्न या फलादि नहीं छोड़ने देती हूँ। अब मैं यह अपना अनुभव ज्ञान अपने शिष्य परिकरों को भी सुनाया करती हूँ।

फिर भी सर्वथा एकांत नहीं लेना चाहिए, मेरा तो यह दृढ़ श्रद्धान रहा है कि रसादि त्याग करने से आत्मिक शक्ति अवश्य बढ़ती है। आदि पुराण में एक श्लोक आया है—

''**रसत्यागप्रतिज्ञस्य रसऋद्धिरभून्मुनेः।**'' रस त्याग करने वाले मुनि के रस ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं।

अभी चंदनामती को आहार में भक्त लोग हलुआ, खीर आदि लेने का विशेष आग्रह करते हैं, तब वे आहार के बाद आकर घबराने लगती हैं, कहती हैं—माताजी! मुझे नीरस भोजन से शांति रहती है, घी दूध आदि लेने से प्रायः घबराहट हो जाती है, तो मैं यही कहा करती हूँ कि—"ठीक है, तुम नीरस भोजन लेवो अच्छा है, जो पचेगा उसी से शक्ति आयेगी, देखो! मैंने रूखा, सूखा नीरस आदि आहार करके भी अपने दीक्षित जीवन के अड़तीस वर्षों में दशों हजार मील की पदयात्रा कर ली है और पठन-पाठन व ग्रंथ लेखन आदि के इतने कार्य कर लिये है इसलिए श्रावकों के कहने पर लक्ष्य न देकर अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखो तथा भोजन में रसों की लंपटता—गृद्धि कभी मत रखो.....इत्यादि।

मेयर एवं सभासदों के लिए—

५ अप्रैल को मेरठ से उत्तर-प्रदेश की नगर पालिकाओं के अध्यक्ष, सदस्य व मेयरों के होने वाले सम्मेलन में भाग लेने के लिए आये महानुभावों में से यहाँ दर्शनार्थ अनेक लोग आये। जंबूद्वीप देखकर प्रसन्न हुए। उन्हें क्षुल्लक मोतीसागर जी ने जंबूद्वीप क्या है? जैन साधु-साध्वियों की चर्या क्या है? मनुष्यों के कर्तव्य क्या हैं? इस पर अच्छा प्रवचन दिया पुनः मैंने कहा कि—"आप लोग सदाचार से अपने जीवन को आदर्श बनाते हुए अहिंसा आदि धर्म के बल पर परलोक की सिद्धि करो.....इत्यादि।" पुनः'ॐ नमः' मंत्र की महिमा बतलाकर सभी को यह लघु मंत्र होते हुए भी अतिशायि मंत्र प्रदान किया।

महिने में अनेक बार यहाँ बालक, बालिकाओं के समूह या एन.सी.सी. आदि के कैंप पुलिस विभाग के या मिलेट्री के लोगों को उपदेश देने के अवसर आते हैं। व्यक्तिगत भी अनेक राजनैतिक या प्रबुद्ध परिवार आते रहते हैं। इन लोगों को अहिंसा प्रधान उपदेश सुनाकर मैं प्रायः अधिकांश लोगों को मांस, अण्डे व शराब का त्याग कराती रहती हूँ। कोई-कोई तो सहज ही छोड़ देते हैं और कुछ लोगों को इन वस्तुओं के छुड़ाने में अधिक प्रयास करना पड़ता है, फिर भी अभक्ष्य भक्षण का त्याग कर देने से मन में प्रसन्नता हो जाती है। ऐसा लगता है कि—"इन लोगों ने महानतीर्थ हस्तिनापुर के व गुरु के दर्शन का फल प्राप्त कर लिया है।" यदि त्याग निभा लेंगे, तो इस भव में भी सुख,शांति व समृद्धि को पायेंगे और परलोक में दुर्गति में जाने से अवश्य ही बच जायेंगे।

मृत्युंजय विधान—

बात यह है कि "शास्त्रों में अकालमृत्यु को टालने व असाध्य रोग को दूर करने के लिए अनेक धर्मानुष्ठान माने गये हैं। पोदनपुर के राजा विजय अपनी मृत्यु का योग जानकर सर्वराज्य त्यागकर मंदिर में विधानानुष्ठान में लग गये, उनकी अकालमृत्यु टल गई। यह कथा उत्तर-पुराण में वर्णित है। मैनासुन्दरी ने अपने पति और ७०० कुष्ट रोगियों के रोग को दूर करने के लिए सिद्धचक्र विधान का अनुष्ठान किया था।

मेरे पास कई लोग ज्योतिषी के कहे अनुसार पुत्रादि के मृत्युयोग की समस्या लेकर आये और मैंने उन्हें मृत्युंजय के यंत्र-मंत्र आदि बताये हैं, जिससे उनके पुत्रादि दीर्घायु हुए हैं। औषधि आदि भी सफल देखी जाती है, अन्यथा चिकित्सा शास्त्र, औषधालय आदि व्यर्थ हो जायेंगे।

श्लोकवार्तिकालंकार जैसे महाग्रंथ में भी लिखा है कि—

"अंतरंग में असातावेदनीय का उदय होने पर और बहिरंग में वात आदि विकार के होने पर दुःख—रोग होता है, उस समय उसके विरोधी औषधि का उपयोग करने पर दुःख—रोगादि का अभाव हो जाने से उसका उपचार हो जाता है।

£ १०० ¤

समयसार ग्रंथ पूर्वार्ध —

समयसार ग्रंथ का पूर्वार्ध छपकर आ चुका है। इसमें संवर अधिकार तक २०१ गाथायें हैं। इस ग्रंथ में गाथाओं का पद्यानुवाद आर्यिका चंदनामती से कराया है। अमृतचंदसूरि के कलश काव्यों का पद्यानुवाद आर्यिका अभयमती द्वारा किया हुआ था, सो इसी में दे दिया। प्रत्येक अधिकार के बाद सारे प्रकरणों पर संक्षिप्तीकरण करके और उसमें के महत्वपूर्ण विषय भी लेकर के सारांश बना दिये हैं। स्थल-स्थल पर भावार्थ और विशेषार्थ में गुणस्थान व्यवस्था व नयव्यवस्था को भी स्पष्ट किया है अतः यह ग्रंथ यहाँ वाचना में सर्व साधुओं व विद्वानों को बहुत ही सुन्दर लगा था। सो ठीक ही है क्योंकि समयसार ग्रंथ तो स्वयं में ही सुन्दर है, इसका विषय 'समय शुद्ध आत्मा है' जैसा कि ग्रंथ में कहा है "समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे" तथा इन ग्रंथ के प्रणेता श्री कुंदकुंददेव भी स्वयं सुन्दर-महान् आचार्य हुए हैं। यहाँ 'महामहोत्सव' में श्री कुन्दकुंदद्विसहस्राब्दी के उपलक्ष्य में श्री कुंदकुंद संगोष्ठी के अवसर पर इस ग्रंथ का विमोचन कराया जायेगा। यहाँ क्षुल्लक मोतीसागर जी और रवीन्द्र कुमार इन ग्रंथों के प्रकाशन, प्रूफ संशोधन आदि में सर्व शक्ति लगा रहे हैं।

अष्टसहस्री का प्रकाशन —

इस अष्टसहस्री ग्रंथ का अनुवाद मैंने जयपुर के ईसवी सन् १९६९ के चातुर्मास में प्रारंभ किया था जबकि मैं आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के संघस्थ कई एक मुनियों को, आर्यिकाओं को तथा ब्रह्मचारी आदि को अष्टसहस्री ग्रंथ पढ़ा रही थी। इसके हिन्दी अनुवाद के समय संघस्थ मोतीचंद जैन की विशेष प्रार्थना रही है और साथ ही विद्वान श्री भंवरलाल जी न्यायतीर्थ, पं. इन्द्रलाल जी शास्त्री आदि की भी विशेष प्रेरणा रही है। ईसवी सन् १९७० के टोंक (राजस्थान) के चातुर्मास के बाद पौष शुक्ला १२ के दिन टोडाराय सिंह (राजस्थान) में भगवान पार्श्वनाथ के मंदिर में बैठकर मैंने इस महान ग्रंथ का अनुवाद पूर्ण किया था। उस समय श्रावकों ने भक्ति से प्रेरित हो मूलग्रंथ और अनुवादित कापियों को चौकी पर विराजमान कर श्रुतस्कंध विधान की पूजा सम्पन्न की थी।

अनन्तर पौष शुक्ला १५ के दिन आचार्यश्री धर्मसागर जी की जन्मजयंती समारोह के उपलक्ष्य में रथयात्रा के साथ पालकी में इन ग्रंथ व कापियों को विराजमान कर उनकी शोभायात्रा सम्पन्न हुई थी।

इसके बाद ईसवी सन् १९७४ में इस अष्टसहस्री ग्रंथ के प्रथम भाग का प्रकाशन होकर दिल्ली में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज और आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज, इन दोनों के विशाल संघों के सानिध्य में तथा मुनिश्री विद्यानंद जी महाराज व मेरे संघ के सानिध्य में, इसका विमोचन समारोह सम्पन्न हुआ था।

शेष भागों का प्रकाशन —

ईसवी सन् १९८७ में अष्टसहस्री के द्वितीय आदि भागों के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। द्वितीय भाग के छपते ही, प्रथम भाग जो छप चुका था, उसकी कुछ ही प्रतियाँ शेष रही थीं अतः प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण भी छपवाया गया और साथ ही शेष बचे तृतीय भाग को भी प्रेस में दे दिया गया था। इस महान्

ग्रंथराज का अनुवाद कार्य सन् १९७० में पूर्ण हुआ था और सन् १९९० में यह पूर्ण ग्रंथ तीन भागों में छप चुका है। बीस वर्ष के बाद इसके तीनों भागों के छपने का योग आया। इस बीच सन्मार्ग दिवाकर तीर्थोद्धारक शिरोमणि आचार्यश्री विमलसागर जी ने, अन्य अनेक साधुओं ने व पं. कैलाशचंद सिद्धान्त शास्त्री, डा. दरबारी लाल कोठिया, डा. लाल बहादुर जी शास्त्री, डा. पन्नालाल जी साहित्याचार्य आदि अनेक विद्वानों ने बहुत बार कहा था कि "माताजी! इस अष्टसहस्री ग्रंथ को जल्दी ही पूरा प्रकाशित कराइये।"

आज प्रसन्नता की बात है कि अष्टसहस्री का प्रथम भाग 'वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला' का प्रथम पुष्प था और यह तृतीय भाग इस ग्रंथमाला का सौवां (१००वां) पुष्प जो कि कली के रूप में रखा था, वह विकसित होकर (सन् १९९०) आने वाला है।

इस ग्रंथ के अनुवाद में शब्दशः अर्थ करके यथास्थान भावार्थ और विशेषार्थ देकर विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है तथा प्रायः प्रकरणों के पूर्ण होने पर उन-उन विषयों के सारांश दिये गये हैं। इसलिए मैंने इस हिन्दी टीका का 'स्याद्वादचिंतामणि' यह नाम दिया है।

ग्रंथ की दुरूहता—

यह ग्रंथ कितना दुरुह है, कितना क्लिष्ट है और इसका विषय भी कितना कठिन है? इसके लिए इस ग्रंथ के अंत में लिखा हुआ है कि—

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्द्धमानार्था।।

अर्थात् यह अष्टसहस्री कष्टसहस्री है—हजारों कष्टों के द्वारा समझ में आने वाली है-हजारों मनोरथों को सफल करने वाली है।

पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर जी ने तीनों भागों के मूल संस्कृत, टिप्पण आदि के प्रूफ संशोधन में बहुत ही श्रम किया है क्योंकि इतने महान् और दार्शनिक ग्रंथ का संशोधन हर किसी से कराना सहज नहीं था। क्षुल्लक जी की यह सरस्वती भक्ति ही रही है। टिप्पणियों का प्रूफ व्याकरण शुद्धि की दृष्टि से प्रायः मुझे ही देखना पड़ा है। ब्र. रवीन्द्र कुमार ने भी इन ग्रंथों के प्रकाशन में बहुत ही रुचि ली है। तीन भाग में इस अष्टसहस्री ग्रंथ का इस आने वाले 'जम्बूद्वीप महामहोत्सव' में विमोचन होने वाला है, अभी तृतीय भाग की प्रस्तावना छप रही है।

आत्मानुशासन —

आर्यिका श्री अभयमती जी ने समयसार कलश पद्यानुवाद पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, आत्मानुशासन आदि कई ग्रंथों के पद्यानुवाद बनाये थे। इनमें से आत्मानुशासन नहीं छपा था, मैंने कई बार कहा कि बिना छपे हुए ग्रंथ मुझे देवो, मैं रवीन्द्र कुमार को देकर छपवा दूँगी। आज प्रसन्नता की बात है कि उनका यह ग्रंथ छप चुका है। इसी महोत्सव में इसका विमोचन होने वाला है। आर्यिका अभयमती जी कमजोर होते हुए भी ज्ञानाराधना में अपना उपयोगी समय लगाती हैं, यह अच्छी बात है। वास्तव में आत्मशुद्धि और आत्मसिद्धि का उपाय जिनागम का स्वाध्याय ही है। ये अभयमती जी हमेशा ज्ञानाराधना में लगी रहें, यही मेरी भावना है।

अष्टमूल गुण प्रदर्शनी —

शास्त्रों के अनुसार मूलगुण के तीन प्रकार अत्यधिक प्रचलित हैं। श्री अमृतचन्दसूरि के अनुसार पाँच उदुंबर और तीन मकार—(मद्य, मांस, मधु) इन आठों का त्याग करना आठ मूलगुण हैं—१. मद्य २. मांस ३. मधु ४. रात्रि भोजन ५. पंच उदुंबर फल इन पाँचों का त्याग तथा ६.जीव दया ७. जल छानकर पीना और ८. पंचपरमेष्ठी को नमस्कार-नित्य देवदर्शन करना, ये आठ मूलगुण 'सागार धर्मामृत' में कथित-पं. आशाधर

के अनुसार हैं। पुनः पाँच अणुव्रत लेना तथा तीन मकार का त्याग करना, ये तीसरा प्रकार श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार है।

चन्दनामती की भावना बनी कि मूलगुण नियम के नियमपत्र (फार्म) छपाये जावें, जो कि जैन ही क्या, जैनेतर लोगों से भी भरायें जावें और इस महामहोत्सव में इन अष्टमूलगुणों की चित्र प्रतियोगिता रखी जावे। उन चित्रों की प्रदर्शनी लगाई जावे तथा चित्र बनाने वालों को उचित पुरस्कृत किया जावे। उन्होंने मुझसे निवेदन किया।

मैंने उनकी इस योजना को सराहा और उन्हें प्रोत्साहित किया। इसलिए यहाँ उनकी प्रेरणा से यह अष्टमूलगुण प्रदर्शनी भी रखी गयी है। इस योजना से छोटे-छोटे बालक बालिकाओं को तो अपनी चित्रकला प्रदर्शन का अवसर मिल ही रहा है, प्रौढ़ अनुभवी विद्वान् भी इसमें भाग ले रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है। हमेशा ही ये ऐसे-ऐसे धर्म प्रचार के कार्यों में अपना अमूल्य समय का सदुपयोग करती रहें, इनके लिए यही मेरा आदेश है।

आचार्यश्री वीरसागर स्मृति ग्रंथ —

सन् १९७४ में मैंने मोतीचन्द और रवीन्द्र कुमार से कहा था कि 'हमारे दीक्षा गुरु आचार्यश्री वीरसागर जी का स्मृति ग्रंथ निकालना है।" कुछ रूप रेखाएँ बनाई थीं और सूचना भी वर्तमान पत्रों में निकाल दी गई थी पुनः कुछ महीने बाद आर्यिका श्री सुपार्श्वमती जी ने आचार्यश्री के स्मृति को निकालने का निर्णय लिया, सूचनाएँ प्रसारित हुईं। कई एक लोगों ने मुझसे निवेदन किया—"माताजी उधर से यदि आर्यिका सुपार्श्वमती जी ग्रंथ निकाल रही हैं, तो ठीक है, ग्रंथ निकलना चाहिए अतः आप न निकालें।" मैंने यह बात उचित ही समझी। कुछ कारणवश उधर से जब ग्रंथ नहीं निकल पाया, तब पुनः सन् १९८५ में मैंने यह स्मृति ग्रंथ निकालना चाहा किन्तु कार्य की अत्यधिक व्यस्तता से रवीन्द्र कुमार ने कहा—"माताजी! यह कार्य आप विद्वानों को सौंप दें, मैं ग्रंथ संकलित हो जाने पर छपा दूँगा।"

मैंने कई एक विद्वानों को कहा किन्तु कुछ सफलता नहीं मिली, कोई विद्वान् समय देने को तैयार नहीं हुए तब मैंने पुनः मोतीसागर, रवीन्द्रकुमार और आर्यिका चंदनामती को बिठाकर यह कहा कि—"अब आचार्यदेव का स्मृति ग्रंथ निकालना है, तुम्हीं लोग परिश्रम करके सामग्री एकत्रित करो।"

इन तीनों ने स्वीकर किया और ग्रंथ के लिए श्रद्धाञ्जलि, संस्मरण चित्र, लेख आदि मंगाने शुरू किये। रवीन्द्र कुमार तो संस्थान के निर्माण आदि कार्य में बहुत व्यस्त रहते हैं। मुझे प्रसन्नता है कि आर्यिका चंदनामती ने पूरी रुचि से सामग्री एकत्रित करना, जांचना, टाइप आदि कराना अत्यधिक कार्य भार संभाला है और आजकल अत्यधिक श्रम करके प्रूफ संशोधन के कार्य में भी लगी हुई हैं। क्षुल्लक मोतीसागर जी भी संस्मरण, लेख आदि की पांडुलिपियाँ पढ़कर देखते रहते हैं और समय-समय पर प्रूफ आदि देखने में भी सहयोग देते रहते हैं। यह ग्रंथ 'महामहोत्सव' तक छप जायेगा और इस मंगल आयोजन में ही इसका विमोचन होगा, यह प्रसन्नता की बात है। बीच-बीच में कई पत्र भी ऐसे आये कि-"आप अब इस स्मृति ग्रंथ को न निकालें.....क्योंकि आचार्यदेव की समाधि हुए भी ३३ वर्ष हो गये हैं। सन् १९५७ में उनकी समाधि हुई थी अतः उनसे संबंधित संस्मरण आदि विशेष नहीं मिल पायेंगे, कारण कि तीन दशक हो गये हैं । उनके समय की तो पीढ़ी ही प्रायः खत्म हो चुकी है। इत्यादि, फिर भी मैंने कहा—"जो भी हो, मुझे तो अपने गुरु के गुणों को धर्मनिष्ठ समाज के सामने रखना ही है। गुरुदेव के आदर्श जीवन एवं शिक्षास्पद वचनों से भव्यजीव युगों-युगों तक प्रेरणा लेते रहेंगे और गुरुदेव की भक्ति से पुण्य संचय करते रहेंगे, इसी भावना के साथ मैंने इस ग्रंथ के प्रकाशन की प्रेरणा देकर गुरुदेव के श्रीचरणों में परोक्षरूप में यह फूल की एक पांखुड़ी समर्पित की है।

जंबूद्वीप स्थल पर भव्य कमल मंदिर —

सन् १९७५ में इस जंबूद्वीप के लिए क्रय की गई छोटी-सी भूमि में एक गर्भागार—छोटा सा कमरा बनवाकर इसमें भगवान महावीर स्वामी की सात हाथ—सवा नौ फुट की खड्गासन प्रतिमाजी विराजमान की गई थीं। उस समय बड़े मंदिर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी। मेरी इच्छानुसार मोतीचंद व रवीन्द्रकुमार ने उसी समय इन प्रतिमाजी की भी प्रतिष्ठा करा ली थी। यद्यपि उस समय यहाँ संस्थान द्वारा विशेष आयोजन नहीं किये गये थे, फिर भी मूर्ति पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधिवत् कराई गई थी। तब से भगवान महावीर उसी गर्भागार में खड़े थे। जंबूद्वीप स्थल पर आज जो जंबूद्वीप रचना, त्रिमूर्ति मंदिर, रत्नत्रय निलय अनेक धर्मशालाएँ आदि कार्य दिख रहे हैं और जो सन् १९८२ से ८५ तक जंबूद्वीप ज्ञानज्योति का सारे भारत में प्रवर्तन हुआ है, मैं कहा करती हूँ कि "यह सब महान् कार्य व यहाँ का वैभव इन कल्पवृक्ष स्वरूप भगवान महावीर स्वामी का ही प्रसाद है।"

कई वर्षों से मेरे मस्तिष्क में एक कमलाकार मंदिर की रचना का नक्शा घूम रहा था जिसे आसाम के कारीगर 'वासु' को बुलाकर मैंने कई एक कमल बनवाकर उनमें से जो जंच गया था, उसका मॉडल बनवाया था। आज वह भव्य कमल मंदिर बन कर तैयार हो गया है। इसमें अंदर व बाहर कमल के दलों पर संगमरमर पत्थर लग रहा है। वर्तमान में काम बहुत ही द्रुतगति से चलाया जा रहा है।

"भगवान महावीर कमल के ऊपर खड़े हैं और कमल के भीतर खड़े हैं।" यही इस मंदिर की विशेषता है।

इस वासुदेव कारीगर ने यह कमल बनाया है। यहाँ पार्श्वनाथ, नेमिनाथ भगवान के भी कमल, त्रिमूर्ति के तोरणद्वार, ज्ञानमती कला मंदिर की झांकियाँ आदि इसने बनाये हैं। इसके हाथ की कला सुन्दर होने से यहाँ के कार्यकर्ता इसे ही बुलाते हैं।

अन्य निर्माण कार्य —

सुमेरु के अंदर भी पत्थर लगाया जा रहा है। उधर श्री अमरचंद पहाड़िया कलकत्ता वालों की कोठी का तथा जिनेन्द्रप्रसाद ठेकेदार, दिल्ली, अमरचंद अरविन्द कुमार होमब्रेड आदि छह श्रावकों के फ्लेट बन रहे हैं।

ब्र. रवीन्द्र कुमार प्रातः से रात्रि १०-११ बजे तक इसी निर्माण कार्य के कराने में व महामहोत्सव की तैयारी में ऐसे संलग्न हैं कि समय पर भोजन व नींद की भी उन्हें परवाह नहीं है।

श्री के.सी. जैन इंजीनियर यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर लगभग ७-८ वर्षों से निःस्वार्थ, अवैतनिक सेवा दे रहे हैं। वर्तमान में ८२ वर्ष की उम्र में कमर आदि में दर्द होते हुए भी हर-एक निर्माण पूरी तरह संभालकर कराते हैं। इनकी धर्मपत्नी कैलाशवती जी भी मेरी वैयावृत्ति में खूब रुचि रखती हैं प्रायः मैनेजर, मुनीम आदि की महिलाओं को भी वैयावृत्ति का महत्व समझाती रहती हैं। उन्होंने ५-६ वर्ष पूर्व मेरे से आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था, धर्मकार्यों में भी रुचि रखते हैं। यह प्रकरण १९८७ का है।

चार प्रतिष्ठाएँ —

यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर वीर सं. २५०१, फरवरी सन् १९७५ में भगवान महावीर स्वामी की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी।

वीर सं. २५०५, मई सन् १९७९ में सुदर्शन मेरु के सोलह जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा हुई थी। तभी पांडुक शिला आदि चार शिलाओं पर अभिषेक के लिए चार जिनप्रतिमा, भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ की तीन प्रतिमा व भगवान बाहुबली की ५ फुट की प्रतिमा आदि की प्रतिष्ठाएँ हुई थीं। उस समय विधिनायक भगवान् शांतिनाथ थे।

वीर सं. २५११, २ मई १९८५ में जंबूद्वीप जिनबिंब प्रतिष्ठापना महोत्सव में १८५ सिद्धप्रतिमाओं की,

जो कि जंबूद्वीप के जिनमंदिर व देवभवनों के गृहचैत्यालयों में हैं, उनकी तथा भगवान ऋषभदेव की व भगवान भरतेश आदि की अनेक प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई थी। इसमें विधिनायक भगवान ऋषभदेव थे।

वीर सं. २५१३, ११ मार्च १९८७ में भगवान् पार्श्वनाथ व नेमिनाथ की प्रतिष्ठा हुई। इसमें विधिनायक भगवान पार्श्वनाथ थे।

इस प्रकार यहाँ जंबूद्वीप स्थल पर चार पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ संपन्न हो चुकी हैं। ***जंबूद्वीप महामहोत्सव पांचवीं प्रतिष्ठा —***

मैंने अनेक बार कहा "इस जंबूद्वीप स्थल पर हमेशा के लिए एक निश्चित समय पर महोत्सव करते ही रहना है। निर्णय यह हुआ कि 'जंबूद्वीप जिनबिंब प्रतिष्ठापना महोत्सव' पाँच-पाँच वर्ष में मनाया जावे।" तदनुसार सन् १९८५ के बाद अब सन् १९९० में पांच वर्ष के उपलक्ष्य में यह प्रथम 'जंबूद्वीप महामहोत्सव' मनाया जा रहा है। इसके साथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भी होगी। इसमें इन्द्रध्वज-मध्यलोक के ४५८ अकृत्रिम जिनमंदिरों की ४५८ जिनप्रतिमाओं की एवं साथ ही ह्रीं मूर्ति की — इसमें विराजमान चौबीस तीर्थंकरों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होगी। इस प्रतिष्ठा में विधिनायक भगवान महावीर स्वामी होंगे।

इसी अवसर पर 'कमल मंदिर' की प्रतिष्ठा- मंदिर की शुद्धि होगी और इसी कमल मंदिर पर कलशारोहण किया जायेगा और वैशाख शु. १२ रविवार, ६ मई को 'महामहोत्सव' के उपलक्ष्य में ९१ फुट ऊँचे (शिखर समेत) सुमेरु पर्वत की पांडुक शिला पर १००८ कलशों द्वारा जिनेन्द्रदेव का महाअभिषेक कराया जायेगा। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में जैन रामायण और जैन महाभारत का मंचन दिखाया जावेगा।

इस महामहोत्सव का प्रारंभ वैशाख शु. ३, अक्षय तृतीया, २७ अप्रैल १९९० के मंगल दिवस झंडारोहण से होगा। इसी वर्ष वार्षिक रथयात्रा पूर्वक भगवान नवनिर्मित पांडाल की वेदी में विराजमान किये जायेंगे।

वैशाख शु. ४ से ८ तक पाँच दिन तक समवसरण महामण्डल विधान व जाप्यानुष्ठान होगा।

इसी मध्य वैशाख शु. ४, २८ अप्रैल से २ मई तक शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर भी रखा गया है।

वैशाख शु. ९ से १३, वीर नि. सं. २५१६, ३ मई से ७ मई १९९० तक यह पाँचवीं पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होगी।

पहले जंबूद्वीप आदि के निर्माण कार्यों में प्रतिष्ठा आदि महोत्सवों में ब्र. मोतीचंद, रवीन्द्र कुमार दोनों मिलकर सर्व कार्य करते थे। ब्र. माधुरी का भी सहयोग रहता था। अब मोतीचंद तो क्षुल्लक मोतीसागर बन गये हैं और ८ महीने हुए ब्र. माधुरी ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर चंदनामती बन गई हैं अतः ये दोनों ग्रंथों के प्रकाशन में तो पूरा उपयोग रखते हैं किन्तु निर्माण आदि कार्यों में अपने पद के योग्य परामर्श ही देते हैं। यही कारण है उधर ब्र. रवीन्द्र कुमार अकेले पड़ जाते हैं, तो उन्हें बहुत ही श्रम पड़ जाता है।

ये जब मेरे पास आकर पूर्ववत् कुछ मार्गदर्शन आदि व परामर्श चाहते हैं, तब मैं यह कह देती हूँ कि —

"अब तुम आर्यिका चंदनामती व क्षुल्लक मोतीसागर के साथ बैठकर, तीनों लोग मिलकर ही सब काम किया करो। वास्तव में तुम तीनों ही १८-२० वर्षों में जंबूद्वीप निर्माण आदि, जंबूद्वीप ज्ञानज्योति प्रवर्तन व प्रतिष्ठा तथा महोत्सव आदि बहुत से कार्य करके बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर चुके हो अतः तुम तीनों में सर्वांगीण योग्यता है, तुम लोगों ने जैसे पूर्व में मेरे मार्गदर्शन में आपस में मिलकर सौहार्द सहित इतने सब कार्य किये हैं मेरी तो यही प्रेरणा है कि आगे भी तुम तीनों पूर्ववत् ही अतिशय वात्सल्य व सौहार्द से अपनी संयम साधना के साथ-साथ संस्थान के सर्वतोमुखी कार्यकलापों को बढ़ाते हुए दिगदिगंत में जैनधर्म की कीर्तिपताका फहराते रहो, सतत मेरे मन में यही भावना बनी रहती है। जिनेन्द्र प्रसाद ठेकेदार, दिल्ली,

गणेशीलाल रानीवाला कोटा, कैलाशचंद करोलबाग दिल्ली, अमरचंद जैन होमब्रेड आदि कर्मठ कार्यकर्ताओं ने भी इन लोगों के साथ महोत्सव आदि में कंधे से कंधा मिलाकर कार्य किया है और आज भी कर रहे हैं। ये सभी गुरुभक्त श्रावक इन लोगों के साथ 'आगम प्रत्यय' के सदृश जुड़े हुए हैं और आगे भी ऐसे ही जुड़े रहेंगे, इस प्रकार से ये लोग कृतसंकल्प हैं, सो प्रसन्नता का विषय है क्योंकि इन सबके ही क्या, पूरे भारत की जैनसमाज के तथा राजनैतिक राष्ट्रीय नेता आदि लोगों के सहयोग से ही यह जंबूद्वीप रचना बनी है और संस्थान सर्वांगीण विकसित हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है । इन सभी के लिए मेरे द्वारा 'धर्मवृद्धिरस्तु' आशीर्वाद के साथ-साथ जीवन में आदर्श बनने की प्रेरणा मिलती ही रहती है।

वर्तमान में मेरी संघ व्यवस्था —

मेरे संघ में आर्यिका शिवमती यहाँ हमेशा गुरु की वैयावृत्ति के साथ-साथ स्वाध्याय आदि में सतत लगी रहती हैं, आर्यिका चंदनामती तो मेरे आदेश से सम्यग्ज्ञान के लेखों का भार संभालते हुए अन्य ग्रंथों के प्रकाशन आदि में लगी रहती हैं व यात्रियों के साथ वार्तालाप आदि करके मेरा भार हल्का करती रहती हैं। क्षुल्लक मोतीसागर जी ग्रंथों के प्रूफ आदि देखने में तथा यात्रियों की समस्या सुनकर उसे हल करने में मेरा भार हल्का करते रहते हैं, इनकी यही अनुकूल प्रवृत्ति सबसे बड़ी गुरुभक्ति व गुरु की-माता की वैयावृत्ति है। क्षुल्लिका श्रद्धामती भी गुरु की वैयावृत्ति व स्वाध्याय आदि में लगी रहती हैं।

कु. आस्था और कु. बीना संघ की व्यवस्था, चौका करना-आहार देना, गुरुओं की औषधि, उपचार आदि में तत्पर रहते हुए भी पठन-पाठन में लगी रहती हैं।

इस छोटे से भी संघ में सुचारू व्यवस्था बनी हुई है और सभी ज्ञानाराधना तथा चरित्र आराधना में तत्पर होकर भी धर्म प्रभावना के कार्य में रुचि लेते रहते हैं, इससे मुझे संतोष व शांति बनी रहती है और मैं भी अपनी आवश्यक क्रियाओं को संभालते हुए इन सभी को अपने जीवन के अनेक अनुभव सुना-सुनाकर उचित मार्गदर्शन देती रहती हूँ।

यात्रियों का आवागमन —

यहाँ जंबूद्वीप दर्शन के निमित्त से प्रतिदिन यात्रियों का मेला सा लगा रहता है। जैन यात्रियों की बसों के आ जाने से उपदेश तो करना पड़ता ही है, साथ ही यंत्र-मंत्र व व्रतादि ग्रहण करके देश-विदेश के जैन बंधु व महिलाएँ प्रतिदिन गुरु से लाभ लेकर संतुष्ट होते रहते हैं। प्रतिदिन नये-नये यात्रियों को देखकर मुझे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी की वह पंक्तियाँ याद आती रहती है कि जो उन्होंने कुम्भोज में मुनिश्री समंतभद्र जी से कही थीं—

"विहार करके तुम्हें जो कार्य करना चाहिए, वह यहाँ क्षेत्र पर हो ही जाता है अतः तुम यहाँ रहने में विकल्प न करके जैसे बने वैसे, भगवान बाहुबलि की बड़ी से बड़ी प्रतिमा स्थापित कराओ.....।"इत्यादि।

इससे मेरे मन में भी यह भाव आ जाता है कि "विहार करने से मेरे द्वारा जितने लोग धर्मलाभ ले सकते हैं, उसकी अपेक्षा यहाँ रहने से नित्य नये-नये बहुत से लोग लाभ लेते रहते हैं.....।"

बात यह है कि अब मेरे शरीर में विहार करने की शक्ति तो है नहीं अतः गुरुओं की सूक्तियाँ स्मरण कर संतोष धारण करना ही पड़ता है।

मैं कई बार कहा करती हूँ—

"कोई खास रोगी है, उसे यदि डाक्टर कह देते हैं कि तुम्हें इसका छह महीने तक इलाज करना होगा, तो रोगी और उसके परिवार के लोग डाक्टर की बात मान लेते हैं यदि डॉ. परहेज में घी, दूध, नमक, चावल या फल आदि त्याग कराते हैं, तो उसे भी करके मात्र फुलका सब्जी खाते हैं और तो क्या, भूख से कम भी

खाना स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे ही यदि किसी को कोई भी असाध्य रोग हो जाय, तथा डाक्टर, वैद्य, हकीम आदि सभी चिकित्सक भी जवाब दे देवें, फिर भी आप रोगी को लेकर गुरु के पास पहुँचो। आठ दिन या एक माह या छह महीने का भी यदि वे कोई अनुष्ठान-जाप्य या विधान करते हैं, आप उसे श्रद्धा से, भक्ति से करो, निश्चित ही तीव्र असाता कर्म भी साता में संक्रमण कर जावेगा और रोगी स्वस्थ हो जावेगा। जिनेन्द्र भक्ति से दोनों हाथ लड्डू हैं, यदि रोग नष्ट हो गया या अकालमृत्यु टल गई, तो वह पूरी आयु भोगेगा, स्वस्थ, सुखी रहेगा और यदि कदाचित् मृत्यु भी हो गई तो वह जिन भक्ति के प्रभाव से परलोक में नियम से देवगति को प्राप्त करेगा, जहाँ अणिमा, महिमा आदि लोकोत्तर वैभव व सागरों तथा पल्यों की बड़ी लम्बी आयु मिलेगी।"

ऐसे ही किसी व्यापार सिद्धि या मुकमदे आदि के प्रसंग में भी मैं कहा करती हूँ—"आप लोग कार्यसिद्धि के लिए न जाने कितनों को हजारों, लाखों रुपया घूस में दे देते हो, फिर भी विश्वास नहीं कि आपका काम बनेगा ही बनेगा.....किन्तु यदि आप ऐसे ही खुले मन से जिनेन्द्रदेव की पूजा कर गुरु के कहे अनुसार कोई बड़ा सा अनुष्ठान कर लो, उसमें लाख रुपया या जो भी अधिक से अधिक खर्च कर सको कर लो तो तुम्हारी कार्यसिद्धि पूर्णतया निश्चित है, क्योंकि पूजा से विशेष पुण्य संचय हो जाने से अशुभग्रह, अनिष्ट आदि स्वयं टल जाते हैं, तब मनोकामना की पूर्ति नियम से हो ही जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। फिर भी गुरु की बात भला कौन मानते हैं? हाँ! ऐसे-ऐसे सुशील कुमार जैसे विरले ही कोई पुण्यवान् भव्यजीव है, जो हम लोगों की बात मानकर आज भी अपना मनोरथ सिद्ध करते हुए देखे जाते हैं, इसके अनेक उदाहरण मौजूद हैं।"

एक बार सीतापुर जिले के बेलहरा गाँव के वीरकुमार जैन का पुत्र दिलीप, जो १६-१७ वर्षीय था, अकस्मात् रेल से उतरने के बाद बिछुड़ गया, उसका दिमाग कुछ कमजोर था, वह नहीं मिल सका, उसके माता-पिता रोते-बिलखते मेरे पास आये, मैंने एक मंत्र दिया और सांत्वना देकर कहा—"इस मंत्र के जाप्य से तुम्हारा पुत्र नियम से आ जायेगा.....।" वे बेचारे कई बार आये और मेरी प्रेरणा से उसी जाप्य को जपते रहे। छह महिने बाद एक दिन वे सवा लाख जाप्य पूर्ण करके मंदिरजी से निकले और मन में सोचने लगे—"आज मेरा दिलीप आ जाना चाहिए....।" हुआ भी वैसा ही, मध्यान्ह में एक परिचित व्यक्ति उस दिलीप युवक को लेकर आ गया और वह कहाँ-कहाँ भटका है? सारी कथा सुना दी। जल्दी से वीरकुमार ने अपने पुत्र को छाती से लगाया और सुख-दुख मिश्रित अश्रुओं को बहाकर अपना शोक भगा दिया। कुछ दिन बाद वे पुत्र को लेकर मेरे पास हस्तिनापुर आये और एक विधान करके बोले—

"माताजी! अब तो इसका दिमाग भी बिल्कुल ठीक हो गया है। यह सब आपका ही प्रसाद है। "मैंने कहा—"भाई! यह मेरा नहीं, बल्कि यह तो मात्र इस मंत्र का ही प्रभाव है....। यह सन् १९८४ की घटना है। इस मंत्र को मुझसे लेकर पचीसों लोगों के खोये हुए, पुत्र पिता आदि मिल चुके हैं, ऐसा मैंने स्वयं देखा है।

मंत्र गोपनीय है —

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहा करते थे—"मत्रि गुप्तभाषणे" मत्रि धातु गुप्त भाषण अर्थ में है। इसी धातु से मंत्र, मंत्रणा और मंत्री शब्द बने हैं। गुरुदेव का यही कहना था कि मंत्र गुरु से ही लेना चाहिए और उसे गुप्त ही रखना चाहिए। अनुष्ठान के मंत्र को हवन में भी मौन से ही बोलते हुए मात्र 'स्वाहा' का उच्चारण करना चाहिए। इस बात के अनुसार मंत्र ग्रंथों को छपाना मुझे इष्ट नहीं है.....।

गुरुमुख से मैंने कुछ मंत्र सीखे थे, आज उन्हीं को किन्हीं-किन्हीं पापभीरू श्रावकों को दे दिया करती हूँ। खास करके स्वास्थ्य लाभ, घर की शांति और व्यापार लाभ के लिए ही प्रायः लोग आते हैं। गुरुमुख से मैंने सुना है—महामंत्र णमोकार मंत्र तो मातृका मंत्र है, इसे चाहे जैसे व चाहे जिस स्थिति में जपो, यह फलेगा ही फलेगा, माता के समान सुख ही देगा, कभी हानि नहीं करेगा। हाँ! दूसरे बीजाक्षर सहित जो मंत्र

होते हैं, उनको यदि अशुद्ध जप ले तो लाभ की बजाए हानि की भी संभावना रहती है अतः णमोकार मंत्र के सिवास अन्य मंत्र गुरु से ही लेना चाहिए तथा उन्हें गुप्त ही रखना चाहिए।

इन्द्रध्वज विधान का झण्डारोहण —

वैशाख वदी २, दिनाँक १२ अप्रैल १९९० के दिन इधर एक विधान के हवन की प्रारंभिक क्रिया चल ही रही थी कि उधर त्रिमूर्ति मंदिर के सामने इन्द्रध्वज विधान के लिए झण्डारोहण क्रिया शुरू हो गई। सवा नौ बजे श्रीपाल जैन, उनके पुत्र ज्ञानचंद जैन ने झण्डारोहण किया। यह विधान १२ अप्रैल से २२ अप्रैल तक चला। वास्तव में ये विधान, अनुष्ठान आने वाले बड़े-बड़े अनिष्टों को दूर करने वाले हैं और नाना प्रकार की मनोकामना की सिद्धि करने वाले हैं, यह निश्चित है। ये भी भक्तिमान श्रावक हैं, आगम की विधि से विधान करा रहे थे।

आर्यिका दीक्षा दिवस —

वैशाख वदी दूज को सन् १९५६ में माधोराजपुरा गाँव में आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के कर-कमलों से मेरी आर्यिका दीक्षा हुई थी, उसके अनुसार आज १९९० में मेरा चौतीसवाँ (३४वां)आर्यिका दीक्षा दिवस है। दीक्षा दिवस के दिन तो नियम से मुझे गुरुदेव के वचन याद आ जाते हैं। गुरुदेव कहा करते थे कि—

"अपने दीक्षा के दिन को मत भूलो.....दीक्षा के समय के भावों को हमेशा याद करते रहो.....।"

वास्तव में दीक्षा के समय दीक्षार्थी के बहुत ही सुन्दर वैराग्य भाव होते हैं, अगर वैसे ही भाव हमेशा बने रहें, तो संसार समुद्र से पार होने में भला कितनी देर लगेगी? इस भव में न सही, तीसरे आदि भवों में मोक्ष को प्राप्त कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है।

मेरा विशेष पुण्य योग —

प्रत्येक दीक्षा दिवस पर मैं अपने संयमी जीवन का सिंहावलोकन अवश्य करती हूँ। कई वर्षों से यहाँ जितने भी यात्री आते हैं, खास करके जो पहली बार आने वाले हैं, वे बरबस ही जंबूद्वीप की प्रशंसा करते हुए जैसे कि अघाते ही नहीं हैं पुनः मेरे पास आकर मेरी प्रशंसा में भाव विभोर हो कैसे-कैसे वाक्य बोलते हैं? उन्हें क्या लिखना? प्रत्यक्षदर्शी स्वयं ही बोलते हैं और दूसरे के शब्द सुनते भी हैं। उस समय मैं यही कह देती हूँ—"भाई! इस सुन्दर भव्य जंबूद्वीप रचना का श्रेय तो इन मोतीचंद वर्तमान में क्षुल्लक मोतीसागर और रवीन्द्र कुमार को ही है, अथवा धन के सहयोग में पूरी दिगम्बर जैन समाज को ही है। मैंने तो मात्र तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ के आधार से नक्शा बता दिया है तथा कार्यकर्ताओं को प्रेरणा के साथ आशीर्वाद दे दिया है, बस इसके सिवाय भला इस रचना में मेरा क्या है?.....कमल मंदिर के विषय में इस कमलाकार के लिए अवश्य ही मैंने मेरा मस्तिष्क लगाया है....।"

वास्तव में मैं सोचा करती हूँ कि "मैं रचना के कार्य में जितना अलिप्त रही हूँ, शायद हर कोई उतना सोच भी नहीं सकते हैं। सन् १९५२ में घर छोड़ने के बाद रुपये-पैसे को तो मैंने हाथ से छुआ ही नहीं है। मुझे यह भी नहीं मालूम है कि चेक या ड्राफ्ट कैसे होते हैं? या रसीदें कैसे काटी जाती हैं? इत्यादि।"

मैं समझती हूँ कि मैने पूर्वजन्म में ही नहीं, कई जन्मों में कुछ विशेष ही पुण्य संचित किया होगा कि जिसके फलस्वरूप ये दो शिष्यरत्न मुझे मिले हैं। इन्होंने मुझे 'संयम में बाधा पहुँचे' ऐसा कोई भी कार्य करने को नहीं कहा है, प्रत्युत् रुपयों की, कार्यालय की सारी जिम्मेवारी संभाले रहें और तृतीय रत्न कु. माधुरी थीं जिन्होंने आहार-विहार की व्यवस्था व वैयावृत्ति करते हुए तथा संस्थान के कार्य व ज्ञान ज्योति प्रवर्तन में और ग्रंथ लेख, प्रकाशन में भी रुचि से कार्य किया था, आज भी वे आर्यिका चंदनामती बनकर पद के योग्य कार्य संभाल ही रही हैं। तभी तो मैंने इस रचना के निमित्त से यहाँ हस्तिनापुर क्षेत्र पर बैठकर एक दो नहीं, छोटे

और बड़े मिलाकर सवा सौ ग्रंथ लिखे हैं। यह लेखन कार्य निश्चित है कि किसी गाँव या शहर में श्रावकों की बस्ती में बैठकर नहीं किया जा सकता था। प्राचीन काल में भी तो आचार्यों ने — श्री कुंदकुंददेव, श्री नेमिचन्द्राचार्य आदि महर्षियों ने 'कुंदकुंदाद्रि', 'श्रवणबेलगोल' आदि तीर्थों पर बैठकर ही तो महान्-महान् ग्रंथ रचे थे।

यह निश्चित ही है कि पूर्वपुण्य के योग से ही निराबाध संयम साधना, ज्ञानाराधना व सरस्वती माता की उपासना के अवसर मिल पाते हैं।

आज भी मैं श्री जिनेन्द्र देव से यही प्रार्थना करती हूँ कि —

"हे भगवन् ! आपकी कृपा प्रसाद से अंत तक मेरा संयम निराबाध पलता रहे और मेरा उपयोग अपनी आत्मशुद्धि में ही लगा रहे। इन कार्यकलापों से ही क्या, शरीर से भी निर्ममता बढ़ती रहे, बस आपसे यही एक इस दीक्षादिवस पर याचना है, भावना है।"

मेरी स्मृतियाँ

सप्तम खण्ड

£ १०१ ¤

१४ वर्षों का लम्बा अंतराल —

अप्रैल सन् १९८० तक मैंने अपनी स्मृतियों के आधार पर जो खट्टे-मीठे अनुभव इस पुस्तक में प्रस्तुत किये, उन्हें पढ़कर सैकड़ों पाठकों ने अपने दैनिक जीवन में लाभ उठाया, सामाजिक कार्यकलापों के लिए लोगों ने प्रेरणा प्राप्त की, धर्मप्रभावना के क्षेत्र में अनेक युवक-युवतियों ने प्रगति की तथा कई मुनि-आर्यिकाओं ने भी इस कृति को अपने जीवन का आधार बनाया, यह उनके पत्रों एवं वार्ताओं से जानकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई और मैंने अनिच्छापूर्वक भी किये गये अपने लेखन परिश्रम को सार्थक माना।

पहले भी संघस्थ शिष्य-शिष्याओं एवं कतिपय विद्वानों के आग्रह पर ही मैंने किसी तरह अपने ३५-४० वर्ष के अनुभवों को लेखनीबद्ध किया था और अब भी जब वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित कर रहा है, मेरे पास पुनः पुनः आर्यिका चंदनामती ने निवेदन शुरू कर दिया कि माताजी ! आप चाहे संक्षेप में लिखें किन्तु 'मेरी स्मृतियाँ' के इस द्वितीय संस्करण में आगे का प्रकरण अवश्य पूरा कर दें। इससे पूर्व भी कई बार डा. शेखरचंद्र जैन-अहमदाबाद एवं कुछ विद्वानों ने, श्रावकों ने इसी प्रकार का निवेदन किया था किन्तु मेरा मूड नहीं बन पाता था। मैं सबसे यही कह देती थी कि षट्खण्डागम सूत्रों की संस्कृत टीका लिखने में मुझे बहुत आनंद आता है, उससे आत्मिक तृप्ति मिलती है अतः अब मुझसे मेरी स्मृतियाँ (आत्मकथा) लिखने की बात मत कहा करो पुनः एक दिन (१८ मई २००४ को) कुण्डलपुर में मेरे दर्शनार्थ पधारे प्राचार्य श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन-फिरोजाबाद ने मुझसे पूछा कि माताजी ! आप अपनी आगे की आत्मकथा कब प्रकाशित करवा रही हैं? उनसे जब मैंने यह कहा कि उसे तो मैंने अभी लिखा ही नहीं है तब उन्होंने भी आग्रहपूर्वक आगे का लेखन कार्य करने हेतु निवेदन किया। इन्हीं प्रेरणाओं ने ही शायद मेरी लेखनी को दुबारा चलने को मजबूर कर दिया है किन्तु मैं स्वयं नहीं समझ पा रही हूँ कि कितने दिन यह लेखनी चल पाएगी, क्योंकि अब ७० वर्ष की आयु में जहाँ शारीरिक शक्ति अत्यन्त क्षीण हुई है, वहीं षट्खण्डागम की सोलहों पुस्तकों के सूत्रों की टीका लिखने की तीव्र अभिलाषा है इसीलिए मेरी दृष्टि में इस लेखन की अपेक्षा षट्खण्डागम लेखन का महत्व अधिक रहता है।

मेरी स्मृतियाँ का लेखन छूटने का दूसरा कारण यह भी रहा कि अपने बारे में कुछ भी लिखते हुए मुझे कभी-कभी आत्मप्रशंसा जैसा लगने लगता है अतः मैं अपनी दृढ़ता और सफलता अथवा दूसरों के द्वारा किये जाने वाले भक्तिपरक मूल्यांकन को भी अति अल्प शब्दों में प्रगट कर पाती हूँ। इसी प्रकार अच्छे कार्यों में भी ईर्ष्यावश दूसरों के द्वारा किये गये अपकार या प्रस्तुत किये गये विघ्नों का प्रस्तुतीकरण भी अति कठिन तो होता ही है, उसे याद करके मन में अंशमात्र भी क्षोभ, द्वेष न आ जावे, इस बात की चिंता बनी रहती है तथा ज्यों का त्यों लिखने में परनिन्दा जैसा अर्थ न प्रगट हो, यह ध्यान रखना भी आवश्यक होता है।

आचार्य परम्परा का विवाद —

जैसा कि मैंने पूर्व के अपने लेखन में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की वंशावली में निर्दोष आचार्य परम्परा का किंचित् वर्णन किया है कि चतुर्थ पट्टाचार्य श्री अजितसागर जी महाराज की भीषण अस्वस्थता के कारण संघ परम्परा में वयोवृद्ध मुनि आचार्यकल्प श्री श्रेयांससागर महाराज को सभी लोग पंचम पट्टाचार्य के पद पर अभिषिक्त करना चाहते हैं। आखिर दुर्योग से ९ मई १९९० वैशाख शु. पूर्णिमा को साबला (राजस्थान) में आचार्य श्री अजितसागर जी महाराज की समाधि हो गई, उसके बाद आचार्यपट्ट के विषय में सम्पूर्ण चतुर्विध संघ के अन्दर भारी विवाद रहा। संघ के ८० प्रतिशत साधु-साध्वियों ने मिलकर

लोहारिया (राज.) में वरिष्ठता, ज्ञान एवं दीर्घकालीन तपस्या के आधार पर १० जून १९९० को आचार्यकल्प श्रेयांससागर महाराज को पंचम पट्टाचार्य पद प्रदान किया, इसके अतिरिक्त २४ जून १९९० को महासभा नामक संस्था के अध्यक्ष निर्मल कुमार जैन सेठी द्वारा प्रस्तुत किये गये एक गोपनीय पत्र के आधार पर कतिपय श्रेष्ठियों और साधुओं ने संघस्थ मुनि श्री वर्धमानसागर जी को भी पंचम पट्टाचार्य पद प्रदान कर दिया। इस प्रकार सन् १९२४ से चल रही चारित्रचक्रवर्ती की अखण्ड आचार्य परम्परा सन् १९९० में खण्डित होकर दो पंचम पट्टाचार्यों में विभक्त हो गई। इस आचार्य परम्परा का सही विवरण समय-समय पर "सम्यग्ज्ञान" मासिक पत्रिका में प्रकाशित होता रहा है। मैं यहाँ उसका विश्लेषण न करके मात्र इतना ही कहूँगी कि चारित्रचक्रवर्ती की इस निर्दोष परम्परा में जब तक किसी हठाग्रही श्रावक ने अधिकार नहीं जमाया था, तब तक वह परम्परा पूर्ण शालीन और गौरवपूर्ण ढंग से चलती रही पुनः अब संस्थाओं एवं श्रेष्ठियों के प्रवेश से संघ का विभाजन देखकर मुझे एवं अनेक वरिष्ठ साधु-साध्वियों के हृदय को अत्यन्त आघात पहुँचा है अतः श्रावकों के लिए मेरी यही प्रेरणा है कि साधु संघों में जाकर उनकी भक्ति, वैयावृत्ति आदि खूब करें किन्तु उन्हें पद या धन की लिप्सा में फंसाकर संघ को तोड़ने-फोड़ने का पुरुषार्थ कभी न करें जिससे कि सदैव संतों की कृपा दृष्टि से जीवन सुखी बना रहे। वर्तमान में पंचम पट्टाचार्य (प्रथम) के स्वर्गारोहण के पश्चात् सन् १९९२ से षष्ठम पट्टाचार्य के रूप में पूज्य आचार्य श्री अभिनंदनसागर जी महाराज चतुर्विध संघ के साथ उस पट्ट परम्परा का संरक्षण कर रहे हैं तथा पूज्य आचार्यश्री वर्धमानसागर महाराज (पंचम पट्टाचार्य द्वितीय) भी उस परम्परा का संचालन कर रहे हैं।

विवाद सुलझा —

१४ मार्च १९९७ में आखिर वह पुण्य दिवस भी आया जब उदयपुर (राज.) से आचार्य श्री अभिनंदनसागर महाराज एवं भिण्डर (राज.) से आचार्य श्री वर्धमानसागर महाराज अपने-अपने संघ के साथ अतिशयक्षेत्र "अडिन्दा पार्श्वनाथ" तीर्थ पर पहुँचे। उस समय मैं अपने संघ के साथ मांगीतुंगी से दिल्ली की ओर विहार कर रही थी। रास्ते में ब्र. रवीन्द्र जी ने आकर कहा कि संघ से मुझे बुलाने हेतु फोन आया है और ब्र. सूरजमल बाबाजी ने भी मुझे आग्रहपूर्वक कहा है कि मैं अस्वस्थतावश नहीं जा पाऊँगा सो तुम अवश्य जाकर आपसी विवाद को सुलझा कर आओ, तुम जैसा भी निर्णय करके आओगे, मुझे मान्य होगा। मुझे तो इस दिन का इंतजार था ही, अतः मैंने रवीन्द्र कुमार को कहा कि तुम शीघ्र जाओ और कुछ न कुछ अन्तिम निर्णय करवा कर ही आना। रवीन्द्र कुमार तुरंत मेरी आज्ञा लेकर अडिन्दा चले गये पुनः १५ मार्च १९९७ को जयपुर शहर में मेरा प्रवेश हो रहा था, तब रवीन्द्र जी ने अडिन्दा से वापस आकर मुझे बताया कि दोनों आचार्यों ने आपस में वार्ता करके हम लोगों के समक्ष निर्णय किया है कि अब दोनों ही आचार्यों के नाम के आगे पंचम या षष्ठम पद का प्रयोग नहीं किया जायेगा। सारी रिपोर्ट सुनकर मैंने यही कहा कि चलो! ठीक है, किसी तरह से पारस्परिक विद्वेष समाप्त होना ही चाहिए था। मुझे तो यूँ भी न वर्धमानसागर महाराज से कभी द्वेष रहा है और न ही अभिनंदन सागर जी से राग, दोनों आचार्य प्रारंभ से ही मुझे माँ के रूप में मानते रहे हैं और मेरे से अनेकों ग्रंथों का अध्ययन किया है अतः मेरी यही भावना है कि चारित्र चक्रवर्ती परम्परा की निर्दोष संयमधारा को प्रवाहित करने में अपना योगदान देते रहें तथा पारस्परिक संघ वात्सल्य अवश्य बनाये रखें तभी समाज को आपस में जोड़ने की शिक्षा दी जा सकती है।

मुनिचर्या ग्रंथ के लेखन की आवश्यकता क्यों पड़ी?

सन् १९९१ में मैंने सरधना (मेरठ-उ.प्र.) ससंघ चातुर्मास किया। वहाँ मुनि-आर्यिकाओं की चर्या से संबंधित प्रतिक्रमण सूत्रों का मैं हिन्दी पद्यानुवाद कर रही थी, तब मैंने अनुभव किया कि अन्य भक्तिपाठ की

नूतन पुस्तकों में किये गये अनेक संशोधन आर्षमार्ग के संरक्षण में अत्यन्त घातक हैं। यदि संशोधन की यही परम्परा चलती रही तो हमारे पूर्वाचार्यों की वास्तविक वाणी ही समाप्त हो जायेगी और उसके अध्ययन से प्राप्त होने वाला पुण्य भी कैसे प्राप्त होगा?

मैं यहाँ प्रसंगानुसार कतिपय विषयों को पाठकों की जानकारी हेतु प्रस्तुत करती हूँ जिससे वस्तुस्थिति स्पष्ट हो सकेगी।

सामायिक दण्डक और थोस्सामिस्तव —

कृतिकर्म की विधि मूलाचार ग्रंथ के आधार से मुनिचर्या में दी गई है उसमें सामायिक दंडक और थोस्सामिस्तव को ही पढ़ना होता है।

मुनिचर्या ग्रंथ में पृ. ७, १००, २९६ पर ऐसे तीन बार सामायिक दंडक पाठ आया है और पृ. १०, १०२, ३०० पेज पर तीन बार थोस्सामिस्तव पाठ आया है। सामायिक दंडक में पाठ भेद को ध्यान में रखना चाहिए।

मुनिचर्या	**पृ.**	**क्रियाकलाप**	**पृ.**
पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	९	पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	१५
पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	२९६	पच्चक्खामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	९०
पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	१०२	पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	१४६
		पडिक्कमामि णिंदामि गरहामि अप्पाणं	१२६

क्रियाकलाप में तृतीय पाठ की टीका भी है अतः ये सभी पाठ प्रामाणिक हैं, इन्हें गलत नहीं समझना चाहिए।

"जीवियमरणे लाहालाहे....." यह टीकाकार का श्लोक है अतः इसे सामायिक दंडक के मूलपाठ में नहीं जोड़ना चाहिए।

थोस्सामिस्तव में "वंदामि रिट्ठणेमिं" पाठ गलत नहीं है। रिट्ठणेमिं का अरिष्टनेमि अर्थ ही निकलेगा।

लघु कृतिकर्म विधि —

प्रत्येक भक्तिपाठ की प्रतिज्ञा में सामायिक दंडक व थोस्सामि पढ़ना आवश्यक है। लघुभक्तिपाठ में या कभी समयाभाव में इनको पढ़ने में प्रमाद आ सकता है अतः विधि की पूर्ति के लिए मुनिचर्या पुस्तक में लघु सामायिक दंडक और लघु थोस्सामि पाठ भी पृ. १२-१३ पर दिया है। यह लघु पाठ मैंने प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ[१] से लिया है अतः प्रामाणिक है।

करोम्यहं —

आजकल कुछ साधु-साध्वियाँ "कुर्वेऽहं" क्रिया को पढ़ने लगे हैं किन्तु मुझे यह संशोधन नहीं जंचा है अतः मैंने यहाँ 'करोम्यहं" ऐसा आचार्य प्रणीत प्राचीनपाठ ही सर्वत्र रखा है।

सिद्धांतचक्रवर्ती श्रीवीरनंदि आचार्य ने आचारसार ग्रंथ में "करोम्यहं" पाठ ही लिया है। यथा- "क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं भक्तेरस्याः करोम्यहं[२]।"

अनगार धर्मामृत में पाक्षिक प्रतिक्रमण के लक्षण की स्वोपज्ञटीका में "करोम्यहं" क्रिया का प्रयोग पन्द्रह बार आया है। उदाहरण के लिए देखिए—

"सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां.....सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं[३]।" इत्यादि।

क्रियाकलाप में देववंदना, दैवसिक प्रतिक्रमण, पाक्षिकप्रतिक्रमण एवं अन्य क्रियाओं की प्रयोगविधि में "करोम्यहं" पाठ ही उपलब्ध है।

---

१. प्रतिष्ठातिलक पृ. ४०, ४१। २. आचारसार पृ. १९१। ३. अनगार धर्मामृत मूल संस्कृत अ. ९, पृ. ६५७।

चारित्रसार ग्रंथ में भी—"चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्य.....इत्यादि पाठों में "करोमि" क्रिया ही है। ऐसे ही सामायिक भाष्य ग्रंथ एवं प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में भी "करोमि, करोम्यहं" पाठ ही उपलब्ध हो रहे हैं। कुल मिलाकर सभी ग्रंथों में इस परस्मैपदी "करोमि" क्रिया की ही उपलब्धि हो रही है पुनः इसे बदलकर "कुर्वेऽहं" पाठ क्यों रखा गया ? यह विचारणीय है।

भक्तियों एवं प्रतिक्रमण सूत्रों के कर्त्ता—

चैत्यभक्ति, वीरभक्ति तथा दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण एवं पाक्षिकादिप्रतिक्रमण इन दोनों प्रतिक्रमणों में प्रतिक्रमणभक्ति और प्रतिक्रमण दंडक सूत्र इनके रचयिता श्री गौतमगणधर देव हैं ऐसा इनके टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने माना है। यथा—श्री गौतमस्वामी मुनीनांदुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्ध्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्करोति श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे[१]।" इत्यादि।

सहस्रनाम के टीकाकार श्री अमर मुनिराज ने वीरभक्ति को भी श्री गौतमस्वामी कृत कहा है।

सिद्धभक्ति आदि सभी संस्कृत और प्राकृत भक्तियों के टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है कि—"संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामीकृताः प्राकृतास्तु कुंदकुंदाचार्यकृताः[२]।"

संस्कृत की—१. सिद्धभक्ति २. श्रुतभक्ति ३. चारित्रभक्ति ४. योगिभक्ति ५. आचार्यभक्ति ६. निर्वाणभक्ति ७. नंदीश्वरभक्ति ८. शांतिभक्ति, ये आठ भक्तियाँ आचार्य श्री पादपूज्य-पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित हैं। शांतिभक्ति के आठ श्लोक के बाद "शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं" इत्यादि श्लोक श्रीपूज्यपाद स्वामी के नहीं हैं ऐसा पं. पन्नालाल जी सोनी ने लिखा है।

संस्कृत की चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति एवं समाधिभक्ति को भी श्रीपूज्यपादस्वामी कृत एवं "निःसंगोऽहं जिनानां....." इत्यादि ईर्यापथशुद्धि (भक्ति) को भी कुछ विद्वान् श्री पूज्यपाद स्वामी कृत ही मानते हैं।

१. प्राकृतसिद्धभक्ति २. श्रुतभक्ति ३. चारित्रभक्ति ४. योगिभक्ति ५. आचार्यभक्ति ये पाँच प्राकृत भक्तियाँ ही श्रीकुंदकुंददेव रचित हैं ऐसा पं. पन्नालाल सोनी ने लिखा है। वे प्राकृत निर्वाणभक्ति के बारे में संदिग्ध थे किन्तु कुंदकुंद भारती ग्रंथ में पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने पांचों भक्तियों के साथ, ६. प्राकृत निर्वाणभक्ति ७. प्राकृत पंचमहागुरुभक्ति ८. प्राकृत चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति (थोस्सामि हं जिणवरे.....में अंचलिका जोड़कर) ९. नंदीश्वर भक्ति (अंचलिका मात्र) और १०. शांतिभक्ति (अंचलिका मात्र) को लेकर ऐसी दश भक्तियों को श्रीकुंदकुंददेव कृत माना है।

इन भक्तियों का पद्यानुवाद—भावानुवाद मेरे द्वारा किया हुआ है।

लघु भक्तियाँ—

बृहद् भक्तियों के किन्हीं खास श्लोकों को लेकर अंचलिका दे देने से भी लघु भक्तियाँ बन जाती हैं। जैसे चारित्रभक्ति में—

व्रतसमुदयमूलः संयमस्कंधबंधो[३]। इत्यदि अथवा

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनो[४].....इत्यादि एक श्लोक पढ़कर अंचलिका बोलना, लघु चारित्र भक्ति बन गई है। श्रुतभक्ति में भी—

"**श्रुतमपि जिनवरविहितं.....।**" मात्र एक श्लोक बृहद्भक्ति से लेकर अंचलिका जोड़कर लघु श्रुतभक्ति[५] हो गई है।

---

१. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी पृ. १ (चारित्र च. आ. श्रीशांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था से प्रकाशित)। २. क्रियाकलाप प्रस्तावना पृ. १०। ३. क्रियाकलाप पृ. ३०२। ४. प्रतिष्ठातिलक। ५. प्रतिष्ठातिलक।

अन्य सभी लघु भक्तियाँ प्रायः क्षेपक श्लोकों को पढ़कर अंचलिका पढ़ लेने से हो जाती हैं। जैसे– "प्रावृट्काले....." इत्यादि से लघु योगिभक्ति बन गई है।

मुनिचर्या ग्रंथ में क्रियाकलाप और प्रतिष्ठातिलक के आधार से लघु भक्तियों को दिया गया है।

निर्वाणभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, चैत्यभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति और समाधिभक्ति के क्षेपक श्लोक "भक्त्यादिक्रियासंग्रह" पुस्तक से लिए गये हैं। श्रुतभक्ति के क्षेपक श्लोक मेरे द्वारा संकलित हैं।'

वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रिया में "स्वयंभुवा भूतहितेन" इत्यादि रूप से श्रीऋषभदेव से लेकर श्रीचंद्रप्रभ भगवान तक जो आठ स्तुतियाँ हैं, वे श्रीसमंतभद्रस्वामी विरचित हैं।

आहार प्रत्याख्यान कब करना?

मुनि–आर्यिकाएं आहार के लिए निकलते समय आचार्य के पास लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान निष्ठापन कर आहार को जावें ऐसा कथन न तो क्रियाकलाप, मूलाचार, अनगारधर्मामृत आदि में ही है और न चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी की परम्परा में ही रहा है। मैंने सन् १९५६–५७ में आचार्यश्री वीरसागरजी का चरणसानिध्य पाया है। सन् १९५७ से १९६२ तक पुनः १९६८ से १९६९ में समाधि होने तक पूज्य शिवसागरजी के संघ में रही हूँ। अनन्तर आचार्य श्रीधर्मसागर जी के आचार्यत्व काल में सन् १९७५ तक उनके संघ का लाभ प्राप्त किया है। न तो इन आचार्यों ने कभी ऐसा आदेश ही दिया था और न कभी ऐसी क्रिया उनके सानिध्य में हुई थी फिर भी यह परम्परा कैसे चल पड़ी और 'श्रमणचर्या' में कैसे लिखी गई, कौन जाने?

'मुनिचर्या' में पृ. १४७ से पृ. १५४ तक आगम आधार से यह प्रत्याख्यान विधि स्पष्ट की गई है।

दैवसिक प्रतिक्रमण —

दैवसिक–रात्रिक प्रतिक्रमण क्रियाकलाप से लिया है। संस्कृत छाया भी क्रियाकलाप से ही ली है। भावरूप पद्यानुवाद मेरे द्वारा रचित है। इस प्रतिक्रमण में जो कुछ संशोधन पाठ हैं उन्हें प्रायः कोष्ठक में रखा है या टिप्पण में दे दिया है, मूल में कहीं एक–दो जगह परिवर्तन है सो यह परिवर्तन प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी के आधार से ही है। मन से मैंने कहीं भी परिवर्तन या संशोधन नहीं किया है।

"इच्छामि भंते! चरित्तायारो.....पाँचों दंडकों में से चार दंडकों में "तेसिं उद्दावणं" पाठ हैं, पाँचवें में "एदेसिं उद्दावणं" पाठ है। तेसिं का अर्थ तेषां और एदेसिं का अर्थ एतेषां है। दोनों में अर्थ भेद नहीं है फिर भी प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी में इन दोनों पाठों का ही अर्थ किया है[१]। अतः मैंने कई एक साधुओं के कहने पर भी एकरूपता रखने के लिए पाठ नहीं बदला है यथास्थान दोनों पाठ हैं।

आजकल "श्रमणचर्या" आदि आधुनिक कई एक पुस्तकों में बहुत से पाठ बदले गये हैं। जैसे कि वीरभक्ति के अंतिम श्लोक का तृतीय चरण बदल दिया गया है। जो कि ऐसा है —

क्रियाकलाप	**पृ.**	**श्रमणचर्या**	**पृ.**
देवा वि तस्स पणमंति	६६	देवा वि तं णमंसंति	४०

प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी में टीकाकार ने यही क्रियाकलाप वाला पाठ रखकर इसी की टीका की है। जैसे —

"**देवा वि तस्स पणमंति-देवा अपि तस्य प्रणमंति**[२]।" ऐसे ही अनेक संशोधन वर्तमान में किये जा रहे हैं किन्तु विचार करने की बात है कि इन टीकाकार प्रभाचंद्राचार्य तक तो यह प्राचीन पाठ ही प्रमाणभूत माना गया है और श्रीटीकाकार भी प्राकृत–संस्कृत व्याकरण व छंद शास्त्रादि के ज्ञाता अवश्य थे फिर भी उन्होंने यह पाठ नहीं बदला है। आजकल ऐसे ही अनेक संशोधन हुए हैं जो कि हमें इष्ट नहीं हैं।

---

१. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी पृ. १६६ से १७०। २. प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी पृ. ८०।

पूर्वाचार्यों ने भी जहाँ कहीं पाठभेद देखे या जहाँ कहीं किसी विषय में मतभेद देखा, तो उसमें से एक को हटाकर दूसरे को प्रामाणिक कहने का साहस नहीं किया, बल्कि दोनों को ही मानने का उपदेश दिया है। षट्खंडागम की धवला टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने तो एक जगह यहाँ तक कह दिया कि "श्री एलाचार्य के वत्स—शिष्य को इस विषय में–यह प्रामाणिक है और यह अप्रामाणिक, ऐसी जबान नहीं चलाना चाहिए.....।' इत्यादि।

आज भी विद्वान या 'साधु–साध्वियों' को पाठ परिवर्तन आदि कार्य नहीं करना चाहिए। प्रत्युत् पापभीरुता रखते हुए प्राचीन पाठ को ही प्रमाण मानना चाहिए।

क्रियाकलाप —

मुनिचर्या ग्रंथ का संपादन और प्रकाशन पं. पन्नालाल सोनी ने चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी की एवं संघस्थ मुनियों की प्रेरणा से वीर नि. सं. २४६२ में किया था। उन्होंने प्राप्त हस्तलिखित गुटका के आधार से और अनगारधर्मामृत के आधार से ही इसे संकलित किया था, ऐसा वे स्वयं कहा करते थे अतः यह क्रियाकलाप एक प्रामाणिक ग्रंथ है। आज यह उपलब्ध नहीं है फिर भी साधुओं को इसे प्राप्त कर अवश्य देखना चाहिए व पुनः प्रकाशित कराना चाहिए।

प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी —

इसे श्रीजिनसेनभट्टारक ने वीर नि. सं. २४७३ में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था से प्रकाशित किया है। पं. मोतीचंद गौतमचंद कोठारी, एम.ए. फलटण इसके संपादक थे। इसमें दैवसिक–रात्रिक, पाक्षिक और अष्टमी इन तीन प्रतिक्रमण सूत्रों पर श्रीप्रभाचन्द्राचार्य विरचित टीका है। श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने इन प्रतिक्रमण दंडक सूत्रों को श्रीगौतमस्वामी विरचित कहा है। इसमें तीन प्रतिक्रमण होने से ही इसका 'प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी' यह सार्थक नाम है। विद्वान् साधुओं को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, इसका पुनर्मुद्रण भी अति आवश्यक प्रतीत होता है।

अष्टमी का प्रतिक्रमण —

यह पाठ पाक्षिक प्रतिक्रमण से लिया गया है। अनगारधर्मामृत में सालोचना चारित्रभक्ति–चारित्रालोचना सहित चारित्रभक्ति पढ़ने का विधान है। प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी में भी अष्टमी के प्रतिक्रमण को पृथक् लिया है। इस ही आधारों से अष्टमी की क्रिया में यह प्रतिक्रमण जोड़ा गया है। इसकी छाया "भक्त्यादि क्रियासंग्रह" पुस्तक में ली है और पद्यानुवाद मेरे द्वारा रचित है। अष्टमी और पाक्षिक प्रतिक्रमण में चारित्रभक्ति के पश्चात् चारित्रालोचना के अंत में दंडक सूत्र हैं—

णवसु बंभचरगुत्तीसु, चउसु सण्णासु, चउसु पच्चएसु, दोसु अट्टरुद्दसंकिलेसपरिणामेसु, तीसु अप्पसत्थसंकिलेसपरिणामेसु, मिच्छाणाणमिच्छादंसणमिच्छाचरित्तेसु, चउसु उवसग्गेसु, पंचसुचरित्तेसु, छसु जीवणिकाएसु, छसु आवासएसु, सत्तसु भएसु, अट्ठसु सुद्धीसु (णवसु बंभचेरगुत्तीसु) दससु समणधम्मेसु, दससु धम्मज्झाणेसु, दससु मुंडेसु, बारसेसु संजमेसु, बावीसाए परीसहेसु,पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरियासु, अट्ठारससीलसहस्सेसु, चउरासीदिगुणसयसहस्सेसु, मूलगुणेसु, उत्तरगुणेसु, अट्ठमयम्मि पक्खियम्मि (चउमासियम्मि संवच्छरियम्मि) अइक्कमो वदिक्कमो अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो जो तं पडिक्कमामि मए पडिक्कंतं, तस्स मे सम्मत्तमरणं समाहिमरणं पंडियमरणं वीरियमरणं दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ती होउ मज्झं।।१४।।

"श्रमणचर्या' आदि नई पुस्तकों में इसमें भी परिवर्तन कर दिया है। यथा—

दोसु अट्ट–रूद्द–संकिलेस–परिणामेसु, तीसु अप्पसत्थ–संकिलेसपरिणामेसु, मिच्छाणाण–मिच्छादंसण–मिच्छाचरित्तेसु, चउसु उवसग्गेसु, चउसु सण्णासु, चउसु पच्चएसु, पंचसु चरित्तेसु, छसु जीव–णिकाएसु, छसु

आवासएसु, सत्तसु भयेसु, अट्ठसु सुद्धीसु, णवसु बंभचेर-गुत्तीसु, दससु समण-धम्मेसु, दससु धम्मज्झाणेसु, दससु मुंडेसु, बारसेसु संजमेसु, बावीसाए परीसहेसु, पणवीसाए भावणासु, पणवीसाए किरियासु अट्ठारससील-सहस्सेसु, चउरासी-गुण-सय-सहस्सेसु मूलगुणेसु, उत्तरगुणेसु (अट्ठमियम्मि) (पक्खियम्मि), (चउमासियम्मि), (संवच्छरियम्मि)-अदिक्कमो, वदिक्कमो, अइचारो, अणाचारो, आभोगो, अणाभोगो जो तं पडिक्कमामि। मए पडिक्कंतं तस्स मे सम्मत्त-मरणं, पंडियमरणं, वीरिय-मरणं, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइ-गमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं।।

क्रियाकलाप आदि सभी पुस्तकों में 'णवसु' से ही पाठ प्रारंभ है। प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी टीका ग्रंथ में भी पृ. १८६ से १९४ तक 'णवसु' से ही प्रारंभ हुआ है। अतः प्राचीन पाठ ही प्रामाणिक है।

पाक्षिक प्रतिक्रमण —

पाक्षिक प्रतिक्रमण में भी पच्चीसों स्थान पर पाठ परिवर्तित हैं। वे प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी टीका ग्रंथ से भी असंगत हैं। कुछ प्रकरण टीका ग्रंथ में नहीं हैं उन्हें क्रियाकलाप के आधार से ज्यों की त्यों पढ़ना ही मुझे उचित प्रतीत होता है। पाठ बदलने से उसका मूलरूप ही समाप्त हो जायेगा। उदाहरण के लिए देखिये —

विचारणीय-पाठ परिवर्तन —

इसी प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के पहले श्रावकों के व्रतों का वर्णन करके उनके फल को कहते हुए दंडक सूत्र है —

'जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया साावियाओ वा खुड्डया खुड्डियाओ वा अट्ठदहभवणवासियवाणविंतर जोइसियसोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्तउवरिमअण्णदरमहड्ढियासु देवेसु उववज्जंति।'

जो श्रावक या श्राविका अथवा क्षुल्लक या क्षुल्लिका इन उपर्युक्त बारह व्रतों को या ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करते हैं वे अठारह (स्थान) को भवनवासी, वान व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म-ईशान स्वर्ग की देवियों को छोड़कर ऊपर के स्वर्गों में से किसी भी स्वर्ग में महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

सन् १९५८ में ब्यावर में एक बार ब्र. श्रीलालजी ने कहा कि 'अट्ठदह' पाठ का अर्थ समझ में नहीं आता है अतः इसके स्थान में 'णट्ठदेहा' पाठ हो सकता है।'

कुछ पुस्तकों में उन्होंने ऐसा संशोधन करा दिया किन्तु मैंने कहा — पंडित जी! श्रावक-श्राविका और क्षुल्लक-क्षुल्लिका 'नष्टदेहाः' — देहरहित तो होते नहीं हैं अतः यह संशोधन मुझे संगत नहीं लगता है। चर्चा के प्रसंग में ऐसी बात आई —

'अठारह स्थान ऐसे ढूंढने चाहिए जहाँ व्रती नहीं जाता हो तथा उन अठारह स्थानों में ये भवनत्रिक और सौधर्म-ईशान की देवियाँ नहीं आनी चाहिए चूँकि इन्हें पृथक् से लिया है। तभी उमास्वामी श्रावकाचार के दो श्लोक स्मृतिपथ में आ गये, वे ये हैं —

सम्यक्त्वसंयुतः प्राणी, मिथ्यावासेन जायते।
द्वादशेषु च तिर्यक्षु, नारकेषु नपुँसके।।८८।।
स्त्रीत्वे च दुष्कृताल्पायु-र्दारिद्र्यादिकवर्जितः।
भवनत्रिषु षट्भूषु, तद्देवीषु न जायते।।८९।।

सम्यक्त्व से सहित जीव मिथ्यात्व के निम्नस्थानों में नहीं जाता है —

१. पृथ्वीकायिक २. जलकायिक ३. अग्निकायिक ४. वायुकायिक ५. वनस्पतिकायिक ६. दो इंद्रिय ७. तीन इंद्रिय ८. चार इंद्रिय ९. निगोद १०. असंज्ञीपंचेन्द्रिय ११. कुभोगभूमि और १२. म्लेच्छखंड, मिथ्यात्व के इन बारह स्थानों में उत्पन्न नहीं होता है तथा १३. तिर्यंचों में १४. नरकों में १५. नपुंसक में और

१६. स्त्रीवेद में उत्पन्न नहीं होता है।

पुनः पापी, अल्पायु, दरिद्रादि से वर्जित रहता है। यह सम्यग्दृष्टी भवनत्रिकों में, प्रथम नरक से अतिरिक्त छह नरकभूमियों में व स्वर्ग की देवियों में भी नहीं जाता है।

चर्चा में यह बात और आई कि यहाँ प्रतिक्रमण में तो व्रतिक श्रावकों के लिए कथन है अतः व्रतीजन तो सुभोगभूमि और मनुष्य पर्याय में भी नहीं जाते हैं क्योंकि गाथा है कि—

अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।

(गोम्मटसार कर्मकांड)

अणुव्रती और महाव्रती तो देवायु के सिवाय अन्य किसी आयु का बंध ही नहीं कर सकता है। इसलिए उपर्युक्त १६.स्थानों में १७. सुभोगभूमि और १८. मनुष्य इन दो स्थानों को मिला देने से अठारह स्थान हो जाते हैं। व्रतिक व क्षुल्लक-क्षुल्लिका इनमें नहीं जाते हैं।

ये अठारह स्थान आचार्य श्रीशिवसागरजी महाराज को भी बहुत ही संगत प्रतीत हुए थे। तब ब्र. श्रीलालजी द्वारा संशोधित पाठ "णट्ठदेहा" हटा दिया गया था।

उसके बाद वह चर्चा वहीं समाप्त हो गई थी।

कुछ दिन पूर्व श्रमणचर्या में 'अट्ठदह' पाठ को उलट कर 'दहअट्ठ' पाठ लिया गया जिसका अर्थ यह निकाला गया—'दश प्रकार के भवनवासी और आठ प्रकार के वानव्यंतर पुनः 'श्रमणचर्या' में छपा है-'दह-अट्ठ-पंच' जिसे भवनवासी, वानव्यंतर और ज्योतिषी देवों के भेदरूप से माना गया।

जो भी हो, मेरी विचारधारा तो यही है कि यदि कुछ पाठ संशोधित भी करना है तो पुराने विद्वानों के समान उस मूलपाठ को न हटाकर कोष्ठक में उसे रख देना चाहिए। जैसा कि—

अट्ठदह (दह अट्ठ पंच)

इससे मूल पाठ सुरक्षित रहेगा और अन्य ग्रंथों के आधार से भी साधुओं को व विद्वानों को सोचने का अवसर मिलेगा।

ऐसे ही एक पाठ परिवर्तन और है जो कि अतीव विचारणीय है—मूलपाठ है—"से अभिमदजीवाजीव-उवलद्धपुण्णपावआसवसंवरणिज्जर बंधमोक्खमहिकुसले।'

अब इसे बदल कर ऐसा पाठ रखा गया है—'से अभिमदजीवाजीव उवलद्धपुण्णपाव-आसवबंधसंवरणिज्जरमोक्खमहिकुसले।'

मूलपाठ में नवतत्त्वों का क्रम यह था—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

परिवर्तित पाठ का क्रम ऐसा हो गया है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

विचार करने से यह समझ में आता है कि—इस मूलपाठ के क्रम के अनुसार ही श्रीकुंदकुंददेव ने समयसार में गाथा रखी है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।१३।।

और इसी गाथा के क्रम के अनुसार ही श्री कुंदकुंददेव ने समयसार में अधिकार विभक्त किये हैं। जीवाजीवाधिकार के बाद पुण्य-पापाधिकार है पुनः आस्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जरा अधिकार लेकर तब बंध अधिकार है, इसके बाद मोक्ष अधिकार है।

क्या इस गाथा को और समयसार के इन अधिकारों के क्रम को भी बदला जा सकता है? नहीं, पुनः यहाँ भी श्रीगौतमस्वामी के मुखकमल से निकले हुए दण्डकसूत्रों को बदलना उचित नहीं लगता है।

अभी तक हम लोग श्रीकुंदकुंददेव की गाथाओं में कहे गये क्रम को श्री गौतमस्वामी द्वारा कथित प्रतिक्रमण सूत्रों के क्रम से तुलना किया करते थे। ऐसे और भी पाठ हैं। जैसे—

"तवायारो वारसविहो"—में बहिरंग तप में "सरीरपरिच्चाओ विवित्तसयणासणं चेदि।" अभ्यंतर तप में भी 'झाणं विउसग्गो चेदि' पाठ है।

मूलाचार में भी—"कायस्स विपरितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं[१]।।३४६।। और आगे इसी क्रम से इनके स्वरूप का वर्णन किया है। ऐसे ही अभ्यंतर तप में-"झाणं च विउसग्गो अब्भंतरओ तवो एसो[२]।।३६०।।

आगे इसी क्रम से पांचवे तप में ध्यान का विस्तृत वर्णन करके छठे तप में व्युत्सर्ग का वर्णन किया है[३]।

"श्रमणचर्या" में पाठ बदलकर "विउसग्गो झाणं चेदि।" ऐसा पाठ रखा है, सो कहाँ तक उचित है?

ऐसे ही-इस पाक्षिक प्रतिक्रमण में श्रावकों के बारह व्रतों में शिक्षाव्रतों के नाम इस प्रकार हैं-"तत्थ पढमे सामाइयं, विदिये पोसहोवासयं, तदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं।"

चारित्तपाहुड ग्रंथ में श्रीकुंदकुंददेव ने भी इसी क्रम से शिक्षाव्रत लिये हैं। "पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत-दिशिविदिशिपरिमाण, अनर्थदंडत्याग, भोगोपभोगपरिमाण, चार शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखनामरण, ये बारह व्रत हैं। पांच अणुव्रत तो सर्वत्र सभी ग्रंथों में एक सदृश हैं, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में ही अन्तर है। इस प्रतिक्रमण में और चारित्रपाहुड़ ग्रंथ में सल्लेखना मरण को अंतिम शिक्षाव्रत में ही ले लिया है। यथा—

दिसविदिसपमाणं पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमाणं, इयमेवगुणव्वया तिण्णि।।२५।।
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहि पुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते[४]।।२६।।

पद्यानुवाद—

संस्कृत भक्तियों का एवं प्राकृत भक्तियों का पद्यानुवाद मैंने संघस्थ आर्यिका श्री रत्नमती माताजी की विशेष प्रेरणा से किया था। वे कहा करती थीं—"माताजी! आप जैसे संस्कृत के विद्वान साधु-साध्वियाँ नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं की भक्तियों को पढ़ते समय अर्थ समझ लेते हैं किन्तु हम जैसे संस्कृत-प्राकृत व्याकरण के ज्ञान से शून्य साधु-साध्वियाँ अर्थ नहीं समझ पाते हैं अतः आप इन भक्तियों का और प्रतिक्रमण का हिन्दी पद्यानुवाद अवश्य कर दीजिए। उनके आग्रह से मैंने सन् १९७२ में ही संस्कृत भक्तियों का पद्यानुवाद किया था बाद में सन् १९७९ में प्राकृत भक्तियों का भी अनुवाद कर दिया था।

"कुंदकुंद का भक्तिराग" नाम से पुस्तक में ये सभी भक्तियाँ पद्यानुवाद सहित छपी हैं किन्तु यह पुस्तक आर्यिका रत्नमतीजी[५] के सामने छपकर नहीं आ पाई थी।

यद्यपि उन्होंने प्रतिक्रमण के पद्यानुवाद के लिए भी बहुत ही प्रेरणा दी थी। इच्छा तो मेरी भी थी किन्तु योग नहीं आया था। इस वर्ष क्षुल्लक चितसागर जी (हिम्मतनगर-गुजरात) के भी कई पत्र प्रतिक्रमण के पद्यानुवाद के लिए आये। मुनिचर्या पुस्तक छप रही थी बल्कि दैवसिक प्रतिक्रमण छप रहा था। तभी [६]कार्तिक कृ. ११ को प्रातः सामायिक के बाद लेखनी उठाई और अनुवाद प्रारंभ कर दिया। यद्यपि गद्य सूत्रों को पद्य में संक्षिप्त करना कठिन था फिर भी मेरी समझ में अर्थ के जिज्ञासुओं को यह अनुवाद रुचिकर ही होगा।

---

१. गाथा ३४६ से ३५७ तक। २. गाथा ३६०। ३. गाथा ३६० से ४०८ तक। ४. चारित्रपाहुड़। ५. आर्यिका रत्नमतीजी हमारी गृहस्थाश्रम की माँ थीं। इनकी समाधि हस्तिनापुर में १५ जनवरी, १९८५ को हुई है। ६. दिनाँक-१४-१०-१९९०।

गणधरवलय मंत्र —

क्रियाकलाप पृ. ९१ पर गणधरवलय स्तोत्र छपा है—

"जिनान् जितारातिगणान् गरिष्ठान्.....।
श्रीसिद्धिदाः सदृषीन्द्रान्[१]।।१०।।

इसी पृष्ठ पर टिप्पण दिया है, यथा—

मैंने प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी पुस्तक भी पढ़ी थी। उसमें पाक्षिक प्रतिक्रमण के दंडक सूत्रों की संस्कृत टीका में इसी प्रतिक्रमण में कहे गये "णमो जिणाणं" आदि ४८ गणधरवलय मंत्रों की टीका है। इन मंत्रों की टीका के बाद पृ. ९६ पर-इति गणधरवलयाख्य प्रतिक्रमणामंगलदंडकः।। ऐसा पाठ आया है।

ब्यावर के सन् १९५८ के चातुर्मास में मैंने 'क्रियाकलाप' ग्रंथ के सम्पादक पं. पन्नालाल सोनी को यह पंक्ति दिखाई। तब उन्होंने कहा-"पहले मैंने "णमो जिणाणं" आदि ४८ मंत्रों को "गणधरवलय" पाठ नहीं समझा था अतः मैंने श्रीसकलकीर्ति विरचित "गणधरवलयपूजा विधान" पुस्तक से गणधरवलय स्तोत्र को निकालकर यहाँ जोड़ा था। यह मेरे से गलती हुई है यह स्तोत्र अनावश्यक—अधिक यहाँ जुड़ गया है। अगले संस्करण में इस स्तोत्र को मैं निकाल दूँगा। उन्होंने यह भी कहा—

"माताजी! अपनी तरफ से दूसरे ग्रंथ से निकालकर यहाँ पाठ बढ़ाने से "कहीं मेरे से गलत कार्य तो नहीं हो रहा है?" इसी डर से ही मैंने टिप्पण दे दिया था। आपने प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी दिखा दी सो बहुत ही अच्छा हुआ.....इत्यादि।

अस्तु! वास्तव में इस टिप्पण से पं. पन्नालाल सोनी ब्यावर (राज.) आदि पुराने विद्वानों की पापभीरुता व सत्यता स्पष्ट दिखती है। आज के विद्वानों को यह गुण नहीं छोड़ना चाहिए।

सन् १९६२ में ब्र. श्रीलालजी काव्यतीर्थ ने "शांतिसागर जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था" से मेरे द्वारा लिखित "यतिक्रियामंजरी" पुस्तक छपाई थी। उसमें पाक्षिकप्रतिक्रमण में मैंने पं. पन्नालाल सोनी से परामर्श लेकर ही यह "जिनान् जितारातिगणान्" इत्यादि स्तोत्र निकाल दिया था[२]।

अभी भी मैंने "मुनिचर्या" में पाक्षिक प्रतिक्रमण में यह स्तोत्र पाठ मूल में नहीं रखा है किन्तु इस प्रतिक्रमण की संस्कृत छाया में इन ४८ गणधरवलय मंत्रों की छाया के सदृश ही इस स्तोत्र को पृ. ३०२ पर दे दिया है।

पाठांतर व पाठ अधिक —

'क्रियाकलाप' और 'प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी' में हमें पाठांतर—पाठभेद मिले हैं। उनमें से कतिपय पाठांतरों को मैंने 'मुनिचर्या' में लिया है। कहीं-कहीं पाठांतर को टिप्पण में दिया है तो कहीं मूल में कोष्ठक में दे दिया है। जैसे मुनिचर्या में पृ. ४८ पर मूल में 'वीरं' पाठ है, प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी के आधार से 'घोरं' यह पाठांतर टिप्पण में दे दिया है। ऐसे ही अष्टमी के प्रतिक्रमण में इसमें पृ. २०८ पर 'आहावरे' और 'दुव्वे' पाठ हैं। प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी के आधार से वहीं कोष्ठक में (अहावरे) पाठ दिया है और 'दुव्वे' का पाठभेद 'दोच्चे'

---

१. "संसूचितो गणधरवलयपाठः प्रतिक्रमणपुस्तके नोपलब्धो तः सकलकीर्तिकृतगणधरवलयपूजातो निष्कास्य संयोजितः।"
इसका अर्थ यह है-सूचित किया गया गणधरवलय पाठ प्रतिक्रमण पुस्तक में उपलब्ध नहीं हुआ अतः मैंने सकलकीर्तिकृत गणधरवलय पूजा से निकालकर इस गणधरवलय स्तोत्र को यहाँ जोड़ दिया है।
मैंने मूलग्रंथ अनगार धर्मामृत पृ. ६५८ पर देखा—
"ततो-यथोक्तपरिकर्मान्तरं गणी—आचार्यः "थोस्सामि" इत्यादि दंडकं गणधरवलयं च पठित्वा प्रतिक्रामेत्-प्रतिक्रमणदंडकान्-पठते।"

२. यतिक्रियामंजरी पृ. १४३।

टिप्पण में दे दिया है, इत्यादि।

इसी तरह इसी पृ. २०८ पर 'भसेण वा' पाठ के आगे 'पदोसेण वा' यह पाठ प्रतिक्रमणग्रंथत्रयी में अधिक मिला है यहाँ इसे कोष्ठक में रख दिया है मुनिचर्या पुस्तक में सर्वत्र यही प्रक्रिया अपनाई गई है अतः यह ग्रंथ 'प्रामाणिक' है।

यतिक्रियामंजरी —

सन् १९५८ का चातुर्मास ब्यावर (राज.) में हुआ था। आचार्यश्री शिवसागर जी के विशाल संघ में मैं भी थी। मैं कई एक आर्यिकाओं के साथ ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन में ऊपर कमरे में ठहरी थी। उन दिनों मैं संघस्थ साधु-साध्वी, ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी, श्राविकाओं आदि को अध्यापन कराती थी और रात्रि में सामायिक के बाद सरस्वती भवन के अनेक हस्तलिखित ग्रंथों का अवलोकन करती रहती थी और 'यतिक्रियामंजरी' नाम से मुनि-आर्यिकाओं की नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का लेखन व संकलन भी कर रही थी।

मुनियों की त्रिकाल सामायिक व त्रिकाल देववंदना क्रिया एक ही है। उसकी विधि क्रियाकलाप, अनगार धर्मामृत, चारित्रसार, आचारसार, भावसंग्रह आदि ग्रंथों में वर्णित है,कहीं संक्षिप्त संकेत है तो कहीं विस्तृत वर्णन है। हस्तलिखित संहिताग्रंथ—एक संधिसंहिता, इन्द्रनंदिसंहिता आदि और अकलंक प्रतिष्ठा पाठ आदि अनेक ग्रंथों का अवलोकन कर उनसे देववंदना सामायिक संबंधी प्रकरण के उद्धरण निकालती रहती थी। इसी प्रकार मुनियों-आर्यिकाओं को रात्रिक प्रतिक्रमण पूर्वाण्ह सामायिक के पहले करना चाहिए, इस संबंधी प्रमाण भी निकाले थे।

इस कार्य में पं. पन्नालाल जी सोनी भी रुचि रजते थे और कभी-कभी अनेक उद्धृत प्रमाणों को देखकर प्रसन्नता व्यक्त किया करते थे।

कुल मिलाकर मैंने संपूर्ण नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं के बहुत से प्रमाण अनेक ग्रंथों के आधार से संकलित किये थे तथा प्रत्येक क्रियाओं के प्रमाण के साथ विधिवत् उन-उन भक्तियों का पाठ भी यथास्थान ही दे दिया था। इसी का नाम 'यतिक्रियामंजरी' रखा था।

यह पुस्तक ब्र. श्रीलालजी को छापने के लिए दी गई, तब उन्होंने क्रियाओं के प्रमाणसंबंधी उद्धृत श्लोक आदि नाममात्र के रहने दिये, बाकी सभी प्रमाण के पाठ उसमें से निकाल कर मुझे वापस दे दिये और बोले—

"माताजी! इस क्रिया की पुस्तक में ज्यादा विषय मत बढ़ाओ। इन प्रमाणों की पुस्तक अलग से छप जायेगी।" तभी "यतिक्रियामंजरी" में प्रारंभ में स्तोत्र पाठ आदि जोड़कर यह पुस्तक छपने दे दी गई। इसमें मैंने अनेक साधु व विद्वानों के आग्रह पर भी अपना नाम नहीं दिया था। उसके संपादक के रूप में ब्र. सूरजमल जी का नाम दिया है। यह पुस्तक सन् १९६२ में छप चुकी है। उस समय के जो प्रमाणों का मेरा संकलन था, उसमें मैंने बहुत ही परिश्रम किया था। सन् १९६२ की दिसम्बर में सम्मेदशिखर यात्रा के लिए विहार करते समय मैंने वह बस्ता कुचामन के एक श्रावक.....को सुरक्षित रखने के लिए दे दिया था। खेद है कि उनसे मुझे आज तक वह बस्ता उपलब्ध नहीं हो पाया। अस्तु! ऐसे ही उन्हीं दिनों सन् १९५९ में "श्रावकक्रियामंजरी" का भी मैंने अनेक प्रमाणों सहित अच्छा संकलन किया था। श्रावकों की देवपूजा क्रिया आदि विधिवत् होती है तो वही उनकी सामायिक है, इस विषय के भी प्रमाण संकलित किये थे। यह संकलित पुस्तक का बस्ता मैंने सन् १९६६ में अकलूज के एक सुप्रसिद्ध श्रावक.....को दिया था चूँकि वे छपाना चाहते थे, आज तक वह बस्ता भी उनसे उपलब्ध नहीं हो सका है। ऐसे कई एक कटु अनुभव जब मुझे आये, तब संघस्थ ब्र. मोतीचंद आदि ने मेरे लिखित ग्रंथों को टाइप कराकर ही प्रेस आदि में देने का निर्णय किया। आजकल तो हस्तलिखित ग्रंथों की फोटो कापी कराना बहुत सरल हो गया है।

इस "यतिक्रियामंजरी" में संकलनकर्त्री में अपना नाम न देने में मेरी निःस्पृहता ही मूल कारण थी। यद्यपि सन् १९५५ में सर्वप्रथम रचना में "सहस्रनाम के मंत्र" की पुस्तक "श्रीजिनसहस्रनाम व्रतविधि व पूजा" को क्षुल्लिका श्रीविशालमती जी ने छपाया था। उसमें क्षुल्लिकावस्था में मेरा नाम (क्षुल्लिका वीरमती माताजी) डाला था। फिर भी सन् १९६०-६१ में मैंने पुस्तक संकलन में अपना नाम देने के लिए सर्वथा मना कर दिया था। इसके बाद सन् १९६६ में सोलापुर चातुर्मास में मेरे द्वारा लिखित "श्रीबाहुबली चरित, "भक्तिसुमनावली", "व्रतविधिसुमनावली" आदि पुस्तकें छपीं तब ब्र. सुमतीबाई आदि अनेक विदुषी व विद्वानों ने मेरे से निवेदन किया-"माताजी! अपनी किसी भी कृति में अपना नाम न डालने से पहली बात तो उनकी प्रमाणिकता नहीं रहती है और दूसरी बात यह है कि कोई मायाचारी विद्वान उस कृति में अपना नाम डालकर अपनी कृति घोषित कर देते हैं। उन्होंने "पंचाध्यायी" अमरकोष" आदि अनेक पुरातन ग्रंथों के व आज के भी कई पुस्तक आदि के नाम बताये। तब मैंने पुस्तकों में अपना नाम देना स्वीकृत किया था।

£ १०२ ¤

ध्यान में दर्शन दिया भगवान ऋषभदेव ने —

२३ अक्टूबर १९९२ धनतेरस तिथि को मैं प्रातः ४ बजे सामायिक के पश्चात् पिण्डस्थ ध्यान कर रही थी, उस मध्य मुझे विशालकाय खड्गासन भगवान ऋषभदेव के दर्शन हुए और अनुभूति कुछ ऐसी हुई कि ये अयोध्या के भगवान हैं। उनके दर्शन करते-करते मानों एक प्रेरणा मिली कि इन प्रथम तीर्थंकर भगवान का महामस्तकाभिषेक महोत्सव होना चाहिए तथा शाश्वत तीर्थ का जीर्णोद्धार एवं विकास समय रहते करना आवश्यक है। मैंने ध्यान विसर्जित करके सर्वप्रथम आर्यिका चंदनामती को यह बात बताई पुनः क्षुल्लक मोतीसागर एवं ब्र. रवीन्द्र कुमार को बुलाकर चर्चा की और कहा कि मेरी इच्छा अयोध्या की ओर विहार करने की है, तब सबने मुस्कराकर यही कहते हुए बात टाल दी कि माताजी! अब आपका स्वास्थ्य इतनी दूर विहार करने लायक नहीं है अतः ऐसा कुछ सोचा भी नहीं जा सकता है।

इन लोगों के कहने से मैं कुछ दिन तो शांत रही पुनः मेरी भावना और प्रेरित होती गईं। एक दिन संयोग से अवध प्रान्त से मेरठ किसी के विवाह में पधारे कुछ प्रतिष्ठित लोग हस्तिनापुर आये, उनमें तहसील फतेहपुर के अध्यक्ष सरोज कुमार जैन थे, उनसे चर्चा करते-करते मैंने अयोध्या का मार्ग पूछकर अपनी डायरी में लिखना शुरू कर दिया। तब सभी ने समझ लिया कि अब माताजी अयोध्या अवश्य जाएंगी।

आगे ६ दिसंबर १९९२ को अयोध्या में बाबरी मस्जिद टूटने से जो भीषण हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा हुआ उससे घबड़ाकर देशभर से अनेक साधु एवं श्रावकों ने यह कहकर मुझे रोकने का प्रयत्न किया कि "अयोध्या तो इस समय सम्प्रदायवाद के संघर्ष की आग में जल रही है अतः माताजी को अयोध्या कदापि नहीं जाना चाहिए।" किन्तु इन सब बातों को सुनकर मेरे मन में और अधिक दृढ़ता आई और मैंने कहा कि मैं तो अहिंसा के अवतार भगवान ऋषभदेव के पास जाना चाहती हूँ अतः ये संघर्ष मेरा क्या बिगाड़ेंगे? दूसरी बात अयोध्या अभी तक केवल राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के नाम से ही जानी जा रही है, भगवान ऋषभदेव जन्मभूमि के नाम से क्यों नहीं जानी जाती है? इस बात की मेरे अंतरंग में बहुत ही पीड़ा थी।

कुल मिलाकर मैंने ११ फरवरी १९९३ फाल्गुन कृष्णा पंचमी को संघसहित जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से अयोध्या की ओर मंगल विहार (प्रस्थान) किया। तीन माह की यात्रा के पश्चात् १६ जून १९९३ को मैंने अयोध्या में भगवान के साक्षात् दर्शन किये, उस समय मुझे स्वयं बड़ी सुखद अनुभूति हुई, साथ ही आश्चर्य भी हुआ कि इन ऋषभदेव भगवान को मैंने इससे पूर्व कभी देखा भी नहीं था फिर भी ध्यान में जो रूप

भगवान का देखा, वही सामने देखकर मैंने इसे भगवान का चमत्कार ही माना पुनः वहाँ चातुर्मास के साथ-साथ १० माह और रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। उस प्रवास काल में अनेक नवनिर्माण, तीर्थ एवं प्राचीन टोकों का जीर्णोद्धार, जनकल्याण के अनेक कार्य तथा तीर्थंकर ऋषभदेव का राष्ट्रीय स्तर पर महामस्तकाभिषेक महोत्सव सम्पन्न हुआ। इस यात्रा को संघपति बनकर सम्पन्न कराने का श्रेय एवं पुण्य प्राप्त किया टिकैतनगर के धर्मनिष्ठ श्रावक श्री प्रद्युम्न कुमार जैन (छोटीशाह) एवं उनके परिवार ने। उनकी गुरुभक्ति वास्तव में अनुकरणीय रही है। इन सभी तथ्यों एवं कार्यों का दिग्दर्शन आर्यिका चंदनामती द्वारा लिखित अयोध्या यात्रा (अयोध्या स्मारिका में प्रकाशित) में कराया गया है। यहाँ मुझे अपनी अयोध्या यात्रा की अनुभूतियों में विशेषरूप से यह प्रतीत हुआ कि तीर्थंकर भगवन्तों की विशाल प्रतिमाओं के मस्तकाभिषेक महोत्सव की परम्परा जैन समाज में अवश्य होनी चाहिए। चौबीसों तीर्थंकरों की जन्मभूमियों के जीर्णोद्धार एवं विकास अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि ये तीर्थ ही हमारी संस्कृति के जीवन्त प्रतीक हैं। समस्त तीर्थों में अयोध्या (जन्मभूमि) एवं सम्मेदशिखर (निर्वाणभूमि) ये दो ही शाश्वत तीर्थ हैं इनकी रक्षा करना तो प्रत्येक जैन श्रावक का कर्तव्य है। इसके साथ ही साधु संघों को तीर्थयात्रा कराने वाले श्रावक हमेशा खूब यश और पुण्य संचित कर सुखी जीवन व्यतीत करते हैं।

वर्तमान युग में हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से शाश्वत जन्मभूमि अयोध्या में केवल पाँच तीर्थंकरों (ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ और अनंतनाथ) ने जन्म लिया तथा शेष १९ तीर्थंकरों ने पृथक्-पृथक् स्थानों पर जन्म लिया जिससे २४ तीर्थंकरों की १६ जन्मभूमियाँ प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार शाश्वत सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर से २० तीर्थंकर मोक्ष गये तथा शेष ४ तीर्थंकर अन्यत्र स्थलों से मोक्ष गये अतः चौबीस भगवन्तों की पाँच निर्वाणभूमियाँ (कैलाशपर्वत, चम्पापुरी, पावापुरी, गिरनार एवं सम्मेदशिखर) प्रसिद्ध हैं। इन सभी तीर्थों को मेरा शत-शत नमन।

अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी का नया चुनाव —

अयोध्या के महामस्तकाभिषेक महोत्सव की सम्पन्नता के पश्चात् चैत्र कृष्णा नवमी, १९९४ को भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती का कार्यक्रम मेरे संघ सानिध्य में हुआ। उसमें दिल्ली, अवध एवं अनेक स्थानों से पधारे जनसमूह के मध्य अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी का नया चुनाव भी हुआ। सम्पूर्ण जनता तथा अवध और दिल्ली के विशिष्ट महानुभावों ने अयोध्या की अल्पकाल में हुई भारी उन्नति को देखते हुए ब्र. रवीन्द्र जी को वहाँ का अध्यक्ष तथा श्री सरोज कुमार जैन-तहसील फतेहपुर (बाराबंकी-उ.प्र.) को महामंत्री बनाना निश्चित कर दिया। रवीन्द्र कुमार की व्यस्तता और जंबूद्वीप-हस्तिनापुर संस्थान की जिम्मेदारियाँ देखते हुए मैंने जब उन्हें अध्यक्ष पद की स्वीकृति प्रदान नहीं की, तब दिल्ली के लाला श्रीपाल जी (मोटर वाले), राजेन्द्र प्रसाद "कम्मोजी" आदि कई वरिष्ठ श्रावक एवं अवध प्रान्त के सम्भ्रान्त श्रेष्ठियों ने मेरे सामने झोली फैलाकर निवेदन किया कि माताजी! हम लोगों की विनती मानिए और अयोध्या की ओर ध्यान देकर रवीन्द्र जी को अध्यक्ष के रूप में थोड़े दिन हमें प्रदान कर दीजिए। सबके अश्रु भरे शब्दों को मैं उस समय टाल नहीं सकी और मेरी मौन स्वीकृतिपूर्वक एवं विशाल सभा की सर्वसम्मति से रवीन्द्र कुमार को अध्यक्ष बना दिया गया। महामंत्री के रूप में चुने गये सरोज कुमार जी आज भी यही कहते हैं कि यदि भैय्या अध्यक्ष नहीं बनते तो मैं कभी भी महामंत्री का पद स्वीकार नहीं कर सकता था। टिकैतनगर के श्रावक छोटीशाह जी को वहाँ का कोषाध्यक्ष बनाकर पूरी कमेटी समर्पणभाव से कार्यरत हो गई।

मुझे प्रसन्नता है कि १० वर्षों से कार्य कर रही उस अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी की कार्यप्रणाली से अयोध्या जैन तीर्थ की दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई है। महामंत्री सरोज जी की कर्मठता भी सराहनीय है जो

प्रतिदिन रवीन्द्र जी को भाई जी-भाई जी कहकर फोन से अयोध्या के बारे में सारी बातें बताकर परामर्श लेते हैं और मेरे संघ के प्रति भी उनका अपनत्वभाव अनुकरणीय है।

राजधानी लखनऊ का लघु प्रवास —

अयोध्या में सन् १९९४ की ऋषभदेव जन्मजयंती के बाद मैंने लखनऊ की ओर विहार किया। वहाँ मेरे सानिध्य में महावीर जयंती का समारोह बहुत अच्छी प्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ पुनः वैशाख कृ. दूज को लखनऊवासियों ने "रवीन्द्रालय" नामक एक ऑडिटोरियम में मेरा "आर्यिका दीक्षा जयंती समारोह" मनाया, तब तमाम लोगों ने अणुव्रत का नियम लेकर मेरे संयम दिवस को सार्थक किया।

मई में डालीगंज-लखनऊ में लघु पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं अक्षयतृतीया पर्व का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। लखनऊ में चारबाग, डालीगंज, चौक, सआदतगंज, अहियागंज, अमीनाबाद आदि स्थानों में शिक्षणशिविर, विधान आदि धार्मिक आयोजनों में सानिध्य प्रदान करते हुए मैं ११ जून १९९४ को इन्द्रानगर कॉलोनी पहुँची वहाँ १४ से १८ जून तक धार्मिक संगोष्ठी हुई पुनः १९ जून को "अवध प्रान्तीय दिगम्बर जैन श्रावक सम्मेलन" का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन में श्रावकों को अष्टमूलगुण एवं पंच अणुव्रत धारण करके सद्गृहस्थ बनने की प्रेरणा प्रदान की गई तथा इन्द्रानगर में निर्मित हो रहे जिनमंदिर के लिए लोगों ने दिल खोलकर दान दिया, अनेक महिलाओं ने अपनी अंगूठी, चैन, चूड़ी आदि का स्वर्णदान भी किया।

जन्मभूमि-टिकैतनगर में चातुर्मास —

यद्यपि लखनऊ प्रवास के मध्य वहाँ के निवासियों ने मुझे वहाँ चातुर्मास करने हेतु अनेक बार श्रीफल चढ़ाकर निवेदन किया किन्तु सन् १९९३ में टिकैतनगर में मैंने ९९% चातुर्मास की स्वीकृति देकर एक प्रतिशत की छूट में अयोध्या तीर्थ पर चातुर्मास कर लिया था सो उस समय टिकैतनगर के लोग बहुत दुःखी हो गये थे, इसलिए मैंने उन लोगों की भावनाओं के अनुरूप सन् १९९४ के चातुर्मास की पक्की स्वीकृति टिकैतनगर के लिए कर दी और वहाँ चातुर्मास के मध्य अनेक प्रकार के प्रभावनात्मक कार्यक्रम सम्पन्न हुए। चातुर्मास समापन करके जब टिकैतनगर से संघ का मंगल विहार हुआ, तो पूरे नगरवासियों की अश्रुधारा वास्तव में एक करुणक्रन्दनरूप थी। अत्यन्त कठोर हृदय करने के बावजूद भी उन सबके शोक की उमड़ती सरिता देखना मेरे लिए भी कठिन जैसा हो रहा था। आर्यिका चंदनामती जी ने अयोध्या यात्रा के संस्मरणों में सचमुच ही लिखा है कि "नहीं लेखनी लिख सकती है जन्मभूमि के आँसू को"। वास्तव में जन्मभूमि का अपनत्व और वात्सल्य अविस्मरणीय होता है तभी तो नीतिकारों ने लिखा है—"**जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**" अर्थात् जननी (माँ) एवं जन्मभूमि (मातृभूमि) स्वर्ग से भी श्रेष्ठ होती है।

सन् १९५२ में गृहत्याग करने के पश्चात् क्षुल्लिका दीक्षा लेकर मेरा प्रथम चातुर्मास सन् १९५३ में गुरुदेव आचार्य श्रीदेशभूषण महाराज के साथ टिकैतनगर में हुआ था, तब स्वाध्याय-अध्ययन ही मेरा प्रमुख लक्ष्य रहता था पुनः जब ४० वर्षों के बाद जन्मभूमि का यह द्वितीय चातुर्मास (आर्यिका दीक्षा का प्रथम) मेरे जीवन की अद्वितीय यादों के साथ जुड़ गया।

संयोग से इसी चातुर्मास के अंतर्गत शरदपूर्णिमा को मैंने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे किए अतः "षष्ठिपूर्ति समारोह" के रूप में १८-१९ अक्टूबर को विशाल कार्यक्रम आयोजित हुआ। उत्तरप्रदेश के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल श्री मोतीलाल जी वोरा, कारागार मंत्री-श्री अवधेश प्रसाद जी एवं फैजाबाद के पूर्व विधायक श्री जयशंकर पांडे आदि अनेक शासन-प्रशासन के लोग पधारे। मुझे याद है कि कारागार मंत्री ने इस अवसर पर जेल से ६१ कैदियों को रिहा करने की घोषणा करते हुए स्वयं भी मानव कल्याण के पथ पर चलने का संकल्प लिया। इसी शृंखला में समारोह मंच पर देश भर के चुनिन्दे ६१ श्रेष्ठियों को मोमेंटो भेंट

कर सम्मानित किया गया, ६१ सिलाई मशीनें निकटवर्ती ग्रामों की गरीब महिलाओं को प्रदान की गईं, अनेक महानुभावों की ओर से साड़ियाँ, कम्बल आदि बांटे गये, स्फटिक की माला भेंट की गईं तथा नगर की कुमारी कन्याओं द्वारा नवगठित बालिका समिति ने आगंतुकों को "ज्ञानमती ट्री" के नाम से फूलों के सुन्दर गमले भेंट किये। जैनसमाज के प्रीतिभोज के साथ ही टिकैतनगर के समस्त जाति व धर्मावलम्बियों के लिए श्री हंसराज जैन-लखनऊ की ओर से भंडारा किया गया अतः आस-पास गाँवों के भी हजारों नर-नारियों ने प्रसादरूप भोजन ग्रहण किया। इस प्रकार मेरी षष्ठिपूर्ति को जन्मभूमि के भक्तों ने मनाकर धर्मवात्सल्य का परिचय प्रदान किया।

चातुर्मास के अनंतर मैं एक बार पुनः अयोध्या गई और वहाँ फरवरी १९९५ में नवनिर्मित समवसरण मंदिर का पंचकल्याणक कराया, दोनों मंदिरों (तीन चौबीसी मंदिर एवं समवसरण रचना मंदिर) के शिखरों पर कलशारोहण हुआ एवं राजकीय उद्यान में भगवान ऋषभदेव की सीमेंट कांक्रीट की प्रतिमा स्थापित हुई पुनः भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती के पश्चात् अवध प्रान्त से विहार करके हस्तिनापुर पहुँची वहाँ जम्बूद्वीप स्थल पर मेरा सन् १९९५ का ससंघ चातुर्मास हुआ। उस चातुर्मास के मध्य अक्टूबर में पंचवर्षीय "जम्बूद्वीप महोत्सव" सम्पन्न हुआ और उसी समय ध्यान मंदिर एवं शांतिनाथ मंदिर के शिखरों पर कलशारोहण हुआ।

विश्वविद्यालय ने डी.लिट्. उपाधि प्रदान की —

एक छोटे कस्बे के प्राथमिक विद्यालय में धर्मशिक्षा से अपने ज्ञान की नींव की मंजिल बनाने वाली मुझ जैसी लौकिक ज्ञान से अनभिज्ञ साध्वी को क्या मालूम कि कोई विश्वविद्यालय पी.एच.डी. या डी.लिट्. जैसी उपाधियाँ भी किसी को प्रदान करती हैं? मैं तो यही सुना करती थी कि स्कूल, कॉलेज में १५-१६ वर्षों तक कठिन पढ़ाई करने के बाद जब स्नातक किसी विषय पर अन्वेषणात्मक तथ्यों के आधार पर २ से ५ वर्ष तक परिश्रमपूर्वक बड़ा भारी लेखनकार्य करते हैं तब उन्हें विश्वविद्यालय द्वारा पी.एच.डी. (विद्यावाचस्पति) या डी.लिट्. (विद्यावारिधि) की उपाधि प्राप्त होती है। उस उपाधिग्रहण की भी एक विशेष विधि होती है जब कुलाधिपति (प्रदेश के राज्यपाल) एवं कुलपति (विश्वविद्यालय के वायस चान्सलर V.C.) के द्वारा एक दीक्षान्त समारोह में शोध प्रबंध लिखने वालों को यह उपाधि प्रदान की जाती है, तब परिधान विशेष में सुसज्जित वह स्नातक अपने भाग्य की सराहना करता हुआ अपनी ओर से विश्वविद्यालय एवं कुलाधिपति, कुलपति आदि के प्रति विशिष्ट सम्मान प्रदर्शित करता है पुनः वह अपने नाम के आगे गौरवपूर्वक डॉक्टर लिखने का अधिकारी हो जाता है।

किन्तु उस दिन मुझे अयोध्या में आश्चर्य हुआ जब दिसम्बर १९९४ में अवध विश्वविद्यालय के कुलपति श्री के.पी. नौटियाल मेरे संघ के दर्शनार्थ रायगंज मंदिर में पधारे और किंचित् परिचयात्मक वार्ता के पश्चात् उन्होंने कहा कि हमारे अवधप्रान्त की जन्मी ज्ञानमती माताजी ने इतने विशाल साहित्य का लेखन किया है, यह हमारे प्रदेश का महान गौरव हैं अतः हम इन्हें विश्वविद्यालय की सबसे बड़ी मानद् उपाधि-डी.लिट्. से सम्मानित करके अपने विश्वविद्यालय का गौरव बढ़ाना चाहते हैं।

इस बात को सुनकर मैंने स्पष्ट इंकार करते हुए उनसे कहा कि हमारे पास तो अपने गुरु द्वारा प्रदत्त आर्यिका और गणिनी पद ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, शेष हमें कोई पदवी नहीं चाहिए। थोड़ी देर चली बहस के दौरान मैंने और मेरे संघस्थ सभी शिष्य-शिष्याओं ने उन्हें अस्वीकृति के रूप में सारी बात समझा दी अतः वे उन्मनस्क होकर चले गये और हम लोग भी अपने कार्यों में व्यस्त हो गये।

कुलपति की तकनीकी प्रक्रिया सफल हुई —

कहते हैं कि किसी विचारक व्यक्ति के मन में यदि गहराई से कोई विचार समा जाता है तो वह एक न एक दिन मूर्तरूप अवश्य लेता है। यही अवधविश्वविद्यालय के कुलपति श्री नौटियाल जी के साथ मैंने देखा

कि उस समय तो वे हतोत्साहित होकर चले गये और हम लोग भी विषय भूल गये पुनः जनवरी १९९५ के अंतिम सप्ताह में एक दिन विश्वविद्यालय से समाचार आया कि मुख्यमंत्री श्री मुलायम सिंह यादव द्वारा आपके भगवान ऋषभदेव मस्तकाभिषेक महोत्सव के मंच से घोषित "ऋषभदेव जैन चेयर" के भवन बनाने हेतु सरकार से पैसा प्राप्त हो गया है अतः पूज्य माताजी भवन के शिलान्यास का मुहूर्त निश्चित कर दें तथा शिलान्यास समारोह में ससंघ अपना सानिध्य भी देने की स्वीकृति प्रदान करें।

मैंने साधारण रूप से ५ जनवरी १९९५ का मुहूर्त बता दिया और अपने ससंघ सानिध्य की स्वीकृति भी प्रदान कर दी क्योंकि मुझे यह प्रसन्नता हुई कि मेरी प्रेरणा और मुख्यमंत्री की घोषणा केवल मंच या कागज तक ही सीमित न रहकर शीघ्र ही मूर्तरूप ले रही है अतः शुभ कार्य में देरी कैसी? अपनी स्वीकृति के अनुसार मैं ससंघ ५ फरवरी १९९५ को अयोध्या से फैजाबाद पहुँची, वहाँ विधिवत् जैनपीठ के भवन का शिलान्यास हुआ पुनः मुझे विश्वविद्यालय के एक विशाल हाल में मंच पर ले जाकर बिठाया गया कि यहाँ प्रवचनसभा का आयोजन है।

वहाँ थोड़ी देर बैठने के बाद मुझे सब कुछ पता चल गया कि यह कुलपति जी की सूझबूझ का परिणाम है। विश्वविद्यालय परिसर में वह दीक्षान्त समारोह आयोजित करने हेतु विशेष भवन था जहाँ "विशेष दीक्षान्त समारोह" का बैनर लगा था और सामने कतारबद्ध पंक्तियों में सैकड़ों स्नातक छात्र-छात्राएं बैठे थे जिनके मुखमण्डल पर संतसमागम से प्राप्त होने वाले ज्ञान को ग्रहण करने की ललक प्रतिभासित हो रही थी। मुझे संघस्थ जनों से ज्ञात हुआ कि यहाँ आपको डी.लिट्. की मानद् उपाधि से विभूषित करने हेतु कुलपति जी ने यह कार्यक्रम आयोजित किया है अतः आप इस समय कुछ भी विरोध प्रदर्शित न करें। कुलपति जी ने इन लोगों के माध्यम से यह भी कहलाया कि माताजी के पास आखिर समाज द्वारा प्रदत्त आर्यिका शिरोमणि, न्याय प्रभाकर आदि कई उपाधियाँ तो हैं ही, फिर हमारी ही मानद् उपाधि को लेने से क्यों मना किया जा रहा है? ये शब्द सुनकर मैं उदासीन भाव से बैठी रही पुनः अत्यन्त सुरम्य नारी स्वरों में एक गीत के साथ सभा प्रारंभ हुई। गीत के बोल थे-"यही है ज्ञान का मंदिर, कला विज्ञान का मंदिर, हमारा विश्वविद्यालय अवध की शान का मंदिर"।

अनंतर कुछ औपचारिकताओं के पश्चात् विश्वविद्यालय के कुलपति आदि अनेक विशिष्ट पदाधिकारियों ने मेरे निकट आकर श्रद्धापूर्वक एक लिखित प्रशस्ति प्रदान कर चरणों में नमन किया एवं मंच से घोषित किया कि "आज विश्वविद्यालय के इस ग्यारहवें दीक्षान्त समारोह के अवसर पर पूज्य गणिनी आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी को उनके जैनधर्म, जैनदर्शन तथा जैन साहित्य द्वारा लोकसेवा के क्षेत्र में दिये गये विशिष्ट योगदान के प्रति सम्मान ज्ञापित करते हुए, डी.लिट्. की मानद् उपाधि से विभूषित करते हुए हम गौरव का अनुभव करते हैं।" पुनः मैंने अपने आशीर्वादात्मक प्रवचन में उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित करते हुए कहा कि—

दीक्षांत समारोह गुरुकुल प्रणाली से निकला हुआ शब्द है। जब शिक्षा पूर्ण हो जाती है तब गुरुकुल के प्रवास की अवधि में पाले जाने वाले नियमों का समापन कर देना दीक्षांत कहलाता है। दीक्षा शब्द की परिभाषा हमारे ऋषियों ने इस प्रकार भी की है—

दीयते ज्ञानसद्भावं, क्षीयते पशुभावना।
दानक्षपणयुक्तेन, दीक्षा तेनैव कथ्यते।।

अर्थात् जहाँ ज्ञान दिया जाता है एवं पशुत्व भावना का क्षय किया जाता है उसी दान और क्षय की भावना को दीक्षा कहते हैं। जैनधर्म की इस आर्यिका दीक्षा लेने के बाद मेरे पास तो केवल पिच्छी, कमंडलु

व एक साड़ी मात्र परिग्रह है अतः मैं इस उपाधि को कहाँ रखूँगी? फिर भी आपके द्वारा किया गया यह सम्मान मेरा नहीं प्रत्युत् माता सरस्वती का सम्मान है। मैं आपकी इस भावना का आदर करती हूँ तथा मेरा आप सबको यही मंगल आशीर्वाद है कि आपकी ऐसी ही भावना निरंतर बलवती हों, आप सरस्वती का सदैव सम्मान करते हुए अहिंसा आदि सिद्धांतों के प्रचार और अध्ययन-अनुसंधान के कार्य में निरंतर जैनपीठ के माध्यम से उन्नति करते रहें, यही मंगलकामना।

यहाँ पाठकगण सोचेंगे कि विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त डी.लिट्. की मानद् उपाधि के पश्चात् तो हमारी ज्ञानमती माताजी भी डॉक्टर माताजी बन गई हैं किन्तु यह सच नहीं है। मैंने कभी अपने नाम के साथ किसी पद का प्रयोग नहीं किया है, न मुझे मोक्ष के अतिरिक्त किसी पद की इच्छा ही है। यूँ तो संसारी दुःखी प्राणियों को ज्ञानामृत की औषधि पिलाकर सच्चे धर्म के मार्ग पर लगाने वाले साधु-साध्वी असली चिकित्सक — डॉक्टर माने ही जाते हैं।

£ १०३ ¤

मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र की पर्वतीय यात्रा —

लगभग दो वर्षों से स्व. आचार्य श्री श्रेयांससागर महाराज की संघस्थ आर्यिका श्री श्रेयांसमती माताजी एवं मांगीतुंगी तीर्थ के ट्रस्ट मंडल का आग्रह चल रहा था कि ज्ञानमती माताजी! आप मांगीतुंगी की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा को सम्पन्न करवा दीजिए। आप जैसी दिव्यशक्ति के आये बिना यह कार्य संभव नहीं है। उनके आग्रह पर यद्यपि अयोध्या से कई बार विहार करने का मन बनाया किन्तु नक्शे में दूरी देखकर तथा अपना और आर्यिका चंदनामती का शरीर-स्वास्थ्य देखकर हिम्मत हार जाती थी।

अन्ततोगत्वा सन् १९९५ में अयोध्या से हस्तिनापुर पहुँचकर वहाँ वर्षायोग के बाद एक दिन २५ नवम्बर १९९५ को मैंने प्रातःकाल निर्णय कर लिया कि मांगीतुंगी के लिए विहार करना है। संघस्थ सभी लोग आश्चर्यचकित थे किन्तु मैंने न तो किसी की स्वीकृति की परवाह की और न ही कोई व्यवस्था की ओर ध्यान दिया, बस २७ नवम्बर को जम्बूद्वीप के समस्त सिद्ध भगवन्तों को एवं कल्पवृक्ष भगवान महावीर के चरणों में नमन कर संघसहित हस्तिनापुर से मांगीतुंगी के लिए प्रस्थान कर दिया। फिर तो एक मात्र लक्ष्य भगवान राम आदि ९९ करोड़ मुनियों की निर्वाणभूमि के दर्शन का ही रह गया था अतः उसके अतिरिक्त कुछ दिखता ही नहीं था। ११ दिसंबर १९९५ को दरियागंज दिल्ली में दिगम्बर जैन बालाश्रम के प्रांगण में भगवान मुनिसुव्रत की छत्रछाया में आयोजित संघ की स्वागत सभा में जैन समाज के सर्वप्रमुख नेता साहू अशोक जी ने आकर मुझसे इस लम्बी यात्रा के विषय में विचार-विमर्श किया और संघ को मांगीतुंगी की यात्रा कराने का संकल्प लेने वाले साउथ एक्स. दिल्ली निवासी लाला महावीर प्रसाद जैन बंगाली स्वीट सेंटर का 'संघपति' के रूप में पगड़ी बाँधकर स्वागत किया। जिसका निर्वाह उन्होंने पूर्ण समर्पण एवं भक्ति के साथ किया, उनकी धर्मपत्नी सौ. कुसुमलता जी एवं पुत्र, पुत्रवधुएं सभी ने समय-समय पर संघ के साथ चलकर, आहारदान एवं वैयावृत्ति के द्वारा जो पुण्य अर्जित किया, वह उनकी गुरुभक्ति का परिचायक है।

मध्य में हरियाणा, राजस्थान होते हुए तिजारा, महावीर जी, चांदखेड़ी आदि तीर्थों के दर्शन करके मैं इंदौर पहुँची, वहाँ १३ मार्च १९९६ को भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती के दिन मेरी प्रेरणा से "अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महिला संगठन" नामक दिगम्बर जैन महिलाओं की एक स्वतंत्र संस्था का प्रारंभीकरण हुआ, जिसकी प्रथम केन्द्रीय अध्यक्षा चुनी गईं-श्रीमती चन्द्रप्रभा देवी जैन मोदी (इंदौर) एवं श्रीमती सुमन जैन (इंदौर) को महामंत्री बनाया गया। पूरे देश में इस महिला संगठन की लगभग २५० इकाई समितियों के

माध्यम से महिलाएं अब सक्रिय होकर धार्मिक एवं शैक्षणिक कार्यों का संचालन कर रही हैं तथा केन्द्रीय महामंत्री सुमन जैन के प्रधान सम्पादन में "ऋषभदेशना" नाम की मासिक पत्रिका भी भारत की दिगम्बर जैन महिला समाज का सुन्दर प्रतिनिधित्व कर रही है।

५ माह में छह प्रदेशों की लम्बी यात्रा पूर्ण कर २७ अप्रैल १९९६ को मैं वहाँ पहुँची और मई में आशातीत सफलताओं के साथ पंचकल्याणक हुआ पुनः मांगीतुंगी में चातुर्मास स्थापित किया।

संघपति जी की विनम्रता —

संघ विहार के मध्य अनेक जगह समाज के लोग औपचारिकतावश संघपति जी का और उनकी धर्मपत्नी का स्वागत करते, तब कुसुमलता जी तो यही कहकर टाल जातीं कि हम तो अपना कर्तव्य निर्वाह कर रहे हैं, इसमें स्वागत करने की क्या आवश्यकता है? किन्तु सामाजिक व्यवस्थानुसार महावीर प्रसाद जी अौर उनके सहयोगी लाला प्रेमचंद जैन, खारीबावली-दिल्ली का स्वागत जब किया जाता तो महावीर प्रसाद अवश्य खड़े होकर विनम्रतापूर्वक कहते थे कि मैं कोई संघपति नहीं बल्कि पूज्य माताजी का संघसेवक हूँ। अभी मुझे माताजी अपने साथ मांगीतुंगी की यात्रा करा रही हैं, आगे भी मैं माताजी से यही चाहता हूँ कि अपने साथ मुझे सिद्धशिला की यात्रा भी अवश्य करा दीजिएगा। इसी प्रकार की भक्ति और लघुता वे आज भी प्रदर्शित किया करते हैं जो श्रावकों के लिए अनुकरणीय है।

नवनिर्माणों की प्रेरणा —

मांगीतुंगी यात्रा का प्रारंभ होते ही पता नहीं कैसा सुयोग रहा कि मेरठ से लेकर मांगीतुंगी तक तो जो भी प्रदेश बीच में पड़े, प्रायः उन सभी स्थानों पर किसी न किसी नवनिर्माण की मैंने प्रेरणा दी, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—१. कमलानगर-मेरठ में विद्यमान बीस तीर्थंकर एवं वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकरों की कमलरचना (कमलों पर भगवान विराजमान) २. प्रीतविहार-दिल्ली में भगवान ऋषभदेव कमल मंदिर ३. ऋषभदेव केशरिया जी में पहाड़ी पर अयोध्या तीर्थ रचना ४. खेरवाड़ा (राज.) में कैलाशपर्वत रचना ५. सनावद (म.प्र.) में णमोकार धाम तीर्थ की स्थापना ६. सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र पर तेरहद्वीप रचना मंदिर ७. झालरापाटन (राज.) में सिद्धाचलम् तीर्थ की घोषणा ८. मांगीतुंगी में सहस्रकूट कमलमंदिर ९. केकड़ी (राज.) में सम्मेदशिखर पर्वत रचना १०. माधोराजपुरा (राज.) में नूतन तीर्थ स्थापना.....इत्यादि कई स्थानों के निर्माण पूर्ण होकर जिनधर्म का अमिट संदेश प्रदान कर रहे हैं।

भगवान ऋषभदेव की १०८ फुट उत्तुंग प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा —

मांगीतुंगी का चातुर्मास लगभग समापन की ओर था, एक दिन पर्वत पर स्थित सुधबुध की गुफा में मैं पिण्डस्थ ध्यान कर रही थी, उस मध्य पर्वत की पूर्वाभिमुख चट्टान में विशालकाय भगवान ऋषभदेव की १०८ फुट ऊँची खड्गासन मूर्ति उत्कीर्ण कराने के भाव जागृत हुए। पास में बैठी आर्यिका चंदनामती को मैंने कहा कि यहाँ पहाड़ पर १०८ फुट के ऋषभदेव भगवान का रूप प्रगट करना है।

आर्यिका चंदनामती सुनकर बहुत खुश हुईं और कहने लगीं कि माताजी! आपको तो प्रारंभ से ही घर में भी दैवी अवतार के रूप में माना गया है। ऐसा लगता है कि आपका धरती पर जन्म मात्र परोपकार एवं संस्कृति संरक्षण के लिए ही हुआ है। काश! आपकी इच्छानुसार यह मूर्ति यहाँ बन जावे तो विश्वभर में एक बार फिर से दिगम्बर जैनधर्म का डंका गूंज जाएगा पुनः उन्होंने कुछ उन्मनस्कता से कहा—किन्तु माताजी! आप तो यहाँ से विहार करने वाली हैं तो इतना बड़ा श्रमसाध्य, दुरूह एवं अर्थसाध्य कार्य कैसे मूर्तरूप ले पाएगा? अतः इससे तो अच्छा है कि आप इस वृहत्काय योजना को प्रगट ही न कीजिए अन्यथा सब लोग आपको यहीं रोकने का प्रबल पुरुषार्थ करेंगे।

मेरा प्रारंभ से ही स्वभाव रहा है कि किसी भी अच्छी बात को मूर्तरूप करने की इच्छा होने पर मैं कभी किसी शिष्य या भक्त की बात नहीं मानती हूँ और भगवान एवं अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास करके उसे करने की ठान लेती हूँ उसके पश्चात् शिष्यगण और भक्त अपने आप कर्तव्य निर्वाह की भावना से उसमें सहयोगी बन जाते हैं। इसी नीति के अनुसार २५ अक्टूबर १९९६ शरदपूर्णिमा के दिन कुछ भक्तों के समक्ष मैंने १०८ फुट मूर्ति निर्माण की घोषणा कर दी, जिसे तत्काल लोगों ने तालियाँ बजाकर एवं जय-जयकारों के साथ बनाना स्वीकार करके दानराशि की घोषणा भी प्रारंभ कर दी। कार्य की दुर्गमता एवं दुर्लभता देखकर सभी ने इस नूतन निर्माण की समिति अलग बनाने की घोषणा की तथा उसके अध्यक्ष पद के लिए कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जी का नाम प्रस्तावित किया। इनकी कार्यक्षमता पर तो मुझे स्वयं गौरव है अतः मैंने भी क्षणमात्र आगे-पीछे की सोचकर अध्यक्ष पद में रवीन्द्र जी का नाम और महामंत्री पद हेतु डा. पन्नालाल जैन पापड़ीवाल-पैठण (महा.) का नाम घोषित कर दिया पुनः मूर्ति निर्माण हेतु रजिस्टर्ड ट्रस्ट बना, जिसके माध्यम से वर्षों के परिश्रमपूर्वक मूर्ति निर्माण के लिए प्रस्तावित पर्वत अधिकृत किया गया और ३ मार्च २००२ से निर्माण कार्य हेतु शिलापूजन (संघपति महावीर प्रसाद जैन-दिल्ली द्वारा) समारोह करके कार्य प्रारंभ हो गया है। पूरे देश की जैन समाज का मानस इस निर्माण के साथ जुड़ा है। कुशल इंजीनियर, आर्कीटेक्ट एवं शिल्पकारों के सहयोग से शीघ्र पर्वतखण्ड में जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति निर्मित होवे इसी भावना के साथ सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी को मेरा परोक्षरूप में कोटि-कोटि वंदन है।

मैंने तो इस मूर्ति की घोषणा करके चातुर्मास के अनंतर मांगीतुंगी से १४ नवम्बर १९९६ को विहार कर दिया एवं ३० मार्च १९९७ को संघ सहित दिल्ली पहुँच गई और वहाँ से ऋषभदेव जन्मजयंती का शंखनाद शुरू किया। दिल्ली में २ अप्रैल १९९७ को भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती महोत्सव का विशेष कार्यक्रम दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर एवं अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत के संयुक्त तत्त्वावधान में रथयात्रा एवं दिगम्बर जैन लाल मंदिर में १०८ चांदी के कलशों से भगवान का जन्माभिषेकपूर्वक मनाया गया।

इसी अवसर पर मेरी प्रेरणा से चांदनी चौक-दिल्ली की महिला संगठन इकाई का दीप जलाकर उद्घाटन किया गया। वर्तमान में दिल्ली की विभिन्न कॉलोनियों में ५० इकाइयाँ सक्रिय कार्य कर रही हैं।

चौबीस कल्पद्रुम विधानों ने दिल्ली में एक साथ चौबीस समवसरण दिखाये —

मांगीतुंगी में एक दिन मैंने और आर्यिका चंदनामती ने आपस में विचार-विमर्श करके निर्णय किया कि इस बार दिल्ली में भक्ति का एक महान आयोजन चौबीस कल्पद्रुम विधान कराना है पुनः मार्ग में उसकी रूपरेखा बनाती रही और प्रभावनापूर्वक विहार करते-करते हम लोग महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, हरियाणा होते हुए ३० मार्च १९९७ को दिल्ली आ गये। वहाँ दिल्ली प्रदेश के मुख्यमंत्री साहिब सिंह वर्मा ने लालकिला मैदान में संघ का स्वागत-सम्मान किया, उसी सभा में भगवान ऋषभदेव जन्मजयंती महोत्सव का दीप प्रज्वलनपूर्वक उद्घाटन घोषित किया और पूरे देश की जनता को प्रथम तीर्थंकर की जन्मजयंती व्यापक स्तर पर मनाने की प्रेरणा प्रदान की। केन्द्रीय समिति ने पूरे वर्ष समय-समय पर मेरी प्रेरणानुसार जन्मजयंती, अक्षयतृतीया, ऋषभदेव निर्वाण दिवस आदि मनाने हेतु देश भर में पोस्टर भेजे, तो सभी जगह ऋषभदेव भगवान की धूम मची और धीरे-धीरे लोगों का यह भ्रम समाप्त होने लगा कि जैनधर्म की स्थापना भगवान महावीर ने की है।

साहू अशोक जैन की उत्कट भावना —

दिनाँक ४ अक्टूबर से १३ अक्टूबर १९९७ तक रिंगरोड दरियागंज-दिल्ली में चौबीस कल्पद्रुम विधान

हेतु विशाल पाण्डाल बना। लगभग ३००० स्त्री-पुरुष उस विधान की पूजा में बैठे। चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों के २४ समवसरण बनाकर उनके समक्ष अलग-अलग चक्रवर्तियों का परिवार भक्ति में रत चतुर्थकाल जैसा दृश्य उपस्थित कर रहा था। उन क्षणों का वर्णन तो वास्तव में लेखनी के द्वारा करना अशक्य है, जिसने साक्षात् उसे किया या देखा है वही उसकी महिमा जान सकता है। विधान कार्यक्रम का उद्घाटन जहाँ पूर्व राष्ट्रपति डा. शंकरदयाल शर्मा ने किया, मुख्यमंत्री एवं अनेक मंत्री, सांसद आदि ने आकर दर्शन करके अपने भाग्य की सराहना की, वहीं जैन समाज के प्रमुख नेता साहू अशोक जी तो उस मंच पर आते ही भाव विह्वल हो गये और जीवन में पहली बार इतनी बड़ी संख्या में एक जैसे परिधान में पंक्तिबद्ध पूजन करने वाले भक्तों को, २४ सुसज्जित समवसरणों को देखकर उनकी प्रसन्नता हर्षाश्रुओं के माध्यम से निकलने लगी। उन्होंने खड़े होकर मंच से अपने विचार व्यक्त करते हुए मुझसे अत्यन्त आग्रहपूर्वक निवेदन किया कि पूज्य माताजी! आज मैं राजधानी दिल्ली की धरती पर जो चतुर्थकालीन भक्तिदृश्य देख रहा हूँ वह मेरी जिंदगी का प्रथम अवसर है। मेरे मन में विचार आया है कि यदि आप एक बार सम्मेदशिखर चलकर अपने सानिध्य में ऐसा विशाल आयोजन करवा दें तो मेरा विश्वास है कि सम्मेदशिखर का सारा विवाद समाप्त हो जाएगा और फिर से सम्मेदशिखर का लुप्त होता अतिशय वापस आ जाएगा।

आज मैं सोचती हूँ कि साहू अशोक, जो सम्मेदशिखर तीर्थ के प्रति समर्पित भक्त थे, यदि जीवित होते तो उनकी भावना शायद सफल हो सकती थी किन्तु वे तो काल के गाल में समाहित हो गये और मैं जब मार्च २००३ में सम्मेदशिखर पहुँची तो उनकी भक्ति याद आ गई। तब मैंने भगवान पार्श्वनाथ के चरणों में ऐसे तीर्थभक्त की सद्गति हेतु मंगल कामना की।

रमेशचंद जैन (पी.एस.मोटर्स) की आत्मीय भावना —

कल्पद्रुम विधान के विराट आयोजन में कार्याध्यक्ष के रूप में श्री रमेशचंद जैन (पी.एस.मोटर्स)-राजपुर रोड, दिल्ली ने सारे कार्यभार को संभाला तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। यूं तो पिछले २५-३० वर्षों से रमेश जी एवं उनके परिवार के सभी लोग मेरे पास भक्ति और स्नेह के साथ आते ही थे किन्तु इस आयोजन में उन्होंने सक्रियतापूर्वक भाग लेकर आर्यिका चंदनामती, क्षु. मोतीसागर एवं अध्यक्ष रवीन्द्र कुमार के साथ अन्तरिम मीटिंग करके जब कार्य किया, तो वे भी हम लोगों की कार्यप्रणाली से अत्यन्त प्रसन्न हुए और हम लोग भी उनके व्यक्तित्व से परिचित हो सके। उनकी धर्मपत्नी सुशीला जी मेरी खास भक्तों में हैं और हमेशा मुझसे बात करके प्रसन्न एवं संतुष्ट होती हैं।

प्रमुख चक्रवर्ती भरत सम्राट के पद पर दिल्ली निवासी राजकुमार जैन-वीरा बिल्डर्स —

इस विधान में प्रमुख चक्रवर्ती भरत सम्राट के पद पर दिल्ली निवासी राजकुमार जैन वीरा बिल्डर्स को मनोनीत किया गया था अतः उन्होंने अपनी धर्मपत्नी आशा जैन के साथ एवं पूरे परिवार तथा सभी चक्रवर्ती समूह को साथ लेकर अविस्मरणीय भक्ति का रसास्वादन लिया। कल्पद्रुम विधान की स्मारिका से पाठकगण इस महोत्सव का पूरा चित्रण देख सकते हैं। यहाँ मैं इस विषय को समाप्त करते हुए भक्तों को यही प्रेरणा दूँगी कि पंचमकाल में साधु और श्रावक दोनों के लिए जिनेन्द्र भक्ति के सिवाय दूसरा कोई प्रबल निमित्त कर्मनिर्जरा के लिए नहीं हो सकता है अतः अपनी पूरी शक्ति और भक्ति के साथ सदैव धर्मध्यान का अवलम्बन लेकर सांसारिक आर्त-रौद्र ध्यानों से छूटने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

समवसरण प्रवर्तन के साथ जन्मजयंती वर्ष का समापन हुआ —

भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व जन-जन तक पहुँचाने हेतु मेरे मन में कई वर्षों से (सन् १९९२ से) लगन लगी थी अतः कुछ न कुछ प्रभावनात्मक कार्य करने की इच्छा हुआ करती थी। उसी के फलस्वरूप मैंने

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान के कार्यकर्ताओं को "भगवान ऋषभदेव समवसरण श्रीविहार" के नाम से पूरे भारत में एक रथ घुमाने की प्रेरणा दी। उस रथ के साथ-साथ जन्मकल्याणक के प्रतीक में एक विशाल ऐरावत हाथी का दूसरा रथ भी बनाया गया। इन दोनों रथों का उद्घाटन २२ मार्च १९९८ ऋषभदेवजन्मजयंती के दिन जन्मजयंती वर्ष के समापन अवसर पर लालकिला मैदान दिल्ली से केन्द्रीय वित्त राज्यमंत्री श्री धनंजय कुमार जैन की अध्यक्षता में हुआ पुनः ९ अप्रैल १९९८ को भगवान महावीर जन्मजयंती के दिन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भारत भ्रमण हेतु इन रथों का प्रवर्तन किया। निरंतर तीन वर्षों तक पूरे देश में इस समवसरण श्रीविहार के द्वारा ऋषभदेव के सिद्धांतों का एवं व्यसनमुक्ति, सदाचार, शाकाहार का जो व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ है वह अविस्मरणीय है। २१ अक्टूबर सन् २००२ में वह समवसरण प्रयाग-इलाहाबाद में नवनिर्मित तीर्थ "तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली" परिसर के समवसरण मंदिर में स्थाईरूप से स्थापित किया गया है।

इस प्रवर्तन में संयोजक के रूप में चिरंजीव विजय कुमार जैन-कानपुर ने अथक परिश्रम करके जिस अदम्य उत्साह का परिचय दिया, वह नवीन युवा पीढ़ी के लिए निश्चित ही अनुकरणीय है। उसके लिए मैंने सदैव उसकी प्रशंसा करके यही आशीर्वाद प्रदान किया है कि तुम्हारी योग्यता और अधिक वृद्धिंगत हो, जिससे कि कलियुग में नई पीढ़ी द्वारा धर्ममार्ग की वृद्धि करने वाला सम्राट् चन्द्रगुप्त का स्वप्न सार्थक होगा। इसी प्रकार रथ प्रवर्तन के संचालक विद्वान् पं. सुधर्मचंद्र शास्त्री, तिवरी (म.प्र.) की धर्मरुचि भी सराहनीय रही है।

कुलपति सम्मेलन के माध्यम से भगवान ऋषभदेव का अस्तित्व सामने आया —

दिल्ली से समवसरण श्रीविहार रथ प्रवर्तन के पश्चात् मैं मई में ससंघ हस्तिनापुर वापस आ गई और सन् १९९८ का वर्षायोग जम्बूद्वीप स्थल पर स्थापित किया। मेरे संघ में उस समय आर्यिका अभयमती जी, आर्यिका चंदनामती, क्षुल्लक मोतीसागर, क्षुल्लिक शांतिमती, क्षुल्लिका श्रद्धामती थीं। उस चातुर्मास के मध्य मेरी प्रेरणा से संस्थान ने ४ अक्टूबर से ६ अक्टूबर १९९८ तक "भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन" आयोजित किया, जो कि जैन समाज में प्रथम बार आयोजित हुआ है। पूरे देश के विश्वविद्यालयों में से लगभग ३० कुलपति, कुछ पूर्वकुलपति एवं शताधिक प्रोफेसर विद्वानों ने इस सम्मेलन में भाग लिया, तब सभी ने इस बात को स्वीकार किया कि अभी तक हम लोग भगवान महावीर को जैनधर्म का संस्थापक मानते थे जबकि वास्तविकता आज ज्ञात हुई है कि "जैनधर्म प्राकृतिक शाश्वत धर्म है और भगवान ऋषभदेव से महावीर तक इस युग के २४ तीर्थंकर हुए हैं।" जम्बूद्वीप के सुरम्य वातावरण ने सभी आगन्तुकों को बहुत ही मंत्रमुग्ध किया तथा ब्र. रवीन्द्र जी के द्वारा किये गये विशिष्ट आतिथ्यसत्कार एवं आवास व्यवस्था की सभी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। सम्मेलन के संयोजक के रूप में डा. अनुपम जैन (इंदौर) का सहयोग भी सराहनीय रहा। इस कुलपति सम्मेलन के मध्य ही ६ अक्टूबर को मेरी प्रेरणा से "तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ" नामक विद्वानों की एक संस्था की स्थापना हुई। वर्तमान में उसके अध्यक्ष डा. शेखरचंद जैन-अहमदाबाद एवं महामंत्री-डा. अनुपम जैन-इंदौर के सक्रिय कार्यकलापों से वह संस्था विद्वानों की एक प्रतिष्ठित संस्था के रूप में मान्य है।

षट्खण्डागम सिद्धान्तचिन्तामणि टीका के प्रथम भाग का विमोचन —

षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ का एवं उसकी धवला टीका का स्वाध्याय मैंने कई बार किया, उसमें बहुत से ऐसे सैद्धान्तिक और गणित के प्रकरण हैं जो कि अतीव क्लिष्ट हैं उन विषयों में मेरी भी प्रगति नहीं है। इसी हेतु से कई बार मन में आया कि इस महान् सूत्र ग्रंथ की धवला टीका के जो सरल अंश हैं उन्हें उद्धृत करके अल्पज्ञानी साधु-साध्वियों व प्रबुद्ध श्रावकों के लिए भी षट्-खण्डागम का ज्ञान कराया जावे तथा च अपने

ज्ञान के क्षयोपशम को भी वृद्धिंगत किया जाये। यह भावना वर्षों से चल रही थी कि इसी मध्य आर्यिका चंदनामती ने भी प्रार्थना की कि—"माताजी! अब आप षट्खण्डागम ग्रंथ पर कुछ कार्य कीजिए।" उनके आग्रह से भावना और बलवती हुई। इसी के फलस्वरूप मैंने अपने ६२वें जन्मदिवस पर जबकि जम्बूद्वीप का द्वितीय बार पंचवर्षीय महामहोत्सव हस्तिनापुर में मनाया जा रहा था और भगवान श्री शांतिनाथ का सुमेरु पर्वत की पांडुकशिला पर १००८ कलशों से महामस्तकाभिषेक कार्यक्रम चल रहा था, उसी समय षट्खंडागम के प्रथमखंड की सिद्धान्तचिन्तामणि नाम की टीका लिखने का भाव बनाया और उसी दिन आश्विन शुक्ला १५-शरद् पूर्णिमा दिनाँक ८-१०-१९९५ को प्रातः ११.२५ पर मंगलाचरण लिखकर टीका लिखने का सूत्रपात किया।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

षट्खण्डागमः

अस्यान्तर्गतः

जीवस्थान-नाम-प्रथमखण्डागमः

अस्यापि प्रथम प्रकरण-सत्प्ररूपणायाः

सिद्धान्तचिन्तामणिनामधेया टीका

मंगलाचरणम्

सिद्धान् सिद्ध्यर्थमानम्य, सर्वांस्त्रैलोक्यमूर्धगान् ।
इष्टः सर्वक्रियान्तेऽसौ, शान्तीशो हृदि धार्यते।।१।।

तीन लोक के मस्तक पर विराजमान ऐसे सर्वसिद्धों को सिद्धि के लिए नमस्कार करके, जो सम्पूर्ण क्रियाओं के अंत में इष्ट हैं, ऐसे शान्तिनाथ भगवान को हम हृदय में धारण करते हैं अर्थात् मुनियों की अष्टमी पर्व, नंदीश्वर पर्व आदि क्रियाओं के अंत में शान्तिभक्ति का पाठ किया जाता है और श्रावकों की भी नित्य-नैमित्तिक पूजाओं के अंत में शांतिपाठ पढ़ा जाता है। इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान् की भक्ति मुनि और श्रावक की भक्ति-पूजा क्रियाओं के अंत में पढ़ी जाती है ऐसे शान्तिनाथ भगवान को यहाँ टीका के प्रारंभ में हृदय में विराजमान किया गया है।

अनंतर तीन काल के अनन्त अर्हंतों को, चौबीस तीर्थंकरों को और सीमंधर स्वामी आदि बीस तीर्थंकरों को नमस्कार करके भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान ऐसे चार-चार कल्याणकों से पवित्र हस्तिनापुर तीर्थ को नमस्कार किया है पुनः अट्ठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषा से समन्वित ऐसी द्वादशांगमयी श्रुतदेवी को हृदय में अवतरित किया है।

युग की आदि में हुए श्री ऋषभसेन गणधर गुरु से लेकर पंचम काल के अंत में हुए श्रीवीरांगज मुनि को नमस्कार किया है कि जिनके प्रसाद से आज तक भी सिद्धान्तज्ञान दिख रहा है। इसके बाद श्रीपुष्पदन्ताचार्य को और श्रीभूतबलि को नमस्कार किया है कि जिन्होंने 'षट्खंडागम ग्रंथ' को इस भूतल पर अवतीर्ण किया है—लिखा है पुनः श्रीवीरसेन स्वामी के उपकार का स्मरण किया है कि जिन्होंने इस षट्खंडागम ग्रंथ की 'धवला' नाम की टीका लिखकर भव्यजीवों के अन्तःकरण को उज्ज्वल कर दिया है।

इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागरजी, उनके प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्रीवीरसागर जी को नमस्कार करके मेरे आर्यिका दीक्षा के गुरु 'ज्ञानमती' नाम देने वाले श्रीवीरसागर जी आचार्य हैं ऐसा ध्वनित किया है पुनः युग की आदि में हुई ब्राह्मी—आर्यिका जो कि प्रथम गणिनी थीं, उनसे लेकर पंचमकाल के अंत में होने वाली 'सर्वश्री' आर्यिका तक सभी आर्यिकाओं को 'वंदामि' करके ग्यारह

अंग की पाठी ऐसी 'सुलोचना' संयतिका—आर्यिका की वंदना की है।

पुनः 'षट्खंडागम' नाम के सिद्धान्तग्रंथ को भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार करके इनमें से प्रथमखंड की टीका लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। उस प्रथमखण्ड में भी जो प्रथम अंश सत्प्ररूपणा है, उसकी टीका लिखने में कहा है कि इसमें मैंने धवला टीका के अंशों को निकाल-निकाल कर अपने में ज्ञान ऋद्धि को प्रगट करने के लिए इस टीका को सरल बना दिया है अर्थात् धवला टीका के सरल-सरल अंशों को मैं इसमें उद्धृत करूँगी, ऐसा स्पष्ट किया है।

अनन्तर मैंने "चंदनामती" आर्यिका को 'ज्ञानवृद्धिं' क्रियात् 'ऐसा आशीर्वाद दिया है कि वर्तमान में जिनकी प्रार्थना से मैंने यह टीका लिखना प्रारंभ किया है पुनः मैंने प्रार्थना की है—

शारदे! तिष्ठ मच्चित्ते, यावन्न पूर्णमायुयात्।
प्रारब्धकार्य मेतद्धि, तावच्छक्तिं च देहि मे।।

हे शारद मातः! आप मेरे हृदय में तब तक विराजमान रहो कि जब तक प्रारंभ किया गया मेरा यह लेखन कार्य पूर्ण न हो जावे और तब तक मुझे शक्ति भी प्रदान करो।

अनन्तर-सत्रहवें काव्य को लिखा है—

इन्द्रवज्रा छंद—

सिद्धान्तचिन्तामणिनामधेया, सिद्धान्तबोधामृतदानदक्षा।
टीका भवेत्स्वात्मपरात्मनो हि, कैवल्यलब्ध्यै खलु बीजभूता।।१७।।

यह जो 'सिद्धान्तचिन्तामणि' नाम की टीका है वह सिद्धान्तज्ञानरूपी अमृत को देने में कुशल है, यह टीका अपनी आत्मा में और अन्य पाठकों की आत्मा में केवलज्ञान को उत्पन्न करने के लिए बीजभूत होवे, ऐसी प्रार्थना की गई है।

यहाँ तक १७ काव्यों में इस टीका का मंगलाचरण किया गया है। इसके अनन्तर टीका लिखने में भूमिका लिखी है—

'अथसर्वेषां अंग-पूर्वाणामेकदेशज्ञानवतः श्रुतज्ञानस्याविच्छिन्नतां चिकीर्षोः महाकारुणिकस्य भगवतः श्रीधरसेनाचार्यस्य मुखकमलादधीत्य सिद्धान्तज्ञौ श्रीपुष्पदंत-भूतबलि-आचार्यो.....।''

सम्पूर्ण अंग और पूर्वों के एकदेशज्ञाता, श्रुतज्ञान को अविच्छिन्न बनाने की इच्छा रखने वाले महाकारुणिक भगवान श्रीधरसेनाचार्य हुए हैं, उनके मुखकमल से पढ़कर सिद्धान्तज्ञानी श्रीपुष्पदंत और श्री भूतबलि आचार्य हुए हैं। उन्होंने 'अग्रायणीय पूर्व' नामक द्वितीय पूर्व के 'चयनलब्धि' नामक पाँचवी वस्तु के 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' नामक चौथे अधिकार से निकले हुए जिनागम को छह खंडों में विभाजित करके 'षट्खंडागम' यह सार्थक नाम देकर सिद्धान्तसूत्रों को लिपिबद्ध किया है।

छह खण्ड के नाम—

१. जीवस्थान २. क्षुद्रकबंध ३. बंधस्वामित्वविचय ४. वेदना खण्ड ५. वर्गणाखण्ड और ६. महाबंध ये नाम हैं।

इनमें से पाँच खंडों में छह हजार सूत्र हैं और छठे खण्ड में तीन हजार सूत्र हैं। ऐसा श्रुतावतार ग्रंथ में लिखा है।

वर्तमान में मुद्रित—

छपी हुई सोलह पुस्तकों में पाँच खण्ड माने गये हैं। उनके सूत्रों की गणना छह हजार, आठ सौ, तीस (६८३०) है।

पाँच खण्डों में विभाजित सूत्र संख्या —

प्रथम खण्ड में दो हजार तीन सौ पचहत्तर सूत्र (२३७५) हैं। दूसरे खण्ड में पन्द्रह सौ चौरानबे (१५९४) हैं। तृतीयखण्ड में तीन सौ चौबीस (३२४), चतुर्थ खण्ड में पन्द्रह सौ चौदह (१५१४), पाँचवें खण्ड में एक हजार तेईस (१०२३) सूत्र हैं।

मुद्रित सोलह पुस्तकों में पाँच खण्डों का विभाजन —

छपी हुई प्रथम से लेकर छह पुस्तकों तक प्रथम खण्ड है। सातवीं पुस्तक में द्वितीय खण्ड है। आठवीं पुस्तक में तृतीय खण्ड है। नवमीं से लेकर बारहवीं पुस्तक तक चार पुस्तकों में चतुर्थ खण्ड है और तेरहवीं पुस्तक से लेकर सोलहवीं तक चार पुस्तकों में पाँचवां खण्ड है।

प्रथम खण्ड के विषय —

प्रथम खण्ड में आठ अनियोगद्वार हैं एवं अंत में एक चूलिका अधिकार है। इस चूलिका के भी नव भेद हैं। आठ अनियोगद्वार के नाम—

१. सत्प्ररूपणा २. द्रव्यप्रमाणानुगम ३. क्षेत्रानुगम ४. स्पर्शनानुगम ५. कालानुगम ६. अन्तरानुगम ७. भावानुगम ८.अल्पबहुत्वानुगम।

चूलिका के नाम और भेद —

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका २. स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका ३. प्रथममहादण्डक ४. द्वितीयमहादण्डक ५. तृतीय महादण्डक ६. उत्कृष्ट स्थितिबंध ७. जघन्यस्थितिबंध ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका और ९. गत्यागती चूलिका।

मुद्रित छह पुस्तकों में यह प्रथम खण्ड विभाजित है —

प्रथम पुस्तक में सत्प्ररूपणा है, द्वितीय पुस्तक में आलाप अधिकार नाम से इसी सत्प्ररूपणा का विस्तार है। तृतीय पुस्तक में द्रव्यप्रमाणानुगम है। चतुर्थ पुस्तक में क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम और कालानुगम का वर्णन है। पंचम पुस्तक में अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम है। छठी पुस्तक में नौ चूलिकाएं हैं।

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका —

मैंने आश्विन शुक्ला पूर्णिमा, ८ अक्टूबर १९९५ को मंगलाचरण लिखकर इस षट्खण्डागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में भी प्रथम अवयवभूत सत्प्ररूपणा की टीका लिखने का संकल्प किया। इस टीका में ४ पेज तक ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय और सूत्र संख्या द्वारा भूमिका बनाई। पुनश्च आगे महामंत्र, जो कि अपराजित णमोकार मंत्र है और इस 'षट्खण्डागम' ग्रंथ का मंगलाचरण है, उसे लिखकर उसकी व्याख्या लिखना शुरू किया।

यह मेरे द्वारा लिखी जा रही टीका का आधार श्रीवीरसेनाचार्य द्वारा विरचित धवला टीका ही प्रमुख है। इस टीका के सरल अंशों को भी अपनी भाषा में सरल करने का प्रयास किया गया है तथा अन्य अनेक ग्रंथों के उदाहरण भी लिये गये हैं। इसमें णमोकार मंत्र के अक्षर, पद, मात्रा आदि का वर्णन करके यह द्वादशांग का सारभूत है, ऐसा भी अन्य ग्रंथों के आधार से सिद्ध किया है। इस मंगलाचरण में नाम, स्थापना आदि निक्षेप भी घटित किये हैं। यह मंत्र अनादिनिधन है ऐसा भी अन्य ग्रंथ के आधार से प्रगट किया है।

पुनः ग्रंथ के लिए निमित्त, हेतु, कर्त्ता आदि का सुन्दर विवेचन है। इसमें भगवान महावीर स्वामी को अर्थकर्ता सिद्ध करके भगवान की दिव्यध्वनि से प्रगट ग्यारह अंग, चौदह पूर्वों के नाम व संक्षिप्त लक्षण दिये गये हैं। ग्रंथकर्ता श्री गौतम स्वामी नाम से प्रसिद्ध जो कि इन्द्रभूति प्रथम गणधर हुए हैं, उनका भी वर्णन है।

अनन्तर श्रुतदेवी का भी लक्षण प्रतिष्ठा ग्रंथ आदि के आधार से दिया है। इसके बाद श्रुतावतार की

अर्थात् षट्खण्डागम के उत्पत्ति की कथा संक्षेप में दी गई है। जो कि इस प्रकार है—

सौराष्ट्रदेश में ऊर्जयंतपर्वत के पास गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करने वाले अष्टांगमहानिमित्त पारंगत श्रीधरसेनाचार्य ने एक बार मन में चिन्तन किया कि "आगे अंग श्रुतज्ञान का विच्छेद हो जायेगा।" अतः किसी भी उपाय से उस अंग श्रुतज्ञान की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। उसी समय पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में सम्मिलित दक्षिणदेशवासी आचार्यों के पास में एक पत्र भेजा। उस लेख को पढ़कर उन आचार्यों ने दो योग्य मुनि उस आन्ध्र देश से सौराष्ट्र देश में भेजे। इन आचार्य धरसेन को अग्रायणीयपूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ महाकर्म प्रकृतिप्राभृत का ज्ञान था जिससे इन्होंने अपनी आयु अल्प जानकर दो मुनि अपने पास भेजने के लिए पत्र लिखा था और एक ब्रह्मचारी के हाथ भेजा था।

जब ये दोनों मुनि वहाँ पहुँचने वाले थे, तभी आचार्यप्रवर श्रीधरसेन जी को पिछली रात्रि में स्वप्न हुआ कि दो शुभ्र वृषभ मेरी तीन प्रदक्षिणा देकर मेरे चरणों में नमन कर रहे हैं। यद्यपि स्वप्न का फल योग्य शिष्यों का मिलना समझ चुके थे फिर भी उन दोनों के आने के बाद उनकी परीक्षा के लिए गुरुदेव ने दोनों को एक-एक विद्यायें देकर भगवान नेमिनाथ की सिद्धभूमि पर बैठकर विद्या सिद्ध करने का आदेश दिया। गुरु की आज्ञा से वे दोनों विद्या सिद्ध करने हेतु मंत्र जपने लगे। जब विद्या सिद्ध हो गई, तब उनके सामने दो देवियाँ प्रगट हो गईं। उनमें से एक देवी कानी थी और दूसरी देवी के बड़े-बड़े दाँत थे। इन दोनों मुनियों ने चिन्तन किया कि देवियों के ये वास्तविक रूप नहीं हैं, कुछ न कुछ हमारे मंत्रों के दोष हैं।

चिन्तन करके मंत्र के व्याकरण शास्त्र से दोनों ने मंत्र शुद्ध किए। एक मुनि के मंत्र में एक अक्षर कम था और दूसरे मुनि के मंत्र में एक अक्षर अधिक था। तब उन दोनों मुनियों ने मंत्र को शुद्ध करके जपना प्रारंभ किया। अनन्तर सुन्दर वेषभूषा में दो देवियाँ अपने सुन्दर रूप में प्रगट हुईं और कहा—

"आज्ञा दीजिए! क्या करना है?"

तभी दोनों मुनियों ने कहा—हमें आपसे कोई भी कार्य नहीं है। केवल गुरु की आज्ञा से हमने ये मंत्र जपे हैं। तब वे देवियाँ अंतर्हित हो गईं। इन दोनों ने जाकर गुरुवर्य श्रीधरसेनाचार्य को सारा वृत्तान्त सुना दिया।

आचार्य श्री प्रसन्न हुए और इन दोनों मुनियों को शुभ मुहूर्त में श्रुत विद्या का अध्ययन कराना प्रारंभ कर दिया। इन्होंने विनयपूर्वक गुरु से श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया। तब श्री धरसेनसूरि ने अपनी आयु को अल्प जान इन दोनों का विहार करा दिया। ये दोनों महासाधु देवों द्वारा पूजा को प्राप्त होकर गुरु की आज्ञा से वहाँ से चलकर 'अंकलेश्वर' ग्राम में आये और वहीं चातुर्मास स्थापित किया।

तदनंतर बड़े मुनि श्री पुष्पदन्ताचार्य अपने भान्जे जिनपालित को साथ लेकर उन्हें मुनि बनाकर 'वनवास' नाम के देश को चले गये और भूतबलि नाम के दूसरे आचार्य तमिल देश को चले गये। श्री पुष्पदंताचार्य ने जिनपालित मुनि को सत्प्ररूपणा के एक सौ सतहत्तर सूत्रों को लिखकर पढ़ाये और उन्हें देकर भूतबलि आचार्य के पास भेज दिया। इन्होंने भी अपने सहपाठी गुरु भाई पुष्पदन्ताचार्य के अभिप्राय को जानकर और उनकी आयु भी अल्प जानकर विचार किया कि—"महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' श्रुतज्ञान की परम्परा चलती रहे, इसका अंत न हो जाये 'द्रव्यप्रमाणानुगम' को आदि लेकर षट्खंडागम ग्रंथ की रचना पूरी की और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन इस ग्रंथ की चतुर्विध संघ ने पूजा की थी, तभी से श्रुतपंचमी पर्व चला आ रहा है। ये पुष्पदंत और भूतबलि दोनों आचार्य इस षट्खंडागम ग्रंथ के कर्त्ता माने गये हैं।

इस ग्रंथ के सत्प्ररूपणा के एक सौ सतहत्तर सूत्र जो कि षट्खंडागम पुस्तक प्रथम में छपे हैं वे श्री पुष्पदन्ताचार्य द्वारा विरचित हैं और शेष सभी सूत्र मुद्रित तीसरी पुस्तक से लेकर महाबंध तक श्री भूतबलि आचार्य द्वारा विरचित हैं। छपी हुई पुस्तक में सूत्र नहीं हैं केवल सत्प्ररूपणा से संदर्भित आलाप अधिकार है

जो कि धवला टीकाकार श्रीवीरसेनाचार्य द्वारा विरचित है।

षट्खण्डागम की टीकाएं —

पुनश्च षट्खण्डागम ग्रंथ पर छह टीकाएं लिखी गई हैं। उनके नाम — श्री कुंदकुंददेव ने तीन खण्डों पर जिनका नाम 'परिकर्म' था यह १२००० श्लोकप्रमाण थी। श्रीशामकुंडाचार्य ने 'पद्धति' नाम से टीका लिखी जो संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ मिश्र थी, ये पाँच खण्डों पर थी और १२००० श्लोक प्रमाण थी। श्री तुम्बुलूर आचार्य ने 'चूड़ामणि' नाम से टीका लिखी। छठा खण्ड छोड़कर षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त ग्रंथों पर यह ८४००० श्लोकप्रमाण थी। श्री समंतभद्र स्वामी ने संस्कृत में पाँच खण्डों पर ४८००० श्लोक प्रमाण टीका लिखी। श्री वप्पदेव सूरि ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम से टीका पाँच खंडों पर और कषायप्राभृत पर लिखी यह ६०००० श्लोकप्रमाण थी। यह प्राकृत में थी पुनः श्रीवीरसेन आचार्य ने छहों खण्डों पर प्राकृत-संस्कृत मिश्र 'धवला' नाम से टीका लिखी, यह ७२००० श्लोकप्रमाण है।

वर्तमान में ऊपर कही हुई पाँच टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं, मात्र श्रीवीरसेनाचार्य कृत 'धवला' टीका ही उपलब्ध है। जिसका कि हिन्दी अनुवाद होकर छप चुका है। इस ग्रंथ को ताड़पत्र से लिखा कर और हिन्दी अनुवाद कराकर छपवाने का श्रेय चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज को है, उनकी कृपा प्रसाद से हम सभी इस ग्रंथ के मर्म को समझने में सफल हुए हैं।

पुनः 'जीवस्थान' नाम के इस प्रथम खण्ड में जो आठ अनियोगद्वार और नव चूलिकाएं हैं, वे कहाँ-कहाँ से निकली हैं? इसका उपसंहार किया है।

जीवस्थान के विषय का उपसंहार —

द्वादशांग में बारहवाँ अंग दृष्टिवाद नाम का है। इसके पाँच भेदों में पूर्वगत नाम से चौथा भेद है। उन चौदह पूर्वों में अग्रायणीय नाम से दूसरा पूर्व है। इस अग्रायणीय पूर्व के चौदह अर्थाधिकार हैं। उनमें से 'चयनलब्धि' नाम से पाँचवी वस्तु यहाँ ग्रहण की गई है। इस चयनलब्धि के भी बीस अधिकार हैं। इन्हें 'प्राभृत' भी कहते हैं। इनमें चौथा भेद 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' है। इस प्राभृत के चौबीस अर्थाधिकारों में 'बंधन' नाम का छठा अधिकार है। इस 'बंधन' अधिकार के चार भेदों में से यहाँ पर बंधक और बंधविधान ये अधिकार ग्रहण किये गये हैं। इस बंध के ग्यारह अनियोगद्वारों में से 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नाम से पाँचवाँ अनियोगद्वार यहाँ लिया गया है। आगे बंधविधान के भेद-प्रभेदों से भावानुगम आदि अनियोगद्वार लिये गये हैं।

इस प्रकार इस 'जीवस्थान' नाम के प्रथम खण्ड में सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनियोग द्वार हैं और नव चूलिकायें हैं।

मैंने सरल संस्कृत भाषा में यह 'सिद्धान्तचिन्तामणि' नाम की टीका लिखी है। मात्र ४८ पेज तक हस्तिनापुर में टीका लिखी थी कि अकस्मात् मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र की ओर विहार करने का निर्णय कर दिया। मन में कुछ दुःख हुआ कि मेरा यह महान ज्ञानवर्धन का कार्य मार्ग में कैसे होगा? कब होगा? और क्या होगा? किन्तु आज मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि —

मगसिर शु. छठ, वीर नि. सं. २५२२, दिनाँक २७-११-१९९५ को मैंने हस्तिनापुर से मंगलविहार किया और अगले दिन २८-११-१९९५ को मवाना में ही प्रातः टीका लिखना प्रारंभ किया। मार्ग में भी कभी प्रातः कभी सायं मेरी लिखाई चलती रही है कभी-कभी विशेष प्रभावना के कार्यों में लिखाई बंद हुई है। प्रथम सत्प्ररूपणा अधिकार की टीका मैंने पिड़ावा राजस्थान में पूर्ण की है।

प्रथम खण्ड ग्रंथ के लेखन में प्रारंभ व समापन की तिथियाँ —

प्रथमखण्ड के अन्तर्गत विषय	टीका प्रारंभ तिथि	दिनाँक	सूत्र संख्या	स्थल
	(पुस्तक नं. १)			
(१) सत्प्ररूपणा	आश्विन शु. १५	८-१०-१९९५	१७७	हस्तिनापुर तीर्थ
समापन	फाल्गुन शु. ७	२५-२-१९९६		पिड़ावा (राजस्थान)
	(पुस्तक नं. २)			
आलापाधिकार प्रारंभ	चैत्र कृ. १	६-३-१९९६		उज्जैन (म.प्र.)
समापन	वैशाख शु. ११	२९-४-१९९६		मांगीतुंगी (महा.)
	(पुस्तक नं. ३)			
(२) द्रव्यप्रमाणानुगम प्रारंभ	वैशाख शु. १२	३०-४-१९९६	१९२	मांगीतुंगी (महा.)
समापन	द्वि. आषाढ़ शु. ३	१८-७-१९९६	१९२	चांदवड़ (महा.)
	(पुस्तक नं. ४)			
(३) क्षेत्रानुगम प्रारंभ	द्वि. आषाढ़ शु. ३	१८-७-१९९६	९२	चांदवड़ (महा.)
समापन	श्रावण कृ. १०	८-८-१९९६	९२	मांगीतुंगी तीर्थ
(४) स्पर्शनानुगम प्रारंभ	श्रावण कृ. १०	८-८-१९९६	१८५	मांगीतुंगी तीर्थ
समापन	श्रावण शु. ११	२५-८-१९९६	१९५	मांगीतुंगी तीर्थ
(५) कालानुगम प्रारंभ	भाद्रपद शु. १	२९-८-१९९६	३४२	मांगीतुंगी तीर्थ
समापन	भाद्रपद शु. ३	१५-९-१९९६	३४२	मांगीतुंगी तीर्थ
	(पुस्तक नं. ५)			
(६) अन्तरानुगम प्रारंभ	भाद्रपद शु. ३	१५-९-१९९६	३९७	मांगीतुंगी तीर्थ
समापन	आश्विन शु. ६	१८-१०-१९९६	३९७	मांगीतुंगी तीर्थ
(७) भावानुगम प्रारंभ	आश्विन शु. ६	१८-१०-१९९६	९३	मांगीतुंगी तीर्थ
समापन	कार्तिक कृ. १०	५-११-१९९६,	९३	मांगीतुंगी तीर्थ
(८) अल्पबहुत्वानुगम प्रारंभ	कार्तिक कृ. ११ वी. नि. सं. २५२३	६-११-१९९६	३८२	मांगीतुंगी तीर्थ
समापन	मगसिर कृ. ७ वी. नि. सं. २५२३	२-१२-९६	३८२	अंकलेश्वर (गुजरात)
	(पुस्तक नं. ६)			
(९) नव चूलिकाधिकार प्रारंभ	मगसिर कृ. ७ वी. नि. सं. २५२३	२-१२-९६	५१२	अंकलेश्वर (गुज.)
समापन	फाल्गुन कृ. १३ वी.नि. सं. २५२३	७-३-९७		माधोराजपुरा (राज.)

इस प्रकार मैंने यह टीका अपनी कर्मभूमि तीर्थक्षेत्र हस्तिनापुर में प्रारंभ करके यात्रा के मध्य में अपनी दीक्षाभूमि माधोराजपुरा (राज.) में लगभग अठारह मास में पूर्ण की है। मुझे प्रसन्नता तो हुई है साथ ही आश्चर्य भी हुआ है यह लगभग ९०० पेज की संस्कृत टीका कैसे लिखी गई है? इसे मैं सरस्वती देवी की विशेष कृपा ही समझती हूँ।

द्वितीयखण्ड की टीका प्रारंभ —

फाल्गुन शु. १, वीर नि. सं. २५२३, दिनाँक १०-३-१९९७ को पद्मपुरा अतिशय क्षेत्र पर भगवान के सामने बैठकर बहुत ही श्रद्धा के साथ मैंने भगवान श्रीपद्मप्रभु तीर्थंकर को नमस्कार करके एक श्लोक लिखकर पुस्तक सातवीं, जो कि द्वितीय खण्ड है और 'क्षुद्रकबंध' जिसका नाम है, उसकी 'सिद्धान्तचिन्तामणि' टीका प्रारंभ की।

मार्ग के विहार में टीका लिखने में मुझे बहुत ही निश्चिंतता रही है। जहाँ भी जैन समाज के ग्राम या शहर आये, प्रवेश करके सभा का कार्यक्रम रखा गया , अधिकांश स्थानों पर पहुँचते ही मंगलाचरण के पश्चात् मैं कोई नयी योजना देती, आर्यिका चंदनामती जी शीघ्र ही अपने प्रवचन से उस पर प्रकाश डालतीं और क्षुल्लक मोतीसागर जी तत्क्षण ही समाज के दो-तीन वरिष्ठ व्यक्तियों से परामर्श करके न्यौछावर राशि निर्धारित करके घोषणा करते थे और तभी दस, पन्द्रह मिनटों में योजना सफल हो जाती और मध्यान्ह में शिलान्यास कराकर संघ का विहार हो जाता। इसी बीच मैं सभा में भी अपना लेखन-कार्य करती रहती थी।

सभा संचालन एवं नूतन योजना को मूर्तरूप देने के कार्य में मुझे कुछ चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। यही कारण है कि मेरी टीका का कार्य अति अल्प समय में निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है। इसलिए आर्यिका चंदनामती और क्षुल्लक मोतीसागर को मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है। चूँकि उनका इस लेखन कार्य में बहुत ही बड़ा सहयोग रहा है।

साथ ही संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहनें आगे का सर्वे करके मेरे पहुँचने के पहले मेरे बस्ते को लेकर आगे पहुँच जातीं और मेरे पहुँचते ही मुझे लिखने का सामान दे देतीं इससे मेरा समय व्यर्थ नहीं जाता था। इसीलिए उन संघस्थ ब्रह्मचारी श्रीचंद को, ब्र. कु. बीना आदि को भी बहुत-बहुत मेरा आशीर्वाद है।

आगे द्वितीय खण्ड के ग्रंथ का समापन मगसिर शु. १३, वी. नि. सं. २५२४ (दि. १२-१२-१९९७) को हस्तिनापुर में किया है पुनः तृतीय खण्ड (पु. ८) की टीका लिखने का प्रारंभ भी इसी दिन किया है।

पुस्तक	तिथि	स्थान	दिनाँक
(१) आठवी पुस्तक प्रारंभ	मगशिर शु. १३ वी.नि. सं. २५२४	हस्तिनापुर	१२-१२-१९९७
समापन	द्वि ज्येष्ठ शु. ५	कमलमंदिर-प्रीतविहार दिल्ली	१८-६-१९९९
(२) नवीं पुस्तक प्रारंभ	आश्विन शु. पूर्णिमा	जैसिंहपुरा-नई दिल्ली	२४-१०-१९९९
समापन		कमलमंदिर-प्रीतविहार दिल्ली	१३-१०-२०००
(३) दसवीं पुस्तक प्रारंभ	आश्विन शु.पूर्णिमा	कमलमंदिर-प्रीतविहार दिल्ली	१३-१०-२०००
समापन	माघ शु. ५	राजाबाजार-कनॉटप्लेस दिल्ली	१७-२-२००२

(४) ग्यारहवीं पुस्तक प्रारंभ	चैत्र कृ. १	बेलनगंज-आगरा	२९-३-२००२
समापन	आश्विन शु.पूर्णिमा	प्रयाग-इलाहाबाद	२१-१०-२००२
		(भगवान ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ)	
(५) बारहवीं पुस्तक प्रारंभ	आश्विन शु. पूर्णिमा	प्रयाग-इलाहाबाद	२१-१०-२००२
समापन	पौष कृ.११	महावीर जन्मभूमि	१९-१२-२००३
		कुण्डलपुर (नालंदा)	

वर्तमान में मैं तेरहवीं पुस्तक की टीका लिखते हुए यही भावना भाती हूँ कि सरस्वती माता की कृपा से मैं सोलहों पुस्तक की टीका अपने हाथों से लिखकर पूर्ण कर सकूँ।

मेरी प्रेरणा से आर्यिका चंदनामती ने इस संस्कृत टीका के हिन्दी अनुवाद का कार्य अपने हाथ में लिया अतः प्रथम पुस्तक की टीका उन्होंने फरवरी सन् १९९८ में लिखकर मुझे दी, तब उस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ और अक्टूबर में विमोचन के समय मुझे अतीव आल्हाद हुआ।

मेरठ-कमलानगर में पंचकल्याणक —

दिसम्बर सन् १९९८ में श्री प्रेमचंद जैन तेल वाले-मेरठ, कमलानगर द्वारा मंदिर में मेरी प्रेरणा से (सन् १९९५ में दी गई प्रेरणा) विद्यमान बीस तीर्थंकर (सीमंधर, युगमंधर आदि) एवं वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकर प्रतिमाओं को विराजमान करने हेतु दो वेदियों में कमल रचनाओं का निर्माण किया गया। उन भगवन्तों की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में सानिध्य प्रदान करने हेतु मैं दिसम्बर १९९८ में ससंघ मेरठ गई। वहाँ सिविल लाइन्स, सदर, शहर, शांतिनगर, प्रेमपुरी, शास्त्रीनगर, पल्लवपुरम् आदि कॉलोनियों में विशेष धर्मप्रभावना हुई, भगवान ऋषभदेव पर संगोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं तथा कमलानगर जैनसमाज द्वारा आयोजित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आशातीत सफलताओं के साथ सम्पन्न हुई। जन्मकल्याणक में उपस्थित विशाल जनसमूह को देखकर सबके मुँह से यही निकला कि मेरठ में ऐसा कार्यक्रम प्रथम बार हुआ है।

£ १०४ ¤

भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव —

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के कार्यकलाप प्रारंभ से ही सर्वतोमुखी, सर्वोदयी एवं राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के रहे हैं इसीलिए विविध संस्थाओं के कार्यकर्ता भी इसे जैनधर्म का पावर हाउस, कार्यकर्ताओं का ट्रेनिंग सेंटर एवं आर्षमार्गरक्षक के रूप में देखते हैं। जम्बूद्वीप रचना एवं विभिन्न मंदिरों के निर्माणलक्ष्य के साथ-साथ समय-समय पर स्थानीय, जिला, प्रदेश, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षण प्रशिक्षण शिविर-संगोष्ठियाँ आयोजित करके देश भर में इस संस्था ने जो ख्याति अर्जित की, उसी का प्रतिफल ईसवी सन् की द्वितीय सहस्राब्दि के अंतिम दशक में भगवान ऋषभदेव संबंधी महोत्सवों में प्राप्त हुआ।

जन्मजयंती, समवसरण श्रीविहार के पश्चात् भी मेरी इच्छा बनी रही कि भगवान ऋषभदेव का निर्वाण महोत्सव अब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इसी संस्था द्वारा मनाया जावे अतः मैंने संस्थान के कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी और इस बार ब्र. रवीन्द्र जी की कार्यव्यस्तता देखते हुए "भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव" की समिति का अध्यक्ष घोषित कर दिया श्री प्रदीप जैन कासलीवाल-इंदौर (अध्यक्ष दिगम्बर जैन महासमिति) को एवं सुरेश जैन 'रितुराज'-मेरठ (महामंत्री जैन मिलन) को महामंत्री बनाकर रवीन्द्र जी की उन्मनस्कता होते हुए भी उन्हें कार्याध्यक्ष घोषित कर दिया। इसके साथ ही ४ फरवरी २००४ (माघ कृ. चतुर्दशी ऋषभदेव निर्वाणकल्याणक तिथि) को निर्वाण महोत्सव के दिल्ली से उद्घाटन की तारीख निश्चित कर दी और कुछ

दिनों में ही महोत्सव को सम्पन्न करने हेतु विशाल समिति का भी गठन हो गया।

जिनेन्द्र भक्ति पर निर्भर है कार्य की सफलता —

कार्यकारिणी समिति और महोत्सव उद्घाटन की तारीख निर्णीत होते ही मुझे शीघ्रता से कार्य को गति देने की आकुलता होने लगी किन्तु आवश्यक नहीं है कि सभी कार्यकर्ता मेरी कार्यपद्धति का ही अनुसरण करें। निर्वाण महोत्सव के मुख्य पदाधिकारियों की धीमी गति से जब मुझे संतोष नहीं हुआ, तब कार्याध्यक्ष ब्र.रवीन्द्र कुमार जी को मैंने जोर देकर द्रुतगति से कार्य प्रारंभ कराया अतः मनोनुकूल स्तर से लाल किला मैदान दिल्ली में ४ फरवरी २००० को विशाल कैलाशपर्वत (७२ रत्नप्रतिमाओं से समन्वित) के समक्ष तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने महोत्सव का उद्घाटन कर प्रथम निर्वाणलाडू चढ़ाया एवं द्वितीय लाडू सभाध्यक्ष केन्द्रीय वित्तराज्यमंत्री श्री वी. धनंजय कुमार जैन ने चढ़ाया पुनः १००८ निर्वाणलाडू चढ़ाने के लिए भक्तों की लम्बी कतार कैलाशपर्वत के समक्ष आई। भक्ति के उस महाकुंभ का दृश्य देखते ही बनता था, जब सभी के हाथों में क्रम-क्रम से अलग-अलग प्रकार के लाडू (सिद्धि लाडू, रत्न लाडू आदि) एवं इलेक्ट्रिक दीप जगमगा रहे थे। तभी मैंने स्पष्ट कहा कि देखो! जिनेन्द्रभक्ति के साथ-साथ कर्मठ कार्यकर्ताओं पर निर्भर होती है कार्य की सफलता। भक्ति का यह द्वितीय महाकुंभ भी अपने आप में अद्वितीय था।

इसी अवसर पर ४ से १० फरवरी २००० तक 'भगवान ऋषभदेव जैन मेला एवं पंचकल्याणक प्रतिष्ठा' का कार्यक्रम भी आयोजित किया गया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ९ अप्रैल १९९८ को समवसरण श्रीविहार प्रवर्तन में एवं इस निर्वाण महोत्सव में प्रधानमंत्री को लाने में कमेटी के साथ श्री धनंजय जैन का सराहनीय योगदान रहा है। इनकी धर्मनिष्ठा को देखकर ही संस्थान ने मेरी प्रेरणा से इन्हें "भगवान ऋषभदेव नेशनल अवार्ड" से सम्मानित करने का निर्णय लिया।

जम्बूद्वीप महोत्सव २००० —

जम्बूद्वीप रचना पूर्ण होने के बाद सन् १९८५ में मैंने संस्थान के कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी थी कि प्रति ५ वर्षों में जम्बूद्वीप महोत्सव का आयोजन करना है। उसी प्रेरणानुसार सन् १९९० और १९९५ में महोत्सव सम्पन्न हो चुके थे पुनः सन् २००० में भगवान ऋषभदेव निर्वाण महोत्सव होने के बाद रवीन्द्र जी ने मुझे कहा कि माताजी! अब आप हस्तिनापुर चलकर जम्बूद्वीप महोत्सव करवा दीजिए क्योंकि उसको भी ५ वर्ष पूरे होने वाले हैं। जम्बूद्वीप रचना दर्शन की मेरी भी इच्छा चल रही थी अतः उनकी बात स्वीकार करके मैंने हस्तिनापुर के लिए विहार कर दिया और वहाँ (चैत्र शु. त्रयोदशी से वैशाख कृ. पंचमी तक) १६ अप्रैल से २३ अप्रैल २००० तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक जम्बूद्वीप महोत्सव सम्पन्न हुआ।

१५ वर्ष बाद त्रिमूर्ति मंदिर का शिखर बना —

सन् १९८५ में जम्बूद्वीप जिनबिम्ब प्रतिष्ठापना के समय ही संस्थान द्वारा त्रिमूर्ति मंदिर का निर्माण किया गया था जिसमें भगवान ऋषभदेव, भरत, बाहुबली की तीन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा उस समय हुई पुनः मार्च १९८७ में सहस्रफणा भगवान पार्श्वनाथ एवं भगवान नेमिनाथ की सवा पाँच-पाँच फुट पद्मासन श्यामवर्णी प्रतिमाएँ भी उसी मंदिर के अंदर आजू-बाजू में कमलाकृति वेदियों पर विराजमान की गईं किन्तु मंदिर के शिखर बनने का सुयोग नहीं आया था। सन् २००० में कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र जी ने एक माह में द्रुतगति से कार्य चलाकर त्रिमूर्ति मंदिर का शिखर बनवा दिया। उस शिखर के अंदर भी मेरी प्रेरणा से एक छोटा सा मंदिर बनाया गया। उसमें त्रिमूर्ति मंदिर के ऋषभदेव भगवान की खड्गासन प्रतिमा को विराजमान करके नीचे ऋषभदेव की बिल्कुल सफेद नई प्रतिमा स्थापित की गईं, फिर तो पंचकल्याणक एवं जम्बूद्वीप के साथ-साथ नवनिर्मित शिखर पर कलशारोहण हो गया और आगन्तुक सभी भक्तों ने मानवजीवन के मंदिर पर सदाचारों का

कलश चढ़ाने की शिक्षा प्राप्त की। मंदिर निर्माण के १५ वर्षों बाद शिखर बनने की इस पावन घड़ी में मुझे हार्दिक आल्हाद हुआ, तभी आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी की ये पंक्तियाँ सार्थक मालूम पड़ने लगीं—

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि, भव्यात्मनां विभवसंभवभूरिहेतुः।
दुग्धाब्धिफेनधवलोज्वलकूटकोटि, नद्धध्वजप्रकरराजि विराजमान।।

इतिहासकार सम्मेलन —

हस्तिनापुर में मेरा ग्रीष्मकालीन प्रवास चल रहा था, उस मध्य संस्थान द्वारा ११ जून २००० को "जैनधर्म की प्राचीनता" पर एक दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न हुई जिसमें अनेक उच्चकोटि के इतिहासकार एवं विद्वान् पधारे। इस अवसर पर दिल्ली से एन.सी.ई.आर.टी. (राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद) की ओर से पधारे इतिहास के रीडर श्री प्रीतीश आचार्य ने सभी विद्वानों के आलेख सुनकर संगोष्ठी की रिपोर्ट शिक्षा विभाग तक पहुँचाने का आश्वासन प्रदान किया। पाठ संशोधन पुरुषार्थ के इस क्रम में मैंने समय-समय पर संस्थान के कार्यकर्ताओं एवं संघस्थ ब्र. कु. स्वाति जैन आदि को एन.सी.ई.आर.टी. के डायरेक्टर प्रो. जे.एस. राजपूत के पास भेजा पुनः प्रो. राजपूत मेरे पास कमलमंदिर-दिल्ली में आये और अनेक चर्चाओं के दौरान उन्होंने इतिहास की नई पाठ्यपुस्तकों में संशोधन करने का विश्वास दिलाते हुए मुझसे जैनधर्म का एक अधिकृत पाठ लिखकर देने को कहा, जिसे मैंने कुछ दिन पश्चात् ही उनके पास भिजवा दिया था। इस बीच मानव संसाधन विकासमंत्री डा. मुरली मनोहर जोशी भी दो बार मेरे पास आये और पाठ्यपुस्तकों में यथायोग्य संशोधन करने की बात पर उन्होंने कहा कि हर धर्म के अधिकृत साधु-संतों एवं विशिष्ट विद्वानों से लेख को प्रमाणित करवा कर ही पाठ्यपुस्तकों में प्रकाशित हो ऐसा मेरा प्रयास चल रहा है। कुल मिलाकर इस विषय में मैंने यह अनुभव किया कि बीसवीं सदी के नवीन इतिहासलेखकों ने जैनधर्म के बारे में जो कुछ असत्य बातें लिखीं, उन पर किसी भी अधिकृत जैन विद्वान ने कभी संशोधन हेतु कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। यही कारण रहा कि वे ही असत्य बातें जैनधर्म के तथ्य के रूप में पढ़ाई जाती रहीं और अब संशोधन के नाम पर भारी कठिनाई नजर आने लगी अतः अब पुरुषार्थ करके धीरे-धीरे ही कार्य की सिद्धि संभव है। आखिर एक दिन सफलता मिली जब संसदभवन के सत्रों में भी पाठ्यपुस्तकों के संशोधन की विस्तृत चर्चा चली और जैनधर्म के साथ-साथ अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति लिखी गई असत्य बातों का कुछ अंशों में संशोधन (सन् २००३ के संस्करणों में) हो सका है। आगे भी पुरुषार्थ करते रहने से अन्य विवादास्पद विषयों का परिवर्तन संभव है।

दिल्ली के कमल मंदिर में नई सहस्राब्दि का ऐतिहासिक चातुर्मास —

सन् १९९२ में एक लघु पंचकल्याणक के माध्यम से दिल्ली के एक युवाश्रावक अनिल कुमार जैन मेरे दर्शनार्थ हस्तिनापुर आये, तब से उन्होंने अपनी गुरुभक्ति की अद्वितीय मिसाल प्रस्तुत की। फरवरी सन् १९९४ में अयोध्या तीर्थ पर हुए महामस्तकाभिषेक वाले पंचकल्याणक महोत्सव में वे अपनी धर्मपत्नी अनीता जैन के साथ सौधर्म इन्द्र-इन्द्राणी बने पुनः जब मैं मांगीतुंगी जा रही थी, तब दिसम्बर १९९५ में प्रीतविहार-दिल्ली पदार्पण के समय उनकी इच्छानुसार उनके मकान के बाहर प्रांगण में एक जिनचैत्यालय बनाने हेतु मैंने भूमि में यंत्र स्थापित कर दिया था।

मांगीतुंगी से वापस आने तक अनिल जी ने चैत्यालय के नाम पर एक सुन्दर कमलमंदिर का निर्माण करवा लिया था, उनके आग्रह पर मैंने ८ जून से १५ जून १९९७ तक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में सानिध्य प्रदान किया पुनः मई १९९८ में उस मंदिर पर कलशारोहण हुआ। "भगवान ऋषभदेव कमलमंदिर" के नाम से प्रसिद्ध उस मंदिर में ऋषभदेव की अतिशयकारी सवा दो फुट धातु की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। छोटे से

उस गृहमंदिर में अत्यन्त सुन्दर पच्चीकारी एवं चित्रकारी का कार्य हुआ है जिससे दर्शन करने वाले लोग मंत्रमुग्ध हुए बिना नहीं रहते हैं।

मंदिर निर्माण के बाद से अनिल जी हमेशा मुझसे आग्रह करते थे कि माताजी! आप जब भी दिल्ली रहें तो इस मंदिर में ही प्रवास करें तथा एक चातुर्मास भी आपके संघ का यहाँ पर अवश्य होना चाहिए। उनकी हार्दिक गुरुभक्ति एवं मनोभावना के फलस्वरूप प्रतिवर्ष किसी न किसी कार्यक्रम के निमित्त से कमल मंदिर में मेरा कुछ दिन प्रवास हो ही जाता था। जैसे—सन् १९९७ में प्रतिष्ठा हुई, मई १९९८ में कलशारोहण हुआ, १९९९ में लघु पंचकल्याणक एवं श्रुतपंचमी आदि कार्यक्रम के निमित्त से २-३ माह का समय व्यतीत हुआ पुनः सन् २००० में तो उनके अत्यंत आग्रह पर मेरे संघ सहित वर्षायोग का ही वहाँ संयोग बन गया। फिर तो उन्होंने अपनी पूरी कोठी संघ के लिए खाली कर दी और स्वयं निकट में ही एक फ्लैट खरीदकर उसमें परिवार को रखा तथा पूरे चातुर्मास भर संघ की सेवा में उपस्थित रहकर समस्त आगन्तुकों का जी भरकर आतिथ्यसत्कार किया। उनकी धर्मपत्नी अनीता वास्तव में सती सीता का उदाहरण प्रस्तुत करने वाली धर्मनिष्ठ महिला हैं एवं पुत्रियाँ कु. अनु, कु. अन्तिमा तथा पुत्र चि. अतिशय जैन ये सभी माता-पिता के धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत हैं और मेरे संघ को ये सभी अपने कुलगुरु का संघ मानकर भक्ति एवं समर्पण का भाव रखते हैं।

इस चातुर्मास में जहाँ प्रयाग तीर्थ से एवं भगवान ऋषभदेव निर्वाण महोत्सव वर्ष से संबंधित अनेक ऐतिहासिक निर्णय हुए, वहीं मेरे दीक्षित जीवन में किसी श्रावक के द्वारा व्यक्तिगत रूप से कराया गया यह प्रथम चातुर्मास था किन्तु अनिल जी की मिलनसारता ने पूरे समाज को गुरुभक्ति का लाभ प्राप्त कराने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

दिल्ली में कैलाश मानसरोवर यात्रा की प्रेरणा—

कमल मंदिर चातुर्मास के मध्य प्रीतविहार जैन समाज के कार्यकर्ताओं ने मेरी प्रेरणा से अक्टूबर २००० में 'विकास मार्ग' के विशाल मैदान में भगवान ऋषभदेव निर्वाण महोत्सव वर्ष की सार्थकता में ऋषभदेव की निर्वाणभूमि कैलाशपर्वत का विहंगम दृश्य उपस्थित कर जनमानस को कैलाश मानसरोवर की यात्रा भारत की धरती पर ही सुलभ कराई। उसमें उमड़ी भारी भीड़ को बेरिकेटिंग व्यवस्था से जाते देखकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो जाता था। अस्थाई रूप से बनाये गये इस कृत्रिम कैलाशपर्वत पर जगह-जगह गुफा, झरना, जंगल आदि के प्राकृतिक दृश्य दिखाये गये थे तथा मैंने पूरे पर्वत पर बहत्तर मंदिर बनवाकर त्रिकाल चौबीसी की ७२ प्रतिमाएँ विराजमान कराईं एवं सबसे ऊपर अष्टापद के स्थान पर विराजमान भगवान ऋषभदेव के समक्ष अखण्ड मंत्रध्वनि चलती रही, जिससे सचमुच पर्वत वंदना का अतिशय चमत्कार सभी ने देखा। इस यात्रा को कराने में प्रीतविहार जैन समाज के अध्यक्ष श्री सागरचंद जैन, महामंत्री श्री अतुल कुमार जैन एवं सुरेशचंद जी, सुभाषचंद जी, सुनील जी, पदमचंद जी, चेतनलाल जी आदि अनेक सक्रिय कार्यकर्ताओं की प्रमुख भूमिका सराहनीय रही है।

एक ही पाण्डाल में एक साथ ४८ भक्तामर विधान हुए—

मानसरोवर यात्रा के मध्य एक दिन ४८ मांडले बनाकर अलग-अलग भक्तटोलियों ने मेरी प्रेरणा से ४८ भक्तामर विधान सम्पन्न कर भगवान ऋषभदेव के प्रति अपनी भक्ति समर्पित की। संयोग से मेरे दीक्षित जीवन का यह ४८वाँ चातुर्मास भी था अतः ४८ पद्यों वाले भक्तामर स्तोत्र के ४८ मंडल बनाकर पूजा विधान करने की यह भावना सभी में विशेष बलवती थी। गुरुभक्ति की प्रेरणा देने वाली प्रीतविहार की जैन समाज की आज भी मेरे प्रति पूर्ण श्रद्धा है और आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक आयोजन में उन लोगों की पूरी सहभागिता रहती है।

प्रयाग तीर्थ का निर्माण एक सम-सामयिक देन साबित हुआ —

आज से करोड़ों वर्ष पूर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने जहाँ युग की प्रथम जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी, उस स्थल का नाम "प्रयाग" पड़ा था। जैसा कि पद्मपुराण में वर्णन आता है —

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः, प्रयागस्तेन कीर्तितः''

लेकिन युगों-युगों के परिवर्तन के साथ अब इलाहाबाद के नाम से जाने जा रहे उस प्रयाग शहर को मात्र गंगा, यमुना, सरस्वती नदियों के त्रिवेणी संगम के रूप में ही संसार भर में प्रसिद्धि प्राप्त है। वहाँ समय-समय पर हिन्दुओं का महाकुंभ मेला आयोजित होता है, जिसमें दुनिया भर से लाखों-करोड़ों लोग आकर नदी में स्नान कर अपने को पवित्र मानते हैं।

ऐसा ही एक बारहवर्षीय महाकुंभ मेला जनवरी २००१ में आयोजित था, जो नई सहस्राब्दि का प्रथम मेला होने के कारण कुछ विशेषताओं को लिए हुए था। उन्हीं दिनों दिल्ली से विहार करके १ जनवरी २००१ को मैं संघ सहित प्रयाग पहुँची। चूँकि मेरी इच्छानुसार प्रयाग में करोड़ों वर्ष पूर्व उस धरती पर घटित भगवान ऋषभदेव के दीक्षा इतिहास को साकार करके नूतन तीर्थ बनाने हेतु जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर की कमेटी द्वारा इलाहाबाद-बनारस हाइवे पर एक भूमि क्रय कर ली गई थी। वहाँ निर्माण भी शुरू हो चुका था और मेरे संघ सानिध्य में ४ फरवरी से ८ फरवरी २००१ तक "भगवान ऋषभदेव पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं महाकुंभ मस्तकाभिषेक महोत्सव" आयोजित होने वाला था।

४ फरवरी २००० में प्रारंभ किये गये भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव वर्ष का समापन भी ४ फरवरी २००१ को ही प्रयाग के इस नवनिर्मित तीर्थ "तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली प्रयाग दिगम्बर जैन तीर्थ" के लोकार्पण के साथ हुआ। इससे पूर्व १८ जनवरी से २१ जनवरी २००१ तक विश्वहिन्दू परिषद के प्रमुख कार्यकर्ता (अंतर्राष्ट्रीय कार्यकारी अध्यक्ष) श्री अशोक सिंघल, श्री के.एल. जैन गोधा (उपाध्यक्ष गोवंश रक्षा एवं मांस निर्यात निरोध परिषद)-उदयपुर एवं श्री हुकुमचंद जैन साबला-इंदौर आदि के विशेष निवेदन पर मैं ससंघ महाकुंभ मेला परिसर में गई और वहाँ आयोजित "नवम धर्म संसद" में सभी हिन्दू सन्त-महन्तों ने पूरे सम्मान के साथ मंच पर हम लोगों को उच्चासन प्रदान किया। महाकुंभ में प्रथम बार जैनधर्म का प्रतिनिधित्व हुआ, संघस्थ आर्यिका चंदनामती का और मेरा सामयिक उद्बोधन सभी ने प्राप्त किया। उसके प्रतिफल में उस मंच पर अगले दिनों में भी भगवान राम के पूर्वज के रूप में तीर्थंकर ऋषभदेव की विस्तृत चर्चा चलती रही। वहाँ पर आयोजित जैन समारोह "भगवान ऋषभदेव सनातन संस्कृति संगम" में प्रतिदिन अनेक धार्मिक आयोजन चले, जिसका झण्डारोहण लाला महावीर प्रसाद जैन (संघपति) दिल्ली ने करके समारोह की कलशयात्रा में १०८ महिलाओं को कलश, नारियल और साड़ियाँ भेंट की तथा २१ जनवरी को भगवान ऋषभदेव के निर्वाण दिवस की पूर्व संध्या पर १००८ लाडू चढ़ाने हेतु सभी को १००८ थाल (लाडू सहित) प्रदान किये।

इस निर्वाण महोत्सव की सभा में जैन समाज के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं की उपस्थिति के साथ ही न्यायमूर्ति श्री गुमानमल जी लोढ़ा (भारतीय जीवजंतु कल्याण बोर्ड के राष्ट्रीय अध्यक्ष), आचार्य श्री धर्मेन्द्र जी आदि ने भी सभा में भगवान ऋषभदेव एवं राम के सिद्धान्तों की उपयोगिता बताते हुए महाकुंभ में जैनधर्म के प्रतिनिधित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मेरे संघ को संघ भक्त बनकर प्रयाग की यह यात्रा कराने का सौभाग्य मेरठ (उ.प्र.) निवासी श्री पवन कुमार आनंद कुमार जैन (जैन मार्बल होम) एवं उनकी मातेश्वरी ने प्राप्त किया।

£ १०५ ¤

भगवान महावीर २६००वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव —

पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार ६ अप्रैल २००१ को राजधानी दिल्ली में (राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले) भगवान महावीर २६००वें जन्मकल्याणक महोत्सव का उद्घाटन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा हुआ। उस समय मैं प्रयाग-इलाहाबाद में थी वहाँ महावीर जयंती के अवसर पर (१ से ८ अप्रैल २००१ तक) विश्वशांति महावीर विधान चल रहा था। ज्ञातव्य है कि २६००वें जन्मकल्याणक के संदर्भ में मेरी इच्छा हुई थी कि भगवान महावीर के २६००गुणों के २६०० अर्घ्य वाले एक विधान की रचना करके मैं महावीर स्वामी के चरणों में भक्ति की कृति समर्पित करूँ। दिल्ली से प्रयाग विहार के मध्य ही मेरी यह रचना १ जनवरी २००१ को पूर्ण हुई पुनः शीघ्र प्रकाशित होकर विधान की पुस्तक आते ही प्रथम बार इलाहाबाद शहर के महावीर जयंती भवन में समाज की ओर से आयोजित इस विधान के सुमेरुपर्वताकार मण्डल पर २६०० रत्न एवं फल चढ़ाये गये।

विधान के मध्य ही ६ अप्रैल को दिल्ली में उद्घाटन सभा चल ही रही थी कि वहाँ से फोन द्वारा समाचार प्राप्त हुआ कि आचार्यश्री विद्यानंद महाराज कार्यक्रम स्थल के बाहर से वापस लौट गये अतः सभा में बहुत भगदड़ मचने से उद्घाटन कार्यक्रम बिगड़ गया और सभी उपस्थित राजनेताओं का मूड खराब हो जाने से उद्घाटन की औपचारिकता मात्र हो पाई है। जैनशासन की ऐसी अवमानना हुई सुनकर हृदय को आघात लगा और घटना की वास्तविकता जानने को मन उत्कंठित हो उठा, तब कुछ महानुभावों ने टी.वी. के आस्था चैनल पर चल रहे स्पष्टीकरण को आकर बताया कि आचार्यश्री ने सभी को शांति-सौहार्द रखने का संदेश दिया है किन्तु समाज में दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय को लेकर आपसी छींटाकशी चल रही है।

संघस्थ शिष्यों की भावनानुसार यद्यपि मेरा विचार नवोदित तीर्थ ऋषभदेव तपस्थली पर चातुर्मास करने का था किन्तु दिल्ली वालों के विशेष आग्रह पर प्रभाषगिरि-कौशाम्बी में पंचकल्याणक कराने के पश्चात् (२ मई से ७ मई २००१ तक) वहीं से ८ मई को मैंने ससंघ दिल्ली की ओर विहार कर दिया।

भगवान महावीर के २६००वें जन्मोत्सव की उपलब्धि के रूप में कौशाम्बी का प्राचीन इतिहास साकार करने हेतु मैंने भगवान महावीर को सती चन्दना द्वारा दिये गये आहार का स्वरूप दिखाया अतः महावीर की आहार लेते हुए प्रतिमा एवं सती चन्दना की आहार देती मुद्रा की प्रतिकृति स्थापित कराई जिसे प्रभाषगिरि तीर्थ के अध्यक्ष डा. प्रेमचंद जैन ने अतीव श्रद्धापूर्वक क्षेत्र पर विराजमान किया। मेरा कहना रहता है कि जिस तीर्थ का जो इतिहास है उसे वहाँ अवश्य साकार करना चाहिए।

मार्ग में अशोक विहार-दिल्ली की दिगम्बर जैन समाज के प्रतिनिधियों द्वारा अतीव आग्रहपूर्वक निवेदन करने पर मैंने वहाँ चातुर्मास स्थापना की स्वीकृति कर दी पुनः कम्पिला, कानपुर, अलीगढ़, नोएडा इत्यादि स्थानों से होते हुए हम लोग ३ जुलाई को दिल्ली-अशोक विहार पहुँचे। वहाँ ४ जुलाई २००१ (आषाढ़ शु. १४) को चातुर्मास स्थापना की। मध्यान्हकालीन इस सभा में श्री साहिब सिंह वर्मा (पूर्व मुख्यमंत्री दिल्ली प्रदेश) मुख्य अतिथि थे, श्री दीपचंद बंधु (विधायक) विशिष्ट अतिथि थे एवं सभा की अध्यक्षता साहू रमेशचंद जैन (निदेशक भारतीय ज्ञानपीठ) ने की। सभी ने अपने वक्तव्यों में इस समय दिल्ली के अंदर मेरी आवश्यकता बतलाते हुए भगवान महावीर २६००वाँ जन्मकल्याणक वर्ष को प्रभावनापूर्ण ढंग से मनाने का मुझसे निवेदन किया।

विश्वशांति महावीर विधान के २६ मंडल विधानों का आयोजन एक साथ —

दिल्ली वालों की हार्दिक भावनानुसार भक्ति आयोजन की शृंखला में ब्र.रवीन्द्र जी ने मुझसे २४ कल्पद्रुम विधानों के समान २६ विधान (विश्वशांति महावीर विधान) एक साथ कराने का अनुरोध किया। मेरी स्वीकृति मिलते ही एक आयोजन समिति ने यह कार्य प्रारंभ कर दिया अतः २१ अक्टूबर से २८ अक्टूबर २००१ (आश्विन शु. ५ से १२) तक फिरोजशाह कोटला मैदान-दरियागंज दिल्ली में शानदार आयोजन हुआ जिसमें सुमेरुपर्वत के आकार वाले सभी मांडलों के ऊपर जब २६००-२६०० रत्न भक्तों द्वारा चढ़ाये गये तो बिल्कुल रंग-बिरंगे कल्पवृक्षों जैसा दृश्य उपस्थित हो रहा था।

भक्ति के इस महायज्ञ में पूजन करने वालों के अतिरिक्त हजारों दिगम्बर जैन श्रद्धालुओं के साथ-साथ श्वेताम्बर एवं स्थानकवासी सम्प्रदाय के भी गणमान्य महानुभावों ने पधारकर उसे जन्मकल्याणक वर्ष का एक मात्र वृहत् उपहार के रूप में माना। चूँकि इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर का कोई भी उत्सव इस वर्ष के अंतर्गत किसी के द्वारा कहीं भी सम्पन्न नहीं हुआ था।

पण्डित श्री शिवचरणलाल जैन को विशेष पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया —

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान में सन् १९९५ से अनिल कुमार जैन के सौजन्य से मेरे नाम पर "गणिनी ज्ञानमती पुरस्कार" (प्रति पांच वर्ष में शरदपूर्णिमा पर दिये जाने वाले) की स्थापना हुई थी। वह प्रथम पुरस्कार सर्वप्रथम डा. अनुपम जैन-इंदौर को हस्तिनापुर में देकर सम्मानित किया गया था पुनः सन् २००० के पुरस्कार से पं. श्री शिवचरणलाल जैन-मैनपुरी को अक्टूबर २००१ में (विश्वशांति महावीर विधान के मध्य) पुरस्कृत किया गया।

संस्थान के द्वारा निर्माण, साहित्य प्रकाशन आदि सर्वतोमुखी कार्यों के साथ ही मेरी प्रेरणा से प्रतिवर्ष किसी न किसी विद्वान् प्रतिभा एवं कार्यकर्ताओं का जम्बूद्वीप पुरस्कार, आर्यिका रत्नमती पुरस्कार, छोटेलाल जैन स्मृति आदि पुरस्कारों से सम्मान भी किया जाता है।

भगवान महावीर दीक्षा कल्याणक —

दिल्ली प्रवास के मध्य मगशिर कृष्ण दशमी-१० दिसम्बर २००१ को तालकटोरा इंडोर स्टेडियम में जैन महासभा-दिल्ली (जैन के चारों सम्प्रदाय की मिली-जुली संस्था) द्वारा भगवान महावीर दीक्षा कल्याणक समारोह में उन लोगों के निवेदन पर मैंने अपने संघ के साथ दिगम्बर जैन समाज का प्रतिनिधित्व किया। लगभग १५० की संख्या में उपस्थित साधु-साध्वियों के पावन सानिध्य में आयोजित यह दीक्षा कल्याणक कार्यक्रम बहुत गरिमापूर्ण रहा।

वरिष्ठ कार्यकर्ताओं को एक प्रेरणा —

मैं कनॉटप्लेस शिवाजी स्टेडियम के निकट अग्रवाल दिगम्बर जैन मंदिर की धर्मशाला में थी। वहीं पर १० दिसम्बर २००१ को दीक्षा कल्याणक कार्यक्रम के पश्चात् सायंकाल में श्री दीपचंद्र जैन गार्डी (श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक एवं जन्मकल्याणक महोत्सव समिति के अध्यक्ष), एल.एल. आच्छा (महामंत्री-श्री महावीर मेमोरियल-दिल्ली), निर्मल कुमार जैन सेठी (भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा अध्यक्ष) आदि कई सम्भ्रान्त कार्यकर्ता मेरे दर्शनार्थ आए तो मैंने उन्हें २६०० वें जन्मकल्याणक महोत्सव के संदर्भ में कुछ प्रेरणाएं देते हुए कहा —

१. भारत सरकार की ओर से प्रधानमंत्री द्वारा भगवान महावीर २६००वें जन्मकल्याणक के संदर्भ में ६ अप्रैल २००१ को घोषित सौ करोड़ रुपये की राशि को अपने जैन तीर्थों के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि जैन तीर्थ हमेशा जैन समाज के अर्थ सौजन्य से ही बनते एवं वृद्धिंगत होते रहे हैं। यदि आप पूरे देश

की जैन समाज का सर्वेक्षण करें तो संभवतः ज्ञात होगा कि सौ करोड़ रुपये की राशि तो एक वर्ष में तीर्थों पर लग जाती है।

२. इस राशि का उपयोग भगवान महावीर के प्रचार-प्रसार (दूरदर्शन, रेडियो, इंटरनेट आदि के माध्यम से) में करवाना चाहिए।

३. भगवान महावीर के नाम से बड़े-बड़े होर्डिंग, बोर्ड देशभर में सार्वजनिक स्थलों (हवाई अड्डे, रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड एवं चौराहों) पर लगवाकर जन्मकल्याणक महोत्सव को सार्थक करना चाहिए।

४. भगवान महावीर के नाम से २६०० गाँव गोद लेकर उनका सरकारी विकास करवाया जावे अथवा कम से कम १०८ गाँव तो अवश्य ही विकसित करके वहाँ महावीर स्वामी का स्टेचू लगाना चाहिए।

५. जन्मकल्याणक वर्ष के अंतर्गत जनकल्याण के लिए इस राशि का उपयोग करना चाहिए।

मेरी ये सब बातें आर्यिका चंदनामती ने जब उन लोगों को बताईं तो विशेषरूप से गार्डी जी बड़े प्रसन्न हुए और उन पर अमल करने हेतु आपस में विचार-विमर्श करने लगे, किन्तु सरकारी राशि आवंटन से जुड़े कुछ कार्यकर्ताओं ने इन बातों की महत्ता न समझ कर उस राशि का बहुभाग तीर्थों के विकास हेतु आवंटित करा दिया, जो सी.पी.डब्ल्यू.डी. सरकारी विभाग के माध्यम से व्यय की गई।

इस जन्मकल्याणक महोत्सव के प्रसंग में एक कटुसत्य सामने आया कि महोत्सव को सफल बनाने हेतु श्रावकों ने किन्हीं वरिष्ठ साधु-साध्वियों से न तो कभी परामर्श लिया और न ही साधुओं का संगठन बनाने हेतु कोई प्रयत्न किया, यही कारण रहा कि यह जन्मकल्याणक महोत्सव सर्वव्यापी एवं लोकोपयोगी नहीं बन पाया। जैसा कि सन् १९७४ में भगवान महावीर २५००वें निर्वाणोत्सव के समय आचार्यश्री धर्मसागर महाराज, आचार्यश्री देशभूषण महाराज, मुनि श्री विद्यानंद महाराज, आचार्य श्री तुलसी जी, मुनि श्री सुशील कुमार जी आदि साधुओं के साथ मैंने एवं साध्वी मृगावती जी, विचक्षणाजी आदि साध्वियों ने पूरे गाम्भीर्य गुण के साथ महोत्सव का प्रतिनिधित्व किया था, तभी वह देश-विदेश में अपनी अमिट छाप डाल सका था एवं सरकार में भी जैनशासन का अद्वितीय प्रभाव पड़ा था।

भगवान महावीर जन्मभूमि विकास की भावना जागी —

सन् २००० में भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव उद्घाटन के बाद से मेरे मन में महावीर स्वामी की जन्मभूमि कुण्डलपुर के विकास की भावना चल रही थी जिसे मैं यदा-कदा चन्दनामती के सामने कहा करती थी अतः उन्होंने सन् २००१ में प्रयाग से दिल्ली की ओर विहार का विचार बनाते समय कई बार मुझसे कहा कि माताजी! आप यहाँ से दिल्ली जाने की बजाय यदि कुण्डलपुर की ओर चल दें तो कुण्डलपुर का विकास जन्मकल्याणक महोत्सव की एक निधि बन जाएगा किन्तु उस समय मेरा मन नहीं बन पाया और दिल्ली वापस आकर अनेक धर्मप्रभावनात्मक कार्यकलापों के मध्य मेरा उपयोग कुण्डलपुर के विकास की ओर लगा रहा।

मैंने अनेकों बार समाज के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं को कुण्डलपुर के विकास की प्रेरणा दी किन्तु मुझे अनुभव आया कि कतिपय इतिहासकारों एवं शोधकर्ताओं की नई विचारधारा के अनुसार जैनसमाज के कुछ सुधारक नेतागण वैशाली के कुण्डग्राम को भगवान महावीर की जन्मभूमि मानकर प्राचीन एवं वास्तविक जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) की पूरी उपेक्षा करने में लगे हैं किन्तु कुण्डलपुर के मंत्री एवं "बिहार स्टेट दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी" के मानद् मंत्री श्री अजय कुमार जैन (आरा) से मुझे अधिकृत सूचना प्राप्त हुई कि आज भी भारत भर से दिगम्बर जैन समाज की ९९ प्रतिशत जनता कुण्डलपुर ही आती है और कुण्डलपुर को ही भगवान महावीर की जन्मभूमि मानकर नमन करती है।.....इत्यादि तथ्यों को सुनकर

कुण्डलपुर पवित्र तीर्थ के विकास की मेरी भावना और बलवती हो गई पुनः मैंने जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के कार्यकर्ताओं को कुण्डलपुर विकास की प्रेरणा देते हुए वहाँ सर्वप्रथम भगवान महावीर स्वामी कीर्तिस्तंभ बनाने की प्रेरणा दी।

पुराने भक्त कमलचंद जैन की गुरुभक्ति —

मेरे मुँह से कीर्तिस्तंभ निर्माण की बात निकलते ही मेरे पुराने भक्त (सन् १९७२ से जुड़े) कमलचंद कैलाशचंद जैन-खारीबावली, दिल्ली ने अपने परिवार की ओर से उस कीर्तिस्तंभ को बनवाने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी और उसके शिलान्यास के लिए २४ मार्च २००२ का शुभ मुहूर्त निकला। तब वे दिल्ली से अपने परिवार एवं अन्य भक्तों के साथ रेल की बोगी लेकर कुण्डलपुर (नालंदा) पहुँचे। वहाँ ब्र. रवीन्द्र कुमार एवं ब्रह्मचारिणी बहनों के सहयोग से तथा क्षेत्र के मंत्री अजय कुमार जैन एवं श्रीरामगोपाल जैन-पटना (अध्यक्ष-बिहार दिगम्बर जैन तीर्थ न्यास बोर्ड), श्री सुरेन्द्र प्रसाद जी 'तरुण' (पूर्व शिक्षा मंत्री) आदि विशिष्ट महानुभावों की उपस्थिति में भारी धर्मप्रभावनापूर्वक कीर्तिस्तंभ का शिलान्यास प्राचीन मंदिर परिसर में हुआ। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्री कमलचंद जैन प्रारंभ से ही मेरे भक्त के रूप में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के प्रति समर्पित व्यक्तित्व रहे हैं। मेरे संघ के प्रति उनकी अपनत्वपूर्ण भक्ति आज भी पूर्ववत् है और प्रतिक्षण हर प्रकार की सेवा करने में वे अपना अहोभाग्य समझते हैं। उनके हृदय में इसी प्रकार की गुरुभक्ति सदैव बनी रहे तथा परिवार की नई पीढ़ी में भी धर्म एवं गुरुओं के प्रति समर्पण का भाव जागृत होवे, यही मंगलकामना है।

कुण्डलपुर की ओर संघ का मंगल विहार —

दिल्ली में आए दिन प्रभावनापूर्ण कार्यक्रम मेरे सानिध्य में चल रहे थे और आपस में कुण्डलपुर के विकास के नये-नये रूपक सोचे जा रहे थे कि ६ जनवरी २००२ को फिक्की ऑडिटोरियम में मेरे संघ सानिध्य में आयोजित "अखिल भारतीय दिगम्बर जैन युवा परिषद" के स्थापना दिवस समारोह में मैंने सार्वजनिक सभा में महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर के विकास की घोषणा करते हुए प्राचीन आगम ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत किये। उस सभा में डा. एल.एम. सिंघवी (सांसद एवं विधिवेत्ता), साहू रमेशचंद जैन, प्रो. वाचस्पति जी उपाध्याय (डा. लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ-दिल्ली के कुलपति), निर्मल कुमार सेठी, चक्रेश जैन (अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत-दिल्ली के अध्यक्ष), प्राचार्य श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन-फिरोजाबाद (अध्यक्ष-दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद एवं सम्पादक जैन गजट साप्ताहिक), पं. शिवचरणलाल जैन-मैनपुरी आदि अनेक गणमान्य श्रीमान-धीमान् उपस्थित थे। कुण्डलपुर विकास के मेरे आह्वान पर युवा परिषद के कार्यकर्ताओं ने अपना पूरा सहयोग करने हेतु घोषणा की।

धर्मचर्चा एवं तीर्थ विकास की भावनाओं में दिन व्यतीत हो रहे थे कि एक दिन १३ फरवरी २००२ को मेरी शिष्या आर्यिका चंदनामती जी ने प्रातःकाल मुझसे करबद्ध निवेदन किया कि माताजी! एक बार दिल्ली से हस्तिनापुर चलकर वहाँ के दर्शन कर आप कुण्डलपुर की ओर मंगल विहार का कार्यक्रम अवश्य बनाइये क्योंकि आप जैसी दिव्यशक्ति के रहते हुए यदि महावीर स्वामी की वास्तविक जन्मभूमि का विकास नहीं हो पाया, तब तो कुण्डलपुर सदा-सदा के लिए इतिहास में समाप्त हो जायेगा। थोड़ी सी देर उनसे परामर्श के बाद मुझे भी बात जंच गई और तत्काल मैंने क्षुल्लक मोतीसागर एवं ब्र. रवीन्द्र जी को बुलाकर इस विषय में विचार-विमर्श किया, तो सभी को अच्छा लगा। फिर भी सभी ने विहार करने का अंतिम निर्णय मुझ पर छोड़ दिया। मुझे उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो भगवान महावीर की धरती स्वयं मुझे पुकार रही है और मुझे वहाँ के विकास के माध्यम से प्रभु वर्धमान के चरणसानिध्य में आत्मसाधना करने का स्वर्णिम अवसर प्रदान

कर रही है। बस! मुझे तो कुण्डलपुर प्रस्थान की लगन लग गई और मैंने कुण्डलपुर विहार की घोषणा कर दी। फिर तो मैं हस्तिनापुर विहार की बात भूलकर कुण्डलपुर के सपने संजोने लगी और पंडित श्री धनराज जैन ज्योतिषाचार्य-अमीनगर सराय से मुहूर्त पूछकर २० फरवरी २००२ को कुण्डलपुर की ओर विहार कर दिया।

मेरे इस आकस्मिक निर्णय से सभी दिल्लीवासी आश्चर्यचकित थे किन्तु कुण्डलपुर विकास की बातें सुनकर सभी को मानसिक आल्हाद भी था। निश्चित तिथि के अनुसार मैंने संघ सहित कनॉट प्लेस-दिल्ली के मंदिर से जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करके प्रस्थान कर दिया और संघपति बने लाला महावीर प्रसाद जी के साथ निर्मल कुमार सेठी आदि सैकड़ों भक्तगणों ने हाथों में झंडा लिए खुशी में झूमते हुए दिल्ली के इण्डियागेट के समक्ष देश के नाम मेरा 'जन्मभूमि विकास संदेश' प्रसारित करवाया और फिर मेरे संघ के सक्रिय कदम 'वीर जन्मभूमि कुण्डलपुर' की ओर चल पड़े।

मार्ग में मथुरा चौरासी, आगरा, फिरोजाबाद, इटावा आदि शहरों में भारी धर्मप्रभावना हुई जिन्हें यहाँ समयाभाव के कारण प्रस्तुत नहीं कर पा रही हूँ। समय आने पर कभी मैं अपने भक्तपाठकों को इस विहार के अनुभव विस्तार से बताऊँगी। कुल मिलाकर लगभग ३ माह २२ दिन का रास्ता तय करके हम लोग अपने निर्धारित लक्ष्य की आधी मंजिल पार करके तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली-प्रयाग तीर्थ पर १२ जून २००२ (ज्येष्ठ शुक्ला दूज) को पहुँच गये और वहाँ पर २४ जून को नवनिर्मित कैलाशपर्वत (प्रीतविहार-दिल्ली के श्री चेतनलाल सत्येन्द्र कुमार जैन परिवार के सौजन्य से निर्मित) पर ७२ जिनमंदिरों में वेदी प्रतिष्ठापूर्वक त्रैकालिक चौबीसी की ७२ प्रतिमाएँ विराजमान करवाईं पुनः इसी तीर्थ पर संघसहित मैंने सन् २००२ का वर्षायोग स्थापित किया। उस मध्य १५ अगस्त मोक्षसप्तमी के दिन ब्र. रवीन्द्र जी ने कुण्डलपुर में नूतन विकास हेतु जम्बूद्वीप संस्थान की ओर से लगभग २ एकड़ भूमि की रजिस्ट्री कराई, जो अब विश्व की दृष्टि का केन्द्र बनने वाली है।

न्यायाधीश सम्मेलन एक उपलब्धि —

प्रयागतीर्थ पर चातुर्मास के मध्य यूँ तो अनेक प्रभावनात्मक कार्यक्रम जैसे—कुण्डलपुर राष्ट्रीय महासम्मेलन आदि सम्पन्न हुए, फिर भी मेरी प्रेरणा से वहाँ उत्तरप्रदेश हाईकोर्ट के न्यायाधीशों को आमंत्रित करके ३ नवंबर २००२ को अहिंसा एवं न्याय विषय पर एक "न्यायाधीश सम्मेलन" आयोजित हुआ, जिसमें न्यायमूर्ति श्री सुधीर नारायण अग्रवाल एवं न्यायमूर्ति श्री एम.सी. जैन की भूमिका विशेष सराहनीय रही।

इससे पूर्व ३ सितम्बर २००२ को इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भी मैं ससंघ गई तथा वहाँ आयोजित "धर्म एवं संस्कृति" नामक संगोष्ठी में हम लोगों के प्रवचन सुनकर सभी इतिहासज्ञ बहुत प्रसन्न हुए पुनः १५ सितंबर २००२ को तपस्थली तीर्थ पर इतिहासकारों का एक सम्मेलन करके उन्हें जैनधर्म से संबंधित भ्रान्तियों को पाठ्य-पुस्तकों में संशोधन करने की प्रेरणा दी गई।

इस प्रकार के अनेक शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक आयोजनों के साथ तपस्थली तीर्थ का वर्षायोग ४ नवंबर २००२ को दीपावली के दिन सकुशल सम्पन्न हुआ, जहाँ कैलाशपर्वत के सामने पावापुरी जलमंदिर का दृश्य उपस्थित करके भगवान महावीर के चरणों में निर्वाणलाडू चढ़ाया गया।

प्रयाग से कुण्डलपुर की ओर विहार एवं जन्मभूमि तीर्थ पर मंगल प्रवेश —

तपस्थली तीर्थ प्रयाग में चातुर्मास स्थापना करके १० नवम्बर २००२ को मैंने कुण्डलपुर के लिए ससंघ मंगल विहार कर दिया। विहार करते समय इस बार न जाने क्यों कैलाशपर्वत पर विराजमान भगवान ऋषभदेव के चरणों में नमन करते हुए मेरे मुँह से निकल गया कि "हे भगवन्! मैं और कुछ नहीं आपके पोते का ही कार्य करने जा रही हूँ, अब मेरी पतवार आपके हाथ में है।" बात यह थी कि इन दिनों रवीन्द्र जी

चिंतित रहते थे कि माताजी ने फरवरी २००३ में कुण्डलपुर के लिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और मस्तकाभिषेक महोत्सव घोषित कर दिया है किन्तु वहाँ अभी मैं कोई निर्माण ही प्रारंभ नहीं कर पाया हूँ तो दो-तीन माह के अंदर फरवरी में महोत्सव कैसे संभव हो पाएगा? उन्होंने मुझसे तारीख आगे बढ़ाने का निवेदन किया किन्तु मैंने कहा कि जो तारीख घोषित हो चुकी है, वह मत टालो अतः मेरे मन में भी किंचित् आकुलता हुई कि सब कुछ इतनी जल्दी कैसे हो जाएगा?

लेकिन मैं इसे भगवान ऋषभदेव का अतिशय ही मानती हूँ कि प्रयाग से निकलकर बनारस पहुँचते ही एक मात्र प्रेरणा पर कुण्डलपुर के महोत्सव में सौधर्म इन्द्र बनने हेतु श्री दीपक कुमार जैन (सुपुत्र श्री ऋषभदास जैन-अध्यक्ष दिगम्बर जैन समाज वाराणसी) तैयार हो गये और ज्यों-ज्यों संघ आगे बढ़ा, त्यों-त्यों बनारस, आरा, पटना सभी स्थान के लोग कुण्डलपुर के साथ जुड़ते चले गये। इस प्रकार भक्तों के विशाल समूह के साथ २९ दिसंबर २००२ को मेरे संघ का मंगल पदार्पण भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) में हो गया और प्रभु के दर्शन कर हम सभी ने अपने को धन्य माना।

£ १०६ ¤

कुण्डलपुर विकास के प्रारंभिक चरण —

कुण्डलपुर में संघ का पदार्पण होते ही उत्तरमुखी नूतन क्रीत भूमि पर भगवान महावीर मंदिर का शिलान्यास मेरे संघ सानिध्य में दीपक जैन बनारस (सपत्नीक) ने किया। शिलान्यास करके ज्यों ही हम लोग आगे बढ़े तो सामने सुसज्जित हाथी दिखा, उसे सभी ने लड्डू आदि का मिष्ठान्न खिलाकर भगवान की जय-जयकारों से कुण्डलपुर को गुंजायमान कर दिया। मुझे इस दृश्य के शुभ शकुन ने कार्य की मंगलमयी पूर्णता हेतु आश्वस्त किया पुनः हम लोग प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर परिसर के कमरों में ठहरे और भक्तों की भीड़ ने अपने-अपने घर की ओर विदा ली पुनः संघ की दिनचर्या ३० दिसंबर से प्रारंभ हो गई तो प्रतिदिन नवविकसित तीर्थभूमि पर जाकर बाहर मैदान में ही ब्रह्मचारिणी बहनों से पूजा, विधान और जाप्य आदि का अनुष्ठान मैं कराने लगी। निर्माण कार्य अपनी गति से चल रहा था तथा भीषण सर्दी ने भी उसमें कोई व्यवधान नहीं पैदा होने दिया।

१ जनवरी २००३ ईसवी सन् के नूतन वर्ष के प्रारंभ में मैंने सभी को मंगल आशीर्वाद प्रदान किया तथा सायंकाल में ब्र. रवीन्द्र कुमार जी एवं संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहनों ने भगवान महावीर की १०८ दीपकों से मंगल आरती उतारकर संघ, समाज एवं देश में मंगल हेतु कामना की।

७ फरवरी से १२ फरवरी (माघ शु. ६ से १०) तक होने वाले महोत्सव को सम्पन्न करने हेतु बीच-बीच में बैठकें सम्पन्न हुईं जिनमें निकटवर्ती पटना, आरा, कोडरमा, गया, हजारीबाग तथा दिल्ली-मेरठ आदि के श्रावकों ने अपनी-अपनी विभागीय जिम्मेदारियाँ संभालीं और रवीन्द्र जी के साथ सभी ने कंधे से कंधा मिलाकर कार्य में सहयोग प्रदान किया।

कुण्डलपुर में नवविकसित हो रहे परिसर का नाम "नंद्यावर्त महल" रखा गया। भगवान महावीर के जन्म महल के नाम से इंगित किये गए इस तीर्थ परिसर के तमाम बोर्ड, बैनर, पोस्टर आदि देश के कोने-कोने में लगाये गये और पंचकल्याणक की व्यापक तैयारियाँ होने लगीं।

१४ जनवरी २००३ को उस नंद्यावर्त महल परिसर में सर्वप्रथम जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर से भगवान ऋषभदेव तीर्थंकर की सवा ग्यारह फुट लालवर्णी पद्मासन प्रतिमा का मंगल पदार्पण हुआ। उन्हें यथास्थान वेदी पर विराजमान करने हेतु ५ जनवरी २००३ को वेदी का शिलान्यास हुआ। भगवान महावीर मंदिर के दाईं

ओर भगवान ऋषभदेव का मंदिर बनाना निश्चित हुआ इसलिए दाईं ओर वेदी का निर्माण पहले शुरू कर दिया गया। इसी प्रकार मूल मंदिर के बाईं ओर नवग्रहशांति जिनमंदिर का शिलान्यास ९ फरवरी २००३ को श्री ज्ञानचंद जैन-आरा ने किया। इस परिसर में इन तीन मंदिरों के अतिरिक्त त्रिकाल चौबीसी मंदिर (तीन मंजिला), नंद्यावर्त महल विशेष रूप से बनाने का निर्णय हुआ किन्तु सर्वप्रथम फरवरी में होने वाले पंचकल्याणक में जिन-जिन प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा होनी थी, उनको विराजमान करने हेतु वेदी आदि के निर्माण प्राथमिक स्तर पर द्रुतगति से हुए पुनः कुछ अस्थाई कच्चे कमरे बनाकर रवीन्द्र जी मुझे ससंघ नंद्यावर्त परिसर में ३० जनवरी २००३ को लाए। इससे पूर्व १ माह से हम लोग प्राचीन मंदिर के कमरों में थे। चूँकि पंचकल्याणक के दिनों में बार-बार वहाँ से यहाँ आने लायक मेरा स्वास्थ्य नहीं था इसीलिए टीन के अस्थाई कमरों में भी रहना मुझे उचित लगा। इस बीच कुण्डलपुर में दूर-दूर से भक्तों के समूह आये और सब तेजगति से कुण्डलपुर का विकास कार्य होता देखकर खूब प्रसन्न होते एवं प्रशंसा करते-करते सबके नेत्रों से हर्षाश्रु निकल पड़ते, यह सब कलियुग में जिनेन्द्रभक्ति का प्रभाव मानना चाहिए कि अच्छे कार्यों को देखकर असली भक्त गद्गद हुए बिना नहीं रहते।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं महाकुंभ मस्तकाभिषेक —

महोत्सव की तैयारी में कुण्डलपुर के अन्दर आयोजन समिति द्वारा आगंतुक श्रद्धालुओं के लिए बसाई गई नगरी को देखकर लोग इसे देवोपुनीत अतिशय ही मान रहे थे क्योंकि लगभग सौ वर्षों में वहाँ ऐसा अद्वितीय कोई आयोजन हुआ ही नहीं था। मेहमानों के आने के साथ मुझे बार-बार मूलनायक भगवान महावीर के आने और उन्हें यथास्थान वेदी पर विराजमान करने की चिंता लगी थी, जिसका निवारण ७ फरवरी को गर्भकल्याणक के दिन ही हुआ। प्रतिमा तो ५ फरवरी (माघ शु. चतुर्थी) की रात्रि में जयपुर से कुण्डलपुर पहुँच गई, अगले दिन ६ फरवरी को क्रेन ने प्रतिमा की पेटी २५ फुट ऊँचे महावीर मंदिर के प्लेटफार्म पर पहुँचा दी किन्तु वेदी पर विराजमान करना क्रेन के लिए भी संभव नहीं था अतः चैनपुली के द्वारा ७ फरवरी की मध्यान्ह १ बजे से प्रतिमा विराजमान का उपक्रम प्रारंभ हुआ। मैं अपने पूरे संघ के साथ वहीं बैठकर मंत्र जाप्य करती रही पुनः चन्दनामती, क्षुल्लक मोतीसागर, रवीन्द्र जी आदि के साथ सेठ ऋषभदास जी-बनारस आदि श्रावकों ने शाम तक वहीं बैठकर सायं ७ बजकर ५० मिनट पर जब भगवान महावीर को यथास्थान स्थापित कर दिया, तब रत्नवृष्टि, मंगल आरती, जय-जयकारों के स्वर ने मुझे आश्वस्त कर दिया और मैंने उस दिन अपनी कुण्डलपुर यात्रा को सार्थक माना।

ऊँचाई पर प्रतिमा विराजमान करने के इस जोखिम भरे कार्य को सम्पन्न करने में जहाँ कुछ आगंतुक इंजीनियर भी भयभीत हो रहे थे, वहीं जंबूद्वीप-हस्तिनापुर के कुशल सुपरवाइजर शरीफ अहमद एवं जयपुर के मिस्त्री आत्माराम ने पूरी हिम्मत के साथ इस कार्य को सम्पन्न करके अपना कर्तव्य निभाया। मैंने उन दोनों पुण्यात्माओं के लिए खूब मंगल आशीर्वाद प्रदान किया और भक्तों ने उन्हें पुरस्कार प्रदान किया।

मुझे इस बात का गौरव है कि जम्बूद्वीप में २५-३० वर्षों से कार्यरत शरीफ अहमद जाति से मुसलमान होते हुए भी पूर्ण शाकाहारी है और उसका पूरा परिवार पूर्ण शाकाहारी है। इसी पुण्य के फलस्वरूप मेरी प्रेरणा से सम्पन्न होने वाले सभी जगह के निर्माणों में शरीफ का हाथ अवश्य लगता है। बल्कि यूँ कहें कि उसका हाथ लगे बिना कोई कार्य मुझे पसन्द नहीं आता है। आज भी उसकी मेरे प्रति अगाढ़ भक्ति है तभी वह परिवार का मोह छोड़कर महीनों तक कुण्डलपुर में रहकर भी निर्माण कराने का पुण्य अर्जित कर लेता है। उसके समान ही हस्तिनापुर-जम्बूद्वीप के सभी कर्मचारी सतवीर सिंह (गूजर) आदि जैन-अजैन सभी पूरे मनोयोग एवं अपनत्व भाव से कार्य करके पुण्य सम्पादन करते हैं।

पाठकगण इस प्रकरण को पढ़कर स्वयं ही मेरी संतुष्टि का अनुमान लगाते होंगे कि हमारी ज्ञानमती माताजी की चर्या में किसी प्रकार की बाधा आये बिना तीर्थोद्धार एवं विकास के जो महान कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, उसमें कर्णधार भक्तमंडली के साथ-साथ मेरे संघस्थ शिष्यों का एवं जम्बूद्वीप की सशक्त टीम का बहुत बड़ा योगदान रहता है तभी मैं बड़े कार्यों की प्रेरणा देकर भी एकदम निश्चिन्त रहती हूँ और अपने लेखन में व्यस्त रहती हूँ। जिस दिन मुझे ये संयोग नहीं प्राप्त होंगे संभवतः मैं प्रभावना के कार्यों से विमुख होकर मात्र आत्मसाधना करूँगी क्योंकि आर्यिका चर्या में अपने संयम की साधना ही मेरा प्रमुख लक्ष्य है।

भगवान महावीर की ७ हाथ खड्गासन सफेद प्रतिमा (सवा दस फुट) कुण्डलपुर में विराजमान होते ही पंचकल्याणक महोत्सव प्रारंभ हो गया। यह प्रतिमा विराजमान करने का सौभाग्य मेरे संघभक्त लाला महावीर प्रसाद जैन-साउथ एक्स. दिल्ली एवं उनके परिवार को प्राप्त हुआ। प्रतिष्ठा में भी उन्होंने एवं उनकी धर्मपत्नी सौ. कुसुमलता जैन ने भगवान के पिता राजा सिद्धार्थ एवं माता त्रिशला बनने का पुण्य प्राप्त किया। सौधर्मइन्द्र-इन्द्राणी बनारस के दीपक जैन एवं उनकी धर्मपत्नी सौ. सुभाषिनी जैन बने। धनकुबेर का प्रमुख पद आरा निवासी कमल कुमार जैन एवं सौ. अनुपमा जैन को प्राप्त हुआ। अपने समस्त इन्द्र परिवार के साथ सौधर्म इन्द्र ने प्रतिष्ठाचार्य नरेश कुमार जैन संहितासूरि एवं अकलंक जैन प्रतिष्ठाचार्य (मेरे शिष्य) के द्वारा कराये गये विधि-विधानपूर्वक समस्त प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया पुनः १२ फरवरी २००३ (माघ शु. १२) को निर्वाण कल्याणक के पश्चात् विशाल जनसमूह की उपस्थिति में भगवान महावीर स्वामी की खड्गासन ७ हाथ अवगाहना प्रमाण प्रतिमा का अतिशायी १००८ कलशों से महाकुंभ मस्तकाभिषेक सम्पन्न हुआ। मैंने एवं मेरे संघ ने उस पावन दिवस को अपने जीवन की धन्य घड़ियों के रूप में माना और भगवान महावीर के चरणों में जैनधर्म की विश्वव्यापी प्रभावना हेतु बारम्बार प्रार्थना की।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में सूरिमंत्र —

वर्तमान में कई एक वर्षों से पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में मुनियों द्वारा 'सूरिमंत्र' दिया जाने का एक विषय चल पड़ा है। कानजी पंथियों द्वारा करायी जाने वाली प्रतिष्ठाओं के विरोध में यह एक विषय बनाया गया है। मैंने सन् १९५२ से देखा है कि आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज या प्रथम आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की परंपरा के आचार्यों में यह चर्चा कभी भी नहीं आई थी। आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज के शिष्य प्रतिष्ठाचार्य संहितासूरि ब्र.सूरजमल जी ने बिना साधु-संघों के भी अनेक प्रतिष्ठाएँ करायी हैं। वे भी कहते थे कि श्री नेमिचंद्र प्रतिष्ठातिलक, पं. प्रवर आशाधर जी कृत प्रतिष्ठासारोद्धार आदि ग्रंथों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि 'सूरिमंत्र' दिगंबर आचार्य ही देवें। यदि 'सूरि' अर्थात् आचार्य द्वारा दिया जाने वाला मंत्र ही 'सूरिमंत्र' है, तो उपाध्याय मुनि या सामान्य मुनियों के द्वारा भी 'सूरिमंत्र' नहीं दिलाया जा सकता है। वास्तव में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की सारी क्रियाएँ योग्य प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा ही संपन्न करायी जाती है। हाँ! आचार्यसंघ, मुनिसंघ या आर्यिकासंघ आदि को आमंत्रित कर उनका सानिध्य प्राप्त करना यह तो श्रावकों द्वारा कराये गये सभी विशेष अनुष्ठानों में उत्तम है। फिर भी यदि संघ सानिध्य संभव न हो पाए, तो प्रतिष्ठाएं न हों, ऐसी बात नहीं है।

आज तो कई एक कानजीपंथविरोधी विद्वानों ने उन एकांती मुनि विरोधियों का विरोध करते-करते भूत-भविष्यत्कालीन तीर्थंकर प्रतिमा, भगवान पार्श्वनाथ की फणा सहित प्रतिमा एवं भगवान बाहुबली की प्रतिमा की प्रतिष्ठा का ही विरोध कर दिया है, जो कि अत्यन्त गलत है।

सम्मेदशिखर यात्रा —

आर्यिका दीक्षा के बाद सन् १९६२-६३ में मैंने अपने आर्यिका संघ के साथ सम्मेदशिखर यात्रा की थी

पुनः अब ४० वर्षों के बाद उस यात्रा का दुबारा संयोग भगवान महावीर की कृपा से ही प्राप्त हो गया। पंचकल्याणक के बाद १९ फरवरी २००३ को मैंने ससंघ सम्मेदशिखर के लिए कुण्डलपुर से विहार किया पुनः राजगृही के जवाहर नवोदय विद्यालय में महावीर स्वामी की पद्मासन प्रतिमा तथा जैनतीर्थ परिसर में भगवान मुनिसुव्रत की बड़ी प्रतिमा, पावापुरी सिद्धक्षेत्र पर भगवान महावीर की बड़ी प्रतिमा, गुणावां सिद्धक्षेत्र पर गौतम गणधर की प्रतिमा आदि विराजमान करने की प्रेरणा देते हुए संघ का झुमरीतलैया(कोडरमा), सरिया आदि जैनसमाज के नगरों में होते हुए १२ मार्च २००३ (फाल्गुन शु. नवमी) को शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर में पदार्पण हुआ। ४० वर्षों बाद क्षेत्र पर अनेक संस्थाओं द्वारा वृहत्काय अनेक निर्माण देखकर मेरे में असीम आल्हाद हुआ और इस अनादि तीर्थ के दुबारा दर्शन होने पर मैंने बार-बार अपने भाग्य की सराहना की।

१३ मार्च को मैंने बीसपंथी कोठी में प्रातःकाल अपना केशलोंच किया और पर्वत वंदना की तीव्र उत्कण्ठा में उसी उपवास के दिन मध्यान्ह २ बजे अपने संघ के साथ पहाड़ पर चली गई। वहाँ चोपड़ाकुण्ड पर निर्मित जिनमंदिर एवं धर्मशाला में ठहरकर मैंने पर्वत की तीन वंदनाएँ सम्पन्न कीं। १५ मार्च को हस्तिनापुर से रवीन्द्र जी, बनारस से दीपक-सुभाषिनी, आरा से कमल-अनुपमा आ गये पुनः उन लोगों ने एवं तमाम भक्तों ने मेरे साथ १६ मार्च को सम्मेदशिखर पर्वत की वंदना करके जीवन को धन्य माना। वंदना के मध्य प्रत्येक टोंक पर जल, दूध, चंदन से भगवान के चरणों का सभी ने अभिषेक किया, अर्घ्य चढ़ाया, रत्नवृष्टि की, चांदी की लौंग एवं चांदी के कमल पुष्प चढ़ाये तथा निर्वाण लाडू चढ़ाकर आरती से अपनी भक्ति को प्रदर्शित किया। भगवान पार्श्वनाथ की अंतिम टोंक पर पहुँचकर मैंने पिण्डस्थ ध्यान में लीन होकर भगवान के मुक्तिगमन क्षणों की पावन अनुभूति की, पश्चात् पार्श्वनाथ प्रभु के चरणों का अभिषेक देखकर पूजन करवाई और निर्वाणलाडू चढ़वाकर पहाड़ से नीचे धर्मशाला में आ गई पुनः २१ मार्च को हम लोग दुबारा पहाड़ पर गये वहाँ चोपड़ाकुंड की धर्मशाला में रहकर चार वंदना कीं, इस प्रकार कुल ७ वंदना करके हमारी सम्मेदशिखर यात्रा इस जीवन की एक अमिट देन बन गई। चोपड़ाकुंड पर बने दिगम्बर जैन मंदिर को देखकर मेरा हृदय फूला नहीं समाया और मैंने सभी कार्यकर्ताओं को लाखों-लाखों आशीर्वाद प्रदान कर जिनधर्म की प्रभावना में सदैव डटे रहने की प्रेरणा दी।

सम्मेदशिखर में श्रावक महासम्मेलन —

होली के अवसर पर सम्मेदशिखर का जैन मेला प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रहा है । देश के विभिन्न प्रान्तों के लोग वहाँ फाल्गुन मास की अष्टान्हिका में सिद्धचक्र, इन्द्रध्वज आदि विधान करने अथवा होली के रंगों से बचने के लिए बड़ी संख्या में सम्मेदशिखर यात्रा को जाते हैं और वहाँ भगवान पार्श्वनाथ की भक्तिरूपी रंग से परस्पर में केशरिया होली खेलते हैं। ऐसी होली के दिन चैत्र कृ. एकम को ही आज से ५२ वर्ष पूर्व मैंने महावीर जी अतिशय क्षेत्र पर आचार्य श्री देशभूषण महाराज के करकमलों से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर वीरमती नाम प्राप्त किया था। सम्मेदशिखर में उस दिन मैंने अपने दीक्षित जीवन के ५०वर्ष पूर्ण किये थे। उस अवसर पर वहाँ पधारे सभी भक्तों ने मेरे प्रति अपनी भक्ति भावनाएँ प्रस्तुत की, दीपक जैन आदि ने कुछ वस्तुएँ सबको वितरित किया, ५० मंदिरों के लिए स्वाध्याय हेतु ग्रंथ दिये गये.....इत्यादि। इसी मेले के अवसर पर मेरी प्रेरणा से वहाँ १९ मार्च को श्रावक महासम्मेलन का कार्यक्रम आयोजित किया गया, उसमें मैंने श्रावकों के कर्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए सम्मेदशिखर तीर्थरक्षा हेतु सभी को विशेष प्रेरणा प्रदान की तथा तीर्थरक्षा हेतु मुनि श्री आर्यनन्दी महाराज के उपकारों का स्मरण कराते हुए तीर्थक्षेत्र कमेटी को कहा कि सम्मेदशिखर में उनका एक स्मारक अवश्य बनाना चाहिए पुनः अनेक वक्ताओं ने वर्तमान में चल रहे तीर्थ विकास के प्रति अपने श्रद्धाभाव व्यक्त करते हुए सभी को अष्टमूलगुण, पंच अणुव्रत आदि धारण करके

गुरुभक्ति, तीर्थभक्ति के लिए प्रेरित किया।

ऋषभजयंती के दिन ऋषभदेव मंदिर का शिलान्यास —

हम लोगों ने शिखर जी में नीचे के सभी मंदिरों का दर्शन करके आपस में विचार-विमर्श किया कि पार्श्वनाथ की इस धरती पर प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का अस्तित्व होना भी अतिआवश्यक है, जिससे प्रत्येक यात्री जैनधर्म की प्राचीनता से परिचित हो सके। मेरी प्रेरणानुसार वहाँ की बीसपंथी कोठी के पदाधिकारियों ने इस विषय में रुचि ली और चौबीसी तीर्थंकर, बाहुबली मंदिर परिसर में प्रवेश करते ही जो प्रांगण खाली था, वहाँ २६ मार्च २००३ ऋषभदेव जन्मजयंती के दिन मंदिर का शिलान्यास डा. श्री पन्नालाल जैन पापड़ीवाल-पैठण, महाराष्ट्र (अध्यक्ष-महाराष्ट्र प्रान्तीय तीर्थक्षेत्र कमेटी एवं महामंत्री १०८ फुट मूर्ति निर्माण ट्रस्ट-मांगीतुंगी) सपरिवार ने किया। डा. पापड़ीवाल परिवार के सौजन्य से ही वहाँ मंदिर निर्माण एवं ९ फुट उत्तुंग पद्मासन मूर्ति स्थापित हुई है। शाश्वत तीर्थ पर उन्हें यह पुण्य अवसर प्राप्त हुआ, इस हेतु वे मेरे तथा संघ के प्रति अति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं यह उनका जन्म-जन्मान्तर का संचित सातिशय पुण्य ही समझना चाहिए।

कुण्डलपुर में महावीर जयंती का क्रम पुनः प्रारंभ हुआ —

संघस्थ सभी शिष्यों की भावनानुसार कुण्डलपुर में इस वर्ष भगवान महावीर की जन्मजयंती बड़े रूप में मनाना निर्णीत हुआ था, उसके पोस्टर भी समिति ने छापकर देशभर में भेज दिये थे अतः सम्मेदशिखर में और रुकना संभव नहीं था इसीलिए मैंने वहाँ से २९ मार्च को विहार कर दिया और संघ १० अप्रैल २००३ (चैत्र शु. अष्टमी) को सकुशल कुण्डलपुर पहुँच गया। वहाँ १५ अप्रैल को भारी प्रभावनापूर्वक महावीर जयंती का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। रथयात्रा नालंदा तक गई तो पूरे रास्ते नागरिकों को रत्न एवं लड्डू वितरित किये गये।

£ १०७ ¤

भगवान महावीर ज्योति रथ का प्रवर्तन जन्मभूमि से —

महावीर जयंती के दिन ही १५ अप्रैल २००३ से मेरी प्रेरणानुसार एक "भगवान महावीर ज्योति" नाम से रथ (नंद्यावर्त महल के धातु मॉडल से समन्वित) का प्रवर्तन प्रारंभ हुआ। जिसे देश के विभिन्न प्रान्तों में घुमाने का एक मात्र लक्ष्य था — महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर का प्रचार-प्रसार । वह रथ सफलता के साथ जगह-जगह भ्रमण करता हुआ अक्टूबर २००४ में कुण्डलपुर पहुँचेगा पुनः उसका प्रवर्तन समापन होने वाला है।

राष्ट्रपति अब्दुल कलाम को भी आकर अच्छा लगा —

भगवान महावीर की निर्वाणभूमि पावापुरी तीर्थ पर भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री ए.पी. जे. अब्दुल कलाम का आगमन ३० मई २००३ को हुआ। उस दिन मैं अपने संघ सहित वहीं पर थी अतः जल मंदिर के दर्शन करके उन्होंने मेरा आशीर्वाद भी ग्रहण किया और बड़े प्रसन्न हुए पुनः अपने भाषण में उन्होंने कीचड़ में रहकर भी कमल को ऊपर उठाने की बात प्रत्येक मानव के जीवन पर घटित करते हुए साधु सत्संग से लाभ उठाने की सबको प्रेरणा दी। मैंने उन्हें पूर्ण शाकाहारी जानकर देश की उन्नति हेतु खूब-खूब मंगल आशीर्वाद प्रदान किया।

नवग्रहशांति मंदिर की प्रतिमाओं का पंचकल्याणक —

दिनाँक ५ जुलाई से ९ जुलाई २००३ (आषाढ़ शुक्ला षष्ठी से दशमी) तक आरा निवासी श्री ज्ञानचंद जैन एवं उनकी धर्मपत्नी सौ. शशिलता जैन ने (समाज के साथ) कुण्डलपुर में नवग्रह की नौ तीर्थंकर

प्रतिमाओं का पंचकल्याणक (लघु) प्रभावना के साथ सम्पन्न किया।

कुण्डलपुर में सैकड़ों वर्षों के इतिहास में मेरा प्रथम चातुर्मास हुआ —

तीर्थ के उभरते स्वरूप को देखने की अभिलाषा एवं भगवान महावीर के कल्याणकों से पवित्र तीर्थ त्रिवेणी (कुण्डलपुर, राजगृही, पावापुरी) में भक्तिस्नान करने की भावना से मैंने ससंघ अपना २००३ का वर्षायोग १२ जुलाई (आषाढ़ शु. चतुर्दशी) को स्थापित किया तो बिहार प्रान्त के भक्तों ने बताया कि सौ वर्षों के इतिहास में कुण्डलपुर के अन्दर किसी साधु का चातुर्मास होना अब तक नहीं सुना है। अब आपके चातुर्मास से यह तीर्थ देश-विदेश के यात्रियों का पर्यटन केन्द्र बन जाएगा। उनका यह मूल्यांकन वास्तव में खरा उतरा और दूर-दूर के यात्री कुण्डलपुर आकर चलते निर्माण कार्य को देखकर अत्यंत प्रसन्न होकर अपने अपूर्व सहयोग की भावना व्यक्त करते। उसी के फलस्वरूप तीर्थ का स्वरूप अति शीघ्र साकार हुआ है।

वर्षायोग स्थापना में मंगलकलश स्थापना कब से शुरू हुई? —

मैंने बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज, उनके प्रथम शिष्य एवं प्रथम पट्टाचार्य गुरुवर्य श्री वीरसागर जी महाराज, आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज एवं आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज के संघ सानिध्य में वर्षायोग-चातुर्मास स्थापना देखी है एवं उनके साथ स्थापना की है।

इनमें से किन्हीं भी आचार्यों ने एवं आचार्य देशभूषण जी आदि आचार्यों ने चातुर्मास स्थापना के समय मंगलकलश स्थापित नहीं कराया था।

यह परंपरा ८-१० वर्षों में कब और कैसे चली? कुछ श्रावकों के विशेष आग्रह से सन् १९९६ आदि में मैंने भी मंगलकलश स्थापना की अनुमति दे दी किंतु मुझे यह परंपरा समझ में नहीं आ रही है अतः अब मैंने २-३ बार के बाद इसे छोड़ दिया।

मुझे आश्चर्य होता है कि कोई साधु एक मंगल कलश स्थापना करते हैं तो कोई-कोई तीन, सात, नौ, इक्कीस तथा कोई साधु एक सौ आठ मंगल कलश स्थापित करने लगे हैं। उनकी ऊँची-ऊँची बोलियों से ही साधुओं की महानता को आंका जाने लगा है।

सबसे अधिक आश्चर्य तो तब हुआ, जब मैंने स्वयं देखा—एक ग्राम के मंदिर में एक काँचकेस में मंगल कलश रखा था। चातुर्मास के बाद साधु वहाँ से विहार कर चुके थे, फिर भी प्रतिदिन लोग भगवान के दर्शन के बाद उस कलश के आगे चावल चढ़ाकर घुटने टेककर पंचांग नमस्कार कर रहे थे। मैंने पूछा-ऐसा क्यों? तब भक्तों ने कहा—मुझे गुरुदेव की आज्ञा है आदि.....।

पोस्टर एवं कुंकुम पत्रिका में भी "चातुर्मास स्थापना समारोह" या "वर्षायोग स्थापना समारोह" न छपाकर "मंगल कलश स्थापना समारोह" छपने लगा है।

यह "मंगल कलश स्थापना" न तो कहीं आचारसार, मूलाचार, भगवती आराधना आदि मुनियों के आचार ग्रंथों में है और न कहीं उमास्वामी श्रावकाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनंदिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत आदि श्रावकाचार ग्रंथों में ही है।

अतः मुझे "वर्षायोग स्थापना" के दिन यह मंगल कलश स्थापना करना इष्ट नहीं है और मैं यह जानना चाहती हूँ कि यह परम्परा कब, कैसे एवं किसके द्वारा प्रारंभ की गई तथा अनेक साधुसंघ उसका अनुसरण क्यों करने लग गये?

महाराष्ट्र के भक्तमण्डल का समर्पण भाव —

औरंगाबाद-महाराष्ट्र के प्रमुख श्रेष्ठी स्व. श्री जम्मनलाल जैन कासलीवाल ने वहाँ मेरे नाम से "गणिनी ज्ञानमती भक्तमण्डल" बना लिया, उसके समर्पित भक्तों ने कुण्डलपुर के पंचकल्याणक (फरवरी

२००३) में समस्त आगंतुकों एवं निकटवर्ती ग्रामवासियों के लिए अपनी ओर से प्रीतिभोज-भण्डारा का आयोजन किया पुनः वर्षायोग स्थापना में भक्तमण्डल ने पधारकर प्रतिनिधित्व किया और चातुर्मास के मध्य दशलक्षण पर्व में कुण्डलपुर आकर उन लोगों ने १ सितंबर से १० सितंबर २००३ तक कल्पद्रुम मण्डल विधान का भक्ति आयोजन सम्पन्न किया। इसके पश्चात् अक्टूबर में मेरे जन्मदिवस एवं कुण्डलपुर महोत्सव में भी पंचदिवसीय भण्डारा उसी भक्तमण्डल द्वारा आयोजित हुआ। आर्थिक भारवहन के साथ इन सभी की गुरुभक्ति वास्तव में अनुकरणीय है।

कुण्डलपुर महोत्सव में पर्यटन विभाग बिहार सरकार का संयुक्त तत्त्वावधान —

भगवान महावीर जन्मभूमि की प्रगति के बढ़ते चरण राज्य सरकार की दृष्टि का भी केन्द्र बने और पर्यटन विभाग के अधिकारी आये दिन कुण्डलपुर में आकर उसकी वास्तविकता से परिचित होने लगे, तब एक दिन हम लोगों ने अक्टूबर में "कुण्डलपुर महोत्सव" आयोजित करने की रूपरेखा बनाई। समिति के अल्प प्रयासों से पर्यटन विभाग का संयुक्त तत्त्वावधान उस महोत्सव में जुड़ा और ८ से १० अक्टूबर २००३ (आसोज शु. तेरस से शरदपूर्णिमा) तक खूब धूमधाम से महोत्सव आयोजित हुआ। उसमें पूरे देश से एवं विशेषरूप से दिल्ली तथा बिहार प्रान्त से हजारों की संख्या में पधारे नर-नारियों ने कुण्डलपुर के निखरे स्वरूप को देखकर कोटि-कोटि धन्यवाद मुझे दिया, तो मैं कहने लगी कि यह सारा स्वरूप आप श्रावकों का श्रम है, मेरा इसमें कुछ भी नहीं है। मुझे तो इस माध्यम से महावीर स्वामी की चरण रज प्राप्त हो गई है, यही मेरा धन्य भाग्य है।

भगवान ऋषभदेव नेशनल अवार्ड से धनंजय जैन सम्मानित —

फरवरी २००३ में संस्थान और अनिल जैन प्रीतविहार-दिल्ली, कमलमंदिर के संयुक्त सौजन्य से घोषित किये गये अवार्ड से श्री वी. धनंजय जैन को सम्मानित करने का अवसर आया कुण्डलपुर में। १० अक्टूबर २००३ शरदपूर्णिमा को बिहार के महामहिम राज्यपाल श्री एम.रामा. जोइस ने महोत्सव में पधारकर विशाल जनसमूह की गरिमामयी उपस्थिति में भगवान ऋषभदेव के प्रचार-प्रसार में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करने वाले मेरे अनन्य भक्त श्री धनंजय जैन (सांसद एवं पूर्व केन्द्रीय मंत्री) को इस संस्थान एवं जैन समाज के सर्वोच्च पुरस्कार से पुरस्कृत कर भावभीना सम्मान किया तो सभा तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठी, सभी ने पुरस्कार की महत्ता की एवं धनंजय जी के व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

तीर्थंकर जन्मभूमि विकास समिति की घोषणा —

कुण्डलपुर महोत्सव में ही १० अक्टूबर शरदपूर्णिमा को मैंने भारत की सम्पूर्ण जैन समाज को चौबीसों तीर्थंकर की १६ जन्मभूमियों के जीर्णोद्धार एवं विकास करने को संस्कृति की सुरक्षा बताते हुए प्रेरणा दी और एक विकास समिति की घोषणा कर दी, जो प्राथमिक स्तर पर कुण्डलपुर की देखरेख पुनः बनारस, चन्द्रपुरी, कौशाम्बी आदि तीर्थों का सर्वे प्लान बनाते हुए तीर्थ विकास कार्य में संलग्न है।

मेरे श्रद्धालुभक्तों! मैंने अति संक्षेप में यहाँ अपने जीवन से संबंधित कतिपय कार्यकलापों का दिग्दर्शन कराया है। इन सभी कार्यों के मध्य मुझे बहुत सारे खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त हुए हैं, जिन्हें यथावत् प्रस्तुत करने से तो कई महानुभावों के मन में कटुता आ सकती है अतः उन्हें प्रस्तुत करना संभव नहीं हो पाया है। उन निंदा-प्रशंसा के क्षणों में मैं विचलित होकर कार्यों से विमुख भी हो सकती थी किन्तु मुझे सदैव यही चिंतन आता है कि अपनी छोटी सी जिंदगी में वर्तमान में परिणाम विशुद्धि, जिनधर्म प्रभावना, तीर्थ निर्माण-विकास, साहित्य सृजन आदि के जो भी कार्य हो जावेंगे उनसे ही अगले भव के लिए पुण्यबंध होगा फिर थोड़ी सी निंदा से डरकर भारी पुण्योत्पादक कार्य करने में क्यों पीछे भागा जाए? यदि निष्पक्ष भाव से कोई इन

कार्यकलापों की समीक्षा करे, तो पाएगा कि उन सबके पीछे मेरी मात्र जिनवर भक्ति और आत्मशुद्धि ही प्रबल कारण है, मुझे ख्याति, लाभ की इच्छा कभी नहीं रही है।

नवंबर-दिसम्बर सन् २००३ में पावापुरी एवं राजगृही की पूर्व घोषित प्रतिमाओं के पंचकल्याणक मेरे सानिध्य में सम्पन्न हुए, वहाँ नवनिर्मित मंदिरों (पावापुर में) का निर्माण श्री विजय कुमार जैन, दरियागंज-दिल्ली एवं श्री सुभाषचंद जैन ऋषभविहार दिल्ली के सौजन्य से हुआ है तथा राजगृही में श्री अनिल जैन कमलमंदिर-दिल्ली परिवार के द्वारा किया गया है। दोनों स्थानों की पंचकल्याणक भी मंदिर निर्माताओं की ओर से ही हुई है जो उनकी तीर्थभक्ति का परिचायक है।

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य कौन? —

सन् १९८८ के बाद से प्रथमाचार्य श्री आदिसागर जी 'अंकलीकर' का विषय बहुत ही बढ़ता जा रहा है। इसके पूर्व मैंने आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी महाराज और आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के मुख से यह विषय सुना ही नहीं था। जब इस पर परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज को ही प्रथमाचार्य मानने वाले अनेक मुनियों ने व श्रावकों ने खोज करना प्रारंभ किया, तब सैकड़ों प्रमाण सामने आने लगे। यहाँ मैं इस पर विस्तार से चर्चा न करके अतिसंक्षेप में लिखना चाहूँगी कि जैनगजट (१४ अगस्त २००३) के माध्यम से पुराने एक 'जैनमित्र' का सबसे सबल प्रमाण सामने आया है—

इसमें बहुत स्पष्ट छपा हुआ है—

जैनमित्र

बम्बई दिगंबर जैन प्रान्तिक सभा का साप्ताहिक पत्र वर्ष २६, सूरत, गुरुवार, आषाढ़ सुदी ११, वीर सं. २४५१, दिनाँक २ जुलाई १९२५ (अंक ३३)

जैन समाचारावलि।

मुनि व त्यागियों के चातुर्मास —

आचार्यश्री शांतिसागर जी तथा आपके संघ का चातुर्मास कुंभोज (कोल्हापुर) में हुआ है। यह स्थान हातकलंगडा स्टेशन से ६ मील है। मोटर गाड़ी आदि सवारी मिलती हैं। यहाँ जैनियों के करीब २९०-३०० घर हैं। सब प्रकार की अच्छी व्यवस्था है। आचार्य श्री शांतिसागर जी के साथ आपका निम्न संघ भी है।

मुनि आदिसागर जी महाराज (अंकलीकर)
मुनि नेमिसागर जी महाराज (कुड़चीकर)
मुनि वीरसागर जी महाराज (नांदगांव)
मुनि नेमिसागर जी महाराज (पुनुर मद्रास)

दूसरे कालम में-

क्षुल्लक पायसागर महाराज (एनापुर)
अर्जिका ताराबाई व रत्नाबाई (नांदणी)
मुनिश्री शांतिसागर जी (छाणी) ललितपुर
मुनि श्री आनंदसागर जी (ललितपुर)
मुनि सूर्यसागर जी (ललितपुर)
मुनि ज्ञानसागर जी (ग्वालियर)

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि सन् १९२५ में आचार्यश्री शांतिसागर जी ही एकमात्र आचार्य थे। आदिसागर जी महाराज व छाणी वाले शांतिसागर जी महाराज मुनि ही थे।

इस विषय पर अनेक प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। अनेक साधु-साध्वी और विद्वानों द्वारा प्रकाशित भी कराये जा चुके हैं अतः अभी यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है।

नवग्रहशांति मंदिर में जिनबिम्ब स्थापना एवं कलात्मक शिखरों पर कलशारोहण —

कुण्डलपुर में तीनों मंदिरों (भगवान महावीर मंदिर, भगवान ऋषभदेव मंदिर एवं नवग्रहशांति जिनमंदिर) के ऊपर दक्षिण भारतीय डिजाइन वाले कलात्मक शिखरों का निर्माण बिहार प्रान्त के लिए अत्यन्त आकर्षक सिद्ध हुआ। ११ फरवरी से २३ फरवरी २००४ फाल्गुन कृ. तेरस से फाल्गुन शुक्ला तीज तक आयोजित लघु पंचकल्याणक, वेदी प्रतिष्ठा एवं कलशारोहण समारोह आयोजित किया गया, जिसमें महावीर मंदिर के शिखर में विराजमान की जाने वाली ४ प्रतिमाएँ (भगवान महावीर की सवा फुट पद्मासन) तथा दीक्षा मुद्रा वाली (पिच्छी-कमंडलु सहित) भगवान महावीर स्वामी की सवा पाँच फुट खड्गासन श्वेत प्रतिमा प्रतिष्ठित हुईं। नवग्रहशांति मंदिर में बिल्कुल नये ढंग से बनाये गये नौ कमलों की वेदी शुद्धि २२ फरवरी को सौभाग्यशाली महिलाओं द्वारा ८१ कलशों से हुई और २३ फरवरी को प्रातः मोक्षकल्याणक के पश्चात् सर्वप्रथम नौ कमलवेदियों में नवग्रह शांतिकारक ९ तीर्थंकर भगवान (जिनकी प्रतिष्ठा जुलाई २००३ में हो चुकी थी) श्री ज्ञानचंद जैन-आरा ने बैण्ड बाजों की ध्वनि एवं भक्तसमूह के साथ विराजमान किये पुनः शिखर में चारों दिशा में चार प्रतिमा श्री ऋषभदास दीपक कुमार जैन-बनारस परिवार ने विराजमान कीं। इसके बाद प्रवचन सभा का आयोजन हुआ, जिसमें नालंदा के डी.एम. श्री आनंद किशोर जी एवं विधायक श्री श्रवण कुमार जी ने भी सभा को सम्बोधित किया और कलशारोहण करने वाले बनारस एवं आरा के परिवारों को कुण्डलपुर समिति की ओर से सम्मानित किया गया पुनः शुभ मुहूर्त में (प्रातः ११ बजे) भगवान महावीर के मूल मंदिर एवं ऋषभदेव मंदिर के शिखर पर श्रीऋषभदास दीपक कुमार जैन-बनारस वालों ने सपरिवार कलशारोहण एवं ध्वज स्थापना किया, इसी प्रकार नवग्रह शांतिमंदिर के शिखर पर श्री ज्ञानचंद जैन-आरा परिवार ने कलशारोहण तथा ध्वज स्थापना करके सातिशय पुण्य सम्पादित किया। तीन मंदिरों पर एक साथ कलशारोहण होने का यह सुखद संयोग मेरे लिए बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है।

£ १०८ ¤

जैन शब्दकोश एक विशेष उपहार —

भगवान महावीर २६००वाँ जन्मोत्सव वर्ष के अंतर्गत वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकता को देखते हुए आर्यिका चंदनामती मुझसे एक जैनधर्म के हिन्दी-अंग्रेजी शब्दकोश के बारे में कहने लगीं तो मैंने भगवान महावीर के नाम पर उस शब्दकोश को बनाने की प्रेरणा दी। उसी के फलस्वरूप चन्दनामती के साथ डा. अनुपम जैन (महामंत्री विद्वत् महासंघ), जीवन प्रकाश जैन-इंदौर एवं संघस्थ ब्र. स्वाति जैन आदि ने परिश्रम करके तीन वर्षों में लगभग १५ हजार शब्दों का शब्दकोश तैयार किया है। जिसमें मुझसे पूछ-पूछकर शास्त्रीय विवेचन पूर्ण प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है। यह शब्दकोश वर्तमान एवं भावीपीढ़ी के लिए जैनधर्म के ज्ञान हेतु अत्यंत उपयोगी है। ये सभी मेरे शिष्यगण इसी प्रकार सरस्वती की उपासना करते हुए युग की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें, यही मैंने सदैव इन लोगों को आशीर्वाद प्रदान किया है।

भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव की घोषणा —

उत्सव और महोत्सवों को मनाने की भारत देश की प्राचीन परम्परा रही है, उसी परम्परानुसार सन् १९७४ में भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाण महोत्सव, सन् २००० में भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाणमहोत्सव एवं सन् २००१ में भगवान महावीर का २६००वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव सरकार और

समाज ने मिलकर राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया है। इसी प्रकार अब तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के माध्यम से जैनधर्म का प्राचीन इतिहास दुनिया के कोने-कोने तक पहुँचाने हेतु मैंने ५ दिसम्बर २००३ को राजगृही में भगवान मुनिसुव्रत जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के मध्य "भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव" मनाने की घोषणा की है। उसके बाद १९ दिसम्बर २००३ पौष कृष्णा एकादशी को पार्श्वनाथ जन्मजयंती के दिन मेरी प्रेरणा से पार्श्वनाथ जन्मभूमि वाराणसी में उस महोत्सव को मनाने हेतु संकल्पदीप प्रज्वलित किया गया।

जन्मभूमि में द्वितीय जन्मजयंती महोत्सव —

कुण्डलपुर में मेरे संघ सानिध्य में समिति द्वारा ३ अप्रैल २००४ को भगवान महावीर का जन्मजयंती महोत्सव विशेष प्रभावना के साथ मनाया गया। गया (बिहार) की दिगम्बर जैन समाज के विशेष सहयोग (प्रीतिभोज एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम की जिम्मेदारी ली) एवं इंदौर (म.प्र.) से श्री माणिकचंद जैन पाटनी के संयोजन में कुण्डलपुर पधारे १५० प्रतिनिधियों ने इस द्वितीय जन्मोत्सव को अद्वितीय बना दिया। मेरी भावना एवं प्रेरणा है कि प्रतिवर्ष इसी प्रकार महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर में महावीर जयंती व्यापक स्तर पर मनाई जाती रहे।

कुण्डलपुर में संघ का द्वितीय वर्षायोग —

भगवान महावीर जन्मभूमि के विकास एवं वहाँ के नवनिर्माण का कार्य यद्यपि अत्यन्त तेजगति से पूरे वर्ष चला किन्तु निर्माण की अधिकता तो अपने समय के अनुसार ही साकाररूप ले पाएगी। यहाँ के नंद्यावर्त परिसर में तीन मंदिरों का निर्माण तो प्रायः पूर्ण हो चुका है किन्तु त्रिकाल चौबीसी का तीन मंजिल वाला मंदिर एवं यहाँ का प्रमुख आकर्षण केन्द्र "नंद्यावर्त महल" जिसको एक विशिष्ट शैली में प्रस्तुत करने की योजना बनाई गई है, इन सभी को देखने की मनोभावना रही तथा बिहार के भक्तों एवं कुण्डलपुर समिति का विशेष आग्रह रहा अतः मैंने अपना दूसरा चातुर्मास भी कुण्डलपुर में १ जुलाई २००४ आषाढ़ शु. चतुर्दशी को स्थापित किया है।

पिछले वर्ष की तरह ही इस चातुर्मास के मध्य डा. पन्नालाल जैन पापड़ीवाल परिवार द्वारा अगस्त में इन्द्रध्वज विधान, दशलक्षण पर्व (सितबंर माह) में गणिनी ज्ञानमती भक्तमण्डल महाराष्ट्र के द्वारा विश्वशांति महावीर विधान, अक्टूबर में श्रीभागमल गुणसागर जैन-चित्तौड़गढ़ (राज.) द्वारा सर्वतोभद्र विधान एवं कुण्डलपुर समिति द्वारा "कुण्डलपुर महोत्सव" आदि प्रमुख आयोजनों के साथ अनेक कार्यक्रम अपनी क्रम श्रृँखला के साथ सम्पन्न हो रहे हैं। इन सबके साथ-साथ मेरा षट्खण्डागम टीका का लेखन कार्य, चंदनामती का अध्ययन, लेखन एवं संघस्थ शिष्याओं का अध्ययन-पठन आदि सब कुछ अपनी गति से सुचारू चल रहा है। १२ नवंबर २००४ कार्तिक कृ. अमावस को मेरा यह चातुर्मास समापन होगा पुनः १४ नवंबर को कुण्डलपुर से मेरा ससंघ बनारस, अयोध्या, अहिच्छत्र आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए दिल्ली-हस्तिनापुर की ओर मंगल विहार करने का विचार है। मेरी यह सम्पूर्ण कुण्डलपुर यात्रा मेरे संघ के लिए तथा समस्त देशवासियों के लिए क्षेम और सुभिक्षकारी हो, यही वीरप्रभु से प्रार्थना है।

तीर्थ त्रिवेणी का अपूर्व संगम —

मुझे जीवन में पहली बार एक साथ तीन-तीन तीर्थों के दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ है अतः हृदय में बड़ा आल्हाद रहता है। कुण्डलपुर प्रवास करते हुए प्रतिमाह १ बार राजगृही और १ बार पावापुरी जाकर पर्वतवंदना, जलमंदिर में ध्यान आदि करना मुझे जन्म-जन्म में संचित पुण्य का फल प्रतीत होता है।

कुण्डलपुर अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन —

भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर का एवं वहाँ की प्राचीन संस्कृति, नगरी की ऐतिहासिकता, भगवान के राजवंश की महत्ता, तीर्थंकर पद की सार्थकता आदि से जन-जन को परिचित कराने हेतु

कुण्डलपुर समिति ने एक अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशन की योजना बनाई है। उसके प्रधान सम्पादक प्राचार्य श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन-फिरोजाबाद हैं उनके तथा सम्पादक मण्डल के सभी सम्पादकों के कुशल सम्पादन में भगवान महावीर की गरिमा के अनुरूप ग्रंथ का प्रकाशन होवे, यही मंगल कामना है।

दानवीर समाजरत्न श्री कमलचंद जैन-खारीबावली दिल्ली परिवार के अर्थ सौजन्य से प्रकाशित हो रहे "कुण्डलपुर अभिनंदन ग्रंथ" का विमोचन "जन्मभूमि कुण्डलपुर" की पावन धरा पर "कुण्डलपुर महोत्सव" २००४ के मध्य होने वाला है यह सुनकर मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि मेरे संघस्थ शिष्यों के दिन रात परिश्रम के फलस्वरूप विद्वानों की जुड़ी तीर्थ भक्ति भावना के प्रतिफल में, मेरे निकटवर्ती श्रावक भक्तों एवं देशभर के दिगम्बर जैन श्रद्धालुओं की अर्थांजलि की त्रिवेणी ने तीर्थ निर्माण के साथ-साथ कई वृहत्काय ग्रंथ और अनेक लघु पुस्तकों के प्रकाशन के कार्यों को भी सम्पन्न किया गया है। यह देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति सबके जीवन को यथायोग्य रत्नत्रय से विभूषित करे, यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।

कुण्डलपुर पुरस्कार का प्रारंभीकरण —

मेरी प्रेरणा एवं चंदनामती के निर्देशानुसार कुण्डलपुर भगवान महावीर की स्मृति को चिरस्थाई बनाने हेतु १ जुलाई सन् २००४ को कमलचंद जैन-दिल्ली की ओर से "कुण्डलपुर पुरस्कार" की घोषणा हुई है। जो इस वर्ष कुण्डलपुर महोत्सव-अक्टूबर में किसी योग्य सक्रिय व्यक्तित्व को प्रदान किया जायेगा तथा आगे प्रतिवर्ष देने की तारीख हस्तिनापुर जम्बूद्वीप संस्थान द्वारा प्रचारित की जायेगी।

कुण्डलपुर की पवित्र धरती पर बैठकर मैंने "मेरी स्मृतियाँ" ग्रंथ के द्वितीय संस्करण हेतु थोड़े से अनुभव प्रस्तुत किये हैं। भगवान महावीर की कृपा प्रसाद से मेरा उपयोग सदैव इसी प्रकार धर्मध्यान और तीर्थभक्ति में लगा रहे, भगवान पार्श्वनाथ के जिस तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव को मनाने की मैंने सम्पूर्ण जैन समाज को प्रेरणा प्रदान की है, वह सभी जगह निर्मत्सर भाव से प्रभावनापूर्वक मनाया जावे तथा समस्त २४ तीर्थंकरों के जन्मभूमि तीर्थों का शीघ्रातिशीघ्र जीर्णोद्धार, विकास होवे। यूँ तो मुझे प्रसन्नता है कि १ जुलाई २००४ को कुण्डलपुर में मेरे सानिध्य में "भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव" की बड़ी मीटिंग हुई तो उसमें पूरे देश से पधारे एवं बनारस से पधारे विशिष्ट श्रावक-श्राविकाओं ने अति उत्साहपूर्वक उसे सफल करने की भावनाएं व्यक्त कर पुण्य संचय किया पुनः ४ जुलाई २००४ को वाराणसी में महोत्सव उद्घाटन से संबंधित स्थानीय जैन समाज की मीटिंग भी अच्छी शानदार सम्पन्न हुई, उसमें केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष ब्र. रवीन्द्र कुमार के साथ संघपति, महावीर प्रसाद जी, कमलचंद जी, कैलाशचंद जी, अनिल जी (सभी दिल्ली), सरोज कुमार जी (फतेहपुर), डा. पन्नालाल पापड़ीवाल-महाराष्ट्र, सिद्धार्थ जैन-लखनऊ आदि अनेक लोगों ने भी भाग लेकर महोत्सव की गरिमा से बनारसवासियों को परिचित कराया कि अब भगवान पार्श्वनाथ महोत्सव के निमित्त से वाराणसी की ख्याति जैन तीर्थंकर की जन्मभूमि के रूप में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैलने वाली है.....इत्यादि। वहाँ की मीटिंग में ६ जनवरी २००५ को महोत्सव का उद्घाटन वाराणसी से करने हेतु सर्व सम्मतिपूर्वक प्रस्ताव पारित किया गया।

मीटिंग की पूरी रिपोर्ट सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई, अब रवीन्द्र कुमार पूरे देश के कार्यकर्ताओं के १००८ नामों की महोत्सव समिति का गठन कर रहे हैं। ये सभी मिलकर भगवान पार्श्वनाथ एवं जैनधर्म की विश्वव्यापी प्रभावना करें, यही मेरी अंतरंग भावना है।

चौंसठ ऋद्धि विधान —

इस मेरी स्मृतियाँ ग्रंथ लेखन की अरुचि के कारण मैं चंदनामती से कह रही थी कि कभी-कभी मेरे अनुभव टेप में मुझसे भरवा लिया करो और उसके आधार से तुम लोग लिख दिया करो। उसी दिन १८ जुलाई

रविवार को अशोकविहार-दिल्ली से श्री सुशील कुमार जैन अपने साथ १८ लोगों को लेकर कुण्डलपुर आ गये पुनः पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार चौंसठ ऋद्धि विधान का आयोजन शुरू हुआ।

११ पूजाओं में निबद्ध इस विधान की रचना मैंने ईसवी सन् १९९३ में की थी। इसमें एक-एक ऋद्धियों की शक्ति एवं उनके धारक गणधर आदि महामुनियों को अर्घ्य चढ़ाते हुए यही भावना भाई गई है कि मुझे लौकिक-आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उपलब्धियाँ प्राप्त हों। इस पंचमकाल में यद्यपि संतों को भी ऋद्धियों की प्राप्ति नहीं होती है तथापि विशेष तपस्या करने वाले एवं निर्दोष अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधुओं की महिमा ऋद्धियों के समान ही फलदायी होती है। जैसे—बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर महाराज के चरणों का गंधोदक लगाने से एक ब्रह्मचारी का कुष्ट रोग दूर हो गया था, इसी प्रकार अनेकों लोगों ने उनके दर्शन-वंदन से अपने शारीरिक रोग दूरकर मानसिक शांति प्राप्त की है। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि मेरे दीक्षा गुरु पूज्य आचार्यश्री वीरसागर महाराज (आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के प्रथम शिष्य एवं प्रथम पट्टाचार्य) समाधिमरण से एक-दो दिन पूर्व भी घंटों तक स्थिरतापूर्वक बैठकर धवला ग्रंथ का स्वाध्याय किया करते थे, यह उनके मनोबल एवं कायबल का प्रभाव ही मानना चाहिए।

चौंसठ ऋद्धि विधान में वर्णित ऋद्धियों का वर्णन पढ़ते-पढ़ते वास्तव में ऋद्धिधारी मुनियों के प्रति अगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है। मैं श्रावकों को इसीलिए यह विधान करने की प्रेरणा देती रहती हूँ कि ऋद्धियों की अर्चना से उनके घर में धन-धान्य की वृद्धि हो, रोगों की शांति हो तथा परिवार में सुख, शांति, समृद्धि का वास हो, जिससे कि संसारी प्राणी जैनधर्म जैसे सच्चे धर्म को छोड़कर इधर-उधर मिथ्या देवी-देवताओं के पास जाकर अपनी श्रद्धा को तिलांजलि न देने पावें।

इस प्रकार आप सभी लोग जिनेन्द्र भगवान पर दृढ़ श्रद्धान रखते हुए भक्ति के द्वारा अपने कर्मों की निर्जरा करने के पुरुषार्थ में सफल हों, यही मंगलकामना है।

इस 'मेरी स्मृतियाँ' को भी मैंने शिष्यों के हठाग्रह, विद्वानों के विशेष आग्रह से-एक अरुचिपूर्ण भाव से ही लिखा है, स्वप्रशंसा के भाव से नहीं। इसका अनुभव मुझे ही है। इससे अतिरिक्त मैंने जो भी ग्रंथ व पुस्तकें लिखी हैं, उनमें से किसी के लिए भले ही किसी की प्रेरणा रही हो, फिर भी मैंने अतीवरुचि से आत्मा की शुद्धि व परोपकार की भावना से ही लिखे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

इस 'मेरी स्मृतियाँ' से यदि कोई भी कुछ प्रेरणा ग्रहण करेंगे, तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगी।

''आगम के दर्पण में कुण्डलपुर''

-गणिनीप्रमुख आर्यिका ज्ञानमती

भगवान महावीर की जन्मभूमि "कुण्डलपुर" है ऐसा वर्णन श्रीयतिवृषभआचार्यदेव ने अतिप्राचीन तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में कहा है।

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुण्डले वीरो।
उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४६।।

भगवान महावीर कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के गर्भ से चैत्र शुक्ला तेरस के दिन उत्पन्न हुए हैं।

षट्खण्डागम महाग्रंथ के चतुर्थ खंड में वर्तमान में प्रकाशित ९वीं पुस्तक में लिखा है-

''**आषाढ़जोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुरनगराहिव णाहवंस-सिद्धत्थ-णरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंते तत्थ अट्ठदिवसाहिय णवमासे अच्छिय चइत्तसुक्खपक्ख तेरसीए उत्तराफग्गुणी गब्भादो णिक्खंतो।।**''

आषाढ़ मास की शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर वहाँ आठ दिन अधिक नवमाह पर्यंत रहकर चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

भगवान का जन्म रात्रि में हुआ था ऐसा कथन इसी ग्रंथ में है—

कुण्डपुरवरिस्सर, सिद्धत्थक्खत्तियस णाहकुले।
तिसिलाए देवीए, देवीसदसेवमाणए।।२३।।
अच्छित्ता णवमासे, अट्ठ य दिवसे चइत्त-सियपक्खे।
तेरसिए रत्तीए, जादुत्तरफग्गुणीए दु।।२४।।

अर्थात् कुण्डलपुर नगर के सिद्धार्थ क्षत्रिय के घर नाथकुल में सैकड़ों देवियों से सेवमान त्रिशला देवी के गर्भ में महावीर का जीव आया और वहां नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुए भगवान का जन्म हुआ।

इस कुण्डलपुर को अनेक ग्रंथों में कुंडपुर भी कहा है लेकिन यह छोटा सा कुण्डग्राम नहीं है प्रत्युत विदेहदेश की महान-विशाल राजधानी थी। देखिए—

अथ देशोऽस्ति विस्तारी, जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रिया।।१।।
प्रतिवर्षविनिष्पन्नधान्यगोधनसंचितः।
सर्वोपसर्गनिर्मुक्तः प्रजासौस्थित्य सुन्दरः।।२।।
सखेटखर्वटाटोपिमटम्बपुटभेदनैः।
द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैविभूषितः।।३।।

किं तस्य वर्ण्यते यत्र स्वयं क्षत्रियनायकाः।
इक्ष्वाकवः सुखक्षेत्रे संभवंति दिवश्च्युताः।।४।।
तत्रखण्डलनेत्रालीपद्मनीखण्डमण्डलम् ।
सुखाम्भः कुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डलपुरं पुरं।।५।।
यत्र प्रासादसंघातैः शंखशुभ्रैर्नभस्तलम् ।
धवलीकृतमाभाति शरन्मेघैरिवोन्नतैः।।६।।
चन्द्रकान्तकरस्पर्शाच्चन्द्रकान्तशिलाः निशि।
द्रवन्ति यद्गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः।।७।।
सूर्यकान्तकरासंगात् सूर्यकान्ताग्रकोटयः।
स्फुरन्ति यत्र गेहेषु विरक्तां इव योषितः।।८।।
पद्मरागमणिस्फीतिर्यत्र प्रासादमूर्धनिं ।
इनपादपरिष्वंगादंगनेवातिरज्यते।।९।।
मुक्तामरकतालौकर्वज्रवैडूर्यविभ्रमैः।
एकमेवं सदा धत्ते यत्समस्ताकरश्रियम् ।।१०।।
शाल शैलमहावप्रपरिखापरिवेषिणः।
यस्योपरि परं गच्छत्यमित्रेतरमण्डलम् ।।११।।
एतावतैव पर्याप्तं पुरस्य गुणवर्णनम् ।
स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम् ।।१२।।
सर्वार्थश्रीमतीजन्मा तस्मिन् सिद्धार्थदर्शनः।
सिद्धार्थो भवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः।।१३।।
यत्र पाति धरित्रीयमभूदेकत्र दोषिणी।
धर्मार्थिन्योपि यत्त्यक्तपरलोकभयाः प्रजाः।।१४।।
कस्तस्य तान् गुणानुद्धान्नस्तुलयितुं क्षमः।
वर्द्धमानगुरुत्वं यः प्रापितः स नराधिपः।।१५।।
उच्चैःकुलाद्रिसंभूता सहजस्नेहवाहिनी।
महिषी श्रीसमुद्रस्य तस्यासीत् प्रियकारिणी।।१६।।
चेतश्चेटकराजस्य यास्ताः सप्तशरीरजाः।
अतिस्नेहाकुलं चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी।।१७।।
कस्तां योजयितुं शक्तस्त्रिशलां गुणवर्णनैः।
या स्वपुण्यैर्महावीरप्रसवाय नियोजिता।।१८।।

अर्थात् इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में लक्ष्मी से स्वर्गखण्ड की तुलना करने वाला विदेह इस नाम से प्रसिद्ध एक बड़ा विस्तृत देश है। यह देश प्रतिवर्ष उत्पन्न होने वाले धान्य तथा गोधन से संचित है, सब प्रकार के उपसर्गों से रहित है, प्रजा की सुखपूर्ण स्थिति से सुन्दर है और खेट, खर्वट, मटम्ब, पुटभेदन, द्रोणामुख, सुवर्ण–चांदी आदि की खानों, खेत, ग्राम और घोषों से विभूषित है।

जो नगर, नदी और पर्वत से घिरा हो उसे बुद्धिमान पुरुष खेट कहते हैं, जो केवल पर्वत से घिरा हो उसे खर्वट कहते हैं, जो पांच सौ गांवों से घिरा हो उसे पण्डितजन मटम्ब कहते हैं, जो समुद्र के किनारे हो तथा जहां पर लोग नाव से उतरते हों उसे पत्तन या पुटभेदन कहते हैं, जो किसी नदी के किनारे बसा हो उसे द्रोणामुख कहते हैं, जहां सोना-चांदी आदि निकलता हो उसे खान कहते हैं, अन्य उत्पन्न होने की भूमि को क्षेत्र या खेत कहते हैं, जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हैं तथा जो बाग-बगीचा और मकानों से सहित हों उन्हें ग्राम कहते हैं और जहां पर अहीर लोग रहते हैं उन्हें घोष कहते हैं। वह विदेहदेश इन सबसे विभूषित था। उस देश का क्या वर्णन किया जाये जहां के सुखदायी क्षेत्र में क्षत्रियों के नायक स्वयं इक्ष्वाकुवंशी राजा स्वर्ग से च्युत हो उत्पन्न होते हैं।

उस विदेहदेश में कुण्डपुर नाम का एक ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्र के नेत्रों की पंक्तिरूपी कमलिनियों के समूह से सुशोभित है तथा सुखरूपी जल का मानो कुण्ड ही है। जहां शंख के समान सफेद एवं शरदऋतु के मेघ के समान उन्नत महलों के समूह से सफेद हुआ आकाश अत्यन्त सुशोभित होता है? जिसके महलों के अग्रभाग में लगी हुई चन्द्रकांतिमणि की शिलाएं रात्रि के समय चन्द्रमा रूपी पति के कर अर्थात् किरण स्पर्श से स्वेदयुक्त स्त्रियों के समान द्रवीभूत हो जाती हैं। जहाँ के मकानों पर लगे हुए सूर्यकान्तमणि के अग्रभाग की कोटियां, सूर्यरूपी पति के कर अर्थात् किरण के स्पर्श से विरक्त स्त्रियों के समान देदीप्यमान हो उठती हैं। जहां के महलों के शिखर पर लगे हुए पद्मराग मणियों की पंक्ति सूर्य की किरणों के संसर्ग से स्त्री के समान अत्यन्त अनुरक्त हो जाती है। उस नगर में कहीं मोतियों की मालाएं लटक रही हैं, कहीं मरकत मणियों का प्रकाश फैल रहा है, कहीं हीरा की प्रभा फैल रही है और कहीं वैडूर्यमणियों की नीली-नीली आभा छिटक रही है। उन सबसे वह एक होने पर भी सदा सब रत्नों की खान की शोभा धारण करता है। कोटरूपी पर्वत, बड़े-बड़े धूलि कुट्टिम और परिवार से घिरे हुए उस नगर के ऊपर यदि कोई जाता था तो मित्र अर्थात् सूर्य का मण्डल ही जा सकता है अमित्र अर्थात् शत्रुओं का मण्डल नहीं जा सकता था। इस नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार हुआ आर्थात् भगवान महावीर वहां स्वर्ग से आकर अवतीर्ण हुए।

राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमती से उत्पन्न, समस्त पदार्थों को देखने वाले, सूर्य के समान देदीप्यमान और समस्त अर्थ — पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले "सिद्धार्थ" वहां के राजा थे। जिन सिद्धार्थ के रक्षा करने पर पृथिवी इसी एक दोष से युक्त थी कि वहां की प्रजा ने धर्म की इच्छुक होने पर भी परलोक का भय छोड़ दिया था अर्थात् जो प्रजा धर्म की इच्छुक होती है उसे स्वर्ग, नरक आदि परलोक का भय अवश्य रहता है परन्तु परलोक का अर्थ शत्रु लोगों से विरोध दूर हो जाता है अर्थात् वहां की प्रजा धर्म की इच्छुक थी और शत्रुओं के भय से रहित थी। जो राजा सिद्धार्थ साक्षात् भगवान वर्द्धमान के पितृ पद को प्राप्त हुए थे उनके गुणों का वर्णन करने के लिए कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है। जो उच्चकुलरूपी पर्वत से उत्पन्न स्वाभाविक स्नेह की मानो नदी थी ऐसी रानी प्रियकारिणी लक्ष्मी के समुद्रस्वरूप राजा सिद्धार्थ की प्रिय पत्नी थी। जिन सात पुत्रियों ने राजा चेटक के चित्त को अत्यधिक स्नेह से व्याप्त कर रखा था उन पुत्रियों में प्रियकारिणी सबसे बड़ी पुत्री थी जो

अपने पुण्य से भगवान महावीर को जन्म देने के लिए प्रवृत्त हुई। उस त्रिशला के गुणवर्णन के लिए कौन समर्थ है?

श्री असगकवि विरचित "वर्द्धमान चरित"में भी कुण्डलपुर का सुन्दर वर्णन आया है यथा—

तत्रास्त्यथो निखिलवस्त्ववगाहयुक्तं, भास्वत्कलाधरबुधैः सवृषं सतारं।
अध्यासितंवियदिवस्वसमानशोभं ख्यातं पुरं जगति कुण्डपुराभिधानं।।
प्राकारकोटिघटितारुणरत्नभासां छायामयैः परिगता पटलैः समंतात्।
आभातिवारिपरिखा नितरामनेकां संध्याश्रियं विदधतीव दिवापि यत्र।।
धौतेन्द्रनीलमणिकल्पितकुट्टिमेषु यत्रोपहाररचितान्यसितोत्पलानि।
एकीकृतान्यपि सलीलतया प्रयांति व्यक्तिं पतद्भ्रमरहुकृंतिभिः समंतात् ।।
जैत्रेषवः सुमनसो मकरध्वजस्य निस्तेजितांबुजरुचो शशलक्ष्मभासः।
अप्रावृषोः नवपयोधरकांतयुक्ता यस्मिनविभान्त्यसरितः सरसा रमण्यः।।
अत्युन्नताः शशिकरप्रकरावदाता मूर्धस्थरत्नरुचिपल्लवितांतरिक्षाः।
उत्संगदेशसुनिविष्टमनोज्ञरामाः पौरा विभांति भुवि यत्र सुधालयाश्च।।
लीलामहोत्पलमपास्य कराग्रसंस्थं कर्णोत्पलंच विगलन्मधु यत्र भृंगाः।
निश्वाससौरभरता वदने पतन्ति स्त्रीणां मृदुर्मृदुकराहतिभीप्सवश्च।।

कुण्डलपुर का वर्णन महाकवि असग ने अपने "वर्द्धमानचरित" में किया है। यह नगर सभी प्रकार की वस्तुओं से युक्त परकोटा, खातिका, वापिका एवं वाटिकाओं से परिपूर्ण था। कोट के प्रांत भागों में लगी हुई अरुणमणियां, पन्नाओं की प्रभा के छायामय पटलों से परिपूर्ण होने के कारण संध्याकालीन श्री का सृजन करती थीं। भूमि पर जटित इन्द्रनीलमणियां अपनी आभा से भ्रमरों की भ्रांति उत्पन्न करती थीं। उन्नत भवन और रत्नजटित गोपुर अपने सौन्दर्य से पथिकों के मन को आकृष्ट करते थे। मुक्ताओं की आभा के कारण इस नगर में श्वेत किरणों का वितान तना रहता था। धन-धान्य, पशु-सम्पत्ति आदि से युक्त यह नगर प्रजाजनों को अत्यन्त सुखप्रद था।

भगवान महावीर के समय यह कुण्डलपुर कितना वैभवपूर्ण था उसका वर्णन आपने पढ़ा। वास्तव में जहां सौधर्मइन्द्र की आज्ञा से कुबेर लगातार पन्द्रह महिने तक प्रतिदिन साढ़े सात करोड़-साढ़े सात करोड़ प्रमाण रत्नों की वर्षा करता हो और माता का महल नंद्यावर्त नाम से सात खन का हो तथा जहां माता का पलंग ही रत्नों से निर्मित हो उसके वैभव का हम और आप क्या अनुमान लगा सकेंगे?

ऐसे ही "वीरजिणिंद चरिउ" और "महावीर पुराण"में भी विदेहदेश के अंतर्गत कुण्डपुर में भगवान महावीर का जन्म माना है। ऐसी पावन नगरी कुण्डलपुर जन्मभूमि को मेरा शत-शत नमन।

इसी प्रकार वैशाली के वर्णन में उत्तरपुराण के पर्व ७५ पृ. ४८२ में श्री गुणभद्राचार्य ने कहा है कि वैशाली नगरी सिन्धुदेश की राजधानी थी और वहाँ के राजा चेटक सोमवंशी थे उनके दश पुत्र एवं सात पुत्रियाँ थीं, जिनमें से सबसे बड़ी पुत्री प्रियकारिणी का विवाह कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ के साथ हुआ था।